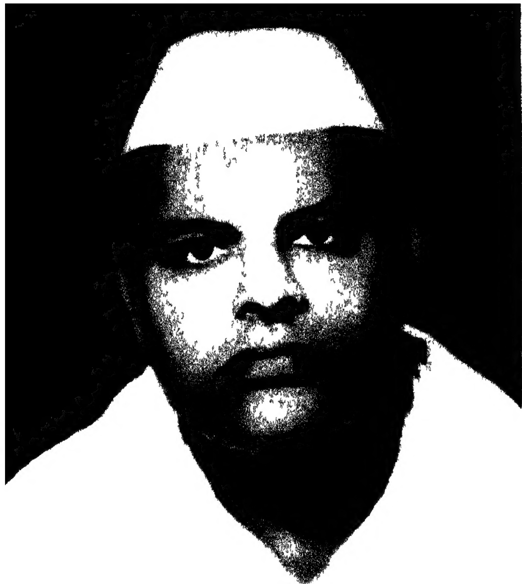
डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य
स्मृति-ग्रन्थ

• • •



डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

सम्पादक

पण्डित हीरालाल कौशल

डॉ० भागचन्द्र 'भागेन्दु' • डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

डॉ० सागरमल जैन • डॉ० राजाराम जैन

डॉ० फूलचन्द्र 'प्रेमी' • डॉ० रतन पहाड़ी

प्रबन्ध सम्पादक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

प्रकाशक

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

दमोह (मध्यप्रदेश)

प्रकाशक

● डॉ० महेन्द्रकुमार जैन स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति
कबीर भवन १५२ हार्उसिंग बोर्ड, दमोह (म० प्र०)

प्रेरणा स्रोत

● परमपूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज

● वीर नि० स० २५२२ सन् १९९६

● मूल्य १५१) रुपये

मिलने का पता

● श्री संतोष भारती
कबीर भवन १५२ हार्उसिंग बोर्ड, दमोह (म० प्र०)

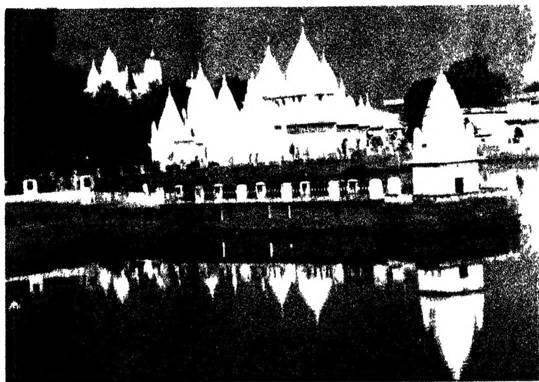
मुद्रक

● बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी-१०
दूरभाष : ३११८४८

ऐतिहासिक युगप्रवर्त्तक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव



बड़े बाबा सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह)



सिद्धक्षेत्र कुण्डलप [illegible]

आध्यात्मिक सन्त



परमपूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी

स्मृतिग्रन्थ के प्रेरणास्रोत



परमपूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज

प्रकाशकीय

राष्ट्र के यशस्वी और मूर्धन्य विद्वान् (स्व०) न्यायाचार्य (डॉ०) प० महेन्द्रकुमार जी जैन के बहुआयामी कर्मठ जीवन, सघर्षमय जीवन यात्रा के मध्य विकसित अप्रतिम वैदुष्य, अभूतपूर्व श्रुतसेवा, वाड्मय प्रणयन प्रभृति सद्गुणो के प्रति कृतज्ञता समर्पण हेतु यह "स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशित किया गया है । इसे प्रकाशित कर एतदर्थ गठित "स्मृतिग्रन्थ प्रकाशन समिति" वस्तुत स्वय कृतार्थ हुई है । भारतीय मनीषा के साधको/उपासको/पाठको को यदि इस ग्रन्थ मे कुछ प्रेरक तत्त्व प्राप्त हो तो वह सबका सब पूज्यवर पंडित जी का माने और जो भी न्यूनताएँ अनुभव हो उन्हे हमारी अज्ञता एव असावधानी समझकर हमे सूचित करने की कृपा करे ।

वस्तुत इस योजना के प्रमुख सूत्रधार परम पूज्यश्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी मुनि महाराज है । पूज्य उपाध्यायश्री आगमनिष्ठ ज्ञान-ध्यान तपोनिष्ठ दुर्द्धर तपस्वी, विद्या व्यसनी, विद्वत् परम्परा के सम्वर्द्धक, परम यशस्वी आध्यात्मिक सन्त है ।

"सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।"

जैसे आप्तवाक्य को प्रतिपल दृष्टि मे रखकर अहर्निश साधनारत इन महाव्रती ने जहाँ श्रमण सस्कृति से विमुख हो रहे लाखो सराक (श्रावक) बन्धुओ को प्रेरित कर उनके उद्धार का वह अनुपम कार्य किया है जिसे पूर्व मे ऐसी ही प्रवृत्तियो के धनी सरलता की प्रतिमूर्ति परमपूज्य सन्त श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज ने प्रारभ किया था, वही आर्ष परम्परा की श्रीवृद्धि कर परमपूज्य जैन आचार्यो की वाणी के सार्वजनीन कर्त्ता अबसे लगभग चार दशक पूर्व (सन् १९५९ मे) दिवगत माननीय न्यायाचार्य डॉ० प० महेन्द्रकुमार जी के दिव्य योगदान को भारतीय इतिहास के पृष्ठो मे अक्षुण्ण बनाने की दृष्टि से एक अभिनव उपक्रम किया । सराको के उद्धार यात्रा-पथ मे पड़ाव था-मध्यप्रदेश के जिला मुख्यालय अम्बिकापुर का । वहाँ के जिनमन्दिर की प्राणप्रतिष्ठा के सन्दर्भ से उपाध्यायश्री की सूक्ष्म पारखी दृष्टि से सस्पर्श हुआ अम्बिकापुर के जिला चिकित्सालय मे पदस्थ दम्पती (स्व०) प० जी के तृतीय जामाता डॉ० अभय चौधरी तथा तृतीय सुपुत्री (सौ०) डॉ० आशा चौधरी से । इस डाक्टर दम्पती को प्रेरितकर उपाध्यायश्री ने सन् १९९४ मे १८, १९, २० अप्रैल को स्व० पण्डित जी के योगदान पर एक त्रिदिवसीय अखिल भारतीय विद्वत्सगोष्ठी सयोजित कराई । इस सगोष्ठी के सयोजन मे (स्व०) प० जी के लघु जामाता श्री सतोष भारती दमोह तथा कनिष्ठ पुत्री सौ० आभा भारती की भी भूमिका उल्लेखनीय थी। इस सगोष्ठी मे भारत के कोने-कोने से समागत मनीषी विद्वानो, साहित्यकारो तथा समाज ने यह अनुभव किया कि ऐसे दिव्य ललाम व्यक्तित्व की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए एक स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित किया जाए । एतदर्थ सम्पादक मण्डल का गठन निम्न भाँति हुआ—

प्रधान सम्पादक - डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
सम्पादक वृन्द - प० हीरालाल कौशल, डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु"
डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, डॉ० सागरमल जैन,
डॉ० राजाराम जैन, डॉ० रतन पहाड़ी, डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी

संग्रहीत एवं प्राप्त सामग्री को सम्पादित करना एक दुस्तर कार्य था। एतदर्थ सम्पादकमण्डल की बैठकों में पारायण हुआ। इस कार्य में प्रधान सम्पादक परमश्रद्धेय डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया, तथा सम्पादक मण्डल के माननीय सदस्य पं० हीरालाल जी कौशल, डॉ० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवाल, डॉ० 'भागेन्दु' जैन, डॉ० फूलचन्द्रजी प्रेमी और प्रबन्धक सम्पादक श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल के सहयोग विशेष उल्लेखनीय है। सम्पादकमण्डल के सभी मनीषी सदस्यों की बहुज्ञता का लाभ/सहयोग निरन्तर प्राप्त किया गया है। अतः सभी के प्रति हृदय से आभारी है।

ग्रन्थ प्रकाशन समिति परमपूज्य प्रातः वन्दनीय श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज को सादर त्रिनमोऽस्तु निवेदित करते हुए इस महनीय ग्रन्थ को उनके शुभाशीष, सत्प्रेरणाओं की फलश्रुति के रूप में आप सभी के समक्ष प्रस्तुत कर रही है।

स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति के माननीय अध्यक्ष श्रीमन्त सेठ डालचन्द्रजी जैन (सागर) तथा अन्य सभी पदाधिकारी एवं सदस्यगण, परामर्शदातृ मंडल के सदस्यगण, ग्रन्थ हेतु सामग्री प्रदान/प्रेषित करने वाले लेखक और कवि मित्र तथा आर्थिक सहयोग प्रदाताओं—विशेष रूप से डॉ० श्रीमती आशा चौधरी एवं डॉ० अभय चौधरी (भोपाल) तथा श्रीमती मधु जैन एवं श्री अरविन्द जैन (मुंबई) के प्रति "न्यायाचार्य डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जैन स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति" हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती है।

ग्रन्थ का मुद्रण कार्य पर्याप्त दिलचस्पी से करने हेतु - महावीर प्रेस, वाराणसी को हार्दिक साधुवाद अर्पित करता हूँ।

अन्त में-एक साधक और भगवती श्रुतदेवता के आराधक महामनीषी न्यायाचार्य पं० (डॉ०) महेन्द्रकुमार जी का जीवन और कृतित्व भारतीय मेधा को स्फूर्त करे एवं प्रेरणा का स्रोत बने, इस भावना के साथ यह ग्रन्थ सभी को सादर अर्पित है।

भोपाल विनीत

वीर शासन जयन्ती

बी०नि०सं० २५२२

३१-७-१९९६

(डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु")

मंत्री

अम्बिकापुर में परमपूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज के सान्निध्य में

एक ज्ञानाराधक का स्मरण

● श्री निर्मल जैन, सतना

मध्यप्रदेशका आदिवासी अंचल सरगुजा भले ही पिछड़ा इलाका माना जाता हो परन्तु वहाँकी प्राकृतिक और पुरातात्विक सम्पदा उसे महत्त्वपूर्ण बनाती है। सुरम्य पर्वतश्रेणियोंके बीच बसे सरगुजाके जिला मुख्यालय अम्बिकापुरको जब ज्ञानोपासक सत पूज्य उपाध्यायश्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराजके पदार्पणका सुयोग मिला तो वहाँ धर्मामृतकी वर्षा स्वाभाविक ही थी।

जिन मन्दिरकी वेदी प्रतिष्ठा वहाँ सम्पन्न हुई, पूज्य उपाध्यायश्री के प्रवचनोंसे शाकाहारका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ और विगत १८-१९-२० अप्रैल १९९४ को वहाँ एक प्रभावक सार्थक विद्वत् गोष्ठीका आयोजन हुआ जिसके निमित्तसे समाजके अनेक प्रतिष्ठित विद्वानोका समागम भी अम्बिकापुरमें हुआ।

प्रसंग था ३५ वर्ष पूर्व दिवंगत जैन न्याय एव दर्शनके प्रकाण्ड विद्वान् पंडित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका पुण्य स्मरण। पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज अपने ज्ञान ध्यानके साथ ही जहाँ एक ओर सराक उद्धार जैसे गुरुतर कार्यमें प्रेरक बन रहे हैं वही सरस्वती पुत्रोके प्रति उनका स्नेह विद्वानोंके लिए प्रेरणा बनकर जिनवाणीकी सेवा का निमित्त भी बन रहा है।

अभी डेढ़ वर्ष पूर्व पंडित नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्यके महान् ग्रन्थ 'भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'' के चारो भागका पुर्नप्रकाशन कराके तथा लेखकके व्यक्तित्व-कृतित्वपर एक सार्थक गोष्ठी का आयोजन कराके उपाध्यायश्रीने एक दिवगत विद्वान्के गुणानुवादका अवसर समाज को दिया था।

इसी कड़ीमें इस बार 'जैनदर्शन' जैसे मौलिक दार्शनिक ग्रन्थके रचयिता तथा पूर्वाचार्यों द्वारा रचित अनेक न्याय-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थोकी टीका/सपादन करने वाले और उनपर महत्त्वपूर्ण लम्बी प्रस्तावनायें लिखने वाले पैंतीस वर्ष पूर्व दिवगत न्यायाचार्य पंडित महेन्द्रकुमारजीके व्यक्तित्व-कृतित्व पर अम्बिकापुरमें एक प्रभावक गोष्ठी पूज्य उपाध्यायश्री की प्रेरणासे पडितजीके दामाद डॉ० अभयकुमार चौधरी एवं पुत्री डॉ० आशा चौधरी, अम्बिकापुरकी ओरसे अति उत्साहपूर्वक आयोजित की गई।

१८ अप्रैल ९४ को पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी एव मुनिश्री वैराग्यसागरजी महाराजके सानिध्यमें समारोहका प्रारम्भ प्रातः आठ बजे अतरग वार्ताके रूपमे हुआ। मेरे द्वारा मंगलाचरणसे प्रारम्भ इस बैठकमें संगोष्ठीके संयोजक डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालने गोष्ठीके उद्देश्य बताये। आगन्तुक विद्वानोंका पंडितजी के परिजनोंसे परिचय कराया गया। जैन समाजके बारह मान्य विद्वान् तथा स्व० पंडित महेन्द्रकुमारजीके अनुज, दो पुत्र, चार पुत्रियाँ एवं दामाद इस अवसर पर वहाँ उपस्थित थे। वयोवृद्ध विद्वान् डा० दरबारीलालजी कोठियाने गोष्ठीके आयोजनपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए इसे देरसे किया जा रहा आवश्यक कार्य बताया। स्थानीय विद्वान् वयोवृद्ध कवि श्री बाबूलाल 'जलज' ने अपनी एक कविता प्रस्तुत की। पूज्य ज्ञानसागरजी महाराजने अपने उद्बोधनमे दिवगत विद्वानोके महत्त्वपूर्ण कार्योंका मूल्याकन करने की प्रेरणा दी।

मध्याह्न तीन बजेसे गोष्ठीका उद्घाटन सत्र पं० दरबारीलालजी कोठियाकी अध्यक्षतामे प्रारम्भ हुआ। नगरके प्रमुख समाजसेवी अम्बिकापुर राजघरानेके श्री टी० एस० सिंघदेव आयोजनके मुख्य अतिथि थे। विशिष्ट अतिथिके रूपमें जिलाधीश श्री गोयल एवं सत्र न्यायाधीश श्री एस० के० जैन मंच पर थे। प्रतिष्ठित नागरिक श्री गंगासागर सिंह, श्री मदन त्रिपाठी एवं श्रीमती अनुराधा शकर सिन्हा भी अतिथिके

रूपमे इस सत्रमे पधारे थे। इस महत्त्वपूर्ण सत्रका सचालन किया मध्यप्रदेश सस्कृत अकादमीके सचिव डॉ० भागचन्द भागेन्दु ने।

मंगलाचरण, दीप प्रज्वलन एव पडितजीके चित्रपर माल्यार्पणके बाद प० जीके अनुज श्री धन्यकुमार जैन वाराणसी, पुत्र श्री पद्मकुमार तथा अरविन्दकुमार जैन बम्बई, दामाद श्री रतन पहाडी, कामठी, श्री लक्ष्मीचन्द एव सन्तोष भारती, दमोह, डॉ० अभय चौधरी, अम्बिकापुर एव समाजके पदाधिकारियोने गोष्ठी में पधारे विद्वानो एवं अतिथियोका स्वागत किया। डॉ० सत्यप्रकाश दिल्लीने पडित महेन्द्रकुमारजी का परिचय प्रस्तुत करते हुए उनके जन्म, अध्ययन-अध्यापन, सम्पादन, लेखन आदिकी जानकारी दी।

संयोजक डॉ० कासलीवाल द्वारा प्रारंभिक वक्तव्य दिये जानेके बाद अतिथियोंने अपने उद्बोधनमे पूज्य महाराजजी की प्रेरणासे होनेवाली इस सगोष्ठीपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि इससे नगर गौरवान्वित हो रहा है। सभीने पडितजीके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की। अध्यक्षके रूपमे बोलते हुए डॉ० दरबारीलालजी कोठिया भाव विह्वल हो गये। उन्होने पडितजीके अनेक सस्मरण सुनाते हुए उन्हे एक प्रबुद्ध विचारक, दार्शनिक चिंतक, आदर्श अध्यापक और सफल लेखक-सपादक निरूपित किया। डॉ० कोठियाने बताया कि मै अध्यापन कार्यमे तो बहुत समय उनके साथ रहा ही, पहले छह महीने तक मैंने उनसे अध्ययन भी किया था।

उद्घाटन सत्रके अन्तमे पूज्य महाराजश्रीने अपने उद्बोधनमे अध्ययन चिंतनकी उपादेयता प्रतिपादित करते हुए प० महेन्द्रकुमारजी द्वारा की गई जिनवाणी सेवा की प्रशसा की तथा विद्वानोसे उनका अनुसरण करनेका आग्रह किया। रात्रिमे एक संस्मरण सभा आयोजित की गई जिसमे पडितजीके परिजनो विशेष रूप से उनके अनुज, दोनो पुत्रो एव पुत्रियोने सस्मरण सुनाये। डॉ० सत्यप्रकाश दिल्ली, निर्मल जैन सतना, डा० राजाराम आरा और फूलचन्द्र प्रेमी वाराणसीने भी पडितजी का गुणानुवाद किया।

१९ अप्रैलका प्रात कालीन सत्र डॉ० सुदर्शनलालजी वाराणसीकी अध्यक्षतामे प्रारम्भ हुआ, इस सत्रका संचालन किया डॉ० शीतलचद्र जैन जयपुर ने। सत्रमे डॉ० रतनचन्द्र जैन भोपाल, श्री निर्मल जैन सतना, डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी एव० डॉ० नन्दलाल जैन रीवाने अपने आलेख प्रस्तुत किये जिनमे डॉ० महेन्द्रकुमारजी द्वारा लिखित एवं सम्पादित कृतियोकी विवेचना की गई थी। अध्यक्षीय उद्बोधनके बाद पूज्य महाराजजीने कहा कि समाजको मार्गदर्शन देनेके लिये विद्वानोमे ज्ञानके साथ चारित्र होना भी आवश्यक है।

मध्याह्न तीन बजेसे प्रारभ गोष्ठीके कार्यकारी सत्र की अध्यक्षता की डॉ० रतनचद्र जैन भोपालने और संचालन किया निर्मल जैन सतना ने। इस सत्रमे डॉ० शीतलचद्र जैन जयपुर, डॉ० राजारामजी आरा, डॉ० भागचद्र भास्कर नागपुर, डॉ० भागचद भागेन्दु, दमोह एव डॉ० कस्तूरचद्र कासलीवालने अपने आलेखो का वाचन किया। सभी आलेखो पर सचालक की सटीक टिप्पणियो एव अतमे अध्यक्ष महोदय की महत्त्वपूर्ण समीक्षाओंने सत्र को अत्यन्त प्रभावक बना दिया। अतमे उपाध्यायश्री का मंगल प्रवचन भी हुआ।

रात्रिमे डा० रतनचद्रजी द्वारा शास्त्र प्रवचनके बाद प्रो० कमलेश जैन अम्बिकापुर का आलेख वाचन हुआ और फिर जिला एव सत्र न्यायाधीश श्री एस० के० जैन की अध्यक्षतामे एक सरस काव्य गोष्ठी आयोजित की गई। इसका सुरुचिपूर्ण सचालन श्री निर्मल जैन सतनाने किया। गोष्ठीमे स्थानीय कवयित्री श्रीमती उषाकिरन फुसकेले, पं० सुरेश जैन मनेन्द्रगढ, डॉ० कासलीवाल जयपुर, डॉ० भागचन्द्र भागेन्दु

पूज्य उपाध्यायश्री के सानिध्य में अप्रैल ९४ में पं० जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अम्बिकापुर में आयोजित संगोष्ठी में माइक पर बोलते हुए श्री संतोष [illegible]

पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज के सानिध्य में १८ से २० अप्रैल १९९४ में अम्बिकापुर (म०प्र०) में पं० जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आयोजित विद्वत् संगोष्ठी में उपस्थित विद्वद्गण एवं पं० जी के परिवार के सदस्य । इस संगोष्ठी के अवसर पर प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन की योजना बनी थी ।

भोपाल, श्री सन्तोष भारती, दमोह, डॉ० भागचंद भास्कर, नागपुर, डॉ० रतनचंद्र भोपाल, श्री रतन पहाडी कामठी एवं संचालक श्री निर्मल जैन सतना ने देर रात तक काव्यपाठ किया।

२० अप्रैल को प्रात समापन सत्र आयोजित हुआ इसमें संयोजक डॉ० कासलीवालने सगोष्ठी का विवरण देते हुए इसकी सार्थकता एव उपयोगिता पर विद्वानोके अभिमत लिये तथा आगेके कार्यक्रमो पर सुझाव लिये। निर्णय हुआ कि प० महेन्द्रकुमारजीके कार्यों का लेखा-जोखा सुरक्षित करनेके लिये एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जाय एवं उनकी अप्रकाशित सामग्री प्रकाशित की जाय। उनके जन्म दिन बुद्ध पूर्णिमा को प्रतिवर्ष कोई न कोई आयोजन विभिन्न स्थानो पर किया जाय।

आयोजकोने विद्वानो का आभार मानते हुए उनका सम्मान किया। विद्वानोने भी सगोष्ठीके प्रभावपूर्ण आयोजन, समुचित व्यवस्थाओ एव स्नेहपूर्ण आतिथ्यके लिये आयोजक डॉ० अभय चौधरी एवं डॉ० आशा चौधरी तथा स्थानीय जैन समाज के सभी सदस्यो को धन्यवाद दिया।



डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

परम संरक्षक



स्वस्तिश्री कर्मयोगी
भट्टारक चारुकीर्ति जी श्रवणबेलगोला



स्वस्तिश्री ज्ञानयोगी
भट्टारक चारुकीर्ति जी मूडबिद्री



सिद्धान्ताचार्य
पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य



समाजरत्न
साहू अशोककुमार जैन

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

संरक्षक मण्डल

श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल

श्री निर्मलकुमार सेठी

रायबहादुर हरखचन्द्र जैन

पद्मभूषण बाबूलाल पाटोदी

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति

संरक्षक मण्डल



श्री विजयकुमार मलैया



श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका



साहू रमेशचन्द्र जैन

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

पदाधिकारी गण



श्रीमंत सेठ डालचन्द जैन
अध्यक्ष



डॉ० भागचन्द्र भागेन्दु
मंत्री



श्री सुरेशचन्द्र चौधरी
कोषाध्यक्ष

सम्पादकीय वक्तव्यः

"न्यायाचार्य डॉ० (प०) महेन्द्रकुमार जैन स्मृति ग्रन्थ को लोकार्पित करते हुए हमे सातिशय प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है । यत सुधीजनो, परमपूज्य सन्तो, राष्ट्र नेताओ, सामाजिक कर्णधारो और विविध क्षेत्रो मे अपने प्रशस्त कृतित्व से सम्पूर्ण वसुन्धरा एव चिन्तना को महिमामडित करने वालो का गुणस्मरण सदैव स्वागतेय है । सुधीजनों के गुणस्मरण की परम्परा सुदूर प्राचीन काल से प्रवर्तमान है । सुप्रसिद्ध चिन्तक और धर्मशास्त्र-विश्लेषक महाराजा मनु ने सम्मानार्हता के पाँच प्रसगो का उल्लेख कर 'विद्या' को ही सर्वश्रेष्ठ अभिनन्दनीय निरूपित किया है —

वित्त बन्धुर्वयः कर्म, विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि, गरीयो यद यदुत्तरम् ।।

—मनुस्मृति २/१३६

और एतदनुसार नीति-मर्मज्ञ का यह कथन भी सुधीजनो के प्रतिनन्दन/गुणस्मरण की ही आशसा करता है —

'स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।'

सुधीजनो ने राष्ट्र, समाज, अध्यात्म, धर्म, दर्शन, साहित्य और सस्कृति के विविध पक्षो को सम्वर्धित और सुरक्षित करते हुए उनके सागोपाग समुन्नयन हेतु भगीरथ प्रयत्न किये है ।

प्रत्येक राष्ट्र और राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति उसके दर्शन/चिन्तन/मनन/साहित्य और इनके प्रेणताओ से होती है । युग-युगो से जिन आचार्यों/ऋषियो/मनीषियो ने दृश्य और अदृश्य के प्रति अपनी जिन अनुभूतियो को शब्दो के माध्यम से मूर्तमान किया है और—

"अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं, स्वल्पं तथाऽऽयुर्बहवश्च विघ्ना. ।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु, हंसैर्यथाक्षीरमिवाम्बुमध्यात् ।।"

—पचतत्रम् कथामुखम्, पद्य ९

के विशेषज्ञो ने अपने स्फूर्त और ओजस्वी चिन्तन को आगामी पीढी द्वारा विश्लेषित और आविष्कृत किये जाने हेतु सुरक्षित कर रखा है, विज्ञान के इस तर्कशील और विकासवादी युग मे भी उनके चिन्तन तथा निष्पत्तियाँ निश्चित ही प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर रहे है । ऐसे सुधीजन समाज, साहित्य, अध्यात्म, दर्शन, न्यायविद्या, सस्कृति और राष्ट्र की धरोहर होते है । उनके जीवन-दर्शन, आस्थाओ, नैतिक मूल्यो, साधनाओ और सार्थक कृतित्व से सम्पूर्ण परिवेश-समाज और राष्ट्र दिशाबोध प्राप्त करता है और ऐसे

दिव्य ललाम सुधीजनो के प्रति उनके जीवन काल में अभिनन्दन/प्रतिनन्दन तथा मरणोपरान्त स्मृति/स्मरण/ गुणस्मरण शिष्ट तथा कृतज्ञ समाज का प्राथमिक दायित्व है । जैसा कि आचार्य विद्यानन्दि ने भी लिखा है —

"न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ।"

इस दृष्टि से अभिनन्दन/स्मृति ग्रन्थो की महती उपयोगिता है । विगत साठ वर्षों मे यह परम्परा निरन्तर विकास को प्राप्त हुई है, जिसके द्वारा सन्तो, सुधीजनो और राष्ट्रीय तथा सामाजिक क्षेत्र मे महनीय व्यक्तित्वो के अभिनन्दन/गुणस्मरण/कृतज्ञता प्रकाश मे "अभिनन्दन ग्रन्थ" अथवा "स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशित हुए । जैन जगत् मे यह परम्परा सन् १९४६ मे प० नाथूराम प्रेमी को समर्पित किये गये अभिनन्दन ग्रन्थ से प्रारम्भ हुई । इस महत्त्वपूर्ण कार्य का सर्वत्र समादर हुआ । इसके उपरान्त अनेक अभिनन्दन/स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हुए है, जिनमे राष्ट्र, समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य, पुरातत्त्व, विज्ञान, कला, इतिहास और सस्कृति का सार्थक प्रतिपादन हुआ है । यहाँ यह प्रश्न सहज ही समाधेय है कि "अभिनन्दन/स्मृति ग्रन्थो की भीड़ मे एक और ग्रन्थ क्यो ?"

स्मृति ग्रन्थ की आयोजना और उसका इतिहास

डॉ० पण्डित न्यायाचार्य श्री महेन्द्रकुमार जैन बीसवी शती के भारतीय दर्शनशास्त्र, न्यायविद्या एव जैन दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् थे । उन्होने न्यायशास्त्र के दुरूह से दुरूह ग्रन्थो का सम्पादन करके उनकी शोधपूर्ण विस्तृत भूमिकाएँ लिखकर जैन न्याय साहित्य को एक नया जीवन प्रदान किया । उनके द्वारा सम्पादित एव प्रणीत ग्रन्थ विश्वविद्यालयो एव जैन शिक्षा सस्थाओ के पाठ्यक्रम मे निर्धारित है । देश की प्रतिनिधि प्रकाशन सस्था-भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना एव उसके प्रारभिक सचालको म डॉ० महेन्द्रकुमार जी का योगदान अग्रगण्य है । "ज्ञानोदय" जैसी यशस्वी पत्रिका के वे सम्पादक थे। जब उनकी विशिष्ट प्रतिभा प्रकाश मे आयी तभी अकस्मात् उनका स्वर्गवास हो गया और भारतीय धर्म, दर्शन एव न्याय विषयक क्षेत्र के विकास के कितने ही स्वप्न अधूरे रह गये ।

डॉ० सा० ने अल्प जीवनकाल मे ही धर्म, दर्शन—विशेष रूप से जैन न्याय साहित्य, प्राचीन वाङ्मय और राष्ट्र की जो सेवा की वह विरल है । भगवती वाग्देवता के ऐसे यशस्वी वरदपुत्र के कृतित्व के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने हेतु स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित की योजना परमपूज्य युवा मनीषी श्री उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से बनी ।

वस्तुत यह कार्य चार दशक पूर्व ही हो जाना चाहिए था । किन्तु इस गुरुतर कार्य का शुभ सकल्प २० अप्रैल १९९४ को अम्बिकापुर मे लिया गया और तब से अब तक निरन्तर "डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशन योजना के प्रमुख प्रेरणास्रोत परमपूज्य श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी मुनि महाराज है । पूज्य उपाध्यायश्री आगमनिष्ठ ज्ञान-ध्यान-तपोनिष्ठ, दुर्द्धर तपस्वी, विद्याव्यसनी, विद्वत्परम्परा के सम्वर्द्धक, परम यशस्वी आध्यात्मिक सन्त है । पूज्य उपाध्यायश्री सराक जाति की उत्थान योजना को हाथ मे लिए हुए मध्यप्रदेश के सुदूर अचल मे अवस्थित पिछड़े हुए जिला सरगुजा-अम्बिकापुर १९९४ मे पधारे । वहाँ के नवनिर्मित जैन मन्दिर की प्राणप्रतिष्ठा के सन्दर्भ मे अम्बिकापुर के जिला

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

सम्पादक मण्डल



डॉ० दरबारीलाल कोठिया
प्रधान सम्पादक



पं० हीरालाल 'कौशल'



डॉ० भागचन्द्र 'भागेन्दु'

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

सम्पादक मण्डल



डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल



डॉ० सागरमल जैन



डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी



डॉ० राजाराम जैन



डॉ० रतन पहाड़ी



बाबूलाल जैन फागुल्ल

प्रबन्ध सम्पादक

चिकित्सालय में पदस्थ डॉक्टर दम्पती डॉ० अभय चौधरी और श्रीमती डॉ० आशा चौधरी ने पूज्य उपाध्यायश्री का पावन सान्निध्य प्राप्त किया। उपाध्यायश्री के अध्ययन/मनन/स्वाध्याय में (स्व०) डॉ० महेन्द्रकुमार जी के द्वारा प्रणीत और सम्पादित ग्रन्थ आये थे। मात्र ४७ वर्ष की अल्प जीवन यात्रा में जिस मनीषी ने भगवती जिनवाणी/श्रुत देवता की निष्ठापूर्वक अद्भुत सेवा की हो और जो सन् १९५९ में दिवगत हुआ हो, लगभग चालीस वर्षों के अन्तराल में जिनका व्यापक योगदान ओझल सा हो गया था—उन (स्व०) विद्वद्रत्न डॉ० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के योगदान पर एक प्रभावक त्रि-दिवसीय अखिल भारतीय विद्वत् सगोष्ठी अम्बिकापुर मे १८, १९, व २० अप्रैल १९९४ को पूज्य उपाध्यायश्री की प्रेरणा से सम्पन्न हुई। इस सगोष्ठी के सयोजन मे (स्व०) प० जी के तृतीय जामाता डॉ० अभय चौधरी तथा तृतीय सुपुत्री (सौ०) डॉ० आशा चौधरी एव लघु जामाता श्री सतोष भारती (दमोह) तथा कनिष्ठ पुत्री सौ० आभा भारती की भूमिका सातिशय महत्त्वपूर्ण थी। इस सगोष्ठी में राष्ट्र के विभिन्न भागों से समागत मनीषी विद्वानो, साहित्यकारों तथा समाज बन्धुओं ने पूज्य उपाध्यायश्री के सान्निध्य में यह निर्णय लिया कि (स्व०) डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य प्रबुद्ध विचारक, दार्शनिक, चिन्तक, आदर्श प्राध्यापक, सफल लेखक और कुशल सम्पादक थे। उनके अप्रतिम योगदान की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए एक स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। एतदर्थ सम्पादक मण्डल और स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति का गठन भी किया गया। समिति के पदाधिकारियों एव सदस्यों की समग्र सूची इसी ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट में प्रकाशित है। एतदनुसार इसके अध्यक्ष श्रीमन्त सेठ डालचन्द्र जी सागर एव मन्त्री—डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु" दमोह है। समिति का प्रधान कार्यालय १५२, कबीर भवन, दमोह निर्धारित हुआ, इसका सचालक श्री सतोष भारती एव सौ० आभा भारती ने किया। सम्पादक मण्डल का गठन निम्न भाँति हुआ—

प्रधान सम्पादक	-	डॉ० दरबारी लाल कोठिया, न्यायाचार्य
सम्पादकगण	-	प० हीरालाल कौशल, दिल्ली
		डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु", भोपाल
		डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर
		डॉ० सागरमल जैन, वाराणसी
		डॉ० राजाराम जैन, आरा
		डॉ० रतन पहाड़ी, कामठी
		डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी एव
प्रबन्ध सम्पादक	-	श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी

समिति के निर्णयानुसार प्रकाश्य स्मृति ग्रन्थ की पञ्चखण्डीय रूपरेखा तैयार की गयी। इसके अनुरूप ही देश के कोने-कोने से बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई। दमोह एवं बीना मे इस समिति की तीन बैठके हुईं, जिसमे प्राप्त सामग्री का वाचन/सशोधन/सम्पादन कर उसे प्रकाशन योग्य बनाया गया। कुछ सामग्री ग्रन्थ तैयार हो जाने तक आती रही, उसका उपयोग नही कर सकने हेतु हम माननीय लेखकों से क्षमा प्रार्थी हैं।

प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ की रूपरेखा और प्रकाशन क्रम स्थिर करते समय प्राच्य विद्या विशारदों के सम्मान की वह विशिष्ट परम्परा निरन्तर ध्यान में रही है जिसके अनुसार डॉ० आर०जी० भाडारकर, डॉ० एम० विण्टरनित्स, डॉ० दरबारीलाल कोठिया, डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य एव प० बंशीधर व्याकरणाचार्य आदि का सम्मान उनके जीवन की आधारभूत प्रवृत्तियों और महत्त्वपूर्ण शोधपरक रचनाओं को ही एक साथ प्रकाशित कर समर्पित करके किया गया था । यह परम्परा वस्तुत प्रशस्य, अनुकरणीय और अभिनन्दनीय है । अतएव इस स्मृति-ग्रन्थ में माननीय न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमार जी जैन के प्रति सस्मरण/आदराञ्जलि और उनके जीवन परिचय के साथ-साथ उनके कृतित्व को भी समीक्षा के निकष पर परखा गया है। साथ ही उनके द्वारा विविध विषयों पर लिखित कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्धों, आलेखों एवं ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं को भी समाविष्ट किया गया है । ऐसा करते समय सम्पादक मण्डल का यह प्रयत्न रहा है कि माननीय (स्व०) महेन्द्रकुमार जी के विचारों/मौलिक उद्‌भावनाओं और निष्पत्तियो से समाज, सामान्य पाठक, शोधार्थी और मनीषी सभी लाभान्वित हो सकें तथा उनके व्यक्तित्व का एक साथ निदर्शन हो सके ।

एतदनुसार पाँच खण्डों में अन्तर्विभाजित इस स्मृति ग्रन्थ के **प्रथम खण्ड** में—न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमार जी के स्मृति ग्रन्थ हेतु साधु-सन्तों के शुभाशीष, मनीषियों के आदराञ्जलि-पूर्ण सस्मरण, शिष्यों और समाज नेताओं के प्रणाम सन्निविष्ट है । शृंखलाबद्ध इन उद्‌गारो मे प० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के व्यक्तित्व और अप्रतिम वैदुष्य का मूल्याकन सहज ही हो उठा है ।

स्मृति-ग्रन्थ के **द्वितीय खण्ड** में—प० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य का जीवन परिचय व्यक्तित्व एव कृतित्व रूपायित है ।

स्मृति-ग्रन्थ के **तृतीय खण्ड** में—कृतियों की समीक्षाएँ में डॉ० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य की समग्र सारस्वत साधना पर विश्लेषणात्मक चिन्तन की प्रस्तुति के साथ ही साथ उनके बहुचर्चित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर तत् तत् विषयों के मर्मज्ञ अधिकारी विद्वानों के द्वारा अभिलिखित समीक्षाएँ सन्निविष्ट है ।

इस स्मृति-ग्रन्थ का **चतुर्थ खण्ड** . विशिष्ट निबन्ध (स्व०) प० न्यायाचार्य जी के कृतित्व/सारस्वत आराधना के पूर्णत. निदर्शक है । ये निबन्ध (स्व०) न्यायाचार्य जी के लेखन, जीवन दर्शन और वैदुष्य का सर्वतोभावेन प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी उपादेयता आगे आने वाले समय मे भी उतनी ही है/रहेगी जितनी आज है अथवा जब उनका सृजन हुआ था । सम्पादक मण्डल यह अनुभव करता है कि—इस सम्पूर्ण चतुर्थ खण्ड में (स्व०) न्यायाचार्य जी का गहन गम्भीर अध्ययन, विषय उपस्थापन—पल्लवन और प्रतिपादन की अद्‌भुत क्षमता, अन्वेषणात्मक सुतीक्ष्ण दृष्टि, एक दार्शनिक/नैयायिक आचार्य के व्यक्तित्व का गौरव, रोचक शैली, प्राञ्जल-परिष्कृत भाषा और कोमल कान्त पदावली तो निदर्शित है ही, इनमें 'सत्य, शिव, सुन्दरम' का लक्ष्य भी चरितार्थ हुआ है ।

इस स्मृति-ग्रन्थ के **पञ्चम खण्ड** में—जैन न्यायविद्या का विकास और जैन दार्शनिक साहित्य का कालक्रमानुसार दिग्दर्शन कराया गया है । शोधार्थियो के लिए यह खण्ड विशेष उपयोगी है ।

और परिशिष्ट :

स्मृति-ग्रन्थ में परिशिष्ट के रूप में—"डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति" के पदाधिकारियों एवं सदस्यों की नामावलि तथा सम्पादक मण्डल के माननीय सदस्यों का परिचय सन्निविष्ट है ।

कृतज्ञता :

इस स्मृति ग्रन्थ के सम्पादन कार्य में अनेक परम पूज्य साधु-सन्तों, शिक्षाशास्त्रियों, समीक्षकों, विद्वानों और लेखक महानुभावों का बहुविध हार्दिक सहयोग एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है । वस्तुत. इस आयोजना के प्रमुख प्रेरक परमपूज्य श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी मुनि महाराज है, उन्ही के सान्निध्य और पावन प्रेरणा की फलश्रुति यह स्मृति-ग्रन्थ है । उन्हें सादर त्रिनमोऽस्तु तथा ग्रन्थों के समीक्षकों, विद्वान् लेखकों, परामर्शदातृ मण्डल के सदस्यों और स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति के माननीय अध्यक्ष श्रीमन्त सेठ डालचन्द्र जी जैन तथा अन्य सभी पदाधिकारियों और सदस्यों के प्रति सम्पादक मण्डल कृतज्ञता निवेदित करता है ।

अपने व्यस्त जीवन क्षणों मे से कुछ समय निकालकर ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ शुभाशीष/आदराञ्जलि तथा अन्य सामग्री भेजकर जिन महानुभावों ने आयोजना को मूर्तरूप प्रदान किया है उन सभी के हम आभारी है ।

सग्रहीत सामग्री का पारायण कर पाण्डुलिपि तैयार करने के कार्य में प्रधान सम्पादक माननीय डॉ० कोठिया जी एव सम्पादक मण्डल के माननीय सदस्यों—सर्वश्री पं० हीरालाल जी कौशल, डॉ० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवाल, डॉ० 'भागेन्दु' जैन, डॉ० फूलचन्द्र जी प्रेमी और प्रबन्ध सम्पादक श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल के सक्रिय सहयोग नितरा उल्लेखनीय हैं । सम्पादक मण्डल के सभी मनीषी सदस्यों की बहुज्ञता का लाभ निरन्तर प्राप्त किया गया है । अत सभी के प्रति हृदय से आभारी है ।

मानव की शरीर सरचना में जो महत्त्व 'रीढ की अस्थि' का है वही इस ग्रन्थ की आयोजना के क्रियान्वयन मे श्री अरविन्दकुमार जी जैन (मुबई), डॉ० अभय चौधरी एव (सौ०) डॉ० आशा चौधरी, (सम्प्रति भोपाल), श्री सतोष भारती एव सौ० आभा भारती (दमोह) का है । इस सन्दर्भ में श्री धन्यकुमारजी (वाराणसी), श्री पद्मकुमार जी (वाराणसी), एव माननीय प० हीरालाल जी कौशल एव डॉ० सत्यप्रकाश जी दिल्ली, तथा श्री लक्ष्मीचन्द्र जी एव सौ० मणिप्रभा सागर का सहयोग भी उल्लेखनीय है । इन सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ।

इस ग्रन्थ का मुद्रण सस्कृत वाङ्मय और जैन विद्या ग्रन्थो के यशस्वी मुद्रक श्री महावीर प्रेस, वाराणसी ने अत्यन्त रुचिपूर्वक किया है । अत यह समिति इस प्रेस के सचालक श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल को हार्दिक धन्यवाद समर्पित करती है ।

अपनी सीमाओ और ग्रन्थ की त्रुटियो/कमियों से हम भली-भाति परिचित है । हम जानते है कि यह ग्रन्थ (स्व०) डॉ० महेन्द्रकुमार जी जैन न्यायाचार्य जैसे मूर्धन्य विद्वान् के बहुआयामी विराट्

व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं बन सका है । हमें सकोच है कि इच्छा रहते हुए भी इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण नही बना सके तथा अपरिहार्य कारणो से इसके प्रकाशन में भी कुछ विलम्ब हुआ है, इसके लिए हम क्षमा प्रार्थी है ।

अन्त में-एक साधक और भगवती श्रुतदेवता के यशस्वी आराधक, महामनीषी न्यायाचार्य डॉ० (पं०) (स्व०) महेन्द्रकुमार जी का जीवन और कृतित्व भारतीय मेधा को स्फूर्त करे एव प्रेरणा का स्रोत बने, इस भावना के साथ यह ग्रन्थ सादर लोकार्पित है ।

मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी,
संस्कृति भवन, भोपाल (म०प्र०)
वीर शासन जयन्ती
वीर निर्वाण संवत् २५५२
दिनांक ३१-७-१९९६

विदुषां वशंवदः
प्रधान सम्पादक डॉ० दरबारीलाल कोठिया
तथा समस्त सम्पादक मण्डल की ओर से

(डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु')
सम्पादक

विषयानुक्रमणिका

खण्ड : १ : संस्मरण / आदराञ्जलि

खण्ड : २ : जीवन परिचय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

खण्ड : ३ : कृतियों की समीक्षाएँ

खण्ड : ४ : विशिष्ट निबन्ध

खण्ड : ५ : जैनन्याय विद्या का विकास : जैनदार्शनिक साहित्य

खण्ड : १

संस्मरण : आदराञ्जलि



राष्ट्र के सारस्वत जगत् के अग्रणी

डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य प्रामाणिक विद्वान्, प्रभावी वक्ता एवं सफल लेखक तो थे ही, उनका व्यक्तित्व भी अत्यन्त सरल, निश्छल एव सात्त्विक था। उनकी सादगी एवं विद्वत्ता का ही यह प्रकृष्ट प्रभाव था कि विरोधी विचारधारा वाले विद्वान् भी उनका प्रभूत आदर करते थे।

पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य नामके साथ स्वर्गीय शब्दकी संगति अनुचित लगती है। वे अपने क्रान्तिकारी विचारों और उच्च रचनाओसे आज भी जीवित हैं और सदा जीवित रहेंगे। हम सन् १९४८ मे तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजीसे लौटते हुए वाराणसी उतरे थे। हम उस समय क्षुल्लक थे। हमारे साथ कोल्हापुरके महास्वामी लक्ष्मीसेन भट्टारकजी थे। उस समय हमारा समयसार-कलशका स्वाध्याय चल रहा था। स्वाध्यायमे प० महेन्द्रकुमारजी भी सम्मिलित होते थे। लगभग पन्द्रह दिन तक हमे उनका सान्निध्य मिला था। इस कालमे हमे उनके विविध विषयक वैदुष्य और क्रान्तिदर्शी विचारोका जो परिचय प्राप्त हुआ, उससे हमे यह विश्वास हो गया था कि ये राष्ट्रके सारस्वत् जगतमें अपना उचित स्थान बनायेगे और उन्होने अपनी प्रज्ञासे हमारे इस विश्वासको सत्य सिद्ध कर दिया। यदि वे कुछ वर्ष और जीवित रहते, तो इसमे सन्देह नही है कि उनकी प्रज्ञाका सौरभ राष्ट्रकी सीमाओ का अतिक्रमण करके सुदूर विदेशोमे पहुँचा होता। उनमे ऐसे गट्स थे, उनमें ऐसी प्रतिभा थी।

ऐसे महामनीषीकी स्मृतियोंको संजोकर उनके गुणो, विद्वत्ता एवं गरिमापूर्ण कार्योंसे समाज एवं राष्ट्रको परिचित करानेका जो पावन सकल्प आप लोगों ने लिया है; तदर्थ हमारा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है।

आचार्य विद्यानन्दजी महाराज



माँ सरस्वती के वरदपुत्र

कोटि जन्म तप तपे, ज्ञान बिन कर्म झरे जे ।
ज्ञानी के छिनमाहि, त्रिगुप्ति ते सहज टरै ते ॥

विद्वद्वर्य्य श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यका स्मृति ग्रन्थ प्रकाशनका समाचार श्री बाबूलालजी फागुल्लसे ज्ञात होते ही दिमागमे एक लहर सी उठ आई, आखिर यह क्यो ? सोचा इसमे गलत है ही क्या ? ज्ञानी, जिनवाणीका अनुरागी उसका स्मरण अरहतदेवकी दिव्यदेशनाका स्मरण है। अतः यह तो होना ही चाहिये। माँ सरस्वतीके पुत्र श्री महेन्द्रकुमारजी ने अपनी आयुके अल्पवर्षोंमे ही न्याय जैसे जटिल विषयके ग्रन्थोका सम्पादन कर जैनदर्शनकी महत्ताको गौरवान्वित किया है। स्मृति-ग्रन्थके माध्यमसे आपकी जैनदर्शनके प्रति समर्पणकी भावना युग-युग तक स्मरणीय बनेगी। और स्वाध्याय प्रेमियोके लिये उनका अद्भुत श्रम अनुकरणीय बनेगा। स्मृति-ग्रन्थके प्रधान सम्पादक श्री दरबारीलालजी कोठिया एवं समस्त सम्पादक मण्डलको मेरा आशीर्वाद है। आगे भी इसी प्रकार ज्ञानियोंका स्मरण करते हुए जिनागमकी प्रभावना करते रहे।

आचार्य श्री भरतसागरजी महाराज



अपूर्व साहित्य सेवी

डॉ० महेन्द्रकुमारजीका अध्ययन बहुत गम्भोर और विशद था, अपनी प्रखर प्रतिभा और अप्रतिहत मेधाके बल पर उन्होने जो पाण्डित्य अधिगत किया था, वह वस्तुतः आदर की वस्तु है, सभी अध्येताओके लिए महान् आदर्श है, भारतीय धर्म, दर्शन, न्याय शास्त्रोके आप प्रकाण्ड विद्वान् थे, प्राकृत, सस्कृत जैसी प्राचीन भाषाओ पर आपका असाधारण अधिकार था। आपने अपने छोटे-से जीवनकालका प्रतिक्षण ज्ञानकी आराधना हेतु उपयोग किया है। ज्ञानकी गम्भीरता, विषयकी विशदता और भाषाकी सहज सुबोधता डॉ० सा० की साहित्य साधनाके त्रिभुज है,। आपके ग्रन्थ, आलेख, सम्पादित रचनाएँ आज भी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उनके कार्यको आगे बढ़ाने वाले अभी भी दुर्लभ ही है। उनकी समर्पित सरस्वती आराधना आज भी समाजको विकास एवं प्रगतिकी प्रेरणा दे रही है। उनकी साहित्य सेवा अनुपम है। ऐसे मनीषीकी स्मृतिमे प्रकाशित स्मृति-ग्रन्थ ज्ञान प्रदीप बन अन्य साहित्याराधको एवं वाणी साधकोका पथ आलोकित करेगा। सम्पादक मण्डल एवं प्रकाशन समितिको हमारा शुभाशीष है।

उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज

पूर्वाग्रह मुक्त विचार के धनी

पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य अपने विषयके आचार्य हैं और तदुपरान्त खूब परिश्रमशील और अध्ययनरत अध्यापक है। आधुनिक अन्वेषणात्मक और तुलनात्मक दृष्टिसे विषयो और पदार्थोंका परिशीलन करनेमे यथेष्ट प्रवीण हैं। दार्शनिक, सांप्रदायिक और वैयक्तिक पूर्वाग्रहोंका पक्षपात न रखकर तत्त्व विचार करनेकी शैलीके अनुगामी है।

श्रावणशुक्ला पंचमी स० १९९६

मुनि श्री जिनविजयजी



स्याद्वाद विद्या के प्रकाशस्तम्भ

डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके स्मृति-ग्रन्थके प्रकाशनके समाचार से प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। वस्तुतः यह कार्य बहुत पहले हो जाना चाहिए था। जैनधर्म, दर्शन, न्याय जैसे विषय तथा इनके दुर्लभ और कठिन साहित्यको सहज, सरल और बोधगम्य आधुनिक वैज्ञानिक शैलीमे प्रस्तुत करके डॉ० सा० ने भारतीय साहित्य और संस्कृतिकी महत्त्वपूर्ण विधाकी सेवा की है। उनके द्वारा सम्पादित एवं मौलिक ग्रन्थ ऐसे कीर्ति स्तम्भ है जो युगो-युगो तक उनकी स्मृतिका यशोगान कराते रहेगे। स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति और सम्पादक मण्डलको हमारा इस कार्य के लिए शुभ-आशीर्वाद है, क्योकि उन्होने डॉ० सा० की साहित्य साधनाके योगदानके मूल्याकनका सुअवसर साहित्य जगत्को दिया।

आर्यिका स्याद्वादमती माताजी



परम्परा और आधुनिकता के संगम

प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके साहित्य और आलेखोके अध्ययनसे ऐसा लगता है कि वे सदा समसामयिक है। उन्होने जहाँ जैनधर्म और दर्शनके महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थोका उत्कृष्ट सम्पादन करके परम्पराकी रक्षा की है वही उन्होने अपने सम्पादकीय और समसामयिक आलेखो द्वारा जैनधर्म दर्शनको वैज्ञानिक शैलीमे प्रस्तुत करके आधुनिकताका भी परिचय दिया है और अनेक पीढियोको उस अमृतज्ञान से लाभान्वित किया है। मेरी यही भावना है कि जैन समाजमे ऐसे अनेक विद्वान् हो ताकि जैनधर्म-दर्शनके महत्त्वसे सम्पूर्ण जगत् परिचित हो सके। मेरा शुभाशीष आप सभीके सदा साथ है।

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज



आशीर्वाद

न्यायशास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यका स्मृति ग्रन्थ निकल रहा है। यह उत्तम कार्य है। उनक द्वारा तत्त्वार्थवार्तिक आदि कई ग्रन्थोका नई शैली एव वैज्ञानिक पद्धतिमे सम्पादन हुआ हे। उनके साथ अनुसन्धान पूर्ण प्रस्तावना परिशिष्ट आदिका संयोजन कार्य भी किया गया है, जो अनुसन्धित्सु पाठको के लिए बडा ही उपयोगी है।

इस सार्थक प्रयत्नके लिए हमारा आप सबको आशीष है।

मुनि श्री क्षमासागरजी महाराज



साहित्य के मेरु शिखर

अज्ञानतिमिराच्छन्न संसारको अपनी ज्ञानगरिमाके द्वारा आलोकित करने वाले महामनीषी विद्वद्वर्य प० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य के समान जैनजगत्मे विरले ही विद्वान् हुए है। प्राचीन परिपाटीके चिरन्तन सत्यान्वेषणके अनुपम तत्त्वानुसधान मे तत्पर प० जी के व्यक्तित्व व कृतित्व से कौन सहृदय व्यक्ति आकृष्ट एव सश्रद्ध नतमस्तक नही होगा।

प० जी जैनदर्शन, न्याय, धर्म व साहित्यके अद्वितीय 'मेरुशिखर' थे। उनका पाडित्य प्रभावपूर्ण व तलस्पर्शी ज्ञानसे ओतप्रोत था। उनका सपूर्ण जीवन ही माँ जिनवाणी सरस्वतीकी सेवामे समर्पित हुआ। जैनदर्शन, धर्म तथा सस्कृतिके उत्थानमे प० जी का जो 'न भूतो न भविष्यति' वाला अनुपम योगदान है, वह श्रमण-सस्कृति के इतिहासमे सदा अमर रहेगा।

॥ इति भद्र भूयात् ॥ वर्धता जिनशासन ॥

स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी, मूडबिद्री

दर्शनशास्त्र के महान् विद्वान्

• सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्र शास्त्री

न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजीके विषयमे हम क्या लिखें। इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि जैन समाजमे दर्शनशास्त्रके जो भी इने-गिने विद्वान् है उनमे ये प्रथम हैं। इन्होने जैनदर्शनके साथ सब भारतीय दर्शनोका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया है। इन्होने ही बडे परिश्रम और अध्ययनपूर्वक स्वतन्त्र कृतिके रूपमे जैनदर्शन ग्रन्थका निर्माण किया है। एक ऐसी मौलिक कृतिकी आवश्यकता तो थी ही, जिसमे जैनदर्शनके सभी दार्शनिक मन्तव्योका ऊहापोहके साथ विचार किया गया हो। हम समझते हैं कि इस सर्वांगपूर्ण कृति द्वारा उस आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। अतएव प० महेन्द्रकुमारजी का जितना आभार मानें, थोडा है।
–जैनदर्शन (अपनी बात) १९५५

सम्पादन कला के आचार्य

• सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

पण्डित महेन्द्रकुमारजी अपने विद्यार्थी जीवन से ही बडे प्रतिभाशाली थे।

जैन न्यायका आज उन जैसा अधिकारी विद्वान् कोई दृष्टिगोचर नही होता जो उनका भार संभालने की योग्यता रखता हो। दर्शनके प्राय सभी प्रमुख ग्रन्थोका उन्होने पारायण कर डाला था। न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा, बौद्ध सभी दर्शनोके ग्रथ उनके दृष्टिपथसे निकल चुके थे और सम्पादन कलामे तो वह आचार्य हो गये थे। दिगम्बर जैन समाजमे आज उन जैसा न कोई दार्शनिक है और न सपादक।

प्रत्येक व्यक्तिमे गुण भी होते है और दोष भी। प० महेन्द्रकुमारजी मे दोनो थे, किन्तु उन जैसा अध्यवसायी, उनके जैसा कर्मठ और उनके जैसा धुनका पक्का व्यक्ति होना कठिन है। उनके जीवनका एकमात्र लक्ष्य था—' स्वकार्यं साधयेत् धीमान्'' बुद्धिमानका कर्तव्य है कि अपने कार्यको सिद्ध करे। यही उनका मूल मत्र था। उन्होने अपने इस मूल मत्रके सामने आपत्तियों/विपत्तियों की कभी परवाह नही की।
–जैनसन्देश २८ मई १९५९

दार्शनिक चिन्तन के मनीषी

• प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी सघवी

''प० महेन्द्रकुमारजीके साथ मेरा परिचय छह सालका है। इतना ही नही बल्कि इतने अरसेके दार्शनिक चिन्तनके अखाडेमे हम लोग समशील साधक हैं। इससे मै पूरा तटस्थ्य रखकर भी नि सकोच कह सकता हूँ कि प० महेन्द्रकुमारजीका विद्याव्यायाम कम-से-कम जैन परम्पराके लिए तो सत्कारास्पद ही नही अनुकरणीय भी है। प्रस्तुत ग्रन्थका बहुश्रुतसम्पादन उक्त कथन का साक्षी है। प्रस्तावनामे विद्वान् सपादकने अकलकदेवके समयके बारेमे जो विचार प्रकट किया है, मेरी समझमे अन्य समर्थ प्रमाणोके अभावमे वही विचार आन्तरिक यथार्थ तुलनामूलक होनेसे सत्यके विशेष निकट है। समयविचारमे सपादकने जो सूक्ष्म और विस्तृत तुलना की है, वह तत्वज्ञान तथा इतिहासके रसिकोके लिए बहुमूल्य भोजन है।''' मैं पंडितजी की प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सत्कृतिका सच्चे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाजके विद्वानो और श्रीमानोसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पडितजीकी सभी कृतियोका उदारभावसे अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं।

(दर्शन और चिंतन पृ० 481, 475 से)

एक प्रकाशमान नक्षत्र

● पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री

मैं अपनी शिक्षा समाप्त करके, कटनीके दिगम्बर जैन विद्यालयमे प्राध्यापकके पद पर नियुक्त होकर कार्य करने लगा था। एक बार पर्यूषण पर्वमे मै खुरई समाजके द्वारा आमंत्रित था। खुरईमें एक सरकारी कन्याशालाके प्रधानाध्यापक मास्टर कन्छेदीलालजी अच्छे अनुभवी विद्वान् थे। मेरे पिताजीके साथ उनके सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे, उन्होने यह परिचय कराया कि एक बालक बीनाके जैन विद्यालयमे अध्ययन करने वाला यहाँ आया है, और वह आपसे मिलना चाहता है।

वह आया। उसके मिलनेके बाद मुझे यह पता चला कि इनका नाम महेन्द्रकुमार जैन है, और ये इस समय जैन न्याय मध्यमाकी परीक्षाकी तैयारी कर रहे हैं। मुझे उनसे दो-चार प्रश्नोके उत्तर मालूम कर संतोष हुआ कि यह बालक बहुत होनहार और बुद्धिमान् है।

कालक्रमसे ये अपने अध्ययनके लिए काशी गए और वहाँ न्यायशास्त्रमे आचार्य परीक्षा पास की। सम्भवत ये प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने न्यायशास्त्रकी आचार्य परीक्षाके पूर्व छ खण्डोको उत्तीर्ण किया था। मेरे साथ उनका सम्पर्क बराबर बना हुआ था। मै उन्हें हमेशा प्रोत्साहन देता था और उनकी विद्योन्नति देखकर मुझे बडा हर्ष होता था।

पूज्य प० गणेशप्रसाद जी वर्णी भी जैन समाजमे अग्रगण्य चारित्रधारी महापुरुष थे। कालान्तरमे पूज्यवर्णी जीके नामसे एक ग्रन्थ प्रकाशिनी सस्थाका जन्म हुआ। उसके अध्यक्ष हमारे विद्या गुरु पण्डित बंशीधरजी न्यायालकार थे और मैं उपाध्यक्ष था। उन दिनो प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने "जैन दर्शन" नामसे एक विस्तृत ग्रन्थ करीब ६०० पृष्ठका लिखकर तैयार किया था। वर्णी ग्रथमालासे उस ग्रन्थको प्रकाशन करनेकी योजना बनाई थी।

पं० बशीधर व्याकरणाचार्य बीना, ग्रन्थमालाके मत्री थे। अत मत्रीजीके और मेरे बीचमे यह प्रश्न खडा था। परन्तु ग्रन्थमालाकी आर्थिक स्थिति कुछ कमजोर थी फिर भी हम लोगोने यह निर्णय किया कि ग्रन्थमालाकी मूलनिधि भी खर्च हो जाय तो कोई चिन्ताकी बात नही परन्तु इस अपूर्व कृतिका ग्रन्थमालासे प्रकाशन अवश्य होना चाहिए। इस निर्णयानुसार ग्रन्थमाला समितिने अक्टूबर १९५५ मे इसका प्रकाशन किया। इस ग्रथका सम्पादन तत्कालीन सुयोग्य विद्वान् प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने किया।

ऐतिहासिक दृष्टिमे भारतवर्षमे जब बौद्धोका प्रभुत्व था और उनके तर्कपूर्ण प्रहारोसे न्यायशास्त्रके विद्वानोमे खलबली मच गई थी उस समय जैनदर्शनके विद्वानोमे आचार्य समन्तभद्र और आचार्य सिद्धसेन दो समर्थ आचार्य इस प्रकारके आचार्य हुए जिन्होने इस युगमे आनेवाले जैनधमके प्रति आक्षेपोका तर्क पूर्ण भाषामे अनेकान्त शैलीमे उत्तर दिया और आक्षेपोका निराकरण करते हुए जैनदर्शनके प्रमाण और प्रमेय तत्त्वोंकी तर्क पूर्णभाषामे स्थापना की थी।

आचार्य समन्तभद्रके जीवन कालकी यह घटना उनके आर्हत मतकी दृढ श्रद्धाकी परिचायिका है। जब उन्हे भस्मक व्याधि उत्पन्न हुई। तो उस समय उन्होने अपने मुनि पदकी मर्यादाको भी गौण कर कृत्रिम रूपमे "शिवपूजक" बनकर अपने रोगका शमन किया। जब शिवजीको लगने वाली सम्पूर्ण भोग सामग्रीको वे रोग क्रमश शान्ति होने पर पूरा नही खा सके तब उनकी कपट-स्थिति उस समयके शासकके सामने प्रकट हो गई और आदेश दिया कि तुम अपने अपराधके प्रायश्चित्त स्वरूप महादेवजीकी वन्दना करो।

आचार्य समन्तभद्रने अपने सम्यक्दर्शनकी प्रभुताके आधार पर उन्हे उत्तर दिया कि मेरा नमस्कार

मेरी यह मूर्ति सहन नही कर सकेगी। और जब उन्होने चौबीस तीर्थंकरोकी भक्तिमे विभोर होकर स्वयंभू-स्तोत्र'' की रचना की और भगवान् चन्द्रप्रभकी भक्ति पढ़ते हुए उस मूर्तिको नमस्कार किया तो वह महादेवजीकी पिण्डी ऊपरसे फट गई और उसमेसे उनकी जिनभक्तिकी दृढ़ताके प्रभावसे चन्द्रप्रभ भगवान्की मूर्ति प्रकट हुई। जो उनके नमस्कारको झेल सकी। इस प्रकार उनकी इस बनावटी दशामे भी उनके सम्यक्त्व-की दृढ़ताके आधार पर होनेवाली यह घटना सर्वत्र प्रकाशित हुई और लोगोने जैनधर्मको ग्रहण किया।

यह घटना केवल कपोल कल्पना नही है। किन्तु यथार्थ सत्य है जिसके प्रमाण स्वरूप काशीमे आज भी वह मूर्ति ''फटे महादेव'' के नामसे स्थित है और बादमे यह कल्पना उसके बादके लोगोने कर ली कि ये पहले ''स्फटिकमणि'' के रहे होगे। परन्तु कालान्तरमे शब्द बोलते वे फटे महादेवके नामसे शब्दोमे कहे जाने लगे। परन्तु यह कल्पना ही मिथ्या है। जिसका प्रमाण उस महादेवजीकी पिंडीका फटा हुआ भाग घटनाकी यथार्थ सत्यताको स्वय प्रकट करता है।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्रने अपने युगमे अपनी श्रद्धा और आचरण तथा बृद्धिगत तर्क विद्याके आधार पर न केवल जैन सिद्धान्त को बल्कि उसके आचार को भी प्रतिष्ठा की। आचार्य समन्तभद्र तथा जिनभद्रगणी की सेवाओसे उस समय जैनधर्मकी प्रतिष्ठा हुई थी।

इस युगमे काशी नगरी नैयायिको की सुप्रसिद्ध नगरी है जहाँ पर दर्शनशास्त्रके विभिन्न मतोके विद्वान् रहते हैं उनके परस्पर शास्त्रार्थ चला करते हैं। इस युगमे जैन विद्वानोमे प० महेन्द्रकुमारजी जैसे विद्वान् ''प्रकाशमय नक्षत्र''के रूपमे आये जिन्होने सभी दर्शनोका गहरा अध्ययन किया और जैनधर्म पर किये जाने वाले विविध विद्वानोंके आक्षेपोको अनेकान्त शैलीसे निराकरण किया। जैनतत्वकी प्रतिष्ठापना विद्वत् समाजमे की।

'जैनदर्शन' ग्रन्थमे बारह अधिकार हैं इनमे से प्रथम अधिकारमे ग्रन्थकी पृष्ठभूमि लिखी गई तथा दूसरे अधिकारमे विषय परिचय दिया गया। तीसरे अधिकारमे जैनदर्शनने भारतीय दर्शनको अनेकान्त दर्शनका परिचय कराया।

प्रत्येक धर्ममे लोक व्यवस्था तत्त्व, व्यवस्था अपने-अपने ढगकी पायी जाती है साथ ही उस तत्त्वोकी सिद्धिके लिए प्रमाण व्यवस्था भी सुनिश्चित रूपसे की जाती है इसलिए ग्रन्थमे भी जैनमतके अनुसार लोक व्यवस्था तथा उसमे पाये जाने वाले द्रव्यो तथा तत्त्वोकी व्यवस्थाका वर्णन चार-पाँच-छ -सात अध्यायमे किया गया है। इन सबका विवेचन करने वाले प्रमाणो और नयोका विचार आठ, नौ और दस अध्यायमे किया गया है।

इन अध्यायोमे आर्हत मतकी मान्यताके अनुसार प्रमाणोके आधार पर उक्त व्यवस्थाएँ तो सिद्ध की ही गई है साथ ही अन्य दर्शनोमे की गई लोक और तत्त्व व्यवस्थाका परीक्षण भी किया गया है।

जैनदर्शनकी भारतीय सस्कृतिको यह बहुत बडी देन है कि इसने वस्तुके विशाल स्वरूपको विविध दृष्टिकोणोसे [नयोकी दृष्टिसे] देखने की प्रेरणा दी है। इसलिए ग्रन्थके अन्तमे ११ और १२ अध्यायमे विश्वशाति और जैनदर्शनका सम्बन्ध स्थापित करते हुए जैन दार्शनिक साहित्यका भी परिचय दिया है।

वस्तुत: अपने छोटेसे जीवनमें प० महेन्द्रकुमारजीने इतना बडा कार्य किया है। वे दार्शनिकोकी शृंखलामे एक प्रकाशमान नक्षत्रकी तरह उदित हुए, पर शीघ्र ही अस्त हो गए इस बातका दु ख सदा रहेगा।

—कटनी, अप्रैल १९९५

सृजनात्मक प्रतिभा के धनी

• पं० बंशीधर व्याकरणचार्य, बीना

पं० महेन्द्रकुमारजी पहले व्यक्ति थे, जिन्होने क्रमबद्ध पर्यायकी मान्यताको कल्पित कहा था। प्रत्येक वस्तुकी स्व-प्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध होते हुए भी स्व-परप्रत्यय पर्यायें निमित्तानुसार ही होती हैं और निमित्त एव निमित्तोका बदलाव क्रम तथा अक्रम दोनो प्रकारसे प्राप्त होता हैं। जैसे जीवकी अनादि कालसे जो स्व-पर प्रत्यय पर्याये होती हैं वे निमित्तके अनुसार भी होती हैं और निमित्तोके बदलावके कारण भी होती हैं।

पं० महेन्द्रकुमारजी नये चिन्तनके पण्डित थे, वे परम्परा पण्डित नही थे। उन्होने १९३० मे इन्दौर से न्यायतीर्थ (दि०) किया था और स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीमे जैनदर्शनके अध्यापक हो गये थे। यह उनके गौरवकी बात थी। स्याद्वाद महाविद्यालयमे अध्यापक होना गौरव समझा जाता था।

उस समय विद्यालयमे शास्त्री और आचार्य कक्षाओमे पढनेवाले बडे-बडे छात्र थे। उन्होने भी प्राचीन न्याय लेकर न्यायाचार्य किया।

यहाँके अध्ययन-अध्यापन और सम्पादनके वातावरणको देखकर वे भी ग्रन्थ-सम्पादनके कार्यमे जुट गये। फलत तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, न्यायकुमुदचन्द्र, अकलकग्रन्थत्रय, न्यायविनिश्चय-विवरण आदि ग्रन्थोका उन्होने वैज्ञानिक एव नव्य पद्धतिसे सम्पादन किया। 'जैनदर्शन' जैसी स्वतन्त्र एव मौलिक कृतिका सर्जन भी किया। अनेक शोध खोजके आलेख भी 'अनेकान्त' आदि पत्र-पत्रिकाओमे लिखे।

वास्तवमे प० महेन्द्रकुमारजी एक सृजनात्मक प्रतिभाके अद्भुत धनी थे।

परिनिष्ठित विद्वान्

• डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री

न्यायाचार्य आदि पदवियोसे विभूषित प्रो० महेन्द्रकुमारजी अपने विषयके परिनिष्ठित विद्वान् हैं। जैनदर्शनके साथ तात्त्विक दृष्टिसे अन्य दर्शनोका तुलनात्मक अध्ययन भी उनका एक महान् वैशिष्ट्य है। अनेक प्राचीन दुरुह दार्शनिक ग्रन्थोका उन्होने बडी योग्यतासे सम्पादन किया है। ऐसे अधिकारी विद्वान् का कृतित्व 'जैनदर्शन' राष्ट्रभाषा हिन्दीके लिए एक बहुमूल्य देन है। हम हृदयसे उनका अभिनन्दन करते हैं।

—जैनदर्शन (प्राक्कथन) २०-१०-५५

अद्वितीय विद्वान्

• पं० दलसुख मालवाणिया, अहमदाबाद

पण्डित श्री महेन्द्रकुमार अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने अकलङ्कग्रन्थत्रयसे प्रारम्भ करके अकलङ्कके मूलग्रन्थोका टीकाके साथ जो सम्पादन किया है वह उन्हे अमर बनाने वाला है।

बनारस यूनिवर्सिटीमे मेरी जैनदर्शनके प्राध्यापक रूपमे नियुक्ति हुई। जब शास्त्रीके पाठ्य क्रममे जैन और बौद्ध ग्रन्थोका अभाव सा था। अतएव मैंने यूनिवर्सिटीको निवेदन किया कि जैनदर्शनके लिए मेरी नियुक्ति है तो बौद्ध ग्रन्थोको पढानेके लिए अन्य विद्वान्की नियुक्ति जरूरी है। तब यूनिवर्सिटीमे प० महेन्द्रकुमारजोको बौद्धदर्शनके प्राध्यापक पर नियुक्ति हुई। और हम दोनो साथी बन गए।

प० महेन्द्रकुमारजी बडे उत्साही थे। अतएव यूनिवर्सिटीके सब प्रकारसे सगठनोमे उनका मार्गदर्शन अनुपम रहा है। और उनकी आकस्मिक मृत्यु भी उनके ऐसे सगठनोमे भाग लेने पर हुई है।

वे सदा चिरस्मरणीय रहेंगे

• स्वामी सत्यभक्त, वर्धा

डॉ० महेन्द्रकुमारजीका मुझसे घनिष्ठ परिचय था। बनारस और इन्दौरके विद्यालयोकी सर्विस छोड कर जब मैं दूसरी जगह चला गया तब ये उन विद्यालयोंमें पढ़ने गये। इसके बाद मिलनेका और पत्र व्यवहारके बहुत अवसर आये। वे मुझे एक तरहसे गुरुका सम्मान देते थे। और मेरे द्वारा लिखित बहुत सा साहित्य भी उनने पढ़ा है।

इसमे सन्देह नही कि महेन्द्रकुमारजी बहुश्रुत और विविध विषयोके अच्छे विद्वान् थे। यह दुर्भाग्य है कि वे जल्दी चले गये अन्यथा समाजको उनकी बहुत जरूरत थी।

४ वर्षकी उम्रके बाद मैं दमोह निवासी बन गया। और गर्मियोकी छुट्टीमे हर वर्ष दमोह आया करता था। इस प्रकार दमोह मेरा घर हो था। सन् १९३६ मे जब मेरे पिताजीका देहान्त हुआ उसके बाद घरके रूपमें दमोहका स्थान छूट गया।

यह प्रसन्नताकी बात है कि महेन्द्रकुमारजीका सम्बन्ध दमोहसे कई तरहसे आया है। उनके जानेसे मुझे काफी दुःख हुआ है। फिर भी अपने थोडेसे जीवनमे जो उनने असाधारण साहित्य सेवा और समाज सेवा की है उससे वे सदा चिरस्मरणीय रहेंगे।

उनकी विद्वत्ता विरल थी

• श्री यशपाल जैन, दिल्ली

पण्डितजीने जैन समाज तथा जैनधर्म और दर्शनको जो सेवा की है, वह सराहनीय है। उनकी विद्वत्ता विरल थी। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अत्यन्त यशस्वी था। वह एक ऐसे साधक थे, जिनका स्थान सदा अक्षुण्ण रहेगा।

मुझे पण्डितजीके सम्पर्कमे आनेका विशेष अवसर मिला था। उनकी सौम्यता और सादगीकी मेरे मनपर बडी गहरी छाप है। सच यह है कि इतने विद्वान् होते हुए भी उन्हे कभी अपनी विद्वत्ताका गर्व नही हुआ। वह अत्यन्त सरल और निश्छल थे। सेवा उनका धर्म था। उन्हे स्मृति-ग्रन्थ अर्पित करके भारतीय समाज उपकृत होगा।

हार्दिक कामना

• डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री, भोपाल

प० महेन्द्रकुमारजी मेरे निकट मित्रोमे थे और जो कुछ भी लिखते या प्रकाशित कराते थे उसकी एक प्रति वह मुझे अवश्य भेजते थे। उनके द्वारा भेट की हुई उनकी पुस्तक "जैनदर्शन" मेरे पास सुरक्षित है। वह न केवल जैनदर्शन, अपितु भारतीय दर्शनकी अन्य शाखाओमे भी निष्णात थे। अनेक वर्षों तक मेरे और उनके बीच भाईचारा रहा।

आपका आयोजन सफल हो, यह मेरी हार्दिक कामना है।

विनोदप्रिय महेन्द्रकुमार जी

• प० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर

श्री महेन्द्रकुमारजी मेरे सहपाठी थे। यह सन् १९२७ से १९२९ तक तीन वर्ष शास्त्री कक्षामे श्री महेन्द्र सिंहजी (प्रसिद्ध आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी) श्री वर्धमानजी शोलापुर, दक्षिणके जिनराजजी एवं नागराजजी आदि जैन बोडिंगमे रहकर वही सर हुकमचद सस्कृत महाविद्यालय जँवरीबाग, इन्दौरमे श्री न्यायालंकार प० बशीधरजी, श्री प० जीवंधरजी न्यायतीर्थ एव श्री व्याकरणाचार्य प० शभुनाथजी त्रिपाठीके पास क्रमश जैनसिद्धात, जैन न्याय और जैन साहित्यका अध्ययन करते थे। महेन्द्रकुमारजी अत्यत विनोदप्रिय थे। और परस्पर हासपरिहाससे तग आकर जब कोई सहपाठी गुरुजीके पास शिकायत ले जाता तो गुरुजी का उत्तर था कि—

स्वकार्यं साधयत नृत्यतोऽपिदोषाभावात्।

हम क्या करे महेन्द्रकुमार मेधावी और व्युत्पन्न पात्र हैं। उसका हम कोई अपराध नही मानते—

'जिन्दगी जिन्दादिलीका नाम है'।

यह उक्ति उसपर घटती हे।

हमलोग प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और अष्टसहस्री आदि उच्चतम ग्रन्थोका पक्तिश अर्थ लगाते थे। 'त्रिलोकसार' अलौकिक गणितका ग्रन्थ भी हमने साथ ही पढा है। सर्व ग्रथोमे महेन्द्रकुमारजी का विशेष प्रवेश था। सन् १९२८ मे बैरिस्टर चपतरायजीने विदेशमे आकर एक माह तक हमे जैनधर्मके नोट्स लिखाये थे और परीक्षा भी ली थी, उसमे महेन्द्रकुमारजी प्रथम आए थे।

हम व्यायामशाला, जिनेन्द्रपूजा और हाकी, फुटबाल आदिमे साथ ही रहते थे। श्री मन सरसेठ हुकमचदजी वर्षमे दो बार व्यायामशालामे आकर हमारी कुश्ती देखते थे और हमे पारितोषिक देते थे। प्रतिदिन वायुसेवन या अन्य समय दो घण्टा सस्कृत भाषामे ही हम वार्तालाप करते थे। महेन्द्रकुमारजी सदृश महान् विद्वान्को भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का अध्यक्ष बनाकर परिषद्को गौरवान्वित होना चाहिए था। परन्तु परिषद्के कार्यकर्ताओने इस ओर ध्यान नही दिया। मुझे दुख है कि बहुत कम उम्रमे उनका देहावसान हुआ। उसका कारण यह है कि वे अहर्निश बिना विश्राम साहित्य सेवामे सलग्न रहते थे। वे रोगोके इलाजकी चिन्ता नही करते थे।

अध्ययनके बाद जब वे खुरईमे थे, मैं उनसे मिलने गया था। दूसरी बार भी मैं मेरे मित्र पचरत्न-जीके विवाहमे उनके साथ रहा था। पत्रमे मुझे, वे भवदीयके स्थानमे अनुकारक लिखा करते थे। वाराणसी के विद्वानोमे बडा प्रभाव था।

उनके प्रति मै अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

सन्देश

• D VEERENDRA HEGGADE Dharmasthala

I am happy to note that you will bring out a commemorative Volume on Dr Mahendra Kumar Jain. Hope it will highlight his activities and achievements.

I wish your venture all success.

सहाध्यायी और जैन न्याय-विद्यागुरु

• डॉ० दरबारीलाल कोठिया, बीना

दि० जैन संस्कृत विद्यालय साढ़ूमल (ललितपुर) मे तीन वर्ष अध्ययन करके मैं वाराणसीके विश्रुत स्याद्वाद महाविद्यालयमे उच्च अध्ययनार्थ पहुँचा और वहाँ विशारद द्वितीय खण्ड एव न्यायमध्यमा प्रथम खण्डमे प्रविष्ट हुआ। यह ई० १९२९ की बात है।

वहाँ जैनदर्शन एव जैन न्यायका कोई अध्यापक नही था। दूसरे वर्ष १९३० मे स्वर्गीय प० महेन्द्र-कुमारजी न्यायतीर्थकी नियुक्ति ला० मुसद्दीलालजी अमृतसरके ३०) मासिक आर्थिक सहयोगसे हो गयी। वे नये-नये थे, छात्रो पर उनका प्रभाव कम था। आप्तपरीक्षा पढाते थे। उनके अध्यापनमे स्खलन रहता था, इससे हम लोग चुपचाप उनका मजाक उडाते थे। हम न्यायमध्यमा द्वितीय खण्ड भी पढते थे, जिसमें वैशेषिक-नैयायिक दर्शनोके सिद्धान्त थे और आप्तपरीक्षाके आरम्भमे भी वे थे। अतएव उनके स्खलन पकडमे आ जाते थे। फलत. उन्होने १९३२ मे सम्पूर्ण साहित्य-मध्यमा उत्तीर्ण कर १९३३ मे प्राचीन न्याय लेकर न्यायाचार्यके प्रथम खण्डमे प्रवेश लिया। उधर हमने भी नव्य-न्याय मध्यमाके क्रमश चारो खण्ड प्रथम श्रेणीमे १९३२ मे उत्तीर्ण किये और १९३३ मे प्राचीन न्याय लेकर न्यायाचार्यके पहले खण्डमे प्रवेश लिया। यद्यपि हमने पहले नव्य न्याय लिया था, पर जैन दार्शनिक ग्रन्थोमे उसके न होने तथा प्राचीन न्याय होनेसे उसे ही अध्ययनका विषय बनाया।

इस तरह पण्डितजी और हम चार खण्ड साथ-साथ पढे। पपौरा विद्यालयमे अध्यापनार्थ चले जानेसे साथ न रह सका और एक वर्षका अन्तराल पड गया। पण्डितजी लगातार परीक्षा देते रहे और १९३९ मे न्यायाचार्य हो गये और हम १९४० मे हुए। इस प्रकार हम और प० जी सहाध्यायी रहे। नि.सन्देह वे प्रतिभा सम्पन्न थे।

इसके साथ हम उनके पास जैनदर्शन पढ़ते थे। जैन न्यायमध्यमा और दि० जैन न्यायतीर्थकी परीक्षाएँ उन्हीके पास पढ़कर दी एव प्रथम श्रेणीमे उत्तीर्णता प्राप्त की। अत पण्डितजी मेरे गुरु भी थे।

हमे उन दिनोका स्मरण आता है, जब हम दोनो शीतकालमे ३ बजे रातमे उदयनाचार्यकृत न्याय-कुसुमाञ्जलिके अध्ययनके लिए हनुमान घाटमे स्थित एक दक्षिणी नैयायिकके यहाँ जाते थे। वे बहुत योग्य विद्वान् थे। ४ बजे तक एक घण्टा पढाते थे। बादमे दूसरे छात्र पढनेको आ जाते थे।

जब पण्डितजी स्याद्वाद महाविद्यालयको छोडकर महावीर विद्यालय बम्बई पहुँचे, तो कुछ दिनो बाद उन्होने हमे एक पत्र लिखा कि 'अपनी दुकान होती, तो मै उसका मालिक होता।' यह पत्र मैंने श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारको दिखाया। उन्होने उत्तर देनेको कहा। मैने उन्हे लिखा कि 'आप वीर-सेवा-मन्दिर मे आ जाइए।' उनकी स्वीकृति भी आ गयी। पर सयोगवश नही आ पाये।' मै उन दिनो वीर-सेवा मदिर, सरसावा (सहारनपुर) मे कार्यरत था। यह १९४४ की बात है।

तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणको लेकर मेरे और उनके बीच 'अनेकान्त' मे लेख-प्रतिलेख लिखे गये। किन्तु मन भेद नही हुआ। अन्तमे तो उसे उन्होने तत्त्वार्थसूत्रका मगलाचरण स्वीकार कर लिया था।

जैन न्यायके उच्चतम ग्रन्थोका सम्पादन कर जो वैज्ञानिक सम्पादनकी कला प्रदर्शित की वह अद्वितीय और असाधारण है। आज वे नही हैं, किन्तु उनकी सम्पादित यशस्वी कृतियाँ उनके यश और प्रतिभा-का गुणगान कर रही हैं।

खतौलीमें एक संगोष्ठीमे हम दोनो पहुँचे थे। वहाँ उन्होने एक द्रावक घटना सुनाई। बोले—'कोठियाजी, दैवकी कैसी विचित्रता है कि मसहरीके लिए एक बाँस खरीदकर लाया था। पर वह बाँस मसहरीके काम तो नही आया, किन्तु पत्नीकी अर्थीके हेतु वह आया। इससे लगा कि कभी-कभी पुरुषार्थ दैवके आगे घुटने टेक देता है। पडितजीको अन्तिम समयमे डॉक्टरेट और प्रोफेसरके पदाकी उपलब्धि हुई थी। पर वे दोनोका उपभोग नही कर सके। यह दैवकी ही विचित्रता है।

उत्कृष्ट क्षयोपशम के धनी

• डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सागर

प्रतिभाशाली एव उत्कृष्ट-क्षयोपशमके धनी प० श्री महेन्द्रकुमारजीने वाराणसी पहुँचनेका अच्छा उपयोग किया। अध्ययन करने वाले छात्रोको वाराणसी सर्वोत्तम स्थान है। यहाँ रहकर उन्होने न्याय-शास्त्रका सर्वाङ्गीण अध्ययन कर न्यायाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। श्री सुखलालजी सघवीके सम्पर्कमे रहकर सम्पादन कलाका अनुभव प्राप्त किया और उसके फलस्वरूप सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्डका एक सुसम्पादित सस्करण प्रकाशित कराया। एम ए परीक्षा पासकर डॉ० की उपाधि प्राप्त को।

भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना भी उसी समय हुई थी। उसके आप प्रमुख सम्पादक हुए और अपने कार्य-कालमे अनेको ग्रन्थ सम्पादित कर तथा अन्य विद्वानोसे सम्पादित कराकर मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे प्रकाशित कराये। साहित्याचार्यकी परीक्षा देनेके लिये मै वाराणसी जाता था तब आपसे मिलकर बडी प्रसन्नता होती थी।

एक बार सागरमे मध्य प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनका अधिवेशन था। उसकी दर्शन-परिषद्मे विद्वानोको आमन्त्रित करनेका दायित्व मुझपर था। उसमे प० महेन्द्रकुमारजी को भी मैने आमन्त्रित किया था। उसी समय मैने भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित आदिपुराणका अनुवाद पूर्ण किया था। भारतीय ज्ञानपीठ-से प्रकाशित करानेके लिये मैने चर्चा की तो उन्होने स्वीकृति देते हुए कहा कि आप पाण्डुलिपि लेकर कुछ दिनोके लिये वाराणसी आ जाइये। प्राचीन प्रतियोसे पाठभेद लेकर आधुनिक रीतिसे सम्पादित करा देगे। उनके कहे अनुसार मैं १८ दिन वाराणसी रहा। उस समय ज्ञानपीठका कार्यालय दुर्गाकुण्ड वाराणसीमे था। वहाँ आदिपुराणकी १२ प्रतियाँ एकत्रित थी। अनेक विद्वानोके साथ बैठकर मैने पाठभेद लिये। पडितजी-ने सब प्रकारकी सुविधा प्रदान की। उनकी सम्मतिसे भारतीय ज्ञानपीठने दो भागोमे आदिपुराण प्रकाशित किया। फिर सम्पर्क बढनेसे मेरे अन्य ग्रन्थ—उत्तरपुराण, हरिवशपुराण, पद्मपुराण, गद्यचिन्तामणि, पुरुदेव-चम्पू, जीवन्धरचम्पू, धर्मशर्माभ्युदय आदि प्रकाशित हुए। मेरा शोध प्रबन्ध "महाकवि हरिचन्द्र . एक अनुशीलन" भी वहाँसे प्रकाशित हुआ।

मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ कि उन्होने मुझे सम्पादन कला सिखाकर इस दिशामे आगे बढाया। प० महेन्द्रकुमारजीके द्वारा सम्पादित राजवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति आदि अनेक ग्रन्थ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो समाजोमे श्रद्धाके साथ पढे जाते है। वे स्पष्ट वक्ता थे। सत्य बातको कहनेमे कभी चूकते नही थे। अल्प आयुमे ही उनका जीवन समाप्त हो गया यह दु ख की बात रही।

उनका अभिनन्दन उनके जीवनमे नही हो सका। जब वे थे तब विद्वानोके अभिनन्दनकी परम्परा नही चली थी। जब परम्परा चालू हुई तब तक जनता उन्हे भूल गयी। हर्षकी बात है कि पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराजका इस ओर लक्ष्य गया और उन्होने जनताको सम्बोधित कर स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशनकी योजना बनवाई। इस सन्दर्भमे मेरी विनयाञ्जलि समर्पित है।

प्रगतिशील विचारधारा के पोषक

• पं० बलभद्र जैन, दिल्ली

डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका स्मरण आते ही आँखोके आगे एक भारी भरकम व्यक्तित्व उभर उठता है, जिसने कट्टर ब्राह्मण विद्वानोको संस्कृतकी कथित नगरी वाराणसीमे अपनी प्रज्ञा और वैदुष्यसे मुग्ध और प्रभावित कर लिया था। एक बार विख्यात विद्वान् राहुल सांकृत्यायनने जैन दार्शनिको द्वारा स्वीकृत प्रमाणका खण्डन कर दिया, तब न्यायाचार्यजी ने युक्ति और प्रमाणो द्वारा उसका जो उत्तर दिया, दार्शनिक जगतमे उसकी बडी सराहना हुई थी और राहुलजीने प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी सघवी से कहा था कि अगर यह युवा विद्वान् यूरोपमे हुआ होता तो इसे नोबिल पुरस्कार प्राप्त हुआ होता। इसकी युक्तियोंमे प्रौढ़ता है, इसके तर्कोंमे पैनापन है और इसकी विषय-प्रतिपादनकी शैली प्रभावक है।

इस घटनाके बाद तो विद्वज्जगत्मे न्यायाचार्यजीने बहुत उच्च स्थान बना लिया। प० सुखलालजी सघवी अपने समयके शीर्षस्थ जैन विद्वान् थे। उनके दो शिष्य ऐसे थे, जो प्रथम पक्तिके विद्वानोमे गिने जाते थे—उनमे एक थे प्रो० दलसुख मालवणिया और दूसरे थे प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य। ये दोनों ही विद्वान् बडे उदार थे, व्यवहार कुशल थे, प्रगतिशील विचारधाराके थे, गुण-ग्राही भी थे। सभवत इसी कारण न्यायाचार्यजी की ख्यातिसे ईर्ष्या करनेवाले कुछ लोगोने यह उडा दिया कि न्यायाचार्यजी दूसरे कैम्पमे चले गये है, उन्होंने भी सघवीजी के व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर अपनी मान्यता छोड दी है। एकबार डॉ० हीरालालजी के सम्बन्धमे भी ऐसी ही हवा चली थी। किन्तु दोनो ही बार यह मिथ्या निकला। दोनो ही विद्वान् जीवन भर निष्ठा पूर्वक प्राचीन आर्ष ग्रन्थो पर काम करते रहे। और दुरूह ग्रन्थोको सरल और सुबोध बनानेका सतत प्रयत्न करते रहे। न्यायाचार्यजी का यह स्मृति ग्रन्थ भले ही विलम्ब से ही सही, कृतज्ञ समाजकी कृतज्ञताका सही प्रमाण है।

हमे यह गौरव अनुभव करनेका अधिकार है कि न्यायाचार्यजी हमारे जीवन-कालमे हुए और उन्होने अपनी प्रतिभासे जैनदर्शनको चिरजीवी बना दिया।

हार्दिक शुभकामना

• पद्मश्री बाबूलाल पाटोदी, इन्दौर

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन एक ऐसे प्रतिष्ठित विद्वान् थे कि उनकी कृतियोका आज भी कोई मुकाबला नही है। आदरणीय डॉक्टर सा० ने न सिर्फ जैन वाङ्मयका अपितु बौद्ध धर्मपर भी अनुसधान एवं शोध करके उस साहित्यका भी पूरा आलोडन किया। अपने छोटेसे यशस्वी जीवनमे समाजने उनको परखा नही, वे तो ऐसे रत्न थे, जो सदियोमे एक होते है। मुझे स्मरण है राष्ट्रसत आचार्य श्री विद्यानदजी महाराज का वर्षायोग इन्दौरमे हो रहा था, उनके प्रवचनके मध्य जब यह दु:खद समाचार आया कि श्री महेन्द्रकुमार जी नही रहे, कुछ क्षणोके लिए वे अवाक् रह गये। पश्चात् करीब ४० मिनट डॉक्टर सा० की बहुमूल्य कृतियोपर ही उन्होने सारभूत प्रकाश डाला। मुझे आज भी याद है कि उनके शब्द थे—"जैन वाङ्मयका उदित हो रहा सूर्य राहुके द्वारा असमय ग्रस लिया गया।"

किसी भी महान् विद्वान्के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना समाजका धर्म है। उनकी स्मृतिमें जो ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है वह पंडितजीके कृतित्वको पुनः समाजके सामने लावेगा।

मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

शुभकामना

• श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल, इन्दौर

डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थका प्रकाशन किया जा रहा है उससे अत्यंत प्रसन्नता है। डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन ने धर्म, समाज एव साहित्यके क्षेत्रमे जो अपनी सेवाए प्रदान की हैं वह प्रशंसनीय एवं सराहनीय है, इस अवसर पर मेरी अनेकानेक शुभकामनाएँ एवं बधाइयाँ।

शुभकामना

• श्री निर्मलकुमार जैन सेठी

पूज्य श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जैन न्यायशास्त्रके एक उच्चकोटिके विद्वान् थे और उन्होने जैन संस्कृतिके सवर्धनमे अपनी बहुमूल्य सेवाये अर्पित की हैं। उनकी जैन साहित्य साधनाके योगदानकी जानकारी हेतु स्मृति ग्रन्थके प्रकाशनके इस प्रयास की मैं सराहना करता हूँ।

असाधारण विद्वान्

श्री डालचन्द्र जैन, सागर (पूर्व सासद)

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य समाजके उद्भट विद्वान् थे जिन्होने माँ सरस्वतीकी अपूर्व सेवा की है। जैन साहित्य, धर्म एव दर्शनके असाधारण विद्वान् थे। विद्वत्ताके दर्पसे वे किसी प्रकार आक्रान्त नही हुये। अपनी अगाध ज्ञान राशिको विविध रूपोमे वितरित कर उन्होने अपना बौद्धिक जीवन सार्थक किया। उन्होने अपनी कृतियोमे पाडित्यके साथ, उस व्यापक दृष्टिकोणको अपनाया है जो समभाव तथा अनेकान्त-का परिचायक है। न्याय एव दर्शनके वे अधिकारी विद्वान् थे। उन्होने सरस-सरल भाषामे जैनदर्शनके मूल सिद्धान्तोपर अनेको पुस्तकें लिखी हैं।

उनको अभी समाजके बीजमे और रहना था। छोटी आयुमे ससार छोडकर चले गये जो समाज की अपूरणीय क्षति है।

ऐसे मूर्धन्य विद्वान्को मेरी सम्मानाञ्जलि समर्पित है।

भारतीय दर्शन के तलस्पर्शी विद्वान्

• श्री ज्ञानचन्द खिन्दूका, जयपुर

डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायाचार्यकी गणना इस शताब्दीके मूर्धन्य विद्वानोमे आती है। वे जैन-दर्शनके ही नही अपितु समस्त भारतीय दर्शनोके तल-स्पर्शी विद्वान् थे। जैन न्याय साहित्य पर सम्पादित उनकी कृतियोमे इसका स्पष्ट आभास मिलता है। "जैनदर्शन" नामकी उनकी मौलिक कृति उनकी असा-धारण योग्यता व विषयकी पकड की परिचायक है। चालीस वर्ष पूर्व लिखित इस कृतिमे इस विषयपर बडी गम्भीरतापूर्वक ऊहापोह किया गया है जिसकी समानतामे आधुनिक अनेक कृतियाँ उस स्तर की नही बन पाई हैं।

यह समाजका दुर्भाग्य ही समझिये कि ऐसी असाधारण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् अल्पायुमे ही काल-कवलित हो गया। उन द्वारा छोड़ा गया साहित्य आनेवाली पीढीको मार्गदर्शन व प्रेरणा देता रहेगा। ऐसे विद्वान्को मैं विनयपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

जिन महानुभावोने कृतज्ञतावश स्मृति-ग्रन्थके प्रकाशनका सकल्प किया है वे साधुवादके पात्र हैं।

बहुमुखी प्रतिभाके धनी

• समाजरत्न साहु अशोककुमार जैन, दिल्ली
अध्यक्ष भारतवर्षीय तीर्थ क्षेत्र कमेटी

डॉ० प० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यकी पुण्य स्मृतिमे ग्रन्थ प्रकाशित करनेके लिए पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजीकी प्रेरणाको कार्यरूप देने पर मैं आपको बधाई देता हूँ। अपने विद्वानोको समादृत करना भारतीय सस्कृतिकी परम्परा है। वास्तवमे हम इस रूपमे अपने उन गुरुजनोके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते है जो अपने गहन ज्ञान, चिन्तन, मनन और साहित्य-सर्जनसे मानव-समुदायका कल्याण करते है। आदरणीय डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य भी ऐसे हो एक सुप्रतिष्ठित मनीषी विद्वान् थे जिन्होने अपने यशस्वी कृतित्व से धर्म, दर्शन और समाजकी भरपूर सेवा की। उनके इस उपकारको समाज कभी नही भुला पाएगी।

आपने लिखा है कि आदरणीय पण्डितजीके बारेमे मैं भी कुछ लिखूँ। लेकिन यह सब कुछ बहुत सहज नही। जो आत्मीय-जन हो और श्रद्धाका पात्र हो उसके प्रति भाव शब्दोसे कम भक्तिसे अधिक व्यक्त होते है। पण्डितजीका व्यक्तित्व मेरे लिए ऐसा ही था। मैं शायद तब १०-११ वर्षका ही था जब उनके सम्पर्कमे आया और उनके उदार विचारो तथा गूढ विषयोको भी सरल, सुबोध भाषामे समझानेकी तर्क सगत शैलीका कायल हो गया। मेरे बाल-मन पर उनकी जो पहली छवि अकित हुई उसमे आश्चर्य मिश्रित श्रद्धा-भक्तिका पुट था। वे अन्य विद्वानोसे कुछ हट कर थे।

मै कलकत्ता कालेजमे पढने चला गया। विज्ञानको विषय चुना। हर पर्युषणमे बाबूजी विद्वानोको धर्म-चर्चाके लिए घर आमन्त्रित करते थे। मुझे भी कई वर्ष तक पण्डितजीको सुननेका सौभाग्य मिला। जैनधर्मके विषयमे उनका दृष्टिकोण अन्य पण्डितोकी अपेक्षा उदारवादी तथा विषयोकी विवेचना-शैली हृदय-ग्राही थी। मैं विज्ञानका छात्र था। धर्ममे तो आस्था प्रधान होती है पर विज्ञान तो हर बातको तर्ककी कसौटी पर कसता है। मेरे मनमे भी अनेक शकाएँ थी-विज्ञान पर आधारित। पण्डितजीने न केवल उनका समाधान किया। अपितु मेरे जिज्ञासु-मनमे यह बात बैठा दी कि जैनधर्म अत्यन्त वैज्ञानिक धर्म है।

मैं चकित था कि आइन्स्टीनने जिस "काल" को सबसे पहले अलग "आयाम" के रूपमे माना उसका उल्लेख हमारे जैनाचार्य हजार वर्ष पहले कर चुके थे और उसे उन्होने पृथक "द्रव्य" के रूपमे माना था। आचार्य कह चुके थे कि किसी भी कार्यकी सिद्धिमे काल भी आवश्यक निमित्त कारण है। यही बात "धर्म" और "अधर्म" के बारेमे थी। न्यूटनने इनके बारेमे जो बात प्रतिपादित की वे सब जैन-सिद्धान्तोमे पहलेसे ही परिभाषित है। ये सारी बाते मुझे प० महेन्द्रकुमारजीके माध्यमसे समझनेका मौका मिला जिससे एक विज्ञानका विद्यार्थी होनेके नाते जैनधर्ममे मेरी आस्था बढी।

मेरी कई शकाएँ पुरुषार्थ और भाग्य जैसे विषयोमे सम्बन्ध रखती थी। उन्होने जैनदर्शनकी अनेकान्त शैलीसे तथ्योको समझनेकी बात मुझे समझायी कि किस प्रकार परस्पर विरोधी दिखनेवाली बातोमे भी समन्वय हो सकता है। वे शुद्ध शास्त्रीय भाषामे न कह कर सुलभ ढगसे हमे समझाते थे। आज ऐसे विद्वानो की बहुत कमी है जो वर्तमान युवा पीढी व बच्चोको जैनधर्मके बारेमे समझा सके। हमलोग समझते है कि हर प्राणीको शुभ और अशुभ दोनो कर्मोका फल भुगतना पडेगा। इसलिए जो कम हो चुके है उनके बारेमे कुछ नही किया जा सकता और उनका फल भुगतना ही पडेगा। पर पण्डितजीने समझाया कि यह बात केवल अशत सत्य है। वास्तवमे जैनधर्ममे कर्म भाव प्रधान है और यदि भाव प्रबल है तो पिछले अशुभ

कर्मोंको शुभ कर्मोंमे बदला जा सकता है। पुरुषार्थमे इतनी शक्ति है कि वह भाग्यको भी बदल सकता है। यह नई दृष्टि मेरे लिए बहुत प्रेरणादायक रही।

पण्डितजी अल्पायुमे ही चले गए। उनके बारेमे पूज्य पिताजी और माताजीसे बराबर सुनता था कि उनके असामयिक निधनसे समाज और जैनदर्शनकी अपूरणीय क्षति हुई है। उनके उदार दृष्टिकोणसे मेरे माता-पिता बहुत प्रभावित थे। प्राचीन और विलुप्तप्राय जैन ग्रन्थोके प्रकाशनके लिए बाबूजी व माताजीने जब भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की थी तो पण्डितजीको ही उसका कार्य भार सौंपा था। वे यद्यपि कुछ ही वर्षों तक ज्ञानपीठसे जुड़े रहे पर अपनी प्रतिभा और ज्ञानसे उन्होने ज्ञानपीठको शीर्ष साहित्यिक संस्था बनानेमे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

पण्डितजी अब नही है, बस उनकी स्मृतियाँ शेष है पर आज भी मुझे पण्डितजी सबसे हटकर उदार विचारोके विद्वान् प्रतीत होते हैं जिनकी बातोसे मेरे जीवनको बहुत लाभ हुआ।

वास्तवमे प० महेन्द्रकुमारजी का सम्पूर्ण जीवन ही ज्ञानके सचय और उसके वितरणकी प्रवाहमान मन्दाकिनीकी तरह था। इसमे जो भी नहाया, अज्ञानके कल्मषसे मुक्ति पा गया। जैन समाजकी प्रतिष्ठाको बढाने वाले ऐसे ज्ञान-गौरवके प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धाजलि। उनकी स्मृतिमे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थके पीछे उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराजकी प्रेरणा है। गुरुका आशीर्वाद सदैव कल्याणकारी होता है। मुझे विश्वास है कि बहुमुखी प्रतिभाके धनी डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यके जीवनको उद्घाटित करनेवाला यह ग्रन्थ समाजको विशेषकर युवा एव ज्ञान-पिपासु वर्ग को निरन्तर प्रेरणा देता रहेगा।

मैं आपके इस प्रयासकी सफलताकी कामना करता हूँ।

सरस्वती के महान् उपासक

• साहु रमेशचन्द्र जैन, दिल्ली
कार्यकारी निदेशक–टाइम्स आफ इण्डिया, दिल्ली

सोचता हूँ, विचारता हूँ कि एक फूल हर सिंगार का बस रात भरका जीवन, सध्याके धुँधलकेमे चन्द्रोदयकी प्रथम किरणके साथ अठखेलियाँ करते हुए खिला और ऊषाकी गुदगुदाहटके साथ झर गया, पर मात्र एक रातके जीवनमे आस-पासके सारे वातावरणको सुवासित कर गया। डॉ० प० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यका जीवन भी कुछ ऐसा ही था। केवल ४७ वर्षकी अल्पायुमे उनकी साहित्यिक-प्रतिभाकी सुरभिने सुधी जगत्को एक छोरसे दूसरे छोर तक अपने आगोशमे ले लिया। वह सुगन्ध आज भी व्याप्त है और दर्शन तथा न्याय-शास्त्रके प्रेमियोके मन-मस्तिष्कको सराबोर कर रही है।

मैं परम पूज्य युवा मनीषी उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराजके चरणोमे सादर वन्दन करता हूँ कि उन्होने एक ऐसे साहित्य-सृष्टा और दृष्टाको पावन स्मृतिको ग्रन्थबद्ध करनेकी प्रेरणा दी और आपको बधाई देता हूँ कि आप उस उपक्रमको फलीभूत कर रहे है।

डॉ० प० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य इस शताब्दीके जैन-दर्शन और न्याय-शास्त्रके महान् विद्वान् थे। वे विलक्षण और बहुमुखी प्रतिभाके धनी थे। ज्ञान-पिपासु और विद्याके व्यसनी इस व्यक्तिका सम्पूर्ण जीवन ही ज्ञान-गरिमाकी कहानी है। पंडितजीने अनेक ग्रन्थोका सम्पादन किया, दार्शनिक ग्रन्थोकी सरल, सुबोध भाषामे टीकाएँ की और मौलिक ग्रन्थोका सर्जन कर सरस्वतीके भण्डारकी श्रीवृद्धि की। उनकी दृष्टि खोजी थी। वाराणसीके प्रख्यात स्याद्वाद महाविद्यालयमे न्यायशास्त्रके प्राध्यापकके रूपमे पंडित महेन्द्रकुमारजी को उस समयके जैनदर्शनके महान् विद्वान् प० कैलाशचन्दजी शास्त्रीका सानिध्य मिला। सोनेमे सुगन्धकी

तरह विद्या-व्यसनी जीवन पर अध्ययन-अध्यापनकी धार चढ़ गई और प्रतिभा निरन्तर पैनीसे पैनी होती गई। फिर तो अज्ञान-तिमिरकी न जाने कितनी परतें इस ज्ञानदीपने भेद डाली और ज्ञान पिपासुओंका मार्ग प्रशस्त कर दिया। साहित्यके क्षेत्रमें अग्रणी संस्था भारतीय ज्ञानपीठसे पंडितजी जब जुड़े तो अपनी कुशलता और बौद्धिक प्रतिभासे उसकी कीर्तिको चार चाँद लगा दिए।

न केवल जैन समाज बल्कि सम्पूर्ण साहित्य जगत् इस विद्वान् मनीषीको उनके अमर कृतित्वसे सदैव याद रखेगा। आपका स्मृति ग्रन्थ उन सब व्यक्तियोंके जीवनको प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्रदान करेगा जो माँ सरस्वतीकी वीणाके तारोंसे झंकृत हैं। आपके इस सुप्रयासके लिए मेरी समस्त शुभकामनाएँ हैं। अन्तमें इस वन्दनीय व्यक्तित्वके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए ज्ञान-सूर्यको पुनः प्रणाम करता हूँ।

असाधारण व्यक्तित्व के धनी

• श्री सुबोधकुमार जैन, आरा

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थका प्रकाशन, एक ऐसे कर्मठ और विद्वन्वर व्यक्तिकी स्मृतिको संजोकर रखनेका निर्णय है, जिसका जैन समाज ही नहीं अपितु भारतवर्षके विद्वत् समाजमें भरपूर स्वागत होगा।

इनकी मौलिक रचनाएँ और भारतीय ज्ञानपीठके उदयकालमें इनके द्वारा भारतीय ज्ञानपीठकी नींव को मजबूत बनानेका प्रयास कभी भुलाया नहीं जा सकेगा।

४७ वर्षके अल्पायुमें इतना कुछ कर जाना साधारण बात नहीं है। वे सचमुच असाधारण व्यक्तित्व-के धनी थे।

मैं उनकी स्मृतिमें अपनी सादर श्रद्धांजलि प्रेषित कर रहा हूँ।

अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व

• प्रो० उदयचन्द्र जैन, सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

आदरणीय डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न और विद्वज्जगतके जाज्वल्य-मान नक्षत्र थे। आपने अपनी प्रतिभा और ज्ञानका जो विकास किया वह अनुपम तथा सबको आश्चर्य-चकित करनेवाला है। आप विद्याव्यसनी तथा सम्पादन कलामें प्रवीण थे। आपने स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमें न्यायाध्यापक पद पर रहते हुए न्यायाचार्य परीक्षा सफलतापूर्वक उत्तीर्ण की, तथा श्री पं० कैलाश-चन्द्रजी शास्त्री, श्री पं० सुखलालजी संघवी, श्री पं० दलसुखजी मालवणिया आदि उच्चकोटिके विद्वानोंके साथ घनिष्ठ सम्पर्क होनेके कारण सम्पादन कलामें अच्छी प्रवीणता प्राप्त कर ली। भारतीय ज्ञानपीठमें जाने के पहले ही आपके द्वारा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, अकलंकग्रन्थत्रय और प्रमाणमीमांसाका संपादन और प्रकाशन हो चुका था। इससे जैन समाज तथा विद्वज्जगत्में आपकी अच्छी ख्याति हो गई थी।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि श्रीमान् साहु शान्तिप्रसादजी तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमारानीजीने अप्रकाशित जैन वाङ्मयके संरक्षण, संशोधन, सम्पादन और प्रकाशनके लिए सन् १९४४ में काशीमें भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की थी। और उस समय ज्ञानपीठके सफल संचालनके लिए एक योग्य संचालककी आवश्यकता थी। तब पं० जीकी योग्यता और विद्वत्तासे प्रभावित होकर साहुजी-ने पं० जीको ज्ञानपीठके संचालक पदपर नियुक्त किया था। इसके साथ ही मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाका सम्पा-दक तथा नियामक भी बनाया था। ज्ञानपीठमें आ जानेपर पं० जीने ज्ञानपीठकी प्रगतिके लिए बहुत परिश्रम किया और थोड़े ही समयमें ज्ञानपीठके कार्यको बहुत आगे बढ़ा दिया।

ज्ञानपीठमे प० जी ने ही सर्वप्रथम सम्पादन कार्य प्रारम्भ किया था। आपने अपनी उच्च प्रतिभाके बलपर जैनदर्शन और जैन न्यायके अनेक दुरूह ग्रन्थोंका आधुनिक शोधपूर्ण शैलीमे विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। आपके द्वारा सम्पादित ग्रन्थोमे आपकी उच्चकोटिकी प्रतिभा स्पष्ट झलकती है। प० जीके द्वारा सम्पादित ग्रन्थोसे तथा उन ग्रन्थोकी प्रस्तावनाओसे अनेक मौलिक तथ्योका उद्घाटन होता है। अत आपके द्वारा लिखित वैदुष्यपूर्ण प्रस्तावनाएँ विशेष रूपसे पठनीय, चिन्तनीय और मननीय है। आपके द्वारा सम्पादित ग्रन्थोमे अधिकाश ग्रन्थ जैन न्यायके प्रतिष्ठापक आचार्य अकलकदेव प्रणीत है। और प० जीके द्वारा सम्पादित अधिकाश ग्रन्थोका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा हुआ है। जैनदर्शन तथा न्यायके अनेक उच्चकोटिके ग्रन्थोके सम्पादनके अतिरिक्त प० जीकी एक मौलिक कृति भी है जिसका नाम है—जैनदर्शन। इस कृतिमे जैनदर्शनके अनेक मौलिक तत्त्वोका प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

उच्चकोटिके प्रतिभाशाली विद्वान्को अपने बीचमे पाकर जैन समाज गौरवान्वित हुई। किन्तु यह दुर्भाग्यकी ही बात है कि क्रूरकालने ४८ वर्षकी अल्प अवस्थामे ही प०जी को जैन समाजसे छीन लिया। यदि प०जी २०–२५ वर्ष और जीवित रहते तो आगेके जीवनमे वे अपने सम्पादन और लेखन द्वारा और भी अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक तथा सामाजिक कार्य सम्पन्न करते किन्तु सन् १९५९ मे उनके असामयिक निधनसे जैन समाजको और विशेषरूपसे विद्वत्समाजकी जो महती क्षति हुई है उसकी पूर्ति ३६ वर्षका समय बीत जाने पर भी आज तक नही हो सकी है और न निकट भविष्यमे होने की सम्भावना है।

आदरणीय प०जी मेरे गुरुजी तथा पथप्रदर्शक रहे हैं। मै श्री वीर दि० जैन विद्यालय पपौरासे व्याकरण मध्यमा उत्तीर्ण करके सन् १९४० मे स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमे अध्ययनार्थ आया था। उस समय मेरे लिये यह बात विचारणीय थी कि शास्त्रीमे कौन सा विषय लिया जाय। तब प०जीने अपनी दूरदृष्टिसे मुझे सुझाव दिया था कि किसी नवीन विषयको लेना ठीक रहेगा। अत उनके परामर्शसे मैंने बौद्धदर्शन विषय ले लिया। और क्रमश बौद्धदर्शन शास्त्री तथा आचार्य करनेके बाद मैने सर्वदर्शनाचार्य भी उत्तीर्ण कर लिया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प०जीसे मेरा घर जैसा निकटका सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि जब आप स्याद्वाद महाविद्यालय छोड़कर भारतीय ज्ञानपीठमे चले गये थे तब भी आवश्यकतानुसार घर पर मेरे अध्ययनमे सहर्ष सहयोग देते रहे। आपने मुझसे कह दिया था कि जब भी कुछ समझना या पूछना हो तब नि सकोच घर आ जाया करो। इससे मुझे बौद्धदर्शनके अध्ययनमे विशेष कठिनाई नही हुई।

यहाँ यह भी ज्ञापनीय है कि आदरणीय प०जी मुझसे विशेष स्नेह रखते थे और चाहते थे कि मैं उनके मार्गदर्शनमे सम्पादन कार्यका प्रशिक्षण प्राप्त करूँ। अत प०जीने सम्पादन कार्य सीखनेके लिए मुझे भारतीय ज्ञानपीठने विशेषवृत्ति दिलवाई थी। उस समय प०जी तत्त्वार्थवृत्तिका सम्पादन कर रहे थे और मैंने प०जीके निर्देशानुसार तत्त्वार्थवृत्तिके सम्पादन कार्यमे प०जीको सहयोग दिया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मैने सम्पादनके समय तत्त्वार्थवृत्तिका हिन्दी सार लिखा था जो मूलग्रन्थके साथ १८३ पृष्ठोमे मुद्रित है। इस हिन्दी सारमे तत्त्वार्थसूत्र पर श्रुतसागरसूरिका जो विवेचन है वह प्राय पूरा सगृहीत है और सस्कृत न जानने वालोके लिए यह बहुत ही उपयोगी है। तदनन्तर भारतीय ज्ञानपीठसे तत्त्वार्थवृत्तिका प्रकाशन होने पर उसके मुख पृष्ठपर प०जीने अपने नामके साथ मेरा नाम भी सहायकके रूपमे दिया है। ऐसी थी प०जी की उदारता और सदाशयता।

स्मृति ग्रन्थके प्रकाशनसे प०जी की विद्वत्ता और कार्योंमे प्रेरणा प्राप्त होगी।

पूज्य पं०जीके चरणोमे अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हुआ उनको शत-शत वन्दन करता हूँ।

उत्कट मनीषा के धनी

• श्री नीरज जैन, सतना

भारतीय ज्ञानपीठके माध्यमसे जैन आगम या पुराण-ग्रन्थोका प्रकाशन प्रारम्भ हो चुका था। ज्ञानोदय भी इस दिशामें नियमित प्रगति कर रहा था। उस समय श्रीमान् साहु शान्तिप्रसादजीने जैन पुरा-विद्याके प्रचार-प्रसारके बारेमें कोई योजना बनानेके लिये परामर्शके विचारसे कुछ विद्वानोको कलकत्ते बुलाया था। तब भारतीय ज्ञानपीठ बनारससे ही संचालित होती थी। मैंने बनारस होकर ही कलकत्ता गया था। उस यात्रामे प० महेन्द्रकुमारजीसे मेरा कुछ निकट परिचय हुआ। इसके पूर्व सागरमे उनसे मिलनेका और उनके आगम ज्ञानकी बानगी देखनेका अवसर मिल चुका था, परन्तु निकटता उनसे नही हुई थी।

तीन-चार दिनोके समागममें अनेक विषयोपर बहुत सी चर्चाएँ होती रही। साहुजी और उनके सहयोगी श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीयने एक रूपरेखा बनाकर उससे संबद्ध कुछ प्रश्न चुन रखे थे। उन्हीपर चर्चा होती रही। मूल अभिप्राय यह था कि स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रित पाण्डुलिपियोके क्षेत्रमे दिगम्बर परम्पराकी कलाकी पृथक पहिचान दिलानेका क्या उपाय हो सकता है।

तब मैंने पहली बार प० महेन्द्रकुमारजीके गहन पाण्डित्यकी यथार्थ झलक पहली बार देखी। कहना कठिन था कि उनकी विशेषज्ञता किस विषयमें है। वैसे तो वे जैन न्यायके पारगत विद्वान्के रूपमे जाने जाते थे, परन्तु उस यात्रामे मैंने देखा कि चर्चा चाहे साहित्य पर हो, या कला हमारी वार्ताका विषय हो, न्याय-का गहन प्रकरण हो या भक्तिका सरल-सा संदर्भ हो, महेन्द्रकुमारजी उसपर अत्यन्त सटीक टिप्पणी करते थे। उनकी दृष्टि उदार थी और उन्हें देश-कालका अच्छा अध्ययन था। वे वैचारिक सहिष्णुताके पक्षधर तो थे, पर सिद्धान्तोके प्रति उनमे कोई लचीलापन नही था। सिद्धान्त-रक्षाको वे जीवन-रक्षाकी तरह आवश्यक और महत्वपूर्ण मानते थे और उसपर टससे मस होनेको तैयार नही थे। उनमे अपनी दृढ़ मान्यताओ को, असहमत व्यक्तियोके समक्ष, नम्रतापूर्वक कहनेकी सहज सामर्थ्य थी। "मनभेद" रहित "मतभेद" पर अडिग बने रहना शायद उनके व्यक्तित्वका सबसे चमकदार पहलू उन दिनो मैंने लक्ष्य किया।

कुछ समय बाद गुरुवर पूज्य न्यायाचार्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजके चरण-सान्निध्यमे उनके साथ कुछ समय बितानेका अवसर प्राप्त हुआ। शायद दो दिन तक अकलंकदेवके अवदानके बारेमे दोनो न्यायाचार्योंमे गहन चर्चा होती रही। न्यायका विषय मेरे लिये आज भी दुरूह है, उन दिनो तो उसका तात्पर्य समझना भी मेरे लिए कठिन था, पर, मुझे उस चर्चामे जो आनन्द आया और पण्डित महेन्द्रकुमारजी की ज्ञान-निधिकी जो चमक मैंने उन दो दिनोमे देखी उसने मुझे बहुत प्रभावित किया। उन्होने मेरे साथ भाई जैसा ही स्नेहपूर्ण व्यवहार किया परन्तु मेरे लिए आदरणीय और एक विलक्षण प्रतिभावाले विद्वान्के रूपमे मान्य रहे। बादमे प्रसंगवश दो बार मेरे घरपर भी उन्होने आतिथ्य ग्रहण किया।

उनके द्वारा अनूदित विशाल-विशाल ग्रन्थोकी शोधपूर्ण प्रस्तावनाओमे जहाँ उनके तलस्पर्शी आगम-ज्ञानका परिचय मिलता है वही दूसरी ओर उनकी अमर मौलिक कृति "जैनदर्शन" मे उनकी पैनी दृष्टि तथा देव-शास्त्र-गुरुके प्रति उनकी अडिग आस्था दिखाई देती है। मेरी ऐसी कुछ मान्यता है कि न्याय-ग्रन्थो का अनुवाद और सम्पादन महेन्द्रकुमारजीके मस्तिष्कको सम्पन्नताका परिचायक है परन्तु "जैनदर्शन" में उनका हृदय ही धड़कता है। वह ग्रन्थ उनके ज्ञानमे से नही उनको आस्थामे से सृजित हुआ है। वह उनकी कालजयी रचना है और यदि उसका प्रचार-प्रसार युगानुरूप होता रहा तो वही कृति महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यको दीर्घकाल तक जैन-जन-मानसमे जीवित रखेगी।

बस, यही शब्द-सुमन समर्पित करके मैं उनकी स्मृतियोको प्रणाम करता हूँ।

वे उद्भट विद्वान् थे

• पं० प्रकाश हितैषी शास्त्री, देहली

डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एक विशिष्ट विद्वान् थे। अध्ययन-मनन-लेखन एवं सम्पादन कार्यमे आपकी विशेष रुचि थी। अधिक समय तक पारिवारिक सुख साधनके अभावमे भी आपका लेखन कार्य चलता रहता था। न्याय विषयमे तो पूर्ण पारगत विद्वान् थे। उन्होने न्यायकुमुद, अकलकग्रन्थत्रय, प्रमाणमीमांसा, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थवृत्ति, न्यायविनिश्चयविवरण, राजवार्तिक-सिद्धिविनिश्चय जैसे न्यायके उच्चकोटिके ग्रन्थोका सम्पादन एवं हिन्दी टीका, प्रस्तावना आदि लिखकर अपना अपूर्व ज्ञान प्रतिभाका महान् परिचय दिया था एव जैनदर्शन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर द्वादशागका सार उसमे आपने भर दिया था। वे चतुर्मुखी प्रतिभाके धनी थे। अनेक महत्त्वपूर्ण पदोपर रहकर उनका विद्वत्तापूर्ण निर्वाह किया। भारतीय ज्ञानपीठके सचालक रहकर एक उच्चस्तरीय साहित्यिक पत्रिका ज्ञानोदयका सम्पादन भी किया। इस प्रकार वे देश, धर्म, समाजकी सेवामे अग्रणी रहे है। विद्वानोके लिए प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

अटूट तेजस्वी व्यक्तित्व

• डॉ० भागचन्द्र जैन "भास्कर", नागपुर

प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एक अटूट तेजस्वी व्यक्तित्वके धनी महाविद्वान् थे। उनका स्वाभिमान भरा पाण्डित्य, पारम्परिक विद्वत्ता भरा अगाध वैदुष्य, प्रतिभा और चिन्तनसे आपूर लेखन तथा सहयोगी मीठा व्यवहार सहाध्यायियो और समधर्मियोके बीच ईर्ष्याका कारण बना गया था। दूरदराज खुरई (सागर, म० प्र०) मे जन्मे पं० जीने अपने ही अध्यवसाय और श्रमसे जो प्रतिष्ठा पाई वह आज भी अन्य किसीके लिए दुर्लभ रही है। उन्होने अपने सघर्ष भरे जीवनमे सिद्धान्तोसे कभी समझौता नही किया। यह उनके व्यक्तित्वकी बडी भारी विशेषता थी।

मुझे प० जीके पास बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयीय सस्कृत महाविद्यालयमे शास्त्राचार्यके कतिपय प्राचीन जैन-बौद्ध-न्यायके ग्रन्थोको पढनेका अवसर मिला। उनकी अध्यापन शैली बडी आकर्षक और स्नेहिल थी। न्यायके गूढ पारिभाषिक शब्दोको वे इतनी सरल शैलीमे समझा देते थे कि छात्रकी परीक्षाकी तैयारी स्वत. हो जाती थी। दुरूह विषयको सुगम बना देना उनकी अध्यापन पद्धति की अन्यतम विशेषता थी।

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो परम्पराओके वे कुशल दार्शनिक अध्येता थे। उनके लेखनमे तुलनात्मक अध्ययन झलकता था। सिद्धिविनिश्चय टीका आदि जिन ग्रन्थोका भी उन्होने सम्पादन किया वे आज भी सम्पादन कलाके लिए मानदण्ड सिद्ध हो रहे हैं। उनकी सम्पादन शैली अनुकरणीय थी। चाहता था, इस विषयपर कुछ लिखूं पर समयाभावके कारण लिख नही सका। हाँ, मैंने अपने अनेक व्याख्यानोमे इस तथ्यको उनके सम्पादित ग्रन्थोसे उद्धरण देकर स्पष्ट अवश्य किया है कि प्राचीन ग्रन्थोका सम्पादन किस प्रकार किया जाना चाहिए। पाठ निर्धारण तथा काल निर्णय की उनकी क्षमता बेजोड थी।

प० जीके अवसान हुए लगभग पैंतीस वर्ष गुजर चुके, पर आज भी उनसे रिक्त जगह सूनी पडी हुई है। इस अपूरणीय क्षतिके जिम्मेदार कदाचित् हम लोग ही हैं। पण्डित परम्पराकी अक्षुण्णताका प्रश्न जिस बेरहमीसे हमारे सामने खडा हुआ है, उसने प० जीके व्यक्तित्वसे कुछ सीखनेके लिए हमे मजबूर कर दिया है। काश, उनकी विद्वत्ताका कुछ अश भी हमारी पीढ़ी ग्रहण कर लेती तो तुलनात्मक अध्ययन तथा प्राचीन ग्रन्थोके सम्पादनमे हममेसे अनेक लोग उनके शेष कार्यको किसी सीमा तक पूरा कर चुके होते।

उन्हे विनम्र प्रणाम कर मैं अपनी आदराञ्जलि व्यक्त करता हूँ।

प्रखर प्रतिभाशाली

• डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

प्रोफेसर महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यका नाम स्मृति पटलपर आते ही उस साहित्यिक-दार्शनिक व्यक्तित्वकी छवि मूर्त होती है जिसने बौद्धिक जगत्में जैनधर्म और दर्शनके सम्बन्धमें प्रचलित भ्रान्तियोंका निवारण कर उसकी महनीय देनको विद्वद्जगत्के सम्मुख प्रस्तुत किया। प्रखर प्रतिभाके धनी डॉ० जैनने अपने अल्पकालीन जीवनमें धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज और देशकी जो सेवा की है वह अनुपम है। उनका साहित्यिक अवदान सश्रद्ध अभिनन्दनीय है।

न्यायाचार्य, न्यायदिवाकर आदि पदवियोंसे विभूषित प्रोफेसर जैन अपने विषयके परिनिष्ठित विद्वान् थे। अनेक प्राचीन दुरुह दार्शनिक ग्रन्थोंका उन्होंने बड़ी कुशलतासे सम्पादन किया। न्यायविनिश्चय विवरण, प्रमेयकमलमार्तण्ड, तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थवार्तिक आदि गम्भीर एवं क्लिष्ट कृतियोंका सम्पादन उनके गहन अध्ययन, विषय-मर्मज्ञता और सम्पादन-कुशलताका साक्षात्कार कराता है।

महापण्डितों, दार्शनिकों और विद्वानोंके अनेकान्त और स्याद्वाद विषयक भ्रान्त विचारों की उन्होंने तीव्र आलोचना की और उनकी भ्रान्त धारणाओंको निर्मूल सिद्ध किया। उनकी पीड़ा थी कि प्रायः लोग जैनधर्म और दर्शनको साम्प्रदायिक दृष्टिसे ऊपर उठकर नहीं देखते। यह दूषित दृष्टि है। उनकी मान्यता थी कि "दर्शनके क्षेत्रमें दृष्टिकोणोंका भेद तो स्वाभाविक है, परन्तु जब वे मतभेद साम्प्रदायिक वृत्तियोंकी जड़में चले जाते हैं, तब वे दर्शनको तो दूषित कर ही देते हैं, साथ ही स्वस्थ समाजके निर्माणमें बाधक बन देशकी एकताको छिन्न-भिन्न कर विश्वशान्तिके विघातक हो जाते हैं।"

जैनदर्शन और धर्मके सम्बन्धमें प्रचलित साम्प्रदायिक संकीर्ण विचार सदैव उनकी चिन्ताके विषय रहे। अपनी सम्पादित कृतियोंकी विस्तृत प्रस्तावनाओंमें उन्होंने इनका निराकरण करनेका भरसक प्रयास किया और फिर इसी क्रममें महापण्डित राहुल सांकृत्यायनके उलाहनेसे प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने 'जैनदर्शन' नाम की महत्त्वपूर्ण रचना का सृजन किया। व्यापक और तुलनात्मक दृष्टिसे जैनदर्शनके स्वरूपको स्पष्ट करने वाली यह कृति अपनेमें मौलिक, परिपूर्ण और अनूठी है।

समाजमें नियतिवादके एकान्तसे प्रसारित होने वाली पुरुषार्थहीनता भी उनकी गहन चिन्ताका विषय थी। उन्होंने अपनी सबल लेखनीसे नियतिवादको दृष्टिविष कहते हुए इस मिथ्या एकान्त धारणाका प्रबल शब्दोंमें खण्डन किया। मैं उनके शब्दोंको यहाँ उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। 'तत्त्वार्थ-वृत्ति' की प्रस्तावनामें उन्होंने लिखा—

"यह नियतिवादका कालकूट 'ईश्वरवाद'से भी भयंकर है। ईश्वरवादमें इतना अवकाश है कि यदि ईश्वरकी भक्ति की जाय या सत्कार्य किया जाय तो ईश्वरके विधानमें हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मोंके अनुसार ही फलका विधान करता है। पर यह नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे 'अनन्त पुरुषार्थ' का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्मकी शक्करमें लपेट कर दिया जा रहा है। ईश्वरवादी साँपके जहरका एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवादी कालकूटका, इसी भीषण दृष्टिविषका कोई उपाय नहीं है क्योंकि हर एक द्रव्यकी हर समयकी पर्याय नियत है।

"मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकान्तविषको अनेकान्त अमृतके नामसे कोमलमति नयी पीढ़ीको पिलाकर उन्हें अनन्त पुरुषार्थी कहकर सदाके लिए पुरुषार्थ विमुख किया जा रहा है।"

तत्त्वज्ञ प्रोफेसर सा० की पीडा सर्वथा चिन्तनीय है कि विश्वके सम्मुख 'अनेकान्त'का आदर्श प्रस्तुत करने वाले जैनदर्शनसे ये कैसे एकान्तके स्वर उठ रहे हैं और इनसे कैसी और कितनी हानि होने वाली है, इसका किसीको अनुमान नही है। मर्मान्त वेदनासे आहत होकर प्रो० जैन इन शब्दोमे अपना 'विनम्र निवेदन' प्रस्तुत करते हैं—

"मेरा यही निवेदन है कि हम सब समन्तभद्रादि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उभयमुखी तत्त्व-व्यवस्थाको समझें। कुन्दकुन्दके अध्यात्ममे अहंकार और पर-कर्तृत्व भावको नष्ट करें, कार्तिकेयकी भावनासे निर्भयता प्राप्त करें और अनेकान्त दृष्टि और अहिंसाके पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र ही आत्मोन्नतिके असीम पुरुषार्थमे जुटें। भविष्यको हम बनायेंगे, वह हमारे हाथमे है। कर्मोंके उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, सक्रमण, उद्वेलन आदि सभी हम अपने भावोके अनुसार कर सकते हैं और इसी परम स्वपुरुषार्थकी घोषणा हमे इस छन्दमे सुनाई देती है—

"कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानीके छिनमाहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरें ते ॥ ४।४ ॥

—पं० दौलतरामकृत छहढाला

भारतीय दर्शनोके गम्भीर अध्येता, अनेकान्त और स्याद्वादके प्रबल पक्षधर, निर्भीक लेखक, प्रवीण सम्पादक, प्रखर दृष्टि और अद्भुत प्रतिभाके धनी उस महनीय व्यक्तित्वको मैं सश्रद्ध नमन करता हूँ।

महान् दार्शनिक मनीषी

• श्री जवाहरलाल जैन एवं श्रीमती कैलाश जैन, भीडर

परम आगमभक्त श्रीमान् अप्राप्तवार्धक्य, महान् दार्शनिक, न्यायनिपुण, अजातशत्रु श्री प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, प्राचीन न्यायतीर्थको कौन नही जानता ? हमने उनके दर्शन करनेका सौभाग्य नहो प्राप्त किया तथापि उस सत्पुरुषके प्रति हमारा श्रेष्ठ हार्दिक (न कि शाब्दिक) सम्मान है। क्योकि जब जयधवला जैसे ग्रन्थराजकी पहली पुस्तक हम खोलते हैं उस महामानवका स्मरण हो आता है। इन्होने ही तो जयधवलाजी की आद्य पुस्तकके सम्पादक होनेका सौभाग्य प्राप्त किया था। उसमे लगाये हुए न्यायशास्त्रीय बहुमूल्यक टिप्पण आपके ही है। गुरुजी पडित फूलचन्द्रजी कहते थे—"मै जयधवलाका अनुवाद करता जाता था साथ ही साथ पं० कैलाशचन्द्रजी उसे देखते जाते थे और प० महेन्द्रकुमारजी टिप्पण लगाते जाते थे।" प्रथम पुस्तक न्यायशास्त्रीय प्रकरणसे सभृत-आपूर्ण है।

स्याद्वाद सम्बन्धी प्रकरणोको ढूँढनेके सिलसिलेमें हमने आपका "जैनदर्शन" देखा तो आपके न्याय शास्त्रीय तलस्पर्शी ज्ञानसे हमे सम्पर्क हुआ। आप वस्तुत अपने कालके—इस शतीके श्रेष्ठ न्यायज्ञ गिने जाने योग्य हैं। आपके सम्पादनमें कोई भी विद्वान् प्रश्नचिह्न नही लगाता। पूज्य १०५ महाविदुषी सुपार्श्वमतिमाताजीने राजवार्तिकका अनुवाद किया तो राजवार्तिक मूलके महेन्द्रकुमारीय सम्पादनको ही प्रामाणिकतम माना।

आपने सदा ही आर्ष कथनको ही मुख्यता दी।

हम दिवगत प्राज्ञके प्रति "अपनी स्नेह-स्मृति-पटलकी मंजुल रेखाओ पर आपका नाम सदैव लिखे रखेंगे", यही श्रद्धाञ्जलि सम्प्रेषित करते हैं।

वरिष्ठ एवं गरिष्ठ साहित्यसेवी

• श्री शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी

डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य जैनदर्शन जगत्की महानतम विभूतियोंमें एक थे। कथितरूप से वर्तमान लौकिक अन्यायपूर्ण युगमे न्याय-दर्शन तो न्यूनतम रूपसे आध्यात्मिक क्षेत्रमें विद्यमान है ही। इस न्याय दीपके प्रकाशमें जीवनपथके लिए संबल मिलता है। जैन-न्याय-दीपकी भूमिकामे पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने बत्तीके रूपमे कार्य किया। बत्तीकी तरह वे सरस्वती माँके वैभव-प्रसारके लिए जले, तीव्र गतिसे चले और मात्र ४७ वर्षकी अल्पायुमे इस नश्वर विश्वसे चले गये। इतना काम कर गये कि न्यायका रूक्ष और सूक्ष्म विषय भी मेधावी जन-समुदायको आकर्षित करने लगा। जैनेतर दार्शनिक वर्तमान जगत्में जैन-दर्शनको यथोचित सम्मान दिलानेका उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया। जैन-बौद्ध विद्याका एकाकी संगम यह महान् विद्याशरीरी पुरोधा युगो-युगो तक स्मरणीय रहेगा।

विश्वविद्यालयीय क्षेत्रोंमे वे अग्रणी कार्यरत रहे। न्याय एवं दर्शनके तुलनात्मक अध्ययनके वे प्रचारक-प्रसारक विद्यापुंज थे। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। लेखन, सम्पादन, अध्ययन, अध्यापन, टीका-टिप्पण आदि सभी क्षेत्रोमे उनकी पैठ थी। 'जैनदर्शन' उनकी अमर मौलिक कृति है। पं० कैलाशचन्द्रजी का जैन-न्याय और इनका 'जैनदर्शन' दोनो चन्द्र-सूर्य की भाँति दार्शनिक आकाशमें जाज्वल्यमान प्रकाश पुंज है।

मुझे उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नही हुआ किन्तु ऐसा लगता है कि अपनी अमर कृतियोंके माध्यमसे 'कृति शरीर' रूपमे मेरे सामने विद्यमान है। उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि यह होगी कि हम भी उनके समान ही परिश्रम कर उच्चसे उच्च ज्ञान-पद प्राप्त करे।

निर्लिप्त साधक संत

• श्री सत्यधरकुमार सेठी, उज्जैन

मैं आरम्भसे ही माननीय डॉ० साहबके जीवनसे और उनकी महान् साहित्यिक सेवाओंसे प्रभावित हूँ। कई बार मैंने उनके प्रत्यक्ष दर्शन भी किये हैं। उनके विचारोंमे जैनदर्शन और साहित्यके प्रति उच्च कोटिकी भावनाएँ थी जिनको सुनकर मानव एक क्षणमे जैन जीवनके प्रति आकर्षिक हुए बिना नहीं रह सकता था। वे एक उच्च कोटिके आदर्श अध्येता विद्वान् थे। जिसका स्पष्ट उदाहरण है उनके छोटेसे जीवनमें की गई माँ जिनवाणीकी सेवाय। वे न्याय शास्त्रके तो अद्वितीय विद्वान् थे ही लेकिन जैनदर्शनके अन्य विषयोपर भी उनके अध्ययन पर गहरा अधिकार था। जिसका स्पष्ट उदाहरण है उनके द्वारा सम्पादित-मौलिक कृतियाँ।

माननीय डॉ० साहब साहित्य सेवामें जितने संलग्न थे इसका स्पष्ट प्रमाण यही है कि छोटेसे जीवन-में उन्होंने अनेक ग्रन्थोका सपादन करके अपने व्यक्तित्वका परिचय दिया। सच कहा जाय तो वे गृहस्थ जीवनमे भी एक साधक पुरुष की तरह उनका जीवन था। उनके जीवनमे कई बाधाएँ आई। फिर भी वे एक अटल साधककी तरह साहित्यिक सेवामे जुटे रहे। उनका जीवन निर्लिप्त साधक संतकी तरह था। ऐसे महामानव एवं आदर्श विद्वान्के प्रति हम जो भी श्रद्धा सुमन अर्पित करें। वे भी अति अल्प हैं। मेरी तो यही भावना है कि उन महाविद्वान्के पथपर चलते हुए हम भी उन्हींके अनुरूप जैनधर्म और जैन साहित्यके प्रचार और प्रसारमे अपना जीवन अर्पित करते रहे।

उनका गुणगान ही वास्तविक श्रुत-आराधना

● पं० बालचन्द्र काव्यतीर्थ, नवापाराराजिम

आदरणीय पूज्य डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यको आज स्मरण करते हुए बरबस ही हृदय अकथनीय श्रद्धासे भर उठता है। डॉ० साहब ऐसे जाज्वल्यमान रत्न थे जिनने जैन न्याय-दर्शनको देश, विदेशमे अपनी लेखनी द्वारा पुन स्थापित किया। उनके द्वारा जटिल एवं दुरूह ग्रन्थोका जो सम्पादन एवं उन ग्रन्थोकी प्रस्तावना लिखी गई हैं उससे आज सामान्य जन भी दुरूह विषयको सरलतासे समझ लेते हैं।

यह उनकी प्रतिभा की देन है कि आज वे दुरूह गम्भीर विषय पाठ्यक्रमोमे स्थान पा सके हैं। यह डॉ० साहबके श्रमका ही फल है कि हमे आज पूज्य आचार्य अकलकदेवकी महिमाका बोध इनकी सम्पादित टीकाओंसे हुआ। जैनधर्मके जिज्ञासुओके लिए उनकी कृति "जैनधर्म" ही पर्याप्त है।

समाजके नवयुवकोके लिए डॉ० सा०का जीवन एक ज्वलत उदाहरण है कि व्यक्ति युवा अवस्थामे 'जो ठान ले' वह बन जाता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि उस दिशामे उसकी लगन और पुरुषार्थ बराबर बना रहे।

सरस्वती पुत्रका स्मृति ग्रथके प्रकाशनसे अपने आपको गौरान्वित अनुभव कर रहे हैं। उनका गुणगान ही हमारी वास्तविक श्रुत आराधना है।

न्याय-जगत्के जाज्वल्यमान नक्षत्र

● डॉ० सुदीप जैन, दिल्ली

स्वनामधन्य विद्वद्वर्य डॉ० महेन्द्रकुमारजो न्यायाचार्यका 'स्मृति ग्रथ' प्रकाशित होने जा रहा है, यह उस महान् व्यक्तित्वके अगाध पाण्डित्य एवं उज्ज्वल कृतित्वके प्रति एक विनम्र श्रद्धाञ्जलि होगी। विलम्बमे ही सही, किन्तु जैन विद्वज्जगत्ने उनकी सुध ली है—यह हर्ष का विषय है।

आप जैसे वर्तमान जगत्के विश्रुत न्यायवेत्ता मनीषीके द्वारा आदरणीय डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्याया-चार्य सदृश बीसवी सदीके न्यायजगत्के जाज्वल्यमान नक्षत्रके प्रति जो निष्ठा एव सूक्ष्म परख पूर्वक उनके प्रति जो भी प्रकाशन किया जायेगा, वह अपने आपमे तथ्यपरक एव अधिक सार्थक होगा–ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

भट्टाकलकदेव प्रणीत 'सिद्धिविनिश्चय' एव 'न्यायविनिश्चय' जैसे गूढ एव गम्भीर न्याय ग्रंथोका हार्द डॉ० महेन्द्रकुमारजी की विशद प्रस्तावनाओके अध्ययन के बिना समझ पाना अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है। सम्पूर्ण जैनजगत् कि वे अमूल्यनिधि थे। यद्यपि मुझे डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके प्रत्यक्ष दर्शनोका सौभाग्य कभी नही मिला, किन्तु उनके गरिमामयी कृतित्वके अवलोकनसे उनके आक्षितिजविस्तीर्ण व्यक्तित्व एवं ज्ञानगरिमाका भलीभाँति बोध होता है।

वर्तमान प्रसंगमे उन जैसे महान् विद्वान्के प्रति वास्तविक विनयाजलि यही होगी कि हम उनके अनुपलब्ध प्राय कृतियोको, तथा यदि कोई उनके द्वारा लिखित/सपादित/अनूदित कृति हो, तो उसको भी प्रामाणिक रूपसे डॉ० साहबकी गरिमाके अनुरूप प्रकाशित कराया जाय एव उनके व्यक्तित्व एव कृतित्वका विशद अनुशीलनपूर्वक उसे भी पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाये।

इस सुअवसर पर मैं भी उन महान् न्यायविद् विद्वद्वरेण्यके प्रति अपनी विनम्र प्रणामाञ्जलि प्रस्तुत करता हूँ।

जो सदा चमकते रहेंगे ?

● पं० सागरमल जैन, विदिशा

जैन साहित्य, इतिहासकी श्रीवृद्धि करनेवाले भी अपने पीछे जो छोड़ गये वह धरोहर आज उन्हें जीवित रखे हुए हैं, उन्हींमें से एक है डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य। ४७ वर्षके जीवन कालमें जितना दे गये उस धरोहरको ये समाज-शास्त्र भण्डार इतिहासके रूपमें सदा स्मरण करती रहेगी, पूज्य उमास्वामी एवं अकलंकदेवके श्रीचरणोमें जिनने भी श्रद्धा सुमन अर्पित किये हैं, वे स्वयं ही अमर हो गये। इस शताब्दीमें जैनदर्शन पर जितना शोधपूर्ण साहित्य जिनके द्वारा दिया गया है उनमें प्रमुखतासे न्यायाचार्य डा० महेन्द्र-कुमारजी का नाम सर्वोपरि है। इस खोये हुये महा विद्वान्को पुन: समाजमें लानेका श्रेय परमपूज्य उपाध्याय मुनिवर ज्ञानसागरजी महाराजश्री को है।

मै अपने जीवनकालमे उनके दर्शन नही कर पाया किन्तु उनके द्वारा दिये गये दर्शन शास्त्रोंका सरलतासे अध्ययन करनेका अवसर अवश्य मिला। ऐसे महामानवके प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करते समय मैं अपनेको धन्य मान रहा हूँ।

न्यायशास्त्र के अद्वितीय विद्वान्

● सिंघई सुमेरचन्द्र, जबलपुर

प०जी बुंदेलखण्डकी महान् विभूति थे। उन्होने न्यायविद्याके विषयपर पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था और अपनी लेखनीमे जिन ग्रथोका सम्पादन किया था वह अभूतपूर्व था। उनकी तर्कणा शक्ति इतनी प्रबल थी कि बडे-बडे विद्वान् भी लोहा मानते थे। ऐसे मनीषीके प्रति अपनी श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ।

सादा जीवन और उच्च विचार के धनी

● श्री महेन्द्रकुमार मानव, छतरपुर

यह मेरा सौभाग्य रहा है कि मुझे अपने जीवनमें विद्वानो, महापुरुषो, राजनेताओं, त्यागियो एवं तपस्वियोंसे मिलनका अवसर मिला है। प० महेन्द्रकुमारजीसे भेट वाराणसीमे उनके घर पर ही हुई थी। जैन न्यायपर पंडितजीके अवदानकी तुलना किसी अन्यसे नही की जा सकती। वह अतुलनीय है। जैन न्याय-पर पण्डितजी ने जिन ग्रन्थोकी रचना की है उन्हे देखकर यह सहज विश्वास नही होता कि यह समग्र एक विद्वान्का कृतित्व है। प्रत्येक व्यक्तिके साथ घर गृहस्थीकी झझटे तो रहती ही हैं इन सबके बावजूद पण्डित जीने जैन न्यायके अनुशीलनके लिए कितने रात्रि जागरण किए होगे इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जैन विद्याके अध्ययनके लिए पूज्य वर्णीजीने वाराणसीमे स्याद्वाद विद्यालय न खोला होता तो इधर वर्षोंमे जैन विद्याकी जितनी प्रगति हुई है वह न हुई होती। जैन विद्याको आगे बढ़ानेमे बुन्देलखण्डके छात्रोने जो योगदान किया है वह भी स्मरणीय है। पूरे भारतकी जैन समाजके लिए बुन्देलखण्डने जितने जैन पण्डित दिए है उनकी सख्या प्रचुर है। उनमे प० महेन्द्रकुमारका नाम शीर्षपर है।

विद्वत्ताके साथ पण्डितजी को विनम्रता स्पृहणीय थी। अपनी मिट्टीसे उनको बहुत लगाव था। बुन्देलखण्डका कोई शोधार्थी उनके पास पहुँच जाता तो पण्डितजी अपने स्नेहसे उसे अभिसिंचित कर देते। पण्डितजी सादा जीवन उच्च विचारमे विश्वास रखते थे। ऐसे महामनाके प्रति विनम्र श्रद्धाञ्जलि।

इस शताब्दी के महान् विद्वान्

• श्री राजकुमार सेठी, कलकत्ता

डॉ० महेन्द्रकुमार जैनने न्यायशास्त्रमे दुरूहसे दुरूह ग्रन्थोका सम्पादन कर जो महान् कार्य किया है उसके लिए उनके प्रति जितनी भी कृतज्ञता ज्ञापित की जाय वह कम ही होगी। वे इस शताब्दीके महान् विद्वानोंमें से थे। ऐसे विद्वान्को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उनके स्मृति ग्रन्थकी सफलताके लिए कामना करता हूँ।

शुभकामना

• डॉ० शशिकान्त जैन, लखनऊ

डॉ० महेन्द्रकुमारजी पिताजी (डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन) के मित्र थे और उन्हे गुरुवत् सम्मान एवं श्रद्धा देते थे। उसी माध्यमसे मेरा भी उनसे अप्रत्यक्ष परिचय था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमे जैन-दर्शनके प्राध्यापकके रूपमें उन्होने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। उनकी अध्ययनशीलता और सरलताने मुझे आकर्षित किया था। ग्रन्थके सफल प्रकाशनके लिए मेरी शुभकामना है।

महान् विभूति को शत-शत नमन

• श्री सुभाष जैन, दिल्ली

डॉ० महेन्द्रकुमारजीके दर्शनोका सौभाग्य मुझे नही मिला, किन्तु उनके कार्यसे उनकी प्रतिभाका अनुमान लगाया जा सकता है। डाक्टर साहब इस पीढीके ऐसे विद्वान् थे जिनके समक्ष चिन्तन और रचना-के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नही था। उन्होने जो भी कार्य किया वह समर्पित भावनासे किया।

आजके युगमे जब आगमको लेकर तरह-तरहकी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो रही है इस प्रकारकी सभी धारणाओंका निवारण उन्होंने किया है। समाजको उनके सान्निध्यकी अधिक आवश्यकता थी, किन्तु क्रूर कालने हमसे वह प्रतिभा असमय ही छीन ली। उनके प्रति सच्ची श्रद्धाजलि होगी कि विद्वत् वर्ग उनके अधूरे कार्योंको पूरा करे। इस महान् विभूतिको शत-शत नमन।

सरस्वती के उज्ज्वल प्रकाशमान पुञ्ज

• पं० गुलाबचन्द्र 'पुष्प' प्रतिष्ठाचार्य, टीकमगढ

कौन विश्वास कर सकता था कि इस महान् व्यक्तिका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली, प्रज्ञापारगामी होगा। चरितार्थ है "होनहार बिरवानके होत चीकने पात" आपने अकथ परिश्रम, श्रद्धा, लगनके साथ अध्ययन कर न्यायाचार्यकी परीक्षामे उत्तीर्णता प्राप्त की तथा न्यायशास्त्र एव जैनदर्शनके अनेक ग्रन्थोका सम्पादन किया जो श्लाघनीय है।

आप अनेक प्रतिभाके धनी, समाजके गौरव थे। सभवतया आप दीर्घायु पाते तो जैनदर्शनका आपसे बहुत प्रसार प्रचार होता। फिर भी आपने समाजको बहुत दिया और समाज आपका चिरऋणी रहेगा। आप सरस्वती माताके प्रकाशमान पुञ्ज एवं चलते फिरते सचेतन न्यायालय थे। हम विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

सूरतसे कीरत बडी बिना पंख उड जाय।
सूरत तो जाती रहे पर कीरत कभी न जाय।

उच्चकोटि के विद्वान्

• श्री चेतनलाल जैन, डालमियानगर

ई० सन् १९३०मे करीब १६ वर्षकी आयुमें संस्कृत अध्ययन हेतु मैं स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय-मे पहुँचा। सब कुछ अनजान एवं अपरिचित होनेसे मन बड़ा विकल था। घरसे चल तो दिया पर तरह-तरहके विकल्प मनमे आ रहे थे। परिवारजनोने इतनी दूर जानेसे बहुत रोका, पर संस्कृत पढ़नेकी धुनमें किसी की नही सुनी और अकेला ही बनारस विद्यालयमे पहुँच गया, संस्कृत शिक्षा प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषाका कारण था जैन आगमका ज्ञान प्राप्त करना जो कि संस्कृत भाषाके जाने बिना सम्भव नहीं था, ऐसी मेरी मान्यता रही। विद्यालय पहुँचने पर वहाँके अध्यापको, अधिकारियो एव छात्रोंका व्यवहार देखकर सब विकल्प शान्त हो गये। जहाँ तक याद है उस समय विद्यालयमें श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी धर्माध्यापक, प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाध्यापक, प० मुकुन्दजी शास्त्री साहित्याध्यापक एवं पं० सदाशिवजी व्याकरणाध्यापक रहे।

प्रथमामे प्रवेश मिला और आदरणीय गुरुजनोसे अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। सभी गुरुजनोंका व्यवहार छात्रोके प्रति सौहार्दपूर्ण था अत. शीघ्र ही वहाँके जीवनमे रच-पच गया, जो कि मेरे जीवनका स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

अपने ६ वर्ष (१९३० से १९३६) के विद्यालय निवासमें अध्ययन तो अधिक नही केवल प्रथमा, धर्म विशारद एव गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज काशीकी साहित्यमध्यमा तक ही शिक्षा अर्जित कर सका। परन्तु गुरुजनोकी कृपासे वहाँ रहकर जो सस्कार अर्जित किए वे जीवनके कटाकीर्ण मार्गमें आज भी प्रकाश-स्तम्भके समान मार्गदर्शन कर रहे हैं।

प्रत्येक व्यक्तिमे अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं जो उसे अन्योसे भिन्न करती हैं। आदरणीय पं० महेन्द्रकुमारजीमे सरलता, निरभिमानता एव जीवन्तता थी। वे छात्रोके साथ नि सकोच खेल-कूद, तैराकी इत्यादिमे हमेशा भाग लेते रहे। उन्होने कभी छात्रोको ऐसा आभास नही होने दिया कि वे उनके गुरु हैं। वे अपने विषयके उच्चकोटिके विद्वान् थे एव अध्यापन, लेखन एव सम्पादनादि कार्योंमे भी उनकी अबाध-गति थी।

असमयमे ही उनके निधनसे जैन समाजको जो क्षति हुई वह अपूरणीय है। वे हमेशा मेरे श्रद्धास्पद रहे। उनके चरणोमे मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

बीसवीं शताब्दी के प्रकाण्ड जैन दार्शनिक

• डॉ० लालचन्द्र जैन, वैशाली

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यका जैनदर्शनके क्षेत्रमे वही स्थान है जो भट्ट अकलंकदेव का है। डॉ० साहबने जैन न्याय-दर्शनके गम्भीर शास्त्रोंका गहन अध्ययन कर उनकी सरल-सुबोध और सर्वगम्य भाषामे विवेचन कर सभीका ध्यान सम्बन्धित ग्रन्थोकी ओर आकर्षित किया। न्यायविनिश्चयविवरण और सिद्धिविनिश्चयविवरणकी प्रस्तावनाके अध्ययनसे सम्पूर्ण भारतीय दर्शनका ज्ञान हो जाता है। उक्त ग्रंथोंकी प्रस्तावना उपन्यासकी तरह सरस, सरल, सुबोध है। 'जैनदर्शन' नामक ग्रन्थ लिख कर उन्होंने जैनदर्शन जगत् का मस्तक ऊँचा किया है। अत. उनके प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि प्रेषित कर रहा हूँ।

आशावादी बुद्धिवाद के जनक पण्डितजी

• डॉ० नन्दलाल जैन, रीवाँ

पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य मेरे स्याद्वाद महाविद्यालयीन छात्र जीवनमे साक्षात् गुरु रहे हैं। उन्होने मुझे प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द पढाये हैं। इन न्याय ग्रन्थोके सामान्य अध्ययनसे भी व्यक्तिमे श्रद्धावादकी तुलनामे बुद्धिवाद और आगमवादकी तुलनामे हेतुवादकी मनोवृत्ति सहज ही पनपती है। पण्डितजीके 'जैनदर्शन' मे और उनकी अनेक प्रस्तावनाओमे उनमे इस मनोवृत्तिकी प्रखरताके स्पष्ट दर्शन होते हैं।

पण्डितजीने प्राचीनता और नवीनताके द्वन्द्वको समाप्त करनेके लिए समन्तभद्रके 'समीचीनता' की मनोवृत्तिका नारा उद्घोषित किया है। उनके द्वारा प्रसारित बुद्धिवाद परोक्षा प्रधानी एव विवेक जागर है। यह श्रद्धाको बलवती बनानेका एक अमोघ उपाय है।

यही नही, उनका बुद्धिवाद जीवनके प्रति आशावादी और उत्थानवादी दृष्टिको भी प्रेरित करता है।

हमे मानव और पशु जीवन इस योग्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिए कि यदि हम उत्तर जीवनमे वहाँ जावें, तो हमे अनुकूल सामग्री और सुन्दर वातावरण मिले। फलत. परलोक सुधारनेका अर्थ मानव-समाजको सुधारना है। जैनोके सम्यग्दर्शनका अर्थ यही है कि मानव तथा पशु समाजमे आये हुए दोषोको निकालकर इन्हें सद्गुणी एव सद्भावी बनाया जावे। इस दृश्य परलोकके सुधारके लिए उत्तम सर्वोदयकारणी व्यवस्था विकसित हो जिससे हमे स्वर्गके सुख भी न मोह सके। यह व्यवस्था 'समीचीन' धर्मके सिद्धान्तोके परिपालनसे ही सभव है। परलोकका अर्थ केवल व्यक्ति का मरणोत्तर जीवन ही नही है, हमारी सतति और शिष्य परम्परा भी परोक्ष रूपमे इसके रूप हैं। इन्हें सुसस्कारित कर हम अपना ही नही, भावी पीढीको भी सुखमय बना सकते है। पण्डितजीका प्रचण्ड आशावादी स्वरूप उनके बुद्धिवाद की ही देन है।

उनके स्वतन्त्रचेताके स्वरूपके कितने ही उदाहरण दिये जा सकते है। वे नयी पीढीको परम्पराचेताके बदले स्वतन्त्रचेता देखना चाहते हैं। यही जैन सस्कृतिकी परम्पराका अक्षुण्णरूपसे विकसित बने रहने मे सहायक होगा।

उनके अनेक आल्हादकारी और अनुकरणीय रूप अनेक व्यक्तियो द्वारा प्रकट किये गये हैं। हम सभी उनके विचारोके अनुरूप अपने-अपने क्षेत्रोमे आशावादी, बुद्धिवादकी मशाल जलाये रखनेमे समर्थ हो, यही परोक्ष आशीर्वाद उनसे अभीप्सित है। उनके चरणोमे शत शत वदन।

शुभकामना

• प० मल्लिनाथ जैन शास्त्री, मद्रास

यशस्वी एव महाविद्वान् डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायाचार्य ऊँचे दर्जेके विद्वान् थे। वे न्यायशास्त्र-के अप्रतिम प्रतिभाशाली तो थे ही। साथ ही साथ सस्कृत, प्राकृत आदि कई भाषाओके ज्ञाता भी थे। उन्होने अपने जीवन कालमे कठिनसे कठिन ग्रन्थोका सम्पादन कर अपनी विद्वत्ताका परिचय दिया है।

हमारी शुभकामना यही है कि हम उनके बताये हुए मार्गपर चले। यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

श्रद्धा सुमन

• डॉ० दयाचन्द्र साहित्याचार्य, सागर

डॉ० श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जैनदर्शनके प्रकाण्ड विद्वान्, लेखक, प्रवचनकर्ता और प्रतिभाशाली प्रवीण प्राध्यापक थे। आपने स्वकीय कुशाग्र बुद्धिसे न्यायशास्त्रकी ग्रन्थियोको सरलतासे विकसित कर दिया। अपनी विलक्षण शिक्षण कलासे छात्रोके हृदयोको प्रफुल्लित कर दिया था। आपने गृहस्थ जीवनकी कठिनाईयोंको साहस और ज्ञानबलसे पार किया। आपकी साहित्यिक, सामाजिक और शैक्षणिक सेवाएँ अनुपम एव उल्लेखनीयके साथ ही अनुकरणीय हैं।

हम आपके प्रति कृतज्ञतापूर्वक श्रद्धासुमन समर्पित करते हैं।

मेरी श्रद्धा के दर्पण

• मि० पं० जम्बूप्रसाद जैन शास्त्री, मड़ावरा

आदरणीय प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य हमारे साथी समकालीन विद्वान् थे। यद्यपि वह मुझसे उम्रमे ४।५ वर्ष ज्येष्ठ थे। उम्रमे ही नही ज्ञानके क्षयोपशममे भी उन्नत थे। पूतके लक्षण पालनेमे दिखाई देते हैं कि उक्ति श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जीके जीवनमे परिलक्षित होती है। आरम्भिक बालापनसे ही वह प्रतिभाशाली रहे। ज्ञानका इतना अच्छा क्षयोपशम था कि जिस वस्तु या प्रकरणको उन्होने एक बार देख लिया जीवन भर उनके मन-मस्तिष्कमे स्मृत रूप बना रहता था। उनके जीवनके ऐसे अनेको प्रसग हैं जो उनकी विलक्षण प्रतिभाके प्रतीक स्मृत रूप रह गए। उन्होने जो भी लेखन, सम्पादनका कार्य किया वह इतनी उन्नत एव लोकोत्तर रूपमे हुआ जिससे आगे आनेवाली लाखो पीढ़ियाँ स्मृत कर कृतज्ञताका अर्घ चढ़ाती रहेगी। मैने आदरणीय न्यायाचार्य जीके प्राय सभी टीका ग्रन्थोका अध्ययन किया। पढ़ते समय मुझे अपार प्रसन्नता होती थी जब इन्होने इसकी टीकापर अक्षरश आचार्योंके प्रतिपाद्य विषयको सुस्पष्ट रूपमे भाषान्तर कर अपनी विशेष व्याख्यासे उसे साधित किया। यह उनके विलक्षण अपार ज्ञानकी क्षमता का प्रतीक है।

मैं महान् आत्माको अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान्

• प० पूर्णचन्द्र जैन शास्त्री

डॉ० प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके द्वारा भारतीय न्याय-विद्या-विधाको एक नवीन दिशा प्रदान की गई। जैन-दर्शनमे समुपलब्ध जैन-न्यायशास्त्रके समस्त ग्रन्थोका पारायण कर उनके सम्पादन एव सशोधनकी अनूठी प्रक्रिया, हिन्दी भाषामे "जैन-दर्शन" नामक ग्रथकी रचना कर प्रारम्भ की गई थी। सस्कृत एव प्राकृतसे अनभिज्ञ न्यायशास्त्रके जिज्ञासुओका इस महान् ग्रंथ के माध्यमसे महान उपकार किया है। उनकी अमरकृति "जैनदर्शन" नामक ग्रंथ "गागरमे सागर" की उक्तिको चरितार्थ करता है।

प० जीके प्रथम दर्शन मैने बनारस हिन्दू वि० वि० मे बौद्धदर्शन "विभागके अध्यक्षके रूपमें किए थे। मैं सन् १९५८ मे १९६० तक बनारस हिन्दू वि० वि० का स्नातक छात्र रहा हूँ। पं० जी की सौम्य छविमे आत्मीयता एव स्नेहशीलताका अपूर्व सम्मिश्रण परिलक्षित होता था। दर्शक अपरिचित छोटे-बड़े व्यक्तिको उनकी स्निग्ध-दृष्टि सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी।

उनके श्री चरणोंमें मै अपनी विनम्र श्रद्धाजलि प्रस्तुत करता हुआ अपनेको गौरवान्वित मानता हूँ।

अगाध पाण्डित्य के धनी

• पं० रविचन्द्र शास्त्री, दमोह

पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एक शान्त स्वभावी, निरभिमानी, उदार हृदय तथा अगाध पांडित्य के धनी थे।

अनूठी प्रतिभाके धनी, प्रभावशाली व्यक्तित्व सम्पन्न पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यसे मेरा प्रथम परिचय तब हुआ था जब मैं श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय सागरसे प्रथमाकी परीक्षा उत्तीर्ण कर स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमें अध्ययन हेतु प्रविष्ट हुआ था। पण्डितजीने मुझे न्यायदीपिका, प्रमेयरत्नमाला आदि दर्शन ग्रन्थोंका अध्ययन कराया था। इनकी शिक्षण पद्धति अत्यधिक सरस एवं सरल थी। दर्शन एवं न्याय सरीखे शुष्क तथा नीरस विषयको प्रेमपूर्वक शिष्योंके मस्तिष्कमें स्थापित कर देनेकी अद्भुत कला थी उनमें। ऐसे अगाध पाण्डित्यके धनी विद्वान्का असमयमें निधन जैन जगत की अपूरणीय क्षति हुई है। उनका अभिनन्दन बहुत पहले हो जाना चाहिए था। पर 'देर आयत् दुरुस्त आयत्' की उक्ति को चरितार्थ करनेका जो उपक्रम किया जा रहा है वह श्रेयस्कर है।

उनकी स्मृतिमें प्रकाशित स्मृति ग्रंथके लिए मेरी शुभकामनाएँ हैं।

बुन्देलभूमि का अद्भुत् लाल

• डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' श्रीमहावीरजी

भारत वसुन्धरामें बुन्देलभूमिका अपना एक विशेष स्थान रहा है। धर्म और दर्शन, कला और स्थापत्यके क्षेत्रमें इसकी आन, बान-शान निराली ही है।

इस वसुन्धरा पर जो लाल उत्पन्न हुए हैं उनमें न केवल वीरोंने अपितु ऐसे शिक्षा प्रेमी सरस्वती-पुत्रोंने भी जन्म लिया है जिन्होंने धर्म, दर्शनके समुन्नयनमें अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। परमपूज्य न्यायाचार्य गणेशप्रसाद वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति) ऐसे ही साधु थे। उन्हींकी प्रेरणा स्वरूप अनेक विद्वानोंने इस धरतीको गौरवान्वित किया।

संस्कृत शिक्षाके क्षेत्रमें संस्कृत साहित्यको पढ़कर अनेक जैन विद्वान् हुए किन्तु न्याय-विषयकी ओर बहुत कम विद्वानोंका ध्यान गया है। जिन गणमान्य विद्वानोंने न्यायको गले लगाया उनमें सरस्वती-साधक डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैनका नाम उल्लेखनीय है। आप पूज्य वर्णीजीके परम अनुयायी रहे। अपने अध्ययन और चिन्तनसे ऐसे ग्रन्थोंका आपने सम्पादन और अनुवाद किया है जिनपर आज हमें विशेष गौरव है। उनकी मौलिक रचना "जैनदर्शन" तो जैनदर्शनको जानने-समझनेके लिए बहुत उपयोगी ग्रन्थ है। बुन्देलभूमिका यह लाल आज भी जन-जनके हृदयमें विराजमान है और रहेगा। धन्य है वह आत्मा। मेरा उसे सविनय प्रणाम है।

शुभकामना

• डॉ० कपूरचन्द्र जैन, टीकमगढ़

आदरणीय डॉ० महेन्द्रकुमारजी ने अपने अल्प जीवनकालमें अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन कर धर्म, समाज और देशकी जो सेवा की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी। मैं श्री डॉ० साहबके प्रति अपनी श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ।

प्रखर चेतना और लेखनी के धनी

• डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

पं० महेन्द्रकुमार जीसे कभी मिलनेका अवसर नहीं मिला किन्तु उनके बहुआयामी कृतित्वसे अत्यन्त प्रभावित हूँ। विविध जैन दार्शनिक ग्रन्थोका जिस तरह वैज्ञानिक विधिसे जो सम्पादन कार्य उनके द्वारा किया गया वह अद्भुत ही नही अपितु भारतीय वाङ्मयको उनका बहुमूल्य योगदान है। यद्यपि डा० प्रभाचन्द्र आदिके ग्रन्थोका भी सम्पादन कार्य पं० जीने किया है, किन्तु आचार्य अकलंकके ग्रन्थोंसे भारतीय मनीषाको उन्होंने परिचित कराया वह अपने आपमे अभूतपूर्व ही है। मुख्यत पं० जीके द्वारा सम्पादित कृतियो और उनके जैनदर्शन ग्रन्थको देख-पढ़कर ही जैनेतर दार्शनिकोंने जैनधर्म-दर्शनकी महत्ता एवं महानताको स्वीकार किया। और इसीलिए इन ग्रन्थोका विश्वविद्यालयीय स्तर पर पठन-पाठन भी सुलभ हो सका।

वे मात्र प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थोंके लेखक ही नही अपितु ज्ञानपीठ संस्था एवं ज्ञानोदय जैसी पत्रिका-को प्रतिष्ठापकोमेसे एक थे। उनके द्वारा धर्मयुग, ज्ञानोदय तथा अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओंमे प्रकाशित लेखों-के अध्ययनसे राष्ट्रीय एव सामाजिक चेतनाका उनका स्वरूप भी सामने आता है। प्रखर चेतना और निर्भीक लेखनीके माध्यमसे प० जीने जैनदर्शनके क्षेत्रमें जैन आचार्योंकी अनेक मौलिक उद्भावनायें प्रस्तुत कीं। यथार्थवादी विवेचन और स्वाभाविक ऊर्जाके कारण उनकी प्रसिद्धि अधिक रही। उनके अप्रकाशित कार्य-को भी मुझे देखनेका अवसर मिला है। उसे प्रकाशमे लाना भी हम सभीका दायित्व है।

इस तरह पं० जीने जैनधर्म-दर्शन जगत्को जो कुछ भी दिया उसका मूल्य आँक पाना आसान नहीं है। क्योंकि इतने अल्प जीवनमे इतनी बडी साहित्यिक साधना उनकी अद्भुत मेधा, क्षमता और लगनकी द्योतक है। ऐसे महान् व्यक्तित्व और कृतित्वसे सम्पन्न मनीषीको मेरा शतशः प्रणाम।

जैनदर्शन साहित्य के अनन्य सेवक

• शशिप्रभा जैन "शशांक"

डॉ० श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य उद्भट विद्वान, अपूर्व व्याख्याता, जैनदर्शन साहित्यके अनन्य सेवक हैं उनकी विचारशैली और लेखनीका लोहा अनकेश विद्वान् मानते रहे है और मानते हैं। उनकी सम्पादित कृतियो, साहित्योत्कर्षका अभिनन्दन करना स्तुत्य है। १९११ में श्रीयुत जवाहरलालजी पिताश्री और माता सुदरबाई खुरईकी पुनीत कूँखसे जन्मे डा० महेन्द्रजी समाजके अनमोल रत्न रहे हैं उनसे समाज और धर्मके प्रति गौरव है। व्यक्तित्व और स्वस्थ निरोगी काया जीवनका परमसुख है और इसे पाया था महेन्द्र भ्राताश्रीने।

पं० महेन्द्रकुमारजी द्वारा लब्ध प्रतिष्ठित संस्था भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापनामें उसके सर्वाङ्गीण-विकासार्थ बहुत श्रम किया तथा उसके संजाने संवारने, सर्वोपयोगी बनानेमे जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है वह अभिनन्दनीय है इस सस्थासे प्रकाशित ज्ञानोदय पत्रिकाके सम्पादनमे जो कर्तव्य दायित्व आपने अपने साहित्य दर्शन प्रेमसे, प्रतिभा सम्पन्नतासे, श्रमसे, आत्मिक लग्न एकाग्रतासे दर्शाया है, वह अनुकरणीय है, स्तुत्य है।

ऐसे महामनीषीके प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करके गौरवका अनुभव करती हूँ।

जिनवाणी माँ के अनन्य उपासक

● डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

मैंने श्रद्धेय पण्डित महेन्द्रकुमारजीके प्रत्यक्ष दर्शन नही किये हैं, क्योकि मेरे बनारसमें छात्र-जीवन प्रवेशसे पूर्व ही वे दिवंगत हो चुके थे, किन्तु उस समय बनारसमे जैनाजैन विद्वत्मण्डली जो कि पण्डितजीके परिचयमें या सान्निध्यमें आयी थी, उससे मैंने पण्डितजी की प्रशसा खूब सुनी है। उनका गुणगान करते हुए लोग अघाते नही थे। जैन, बौद्ध और भारतीय न्याय साहित्य वे तलस्पर्शी, मर्मज्ञ और अद्भुत विद्वान् थे। यद्यपि वे दीर्घजीवी नहीं हुए, किन्तु अपने जीवनके अल्पकालमे ही सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, तत्त्वार्थवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्र जैसे अनेक ग्रन्थोके जो प्रामाणिक संस्करण निकाले, वे समाज और विद्वद्वर्गको अमूल्य धरोहर बन गए। वे अद्वितीय प्रतिभाके धनी और जिनवाणी माँ के अनन्य उपासक थे। यदि वे अधिक समय जीवित रहते तो माँ जिनवाणीकी कितनी अमूल्य निधियोका उद्धार करते, इस बातकी अब कल्पना भी नही की जा सकती है। उनके बाद उन जैसा न्यायशास्त्रका विद्वान् आज तक उत्पन्न नही हुआ। विद्वानोंको और समाजको ऐसी महान् विभूति पर गर्व है।

मैं पूज्य पण्डितजीके प्रति अपने हार्दिक श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ।

असाधारण व्यक्तित्व के धनी

● डॉ० कमलेशकुमार जैन, वाराणसी

असाधारण व्यक्तित्वके धनी, स्वनामधन्य प० महेन्द्रकुमार न्यायाचाय अपनी अनूठी प्रतिभा एव सूझबूझके कारण न केवल जैन नैयायिकोमे प्रतिष्ठित थे, अपितु अपनी विद्वत्ता एव सम्पादन-कलाके कारण वे प्राच्यविद्याके अग्रगण्य मनीषियोमें भी लब्धप्रतिष्ठ थे। उनकी लौह लेखनीसे प्रसूत 'जैनदर्शन' जैसी मौलिक कृतियाँ आज भी उनके गुण-गौरवको प्रकट करती है।

प्राचीन ग्रन्थोके सम्पादन एवं समीक्षामे उनकी गहरी पैठ थी। उनके द्वारा निर्णीत ऐतिहासिक एव सांस्कृतिक तथ्य उनकी शोध-खोजके जीवन्त प्रतीक है।

न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जैन अपने जीवनके प्रारम्भमे स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमे न्यायाध्यापक थे। वहाँ जैन न्यायके अध्ययन-अध्यापन एवं मनन-चिन्तनके कारण उनकी प्रतिभा दिन-प्रतिदिन निखरती गई और पूर्वपक्षके रूपमे आये हुये विभिन्न दर्शनोके अध्ययन-अध्यापनसे उनकी प्रतिभामे चार-चाँद लग गये। वे समस्त भारतीय दर्शनों, विशेषकर जैन और बौद्धदर्शनोके विशिष्ट ज्ञाता थे। साथ ही उक्त दर्शनोका निरन्तर आलोडन-विलोडन करनेके कारण वे उसीमे रच-पच गये थे।

भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी स्थापनामे उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जहाँ उनकी तरुणाईका लाभ भारतीय ज्ञानपीठको मिला है, वहीं उनके व्यक्तित्वको सजाने-सँवारनेमे भारतीय ज्ञानपीठका भी महनीय योगदान रहा है। दोनोने परस्पर एक दूसरेका पर्याप्त लाभ लिया है।

प्राचीन ग्रन्थोके सम्पादनकी दृष्टि उन्हें आधुनिक जैनदर्शनके भीष्मपितामह पद्मश्री पं० सुखलालजी संघवीसे प्राप्त हुई थी, जिसका सदुपयोग करते हुए उन्होने न्यायकुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसे जैन न्यायके दुरूह ग्रन्थोका सम्पादन एव विवेचन किया है। इस दुरूह कार्यके सम्पादनमे उनकी नैसर्गिक प्रतिभाके पदे-पदे दर्शन होते हैं। उनका यह सम्पादन कार्य आधुनिक जैनविद्याके मनीषियोके लिये आदर्शके रूपमे चिरकाल तक मार्गदर्शन करता रहेगा।

ऐसे विद्वान्के प्रति मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

मार्गदर्शक दार्शनिक न्यायाचार्यजी

• डॉ० नीलम जैन, सहारनपुर

डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य उन विरल स्रष्टाओंमें से हैं। जिन्होंने अपने जीवनका एक-एक क्षण साहित्यकी साधना और आराधनामें व्यतीत किया। ४७ वर्षीय जीवनकालमें अपनी प्रतिभा व लगनसे अपने चिन्तनको नये ढगसे सस्कारित किया। स्वाभाविक, प्रभावशाली एवं द्वादशांग रत्नाकरकी अतल गहराइयों-से न्याय, दर्शन एवं प्रमाणके जो रत्न प्रदान किए आज भी वह अद्वितीय हैं।

डॉ० महेन्द्रकुमारजी का साधनाकाल देशकी विषम एव दु:सक्रमित परिस्थितियोंके मध्य रहा, यह वह समय था जब पश्चिमकी साम्यवादी अवधारणाओंने तथा दासताकालकी त्रासदियोंने मानवकी अन्तर्चेतना-व्यक्तिवादी वर्चस्वको स्थापित कर रखा था, तत्कालीन देशके कर्णधारोंने तो सारी धर्म एवं साहित्य संर-चना एक ही धार्मिक अवधारणा मानकर चिन्तन प्रक्रियासे परे सरका दी थी, उस समय डॉ० जैन जैसे ही अध्यवसायी थे जिन्होंने सभी दर्शनोंको परिभाषित करते हुए जैनदर्शनको सर्वथा नूतन और मौलिक पहचान देकर हिन्दुत्वसे पृथक् रखने हुए जैनदर्शनकी सरल, स्पष्ट एव सर्वग्राह्य व्याख्या की, अनेकान्त, स्याद्वाद, छ द्रव्य एव सात तत्त्व, नौ पदार्थोंको 'जैनदर्शन' पुस्तकमें अभूतपूर्व ढगसे प्रस्तुत किया। इस नयी पुस्तकसे एक नये युगका प्रारम्भ हुआ। कहना न होगा, यह एक ऐसी प्रथम पुस्तक थी जिसकी भाषाकी बुनावट एवं शैली की कमावट तथा विषय वस्तुकी सटीकतासे कोई भी पाठक अप्रभावित हुए बिना नही रह सका। यह पुस्तक अद्वितीय ह इसमें वह सब कुछ है जो वर्तमान युगके सामाजिक चिन्तनको एक सर्वविध समृद्धिशाली उच्च-कोटिको कैनवास प्रदान करती है, "विश्व शान्ति मे जैनधर्मका योगदान" एवं अनेकान्त स्याद्वाद जैसे लेख न्याय, स्वतन्त्रता, समानता एव विश्व बन्धुत्व स्थापित करनेमें सक्षम है। जैन साहित्यके अन्तरंग में व्यापक सर्वांगीण व्यवस्थाओंके अनन्तर भी उससे स्वाध्यायीको सोचने समझने और ग्रहण करनेकी ऊर्जा शक्ति नही प्राप्त हो सकी, जिस समय न्याय जैसे शुष्क एव नीरस विषय पर डा० साहब ने लेखनी उठाई थी उस समय तो सभवत. किसी ने सोचा भी न होगा कि न्यायका अभिलेखके रूपमे स्थायी और सार्वजनीन बनानेकी यह पगडडी राजमार्गमे बदल जाएगी और ये ग्रन्थ और वाक्य प्रभसत्ता मे बदल जायेंगे तथा समस्त वाङ्मयको अनुशासित करनेकी भूमिका भी निभाने लग जायेंगे, आज तो उनका साहित्य न्यायाधीश सरीखा बन गया है।

विडम्बनाकी बात यह है कि प्रारम्भ मे इन साहित्य साधको एव इनकी साधनाके प्रति सम्मानका भाव प्राय न्यून ही रहा। चन्द ही ऐसे व्यक्ति थे जो देवपूजा की भाँति इस कार्यको महत्त्व देते है इसी कारण ऐसे प्रयासके परिणाम इतने उत्साहवर्द्धक नही रहे। प्रत्येक मोर्चे पर घरसे बाहर तक गार्हस्थिक एव आर्थिक समस्याओ से जूझता विद्वान् कितनी साधना कर पायेगा यह प्रच्छन्न नही है। अपने जीवनके कुरुक्षेत्र-मे ऐसे रण बांकुरे इसलिए विरल रहे हैं।

डॉ० महेन्द्रकुमार ध्येयनिष्ठ रचनाकार थे, जो साहित्यको सोद्देश्य और सामाजिक प्रयोजन प्रेरित मानते थे। उनको प्रगतिशीलताके स्रोत बहुमुखी थे। अपने धर्मके प्रति, राष्ट्रके प्रति, समाजके प्रति उनका अनवरत लगाव उन्हे उसकी बेहतरी, सुख, समृद्धि अमय आलोकके प्रत्येक कोणको मौलिक दृष्टिकोणसे खीचता है, इसीलिए न्यायके अतिरिक्त जब भी आलेख उन्होने लिखे हैं जो "जैनदर्शन" पुस्तकके अन्तमें है उसमें उनकी अभिव्यक्ति प्रत्येक लघुखण्ड आशयको समाजके संघटित बृहत्तर आशयसे जोड़ता है उनके आदर्शवाद मे वर्ण्य विषयका इतना घुला-मिलापन है जो उनकी रचनाओंको सर्वजन सुलभ बनाकर सच्ची

मानवीयताका संदेश देता है, यह संदेश है जीवनकी क्रांतिमुखी मर्यादाका, आत्मोत्सर्ग पूर्ण निष्ठाका और पीड़ित मानवताके प्रति गहरी करुणाका। ऐसे साहित्यकी रचनाका जो आचरिक और नैतिक मूल्यों पर आधारित हो, जीवनमें भी वे न्यायके प्रति संघर्षरत रहे।

दुर्लभ ग्रन्थोंका प्रणयन, भारतीय ज्ञानपीठ जैसी संस्थाओंकी संस्थापना उनकी जीवन्त जीवटताकी प्रतीक हैं। साहित्यका दीपक प्रज्वलित कर प्राचीनतम ग्रन्थोंका जीर्णोद्धार, ज्ञानोदयके माध्यमसे जनसामान्यसे उनका परिचय कराना कुछ ऐसे विशिष्ट योजनाबद्ध कार्यक्रम रहे जो आज तक भी उतने ही प्रासंगिक हैं।

जैन जागरणके अग्रदूत बनकर डॉ० महेन्द्रने सचमुच नये युगका सूत्रपात किया। जैन साहित्यके मध्य स्तम्भ डॉ० महेन्द्रको कृतज्ञता पूर्वक स्मरण।

हमारी आस्था के सुमेरु न्यायाचार्य

● प्रतिष्ठाचार्य प० विमलकुमार जैन सोरया, टीकमगढ

पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजके बाद न्याय शास्त्रका महान् अध्येता कोई विद्वान् हुआ है तो वह है पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य है जिन्होंने न्यायशास्त्रका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर न्यायशास्त्रोंकी बहुमुखी टीका कर अपनी श्रेष्ठ प्रतिभाका परिचय दिया। न्यायशास्त्रके अध्ययनका द्वार आपके द्वारा अनुवादित ग्रन्थोंके बाद ही खुला है न्यायशास्त्र जैसे नीरस दुरूह ग्रन्थोंकी सरस और सरलतम टीका कर नई पीढ़ीके अध्येताओंको अभिरुचि देनेका प्रथमतः श्रेय आपको देनेका कारण बनी है। जैन संस्कृतिके अभ्युत्थानमें पूज्य वर्णीजीको दाया और महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यजीको बाया हाथ कहा जाए तो अत्युक्ति नही है। भारतीय ज्ञानपीठ जैसी उन्नत आगम प्रकाशन संस्थाकी संवृद्धि और लोकोत्तरता प्रदान करनेका सर्वोत्तम मत श्रेय महेन्द्रकुमारजीको ही है। जैनागमके जो भी शास्त्र दुरूह, क्लिष्ट अथवा पठन-पाठनकी विधामें परोक्षवत थे। ऐसे महान् ग्रन्थोकी टीका करनेका प्रशसनीय श्रेय श्री महेन्द्रकुमारजीको ही है।

महान् विद्वानोंकी यह भावनाएँ आदरणीय प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यकी विलक्षण प्रतिभा, अगाध पाण्डित्य और बहुमुखी विद्वत्तापूर्ण प्रतिभाकी द्योतक हैं। आपने अपने ४८ वर्षीय जीवनकालमें जितना लोकोत्तर कार्य किया है। कई वर्षोंमे अनेको विद्वान् ऐसा कार्यकर सकनेमे समर्थ नही हो पाते। बीसवी शताब्दीका वह प्रथम विद्वान है जिनका अभिनन्दन राष्ट्र स्तरपर सर्वप्रथम होना चाहिये था। लेकिन प्रसन्नता की बात है कि जैन समाजने अपने इस महान् विद्वान्की सम्मान स्मृतिमे इस ग्रन्थका प्रकाशन कर कृतज्ञताका अर्घ्य चढ़ाया है।

शत् शत् नमन

● डॉ० राजमति दिवाकर, सागर

प्रतिभा नवनवोन्मेष शालिनी होती है जो समयके पार माप लेती है अपने यश को; ऐसे ही यशःकाय न्यायतीर्थ, न्यायदिवाकर, न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजी अपनी विशिष्ट प्रतिभाके धनी थे जिन्होंने ४८ वर्ष की कम आयुमें अपने समयसे कई गुना आगेकी जमी पार कर ली थी। जैनधर्म एवं दर्शनकी वैज्ञानिक दृष्टि को सहजता और सरल ढंगसे सम्पूर्ण मानव-समाजके बीच प्रस्तुत करना अपने आपमें बहुत उल्लेखनीय कार्य है।

निश्चय ही प्रो० डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य अपने प्रदेयसे जैनधर्म एवं दर्शनके असाधारण हस्ताक्षर हैं। ऐसे जैनदर्शनके अपूर्व ज्ञाताको मेरा शत् शत् नमन।

न्याय-शास्त्र के उदीयमान नक्षत्र

● पं० कमलकुमार शास्त्री, टीकमगढ़

मेरी जीवन कलीने जब आँखें ही नहीं खोली थीं उसके पूर्व ही डॉ० महेन्द्रकुमारजी अपना प्रकाश समस्त जैन जगतमे फैला चुके थे। मैंने तो उनके दर्शन एक दो बार ही कर पाये हैं उन दिनों मैं पढ़ रहा था और डॉ० सा० अनेक संस्थाओंमें कार्य करते हुए प्रकाशमान नक्षत्र की तरह चमक रहे थे कि अचानक राहुने उन्हें असमयमे ही ग्रस लिया। उन दिनो डॉ० सा०के द्वारा न्याय विषय पर खोजपूर्ण लेख लोगोंको विस्मयमे डाल देते थे।

लम्बा कद, भरा हुआ गठीला बदन, गोल चेहरे पर चमकता हुआ ओज, सफेद खादीका कुर्ता और चौड़ी पट्टीकी टोपी सहज ही पं० जीके व्यक्तित्वको शालीनता प्रदान कर रहे थे।

मैंने एक दो बार ही दर्शन किए होंगे किन्तु आज भी आपका चेहरा हृदयमे अंकित है। एक बार उन्होने सिद्धोके केवलज्ञानकी एक नई चर्चा विद्वानोके समक्ष रखी। मुझे जहाँ तक याद है वह काफी चर्चा-का विषय बनी थी। उनका कहना था कि केवलज्ञानी केवल अपनी आत्माको ही जानता है और देखता है उसे ससारके पदार्थोंसे क्या मतलब है। आत्माका लक्षण उपयोगमयी है और उनका उपयोग आत्मरूप ही रहता है। क्या बताऊँ अगर कुछ दिनो और संसारमे रहते तो न्याय-शास्त्र एव समाजका काफी ज्ञान विकासोन्मुख हो सकता था।

मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

शुभकामना

● प० नन्हेलाल जैन, एरौरा

अकलंकके सदृश वर्तमानमे श्रद्धेय डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन प्रौढ़ विद्वानोंमें प्रथम थे। बौद्ध दर्शन-जैन न्यायके ज्ञाताके रूपमे डॉ० साहबके सदृश ज्ञानी विद्वानोकी जरूरत है ताकि देश समाजको लाभान्वित कर सकें। मेरा उन्हें शत् शत् नमन है।

शुभकामना

● पं० लक्ष्मणप्रसाद शास्त्री, मडावरा

सरस्वतीपुत्र डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य अपने विषयके अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होने अकलंकदेवके ग्रन्थोंका सम्पादन कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आप स्वभावत शान्त, सरल, मृदुभाषी और उच्च विचारोंके धनी थे।

स्मृति ग्रन्थ प्रकाशनके प्रकुशलके अवसर मेरी श्रद्धाजलि उन्हें समर्पित है।

श्रद्धाञ्जलि

● स० सि० प० रतनचन्द जैन शास्त्री बामोरकला

न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमारजी विद्यालय बीनामे मेरे सहपाठी रहे हैं। उनका मेरे ऊपर अपार प्रेम था। आत्मप्रिय मैत्री भुलाई नही जा सकती।

उन्होने समाजको जो दिया वह विस्मरणीय नही है। उनके सम्मानमें प्रकाशित स्मृति ग्रंथ अमर कीर्तिमान स्थापित करता रहेगा। मेरी श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत है।

स्याद्वाद-शासन के सजग-आदर्श प्रहरी

• श्री अभिनंदन कुमार दिवाकर एडवोकेट, सिवनी

नय विधाके अप्रतिम मनीषी निष्णात विद्वान् डॉ० पंडित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने प्रमाण-नय संबंधी जिनागमके महान् उपकारी संरक्षक न्यायवेत्ता आचार्य भट्टाकलक, आचार्य उमास्वामी आदि आचार्योंके क्लिष्ट ग्रंथोका सपादन सरल, सुबोध, हृदयग्राही भाषा शैलीमे कर समाजका महान् उपकार किया है। पडितजी की "जैनदर्शन" कृति अत्यत सामयिक महत्वपूर्ण है। इसे पंडितजी को "कालजयी कृति" कहना अतिशयोक्ति नही है। जैनदर्शनके विविध पक्षोका तुलनात्मक एव समीक्षात्मक विश्लेषण इसमें संबद्ध है, समाजको एकातवादसे ग्रसित कई कथित-विद्वानो द्वारा अपने क्षुद्र स्वार्थोंके वशीभूत होने अथवा अल्पज्ञताके कारण क्रमबद्ध पर्याय, निमित्त-उपादान, व्यवहार-निश्चयनय सदृश आदि बहुचर्चित विषयो पर, जो दिग्भ्रमित किया गया है एवं किया जा रहा है, उसका निराकरण पडितजी ने जो इस ग्रन्थमे किया है वह मुमुक्षुओ द्वारा विशेषरूपसे पठनीय है। पं० जी द्वारा विश्लेषण अज्ञान तिमिरांधोके लिये ज्ञानांजनशलाका के रूप है।

स्मृति ग्रंथका प्रकाशन स्तुत्य हो। किन्तु किसी भी महापुरुषका सम्मान, मात्र उसकी मौखिक प्रशसा नही। पंडितजी द्वारा सृजित साहित्य जिनागमके अध्यवसायियोके लिये मार्गदर्शक है। नयोका ज्ञान अर्जित करनेके अभिलाषी मुमुक्ष युगो-युगो तक उनकी रचनाओंसे लाभान्वित होगे। जिनागममे विरोधाभासका किंचित् स्थान नही। नयविधाके ज्ञानाभावके कारण अनेकातदृष्टिको ओझल कर एकात रूपमे आचार्योंकी वाणीको प्रस्तुत करना जिनवाणीकी अवमानना है एवं स्व-पर-हित घातक है, इस तथ्यको पवित्र बुद्धिसे हृदयंगम कर तदनुसार आचरण करना पडितजी के प्रति सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

देखा तो नहीं, पर देख रहा हूँ उनको

• श्री पवनकुमार शास्त्री, दीवान, मोरेना

आजसे लगभग ८ वर्ष पूर्व जब मेरे गृहनगर ललितपुरमे पू० क्षुल्लक श्री १०५ गुणसागरजी महाराज (सम्प्रति उपाध्यायश्री १०८ ज्ञानसागरजी) की प्रेरणा एवं उनके ही सानिध्यमे सर्वप्रथम "जैन न्याय विद्या वाचना समारोह" का आयोजन किया गया था। उद्घाटन सत्र की वेलामे जब प्रथम बार प० दरबारीलालजी कोठियाके द्वारा न्यायाचार्योंकी श्रृखलामे न्यायाचार्य श्री डॉ० महेन्द्रकुमारजी का नाम सुना तो कुछ नयापन सा प्रतीत हुआ, उनके अलावा भी अन्य वयोवृद्ध विद्वानोसे भी जब श्री न्यायाचार्य जीके संस्मरण सुने तो सहज ही एक प्रबलेच्छा होती कि काश यदि आज उनसे प्रत्यक्ष भेंट कर पाता तो धन्य हो जाता, लेकिन आज स्मृति ग्रन्थकी इस मगलबेलामें उनके फोल्डरपर प्रकाशित चित्रको प्रथम बार देखकर एव उनकी अल्पकालीन सशक्त श्रुतसेवा रूप व्यक्तित्वको देखकर यही लगता है कि वह हमसे दूर नही, हमारे समक्ष ही हैं।

प्रतिवर्ष एक या दो परीक्षा उत्तीर्ण करनेवाला विशिष्ट ज्ञानावरण क्षयोपशम वाला ही होता है। न्याय जैसे जटिल विषयमे इतनी दक्षता प्राप्ति सहज संभव नही है। परन्तु अल्पायु होनेसे श्रुतसेवामे संलग्न रहते हुये जिनका जीवन समर्पित हो गया हो, उनके बारेमे अपनी विनम्र कुसुमाजलि अर्पित करते हुए यह कहना गलत नही होगा, कि उन्हें देखा तो नही, {(चर्म चक्षुओंसे) पर देख रहा हूँ उनको (चिन्तन चक्षुओसे)।

स्मृति ग्रन्थकी इस मंगलबेलामें पुनश्च शत-शत नमन।

अनोखा व्यक्तित्व

● डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार, वैशाली

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके विषयमें कुछ भी लिखना सूर्यको दीपक दिखाना है। मुझे उनके दर्शनका भी मौका नही मिला, क्योकि मेरे जन्मके पूर्व ही उनका देहावसान हो चुका था। फिर भी श्रद्धेय बाबूलालजी फागुल्लके स्नेहिल अनुरोधको स्वीकारते हुए दो शब्द लिखनेका साहस कर रहा हूँ। सर्वप्रथम मेरा उस जिनवाणी सेवक सरस्वती पुत्रके चरणोंमे शत-शत नमन।

पण्डित महेन्द्रकुमारजी बचपनसे ही प्रतिभा सम्पन्न थे। अध्ययनके उपरान्त जब वे कार्यक्षेत्रमे उतरे तो उन्हें पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीका सान्निध्य मिला। पश्चात् वे पं० नाथूराम प्रेमी और प० सुखलाल सघवी जैसे प्रकाण्ड विद्वानोके सम्पर्कमे आये। अनन्तर परस्पर आदान-प्रदान एवं सहयोगसे आपकी प्रतिभाको पल्लवित-पुष्पित होनेका भरपूर अवसर मिला। न्यायाचार्यजीको उच्चतर अध्ययन-अनुसन्धानकी विशेष प्रेरणा पं० नाथूराम प्रेमीसे प्राप्त हुई। पं० सुखलालजी की प्रज्ञादृष्टिसे प्रेरित होकर वे साहित्य साधना एवं अध्ययन-अनुसन्धानमे आकण्ठ डूब गये। उन्होने अनेक दुरूह ग्रन्थोका सम्पादन करके जैनदार्शनिक साहित्यकी श्रीवृद्धि की तथा भविष्यके अनुसन्धाताओंको एक नयी दृष्टि प्रदान की। यह विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

न्यायाचार्यजी ने एक-एक ग्रन्थके टिप्पण तैयार करनेमे शताधिक ग्रन्थोका अध्ययन-मनन किया। तब कही तुलनात्मक टिप्पण या अन्य टिप्पणियाँ तैयार हो पायी। उन्होने दार्शनिक ग्रन्थोके सम्पादनमे समालोचनात्मक पद्धति का प्राय पहली बार प्रयोग किया, जो पश्चात्वर्ती विद्वानोके लिए मार्गदर्शक बना। उन्होने कई ग्रन्थोका तो मूलपाठ भी टीकाओसे सजोकर तैयार किया। सम्पादन कार्यको पूर्णता प्रदान करने हेतु प० जी को अनेको यात्राएँ करनी पडी तथा महीनो बाहर रहना पडा। उनकी प्रतिभा लगन और कार्य करनेकी क्षमता उत्तरवर्ती विद्वानोके लिए नि सन्देह प्रेरणास्पद है। उन्हे शत-शत नमन।

पंडितजी द्वारा सम्पादित ग्रन्थोकी प्रस्तावनाएँ शोधके क्षेत्रमें विशेष महत्वपूर्ण हैं।

पण्डितजी स्वतंत्र चिंतक थे

● श्री जमनालाल जैन, सारनाथ

स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यसे मेरा पहला परिचय सन् १९५० मे हुआ और फिर तो बनारसमे उनसे अनेक बार मिलनेका अवसर मिला। मैं उनसे बहुत प्रभावित रहा।

एक दिन पता नही किसी मूडमे पडितजीने मुझसे कहा कि 'तुम तो सर्वोदयी बन गये, अपने बेटेको सर्वोदयी मत बना देना!' मैं विचारमे पड गया! आखिर यह बात उन्होने क्यो कही? कौन-सी कसमसाहट है इसके पीछे? क्या पडितके पुत्रको पंडित नही बनना चाहिए? फिर दार्शनिक प्रणालियाँ क्या कहती हैं? कौन किसका निर्माण करता है? क्या सभी लोग अपनी अपनी नियति, कर्मफल भोग, भाग्य या संस्कार सप्रभावित होकर विभिन्न रास्तो पर नही चल पडते हैं? पडितका बेटा इजीनियर बन जाता है, शराबीका बेटा संत बन जाता है। पारिवारिक, सामाजिक एव सास्कारिक, शैक्षणिक परिस्थितियाँ आदमीको कहीका कही पहुँचा देती हैं! लेकिन पडित महेन्द्रकुमारजीके कहनेका तात्पर्य शायद यह था कि किसीको भी अपनी सन्तानको अभाव पूर्ण जीवनकी ओर नही धकेल देना चाहिए। उनका अपना अनुभव भी शायद प्रारंभिक दिनोंका यही रहा होगा कि समाजमे बडे से बडे विद्वान्का भी कोई आदर-सम्मान नही होता। समाज पंडित वर्गसे ज्ञानदानकी, ज्ञान चर्चा की अपेक्षाएँ तो रखता है, पर आर्थिक दृष्टिसे उन्हें अपना

चाकर ही समझता रहता है ! सत्य ज्ञान और व्यवहार-कुशलताका यह अन्तर्विरोध जगह-जगह, बार-बार देखा गया है । आज भी खुली आँखों देखा जा सकता है !

पंडितजीने अपने जीवनमें विपुल साहित्य-साधना की । यह साधना पहाड खोदने जैसी कठिन रही है । इसीके कारण शायद उन्हें ब्रेन-हेमरेज हो गया और वे अचानक छीन लिये गये । उनके जानेसे न केवल वाराणसी की अपूर्व क्षति हुई, बल्कि सम्पूर्ण भारत वर्षके जैन समाजकी क्षति हुई है और स्वतंत्र चिंतन तथा निर्भीक विचारधाराके एक प्रकाण्ड मनीषी की पावन धारा ही सूख गयी !

लगभग ३५ वर्ष बाद उनकी स्मृति में कुछ भावना प्रधान स्नेहीजन स्मृति ग्रंथका प्रकाशन करके विनयांजलि अर्पण कर रहे हैं—यह शुभ है ! आशा है हमारी नयी तरुण पीढी डाक्टर महेन्द्रकुमारजी के प्रशस्त किये गये स्वतंत्र मनीषाके पथ पर अपनी प्रतिभा का आलोक फैलानेमें समर्थ होगें ।

जैनदर्शन के आधुनिक मेरु

• डॉ० सुरेशचन्द्र जैन, वाराणसी

पूज्य सन्त श्री गणेशप्रसादजी वर्णीके सत्प्रयत्नोंसे ज्ञानद्वीपकी श्रृंखलामें डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्याया-चार्यके योगदानको जैन दार्शनिक क्षेत्रमें महान् तार्किक भट्टाकलकदेवसे किसी दृष्टिसे न्यून नही कहा जा सकता, क्योंकि उनके जैन न्यायके गूढ़ रहस्योंका सम्पादन एवं पादटिप्पणके माध्यमसे जिस रूपमे अल्पतम समयमें व्याख्यायित किया है, वह स्तुत्य, स्पृहनीय और अनुकरणीय है ।

यद्यपि विद्यमान युवा पीढ़ी उनके साक्षात् सानिध्यसे वंचित रही है, तथापि उनकी कृतियाँ, उनकी गहन चिन्तन पद्धति, गवेषणापरक विधा एव सम्पादनकी नयी दिशाका सहज बोध कराती हैं । ऐसे मनीषी अन्यतम दार्शनिक मेरुके प्रति अपनी हार्दिक विनयांजलि अर्पित करता हूँ !

डॉ० कोठिया जी से जो सुना; जो गुना

• प्राचार्य निहालचंद जैन, बीना

डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य अपने युगके न्याय-वाङ्मयके एक कालजयी हस्ताक्षर जिन्हें बुद्धिका वरदान माँ (श्रीमती) सुन्दरबाई जी से मिला था । बुन्देलखण्ड खुरई (सागर) की माटीमे केवल श्रेष्ठ गुणवत्ताका गेहूँ ही नही उपजाया, बल्कि ज्ञानकी फसलोको भी उपजाया है । खुरईको ऐसे सरस्वतीके वरदपुत्रको रूपायित करनेका सौभाग्य मिला जिन्होने न्यायशास्त्रके क्लिष्टसे क्लिष्ट ग्रन्थोका सम्पादन करके जैन साहित्यको अपने अक्षय अवदान द्वारा समृद्ध किया ।

बीसवी शताब्दीके जैन-विद्वानो/पण्डितोकी सूची तैयार की जावे, तो उस सूचीके अधिकतर पन्नोमे बुन्देलखण्डका गौरव यशोगान अंकित होगा ।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया-न्यायाचार्य उनके समकालीन पण्डित आज विद्यमान है, जिनके पास बैठकर इन पंक्तियोंके लेखकने डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यको असाधारण बुद्धि और ज्ञान-प्रतिभाके अनेक किस्से/संस्मरण सुने और अनुभव किया कि ऐसे यशस्वी व्यक्तित्व-जैन समाजको, सरस्वतीकी विशेष अनुकम्पासे ही सुलभ होते हैं ।

''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'' की भावनासे अनुप्राणित होकर अपनी जन्मभूमि बुन्देल-खण्डकी माटीका अल्पांश ऋण चुकानेके लिए पण्डित महेन्द्रकुमारजीने अपनी सेवाका श्रीगणेश-खुरईके जैन

विद्यालयसे किया। लेकिन सरिता भला सरोवरकी सीमाओंमें बँधकर कैसे रह सकती है। अस्तु। १९३० में वे "स्याद्वाद-महाविद्यालय" वाराणसीमें अध्यापन हेतु चले गए। बनारसके कंकर कंकरमें व्याप्त शंकरका यह वरदान है कि जो भी शिक्षार्थी-'ज्ञान' को जीवन-साधनाका लक्ष्य बना कर वहाँ जाता है, वह उद्भट विद्वान् बनकर सम्पूर्ण देशमें विख्यात हो जाता है। ऐसा ही वरदान डॉ० महेन्द्रकुमारजी को प्राप्त हुआ।

आज डॉ० महेन्द्रकुमारजी का भौतिक शरीर हमारे बीच विद्यमान नहीं है, परन्तु न्यायशास्त्रके ग्रन्थोंके कुशल सम्पादन व उनकी विस्तृत प्रस्तावनाओंके रूपमें आपका ज्ञान व यश शरीर आज भी अविद्यमान है।

ऐसी महान् प्रणम्य आत्माको ये कुछ पंक्तियाँ-पूजाका थालमें अक्षत (चावल) के कुछ धवल-कण ही है जिन्हें समर्पित कर उस प्रज्ञा पुरुषको लेखकका विनम्र प्रणाम है।

मेरे विद्या-गुरु

● पं० अमृतलाल जैन शास्त्री, वाराणसी

मैं स्वयं को इस दृष्टि से सौभाग्यशाली समझता हूँ कि स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय काशी में रहकर मैंने परम श्रद्धेय डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य से जैनदर्शन का आचार्य अन्तिम खण्ड तक अध्ययन किया था। आप केवल जैन और जैनेतर दर्शनों के ही मनीषी विद्वान् नहीं थे प्रत्युत सिद्धान्त और साहित्यके भी प्रौढ़ विद्वान् थे। पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यने आपके सहयोगसे गोम्मटसार कर्मकाण्डका अथ से इति तक पारायण किया था। मैंने दार्शनिक ग्रन्थोंके अतिरिक्त यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्ध-के दुरूह पद्योंका आपसे अध्ययन किया था।

आपने अध्ययन कालमें घोर परिश्रम किया था। फलतः दिगम्बर एवं श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ आपको प्रायः कण्ठस्थ थे। प्रमेयकमलमार्तण्ड और अष्टसहस्री जैसे ग्रन्थ हम छात्रोंके सामने रहते थे और आप गद्दी पर बैठे-बैठे किसी भी पंक्तिको जरा सा देखकर आगेकी पंक्तियाँ स्वयं बोलते जाते थे और फिर उनका विस्तृत विवेचन भी करते जाते थे। दिगम्बर ग्रन्थोंकी भाँति श्वेताम्बर ग्रन्थोंका भी आपने गहन अध्ययन किया था। परीक्षाके दिनोंमें जब मैं परीक्ष्य ग्रन्थको लेकर आपके पास पहुँचता था तो आप ग्रन्थ खोलकर प्रत्येक पृष्ठ की शंकाओं और उनके समाधान स्पष्ट बता दिया करते थे और लगभग एक घंटेमें सम्पूर्ण ग्रन्थकी सारगर्भित बातें हमें स्पष्ट हो जाती थी।

जैन और जैनेतर दर्शनोंके अतिरिक्त बौद्धदर्शनका भी आपका गहन अध्ययन था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत कॉलेजमें आप बौद्धदर्शन ही पढ़ाते थे। समय-समय पर अनेक बौद्ध भिक्षु आपके पास बौद्ध दर्शनके ग्रन्थोंके अध्ययन हेतु आया करते थे। मैंने बौद्ध भिक्षुओंको प्रमाणवार्तिक आदि ग्रंथो-का आपसे अध्ययन करते देखा है।

ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् को मेरा शतशः नमन।

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्

● डॉ० कमलेशकुमार जैन 'चौधरी' वाराणसी

अप्रैल १९९४ के प्रारम्भमें बी० एल० इंस्टीटयूट ऑफ इण्डालॉजी, दिल्लीमें शोध-अध्येताके पद पर नियुक्त हुआ। और 'जैन संस्कृत टीकाओंमें उद्धरण' विषयक प्रोजेक्टमें कार्य करना शुरु किया तो

पं० महेन्द्रकुमारजी द्वारा सम्पादित-अनुवादित (मूल) और स्वतन्त्र रूपसे लिखी गयी उनकी प्राय सभी कृतियों-को अत्यधिक नजदीकसे देखने-पढ़नेका मौका मिला। इस प्रसगमे उनके द्वारा सम्पादित लगभग सभी मूल-ग्रन्थोंका एक-एक पन्ना पलटा है और कभी-कभी पंक्ति-पंक्तिको देखा है, पढा है। उस सबको देखकर-अनुभव कर दाँतो तले उँगली दबानी पडती है। उनकी सम्पादन पद्धति आधुनिकताके साथ प्राचीनताको भी साथमें लिए है, जो कि अपने आपमे अनूठी एव बेजोड है।

जैन और जैनेतर (वैदिक, बौद्ध, सांख्य, योगादि) शास्त्रीय सन्दर्भों-प्रसगोकी उनको जो स्मृति, उपस्थिति और जानकारी रही है, उससे पंडितजीकी जन्मजात प्रतिभा, अथक अध्यवसाय, स्तुत्य स्मरण-शीलता, अगाध विद्वत्ता और प्रखर दार्शनिकताका सहज पता चलता है। आधुनिक सम्पादनपद्धति और तुलनात्मक अध्ययनकी दृष्टिका पंडितजीने यथासम्भव बखूबी उपयोग किया है।

प० महेन्द्रकुमार जीकी उपर्युक्त विद्वत्ता, प्रतिभा, अध्ययन-अध्यापन क्षमता, स्मरणशीलता, अथक अध्यवसाय आदिको देखकर मैं उन्हे महान् दार्शनिक आद्य शकराचार्यके नजदीक देखता हूँ।

प्रो० महेन्द्रकुमार जीने अल्प आयुमे ही जो-जो कार्य कर दिये, वे कार्य शायद अनेक विद्वानोकी टीमसे भी संभव न हो पाते। उनके द्वारा लिखी गयी ग्रन्थोकी तुलनात्मक-समीक्षात्मक एक-एक प्रस्तावना अलग-अलग पी-एच० डी० की उपाधि की योग्यता और समकक्षता रखती है। यह उनका कृतित्व ही है जो पण्डितजीकी अमर गाथा गाता रहेगा। उन्होने भारतीय दर्शन विशेषत जैनदर्शनकी जो सेवा की है, वह असाधारण एव आश्चर्य पैदा करनेवाला है। जैन-धर्म-दर्शनके प्राचीन क्लिष्ट दुरूह, महनीय एव विशाल दर्शनपरक शास्त्रोका उन्होने जो असाधारण योग्यता-विद्वत्ता और कठिन परिश्रमसे सम्पादनादि-अनुवादादि कार्य किया है, तुलनात्मक तथा चिन्तनपूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखी है वह शायद पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के ही वशकी बात रही है।

इस महान् विद्वान्, दार्शनिक और लेखक के प्रति मै अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए गौरव का अनुभव करता हूँ।

गम्भीर अध्येता

• आयुर्वेदाचार्य भैया शास्त्री, शिवपुरी एवं समस्त शास्त्री परिवार

जैन सिद्धान्त एवं न्यायदर्शनके चिंतन मननशील गम्भीर-अध्येता समस्त ज्ञानके भण्डार वर्णीजीके पश्चात् सर्वप्रथम न्यायाचार्य बननेवाले डॉ० महेन्द्रकुमारजी की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेगी। प्राय अच्छी वस्तुका सयोग थोडे ही दिन रहता है, प० जीसे बडी भारी आशाये थी कि डॉ० सा० जैनधर्मका प्रचार-प्रसार बडी द्रुत गतिसे करेगे किन्तु असमयमे ही हमारे बीचसे उठ गये।

इतने अल्पसमयमे जो भी प० जी०ने किया वह थोडा नही है, उनके द्वारा सम्पादित, अनूदित दार्शनिक ग्रन्थ, टीका ग्रन्थ, मौलिक रचनाएँ आगामी पीढीके शोधार्थी विद्वानोको ज्ञानाराधन करानेके मार्गदर्शन देकर पर्याप्त सहायक होगे।

स्मृति-ग्रन्थ द्वारा दिया गया सम्मान चिरस्मरणीय रहेगा, हम सभी शास्त्री परिवार जन उनके प्रति कृतज्ञता प्रस्तुत करते हुए अपने अनन्त श्रद्धा सुमन समर्पण करते हैं।

बचपन की कुछ यादें

• सौ० आभा भारती, दमोह (सुपुत्री स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य)

क्या भूलूँ क्या याद करूँ,
क्या लिखूँ क्या ना लिखूँ,
का यहाँ सवाल ही नही।
याद ही है चन्द बाते, चन्द घटनाएँ,
और कुछ लम्हो का लडकपन।

मैं मात्र पाँच वर्ष की थी जब मेरे पिताजी नही रहे थे। पिताजीको हम सब दादा कहते थे। दो वर्ष की थी तभी माँ स्वर्ग सिधार गयी थी। मानस पटलपर आती है एक तस्वीर हर रात दादाके सीनेसे अन्दर समान चिपक कर सोनेकी। चौकीदारकी आवाज 'जागते रहो' सुनकर और सट जाने की। बड़ी भयावह आवाज लगती थी वह।

एक दूसरी तस्वीर उभरती है दादासे एक पल की असहनीय जुदाईसे सम्बन्धित। अलगावके भयसे लम्बा-लम्बा स्कूलसे गोल मारना। भाई-बहनोके उलाहनेपर, कि अब तुम्हारा नाम स्कूलसे कटने वाला है, स्कूल जाना और आधी छुट्टीमे भाग आना। घरपर दादाको न पाकर रोना-चिल्लाना। मिलनेपर पुनः गोदमे सवार हो जाना। हाँ, एक बात और याद आती है, स्कूल जाते समय हम सबको इकन्नी (एक आना) मिला करती थी, उसके बावजूद नही जाना तो नही जाना। इसी कारण पहलीमे एक साल फेल हो गयी मै। एक बार अपनी एकन्नी मुँहमे दबाए मस्त सोफे पर लेती थी मैं। एकन्नी गलेमे फँसते हुए पेटमें सरक गयी। घरमे बेचारी बूढी दादी! अकेली क्या करती। कालेजसे पिताजी घर आये और साईकिल पर बैठा डाक्टरके पास ले गये। पहली बार एक्सरे-कक्ष देखा और मेरा एक्सरे हुआ। सलाह दी गयी चिकने पदार्थ हलुआ, केला आदि खिलाने की। रोज सुबहसे हलुआ मिलने लगा। मैं सबसे कहती तुम भी एकन्नी गुटक जाओ हलुआ खानेको मिलेगा। यह सुनकर भाई-बहन चिढ़ाते, पर दादा हँस देते थे।

एक अन्य तस्वीर माँ के अभावमे पिता ही हम चारो भाई-बहनोको भोरसे नहला-धुला तैयार कर देते थे। स्कूल जानेके वक्त मैं हमेशाकी तरह रोते-चिल्लाते न जानेकी जिद्दपर अडी थी। इतनेमे पहली और अन्तिम बार तडाकसे सैन्डिल पहनाते-पहनाते एक चाटा गाल पर दादाने जड दिया। मेजपर बैठे-बैठे ही मेरे कपडे गीले हो गये। पिताजी असीम दुःखमे डूब गये। मैं ना जाने कब तक रोती रही, याद ही नही।

फिर आये वे दिन, जिनकी भयानकता पता नही थी तब। पर आज तक प्रभावित करती रही। काल मँडरा रहा था आस-पास। पिताका बाँया सम्पूर्ण अग लकवा ग्रस्त हो गया था। न बोल सकते थे, न चल फिर और न ही हिल-डुल सकने थे। बिस्तरपर लेटे, नाकमे नली लगी थी। मैं पाँच साल की थी तब। आँगनमे खेलनेमे मस्त। पिताने इशारेसे पास बुलवाया। दाँया हाथ सिरपर फेरा। उनके गालो पर आँसू की कुछ बूँदे ढुलक पडी। यही है वह जीवित अतिम दृश्य मेरी तिजोरी मे। पूँजी बन बैठा है। सिर-पर उनका वह दाँया हाथ आज तक बना है।

फिर याद आता है दो-चार दिन बाद हा-हाकार करती बेहिसाब भीड। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-का विशाल घर छोटा पड गया था। सामने डाक्टर राजबली पाण्डे रहते थे। जो बादमे जबलपुर विश्व-विद्यालयके कुलपति हुए। उन्होने ही सब बच्चोको अपने घर बुलवा लिया था। अर्थीका दृश्य भी हमे नही

दिखाया गया। शायद इसीलिए मैं आज तक अपने दादाको खोजती रही। समझ ही नही सकी कि वे अब इस लोकमें नही रहे। वे मुझे कभी छोड सकते है यह बात मेरे लिए कल्पनातीत थी। वे मेरे और मैं उनकी थी। होश सँभालनेपर जहाँ-तहाँ, जाने-अनजाने विद्वानोसे पूछती रही कि आप मेरे पिता प० महेन्द्रकुमार जैनको जानते हैं। उत्तर मिलता हाँ कौन नही जानता। पर कोई नही बताता कहाँ हैं वे। सब कहते, वे प्रकाण्ड पण्डित थे, उनके लेखन, उदारता, वात्सल्य को बात जरूर बताते। और बता भी क्या सकते थे।

कालचक्र आगे बढता गया। पिताका वही दाँया हाथ, वरदहस्त बन हम सब अबोध भाई-बहनोपर आर्शीवादकी अदृश्य बरसात करता रहा। पिता-प्रदत्त सारगर्भित नामोके साथ हम घनघोर अभावमे बडे हुए। बडी दो बहनें मणिप्रभा और प्रभादेवीके विवाह दादा ही ने सम्पन्न कर दिये थे। बडे भाई पदम और अरविन्द जो उस समय मात्र १६ वर्ष और ९ वर्षके थे, आज अपने-अपने क्षेत्रके प्रतिष्ठित इन्जीनियर हैं। तब मात्र ७ वर्षकी बहन आशा आज प्रसिद्ध स्त्री-रोग-विशेषज्ञ है। लगता है पिताको पता था कि आशा ही उनके जीवनकी आशा बनेगी। तभी तो उसीके निमित्त स्मृति-ग्रन्थका यह दुरूह, महान् कार्य आरम्भ हुआ और सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ जा रहा है। महाराज श्री ज्ञान-सागरजी की प्रेरणा रग लायी। पिताजी की मृत्युके लगभग साढे तीन दशक बाद यह स्वप्निल आशा साकार हो रही है। इस अपूर्व कार्यमें आशाको पति अभयजी का अभयदान मिला और मुझे अपने पति सतोषजी द्वारा सतोष। मध्यप्रदेशके आदिवासी जिले सरगुजामे शुरू हुई शुरुआत समाप्त हो रही ह। साथ ही पिताको ढूँढनेकी हमारी अनवरत खोज भी। आज हम सब भाई-बहनोको सबके सहयोगसे हमारे दादा मिल गये।

न्यायशास्त्र के तलस्पर्शी ज्ञाता

• श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी

मई सन् १९४९ को भारतीय ज्ञानपीठके प्रागणमे श्रद्धेय प० महेन्द्रकुमारजीसे जो आत्मीयता मिली थी वह आज भी ताजी है। उनका असीम प्रेम हमे ज्ञानपीठके कार्यकर्ता होनेके नाते ऐसा मिला था कि उसे भुलाया नही जा सकता।

वे अद्वितीय प्रतिभाके धनी थे। अगाध पाण्डित्य पूर्ण प्रतिभा उन्हे विरासतमे मिली थी। न्यायशास्त्र-का तलस्पर्शी ज्ञान इतना विशाल था कि उसकी तुलना नही की जा सकती। उनकी लौह लेखनीसे जिन ग्रंथोका सम्पादन हुआ है वह उनकी प्रतिभा, अध्यवसाय, लगन और कर्मठताका परिचायक है। सहज रूपमे बडोसे बडी गुत्थीको सुलझानेकी उनको तीक्ष्णबुद्धिका काम था। बडे-बडे विद्वान् उनके सामने नतमस्तक हो जाते थे। उनका मौलिक चिन्तन अद्वितीय था।

भारतीय ज्ञानपीठकी प्रतिष्ठा बढाने तथा उसे समुन्नत बनानेके लिये महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और अन्तिम समय तक वे उसके प्रति समर्पित बने रहे।

ऐसे महामनीषीके प्रति अपने श्रद्धासुमन समर्पित करते हुए गौरवका अनुभव कर रहा हूँ।

●

स्मृति-पत्राञ्जलि

• श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, दिल्ली

स्नेही भाई,

कैसी विडम्बना है कि जो पत्र आप कभी मेरे विषयमें लिखते, वैसा पत्र आपकी स्मृतिमें मैं लिखनेके लिए रह गया हूँ। आप थोड़ी आयुमें ही इतना कुछ कर गये। वाग्देवीके यशस्वी एक पुत्रके रूपमें उनकी वेदी पर इतने सुरभित चिर-अम्लान कमलपुंज चढ़ा गये कि पीढ़ियाँ उनकी सुवाससे माँ के मन्दिरको महकता पाकर अपनी साँस-साँसको धन्य कर लेगी। यह जो स्मृति ग्रन्थ फागुल्लजीने मेरे वरिष्ठ स्नेही मित्रोके सहयोगसे प्रस्तुत किया है वह आद्यन्त आपके आगमिक और साहित्यिक अवदानकी गाथासे भरा-पूरा है। इस सम्बन्ध में मैं अब क्या कहूँ। भारतीय ज्ञानपीठके माध्यमसे, उसके बहुविध कार्यकलापके माध्यमसे और समाजके अनेक अनेक सास्कृतिक आयोजनोंसे हम दोनों भागीदार रहे और विकासके वे आह्लादकारी क्षण—वर्ष कर्तव्य-निष्ठाके आत्म-तोषसे परितृप्त बिताये—ऐसे गुरुजनो और बन्धुओंके बीच जो युगके शलाका पुरुष थे—प्रातः स्मरणीय वर्णीजीने अपने पावन प्रयत्नसे जिस कल्पवृक्षको स्थापित किया, उसकी शाखाओं-प्रशाखाओने, परितृप्त हृदयोंको ज्ञानकी छाया और विद्याके विकासके आश्रय-स्थल प्रदान कर दिए। प्रिय भाई महेन्द्रजी, आपने पूज्य वर्णीजीके ज्योति कलशके जलसे अनेक संस्थाओंको सींचा और आलोकसे उद्भासित किया। कैसे सौभाग्यके वे दिन थे जब डाक्टर हीरालालजी, डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्दजी, सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्दजी आदिके साथ हम दोनों बैठकर न केवल उन्ही विद्वानोसे मार्गदर्शन प्राप्त करते थे, अपितु उनके स्नेहसे आश्वस्त होकर उनके साथ विचार-विनिमय करते थे, तथा नीति-निर्धारणमें सहयोगी बनते थे, हम दोनो कितनी-कितनी बार माननीय साहू शान्तिप्रसादजीके अद्भुत् गुणोसे प्रभावित होकर नयी-नयी योजनायें बनाया करते थे और श्रीमती रमा जैन भारतीय ज्ञानपीठकी सहृदया अध्यक्षाके तत्वावधानमे कठिनाईयोको सहजतासे हल कर लिया करते थे। आप ज्ञानपीठसे सम्बन्धित तो बहुत वर्षों तक रहे, किन्तु ज्ञानपीठके सम्पादक और वाराणसी कार्यालयके अधिकारीके रूपमें कुछ ही वर्षों तक काम कर पाये। हमने कितने उतार-चढाव—कहना चाहिए चढ़ाव-उतार देखे। बहुत ही उन्नत कल्पनाओसे आप आविभूत होकर ऊँचेसे ऊँचे शिखर छू लेना चाहते थे और ज्ञानपीठ को उन शिखरों तक ले जाना चाहते थे। जो हो सका, बहुत हुआ। जो नही हो सका उसे सोचकर मन खिन्न हो जाता है। अनेक द्रावक क्षणोंमें आप अपने मनकी बात मुझसे कहते थे और जब पाते थे कि व्यवस्था आपके मनके अनुकूल नही हो पा रही है तो निराशासे भर उठते थे। श्रीमती रमा जैनके अनेकों पत्र अभी-अभी मैंने देखे जब उन्होंने बडी शालीनता और कुशलतासे प्रयत्न किया कि वैयक्तिक मत-भेद या दृष्टिकोण ज्ञानपीठकी प्रगतिमे बाधक न बने तथा सस्थामें सामञ्जस्य का वातावरण दृढ़ हो। वास्तवमे वे दिन ज्ञानपीठके प्रारम्भिक विकास के थे। उस समय, कहना चाहिये, ज्ञानपीठका अस्तित्व था ही नही। सस्थाकी स्थापनाकी प्रारंभिक कल्पना 'जैन ज्ञानपीठ' की थी। उसी नामसे पहला संकल्प-पत्र प्रकाशित हुआ और ज्ञानपीठका पहला प्रकाशन भी जैन ज्ञानपीठकी पताकाके अन्तर्गत हुआ। वह प्रकाशन था 'आधुनिक जैन कवि'•जिसके सपादनका दायित्व रमाजीको साहू शान्तिप्रसादजीने दिगम्बर जैन परिषद्‌के कानपुरके खुले अधिवेशनमें कवि सम्मेलनकी परिसमाप्ति पर घोषित किया था। उससे कुछ समय पहले ही मैं साहूजीके सचिवके रूपमें डालमियानगरमें नियुक्त हुआ था और जैन ज्ञानपीठ की स्थापनाकी प्रारंभिक चर्चा चली थी।

प्रिय भाई,

बात करते-करते मैं कहाँसे कहाँ पहुँच गया। ज्ञानपीठका विस्तार होता रहा—डालमियानगर, कलकत्ता और दिल्लीके बीच, किन्तु आप और पंडित फूलचन्दजी, उस समयके निकट सहयोगियोंके साथ जैन वाङ्मयकी सेवामें जुटे रहे और ज्ञानपीठको जैन ग्रन्थोंके प्रकाशनके यशका भागीदार बनाते रहे। ज्ञानपीठने ज्ञानोदयका प्रकाशन प्रारंभ किया तो आपने और पंडित फूलचन्दजीने जैन विद्याके क्षेत्रमें नया प्रकाश-स्तम्भ स्थापित कर दिया। ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित ज्ञानोदय तीर्थंकरोंकी उदार छाप और मानव कल्याणकी भावनाका पक्षधर बना। सामाजिक चेतनाका यही विश्व-कल्याणकारक रूप ज्ञानोदयमें उभरा। हरिजन मंदिर प्रवेश, अछूतोद्धार, सामाजिक क्षेत्रमें विभिन्न जातियों-उपजातियोंके सपर्कको दृढ़ करनेकी प्रतिज्ञा आदि सारे विकासोन्मुखी प्रश्न ज्ञानोदयमें प्रतिबिम्बित हुए हैं।

जैन शास्त्रोंका विपुल भण्डार जो ज्ञानपीठमें आपके व्यवस्था-संचालनके समय आया और उसने समाज की अनेक प्रतिभाओंको उत्साहित किया वह ज्ञानपीठके इतिहासका समृद्ध और समुज्ज्वल समय था।

आप निरन्तर साथ रहे, और जब अन्ततोगत्वा आप विश्वविद्यालयमें चले गये तो भी जैन ग्रन्थोंका सपादन करते रहे और ज्ञानपीठकी प्रतिष्ठाको चमकाते रहे।

एक पूरा इतिहास है। जीवनके वे उभरते-उठते अमूल्य क्षण उत्तेजक, प्रेरक दिन स्मृतिमें बसे हुए हैं। आप इतनी जल्दी क्यों चले गये ? और मैं हूँ कि आज भी बैठा हूँ। लेकिन कितने दिन ?

हृदय की समस्त कुण्ठा और प्रेमसे आपको स्मरण किया है।

स्वीकार करें यह पत्राञ्जलि यह विनयाञ्जलि।

असाधारण विद्वत्ताके धनी

● डॉ० रतन पहाड़ी, कामठी

वदन प्रसाद सदनं सदय हृदय सुधामुचो वाचः।
करण परोपकरणं येषां केषां न तो वन्द्याः॥

प्रसन्नतासे युक्त ही जिनका मुखमडल है दयासे पूर्ण जिनका हृदय है—परोपकार ही जिनका कृत्य है। ऐसे पुरुष किनके द्वारा वन्दनीय नहीं होते हैं ?

डॉ० प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका व्यक्तित्व जब स्मृतिपटल पर घूमता है तो ऐसे ही गुणोंसे युक्त उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व, कृतित्व दृष्टिगोचर होता है।

आज उन्हें बिछुड़े ३ दशकसे अधिक हो गए। साधारण व्यक्तित्व होता तो जनमानस जिसकी प्रवृत्ति विस्मरणशील होती है, भुला दिया जाता किन्तु असाधारण विद्वत्ता तथा असाधारण लेखनी और असाधारण अमूल्य ग्रन्थोंके प्रणेताकी स्मृतिको सजीव करनेका श्रेय एक उपाध्यायश्रीको मिलेगा यह कभी स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की गई थी। उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराजने उनपर गोष्ठीका आयोजन करके तथा उनके स्मृति ग्रन्थकी रूपरेखा हेतु पुरस्कर्ताके रूपमें प्रेरणास्रोत बनकर स्मृतिको पावन रूप देनेका स्तुत्य कार्य किया है।

पं० महेन्द्रकुमारजीके ग्रन्थोंके सम्बन्धमें, उनकी विद्वत्ताके सम्बन्धमें, उनके असाधारण व्यक्तित्वके सम्बन्धमें इसी स्मृति ग्रन्थमें पर्याप्त प्रकाश डालकर उन्हें अक्षुण्ण अजर-अमर बनानेमें तथा उनपर शोध करके दुर्लभ सामग्री प्रस्तुत करके एक उपेक्षित महान् विद्वान्की स्मृतिको देरसे ही सही प्रस्तुत करने का कृतज्ञ कार्य किया है।

मैं प० महेन्द्रकुमारजीका बडा दामाद हूँ। दामादको दशम ग्रहकी संज्ञा दी जाती है। दामाद कभी असन्तोष, कभी सन्तोष तथा अनेक पारिवारिक हिन्डोलोंमे झूलता है।

पं० जीका मैं १९४० में स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयका विद्यार्थी भी रहा और १९४२ मे जेल गया इस कारण पं० जीका आकर्षण मेरे प्रति मेरे काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें अध्ययन कालसे ही बढता गया। और न चाहते हुए भी अनेक स्रोतोसे दबाव डालकर उनका दामाद बन गया।

प० जी वैसे तो ज्ञानपीठमे अपनी टेबुल पर बैठकर बडे सबेरेसे काममे जुट जाते थे लेकिन साहित्यिक और साहित्य सृष्टा की जो गति होती है—उसके उदाहरण देशके साहित्यिकोके लोगोके सामने हैं प० महेन्द्र-कुमारजी न्यायाचार्य इस दृष्टिसे तथा पारिवारिक जिम्मेदारियोको निभानेकी दृष्टिसे अगर मुँह खोलकर कहा जाय तो स्पष्ट रूप मे कहा जा सकता है कि इस व्यक्तिने सदैव ही अपनेको ग्रन्थ प्रणयनमे खपा दिया, अपने परिवार हेतु साधन जुटानेकी ओर ही खपा दिया—उसका फल भोगनेका जब समय कभी आया और ख्यातिकी चरमसीमा जब छूनेको आई तो प० जी को कालने अपने आगोशमे छिपा लिया।

एक बारका प्रसग मुझे याद आ रहा है। पं० जी काशी छोडकर बम्बई सर्विस हेतु जा रहे थे। स्याद्वाद विद्यालयमे विदाई समारोह मनाया जा रहा था उस समय प० जीकी असमंजस स्थिति तथा आर्थिक स्थितिकी स्पष्ट रूपरेखा उनकी मुखाकृति पर स्पष्ट देखी जा सकती थी। प० कैलाशचन्द्रजीने उनकी विदाई पर जो मार्मिक उद्गार प्रकट किए थे वे आज भी मुझे याद हैं—उन्होंने कहा था कि साइकिलकी गतिको वशमे करनेके लिए ब्रेक लगाया जाता है—वह ब्रेक अपने काबूमे व्यक्तिको रखना होता है प० जी बम्बई तो जा रहे हैं—मगर लगता है परिस्थितियोने उन्हें ब्रेक हाथसे छोडने पर मजबूर कर दिया है।"

और वही हुआ कि पत्नी अथवा घरकी स्थितियोंमें पं० जी ऐसे घिरे कि उन्हें बम्बई छोडना ही पडा और पुनः काशी वापस आना पडा।

एक इतना बडा विद्वान् जिसने सबसे पहले न्यायाचार्य होनेका गौरव प्राप्त किया हो, एक इतना बडा विद्वान् जिसकी टीका पर सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् जैसे विश्वविख्यात उपकुलपति भी प्रभावित हुए हो और डाक्टरेट भी उसी टीका पर मिली।हो—ऐसे महामनीषीका इतना करुण अन्त और अन्तमे जो स्थिति आई उसका स्मरण हो आता है तो शरीरमें कांटे उठ आते हैं—भला इतना ही क्यो? इससे भी भयानक स्थितिका सामना प० जी के जीवनमे प० जीने किया है।

पं० जीके घरमे रेडियोके वायर लगाने के लिए बाँस लाए थे—बाँस लगने मे थोडा समय लग क्या गया पं० जीकी दूसरी पत्नीकी इसी अन्तरालमे मृत्यु हो गई—और वे बाँस चिता सजानेके काममे आए। ऐसा जीवन जीने वाला व्यक्तित्व कितना सहनशील होगा—इसकी कल्पना भी नही की जा सकती। इतना ही नही श्मशानघाटसे प० जी आकर घर मे बैठे हैं हमारे एक मित्र श्री मूलचंदजी बडजात्या प० जीसे मिलने भाग्यसे पहुँचे। उन्हें कुछ भी घटनाका आभास नही था—मगर वातावरण उदासी का था। और

पं० जी सहजभावसे बात कर रहे हैं—हालचाल पूछ रहे हैं और बात के दौरान बता रहे हैं कि पत्नीका निधन हो गया है—अभी वहींसे आ रहे हैं।

पं० जी में एक खासियत थी—वे किसीके भी कार्यके लिए दौड़ पड़ते थे। यही सबके लिए दौड़ पड़ना उनके स्वास्थ्यके लिए विशेषकर अन्तिम समयमें दुखद बनकर उनकी मृत्युका कारण भी बना यह एक कटु सत्य है जिसका उल्लेख बस इतना ही करना समीचीन होगा।

आजके पंडित वर्गकी तुलना में—पुस्तको पर पुरस्कारोंकी बौछार होनेकी तुलना में—पारिश्रमिक की दृष्टिसे आजमें और तबमें जमीन आसमानका अन्तर है। आज पाँचों उगलियाँ घीमें हैं अगर कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी और पहले पंडित वर्गका जीवन पिसता था और उसमेंसे विद्वत्ता निखर-निखर कर आती थी क्योंकि तब यही नीति थी—

जीर्णमन्ने सुभाषितम्

खण्ड : २

जीवन परिचय
व्यक्तित्व एवं कृतित्व

****

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य का जीवन
चित्रमय प्रस्तुति

****

न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमार जी का जीवन : चित्रमय प्रस्तुति



डॉ महेन्द्रकुमार जी की पूज्यनीया माँ
श्रीमती सुन्दरबाई



डा महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य



श्रीमती नर्मदा बाई
(धर्मप त्नी न्यायाचार्य जी)



स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के अकलंक
सरस्वती भवन के कक्ष में न्यायाचार्य जी



डॉ० न्यायाचार्य जी
लेखन और चिन्तन की मुद्रा में



न्यायाचार्य जी [illegible] के साथ



न्यायाचार्य जी अपनी धर्मपत्नी [illegible] के साथ



[illegible] श्री लक्ष्मीचन्द्र जी [illegible] हीरालाल जी [illegible]
[illegible] न्यायाचार्य जी



संघाचार्य जी के भ्राता श्री भगतजीत जैन एवं धर्मपत्नी श्रीमती गजराबाई



संघाचार्य जी के भ्राता श्री धन्यकुमार जैन एवं धर्मपत्नी श्रीमती सीतादेवी





न्यायाचार्य जी के बहनोई प हीरालाल जी व र्मपत्नी श्रीमती व र्व



न्यायाचार्य जी की प्रथम पुत्री श्रीमती प्रभा जैन
व ामा डा रतन पहाडी व उनका परिवा





न्यायाचार्य जी की द्वितीय पुत्री श्रीमती मणिदेवी जैन
व दामाद श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन



न्यायाचार्य जी के प्रथम पुत्र श्री पदमकुमार जैन
धर्मपत्नी श्रीमती विमलादेवी जैन व उनका परिवार



यायावार्य जी क द्वि ीय ुत्र ी अ विन्द नम े
व र्मप नी श्रीम ी म ु जैन न क ी ।



न ाचार्य जी म ृ ीय ुत्री दा आशा चौधरी
व ाट डा अभय चौधरी न नका रिवा







न्यायाचार्य जी की चतुर्थ पुत्री श्रीमती आभा जैन
व दामाद श्री सतोष भारती एव उनके पुत्र श्री अनुपम भारती



डॉ० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य की पूज्यनीया माता जी अपने
पोता पोतियो के बीच



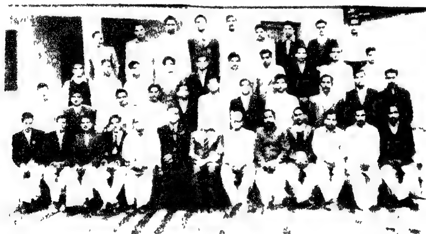
समाजरत्न साहु शान्तिप्रसाद जी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन की सुपुत्री सुश्री अलका जैन के जैन पद्धति से वैवाहिक धार्मिक कार्यक्रम मे मन्त्रोच्चारण करते हुए प० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य



साहु शान्तिप्रसाद जी, प० कमलापति त्रिपाठी तथा तत्कालीन मुख्यमत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द जी एव श्रीमती रमा जैन आदि अनेक गणमान्यो के साथ न्यायाचार्य जी



ज्ञानोदय के सम्पादक—श्री मुनि कान्तिसागर जी एवं पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री तथा ज्ञानपीठ के मंत्री श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय के साथ न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमारजी



वाराणसी में नरिया स्थित श्री सन्मति जैन निकेतन (जैन लाज) संगठन एवं काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के प्रमुखों के साथ सन् १९५२-५७ में प्रथम पंक्ति में बाये से दाये पाचवे क्रम मे बैठे हुए हैं न्यायाचार्य जी साथ मे है चौथे क्रम मे हटा के डॉ० शिखर चन्द जी जैन तथा प्रो० एम० बी० दास गुप्ता, डॉ० ए० बी० मिश्र (कुलसचिव), डॉ० एम० एस० वर्मा, प्रो० एम० एम० तिवारी आदि।



अभिन्न मित्र पं० परमेष्ठीदास के साथ पं० महेन्द्रकुमार जी



दिनाक १८ ८ ९५ से २० ८ ९५ तक सम्पादक मण्डल की बैठक मे सम्पादक मण्डल स्मृति ग्रन्थ के वाचना मे व्यस्त ।

पण्डित महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य : एक-परिचय

• पं० हीरालाल जैन 'कौशल', दिल्ली

आपका जन्म जैन नगरी खुरई (सागर) म० प्र० में श्री जवाहरलालजी जैनके यहाँ उनकी पत्नी श्रीमती सुन्दरबाईके कोखमे दि० ११ मई १९११ तदनुसार वैशाख शुक्ला पूर्णिमा वि० सं० १९६८ को हुआ था। बुद्धपूर्णिमाका दिन था। संयोगकी बात है कि हिन्दू विश्वविद्यालयमें बौद्धदर्शनके ही प्राध्यापक पद पर आपकी नियुक्ति हुई। पूर्णमासीको जन्म होनेके कारण आपका नाम पूर्णचन्द्र रखा गया था। खुरईमे प्रारम्भिक शिक्षाके पश्चात् बीनाकी पाठशालामे विशारद तककी पढाई शीघ्र पूरी कर ली। आपका नाम भी महेन्द्रकुमार हो गया। फिर सर हुकुमचन्द महाविद्यालय, इन्दौरमे प्रविष्ट होकर धुरन्धर विद्वान् प० वंशीधरजी न्यायालंकारसे सिद्धान्तशास्त्र, दर्शनशास्त्रके सुप्रसिद्ध विद्वान् प० जीवन्धरजीसे दर्शनशास्त्र तथा प० शम्भुनाथजी त्रिपाठी व्याकरणाचार्यसे साहित्यका गम्भीर अध्ययन किया। सन् १९२१ मे प्रथमश्रेणीमे न्यायतीर्थ तथा अगले वर्ष शास्त्रीकी पदवी प्राप्त की तथा १९ वर्षकी आयुमे शास्त्री-विद्वान् बन गये।

खुरई आ जाने पर वहाँ श्रीमन्त सेठ मोहनलालजी द्वारा संचालित जैन पाठशालामे अध्यापक हो गये। उसी वर्ष दमोहके सिघई रामलालजीकी सुपुत्री कु० चम्पाबाईसे आपका विवाह हो गया। सन् १९३० मे ही स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारसमे दर्शनाध्यापकके पद पर आपकी नियुक्ति हो गयी। अपने अध्ययनको जारी रखते हुए बनारस पहुँचने पर न्यायाचार्यकी परीक्षा उत्तीर्ण की। १३ वर्ष तक कार्य करनेके पश्चात् सन् १९४३ मे आप श्री महावीर जैन विद्यालयमे अध्यापक बनकर बम्बई चले गये। वहाँ प्रख्यात पुरातत्त्व प्रेमी माननीय नाथूरामजी प्रेमीके सम्पर्कमे प्राचीन ग्रन्थोकी खोज शोध की। बम्बईमे आप बहुत समय नही रह सके। उन्ही दिनो आपकी पत्नी श्रीमती चम्पाबाईका निधन हो गया। ये अपने पीछे दो पुत्रियाँ प्रभा एवं मणिप्रभा तथा एक पुत्र पदमकुमारको छोड गयी।

स्वनामधन्य साहू शान्तिप्रसादजी तथा उनकी पत्नी श्रीमती रमारानी जैनने प्राचीन ग्रन्थोकी शोध, खोज, सम्पादन तथा प्रकाशन हेतु भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की और उसके संचालन और व्यवस्थाके लिए श्री महेन्द्रकुमारजीको बनारस बुलाया गया। आपके अथक प्रयासोमे संस्थाकी चहुँमुखी उन्नति हुई। संस्थाकी ओरसे आपने 'ज्ञानोदय' नामक पत्र निकाला एवं 'लोकोदय' ग्रन्थमालाकी स्थापना की।

सन् १९४७ मे बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटीमे बौद्धदर्शनके प्राध्यापकके रूपमे आपकी नियुक्ति हो गयी। इसी वर्ष आपका दूसरा विवाह कु० नर्मदाबाईसे हुआ। यह भी सात वर्ष बाद १९५४ मे एक पुत्र अरविन्द-कुमार तथा दो पुत्रियाँ कु० आशा और कु० आभाको छोडकर चल बसी। आप पर गृहस्थीका सारा उत्तर-दायित्व आ पडा जिसे आपने बडी सावधानीसे निभाया। आप पक्के देशभक्त तथा गाधीवादी विचारधाराके पोषक थे। दिगम्बर जैन परिषद तथा समाजके अन्य बडे अधिवेशनोमे आपकी उपस्थिति अवश्य हुआ करती थी।

डॉ० महेन्द्रकुमारजीके दो भाई और है श्री मंगलजीतजी एवं धन्यकुमारजी। एवं दो बहने हैं बडी श्रीमती कस्तूरीबाई जो लक्ष्मीचन्द्रजी शास्त्रीको व्याही थी एवं दूसरी बहिन श्रीमती कान्तादेवी जो विद्वत्वर्य प० हीरालाल जैन 'कौशल' को विवाही हैं जो शिक्षाके क्षेत्रमे देशके शिक्षा मत्री द्वारा राजकीय पुरस्कारसे सम्मानित, महावीर निर्वाण पच्चीस सौवे महोत्सव पर राष्ट्रसंत आचार्य विद्यानन्दजीके सान्निध्यमे महामहिम

उपराष्ट्रपति द्वारा 'विद्वत्‌रत्न' की उपाधि द्वारा सम्मानित विद्वान् हैं। आपके पुत्र डॉ० सत्यप्रकाश जैन समाजसेवी व लेखक हैं।

मेरी रुचिको देखकर श्री महेन्द्रकुमारजीका मुझ पर कुछ विशेष स्नेह था और वे मुझे निरन्तर आगे बढ़ना देखना चाहते थे। इसलिए छुट्टियोंमें प्राय मुझे अपने पास बुला लेते थे। गर्मीके दिनोमे शामको माननीय पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, प० महेन्द्रकुमारजी तथा मै दुर्गाकुण्डके पार्कमें जाकर बैठते थे। विविध विषयो पर गम्भीर चर्चा होती थी। मै सभी बातोको ध्यानसे सुनकर अनेक नई जानकारियाँ ग्रहण करता था और यही उनका उद्देश्य था।

सन १९५९ मे उनका आग्रह था कि मैं गर्मीकी छुट्टीमे बनारस आ जाऊँ। वहाँ दोनो जैनधर्म पर एक पुस्तक लिखेगे। पर छुट्टी होने पर मै वहाँ पहुँचता, इसके पूर्व ही २० मईको उनका स्वर्गवास हो गया और वह विचार यो ही रह गया।

वे वास्तवमें महान् थे। उनमे अनेक विशेष गुण थे जिनके कारण वे सब सम्मान प्राप्त करते थे। जीवनके सभी क्षेत्रोमे वे रुचिपूर्वक भाग लेते तथा नाम व यश प्राप्त करते थे। उनका निधन साहित्य और समाजके साथ परिवार एव सम्बन्धियोके लिए अपूरणीय क्षति थी।



उन्हें वर्णीजी का परामर्श प्राप्त था

• श्री नीरज जैन, सतना

विद्वानोके प्रति पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णीकी ममता सर्व-प्रसिद्ध थी। विशेषकर जिस विद्वान्मे जैन विद्याओके अनुरागके साथ चारित्रिक निष्ठा हो उसके लिये तो बाबाजीके मनमे मातृत्व ही छलकता रहता था। उसके भरण-पोषणके लिये, और उसके मानसिक पोषणके लिये वे सदा चिन्तित रहते थे। यथा-सम्भव उसकी सहायताका भी प्रयत्न करते रहते थे।

पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एक ऐसे ही "जैन-विद्यानुरागी" तथा "चारित्र-निष्ठ" विद्वान् थे, अत समय-समय पर उन्हे भी पूज्य वर्णीजीका सत्परामर्श और मार्गदर्शन प्राप्त होता रहता था। जब-जब पण्डितजीके सामने कोई कठिन समय आया, तब-तब बाबाजीने उन्हें अपनी अमृतवाणीसे कभी दिशा-दर्शन कराया, कभी ढाढस बँधाया और कभी प्रेरणा प्रदान की। पण्डितजी भी समय-समय पर अपनी मनो-दशा, या अपनी समस्या बाबाजीके सामने उसी प्रकार बेहिचक रखते थे जैसे कोई पुत्र, अपना अधिकार मानकर अपनी बात पिताके सामने रख देता है। वर्णीजीके पास चर्चामे कई बार उनके बारेमे हमे सुननेको मिलता था। उनके पास वर्णीजीके अनेक पत्र भी थे जिनमे इन स्नेह-सम्बन्धोका सहज अनुमान होता है।

सन् १९४४ मे साहू शान्तिप्रसादने जिन दो-चार विद्वानोके परामर्शसे भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की थी, उन विद्वानोमे पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका नाम शीर्षस्थ था। इतना ही नही, साहूजीके अनुरोधपर पण्डितजीने बनारस विद्यालयमे अपनी तेरह वर्षकी नौकरी छोडकर भारतीय ज्ञानपीठमे अपनी नियुक्ति स्वीकार कर ली और ज्ञानपीठको साहु दम्पतिके सपनोके अनुरूप आकार प्रदान किया। वह पण्डितजीका युवाकाल था। वर्णीजीने उन्हे ब्रह्मचर्यकी प्रेरणा दी जो उनके जीवन-निर्माणमे बहुत सहायक सिद्ध हुई। वर्णीजीका वह पत्र मैं यहाँ अविकल प्रस्तुत कर रहा हूँ—

श्रीमान् महाशय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य,
योग्य दर्शनविशुद्धि।

एक व्रत हमारी सम्मतिसे पालन करना। इसमे आपका हित है। इन दिनोमे ब्रह्मचर्यसे रहना—

१–अष्टमी चतुर्दशी।

२–वर्षमे तीन बार दसलक्षण पर्व।

३–वर्षमे तीन बार अष्टाह्निका पर्व।

४–स्त्रीके गर्भमे बालक आने पर, जब तक बालक दो वर्षका न हो जाये, ब्रह्मचर्यसे रहना। इसकी अवहेलना न करना।

विशेष—पं० शिखरचन्द्र जो ईसरीमे है, योग्य है। उसे आप अपने कार्यमे बुला लो। ७५/- और मकान देनेसे वह प्रायः आ जायेगा।

कुवाँर वदी ११, सं० २००१

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

मैं सोचता हूँ एक सदगृहस्थको अपना जीवन सार्थक बनानेके लिये यह परामर्श क्या पूरी जीवन-यात्राका पर्याप्त पाथेय नही है? ऐसी होती थी बाबाजीकी कृपा अपने कृपापात्र विद्वानों पर।

इसके कुछ समय बाद पण्डितजीको इष्ट-वियोगका वह दारुण दुःख झेलना पड़ा जो किसी भी भावुक व्यक्तिको विक्षिप्त करनेके लिये पर्याप्त होता है। पूज्य वर्णीजीने उस दशामें पण्डितजीको इन शब्दोंके द्वारा संवेदना और सान्त्वना प्रदान की—

श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य,
योग्य दर्शनविशुद्धि।

मैंने श्री पं० गुलाबचन्द्रजी द्वारा आपके इष्ट-वियोगको जानकर कुछ खेदका अनुभव किया। इसका मूल कारण आपसे स्नेह ही है। यहाँ—संसारमें—यही होता है। आपको अब सर्वथा यही उचित है जो इस जालसे अपनेको रक्षित रखें, और स्व-परोपकारमें अपना शेष जीवन पूर्ण करें। यदि यह न हो सके तो जो होना है, वही होगा। संसारमें ज्ञानार्जन उतना कठिन नहीं, जितना उसका सदुपयोग करना कठिन है। "सदुपयोग" से तात्पर्य निवृत्ति मार्गकी प्राप्तिसे है। विशेष क्या लिखें। " × × आप सहसा कोई कार्य मत करना और न गजटोंमें कुछ छपवाना। कुछ दिन बाद जब चित्त स्थिर हो जाये तब अपनी हार्दिक भावनाको प्रगट करना।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

शिक्षा-प्रसार तो बाबाजीका जीवन व्रत ही था। अपने विश्वस्त और समर्पित जनोंसे वे उसमें सहायक होनेके लिये भी कहते थे। पं० महेन्द्रकुमारजी उनके प्रति समर्पित तो थे ही, समाज पर भी उनका अच्छा प्रभाव था। जब खुरईमें गुरुकुलकी स्थापना हुई तब, वर्णीजीने पण्डितजीको एक ऐसा ही काम सौंपा था जो उनके ऊपर वर्णीजीके विश्वासका प्रतीक है।

× × ×—"एक बार मैं सागर जाऊँगा। खुरईमें जो गुरुकुलका उद्योग हुआ है, उत्तम है। परन्तु जो मूल द्रव्य है वह बहुत ही न्यून है। गुरहाजीको उचित तो यह था जो दो लाख रुपया देकर कुछ लाभ लेते। श्री सेठजी तो अभी बालक ही है, उन्होंने जो दान दिया है वह तो "न" के तुल्य है। गुरहा जी तो अब वार्धक्यका अनुभव कर रहे हैं। सच्चे रूपमें कार्य करें। आजकल बीस हजारमें तो एक चटशाला भी नहीं चल सकती। जब आप खुरई जावें, हमारा उनसे यह सन्देश कह देना।"

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

ज्ञानका फल चारित्र ही है, अन्य कुछ नहीं, यह वर्णीजीकी अटल धारणा थी। वे सदा सबमें ज्ञानके अनुरूप अनासक्ति और संयमकी परिणति देखना चाहते थे। अधिकांश विद्वान् ऐसा कर नहीं पाते इस बातको लेकर बाबाजी चिन्तित भी रहते थे और अफसोस भी जाहिर करते रहते थे। कुछ ऐसे ही मनोभाव उन्होंने अपने एक पत्रके माध्यमसे न्यायाचार्यजीपर व्यक्त किये हैं। यह उन दोनों न्यायाचार्योंकी निकटताका भी प्रतीक है—

श्रीयुत महाशय महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य,
योग्य दर्शनविशुद्धि।

आदिपुराण यदि पूर्ण छप गया हो तो बाबू रामस्वरूप बरुवासागरके नामसे भेज देना। हम कार्तिक सुदी पूर्णिमा तक सोनागिरि पहुँच जावेंगे। विशेष क्या लिखें।

धर्मका मर्म जिसके ज्ञानमें आ गया उसके शत्रु-मित्र समान हैं।

अभी तो कतिपय मनुष्योंकी प्रवृत्ति है कि "अपनी शान रह जावे, दूसरा कोई चाहे गर्तमें जावे।" मेरी सम्मति तो यह है कि आपने ज्ञान पाया है तब स्वप्नमे भी किसीको शत्रु न समझना।

जिस चिन्तनासे संक्लेश हो वह चिन्तना किस कामकी ?

ज्ञानका फल "उपेक्षा" भी है।

अज्ञान-निवृत्तिकी अपेक्षा उपेक्षा बहुत मूल्य रखती है।

क्या कहे, जन्म बीत गया परन्तु शान्तिका उदय न आया।

इसमें किसीका अपराध नही।

हमारी मोहकी बलवत्ता है जो अद्यावधि शान्तिको तरसते हैं।

अस्तु, जिसमे आपको शान्ति मिले वही कार्य करना।

फाल्गुन सुदी ६, सं० २००७

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

ऐसा लगता है कि पण्डितजीका जीवन सुगम नही रहा। उनके सामने अवश्य कोई ऐसी परिस्थिति आई होगी जिससे उनके मनमे अस्थिरताका अँधेरा व्याप्त हुआ होगा। शायद ऐसी ही किसी बेलामे वर्णीजीने बहुत हिम्मत दिलानेवाला एक पत्र अपने इस प्रिय शिष्यको लिखा।

श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य,
दर्शनविशुद्धि।

पत्र आया, वृत्त जाने। हमको कोई चिन्ता नही। चिन्ता यह रहती है कि विद्वान् लोग निश्चिन्त रहे क्योकि जगत्का सद्व्यवहार इनके ऊपर रहता है। आप निश्चिन्त रहिये।

वह वस्तु आपको मिली है जो असंख्य द्रव्यसे नही मिलती।

पण्डित लोग एक मत हो यह असम्भव है।

जिस चक्रमें जगत् रहता है, वे भी उसीमे हैं। मात्र ज्ञान अधिक है।

इनके ज्ञान है, किसीके धन है। किसीके अज्ञान है।

मूल वस्तुके सद्भावमे तीनो ही कल्याणके पात्र हैं।

हम क्या लिखें ? हम भी अपनी गणना इसी चक्रमें मानते है।

अतः आप आनन्दसे जीवनयापन करो।

जैन साहित्यका विकास इन महानुभाव पण्डितोंसे होना दुर्लभ नही, परन्तु इनकी आभ्यंतर दृष्टि ही नहीं है। खेद इस बातका है कि कूपमें ही भाँग पड़ी है। किसे दोष दें ?

गया, भाद्रपद वदी २, सं० २०१०

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

संवत् २०१२ के भादो-क्वाँरके ये वह दिन थे जब पूज्य बाबाजी बुन्देलखण्ड छोडकर पारस प्रभुके पादमूलमें अपनी सल्लेखना-साधनाके लिये जा रहे थे। मार्गमें गयामें उनका १९५३ का चातुर्मास हुआ। वहींसे उपरोक्त पत्र लिखा गया। वहीसे लिखा हुआ एक और पत्र पण्डितजीके नामका प्राप्त हुआ है।

उन दिनो प० महेन्द्रकुमारजी भारतीय ज्ञानपीठ छोडकर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमे आ चुके थे। जैनदर्शनको उद्योतित करनेवाली अपनी अमर कृतिका सृजन वे कर चुके थे, परन्तु शायद उसके प्रकाशनमें कुछ बाधा उनके सामने रही होगी। कही किसीने इस बारेमे उन्हें निराश किया होगा। उधर स्याद्वाद विद्यालयके अधिष्ठाता-पदसे भी, जातिवादके जहरके कारण, वे उपराम हो चुके थे। उनकी ऐसी मनस्थितिमे उन्हें वर्णीजीने इन शब्दोमे साहस दिलाया—

श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य
योग्य दर्शनविशुद्धि

आपकी कृति जो दर्शन-शास्त्र, जिसके लिखनेमें आपने अथक परिश्रम किया है, समय पाकर चन्द्रवत प्रकाशित होगी। मनमे अणुमात्र भी पश्चाताप न करना। जो, कोई भी आदर करने वाला नही। सर्व कार्य समय पाकर ही होते है।

आपके चित्तमे जो हो सो करना। यदि अधिष्ठाता-पदसे ग्लानि है तो छोड़ देना, परन्तु सामान्य उपद्रव हो तब मत त्यागना। अथवा आपको जो रुचे सो करना। हम उसके रोकने वाले कौन? आजकल एक अभिप्राय होना कठिन है। पंचम काल है। असंख्यात लोक प्रमाण कषाय हैं।

हमारी भावना तो आप लोगोंके उत्कर्षको रहती है। इसके सिवाय कर ही क्या सकते हैं? परमार्थसे तो कर हो नही सकते, किन्तु व्यवहारसे कभी करनेमे असमर्थ हैं। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी जो मैंने सर्व संस्थाओसे त्यागपत्र दे दिया है।

आ० सुदी ५, सं० २०१०

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

इस प्रकार पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके जीवनको, यदि हम पूज्य वर्णीजीके उपर्युक्त पत्रोंके संदर्भमें देखें तो सहज ही सिद्ध होगा कि न्यायाचार्यजी एक उत्कृष्ट और धर्मानुकूल, सरल व्यक्तित्वके धनी थे। पूज्य श्री गणेशप्रसादजी जैसे युग-पुरुष महात्माका इतना विश्वास, ऐसा स्नेह जिसे प्राप्त रहा हो वह निश्चित ही एक प्रामाणिक श्रावक होना चाहिये। बाबाजीके ये पत्र महेन्द्रकुमारजीकी श्रेष्ठताके प्रमाण-पत्र हैं।



न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमार

● महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन

आचार्य महेन्द्रकुमारके नामके साथ ''स्वर्गीय'' लगाने में हृदयमें असह्य वेदना होती है, ऐसी वेदना किसी आत्मीयके निधनपर भी नहीं हुई थी। हमारे लोग प्रतिभाओंकी कितनी कदर करते हैं, यह इसीसे मालूम होगा कि वाराणसी जैसे बड़े शहरमें इस महापुरुषकी जीवन समाप्तिकी सूचना किसी प्रमुख दैनिक पत्रने नहीं दी। मसूरीमें उनके स्वजनने सूचना न दी होती, तो इतने हो समय तक मैं यही समझता रहता कि महेन्द्रजी ''सिद्धिविनिश्चय'' के उद्धारमें लगे हुए हैं। बहुत पीछे एक साधारण साप्ताहिकने छापा— ''दिनांक २० मई; सायकाल ७ बजे लकवाकी बीमारीमें प० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यका स्वर्गवास हो गया। १४ मईको करीब १२ बजे हिन्दू यूनिवर्सिटीमें अपने ही घरपर उन्हें बायें अगमें लकवा लग गया था। दो दिनके बाद स्थिति कुछ सुधरने लगी थी, किन्तु पाँचवें दिन जब फिरसे लकवेका जोर पड़ा, तो सारा शरीर लकवाग्रस्त हो गया। इस स्थितिमें डॉक्टर लोग सँभाल नहीं सके और अन्तमें २० मईको सायंकाल वे इस नश्वर शरीरको छोड़कर चले गये।''—(जैनभारती ३१-५-५९)

महेन्द्रजीका जन्म ११ मई १९११ को हुआ था, अर्थात् वह मुश्किल से ४८ वर्षके हो पाये थे। यही नहीं, अभी वह अपनी साधनाओंको दिनो-दिन बढ़ा रहे थे। एक ही वर्ष पहले उन्होंने पेकिंगमें मेरे पास लिखा था, कि मैं तिब्बती भाषा पढने और साथ ही धर्मकीर्तिके ''प्रमाणविनिश्चय'' को फिरसे तिब्बती अनुवादके सहारे संस्कृतमें करनेमें लगा हूँ। उस वक्त मुझे कितनी प्रसन्नता हुई थी। धर्मकीर्तिको यूरोपके मूर्धन्य विद्वान् भारतका कान्ट कहते हैं। उन्होंने बुद्धिवाद और वस्तुवादी प्रमाणशास्त्र पर लेखनी उठाई, और सात अमूल्य ग्रंथ लिखे। उनमें से सिर्फ एक छोटा-सा ग्रथ ''न्यायबिन्दु'' मूल सस्कृत में रह गया था। इन पंक्तियोंके लेखककी तिब्बत यात्राओंके फलस्वरूप ''प्रमाणवार्तिक'', ''हेतुबिन्दु'', ''वादन्याय'', ''संबंध-परीक्षा'' चार ग्रथ मूल सस्कृतमें मिलकर प्रकाशमें आये। ''सन्तानान्तरसिद्धि'' छोटा ग्रथ होनेसे किसी समय भी तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें किया जा सकता था, पर ''प्रमाणविनिश्चय'', ''प्रमाणवार्तिक'' जैसा ही बड़ा ग्रंथ था, उसे ही महेन्द्रजी सस्कृतमें कर रहे थे। पर चिरजीवी पद्मकुमारके पत्रके अनुसार ''पूज्य'' पिताजी ने 'प्रमाणविनिश्चय' का काम प्रारंभ कर दिया था, किन्तु वह पूरा न हो सका और बीचमें ही हमें छोड़कर चले गये।

ऊपरकी पंक्तियोंसे उस क्षतिका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता जो कि आचार्य महेन्द्रके अवसान से हुआ है। भारत परतंत्रताके अन्धकारमें सात शताब्दियों तक भटकता और गिरावटकी ओर जाता रहा। उसकी बहुत सी अनमोल निधियाँ नष्ट हो गयी, जिनमे अनमोल ग्रंथ भी थे। तो भी विद्याके लिए विदेह बने पंडितो ने सस्कृतके भंडारको रक्षा की, शास्त्रोंके अध्ययन और अध्यापनमें जीवन बिताया। पर, इस सारे समयमें एक बड़ी क्षति यह हुई, कि हमारे प्राचीन् शास्त्रोमें से कितनोकी पढाई छूट गयी। वाराणसी, नवद्वीप, पूणा, कुम्भाकोणम्के दिग्गज विद्वान् प्राचीन न्यायकी ओर हाथ बढ़ानेकी भी क्षमता नहीं रखते थे। प्रथम विश्वयुद्धकी समाप्तिके समय तक यही हालत रही। वाराणसीमें पडित अम्बादास शास्त्री किसी तरह ''न्यायकुसुमांजलि'' को पढ़ा दिया करते थे। नयी पीढ़ीके पंडितोको इससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने उस संस्कृतपर अधिकार प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न आरंभ किया, जिसके बिना जैन, बौद्ध, ब्राह्मणिक आदि प्राचीन दर्शन ग्रंथ बन्द पोथी बने हुए थे। अपने समयके सर्वश्रेष्ठ काशीके विद्वान् महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण धर्माने एक बार अपनी लिखी कापियाँ दिखलायी थी, जिनमें वात्स्यायन, उद्योतकर, कुमारिल, वाचस्पति, जयन्त, श्रीहर्ष आदिकी कृतियो से बौद्धोके पक्षको जमा करके उन्हें समझने की कोशिश की गयी थी। आजके

सुक्रम कितने ही महत्त्वपूर्ण बौद्ध-ग्रंथ उस समय सदाके लिए लुप्त समझे जाते थे। हमारे पंडितोंने अपनी खो-सी गयी निधिको इस प्रकार प्राप्त करनेमें बहुत कुछ सफलता पायी। महेन्द्रजी उन्हींमे से अन्यतम थे। उन्होंने प्राचीन ब्राह्मण दर्शन ग्रंथोका गभीर अध्ययन किया, बौद्ध-दर्शनका अवगाहन किया और जैनदर्शन-पर अधिकार प्राप्त किया। हिन्दू विश्वविद्यालयमे बौद्ध दर्शनके अध्यापक हुए। इसीसे उनकी इस योग्यताका पता लगेगा। हाल ही मे वह उसी विश्वविद्यालयमे "जैन धर्म-दर्शन और प्राकृत विभाग" के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे, पर कार्यभार सँभालने से पहले ही महाप्रस्थान कर गये।

आचार्य महेन्द्र अथक परिश्रमी थे, तभी तो उन्होंने इतनी थोडी आयुमे दर्जनो संस्कृतके प्रौढ़ दर्शन ग्रंथोंकी विशाल भूमिका लिखी तथा उनका अनुवाद या वैज्ञानिक दृष्टिसे सम्पादन किया। वे ग्रन्थ यह है— (१) 'न्यायकुमुदचन्द्र' (२) 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' (३) 'अकलंकग्रन्थत्रय' (४) 'न्यायविनिश्चय' (५) 'तत्त्वार्थ-वार्तिक' (६) 'सिद्धिविनिश्चय' (७) 'तत्त्वार्थवृत्ति' (८) 'जयधवल' (प्रथमपुस्तक) (९) 'प्रमाणमीमांसा' (१०) 'जैनतर्क भाषा, जैनदर्शन'। (११) साढे छ सौ पृष्ठोका 'जैनदर्शन' उनके दार्शनिक ज्ञानकी परि-पक्वताका परिचायक रहेगा। उनके निम्न ग्रंथ प्रकाशनार्थ तैयार हैं—(१) 'षड्दर्शनसमुच्चय' (२) 'सत्य-शासनपरीक्षा' (३) 'विश्वतत्त्वप्रकाश' (४) 'प्रमाणप्रमेयकलिका' (५) 'युक्त्यनुशासन' (६) 'आत्मानुशासन' (७) 'विविधतीर्थकल्प' (८) 'प्रभावकचरित्र'।

वह अपनी पूरी क्षमताका उपयोग नही कर सके वह अपने वर्तमान से सतुष्ट नही थे, इसीलिए अपनी साधनामे सतत तत्पर थे, और इस आयुमे समर्थ पंडित बननेके बाद भी तिब्बती भाषा पर अधिकार करनेमें लगे हुए थे। वह जानते थे, दो लाख श्लोको से अधिक संस्कृत दर्शन ग्रंथ तिब्बती अनुवादोंमे ही सुरक्षित हैं, उनके बिना भारतीय दर्शनका अध्ययन पूरा नही समझा जा सकता। उन्होंने मुझे तिब्बत जाते देख कहा था मेरी आवश्यकता हो, तो अवश्य मुझे बुलाइयेगा। एक जैन वातावरणमे पले-पोसे विद्वान्के लिए तिब्बत अनु-कूल स्थान नही हो सकता। पर जिसने विद्याव्रत धारण किया है, वह किसी भी बाधासे हिचक नही सकता।

"मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये" की तरह आजके हजारो संस्कृतके साधकों मे महेन्द्रजी एक सिद्धिप्राप्त थे। उतने ही से सन्तुष्ट न रह अपनी साधनाको बढा रहे थे। भावी पीढी से मैं निराश नही हूँ। महेन्द्रका स्थान उन्हें भरना होगा, पर वह कितना कठिन है, इसे समझना कठिन नही है।

हमारे देशमे संस्कृतकी रक्षा और प्रचारके लिए बहुत चर्चा सुनी जाती है। उसके लिए भारत-सरकारने आयोग भी नियुक्त किया था। उसने अपने सुझाव भी उपस्थित कर दिये है, पर जान पड़ता है, उनका ध्यान अधिकतर संस्कृतके प्रचार पर ही है। संस्कृतके प्रचार पर मत्था-पच्ची करने की वस्तुत आवश्यकता नही है। हमारी सभी भाषाएँ संस्कृतके अवलंब से विकसित और समृद्ध हुई हैं। उनपर अच्छा अधिकार पानेके लिए संस्कृतकी बडी आवश्यकता है, इसे सभी समझते हैं, और उसीके अनुसार असमिया, बँगला, उडिया, मराठी, हिन्दी, गुजराती, नेपाली ही नही तेलुगू, कन्नड, मलयालमके क्षेत्रमे भी संस्कृतका प्रचार बढ रहा है। वस्तुत समस्या संस्कृतके प्रचार की नही है, बल्कि यह है कि संस्कृतके गभीर पांडित्यकी रक्षा कैसे को जाय? उन्नीसवी सदीके अन्त तक नही बल्कि बीसवी सदीके मध्य तक बढ़े आते पांडित्य की—जिसके प्रतिनिधि आचार्य महेन्द्र थे—रक्षा कैसे की जाये। आजका शिक्षित पुरुष अध्ययन जल्दी समाप्त कर अधिक वेतनवाली नौकरी प्राप्तकर निश्चिन्त सुखका जीवन बिताना चाहता है। वह ४८ या ५० वर्ष तक विद्यार्थी रहकर तपस्वी और अकिंचनका जीवन बिताना नही चाहता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मेधावी तरुण संस्कृतके गभीर विद्वान् बनने के लिए प्रयास करे, तो उन्हें निश्चिन्त सुखपूर्वक जीवन पानेकी सुविधा करनी होगी।

महेन्द्रजी मध्यप्रदेशके एक छोटे-से गाँव खुरईमें एक अति साधारण जैन घरमें पैदा हुए थे। अपनी विद्याकी उत्कट भूखको तृप्त करनेके लिए आजसे पौन सदी पहले वह वाराणसी आये। प्रायः उसी समयसे मेरा उनसे सम्पर्क हुआ। उनकी रुचि दर्शन जैसे गम्भीर विषयकी ओर हुई। कलकत्तासे "न्यायतीर्थ" और काशी संस्कृत विद्यालय (अब संस्कृत विश्वविद्यालय) की न्यायाचार्य परीक्षा पास की। कितने ही वर्षों तक काशीके स्याद्वाद विद्यालयमें अध्यापक रहे। फिर हिन्दू विश्वविद्यालयमें गये। दुर्लभ ग्रन्थोंको प्रकाशमें लानेवाली महती संस्था "भारतीय ज्ञानपीठ" को अस्तित्वमें लानेमें उनका बड़ा हाथ था। उसके बहुत-से ग्रन्थोंका उन्होंने सम्पादन किया। अप्रतिम जैन नैयायिक अकलंककी महत्त्वपूर्ण कृति 'सिद्धिविनिश्चय' लुप्त हो गई थी। इस ग्रन्थकी मूल कारिकापर ग्रन्थकारने स्वयं टीका लिखी थी, वह भी अप्राप्य थी। इनपर लिखी अनन्तवीर्यकी टीका मिली थी सो भी अशुद्ध। महेन्द्रजी इस प्रयासके बारेमें लिखते हैं—"अब १९४४ में भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना हुई तो उसके कार्यक्रममें आचार्य अकलंकके ग्रन्थों एवं प्रकाशनको प्राथमिकता दी गयी। इस समय तक धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक, वादन्याय, हेतुबिन्दु, प्रज्ञाकरगुप्तका प्रमाणवार्तिकालकार, अर्चटकी हेतुबिन्दुटीका, जयसिंह भट्टका तत्त्वोपप्लव, कर्णगोमीका प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्तिकी टीका आदि अमूल्य दार्शनिक साहित्य प्रकाशमें आया था। सिद्धिविनिश्चय टीकाका बहुभाग इन्हीं ग्रन्थोंके खंडनसे भरा हुआ है अतः कुछ उत्साह इस अशुद्धिपुंज सिद्धिविनिश्चय टीकाके संपादन-का भी हुआ और ज्ञानपीठसे मुक्त होते ही इस कार्यमें पूरी तरह जुट गये। लगभग ५ वर्ष तक सतत साधनाके बाद सिद्धिविनिश्चय टीका तथा उससे उद्धृत सिद्धिविनिश्चय मूल एवं उसकी स्ववृत्ति इस अवस्थामें आ गये कि उनके सम्पादन और प्रकाशनके विचारको प्रोत्साहन मिला। प्रयत्न करने पर भी अभी तक न तो सिद्धिविनिश्चयमूल और उसकी स्ववृत्तिकी ही दूसरी प्रति मिली और न सिद्धिविनिश्चय टीकाकी दूसरी प्रति।"

यही उनका सबसे अन्तिम प्रकाशित ग्रंथ है, और उसीकी विद्वत्तापूर्ण ११६ पृष्ठोंकी भूमिका पर आचार्यको हिन्दू विश्वविद्यालयने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

महेन्द्रजी संस्कृत और प्राकृतके ही महान् विद्वान् नहीं थे, बल्कि हिन्दीके सुलेखक और प्रेमी होनेके नाते हिन्दीकी जननी अपभ्रंश भाषाके भी सतर्क गवेषक थे। आज यह विडंबना मालूम होती है, पर आजसे दो ही पीढ़ी पहले हमारे दिग्गज विद्वान् भी नहीं जानते थे, कि हमारी आजकी भाषाओंकी जननी, एक समृद्ध भाषा अपभ्रंश थी, जिसने सातवींसे बारहवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत पर अक्षुण्ण प्रभुत्व रखा था। छठी सदी उसका अपनी जननी प्राकृतके साथका और तेरहवीं सदी अपनी पुत्रियों—आजकी हिन्दी आदि भाषाओं—के साथका संधिकाल था। संस्कृतके पंडित अपभ्रंशका नाम आने पर तुरन्त पतंजलिके महाभाष्यकी पंक्तियाँ यादकर उसे ईसापूर्व दूसरी सदीके गावी-गोणी-गोपोतलिका आदि शब्दोंवाली भाषासे जोड़ देते थे। आज तो अपभ्रंशके दर्जनों बड़े-बड़े ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। उसकी समृद्धिकी धाक स्वयंभूके "रामायण", "महाभारत" जैसे महाकाव्यों द्वारा स्थापित हो चुकी है। मेरी तरह आचार्य महेन्द्रकुमार भी अपभ्रंशकी नयी-नयी कृतियोंकी खोजमें थे। अपभ्रंशके पद्य ग्रंथ बहुत मिले थे, जिनमें से थोड़े ही प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु, अपभ्रंश गद्य देखनेमें ही नहीं आया था। एक दिन, वाराणसीमें मुलाकात होनेपर, उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ एक जीर्ण-शीर्ण पाण्डुलिपि दिखाते हुए कहा—यह अपभ्रंश गद्य है, कोई व्रत-कथा है। महेन्द्रजी सदा स्मितपूर्वाभिभाषी थे। उनकी हृदयस्थ उदारता मुस्कुराहटके रूपमें सदा मुँह पर नाचा करती थी। उन्होंने बतलाया—यह पुस्तक बतला रही है कि छोटे-मोटे जैन भंडारोंमें ढूंढ़नेपर अपभ्रंश-

के और भी मद्य ग्रंथ मिल सकते हैं। जहाँ वह "प्रमाणविनिश्चय" को तिब्बतीसे उद्धार करनेमें लगे हुए थे, वहाँ अपभ्रंशकी ओर भी ध्यान रखते थे।

अनुदार अर्थमे वह जैन नही थे। वह भलीभाँति समझते थे कि जैन धरोहरके रूपमे भारतीय संस्कृतिकी ऐसी अनमोल निधियाँ सुरक्षित हैं, जो जैनोके अभावमें सदाके लिए विलुप्त हो जातो। विद्वान् जानते हैं, हमारे देशमे हमारोभाषाओका रूप वैदिक भाषा से पालि प्राकृतो, अपभ्रंशोके रूपमे होते-होते आजकी भाषाओंमे विकसित हुआ। ब्राह्मणोके वाङ्मयको देखने से मालूम होता है कि केवल सस्कृत ही सर्वदा सर्वेसर्वा रही। उन्होने बीचकी लोक भाषाओके लोक या शिष्ट-साहित्यकी रक्षा नही की। अभी हाल तक संस्कृत-पंडित मंडली उन्हें "भाखा" कहकर तिरस्कृत करती थी। ब्राह्मण भाषा-कवियोने अपने समयमे प्राकृत और अपभ्रंशमें भो रामायण और महाभारतको भाषानिबद्ध किया होगा, तीर्थोंके एकादशी आदिके माहात्म्य बनाये होगे। पर उन्हें ब्राह्मण पुरोहितों और पंडितोने भाषाके साथ मर जाने दिया। क्यो? इसी-लिए कि वह सस्कृतके सामने किसीकी सत्ता नही स्वीकार करते थे। जैन और बौद्ध भी इसके बारेमे दूसरा ही भाव रखते थे। उनके लिए प्राकृत या अपभ्रंश सस्कृत से कम महत्त्व नही रखती थी। तीर्थंकर महावीर के उपदेशोंको वह पालि-काल (६००-१ ई० पू०) में लिपि-बद्ध नहो कर सके थे, जैसा कि बौद्धोंके प्राचीनतम सम्प्रदाय ने किया। प्राकृत-कालमे लिपिबद्ध होनेसे श्रमण महावीरकी वाणी प्राकृत रूपमे ही हमारे सामने मौजूद है। उसके अतिरिक्त और भी विषयो पर प्राकृतमे ग्रंथ और पुस्तिकायें, व्रतकथायें भी बनी। सबको सुरक्षित रखना संभव नही, पर कितनो को उन्होने सुरक्षित रक्खा।

जब सुबन्धु और दडी के समय अपभ्रंश भाषाका आरभ हुआ तो जन-साधारणके लिए उसमे ग्रंथ लिखे जाने लगे। बारहवी-तेरहवी सदीमे अपभ्रंशके समाप्त होनेपर उनका उपयोग साधारण जनताके लिए नहीं रह गया, तो भी जैन उपाश्रयो और भडारो से उनको बाहर नही फेंका गया। आज वह हमारे लिए बहुमुल्य निधि हैं, भाषा और तत्कालीन संस्कृतिके समझनेके लिए अनुपम साधन हैं। ऐसी निधि जिस सप्रदाय (जैन) ने सुरक्षित की, उसके महत्त्व से कैसे इन्कार किया जा सकता है। सस्कृतिमे साम्प्रदायिकता का स्थान नही है। वस्तुत संस्कृति ही क्षण-क्षण परिवर्तित, परिवर्द्धित होते हुए भी स्थायी और मूल्यवान् वस्तु है। वही हमे बाँधे हुए है। पर, अब भो हमारेमे से कितनोका दृष्टिकोण उदार नही है। तभी तो हमारे हिन्दी साहित्यके इतिहासकार सैकडो सुन्दर जैन काव्योमे से किसीका उल्लेख नही करते। हालमे बौद्धोके प्रति वह सकीर्णता बहुत हद तक दूर हुई है। अब चौरासी सिद्धो और उनकी कृतियोकी चर्चा हर एक हिन्दीके विद्वान्के मुख पर है।

राजस्थान और गुजरातके पुस्तक-सग्रहालयोंके अनुसधानने बतलाया है, कि वहाँकी साहित्यिक परंपरा आज तक अक्षुण्ण चली आई है और वह जैनोंके प्रयाससे ही। बुन्देलखडमे जैन बराबरके निवासी रहे, और अपनी जीविकाके कारण साक्षर होते रहे। अपभ्रंश से अक्षुण्ण सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कडी—बुदेली साहित्य—वहाँके जैन मदिरो और समाजमे जरूर मिलना चाहिए। महेन्द्रजीसे इसके बारेमे बात हुई थी। महेन्द्रजी इसके महत्त्वको भली-भाँति समझते थे। अपभ्रंशके साथ हमारी आजकी भाषाओमे बहुत कम अविच्छिन्न सम्बन्ध मिलता है। हिन्दी क्षेत्रमे राजस्थानीके बाद केवल मैथिली ऐसी है, जिसके यशस्वी कवि विद्यापति ने दोनोमे कविता की है। विस्तृत गवेषणा करनेपर जैन ग्रथो द्वारा बुन्देलीका भी ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाये, तो कोई अचरज नही।

जो अपभ्रंश आज साहित्यिक रूपमे प्राप्य है, वह अधिकतर कन्यदेशीया (कन्नौजिया) अपभ्रंश है।

प्राचीन उपनिषदो—बृहदारण्यक, छादोग्य की भाषा उस समयकी कौरवी भाषा थी, जिसे कौरवी संस्कृत कह लीजिये। उसकी प्राकृत और अपभ्रशका क्या रूप था, यह कहा नही जा सकता। आज हमारी हिन्दी उसीका साहित्यिक रूप है। इसका प्राचीनतम रूप कुछ रूपमे दक्खिनी-हिन्दीके गद्य-पद्यमे पंद्रहवी सदी तक जाता है। कौरवीका विशाल क्षेत्र बिजनौर से फीरोजपुर तक फैला हुआ है। वहाँ बडे गाँवो तकमे परम्परागत परिवार मिलने है, कस्बो तकमे जैन मदिर होते हैं, जिनमे कुछ न कुछ हस्तलिखित ग्रथ रहते है। उनका अभी अनुसधान नही हुआ है, उन्हे अगरचन्द नाहटा जैसे धुन पक्के पुरुष से वास्ता नही पडा। इस क्षेत्रमे कौरवी प्राचीन गद्य-पद्य जैन ग्रथोके रूपमे मिल सकते है।

जैन जीवित परम्पराके रूपमे हमारे पास कितनी समृद्ध सामग्री मौजूद है, इसे हम सकीर्ण साप्रदायिक दृष्टिसे नही देख सकते। आचार्य महेन्द्रके अभावका भी मूल्याकन वह दृष्टि नही होने देगी। हिन्दू शब्दका आजका प्रयोग भी इस सकीर्णताका एक कारण है। हिन्दू शब्द कभी एक धार्मिक सम्प्रदायके लिए हमारे यहाँ प्रयुक्त नही होता था। यह हमारे विशाल देशके लोगो और उनकी सस्कृतिके लिए प्रयुक्त होता था। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन सभी 'हिन्दू' कहे जाते थे। आज भी चीन या जापानमे भारतीय बौद्ध इन्दो (हिन्दू) है। रूसमे सभी भारतीयोको इन्दुस' कहा जाता है। यह सास्कृतिक एकता हमारे भेद-भावको मिटाने के लिए उद्यत है। श्रमण-ब्राह्मण परपरा हमारी सस्कृति की पूरक है।

महेन्द्रजी दिगबर जैन-कुलमे पैदा हुए थे, पर यह श्वेताबर-दिगंबरकी लीक पीटनेवाले नही थे; एक सच्चे विद्वानकी तरह नाना रूपोमे प्रवाहित हमारी कृतियो तथा सुकृतियोके साथ ममत्व रखते थे। कुछ ही दिनो पहले उन्होने श्रमण सस्कृतिपर एक विचारपूर्ण लेख लिखा था।

तिब्बतकी यात्राओ से लौटकर आते समय महेन्द्रजी से मेरा सपर्क स्थापित हुआ। मेरे सामने ही उनका स्पृहणीय विकास होता रहा, उनके सपने साकार रूप धारण करने गये। उसके साथ उनकी जिज्ञासा और योग्यताका कलेवर बढता गया। उनसे बहुत आशा थी। शरीर देखनेमे स्वस्थ मालूम होता था, इसलिए कभी मनमे कल्पना भी नही हुई थी कि ७०-८० से पहले वह अपने काम से उपराम लेगे। उस आयु तक पहुँचकर वह कितना काम करनेमे सफल होते। पर, मनचेती मनमे ही रह गयी। महेन्द्र बिना पूरी तरह खिले ही मुर्झा गये।

(सरस्वती इलाहाबाद १९५९ से साभार)

डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
का
बहुआयामी व्यक्तित्व एवं वैदुष्य

• प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन, आरा

श्रद्धेय पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका नाम व्यक्तिवाची नहीं बल्कि वह जैनन्याय-दर्शनका एक पर्यायवाची नाम बन गया है। १९वीं सदीके अन्तिम चरणसे ही जैन-न्यायके शास्त्रीय-विद्वानोंका अभाव खटकने लगा था। इस पूर्व यद्यपि तद्विषयक अनेक शास्त्रीय ग्रन्थोंका प्रणयन तो हो चुका था, किन्तु ऐसी रिक्तताका अनुभव भी किया जाने लगा था कि नवशास्त्र-लेखनकी बात तो दूर, उसके अध्येता एवं विश्लेषणकर्ता विद्वानोंका भी अभाव हो गया था। यह घोर चिन्ताका विषय तो था ही, जैन न्यायशास्त्रके प्रगति-पथ तथा उसके प्रचार-प्रसारका जबर्दस्त अवरोधक भी बन रहा था।

जब मुरैना एवं बनारसमें जैन महाविद्यालयोंकी स्थापना हुई, तो प० गोपालदासजी बरैया (सन् १८६६-१९१७) प्रभृति गुरुजनोंको बड़ी चिन्ता हुई कि जैन न्यायके क्षेत्रमें कोई भी उपाधिधारी प्रकाण्ड विद्वान् तैयार नहीं हो रहे हैं। कहते हैं कि एक बार जब वेदान्तशास्त्रके विश्लेषक विद्वानोंका अभाव होने लगा, तो दक्षिण भारतकी एक संवेदनशील महिला बड़ी ही दुःखी रहने लगी। उसने एक बार मन्दिरमें प्रार्थना करते हुए वेदान्तशास्त्रके उद्धारकके शीघ्र जन्म लेनेकी कामना की। तब वहीं आकाशवाणीमें किसी-ने उत्तरमें उससे कहा कि—"हे माता, जहाँ तुम जैसी संवेदनशील प्रबुद्ध माता पृथिवीमण्डलपर उपस्थित हो और वेदान्तशास्त्रके उद्धारकके लिए चिन्तित होकर मन्दिरमें उसके (उद्धारकके) अवतरण हेतु मंगल-प्रार्थना कर रही हो, तो अब तुम्हारी मंगल कामना अवश्य और शीघ्र ही पूर्ण होगी और उस उद्धारका जन्म केरलपुत्रकी पुण्यधरा पर होगा।" वह आकाशवाणी सत्य निकली। केरलमें शंकराचार्यका जन्म हुआ और वेदान्तशास्त्रके प्रकाण्ड चिन्तक, लेखक, विद्वान् एवं टीकाकारके रूपमें वे जगद्विख्यात हुए।

मुझे यह तो स्मरण नहीं आता कि किसी जैन माताने जैन नैयायिकके अभावकी पूर्ति हेतु किसी मन्दिरमें जाकर कोई प्रार्थना की हो। किन्तु सम्भवतः जिनवाणी-माता जैन-न्यायके ग्रन्थोंकी दुर्दशा देखकर अवश्य ही चिन्तित हुई होगी और जैन विद्याके सौभाग्यसे अगले ४ दशकोंमें चार सपूतोंने क्रमशः जन्म लिया—श्री प० गणेशप्रसादजी वर्णी, पं० माणिकचन्द्रजी, प० महेन्द्रकुमारजी एवं प० दरबारीलालजी कोठिया। ये चारों प्रथम श्रेणीके न्यायाचार्य रहे और उन्होंने अपने शोधपरक उच्च कार्योंसे अपनी उपाधियोंकी सार्थकता सिद्ध की।

सन् १९१४ ई० में एक जैनेतर युवक कुण्डलपुर (दमोह) में जैनधर्ममें दीक्षित हुआ। समर्पित-भावसे उसने जैनदर्शनका अध्ययन किया और न्याय-विषयके साथ वह प्रथम न्यायाचार्य बना। इसी व्यक्तित्व का नाम था स्वनामधन्य प० गणेशप्रसाद (सन् १८७४-१९५४), जो सप्तम प्रतिमाधारी बनकर प० गणेशप्रसादजी वर्णीके नामसे प्रसिद्ध हुए। तत्पश्चात् प० माणिकचन्द्रजी दूसरे न्यायाचार्य (सन् १८८६-१९७० ई०) हुए, और तीसरे क्रममें न्यायाचार्य थे हमारे पूज्यपाद प० महेन्द्रकुमारजी।

इनमेंसे वर्णीजी तो महान् व्रतधारी साधक सन्त महापुरुष बने। उन्होंने जैनधर्मका गहन अध्ययनकर आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारका गहन अध्ययन किया और उनके सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारनेका आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया।

श्रद्धेय पं० माणिकचन्द्रजीने जैनन्याय शास्त्रके अत्यन्त कठिन १८ सहस्र श्लोक प्रमाण आचार्य

विद्यानन्द कृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका अलंकार नामक हिन्दी-भाष्य लिखकर अपनी उत्कृष्ट प्रतिभाका परिचय दिया।

फिर भी, जैन न्यायशास्त्रके अनेक कठिन ग्रन्थ अभी तक अछूते ही पड़े थे। उनकी दुरूहता और जटिलताके कारण वे पठन-पाठनसे भी बाहर होते जा रहे थे। यह सौभाग्यभरा संयोग ही था कि पं० महेन्द्रकुमारजी अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्तकर, श्री० प० घनश्यामदासजी न्यायतीर्थके सम्पर्कमें आए और उनकी घनीभूत प्रेरणासे उन्होंने जैनन्यायशास्त्रके अध्ययनमें विशेष अभिरुचि जागृत की। उन्होंने नाभिनन्दन दि० जैन विद्यालय, बीना (मध्यप्रदेश) तथा सरसेठ हुकुमचन्द्र दि० जैन महाविद्यालय, इन्दौरमें पं० वंशीधरजी एवं पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थके पादमूलमें बैठकर उनसे जैनधर्म एवं न्यायग्रन्थोंका विशेष अध्ययन किया।

पण्डितजी प्रारम्भसे ही कठोर परिश्रमी, दृढ़-संकल्पी एवं जैन-न्यायके ग्रन्थोंके उद्धारके प्रति समर्पित भावनासे ओतप्रोत रहे। उन्होंने साधनाभावों एवं आर्थिक विपन्नतासे कभी भी हार नहीं मानी बल्कि उन्होंने अपने अध्यवसायसे अपनी आर्थिक दरिद्रताको वरदानमें बदलनेके साहसभरे प्रयत्न किए। प० नाथूराम प्रेमी, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पं० सुखलाल जी संघवी, महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पं० गणेशप्रसादजी वर्णी, डॉ० हीरालाल जैन आदिके सान्निध्यने उन्हें निरन्तर ही प्रेरित एवं उत्साहित रखा। यही कारण है कि विभिन्न विघ्न-बाधाओंके बीच भी उन्होंने अपनी साहित्य-साधनाको अक्षुण्ण बनाए रखा और एतद्युगीन नैयायिकों तथा दार्शनिकोंकी अपेक्षा उन्होंने गुण एवं परिमाण दोनों ही दृष्टियोंसे श्रेष्ठ कार्य किए। जैन न्यायशास्त्रके क्षेत्रमें उनके निम्न ऐतिहासिक शोध-कार्य अगली पीढ़ीको निरन्तर प्रेरित करते रहेंगे।

१—न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र) (१-२ भा०) पृ० ९४१	माणिकचन्द्र सीरीज, बम्बई (ग्रन्थांक ३८-३९)	१९३८, ४१
२—अकलंकग्रन्थत्रयम् (अकलंक) पृ० २८८	सिंघी जैन सीरीज, बम्बई (ग्रन्थांक १२)	१९३९
३—प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) पृ० ३२४	सिंघी जैन सीरीज, बम्बई (ग्रन्थांक ९)	१९३९
४—प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र) पृ० ९१०	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९४१
५—तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरसूरि) पृ० ६५५	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (ग्रन्थांक १३)	१९४९
६—न्यायविनिश्चयविवरणम् (अकलंक) पृ० १०१८	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (ग्रन्थांक ३, १३)	१९४९, ५४
७—तत्त्वार्थराजवार्तिक (अकलंक) पृ० ९५०	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (ग्रन्थांक १९-२०)	१९५७
८-सिद्धिविनिश्चय टीका (अकलंक) पृ० २१५	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (ग्रन्थांक २२-२३)	१९५९
९-जैनदर्शन (हिन्दी) पृ० ६८३	वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी (ग्रन्थांक २)	१९५५
१०—षड्दर्शन समुच्चय (हरिभद्र)	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	

इसके अतिरिक्त जैन न्याय-दर्शन तथा इतिहास एवं साहित्यपर कई योजनापूर्ण निबन्ध, कहानियाँ, कविताएँ भी लिखीं।

उनके द्वारा लिखित एवं सम्पादित साहित्यके वैशिष्ट्यका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

१—न्यायकुमुदचन्द्र

प्रस्तुत ग्रन्थ भट्टाकलंकदेव विरचित स्वविवृत्ति सहित लघीयस्त्रय नामक ग्रन्थपर आचार्य प्रभाचन्द्र कृत विस्तृत टीका है, जिसका प्रकाशन माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला, बम्बईसे क्रमशः सन् १९३८

एवं १९४१ में हुआ। प्रथम भागमें उसके सम्पादक पं० महेन्द्रकुमारजीने उपलब्ध मूल प्रतियों तथा अन्य साधन सामग्रियोंका परिचय देकर ग्रन्थ-विषयके महत्त्वपर प्रकाश डाला है। श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी द्वारा लिखित १२६ पृष्ठ प्रमाण प्रस्तावनामें अकलंक-साहित्यका परिचय विविध जैनेतर न्यायशास्त्रके विद्वानोंके साथ उनकी तुलना, जैन-न्यायकी विशेषताएँ, अकलंकके पूर्वकालीन, समकालीन एवं परवर्ती कुछ विद्वानोंका परिचय एवं प्रभाचन्द्रके कालनिर्धारणके विविध साक्ष्य, प्रभाचन्द्रकी कृतियों—प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्ति, शाकटायनन्यास, शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरमहान्यास), प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारटीका), कथाकोष, महापुराण-टिप्पण आदिका संक्षिप्त परिचय, प्रभाचन्द्रके कृतित्व एवं व्यक्तित्वपर विस्तृत प्रकाश तथा उनके बहुश्रुतत्व आदि विषयोंपर गम्भीर विवेचना की है। प्रस्तुत प्रथम खण्डमें दो परिच्छेद प्रस्तुत किए गये हैं, जिसमें कुल ४०२ पृष्ठ हैं।

द्वितीय खण्डमें अवशिष्ट मूलपाठ ५२७ पृष्ठोंमें उसके अतिरिक्त प्रस्तावना आदि ९२ पृष्ठोंमें प्रस्तुत है। अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना पं० महेन्द्रकुमारजी द्वारा लिखित है, जिसमें प्रभाचन्द्रका विविध साक्ष्योंके आधार पर काल-निर्णय, वैदिक विचारधारा यथा—वेद, उपनिषद्, स्मृति एवं पुराणोंसे प्रभाचन्द्रका परिचय, व्यास, पतंजलि, भर्तृहरि, व्यासभाष्यकार, ईश्वरकृष्ण, माठराचार्य, प्रशस्तपाद व्योमशिव, श्रीधर, वात्स्यायन, उद्योतकर, भट्टजयन्त, वाचस्पति मिश्र, शबरऋषि, कुमारिल, मंडनमिश्र, शालिकनाथ, शंकराचार्य, सुरेश्वर, भामह, बाणभट्ट, माघ बौद्धाचार्योंमें—अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित, कमलशील, अर्चट धर्मोत्तर, ज्ञानश्री, जयसिंहराशिभट्ट तथा जैनाचार्योंमें—कुन्दकुन्द, वट्टकेर, समन्तभद्र, पूज्यपाद, धनंजय, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, शाकटायन, अभयनन्दि, वादिराजसूरि, नेमिचन्द्र, देवसेन, श्रुतकीर्ति, सिद्धसेन, धर्मदासगणि, हरिभद्र, सिद्धर्षि, देवभद्र, मल्लिषेण, गुणरत्न, यशोविजय आदिका परिचय देते हुए प्रभाचन्द्रके साहित्यके साथ उनके पारस्परिक प्रभाव अथवा आदान-प्रदानकी चर्चा की गई है।

पण्डितजीने विविध साक्ष्योंके आधारपर प्रभाचन्द्रका समय सन् ९८० से १०६५ ई० के मध्य निर्धारित किया है। प्रभाचन्द्रके बहुआयामी व्यक्तित्वकी चर्चा करते हुए उन्हे आयुर्वेदका ज्ञाता भी बतलाया है।

न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनसे पण्डित महेन्द्रकुमारजीका एक शोधार्थीके रूपमें जीवन प्रारम्भ हुआ। इस कृति ने उनके प्रच्छन्न पाण्डित्यको मुखर किया तथा उस दृष्टिसे यह ग्रन्थ उनके लिए एक शुभ शकुनका सूचक सिद्ध हुआ। पारिवारिक जीवन में उन्हें उसके पुरस्कार स्वरूप एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम उन्होने शुभस्मृतिके प्रतीक स्वरूप "कुमुदचन्द्र" रखा। किन्तु दुर्भाग्यसे वह उनका साथ अधिक समय तक न दे सका और बीचमें ही चल बसा। उस समय पण्डितजी कितने व्यथित हुए होंगे, इसका आभास उनके इस कथनमें मिल सकता है—"मैंने न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादन-कालमें जात अपने ज्येष्ठ पुत्रका नाम स्मृति-स्वरूप "कुमुदचन्द्र" रखा था। कालकी गति विचित्र है। अब तो यह सम्पादित ग्रन्थ ही उसका पुण्य-स्मारक हो गया है। मैं तो इसे अपने साहित्य-यज्ञकी आहुति ही मानता हूँ।"

पं० महेन्द्रकुमारजी के शास्त्रीय पद्धतिसे लिखित प्राचीन जैन न्यायके मूल ग्रन्थोंकी सम्पादन-कलाके विषयमें पं० नाथूरामजी "प्रेमी" ने (माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित "न्यायकुमुदचन्द्र" (द्वितीय भाग) के अपने प्रकाशकीय निवेदनमें) कहा है कि—"पूर्वार्धके समान इस उत्तरार्धका भी सर्वांग-सुन्दर पद्धतिसे सम्पादन और संशोधन किया गया है पण्डितजीका यह परिश्रम और अध्यवसाय दूसरे विद्वानोंके लिए ग्रन्थ-सम्पादनके कार्यमें मार्गदर्शकका काम देगा।"

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवीने इस ग्रन्थके प्राक्कथनमें भारतीय दर्शनके अध्येताओंका ध्यान ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययनकी ओर आकर्षित करते हुए कहा है—"न्यायकुमुदचन्द्र" के सम्पादक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने मूलग्रन्थके नीचे एक-एक छोटे बडे मुद्दे पर जो बहुश्रुतत्वपूर्ण टिप्पण दिये हैं और "प्रस्तावनामें जो अनेक सम्प्रदायोके आचार्योंके ग्रामंम एक दूसरेसे लेन-देनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी सार्थकता उपर्युक्त दृष्टिसे अध्ययन करने-करानेमे ही है। सारे "न्यायकुमुदचन्द्र" के टिप्पण तथा "प्रस्तावका मर्मीश अगर कार्यसाधक है तो सर्वप्रथम अध्यापकके लिए, चाहे वह जैन हो या जैनेतर, सच्चा जिज्ञासु इसमेसे बहुत कुछ पा सकता है। अध्यापकोकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अवलोकन-प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, तो फिर यह सुवास विद्यार्थियों तथा अपढ़ अनुयायियोंमे भी अपने-आप फैलने लगती है। इसी भावी लाभ को, निश्चित आशासे देखा जाय, तो मुझे यह कहनेमें लेशमात्र भी सकोच नही होता कि सम्पादकका टिप्पण तथा प्रस्तावना-विषयक श्रम, दार्शनिक अध्ययन-क्षेत्रमे साम्प्रदायिकताकी सकुचित मनोवृत्ति दूर करनेमे बहुत कारगर सिद्ध होगा।"

२–अकलंकग्रंथत्रयम्

प्रस्तुत ग्रन्थमें ज्योतिर्धर आचार्य भट्ट अकलक कृत तीन ग्रन्थोका एक साथ संग्रह किया गया है—लघीयस्त्रयम्, न्यायविनिश्चय एवं प्रमाणसंग्रह। जैनतर्कशास्त्रके क्षेत्रमे अकलकको जैन सिद्धातो तथा पदार्थोंकी प्रमाणपरिष्कृत व्याख्या और तर्कसम्मत प्रतिष्ठाको प्रदान करानेमे प्रमुख स्थान प्राप्त है। मुनि जिनविजयजीके शब्दोमे 'स्वामी समन्तभद्र तथा सिद्धसेन दिवाकर, जहाँ जैन तर्क शास्त्रके क्षेत्रमे आविष्कारक कोटिमें आते है, वही भट्ट अकलंक उस क्षेत्रमें समुच्चायक एवं प्रसारक कोटिमे आते हैं।" इस प्रकार अकलंक समन्तभद्रके उपज्ञ सिद्धान्तोंके उपस्थापक, समर्थक, विवेचक एव प्रसारक माने गये हैं। समन्तभद्रने जिन मूलभूत तात्त्विक विचारो और तर्क-सवादोंका उद्बोधन अथवा आविर्भाव किया उन्हींका अकलंकने अनेक प्रकारसे उपबृहण विश्लेषण, सचयन, समुपस्थापन, संकलन एव प्रसारण किया।"[1]

जैसा कि पूर्वमें लिखा गया है, प्रस्तुत ग्रथमे अकलंकके पूर्वोक्त तीन ग्रथोका सकलन एव सम्पादन किया गया है।

पण्डितजीने अपनी पाण्डित्यपूर्ण प्रस्तावनामे उपर्युक्त ग्रन्थोका मूल्याकन करते हुए ग्रन्थकारके व्यक्तित्वपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है।

३–प्रमाणमीमांसा

आचार्य हेमचन्द्र (१२वी सदी) कृत उक्त प्रमाणमीमासाका प्रकाशन सिंघी जैन सीरीज (ग्रन्थाक ९) (अहमदाबाद, कलकत्ता) से सन् १९३९ मे हुआ। इसके मुख्य सम्पादक प० सुखलालजी संघवी तथा उनके सहायक-सम्पादकके रूपमे प० महेन्द्रकुमारजी तथा प० दलसुखभाई मालवणिया थे। इसमे पण्डितजीने ग्रंथगत अवतरणोंके मूल स्थानोके खोजने तथा उनकी तुलना और भाषा-टिप्पणके लिखनेमे उपयोगी स्थलोको जैन एव जैनेतर ग्रन्थोसे सग्रह करनेका विशेष कार्य किया। मूलपाठके साथ-साथ प्रस्तुत ग्रन्थ भूमिका, विषय-निरूपण, भाषा-टिप्पण अनुक्रमणी आदिके साथ कुल लगभग ३२४ पृष्ठोमे विस्तृत है।

४–प्रमेयकमलमार्तण्ड

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत टीका-ग्रंथ है, जिसका प्रकाशन सन् १९४१ मे निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे हुआ। इसके पूर्व भी ग्रन्थका प्रकाशन हुआ था, किन्तु

१. प्रमाणमीमांसा, सिंघी सीरीज, प्रास्ताविक पृ० १

बहु त्रुटिपूर्ण था तथा उसमे संशोधनकी आवश्यकताका अनुभवकर पं० कुन्दनलालजी, पं० सुखलालजी संघवी, पं० वंशीधरजी, शोलापुर तथा पं० नाथूरामजी प्रेमीके विशेष अनुरोधपर पं० महेन्द्रकुमारजीने इसके सम्पादनका भार स्वीकार किया।

पं० महेन्द्रकुमारजीके अनुसार उन्होने प्रस्तुत संस्करणमें निम्नलिखित सुधार किए—(१) सूत्र-योजना अर्थात् परीक्षामुखके सूत्रोका, जिनपर कि उक्त ग्रन्थमे टीका लिखी गई और इसी कारण उसका अपरनाम परीक्षामुखालंकार भी है, उसमे सूत्रोंका यथास्थान विनिवेश किया गया है, जिससे प्रत्येक सूत्रकी व्याख्याका पृथक्करण हो जाय। सुविधाके लिए सूत्रांक भी उक्त ग्रन्थके प्रत्येक पृष्ठपर दिए गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—(२) पाठ-संशोधन (३) अवतरण-निर्देश (४) विस्तृत-विषय-सूची (५) पाठान्तर (६) परिशिष्ट एवं (७) परीक्षामुख-प्रस्तावना।

अपनी ५८ पृष्ठोंकी पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनामे पण्डितजीने सूत्रकार माणिक्यनन्दि तथा टीकाकार प्रभाचन्द्रके कृतित्व एवं व्यक्तित्वपर प्रकाश डालते हुए आचार्य प्रभाचन्द्रकी जैन एव जैनेतर आचार्योंसे तुलना करते हुए उनकी (प्रभाचन्द्रकी) अन्य उपलब्ध कृतियोका सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

इसका विषयानुक्रम इतने विशद रूपमे (७२ पृष्ठोमे) तैयार किया गया है कि मूल-ग्रन्थके हिन्दी-अनुवादके अभावमे भी अध्येता स्वेच्छित आवश्यक प्रकरण अथवा विषयकी खोज सरलतापूर्वक कर सकता है।

मूल विषय ६ परिच्छेदोंमें विभक्त है। मूल पाठ ६९४ पृष्ठोमे तथा अन्तमे आठ परिशिष्ट। मेसे प्रथम परिशिष्टमें परीक्षामुख सूत्र-पाठ तथा द्वितीय परिशिष्टमे प्रमेयकमलमार्तण्डमे उपलब्ध जैन एव जैनेतर अवतरणोंको अकारादिक्रमसे प्रस्तुत किया गया है, जो आगामी शोध-कार्योंके लिए मार्गदर्शक है।

५—तत्त्वार्थवृत्ति

आचार्य गृद्धपिच्छ द्वारा विरचित; ज्ञान-विज्ञानके लिए विश्वकोषके समान माने जानेवाले तत्त्वार्थ-सूत्रपर अनेक ग्रन्थोके लेखक तथा टीकाकार आचार्य श्रुतसागरसूरि (१६वी सदी) द्वारा १० अध्यायोमें विभक्त उक्त ग्रन्थका सर्वप्रथम सम्पादन अत्याधुनिक दृष्टिसे अनेक प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंके आधारपर पं० महेन्द्रकुमारजीने किया है, जिसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा मार्च १९४९ में किया गया। अत पूर्व इस ग्रन्थका सस्करण अशुद्धि पुंजके रूपमें घोषित था। प्रस्तुत नवीन संस्करणमें मूलग्रन्थका भावानुवाद प्रस्तुत कर उसके गुण-दोषोकी चर्चा विस्तृत प्रस्तावनामें की गई है।

पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके अनुसार मूल टीकाकारने पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिके आधारपर उक्त टीका लिखी है। उनके अनुसार तत्त्वार्थवृत्तिका अन्त परीक्षण करने पर प्रस्तुत टीका-ग्रन्थमे अनेक सिद्धान्त-विरुद्ध तथ्य दृष्टिगोचर हुए हैं। प० महेन्द्रकुमारजी स्वयं भी उनसे सहमत रहे तथा उनकी चर्चा उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें की है।

ग्रंथकी १०१ पृष्ठोकी तुलनात्मक एव समीक्षात्मक प्रस्तावनामें स्याद्वाद, सप्तभगी, नय, तत्त्व आदि प्रकरणोका नवीन दृष्टि तथा आधुनिक शैलीसे व्याख्या प्रस्तुत को गई है, जो एक ओर तो विचारोत्तेजक तथा नवीन सामग्री प्रस्तुत करती हैं और दूसरी ओर सर्वगामी मिथ्यात्व पर परिणामकारी प्रहार भी करती है।

प्रस्तुत कृतिमे सर्वप्रथम भगवान् महावीरके समकालीन छह अन्य तीर्थंकरोके विचारोंकी समीक्षा की

गई है, जो बौद्ध और जैनागमोंके आधारसे लिखित है। इससे पाठकोंको यह समझ पानेमें सुविधा मिलती है कि महावीर-कालमें किस प्रकार वेदबाह्य विचारधाराएँ प्रवाहित थी। इसके अतिरिक्त यह जानकारी भी मिलती है कि उनका जैन तत्त्वज्ञानके साथ किस प्रकारसे समन्वय किया गया।

इसके आगे जैन तत्त्वज्ञानके विविध अंगोकी चर्चा करते हुए सम्यग्दर्शनके विषयमे जो कुछ भी लिखा है, वह पाठकोका ध्यान अपनी ओर सहज ही आकर्षित कर लेता है। पंडितजी ने धर्म और कर्म जैसे महत्त्व-पूर्ण विषयो पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। आज का मनुष्य-समाज तो परिभाषाओंसे जकड़ा हुआ है। वह उनके भीतर छिपे हुए तत्त्वज्ञानके रहस्यो की ओर रचमात्र भी ध्यान नही देता और प्रकारान्तरसे मिथ्यात्व का ही पोषण करता रहता है। पण्डितजीने सम्यग्दर्शन आदि विविध प्रकरण लिखकर उसी मिथ्यात्वके भ्रामक जाल को दूर करने का प्रयत्न किया है।

स्याद्वाद की चर्चा करते हुए पं० महेन्द्रकुमारजीने विभिन्न वैचारिक भ्रमों का जो सयुक्तिक निराकरण किया है, वह प्रशसनीय है। वस्तुत स्थिति यह रही है, कि जैनेतर विद्वानोंने जैन तत्त्वज्ञान का तलस्पर्शी अध्ययन किए बिना ही युगो-युगोसे उस पर विविध भ्रमात्मक आक्षेप किए हैं। यहाँ तक कि स्वामी शकराचार्य भी उस दोषमे मुक्त न रह सके। अत यह आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है कि जैन न्याय-शास्त्रके अध्येता विद्वान् आगे आवें और पण्डितजीके समान ही निर्भीकतापूर्वक चले आ रहे भ्रमात्मक तथ्यों को दूर कर सिद्धान्तों की यथार्थतासे सभी को परिचित करावे।

यह तथ्य ध्यानमे रखने की महती आवश्यकता है कि जैनदर्शन यथार्थ की परिधि का उल्लंघन न कर चिन्तक को उसी परिधि तक सीमित रखता है। कल्पना की उड़ानो का उसमे कोई स्थान नही। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, महापण्डित राहुल साकृत्यायन, पं० बलदेव उपाध्याय, डॉ० दत्ता, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० देवराज, डॉ० हनुमन्तराव आदि की दार्शनिक समीक्षाएँ भी अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी न्यायके सिद्धान्तो की गहराई तक पहुँच पानेमे असमर्थ रही हैं।

६-न्यायविनिश्चयविवरण (प्रथम भाग)

सुप्रसिद्ध वाग्मी एव तार्किकके रूपमे प्रतिष्ठित आचार्य अकलक (सन् ७२०–७८० ई०) कृत ४८०३ कारिका प्रमाण ''न्यायविनिश्चय'' नामक सम्पूर्ण ग्रन्थ पर षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति तथा जगदेक-मल्लवादी आदि उपाधियोके धारी, शाब्दिक, तार्किक तथा महाकविके रूपमे सुप्रसिद्ध वादिराजसूरि (रचनाकाल सन् १०२५ ई०) द्वारा लिखित विस्तृत टीका ही उक्त न्यायविनिश्चयविवरणके नामसे प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन दो भागोमे काशी स्थित भारतीय ज्ञानपीठसे फरवरी १९४९ ई० मे हुआ। प्रथम खण्ड प्रत्यक्षप्रस्तावनात्मक है, जिसमे ६४ पृष्ठों की विस्तृत भूमिकामे ग्रन्थ एव ग्रन्थकारसे सम्बन्ध रखने वाली सामग्री तथा आगत सन्दर्भों पर गहराईके साथ विचार किया गया है। उसमे कुछ प्रमेयो पर भी नवीन दृष्टिसे विचार किया गया है। साथ ही स्याद्वाद एव सप्तभगीके विषयमे युगो-युगोसे प्रचलित भ्रामक धारणाओं की भी समीक्षा इसमे भी की गई है।

उसके प्रथम खण्डमे प्रत्यक्ष का लक्षण, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का लक्षण, प्रमाणसम्प्लवसूचन, चक्षुरादि बुद्धियो का व्यवसायात्मकत्व, विकल्पके अभिलापवत्व आदि लक्षणो का खण्डन, ज्ञान को परोक्ष मानने का निराकरण, ज्ञानके स्वसंवेदन की सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, सवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप-बहिरर्थ का निराकरण, अवयवोसे भिन्न अवयवी का खण्डन, द्रव्य का लक्षण, गुण और पर्याय का स्वरूप,

सामान्य का स्वरूप, अर्थके उत्पादादित्रयात्मकत्व का समर्थन, अपोहरूप सामान्य का निरास, व्यक्ति से भिन्न सामान्य का खण्डन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन, बौद्धकल्पित स्वसवेदन–योगि–मानस–प्रत्यक्षनिरास, सांख्यकल्पित प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन, नैयायिक के प्रत्यक्ष का समालोचन, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का लक्षण आदि विषयो का विवेचन किया गया हैं। इस प्रकार इस भागमे प्रत्यक्ष प्रमाण का सागोपाग वर्णन किया गया है।

७–न्यायविनिश्चयविवरण (द्वितीय भाग)

प्रस्तुत भाग का प्रकाशन भी काशी स्थित भारतीय ज्ञानपीठसे सितम्बर १९५४ ई० मे किया गया। इस खण्डमे अनुमान-प्रवचन-प्रस्तावो का विस्तृत विवेचन किया गया है।

इस खण्डमे ४० पृष्ठों की तुलनात्मक एव समीक्षात्मक प्रस्तावना, भट्टाकलंक द्वारा विरचित न्यायविनिश्चय की संशोधित कारिकाएँ तथा उनकी क्रम सख्या का निर्धारण (प्रथम प्रत्यक्ष प्रस्ताव से सम्बन्धित १६८½ कारिकाएँ, द्वितीय-अनुमानके प्रस्तावसे सम्बन्धित २१७½ कारिकाएँ तथा तृतीय प्रवचन प्रस्तावसे सम्बन्धित ९५½ कारिकाएँ), २५ पृष्ठो तथा मूल भाग आदिके कुल मिलाकर ४५७ पृष्ठोमें विस्तृत यह भाग विशेष महत्वपूर्ण है। क्योकि जैनन्याय-दर्शन की उत्पत्ति तथा इतर दार्शनिक विचारधाराओसे उसके वैशिष्ट्य का निदर्शन प्रस्तावनामे विशेष रूपसे किया गया है।

इस संस्करण की विद्वत्जगत् मे मुक्तकण्ठसे प्रशसा की गई। डॉ० हीरालाल जैनने लिखा है कि—"भारतीय न्याय-साहित्यमे अकलकके ग्रन्थो का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके अब तक जिन ग्रन्थो का पता चला है, उनमे निम्नलिखित ग्रन्थ पूर्णतया न्याय-विषय के है––(१) लघीयस्त्रय, (२) प्रमाणसंग्रह, (३) न्यायविनिश्चय एवं (४) सिद्धिविनिश्चय। इन सभी ग्रन्थो का आधुनिक ढग से प० महेन्द्रकुमारजीने सम्पादन किया है। इनके सम्पादनमे उन्होने जितना श्रम किया है तथा अभिरुचिपूर्वक विद्वत्ताका परिचय दिया है।"

भारतीय दर्शनशास्त्रके धुरीण विद्वान् डॉ० सातकरी मुखर्जीने उक्त ग्रन्थके अपने फोरवर्डमे इसके सम्पादन-कार्यकी भूरि-भूरि प्रशसा की है।

इस विषयमे पं० दलसुरा भाई मालवणियाके ये विचार भी पठनीय हैं—उनके अनुसार जैन दार्शनिक साहित्य की ही नही, किन्तु भारतीय दार्शनिक साहित्य की दृष्टिमे आचार्य अकलक की कृतियो की विवेचना आवश्यक है। तथा इनकी कृतियोका प० महेन्द्रकुमारजीके सम्पादन-कार्यकी भी इन्होने बहुत प्रशसा की है।

धर्मकीर्तिके मन्तव्यो का खण्डन व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पति, शालिकनाथ आदिने किया है और विज्ञानवादके विरुद्ध वास्तववाद को पुन' प्रस्थापित करने का प्रयत्न भी किया है किन्तु आचार्य अकलंकने वास्तववाद को सिद्ध करनेके लिए धर्मकीर्ति का जो खण्डन किया है, वह पूर्वोक्त सभी आचार्योंसे अधिक मार्मिक और तर्कपूर्ण होनेके साथ ही दूसरोकी तरह पूर्वपक्ष की कुछ ही दलीलो तक सीमित न रहकर धर्मकीर्तिके समयके दर्शन को व्याप्त कर लेता है। इस दृष्टिमे कहना होगा कि भारतीय दार्शनिकोंमे धर्म-कीर्ति का समर्थ प्रतिस्पर्धी यदि कोई है, तो वह अकलकदेव ही हैं। अतएव भारतीय दर्शनके क्रमिक-विकास में धर्मकीर्तिके समान अकलक भी युग-विधाता हैं। इस दृष्टिसे अकलकके ग्रन्थो का विशेष महत्त्व है और उनका अत्याधुनिक शैलीसे प्रकाशन वाछनीय है।

धर्मकीर्तिके टीकाकारोमे प्रज्ञाकरका अद्वितीय स्थान है। न्याविनिश्चयके विवरणमे वादिराजने

उसी को मुख्य रूपसे अपने तर्कबाणों का लक्ष्य बनाया है। प्रज्ञाकरकृत। प्रमाणवार्तिक भाष्य प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशन तक अप्रकाशित था किन्तु प० महेन्द्रकुमारने अपने सम्पादनमे उसकी पण्डित राहुल सांकृत्यायन प्रदत्त तिब्बतीय हस्तलिखित प्रति का पूरा उपयोग किया है और प्रमाणवार्तिकके भाष्यके सम्पादन का मार्ग और भी प्रशस्त कर दिया है।

पंडितजीने प्रस्तुत ग्रन्थके प्रारम्भमें लम्बी प्रस्तावना लिखी है। उसमें दर्शनकी व्याख्या करते हुए ज्ञान और दर्शनकी जो विवेचना की है, वह विद्वानोके लिए पठनीय है। विषय-परिचयमे पण्डितजीने ग्रन्थ-प्रतिपाद्य विषयोका संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित तुलनात्मक विवेचन किया है। उसमे श्री राहुलजी द्वारा समर्थित प्रतीत्यसमुत्पादवादकी भी परीक्षा की गई है।

८–तत्त्वार्थवार्तिक

आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र का जैन-साहित्यमे वही स्थान है, जो हिन्दुओमें गीता, बौद्धोमे धम्मपद, इस्लाममे कुरान, क्रिश्चियनमे बाइबिल तथा पारसियोमे जैन्दावेस्ताका है। जैनधर्मका सम्पूर्ण-सार उसमे समाहित है।

इसका महत्त्व इसीसे समझा जा सकता है कि यह ग्रन्थ कुछ परिवर्तनोके साथ दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायोमे समान रूपसे मान्य है।

ग्रन्थकी गरिमाको देखते हुए उस पर विभिन्न कालोमे युगानुरूप विस्तृत टीकाएँ एव भाष्य लिखे गए, जिनमे सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालकार तथा तत्त्वार्थवार्तिक आदि प्रमुख है।

तत्त्वार्थवार्तिकका प्रकाशन जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ताकी ओरसे यद्यपि बहुत पहले ही हो चुका था। इसको दो हिन्दी टीकाएँ भी उपलब्ध होती हैं। एक टीका प० पन्नालालजी दूनीवालोकी है और दूसरी पण्डित मक्खनलालजी न्यायालकार की। वह भी मुद्रित हो चुकी है। फिर भी इसका आधुनिक शैलीसे सम्पादित होकर उसका प्रकाशन अत्यावश्यक था। इसीके फलस्वरूप भारतीय ज्ञानपीठने सन् १९५७ मे इसका प्रकाशन दो खण्डोमे किया।

उक्त दोनो खण्डोमे कुल मिलाकर लगभग ९०० पृष्ठ हैं। प्रथम भागमे प्रथम चार अध्यायके साथ अन्तमे उनका हिन्दी साराश तथा द्वितीय भागमे अन्तिम छह तथा उनका हिन्दी साराश ग्रथित है।

वर्तमानमे उक्त ग्रन्थ "तत्त्वार्थराजवार्तिक" के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध है। जबकि इसका पूरा नाम तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य अथवा तत्त्वार्थवार्तिकालकार है। क्योकि उसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमे इसका उक्त नामसे उल्लेख किया गया है और संक्षिप्त नाम तत्त्वार्थवार्तिक कहा गया है। इस नामका उल्लेख वार्तिक-कारने आद्य मगल श्लोकमे भी किया है।

जैसा कि पूर्वमे कहा जा चुका है, इसके कई शताब्दियो पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थ-वृत्ति) नामक प्रसिद्ध टीका लिखी जा चुकी थी। उक्त तत्त्वार्थवार्तिक इस टीकाको भी सामने रखकर लिखा गया है। वार्तिककारने सर्वार्थसिद्धिके वाक्योको कही वार्तिक रूपसे और कही टीकाका अंग बनाकर अपनी विशद् व्याख्याएँ लिखी है।

यह बहुत ही स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने तत्त्वार्थभाष्य और उसमें स्वीकृत सूत्रपाठ भी उपस्थित था। तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके कारता पर प्रकाश डालनेवाली एक सर्वार्थसिद्धि-मान्य और दूसरी तत्त्वार्थभाष्यमान्य ये दो परम्पराएँ उपलब्ध होती है। भट्ट अकलकदेवने अपनी उत्थानिकामे इन दोनोंको

समानरूपसे स्थान दिया है। साथ ही उन्होंने अनेक सूत्रोंकी व्याख्या करते समय तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठका भी उल्लेख किया है और इस तरह उन्होंने तत्त्वार्थवार्तिकके रचनाकालके पूर्व तक तत्त्वार्थसूत्र पर जो कुछ लिखा जा चुका था, उसको भी आत्मसात् करते हुए इसे सर्वांगपूर्ण बनाया है।

डॉ० हीरालाल जैनके शब्दोंमें "प्रस्तुत ग्रन्थकी शैली न्याय-प्रचुर है—अधिकांश अतिप्रसन्न और कहीं-कहीं जटिल। इसके रचयिताने अपनेसे पूर्वकी सिद्धान्त और न्याय सम्बन्धी सामग्री तथा परम्पराका अच्छा उपयोग किया है और उनसे पीछेके रचयिताओं पर इस रचनाका गम्भीर प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार जैन संस्कृतिकी अपार काल-परम्पराके बीच यह ग्रन्थ दोनों ओर अपनी भुजाओंका प्रसार किए हुए सुमेरुके समान अचल खड़ा है।"

९–सिद्धिविनिश्चय टीका

आचार्य अकलंक द्वारा प्रणीत सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी स्ववृत्ति पर आचार्य अनन्तवीर्य द्वारा लिखित टीकाका नाम "सिद्धिविनिश्चय टीका है" जो जैन-न्याय तथा तर्कशास्त्रका उच्चकोटिका ग्रन्थ है।

सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी लेखकीय वृत्तिकी मूल प्रति लुप्त और विस्मृत हो चुकी थी। किन्तु सयोगसे आचार्य अनन्तवीर्य कृत उक्त ग्रंथको टीका पर लिखित व्याख्यामूलक टीका उपलब्ध हुई। अर्थात् यह माना जाय कि सिद्धिविनिश्चयकी टीका पर अन्य दूसरे आचार्य द्वारा लिखित एक टीका-ग्रन्थ मिला, जिसके आधार पर सिद्धिविनिश्चयके मूलभागका ग्रन्थन करना जितना दुरूह कार्य था, उसे उसी मार्गका निष्ठावान पथिक विद्वान् ही अनुभव कर सकता है। किन्तु धन्य है पं० महेन्द्रकुमारजीका बहुआयामी पाण्डित्य, असीम धैर्य एवं कुशल-प्रतिभा, जिसके कारण उन्होंने असम्भवको भी सम्भव बनाकर पाण्डुलिपियोंके उद्धार, सम्पादन एवं समीक्षाके क्षेत्रमें एक नया प्रतिमान स्थापित कर दिया।

सिद्धिविनिश्चयटीकाके प्रकाशनसे विद्वज्जगत्‌में मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की गई। जर्मनीके प्राच्यविद्याविद् प्रो० (डॉ०) आल्सडोर्फ, महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराय, डॉ० सम्पूर्णानन्द, प्रो० (डॉ०) हीरालाल जैन, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत-विभागाध्यक्ष डॉ० सूर्यकान्त आदिने पण्डित महेन्द्रकुमारजीके उक्त श्रमसाध्य शोधकार्यके लिए अनेक बधाइयाँ भेजीं। योगी सम्राट् महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथजी कविराजने उसके प्राक्कथनमें उक्त ग्रन्थको भारतीय न्यायशास्त्रकी उत्कृष्ट कृति बतलाते हुए तथा न्यायाचार्यजीकी विलक्षण प्रतिभाकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए कहा—"पं० महेन्द्रकुमारजीने प्रमुख जैन तार्किक आचार्य अकलंकके लुप्त ग्रन्थ 'सिद्धिविनिश्चय' और उसकी स्ववृत्तिका उद्धार तथा आचार्य अनन्तवीर्यकी टीकाके साथ उसका समालोचनात्मक सम्पादन करके न केवल जैन-दर्शनकी महती सेवा की है, अपितु, मध्यकालीन समग्र भारतीय दर्शनका भी बड़ा उपकार किया है। अकलंकदेवका मूल सिद्धिविनिश्चय एवं उसकी स्ववृत्ति अप्राप्य है, केवल उसकी परवर्ती टीकाकी एक दुर्लभ पाण्डुलिपिके आधार पर डॉ० जैनने इस अमूल्य ग्रन्थका उद्धार किया है, यत्र-तत्र अन्य साधनोंका भी उपयोग किया है। इस कार्यके सम्पादनमें जो महान् प्रयत्न एवं परिश्रम निहित है, उसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है।"

प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन काशी स्थित भारतीय ज्ञानपीठसे दो खण्डोंमें फरवरी १९५९में हुआ। प्रथम खण्डमें कुल मिलाकर २९० पृष्ठोंकी अंग्रेजी प्रस्तावना एवं उसका हिन्दी अनुवाद तथा अन्य ३७० पृष्ठोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाका सम्पादित मूलपाठ प्रस्तुत है जिससे जल्पसिद्धि पर्यन्त पाँच प्रस्ताव ग्रथित हैं।

इसके द्वितीय खण्डमें केवल मूलपाठके ४३८ पृष्ठ हैं, जिसमें अवशिष्ट-हेतु-लक्षणसिद्धि आदि ७ प्रस्ताव प्रस्तुत हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थके विषय-विवेचन, लुप्त-विलुप्त मूल ग्रन्थकी इतर साधनोंसे श्रमसाध्य खोज, उसका उद्धार एवं सम्पादन, उसकी विषयवस्तुका तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक गम्भीर अध्ययन आदिसे प्रभावित होकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके तत्कालीन संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० (डॉ०) सूर्यकान्तने उस पर उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान करने हेतु अनुशंसा करनेसे महापण्डित न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजीका गौरव तो बढ़ा ही, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्वयं भी गौरवान्वित हुआ था।

१०—जैन दर्शन

प्रस्तुत ग्रन्थ पं० महेन्द्रकुमारजीके मौलिक चिन्तनका प्रतिफल है, जिसमें जैनदर्शनके विविध पक्षों पर उन्होंने तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विस्तृत अध्ययन किया है। एकद्विषयक ग्रन्थोंमें सम्भवतः यह प्रथम ग्रन्थ है, जो विद्यार्थियों, शोधार्थियों तथा जिज्ञासु स्वाध्यायार्थियोंमें समान रूपसे लोकप्रिय है तथा भारतीय विश्वविद्यालयोंके विविध पाठ्यक्रमोंमें स्वीकृत है।

इसका प्रथम प्रकाशन सन् १९५५ में श्रीगणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशीसे हुआ।

इस ग्रन्थका मूल विषय १२ प्रकरणोंमें विभक्त तथा ६५१ पृष्ठोंमें विस्तृत है। इनमें क्रमशः पृष्ठ-भूमि एवं सामान्यावलोकन, विषय-प्रवेश, भारतीय दर्शनको जैनदर्शनकी देन, लोक-व्यवस्था, पदार्थ-स्वरूप, षट्द्रव्यविवेचन, सप्ततत्त्व-निरूपण, प्रमाणमीमांसा, नयविचार, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी, जैनदर्शन एवं विश्व-शान्ति तथा अन्तमें जैन दार्शनिक साहित्य प्रमुख हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थका प्राक्कथन डॉ० मंगलदेव शास्त्रीने लिखा है, जिन्होंने जैनदर्शनके भारतीय संस्कृतिके विकासमें महत्त्वपूर्ण योगदानकी चर्चा करते हुए उक्त ग्रन्थको राष्ट्रभाषा हिन्दीके गौरव ग्रन्थोंमें गणना की है।

एक सिद्धहस्त कहानीकारके रूपमें

पं० महेन्द्रकुमारजीका व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह केवल जटिल न्यायग्रन्थोंके सम्पादन-समीक्षा तक ही सीमित न था बल्कि एक सिद्धहस्त कहानीकार, निबन्धकार, पत्रकार एवं कविके रूपमें भी उन्होंने अपनी कुशल-प्रतिभाका परिचय दिया। कहानीकारका उनका रूप, उस समय प्रकाशमें आया जब उनकी सम्भवतः प्रथम कहानी "अमृतदर्शन" का अक्टूबर १९५० में प्रकाशन हुआ। यह कहानी पौराणिक है, जिसमें भरत-चक्रवर्त्ती मूल नायकके रूपमें चित्रित हैं। कहानीकारने इसमें उस घटनाका मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, जब भरत चक्रवर्त्ती एक प्रभावकारी चक्रवर्त्ती-सम्राट् होकर भी राज्यके सभी सुख-भोगों एवं ऐश्वर्य-विलासोंके प्रति अनासक्त थे। राज्य-वैभव और आत्मदर्शन परस्पर-विरोधी होने पर भरतके चरित्र-में वे दोनों ही विरोध-भावसे दूर थे। क्योंकि कहानीकारके ही शब्दोंमें—"वैराग्य और उदासीनता तो अन्तरकी परिणति है और विभूति तथा वैभव बाह्य-पदार्थ। मात्र दृष्टि-परिवर्तनसे ही उनका विरोधभाव दूर हो जाता है।"

उक्त कहानीमें सोमदत्त एवं यज्ञदत्त नामक दो पात्रोंके संवादोंके माध्यमसे कथाकारने उक्त सैद्धान्तिक-तत्त्वका विश्लेषण किया है। पात्र-चयन, कथा-गठन, संवाद-योजना तथा मुहावरेदार भाषाके प्रयोग आदिकी दृष्टिसे यह कथा उत्कृष्ट श्रेणी की है।

उनकी दूसरी कहानी "बहुरूपिया" है, जो जनवरी १९५१ में प्रकाशित हुई। यह कहानी ऐतिहासिक है। इसमें कथाकारने उत्तरमध्यकालीन महान् विचारक एवं निर्भीक व्यक्तित्व वाले महाकवि पं० ब्रह्मगुलालके जीवनसे सम्बन्धित कुछ घटनाओंका चित्रण किया है, जो बड़ी ही रोमांचक, मनोरंजक, प्रेरक एवं नवीन पीढ़ीके मनमें गौरवको जागृत करने वाली है।

यह ध्यातव्य है कि पं० ब्रह्मगुलाल चन्द्रवाडपट्टन राज्यान्तर्गत फीरोजाबादके निवासी थे तथा उनकी समाधि फीरोजाबाद स्थित दि० जैन कॉलेज प्रांगणमें आज भी प्रतिष्ठित एवं दर्शनीय है।

पं० ब्रह्मगुलाल स्थानीय राज-दरबारके एक सम्मानित सदस्य थे। उनकी कुशल-प्रतिभा, स्वाभाविक अभिनय एवं बढ़ती हुई लोकप्रियतासे अन्य सभासद ईर्ष्यासे धधकते रहते थे और अवसर पाकर वे राजाकी दृष्टिमें उन्हें गिराना चाहते थे।

ब्रह्मगुलाल बहुरुपियाका स्वांग भरनेमें बड़े निपुण थे। ईर्ष्यालुओंने उसीके माध्यमसे उन्हें क्षतिग्रस्त अथवा अपमानित करनेका विचार किया। एक दिन उन्होंने राजाको उकसाया। अवसर पाकर राजाने ब्रह्मगुलालको एक दिन गाय तथा अन्य दूसरे दिन शेरका स्वांग रच कर दरबारमें प्रदर्शन करनेके अनुरोध किये। तदनुसार ब्रह्मगुलालने भी बहुत ही सुन्दर एवं स्वाभाविक स्वांग रचकर दरबारमें सभीको प्रभावित कर दिया। राजा द्वारा ब्रह्मगुलालको पुरस्कृत देखकर ईर्ष्यालुओंके मनमें विद्वेषकी द्विगुणित भावना भड़क उठती है। अतः वे अन्तिम रूपमें प्रेरित कर दिगम्बर जैनका स्वांगका आग्रह कराते हैं। ब्रह्मगुलाल उस स्वांगके प्रदर्शित करनेमें भी वैसा उत्साह दिखाते हैं और ॐ नमः सिद्धेभ्य" कहकर वस्त्राभूषण त्यागकर पंचमुष्टि केशलोंच कर निर्ग्रन्थ मुनिपद धारण कर लेते हैं। राजा अभिनयसे प्रभावित होकर उन्हें श्रेष्ठतम पुरस्कार देना चाहता है किन्तु मुनि ब्रह्मगुलाल कहते है कि—"राजन्, श्रमणवेशका कोई भी पुरस्कार नहीं होता, क्योंकि वह तो स्वयमें ही एक श्रेष्ठतम पुरस्कार है। यह स्वयं साधन है, और साध्य, मंगल है और मंगलका कारण है। वह स्वयं एक धर्म है। राजन्, आपने मुझे मानव-जीवनके चरम पुरुषार्थकी साधनाके द्वार पर पहुँचा दिया, जो मेरे लिए बड़ा उपकारी सिद्ध हुआ है।

मुनि ब्रह्मगुलालका कथन सुनकर राजा अवाक् रह गया। वह क्षमाश्रमणके चरणों पर गिर पड़ा।

क्षमाश्रमण ब्रह्मगुलालने अभयमुद्रामें उसे "धर्मलाभ" कहा और वे स्वयं महामैत्रीके पुण्य कणोंको बिखेरते हुए तपोवनकी ओर चल पड़े।"

कथाशिल्पकी दृष्टिसे उक्त कहानी सफल एवं श्रेष्ठ है। इसी प्रकार पण्डित जीकी कहानियोंमें परावलम्बनसे हटाकर स्वावलम्बनकी सीख प्रदान करने वाली नियतिवादी सद्दालपुत्त तथा जटिलमुनि और कोशा-गणिका आदि भी हैं, जो कहानी कला तथा नैतिक मूल्योंके प्रचार-प्रसारकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

गम्भीर निबन्धकारके रूपमें

दार्शनिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं सर्वोदय विषयक चिन्तनपूर्ण निबन्धोंके लेखनके रूपमें भी पण्डितजीकी लेखनीने अपनी प्रौढ़ताका परिचय दिया है। उनके ऐसे गम्भीर निबन्धोंमेंसे अनेकान्त-दर्शनका सांस्कृतिक आधार (१९४९ ई०), सर्वोदयकी साधना (१९४९ ई०) विश्वशान्तिके मूल आधार (१९५० ई०), आध्यात्मिक-संस्कृति (१९५० ई०) 'स्यात्' एक प्रहरी (सन् १९५१) तथा अनेकान्तः स्वयं ही एक न्यायाधीश आदि प्रमुख हैं।

संस्कृत कविके रूपमें पण्डितजी

बहुत कम लोग जानते हैं कि पं० महेन्द्रकुमारजी संस्कृतमें कविता भी करते थे। भले ही वे कवि-मंचोंसे उनका प्रसारण नहीं करते थे किन्तु अपने ग्रंथ-सम्पादन-कालमें जब वे प्रसंग प्राप्त ग्रन्थका सम्पादनादि कार्य समाप्त करते थे, तब भावविभोर होकर वे अपने विद्या गुरुओंका स्मरण कर उन्हें आदराञ्जलि प्रदान करते थे। उनकी वही भावना संस्कृत-कविताके विविध छन्दोंमें स्फुरायमान हो उठती थी।

पण्डितजी अपने गुरुतुल्य श्रीमान् प० गणेशप्रसादजी वर्णी, गुरुवर प० जीवन्धरजी शास्त्री, इन्दौर एवं पं० वंशीधरजी शास्त्री, इन्दौर, ज्येष्ठभ्रातृके समान पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई तथा साहित्यरसिक सेठ मुसद्दीलालजीके प्रति वे सदैव विनयावनत रहते थे। अत इनके सहायता कार्योंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु उन्होने संस्कृतके विविध छन्दोमें कुछ श्लोकोंका प्रणयन किया था। यथा—

"श्रीजैनसिद्धान्तमहोदधिर्मे समग्रसिद्धान्तगुरुश्चकास्ति।
वंशीधरो जैनकुलावतंसो हसीयतो न्यायनये जनोऽयम्॥

स न्यायालंकारश्चंचत्स्याद्वादवारिधिर्धीमान्।
वाग्देवीनर्मज्ञो मर्मज्ञः कर्मकाण्डस्य॥

तस्याद्य वरिवस्यायामुपहारार्थया मया।
सम्पाद्य न्यायकुमुदोत्तरार्धनिदमर्प्यते॥

(न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भा०)

सम्पादक प्रशस्तिः

भजति सागरमण्डलमुद्धुरे सुकृतिभिः 'खुरई' विकसत्पुरे।
सुपरवार जवाहरलालतः समजनिष्टः 'महेन्द्रकुमारक'॥ १॥

कवीनाश्रितबीनाख्यनगरे धर्मदासतः।
नाभिनन्दनसद्विद्यालये संस्कृतशिक्षणम्॥ २॥

प्रारम्भिकमुपादाय विशेषाधिजिगीसया।
विद्वत्सुन्दरमिन्दूरविद्यालयमवाप्तवान्॥ ३॥

वंशीधरात् धर्ममधीत्य 'जीवन्धराच्च' तर्कं श्रमतः सतर्कम्।
स्याद्वादविद्यालयमेत्य तस्मिन्नश्रान्तमश्राम्यमहं चिराय॥ ४॥

न्यायमध्यापयन्नन्तेवासिनोऽपि निरन्तरम्।
अभूवमुत्तमश्रेण्या न्यायाचार्यस्ततः परम्॥ ५॥

गवेषणापूर्णधियेह टिप्पणीतिहाससम्यक्तुलना मया श्रमाम्।
विलिख्य तत्रानवधानदूषणं सुधीजनः शोधयितेत्युपेक्ष्यते॥ ६॥

रसरसयुगनेत्रे (वी० नि० २४६६) वीरनिर्वाणवर्षे,
प्रथमदलनवम्यां भौमवारान्वितायाम् ।
कृतिरियमगमन्मे पूर्णतां मासि भाद्रे,
गुरुचरणकृपौघेनान्तरेणान्तरायम् ॥ ७ ॥

(न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भाग के अन्त मे अंकित)

विभाति सद्वृत्तवपुर्गणेशप्रसादवर्णी गुरुरस्मदीय ।
प्रसादतो यस्य निरस्य विघ्न करोमि निघ्न सकलेप्सितार्थम् ॥

मंजुलजैनहितैषोत्याख्यं पत्र प्रचारयन् प्रथित ।
पूर्णगवेषणमभित सचितजैनेतिहासञ्च ॥

नाथुरामप्रेमी सन्ततमुत्साहयन्नतिप्रेम्णा ।
न्यायकुमुदसम्पादनलग्नं चेतो ममाकार्षीत् ॥

श्रीजैनवाणीप्रणयी मुसद्दीलाल स्वधर्मस्य निषेवकोऽसि ।
यस्यानुकम्पाभिरहं चिराय स्याद्वादविद्यालयमाश्रयामि ॥

तेनोदाहृतनाम्नां सतां त्रयाणा करारविन्देषु ।
अमलाकलंकशास्त्रत्रयं क्रमादर्प्यते मोदात् ॥

(अकलक ग्रन्थत्रयम् मे अंकित समर्पण पत्र)

निर्भीक पत्रकार के रूप में

पण्डितजी भारतीय ज्ञानपीठके स्थापनाकाल सन् १९४४ से ही उसके संस्थापक-व्यवस्थापक तथा मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सर्वप्रथम सम्मान्य नियामक एव सम्पादक थे। जुलाई १९४९ से उन्होने ज्ञानपीठ की शोध पत्रिकाके रूपमें 'ज्ञानोदय' मासिक का प्रकाशन किया, जिसके सम्पादकमण्डलमे उनके साथ-साथ मुनि कान्तिसागरजी तथा प० फूलचन्द्रजी सि० शा० थे। शोध-पत्रिका जगत्मे अल्पावधिमे भी इसने अपन उच्च स्थान बना लिया था। इसके सम्पादकीय लेख बडे ही विचारपूर्ण, निर्भीक, सामयिक समस्याओंके विश्लेषक, समीक्षक तथा सुझावपूर्ण होते थे। ऐसे सम्पादकीय वक्तव्योमे हरिजनोद्धार, वर्णभेद एवं वर्गभेद-समाप्ति, गाधीवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार, समत्वयोग, विश्वशान्ति, शिक्षामे आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता, नारी-जागरण, अर्थसकट एव विपन्नावस्था-ग्रस्त प्रतिभाशाली छात्रोके लिए छात्रवृत्ति प्रदान करने सम्बन्धी विषयो पर उनकी लेखनी प्रभावकारी ढगसे कार्य करती रही।

इस प्रकार प०/डॉ० महेन्द्रकुमारजीके बहुआयामी व्यक्तित्वके प्रति आज समस्त प्राच्य विद्या जगत् श्रद्धावनत है। इन्होने साहित्य साधना का जो प्रशस्त मार्ग दिखलाया, वह साहित्यिक इतिहासमे स्वर्णाक्षरो मे लिखा जायगा। पूजनीय व्यक्तियो की पूजासे ही समाज यशस्वी बनकर प्रगति कर सकता है। यह एक दुःखद प्रसंग है कि जैन विद्याके क्षेत्रमे आज जैन लोग नगण्य हैं, जैनेतर विद्वान् उत्साहवर्धक उच्चस्तरीय कार्य कर अपनी प्रगति कर रहे हैं। जैन समाजके नवयुवको को उनसे शिक्षा लेकर आगे आना चाहिए और पूज्य पंडितजीके मार्ग का अनुकरण करना चाहिए।

विद्वत्ताके लिए वस्तुत कठोर परिश्रम, उत्कट अभिलाषा, दृढ़ संकल्प और असीम धैर्य की आवश्यकता होती है, साथ ही उसे आवश्यक है सामाजिक-सम्मान, पुरस्कार एवं प्रेरक उत्साहवर्धन। यदि जैन समाज अपना भविष्य उज्ज्वल बनाना चाहता है, तो उसे जैन विद्याके साधकों को प्रतिष्ठा एवं सम्मान देना होगा। इस दिशामें उन्हें मध्यकालीन जैन समाज की जिनवाणी-भक्ति एवं विद्वज्जन-सेवासे सबक सीखना होगा। जैन-विद्या एव विद्वानोके प्रति उसे अपने मनमे श्रद्धाका गुण जागृत करना होगा।

विद्वानों की गहन साधना एवं उनके गुणों की उपेक्षा नही होना चाहिए। क्योंकि एक गुणका आदर हजार गुणों को उत्पन्न करता है। विद्वान् का आदर करनेसे समस्त गुणो का स्वतः ही आदर हो जाता है। इसीसे समाज का तथा उसकी भावी पीढ़ी का कल्याण हो सकता है।

अब समय आ गया है। पूज्य पंडितजीके शोध कार्योंका निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किए जाने की आवश्यकता है। इसके बिना न तो एक मूक साधक विद्वान्के समर्पित जीवनके प्रति सामाजिक न्याय होगा और न ही जैन विद्याके प्रति समाज की श्रद्धा-भक्ति की अभिव्यक्ति ही। भले ही पूज्य पंडित महेन्द्र-कुमारजीकी आर्थिक विपन्नता उनकी कुशल न्याय-प्रतिभा की अवरोधक नही बन सकी, किन्तु यह सत्य है कि जिस समाजके उत्थानके लिए वे जिए और मरे और अपनी अन्तिम आहुति भी दे डाली उस समाजने उनका साथ नही दिया, यहाँ तक कि उनकी मृत्युके बाद अल्पावधिमे उन्हें सर्वथा भुला दिया। जैन विद्या, विशेषतया जैन न्यायशास्त्र को उन्होने आलोक प्रदान किया किन्तु उन्हें आलोकमें लाने का किसीने प्रयत्न नही किया। वे अपनी साधनाके आलोकसे स्वयं आलोकित हुए। किन्तु हमें हर्ष है कि उनकी मृत्युके बाद इस स्मृतिग्रन्थके माध्यमसे उनका स्मरण किया जा रहा है।



पण्डित महेन्द्रकुमारजीकी मृत्यु पर 'जैन संदेश' का सम्पादकीय

• पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

हमने कभी स्वप्नमें भी यह कल्पना न की थी कि हमे अपने परम सुहृद और तीस वर्षके सहयोगी पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके स्वर्गवास पर उनकी स्मृतिमें अपनी हतभाग्य लेखनी चलानी पड़ेगी। यह हमसे आठ वर्ष छोटे थे और अभी उनकी उम्र केवल ४७ वर्ष की थी।

आजसे लगभग तीस वर्ष पूर्व वह श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशीमे न्यायाध्यापक होकर आये थे। और इस पद पर उन्हें प्रतिष्ठित कराने वाले थे अमृतसरके जिनवाणीभक्त लाला मुसद्दीलालजी। लालाजी बम्बई परीक्षालय का परीक्षाफल देखकर जो विद्यार्थी सबसे अधिक अंक प्राप्त करता था, उसे छात्रवृत्ति दिया करते थे। पं० महेन्द्रकुमारजी अपने विद्यार्थी जीवनसे ही बड़े प्रतिभावान थे। सदा उच्चश्रेणीमें उत्तीर्ण होते थे। लालाजी की दृष्टिमें वह चढ़ गये। उन्होने उन्हें छात्रवृत्ति दी। और जब वह शिक्षा समाप्त करके खुरई की जैनपाठशालामे अध्यापकी करने लगे तो लालाजीने स्याद्वाद महाविद्यालयके अधिकारियों पर जोर डालकर उन्हे जैनन्याय का अध्यापक बनवाया और कुछ समय तक ३०) मासिक वेतन अपनी ओरसे दिया।

लालाजी की इस दूरदर्शी दृष्टि ने जैनसमाज को एक ऐसा हीरा दिया जो यद्यपि पैदा हुआ था मध्यप्रदेशके खुरई नामक ग्राममें किन्तु विद्वानो की खान वाराणसीमें आकर चमक उठा। उनके उच्च अध्ययनका क्रम वाराणसीमें चालू हुआ। यहाँ उन्होने अपना अध्ययन चालू रखा। गवर्नमेंट कीन्स कालिज, बनारस की मध्यमा परीक्षा पास की और फिर एक-एक खण्ड करके छहो खण्ड पास किये। वह जैन समाज के प्रथम न्यायाचार्य थे।

इसी बीचमे प्रकाण्ड पं० सुखलालजी हिन्दू विश्वविद्यालयमे स्थापित जैन चेयरके अध्यापक नियुक्त होकर आये। और प० महेन्द्रकुमारजीसे उनका परिचय हुआ। और उन्होने उनसे ग्रन्थ सपादन कलाका शिक्षण लेना आरंभ किया। उनका सबसे प्रथम सम्पादित ग्रन्थ था 'न्यायकुमुदचन्द्र' जो जैनन्याय का एक अपूर्व ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सेठ माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई की ओरसे हुआ। इस ग्रन्थके सम्पादनमें हम लोगोने कई वर्ष तक श्रम किया। उसके बाद न्यायाचार्यजीने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का सम्पादन किया। और प० सुखलालजीके साथ भी कई ग्रन्थो का सम्पादन किया। सिंघी जैन सिरीज से उनके द्वारा सम्पादित अकलंकग्रन्थत्रय का प्रकाशन हुआ। उसकी प्रस्तावनासे उनकी विद्वत्ता चमक उठी।

बारह वर्ष तक श्री स्याद्वाद महाविद्यालयमें न्यायाध्यापक रहकर पंडितजी बम्बईके महावीर जैन-विद्यालयमें चले गये। वहाँ वह साहू श्रेयांसप्रसादजीके परिचयमे आये। साहू शान्तिप्रसादजीसे तो वह पहले ही परिचित हो चुके थे। इस परिचयके फलस्वरूप सन् '४४ मे साहूजी की ओरसे भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना वाराणसीमे हुई और पंडितजी पुनः बनारस लौट आये। ज्ञानपीठ की स्थापना का और उसके द्वारा स्थापित मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाके द्वारा अनेको बहुमूल्य जैन ग्रन्थोके प्रकाशमे लाने का बहुत कुछ श्रेय प० महेन्द्रकुमारजीको है। वह ज्ञानपीठ को एक केन्द्रीय जैनसंस्था बनाने का प्रयत्न बराबर करते रहे। उसीके फलस्वरूप 'ज्ञानोदय' नामक पत्र का जन्म हुआ जिसके वह सम्पादक रहे और उसके द्वारा उन्होंने अपनी स्वतन्त्र विचारधारा को सर्वसाधारणमे फैलाने का प्रयत्न किया। पीछे उनका ज्ञानपीठसे कार्यकर्ता का सम्बन्ध टूट गया और वह हिन्दू विश्वविद्यालयमे ही बौद्धदर्शनके अध्यापक होकर रहने लगे।

यहाँ रहते हुए उन्होने एम० ए० पास किया। और अकलंकदेवके अपूर्व ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चय का संपादन किया। इसमे सन्देह नही कि इस ग्रन्थके सम्पादनमे उन्होने जी-तोड़ श्रम किया और सिद्धि-

विनिश्चयटीका अकलंकदेवके मूल ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चयका उद्धार किया। उसी परसे उन्हें पिछले ही दिनों हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। और इस तरह जैन विद्वानोंमें वह प्रथम डॉक्टर हुए। आगामी जुलाई मासमें उनकी नियुक्ति संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसीमे जैनदर्शन और प्राकृतके अध्यक्ष पद पर होनेवाली थी। आजकल वह उसी की तैयारीमें व्यस्त थे। हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ने पर नये निवासस्थान की व्यवस्था करना आवश्यक था। उसीके सम्बन्धमे १४ मई को दिनके १० बजे शहरमे एक मकान देखकर लौटे और ११ बजेके लगभग पक्षाघात का आक्रमण हो गया।

पक्षाघातसे पीडित अनेक रोगी हमारे सामने ही अच्छे हुए हैं और आज मजेमें हैं। हमे आशा थी कि वह भी स्वस्थ हो जायेगे किंतु दूसरे आक्रमणने उन्हे हमसे सदाके लिये छीन लिया। यह उनके कुटुम्ब पर और जैनसमाज पर अनभ्र वज्रपात है। कल तक उनके जो बच्चे सनाथ थे आज वे अनाथ जैसे हो गये हैं। माता वृद्धा है—एक लडका और दो लडकियाँ दस वर्ष की अवस्थासे अन्दरके एकदम शिशु हैं। एक बड़ा लडका इस साल इजीनियरिंगमे प्रवेश लेगा। किंतु आज उन सबके सन्मुख घोर अंधकार जैसा उपस्थित है, क्योकि प० महेन्द्रकुमारजी कोई धनी पडित नही थे। हाँ, आगे अब यह आशा थी किंतु वह आशा तो उनके साथ ही चली गई। यह तो उनके कुटुम्ब की दशा है।

उधर जैनन्याय का आज उनके जैसा अधिकारी विद्वान् कोई दृष्टिगोचर नही होता जो उनका भार सम्भालने की योग्यता रखता हो। दर्शनके प्राय सभी प्रमुख ग्रन्थो का उन्होने पारायण कर डाला था। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमासा, बौद्ध सभी दर्शनोके ग्रन्थ उनके दृष्टिपथसे निकल चुके थे। और सपादनकलाके तो वह आचार्य हो गये थे। दि० जैनसमाजमे आज न वैसा कोई दार्शनिक नही है और न सम्पादक। उनकी विशेषताएँ उनके साथ चली गई। विद्यानन्दिस्वामी की अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चयके ढग पर प्रकाशन की प्रतीक्षामे हैं। हम सोचा करते थे कि महेन्द्रकुमारजीके द्वारा एक-एक करके इन सबका उद्धार हो जायेगा। किंतु हमारा सोचना भी उनके साथ ही चला गया। आज जैनसमाज लाख रुपया भी खर्च करे तो दूसरा प० महेन्द्रकुमार पैदा नही कर सकता। आजके युगमें जब संस्कृत पढ़नेवाले भी दर्शन की ओरसे मुख मोड रहे है तब ऐसे विद्वान्के उत्पन्न होने का स्वप्न देखना भी नासमझी है। इसलिये रह-रह कर क्रूर काल पर क्रोध आता है और आता है अपनी बेबसी पर रोना। कहाँसे लाये हम प० महेन्द्रकुमार जैसा विद्वान्।

प्रत्येक व्यक्तिमे गुण भी होते है और दोष भी। प० महेन्द्रकुमारजीमे भी दोनो ही थे। किंतु उनके जैसा अध्यवसायी, उनके जैसा कर्मठ और उनके जैसा धुन का पक्का व्यक्ति होना कठिन है। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था—'स्वकार्यं साधयेत् धीमान्' 'बुद्धिमान का कर्तव्य है कि अपने कार्य की सिद्धि करे।' यही उनका मूलमन्त्र था। उन्होने अपने इस मूलमन्त्र के सामने आपत्ति-विपत्तियो की कभी भी परवाह नही की, बुराई-भलाइयो की ओरसे आँखे मूँद ली। जब जहाँ जैसे भी अपने कार्य मे सफलता मिले तब वहाँ तैसे उसे प्राप्त करके ही वह शान्त होते थे। और किसीके साथ बुराई पैदा होने पर भी उससे अपना सबधसे विच्छेद नही करते थे। समय पर उससे मिलने जाने मे उन्हें कोई संकोच नही होता था। और इस तरह मिलते थे, मानो कोई बात ही नही है।

उनके जीवनमे जो उतार-चढाव आये वह मेरी स्मृतिमे आज भी मौजूद हैं। और उन्होने अपने मूलमन्त्र को दृष्टिमे रखते हुए विष को अमृत की तरह पी लिया, यह भी मैं जानता हूँ। उनके विचार बहुत उदार थे। किन्तु सामाजिक सम्बन्धो के प्रति भी उनकी आस्था थी। और सामाजिक सम्बन्धके महत्त्व को

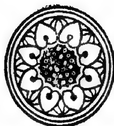
वह मानते थे। फिर भी अपने भाषणो और लेखोंके द्वारा वह अपने विचार बराबर प्रकट करते रहते थे और अवसर पर चूकते नही थे। उनकी धार्मिक श्रद्धा कोई गहरी नही थी किन्तु जिनवाणीके उद्धार और जैन-संस्कृतिके अभ्युत्थानके प्रति उनकी अभिरुचि अत्यन्त गम्भीर थी।

पिछले दिनों वाराणसीमे सर्व वेदशाखा सम्मेलन का आयोजन हुआ था। और उसमें वेदविरोधी विद्वानोंको भी बोलनेके लिये आमन्त्रित किया था। प्रवाससे लौटने पर मुझे ज्ञात हुआ कि प० महेन्द्रकुमार-जीने वेदके अपौरुषेयत्वके विरोधमें उसमें सस्कृतमे बोला। सस्कृत विश्वविद्यालयमे उनके पहुँच जानेसे जैन संस्कृतिको अवश्य ही बल मिलता इसमे सन्देह नही है। किन्तु दु ख यही है कि असमयमे ही और वह भी अचानक ही उनका हमसे सदाके लिये वियोग हो गया।

आज हमारे लिये वाराणसी सूनी हो गई है। मिले हुए बहुत दिन हो जाते थे तो मिलनेकी प्रतीक्षा करते थे। अब इस प्रतीक्षाका कभी अन्त होने वाला नही है। अपनी इन्ही आँखोके सामने उन्हे चितामे जलते देखा है फिर भी हृदय चाहता कि यह मूर्ति एक बार किसी तरहसे देखनेको मिल जाये। मिलने पर इधर-उधरकी समाजकी कितनी बातें और विचार-विमर्श होता था। अब वह सौभाग्य कभी प्राप्त नही होगा।

ऐसे वियोगके समयमे विवेक ज्ञान भी साथ नही देता। मनुष्य यह सोचकर अधीर हो उठता है कि जो चला गया वह अब कभी भी देखनेको नही मिलेगा। जब हम मित्रोकी यह दशा है तो उनके कुटुम्बियो-की खास करके उनकी वृद्धा माता और समझदार बड़े पुत्रके दु खकी तो थाह ही नही मिल सकती। हम उनसे हार्दिक समवेदना प्रकट करते हुए भगवान् जिनेन्द्रदेवसे यही प्रार्थना करते हैं कि महेन्द्रकुमारजी अपने सद्गुणोको लेकर पुन. जैनकुलमे जन्म ले और अपने इस जीवनके शेष बचे कार्योंको पूर्ण करे।

दि० २८ मई १९५९ के 'जैन सदेश'से साभार



डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा प्रतिपादित नियतिवाद : एक समीक्षा

• प्रो० रतनचन्द्र जैन, भोपाल

माननीय डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य प्रथम जैन पण्डित थे जिन्होंने जैन पाठशालाओं और महाविद्यालयोंकी सीमासे बाहर जाकर विश्वविद्यालयमें प्राध्यापकका पद सुशोभित किया और जैनदर्शनके अध्ययन-मनन और शोधको विश्वविद्यालयीन आयाम दिया। न्यायाचार्यजी जैन न्यायशास्त्रके पारगत विद्वान् थे। उन्होंने प्रायः सभी प्रमुख जैन न्यायग्रन्थों जैसे न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चयविवरण, अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्तण्ड और सिद्धिविनिश्चयटीकाके सम्पादन एवं प्रस्तावनालेखनका यशस्कर कार्य किया है। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थवृत्तिको भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना एवं हिन्दीसार द्वारा अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। 'जैनदर्शन' उनकी वह यशस्वी कृति है जो हिन्दीमें सर्वप्रथम लिखी गई और जिसमें जैनइतिहास, जैनसिद्धान्त, जैनन्याय और जैनाचारका सरल भाषामें संक्षिप्त एवं उच्चस्तरीय प्रतिपादन किया गया है। डॉक्टर साहबकी यह कृति जैन एवं जैनेतर जिज्ञासुओंके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

न्यायविद्यामें न्यायाचार्यजीको आधुनिक युगका अकलंक कहें तो अत्युक्ति न होगी। वर्तमान कालमें डॉ० राधाकृष्णन्, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, प्रो० बलदेव उपाध्याय आदि अनेक जैनेतर विद्वानोंने स्याद्वादकी अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याएँ की थीं। न्यायाचार्यजीने उन सबका युक्तिपूर्वक खण्डन कर स्याद्वाद की समीचीनता स्थापित करनेका सराहनीय कार्य किया। इतना ही नहीं, कालदोषसे जैनसमुदायमें भी कुछ ऐसे विद्वान् अस्तित्वमें आये जिनके मस्तिष्कने सर्वज्ञोपदेशके विपरीत एकान्तवादी मान्यताओंका अन्धकार उगला। इससे न्यायाचार्यजी अत्यन्त पीडित हुए और उन्होंने अमोघ युक्तियों तथा ज्वलन्त आगम प्रमाणोंसे इन विपरीत मान्यताओंका जोरदार खण्डन किया जिसके दर्शन तत्त्वार्थवृत्तिकी प्रस्तावनामें किये जा सकते हैं।

कुछ विद्वानोंने नियति-अनियति, निमित्त-उपादान, व्यवहारधर्मकी हेयोपादेयता, व्यवहारनयकी भूतार्थता-अभूतार्थता आदि अनेक सिद्धान्तोंके विषयमें एकान्तवादी मान्यताएँ प्रचलित की हैं। तत्त्वार्थवृत्तिकी प्रस्तावनामें इन सबकी शवपरीक्षा की गई है। जीवकी समस्त पर्यायोंको क्रमबद्ध या नियत माननेकी जो एकान्तवादी मान्यता प्रचलित की गई है उसकी न्यायाचार्यजीने विस्तारसे परीक्षा की है। वह बतलाती है कि यह मान्यता कितनी पथभ्रष्ट करनेवाली है। न्यायाचार्यजीने अपने निष्कर्षमें लिखा है कि नियतिवाद ईश्वरवादसे भी ज्यादा खतरनाक है। ईश्वरवादमें कर्मोंका फल ईश्वरके अधीन है, किन्तु अच्छे-बुरे कर्म करना मनुष्यके अधीन है। नियतिवादमें तो 'अच्छे-बुरे' कर्म भी मनुष्यके अधीन नहीं हैं, क्योंकि वे क्रमबद्ध हैं, पूर्वनियत हैं (पृष्ठ ४८)।

न्यायाचार्यजीने क्रमबद्ध पर्यायवादकी जो शवपरीक्षा की है उसका मैंने भी गहराईसे अनुचिन्तन किया है और मुझे न्यायाचार्यजीका कथन शतप्रतिशत समीचीन प्रतीत हुआ है। इस मान्यतासे श्रद्धा कितनी विपरीत और जीवन कितना अकर्मण्य हो जाता है तथा यह सर्वज्ञोपदेशके कितने खिलाफ है इसका मैंने जो चिन्तन किया है उस पर संक्षेपमें प्रकाश डाल रहा हूँ।

क्रमबद्धपर्यायवाद प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक द्रव्यकी सभी पर्यायें क्रमबद्ध हैं। अर्थात् किस द्रव्यकी कब क्या अवस्था होती है यह पूर्वनिर्धारित है। उसका स्थान भी निर्धारित है, काल भी निर्धारित है, साधन-सामग्री भी निर्धारित है, पुरुषार्थ भी निर्धारित है। अतः जिस द्रव्यकी, जिस स्थानमें, जिस

समयमें, जिस साधनसे जो अवस्था होनी है, उस द्रव्यकी वही अवस्था, उसी स्थानमे, उसी समयमे, उसी साधनसे होती है। इस नियमका कोई उल्लंघन नही कर सकता। दूसरे शब्दोमे, जो होना है वही होगा, जब होना है तभी होगा, जहाँ होना है वही होगा, जिस रीतिसे होना है उसी रीतिसे होगा, जिस साधनसे होना है उसी साधनसे होगा, जिस क्रमसे होना है उसी क्रमसे होगा। अत जो क्रमबद्ध है, पूर्वनियत है वही होता है। होनेवाले कार्यके लिये तदनुरूप बुद्धि और पुरुषार्थ अपने आप होते है, निमित्त भी अपने आप मिल जाते हैं। होनी कोई टाल नही सकता, अनहोनी कोई कर नही सकता। क्रमबद्धपर्यायवादी अपने मन्तव्यको इस उक्ति द्वारा स्पष्ट करते है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृश ।
सहायास्तादृशा एव यादृशा भवितव्यता ॥

जैसी होनहार होती है वैसी बुद्धि हो जाती है, वैसा ही प्रयत्न होने लगता है, वैसे ही सहायक मिल जाते हैं।

क्रमबद्धपर्यायका यह सिद्धान्त एकान्तनियतिवादका दूसरा नाम है। एकान्तनियतिवादमे प्रत्येक कार्य, उसके होनेका काल, निमित्त एव पुरुषार्थ होते हैं, क्रमबद्धपर्यायवादमे भी नियत होते है।

इस सिद्धान्तका समर्थन इस तर्क द्वारा किया जाता है कि सर्वज्ञके ज्ञानमे समस्त द्रव्योकी (भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनो कालोंकी पर्याये झलकती है जिसका तात्पर्य यह है कि वे यह जानते हैं कि भविष्यमे किस द्रव्यकी क्या-क्या अवस्था होनेवाली है। इसी आधार पर वे कहते हैं—

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुँ नही होसी काहे होत अधीरा रे ॥

किन्तु यह सिद्धान्त समस्त जिनोपदेश और मोक्षमार्गके नियमो पर पानी फेर देता है क्योकि इससे निम्नलिखित बाते सिद्ध होती है—

१–जीव पापसे बचनेके लिए स्वतत्र नही है क्योकि क्रमबद्ध या नियत होनेके कारण ही पाप होते हैं और जो नियत है उसे कोई टाल नही सकता।

२–जीव मोक्षकी साधना करनेके लिये स्वतंत्र नही है क्योकि यदि वह नियत नही है तो वैसा करनेकी बुद्धि भी जीवमे उत्पन्न नही हो सकती।

३–पाप होता है तो उससे डरनेकी आवश्यकता नही है क्योकि यदि स्वर्ग और मोक्ष नियत है तो पाप करनेके बावजूद वे होकर रहेंगे। ('काहे होत अधीरा रे ?')

४–मोक्षके लिये परेशान होनेकी जरूरत नही है क्योकि यदि वह नियत है तो जब उसका क्रम आयेगा तब उसे करनेकी बुद्धि जीवमे अपने आप उत्पन्न होगी।

५–उपदेश देने और सुननेकी भी जरूरत नही है क्योकि जो कार्य क्रमबद्ध नही हैं उसे करनेका विचार उपदेश देने पर भी नही आ सकता और जो क्रमबद्ध है उसको करनेकी बुद्धि समय आने पर अपने आप उत्पन्न हो जायेगी। कहा भी है—'तादृशी जायते बुद्धि ··।'

इस प्रकार इस सिद्धान्तके अनुसार जीवमे स्वच्छन्दता (असंयम) एवं अकर्मण्यता (मोक्षमार्गसे विमुखता) आ जानेसे भी कोई हानि सिद्ध नही होती, जबकि सर्वज्ञके उपदेशके अनुसार उन्हीके कारण जीव अनन्तकाल तक संसारमें भटकता है।

खण्ड : ३

कृतियों की समीक्षाएँ

तत्त्वार्थवृत्ति : एक अध्ययन

• प्रो० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

आचार्य गृद्धपिच्छ अपरनाम उमास्वामी द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र जैनपरम्पराका आद्य सूत्र ग्रन्थ है जो दश अध्यायोमे विभक्त है। इस पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि अनेक सस्कृत टीकाओका निर्माण हुआ है। उनमे श्री श्रुतसागरसूरि विरचित तत्त्वार्थवृत्ति भी तत्त्वार्थसूत्रकी एक विशाल और उपयोगी टीका है। यह टीका पहले अप्रकाशित थी। सम्पादनकला विशेषज्ञ स्व० डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने इसका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन् १९४९ में ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाके अन्तर्गत इसका प्रकाशन हुआ।

ग्रन्थ नाम

इस टीकाका नाम तत्त्वार्थवृत्ति है। श्रुतसागरसूरिने ग्रन्थके प्रारम्भमे "वक्ष्ये तत्त्वार्थवृत्तिं निजविभवतयाऽहं श्रुतोदन्वदाख्य।" ऐसा लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि इस ग्रन्थका नाम तत्त्वार्थवृत्ति है। इसके प्रथम अध्यायके अन्तमे आगत पुष्पिका वाक्यमे—"तत्त्वार्थटीकायां प्रथमोऽध्याय. समाप्त।" ऐसा लिखा है। द्वितीय अध्यायके अन्तमे जो पुष्पिका वाक्य है उसमे लिखा है—"तात्पर्यसज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ द्वितीय पाद समाप्त।" ऐसा लिखा है। इसी प्रकार तृतीय आदि अध्यायोके अन्तमे भी "तात्पर्यसज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ" ऐसा उल्लेख मिलता है उपरिलिखित पुष्पिका वाक्योसे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थवृत्तिके दो नाम और है—'तत्त्वार्थटीका' और तात्पर्य'। किन्तु श्रुतसागरसूरिको इसका नाम तत्त्वार्थवृत्ति ही अभीष्ट है। इसी कारण उन्होने ग्रन्थके प्रारंभमे तथा अन्तमे इसका तत्त्वार्थवृत्ति नाम ही लिखा है। ग्रन्थके अन्तका उल्लेख इस प्रकार है—"एषा तत्त्वार्थवृत्ति र्यैर्विचार्यते।" तत्त्वार्थसूत्रकी टीका होनेके कारण इसका तत्त्वार्थटीका यह एक साधारण नाम है। तत्त्वार्थसूत्रके तात्पर्यको स्पष्ट करनेके कारण इसको तात्पर्य सज्ञक तत्त्वार्थवृत्ति भी कह सकते है। फिर भी इसका वास्तविक नाम तत्त्वार्थवृत्ति ही है।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि श्रुतसागरसूरिने प्रथम अध्यायके अन्तमे 'प्रथमोऽध्याय समाप्त.' ऐसा लिखा है। किन्तु द्वितीय आदि नौ अध्यायोके अन्तमे 'द्वितीय. पाद समाप्त.', 'तृतीय पाद' समाप्त' इस प्रकार लिखा है। यहाँ यह विचारणीय है कि लेखकने अध्यायके स्थानमे पाद शब्दका प्रयोग क्यो किया है। क्योकि सब अध्यायोके अन्तमे एकसा प्रयोग होना चाहिए। फिर जब दश अध्याय प्रारंभसे ही प्रचलित हैं तब अध्यायको पाद लिखना अटपटासा लगता है। न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र आदि अन्य दर्शनोके सूत्र ग्रन्थोमे एक अध्यायमे कई पाद होते हैं। अत वहाँ 'प्रथमेऽध्याये प्रथम पाद,' 'द्वितीय पाद' इत्यादि प्रकारसे उल्लेख किया गया है जो ठीक है। इससे यही सिद्ध होता है कि अध्याय और पाद अलग-अलग है। इसलिए अध्यायको पाद लिखना ठीक प्रतीत नही होता है। फिर भी इतना निश्चित है कि तत्त्वार्थवृत्तिके लेखकको पाद शब्दसे अध्याय ही इष्ट है।

ग्रन्थकारका व्यक्तित्व एव कृतित्व

तत्त्वार्थवृत्तिके कर्ताका नाम श्रुतसागरसूरि है। ये दिगम्बर जैन मुनि होनेके साथ ही बहुश्रुत विद्वान् थे। यथार्थमे वे श्रुतके सागर थे। वे तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र आदिके ज्ञाता होनेके साथ ही सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि जैनदर्शनके तथा न्याय-वैशेषिक आदि इतर दार्शनिक ग्रन्थोके प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका

ज्ञान कितना व्यापक था इसका पता तत्त्वार्थवृत्तिमे उद्धृत वाक्योसे चलता है। तत्त्वार्थवृत्तिमे जिन अनेक ग्रन्थोंके श्लोक, गाथा तथा गद्यात्मक वाक्य उद्धृत है उनमेसे कई उद्धरण ऐसे है जिनके मूलग्रन्थोका पता विद्वान् सम्पादकको भी नही चल सका है। इससे ज्ञात होता है कि उनका अध्ययन और ज्ञान कितना विशाल था।

श्रुतसागरसूरि मूलसघके बलात्कारगणमे विक्रमकी सोलहवी शताब्दीमे हुए हैं। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। श्रुतसागरसूरिने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, व्याकरणकमलमार्तण्ड, तार्किक-शिरोमणि, परमागमप्रवीण, नवनवतिमहा-महावादि विजेता आदि विशेषणोमे अलकृत किया है। इन्होने तत्त्वार्थवृत्तिके अतिरिक्त जिन सहस्रनामटीका, औदार्य चिन्तामणि, व्रतकथाकोश, तत्त्वत्रय-प्रकाशिका आदि अन्य कई ग्रन्थोकी रचना की थी।

तत्त्वार्थवृत्तिकी विशेषता

तत्त्वार्थवृत्ति तत्त्वार्थसूत्रके तात्पर्यको स्पष्ट करनेवाली एक विस्तृत टीका है जो परिमाणमे सर्वार्थ-सिद्धिसे भी बडी है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह सर्वार्थसिद्धिकी व्याख्या हो। इसमे पूज्यपादकृत सर्वार्थ-सिद्धि ग्रन्थ पूराका पूरा समाविष्ट हो गया है। इसमे सर्वार्थसिद्धिके अनेक पदोकी व्याख्या, सार्थकता, विशेषार्थ आदि विपुल मात्रामे उपलब्ध होते हैं। इसके साथ ही इसमे सर्वार्थसिद्धिके सूत्रात्मक वाक्योके अभिप्रायको अच्छी तरहसे उद्घाटित किया गया है। अत सर्वार्थसिद्धिको समझनेमे इससे बहुत सहायता मिलती है।

यद्यपि श्रुतसागरसूरि अनेक शास्त्रोके प्रकाण्ड पण्डित थे फिर भी 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' इस सूक्तिके अनुसार उन्होने भी तत्त्वार्थवृत्तिमे कुछ गलतियाँ की है और इन गलतियोका उद्घाटन विद्वान् सम्पादकने प्रस्तावनामे किया है। जैसे सूत्र सख्या ९/५ की वृत्तिमे आदाननिक्षेपसमितिका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

धर्मोपकरणग्रहणविसर्जने सम्यगवलोक्य मयूरबर्हेण तदभावे वस्त्रादिना प्रतिलिख्य स्वीकरण विसर्जनञ्च सम्यगादाननिक्षेपसमितिर्भवति।

अर्थात् धर्मके उपकरणोको मोरकी पीछी से, पीछीके अभावमे वस्त्र आदिसे अच्छी तरह झाड पोछ-कर उठाना और रखना सम्यक् आदाननिक्षेपसमिति है।

यहाँ श्रुतसागरसूरिने मयूरपिच्छके अभावमे वस्त्रादिके द्वारा धर्मोपकरणोके प्रतिलेखनका जो विधान किया है वह दिगम्बर परम्पराके अनुकूल नही है।

इसी प्रकार सूत्र सख्या ९/४७ मे आगत लिंग शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

लिङ्ग द्विप्रकार द्रव्यभावभेदात्। तत्र पञ्चप्रकारा अपि निर्ग्रन्था भावलिङ्गिनो भवन्ति। द्रव्यलिङ्ग तु भाज्यम्। तत्किम? केचिदसमर्था महर्षय. शीतकालादौ कम्बलशब्दवाच्य कौशेयादिक गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति, न सीव्यन्ति, न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वात् तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूप ज्ञातव्यम्।

अर्थात् लिंगके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। पाँचो प्रकारके मुनियोमे भावलिंग समानरूपसे पाया जाता है। द्रव्यलिंगकी अपेक्षासे उनमे कुछ भेद पाया जाता है। कोई असमर्थ मुनि शीतकाल आदिमें कम्बल आदि वस्त्रोको ग्रहण कर लेते हैं। लेकिन उस वस्त्रको न धोते हैं और फट जाने पर न सीते हैं

तथा कुछ समय बाद उसको छोड़ देते हैं। कोई मुनि शरीरमे विकार उत्पन्न हो जानेसे लज्जाके कारण वस्त्रोको ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकारका व्याख्यान भगवती आराधनामे अपवादरूपसे बतलाया है।

इस प्रकरणमे विद्वान् सम्पादकने लिखा है कि भगवती आराधनाकी अपराजित सूरिकृत विजयोदया टीकामे यह अपवाद मार्ग स्वीकार किया गया है। क्योकि अपराजितसूरि यापनीय सघके आचार्य थे और यापनीय आगमोको प्रमाण मानते थे। परन्तु श्रुतसागरसूरि तो कट्टर दिगम्बर थे। वे कैसे इस चक्करमे आ गये।

इसी प्रकार सूत्र सख्या ५/४१, ८/२, ८/११, ९/१ इत्यादि सूत्रोकी वृत्तियोमे भी कुछ गलतियाँ विद्यमान है। फिर भी तत्त्वार्थवृत्ति अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण और बहुत ही उपयोगी बृहदाकार रचना है। इसका परिमाण ९००० श्लोक प्रमाण है। सुपर रायल साइजके ३२८ पृष्ठोमे इसका मुद्रण हुआ है। सस्कृत टीकाके बाद १८३ पृष्ठोमे इसका हिन्दी सार भी मुद्रित है जिसे श्री उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्यने लिखा है। इसमे तत्त्वार्थसूत्र पर श्रुतसागरसूरिका जो विवेचन है वह प्राय पूरा सगृहीत है और सस्कृत न जानने वालोके लिए यह हिन्दी सार बहुत ही उपयोगी है। ग्रन्थके अन्तमे ६५ पृष्ठोमे ६ उपयोगी परिशिष्ट दिये गये हैं। इस प्रकार सुपर रायल साइजमे मुद्रित तत्त्वार्थवृत्तिकी कुल पृष्ठ सख्या ६५० है।

अब यहाँ "भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।" ३/२७। इस सूत्रकी व्याख्यामे उल्लिखित कुछ विशेष बातो पर विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

श्रुतसागरसूरिने अवसर्पिणी कालके वर्णनमे कुछ विशेष बातें बतलाई हैं जो इस प्रकार है—

अवसर्पिण्यास्तृतीयकाले पल्यस्याष्टम भागे स्थिते सति षोडशकुलकरा उत्पद्यन्ते। तत्र षोडशकुलकरेषु मध्ये पञ्चदशकुलकराणामष्टम एव भागे विपत्तिर्भवति। षोडशस्तु कुलकर उत्पद्यते अष्टम एव भागे विनाशस्तु तस्य चतुर्थेकाले भवति। पञ्चदश कुलकरस्तीर्थंकर। तत्पुत्र षोडशकुलकरश्चक्रवर्ती भवति। तौ द्वावपि चतुरशीतिलक्षपूर्वजीवितौ। चतुर्थकाले त्रयोविंशतिस्तीर्थंकरा उत्पद्यन्ते निर्वान्ति च।

एकादश चक्रवर्तिन नव बलभद्रा नव वासुदेवा नव प्रतिवासुदेवा उत्पद्यन्ते। एकादशरुद्रा नव नारदाश्च उत्पद्यन्ते। अर्थात् अवसर्पिणीके तृतीयकालमे आठवा भाग शेष रहने पर १६ कुलकर उत्पन्न होते हैं। १६ कुलकरोमे से १५ की आठवे भागमे ही मृत्यु हो जाती है। सोलहवा कुलकर आठवे भागमे ही उत्पन्न होता है किन्तु उसकी मृत्यु चतुर्थकालमे होती है। पन्द्रहवा कुलकर तीर्थंकर होता है और सोलहवा कुलकर उसका पुत्र चक्रवर्ती होता है। उन दोनोकी आयु चौरासी लाख पूर्वकी होती है। चौथे कालमे तेईस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और निर्वाणको प्राप्त होते हैं। चतुर्थकालमे ११ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव उत्पन्न होते हैं। ११ रुद्र और ९ नारद भी इस कालमे उत्पन्न होते हैं।

अब उत्सर्पिणी कालकी जिन विशेषताओको श्रुतसागरसूरिने बतलाया है उनको देखिए—

उत्सर्पिण्या द्वितीयस्य कालस्यान्ते वर्षसहस्रावशेषे स्थिते सति चतुर्दशकुलकरा उत्पद्यन्ते। तद्वर्षसहस्रमध्ये त्रयोदशाना विनाशो भवति। चतुर्दश कुलकर उत्पद्यते। तद्वर्षसहस्रमध्ये विपद्यते तु तृतीयकालमध्ये। तस्य चतुर्दशस्य कुलकरस्य पुत्रस्तीर्थंकरो भवति। तस्य तीर्थंकरस्य पुत्रश्चक्रवर्ती भवति। तद्द्वयस्याप्युत्पत्तिस्तृतीयकाले भवति। अस्मिन्नेवकाले शलाका पुरुषा उत्पद्यन्ते।

अर्थात् उत्सर्पिणीके द्वितीय कालके अन्तमे एक हजार शेष रहने पर चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। तेरह कुलकर द्वितीय कालमे ही उत्पन्न होते है और मरते भी द्वितीय कालमे ही है। लेकिन चौदहवा कुलकर उत्पन्न तो द्वितीय कालमे ही होता है किन्तु मरता तृतीय कालमें है। चौदहवें कुलकर का पुत्र तीर्थंकर

होता है और उस तीर्थंकर का पुत्र चक्रवर्ती होता है इन दोनोकी उत्पत्ति तृतीय कालमे होती है । इसी कालमे ६३ शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं । २४ तोर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, और ९ प्रतिनारायण ये ६३ शलाका पुरुष कहलाते है ।

अब मुझे यहाँ उपर्युक्त कथनके आधारसे चार बातो पर विचार करना है । उनमेसे पहली विचारणीय बात यह है कि श्रुतसागरसूरिके अनुसार अवसर्पिणी कालमे १६ कुलकर होते है और उत्सर्पिणी कालमे १४ कुलकर होते है । ऐसा क्यो होता है । दोनो कालोमे कुलकरोकी सख्या एक समान होना चाहिये । जैसे कि तीर्थंकरो, चक्रवर्तियो आदिकी सख्या सदा एक समान रहती है । प्रत्येक कालमे तीर्थंकर २४ ही होते है । कभी २३ हो और कभी २५ हो ऐसा नही होता है । आदिपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रन्थोमे भी इस अवसर्पिणी कालमे कुलकर १४ ही बतलाये गये है । और चौदहवे तथा अन्तिम कुलकर नाभिराय थे । यहाँ यह विचारणीय है कि अवसर्पिणी कालमे १६ कुलकरोकी मान्यता श्रुतसागरसूरिकी अपनी है या उसका कोई आधार रहा है ।

द्वितीय विचारणीय बात यह है कि अवसर्पिणी कालमे प्रथम तीर्थंकरकी उत्पत्ति किस कालमे होती है ? तृतीय कालमे या चतुर्थ कालमे ? श्रुतसागरसूरिके कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक अवसर्पिणीके तृतीय कालमे प्रथम तीर्थंकरका जन्म होता है । यदि उनकी ऐसा मान्यता है तो वह गलत है । सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमे २४ तीर्थंकर होते है और प्रत्येक उत्सर्पिणी कालके तृतीय कालमे २४ तीर्थंकर होते हैं । वर्तमान अवसर्पिणी काल इसका अपवाद अवश्य है । इस अवसर्पिणी कालके तृतीय कालमे प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथका जन्म अवश्य हुआ है, किन्तु सदा ऐसा नही होता है । इस बार ऐसा क्यो हुआ इसका विशेष कारण है और वह कारण है हुण्डावसर्पिणी काल । यह कालका एक दोष है । इस दोषके कारण कभी कुछ ऐसी बाते होती हैं जो सामान्यरूपसे सदा नही होती । जैसे इस अवसर्पिणी कालके तृतीय कालके अन्तमे प्रथम तीर्थंकरका जन्म होना । तीर्थंकरके पुत्रीका जन्म नही होता है । किन्तु काल दोषके कारण ऋषभनाथके दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी हुई । यह सब हुण्डावसर्पिणी कालका प्रभाव है । हुण्डावसर्पिणी कालमे कौन-कौनसी विशेष बाते होती है इसका वर्णन तिलोयपण्णत्तीके चतुर्थ अध्यायमे किया गया है । किन्तु श्रुतसागरसूरिने हुण्डावसर्पिणी कालका उल्लेख कही भी नही किया है । यहाँ यह स्मरणीय है कि असख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोके बीत जाने पर एक बार हुण्डावसर्पिणी काल आता है ।

यहाँ तीसरी विचारणीय बात यह है कि श्रुतसागरसूरिने अवसर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकरको कुलकर माना है किन्तु उत्सर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकरको कुलकर नही माना । ऐसा क्यो माना है यह समझमे नही आ रहा है । अवसर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकरको कुलकर माननेका क्या हेतु है ? कुलकर तो एक प्रकारके राजा सदृश होते है । कहाँ तीर्थंकरपना ? और कहाँ कुलकरपना ? दोनोमे बडा अन्तर है ।

चौथी विचारणीय बात यह है कि श्रुतसागरसूरिने अवसर्पिणी कालमे ६३ शलाका पुरुषोके अतिरिक्त ९ नारद तथा ११ रुद्र भी माने है । किन्तु उत्सर्पिणी कालमे केवल ६३ शलाका पुरुष माने है । इस कालमे ९ नारद तथा ११ रुद्रोको नही माना है । उन्होने ऐसा अपने मनसे माना है या इस मान्यताका भी कुछ आधार रहा है । मैं यहाँ एक और बात पर विचार करना चाहता हूँ । ध्यान दें—

तृतीय अध्यायके पूर्वोक्त सूत्रकी वृत्तिको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे ज्ञात होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी कालके ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोके बाद आगे उत्सर्पिणी कालमे जो चौबीस तीर्थंकर होंगे वे ८४ हजार वर्षके बाद होगे । ८४ हजार वर्षकी गणना इस प्रकार है—

अवसर्पिणीका पंचमकाल (२१ हजार वर्ष) छठा काल (२१ हजार वर्ष) फिर उत्सर्पिणीका प्रथम काल (२१ हजार वर्ष) द्वितीयकाल (२१ हजार वर्ष) अतः २१ + २१ + २१ + २१ = ८४ हजार वर्ष हुए। इतना काल बीत जानेपर उत्सर्पिणीके तृतीय कालमें २४ तीर्थंकर होंगे।

अब अवसर्पिणी कालके २४ तीर्थंकर कितने कालके बाद होंगे इसपर विचार कीजिए। उत्सर्पिणीका चतुर्थकाल (२ कोडाकोडी सागर) पंचम काल (३ कोडाकोडी सागर) छठा काल (४ कोडाकोडी सागर)। फिर अवसर्पिणीका प्रथम काल (४ कोडाकोडी सागर) द्वितीय काल (३ कोडाकोडी सागर) तृतीय काल (२ कोडाकोडी सागर) इस प्रकार २ + ३ + ४ + ४ + ३ + २ = १८ कोडाकोडी सागर हुए। अत १८ कोडाकोडी सागर प्रमाण काल बीत जानेपर अवसर्पिणी कालके चतुर्थकालमे २४ तीर्थंकर होंगे।

उक्त विवरणसे यह सिद्ध होता है कि उत्सर्पिणी कालके तृतीय कालमे होनेवाले तीर्थंकर अल्पकाल (केवल ८४ हजार वर्ष) के बाद होते हैं किन्तु अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमे होने वाले २४ तीर्थंकर बहुत काल (१८ कोडाकोडी सागर) के बाद होते हैं। अर्थात् प्रत्येक उत्सर्पिणीके तृतीय कालमे होनेवाली चौबीसी ८४ हजार वर्ष बाद और प्रत्येक अवसर्पिणीके चतुर्थ कालमे होनेवाली चौबीसी १८ कोडाकोडी सागर प्रमाण कालके बाद होती है। यहाँ यह समझमे नही आ रहा है कि एक चौबीसीके बाद दूसरी चौबीसी के होनेमे कभी बहुत कम कालका अन्तर और कभी बहुत अधिक कालका अन्तर क्यो होता है ? इस विषयमें शायद यह उत्तर दिया जा सकता है वस्तु स्थिति अथवा काल व्यवस्थाके कारण ऐसा होता है। फिर भी दो चौबीसीके बीचमे कालका कही बहुत कम और कही बहुत अधिक अन्तराल कुछ विचित्रसा लगता है। कहाँ ८४ हजार वर्ष ? और कहाँ १८ कोडाकोडी सागर ? इन दोनोंमे कितना महान् अन्तर है।

सम्पादन की विशेषता

तत्त्वार्थवृत्तिके सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य जैनदर्शन, बौद्धदर्शन तथा अन्य दर्शनोके प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होने सर्वश्री प० सुखलाल संघवी, प० कैलाशचन्द्र शास्त्री तथा दलसुखजी मालवणिया आदि उच्चकोटिके विद्वानोके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण सम्पादन कार्यमे अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। यही कारण है कि उन्होने सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, तत्त्वार्थराजवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, षड्दर्शनसमुच्चय आदि अनेक ग्रन्थोका शोधपूर्ण सम्पादन किया है। यह तो सम्पादक ही जानता है कि शोधपूर्ण सम्पादन करनेमे उसे कितना परिश्रम करना पडता है।

विद्वान् सम्पादकने तत्त्वार्थवृत्तिका सम्पादन चार कागजकी तथा एक ताडपत्रीय पाण्डुलिपियोके आधारपर किया है। इसमे बनारस, आरा और दिल्लीसे प्राप्त प्राचीन कागजकी चार पाण्डुलिपियो (प्रतियो) का उपयोग किया गया है। किन्तु मूडबिद्रीसे प्राप्त ताडपत्रीय प्रतिके आधारसे ही तत्त्वार्थवृत्तिका शुद्ध सस्करण सम्पादित हो सका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि दिगम्बर वाङ्मयके शुद्ध सम्पादनमे ताडपत्रीय प्रतियाँ बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार उक्त पाँच प्रतियोके आधारसे तत्त्वार्थवृत्तिका सम्पादन किया गया है। मूडबिद्री जैन मठकी प्रति कन्नड लिपिमे है और शुद्ध है। तथा उसमे कुछ टिप्पण भी उपलब्ध हुए हैं। उन टिप्पणोंको 'ता० टि०' के साथ छपाया गया है। कुछ अर्थबोधक टिप्पण भी लिखे गये हैं।

प्रस्तावना

सम्पादित ग्रन्थकी प्रस्तावना सम्पादनका ही अग होती है। यथार्थमे प्रस्तावनाके द्वारा ही सम्पादक की विद्वत्ता, विचारशैली, ग्रन्थ समीक्षा आदिका परिचय मिलता है। विद्वान् सम्पादकने ९३ पृष्ठोकी विस्तृत प्रस्तावना लिखी है जो पठनीय और मननीय है। कुछ गम्भीर विषयोपर अपने स्वतन्त्र, तर्कपूर्ण और निर्भीक विचार प्रस्तुत करनेमे भी उन्होने कोई संकोच नही किया है।

प्रस्तावनामे सर्वप्रथम भगवान् महावीरके समकालीन ६ प्रमुख तीर्थनायकोके मतोपर विचार किया गया है। उनके नाम तथा मत इस प्रकार है—(१) अजितकेशकम्बलि (भौतिकवाद, उच्छेदवाद) (२) मक्खलिगोशाल (नियतवाद) (३) पूरणकश्यप (अक्रियावाद (४) प्रक्रुधकात्यायन (कूटस्थ नित्यवाद) (५) सजयबेलट्ठिपुत्त (सशयवाद) (६) गौतमबुद्ध (अव्याकृतवाद, अनात्मवाद) ।

इसके बाद सम्पादकने भगवान् महावीरके विषयमे बतलाया है कि वे न तो अनिश्चयवादी थे, न अव्याकृतवादी और न भूतवादी । यथार्थमे वे अनेकान्तवादी और स्याद्वादी थे । उन्होने बतलाया था कि न तो कोई द्रव्य नया उत्पन्न होता है और न उसका सर्वथा विनाश होता है । किन्तु प्रत्येक द्रव्यमे प्रतिक्षण परिवर्तन अवश्य होता रहता है। क्योकि उसका यही स्वभाव है । महावीरने कहा था—''उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा''—अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है और ध्रुव है । इसके अतिरिक्त महावीरने प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक बतलाया है ।

तदनन्तर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोका विस्तारसे विवेचन किया गया है । इस सात तत्त्वोका श्रद्धान और ज्ञान मुमुक्षुके लिए आवश्यक है । इसी प्रकरणमे बुद्धके अनात्मवादका युक्तिपूर्वक निराकरण करके जैनदर्शन सम्मत आत्माका स्वरूप उसके भेद आदिके विषयमे अच्छा प्रकाश डाला गया है ।

सात तत्त्वोके विवेचनके बाद सम्पादकने सम्यग्दर्शनके विषयमे अनेक शीर्षकोके विस्तारसे विचार किया है। यथा—

सम्यग्दर्शनका सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शनका यथार्थ स्वरूप बतलानेके बाद सम्पादकने लिखा है—

सम्यग्दर्शनके अन्तरग स्वरूपकी जगह आज बाहरी पूजा-पाठने ले ली है। जो महावीर और पद्मप्रभु वीतरागताके प्रतीक थे आज उनकी पूजा व्यापार-लाभ, पुत्रप्राप्ति, भूतबाधा शान्ति जैसी क्षुद्रकामनाओकी पूर्तिके लिए ही की जाने लगी है । इनके मन्दिरोमे शासना देवता स्थापित हुए है और उनकी पूजा और भक्तिने ही मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है । और यह सब हो रहा है सम्यग्दर्शनके पवित्र नाम पर ।

परम्पराका सम्यग्दर्शन

यहाँ बतलाया गया है कि प्राचीन होनेसे ही कोई विचार अच्छा या नवीन होनेसे ही कोई विचार बुरा नही कहा जा सकता । किन्तु जो समीचीन हो वही ग्राह्य होता है । सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नही हो सकता है । अत बुद्धिमान् लोग परीक्षा करके उनमेसे जो समीचीन होता है उसको ग्रहण कर लेते हैं। अत प्राचीनताके मोहको छोडकर समीचीनताकी ओर दृष्टि रखना आवश्यक है। क्योकि इस प्राचीनताके मोहने अनेक अन्धविश्वासो और कुरूढ़ियोको जन्म दिया है ।

सस्कृतिका सम्यग्दर्शन

इसमे बतलाया गया है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बच्चा जब उत्पन्न होता है उस समय वह बहुत कम सस्कारोका लेकर आता है और उसका ९९ प्रतिशत विकास माता-पिताके सस्कारोके अनुसार होता है । यदि किसी चाण्डालका बालक ब्राह्मणके यहाँ पले तो उसमे बहुत कुछ सस्कार ब्राह्मणोके आ जाते है। तात्पर्य यह है कि नूतन पीढ़ी के लिए माता-पिता ही बहुत कुछ उत्तरदायी होते हैं। आज सस्कृतिकी रक्षाके नामपर लोग समाजमे अनेक प्रकारके अनर्थ करते रहते हैं। अत सबसे पहले जैन सस्कृतिके स्वरूपको जानना आवश्यक है। क्योकि जैन सस्कृतिने आत्माके अधिकार और स्वरूपकी ओर हमारा ध्यान दिलाया है और कहा है कि सस्कृतिका सम्यग्दर्शन हुए बिना आत्मा कर्मबन्धनसे मुक्त नही हो सकता है ।

अध्यात्म और नियतिवादका सम्यग्दर्शन

इसमे बतलाया गया है कि जगत्मे जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नही हो सकता और सर्वथा नये किसी असत्का सद्रूपमें उत्पाद नही हो सकता। जीव, पुद्गल आदि जो छह मौलिक द्रव्य हैं इनमेसे न तो कोई द्रव्य कम हो सकता है और न कोई नया द्रव्य उत्पन्न होकर इसकी सख्यामे वृद्धि कर सकता है। प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है। द्रव्यगत मूल स्वभावकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके अपने परिणमन नियत है। जैनदर्शनकी दृष्टिसे द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं, पर उनके प्रतिक्षणके परिणमन अनियत है।

इस प्रकरणमें सम्पादकने नियतिवादका निर्भयतापूर्वक खण्डन किया है। वे लिखते है—"जो होना होगा वह होगा ही, इसमे हमारा कुछ भी पुरुषार्थ काम नही करता है।" इस प्रकारके नियतिवाद सम्बन्धी विचार जैनतत्त्वस्थितिके प्रतिकूल हैं। नियतिवाद दृष्टिविष है। 'ईश्वरकी मर्जी', 'विधिका विधान' इत्यादि प्रकारके शब्दोका प्रयोग पुरुषार्थकी महत्ताको कम कर देते हैं। नियतिवादका कालकूट ईश्वरवादसे भी भयकर है। नियतिवादमे पुण्य और पापकी व्यवस्था भी नही बन सकती है। जब प्रत्येक जीवका प्रति समयका परिणमन निश्चित है तब क्या पुण्य और क्या पाप। ऐसा क्यो हुआ ? नियतिवादमे इस प्रश्नका एक ही उत्तर है—ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही।" नियतिवादमे पुरुषार्थका कोई स्थान नही है। इत्यादि प्रकारसे सपादकने नियतिवादके सम्बन्धमे विस्तारसे जो प्रतिपादन किया है वह चिन्तनके योग्य है।

निश्चय और व्यवहारका सम्यग्दर्शन

यहाँ बतलाया गया है कि निश्चयनय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूपको बतलाता है। उसकी दृष्टि वीतरागतापर रहती है। निश्चयनय जहाँ मूल द्रव्य स्वभावको विषय करता है वहाँ व्यवहारनय परसापेक्ष पर्याय को विषय करता है। निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। मूल द्रव्यदृष्टिसे सभी आत्माओ की स्थिति एक प्रकार की है। शुद्ध द्रव्यस्वरूप उपादेय है यही निश्चयनय की भूतार्थता है। व्यवहारनयकी अभूतार्थता इतनी ही है कि वह जिन विभाव पर्यायोंको विषय करता है वे विभाव पर्याये हेय हैं, उपादेय नही। परनिरपेक्ष द्रव्यस्वरूप और परनिरपेक्ष पर्याये निश्चयनयके विषय है और परसापेक्ष परिणमन व्यवहारनयके विषय हैं।

परलोकका सम्यग्दर्शन

यहाँ बतलाया गया है कि जब आत्मा एक स्थूल शरीरको छोडकर अन्य स्थूल शरीरको धारण करता है तो वह परलोक कहलाता है। परलोकका अर्थ मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और देवगति इन चार गतियोसे है। नरक अत्यन्त दुखके स्थान हैं और स्वर्ग सासारिक अभ्युदयके स्थान हैं। इनमे मनुष्य कुछ भी परिवर्तन नही कर सकता है किन्तु मनुष्यके लिए मरकर उत्पन्न होनेके दो स्थान तो ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य इसी जन्ममे सुधार सकता हे। ये स्थान हैं मनुष्ययोनि और पशुयोनि। अत आगे परलोकका सुधारना हमारे हाथमे है। हमे मनुष्य समाज और पशु समाजको इस योग्य बना लेना चाहिए कि यदि इनमे पुन जन्म लेना पडे तो अनुकूल वातावरण तो मिल जाय। परलोकका अर्थ दूसरे लोग भी होता है। अत. परलोकके सुधारका अर्थ मानव समाजका सुधार भी होता है। इसके अतिरिक्त परलोकका अर्थ हमारी सन्तति और शिष्य परम्परा भी हो सकता है। इसलिए परलाक सुधारनेका अर्थ है अपनी सन्तान और शिष्य परम्पराको सुधारना। इस प्रकार परलोकके सुधारके लिए हमे परलोकके सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता है।

कर्म सिद्धान्तका सम्यग्दर्शन

यहाँ यह बतलाया गया है कि जैनदर्शनके अनुसार प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है। और वह स्वय अपने भाग्यका विधाता है। अपने कर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता भी वही है। किन्तु अनादि से कर्म पर-

तन्त्र होनेके कारण वह अपने स्वभावको भूला हुआ है । इस कारण वह किसी आपत्तिके आनेपर 'करमगति टाली नाहिं टलै', 'विधिका विधान ऐसा ही है', 'भवितव्यता दुर्निवार है' इत्यादि वाक्योंका प्रयोग करता है । यह तो वही हुआ कि जब जैनदर्शनने ईश्वरकी दासतासे मुक्ति दिलाई तो कर्मकी दासता स्वीकार कर ली । यथार्थमें कर्मकी गति अटल नहीं है । उसे हम अपने पुरुषार्थसे टाल सकते हैं । उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि कर्मकी विविध अवस्थायें हमारे पुरुषार्थके अधीन हैं । अत कर्मका सम्यग्दर्शन करके हमें अपने अनुकूल सत्पुरुषार्थमें लग जाना चाहिए । वही पुरुषार्थ सत् कहलाता है जो आत्मकल्याणका साधक होता है ।

शास्त्रका सम्यग्दर्शन

इस प्रकरणमें यह बतलाया गया है कि वैदिक परम्परा धर्म और अधर्मकी व्यवस्थाके लिए वेदको प्रमाण मानती है तथा धर्मका ज्ञान केवल वेदके द्वारा ही मानती है । किन्तु जैन परम्पराने केवल शास्त्र होनेके कारण ही किसी शास्त्रकी प्रमाणता स्वीकार नहीं की है । यहाँ तो उसी शास्त्रको प्रमाण माना गया है जिसका प्रणयन सर्वज्ञ और वीतराग पुरुष द्वारा हुआ हो । वर्तमान में अनेक ऐसे शास्त्र प्रचलित हैं जिनका मूल-परम्परा से मेल नहीं खाता है । वही शास्त्र प्रमाण है जिसमें हमारी मूलपरम्परासे विरोध न आता हो । अत हमें यह विवेक तो करना ही होगा कि इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय मूलपरम्पराके अनुसार है या नहीं । तात्पर्य यह है कि मात्र शास्त्र होनेके कारण ही कोई ग्रन्थ प्रमाण नहीं माना जा सकता है । इसप्रकार शास्त्र विषयक सम्यग्दर्शनके द्वारा हमें यह जानना चाहिए कि इस शास्त्रमें किस युगमें किस पात्रके लिए किस विवक्षासे क्या बात लिखी गई है । यही शास्त्रका सम्यग्दर्शन है ।

तत्त्वाधिगमके उपाय

इस प्रकरणमें प्रमाण, नय और निक्षेपका अच्छी तरहसे स्वरूप, भेद आदि समझाकर जैनदर्शन सम्मत स्याद्वादके विषयमें विस्तारसे विचार किया गया है । यह द्रष्टव्य है कि स्याद्वादमें जो 'स्यात्' शब्द है वह एक निश्चित अवस्थाको बतलाता है । स्यात्का अर्थ न तो संशय है, न संभावना, न अनिश्चय और न कदाचित् । शंकराचार्यने शांकरभाष्यमें स्याद्वादको संशयरूप लिखा है । इसीके अनुसार वर्तमानमें अनेक विद्वान् स्याद्वादको संशयादिरूप मानते हैं । अत विद्वान् सम्पादकने महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० देवराज आदि विद्वानोंके स्याद्वाद सम्बन्धी मन्तव्योंकी युक्तिपूर्वक समीक्षा करके जैनदर्शन सम्मत स्याद्वादके स्वरूपको पूर्णरूपसे स्पष्ट किया है और उसमें संशय, विरोध आदि दोषोंका निराकरण भी किया है ।

लोकवर्णन और भूगोल

इस प्रकरणमें यह बतलाया गया है कि जिसप्रकार अपने सिद्धान्तों और तत्त्वोंके स्वतन्त्र प्रतिपादनके कारण जैनधर्म और जैनदर्शनका भारतवर्षमें स्वतन्त्र स्थान है उस प्रकार जैन भूगोल और जैन खगोलका स्वतन्त्र स्थान नहीं है । यथार्थ बात यह है कि भूगोल कभी स्थिर नहीं रहता है । वह तो कई कारणोंसे कालक्रमसे बदलता रहता है । जैन शास्त्रोंमें भूगोल और खगोलका जो वर्णन मिलता है उसकी परम्परा लगभग तीन हजार वर्ष पुरानी है । प्राय यही परम्परा अन्य सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है । जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओंके भूगोल और खगोल सम्बन्धी वर्णन लगभग एक जैसे हैं ।' सबमें जम्बूद्वीप, विदेह, देवकुरु, उत्तरकुरु, सुमेरु आदि नाम पाये जाते हैं और लाखों योजनकी गिनती भी पायी जाती है । निष्कर्ष यह है कि भूगोल और खगोलकी जो परम्परा परिपाटीसे जैनाचार्योंको मिली उसे उन्होंने

शास्त्रोमे लिख दिया है। जैन परम्पराको तत्त्वार्थसूत्रके तृतीय और चतुर्थ अध्यायमें निबद्ध किया गया है।

बौद्ध परम्परा

भूगोल और खगोलके सम्बन्धमे जो बौद्ध परम्परा है, अभिधर्मकोशके आधारसे उसका विवरण इस प्रकार है—

बौद्ध परम्परामे चार द्वीप हैं—जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु। चारो द्वीपोंके मध्यमे देह, विदेह आठ अन्तर द्वीप हैं। यहाँ अवीचि, प्रतापन, तपन, महारौरव, रौरव, सघात, कालसूत्र और संजीवक ये आठ नरक हैं। स्वर्गलोकमें महाराजिक, त्रायस्त्रिंश आदि कई प्रकारके देव बतलाये गये हैं। महाराजिक और त्रायस्त्रिंश जातिके देव मनुष्योके समान कामसेवन करते हैं। यामदेव आलिंगनसे, तुषित देव पाणिसयोगसे, निर्माणरति देव हास्यसे और परिनिर्मितवशवर्ती देव अवलोकनसे काम सुखका अनुभव करते हैं। इस काम सेवनकी तुलना तत्त्वार्थसूत्रके निम्नलिखित सूत्रोसे कीजिए—कायप्रवीचारा आ ऐशानात्। ४/७ शेषा स्पर्शरूपशब्दमन प्रवीचारा। ४/८।

वैदिकपरम्परा

यहाँ भूगोल और खगोल सम्बन्धी परम्पराका तीन आधारोसे वर्णन किया गया है। एक आधार है योगदर्शनका व्यास भाष्य, दूसरा आधार है विष्णुपुराण और तीसरा आधार है श्रीमद्भागवत पुराण। इन तीनोमे प्राय एक समान वर्णन है। कही कुछ भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। इस परम्परामें भूलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, पाताललोक आदि सात लोक है। भूलोकपर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप हैं। ये द्वीप लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल इन सात समुद्रोसे घिरे हुए हैं। जम्बूद्वीपके मध्यमे सुवर्णमय मेरुपर्वत है जो ८४ हजार योजन ऊँचा है। मेरुके दक्षिणमे भारत, किम्पुरुष और हरिवर्ष ये तीन क्षेत्र है। तथा उत्तरमे रम्यक, हिरण्मय और उत्तरकुरु ये तीन क्षेत्र हैं। समुद्रके उत्तरमे तथा हिमालयके दक्षिणमे भारत क्षेत्र है। पुष्करद्वीपके बीचमे मानुषोत्तर पर्वत स्थित है। इस द्वीपमे महावीर और धातकीखण्ड ये दो क्षेत्र हैं। वैदिक परम्परामे स्वर्गलोकके माहेन्द्रलोक, ब्रह्मलोक आदि पाँच भेद है। योगदर्शनके अनुसार अवीचि, महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र ये सात नरक है। किन्तु श्रीमद्भागवतपुराणके अनुसार तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव महारौरव, कालसूत्र, अन्धकूप, कुम्भीपाक आदि अट्ठाईस नरक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक—इन तीनो परम्पराओमे द्वीपो, समुद्रो, स्वर्गों और नरकोका वर्णन पाया जाता है। इनकी सख्यामे अवश्य भेद है। किन्तु जैनदर्शनकी परम्पराने ही असख्यात द्वीप और समुद्र माने हैं; अन्य किसी परम्पराने नही। इसका कारण क्या है यह विचारणीय विषय है। यह सभीने माना है कि सूर्य और चन्द्रमा निरन्तर मेरुकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं। सभवत इस मान्यताका आधार प्राचीन परम्परा है। परन्तु आधुनिक विज्ञानके अनुसार इस परम्पराका कोई मेल नही बैठता है। फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनो परम्पराओके भूगोल और खगोलके तुलनात्मक अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि आजसे लगभग तीन हजार वर्ष पहले भूगोल और खगोलके सम्बन्धमे लगभग एक जैसी अनुश्रुतियाँ प्रचलित थी।

प्रस्तावनाके अन्तमे विद्वान् सम्पादक महोदयने ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमे विस्तारसे समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है।

●

आचार्य अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीकाका वैदुष्यपूर्ण संपादन : एक समीक्षा

• डॉ० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना

पूर्ववृत्त

लगभग ४९ वर्ष पूर्व ईस्वी सन् १९४६ में 'आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चय टीका' शीर्षकसे एक शोधपूर्ण आलेख 'अनेकान्त' मासिक पत्रमे हमने लिखा था। उस समय यह टीका प्रकाशित नही हुई थी। उसके कोई १२ वर्ष बाद स्वर्गीय डॉ० प० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्यके सुयोग्य सम्पादकत्वमे भारतीय ज्ञानपीठसे ई० १९५८ मे प्रकाशित हुई। यह विशाल टीका दो भागोमे प्रकट हुई है। इसके प्रथम भागके साथ सम्पादककी विद्वत्तापूर्ण अति महत्त्वकी १६४ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना भी सम्बद्ध है। आज यही ग्रन्थ हमारी समीक्षाका विषय है।

मूलग्रन्थ 'सिद्धि-विनिश्चय' है, जिसके रचयिता आचार्य अकलकदेव है। अन्य न्यायविनिश्चयादि तर्क-ग्रन्थोकी तरह इस पर भी उनकी स्वोपज्ञवृत्ति है और मूल तथा स्वोपज्ञवृत्ति दोनो ही अत्यन्त दुरुह एव दुरवगम्य है। अतएव दोनों पर आचार्य अनन्तवीर्यने विशाल टीका लिखी है, जिसका नाम 'सिद्धि-विनिश्चयटीका' है।

उपलब्ध जैन साहित्यमे अनन्तवीर्य नामके अनेक आचार्य हुए हैं। पर उनमे दो अनन्तवीर्य अधिक विश्रुत हैं। एक वे है जिन्होने आ० माणिक्यनन्दिके 'परीक्षामुख' पर 'परीक्षामुखपञ्जिका' नामक वृत्ति लिखी है[1] और जिसे 'प्रमेयरत्नमाला' नामसे अभिहित किया जाता है।[2] ये अनन्तवीर्य परीक्षामुखालकार प्रभाचन्द्रसे उत्तरकालीन हैं और लघु अनन्तवीर्य कहे जाते हैं। इन्होने स्वय प्रमेयरत्नमालाके आरम्भमे प्रभाचन्द्र और उनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुखालकार) का उल्लेख किया है।[3] इनका समय १२वी शती है।

दूसरे अनन्तवीर्य वे है, जिन्होने प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीका लिखी है और जिन्हें बृहदनन्तवीर्य कहा जाता है। ये अकलकदेवके प्रौढ और सम्भवत आद्य व्याख्याकार है। प्रभाचन्द्र और वादिराज इन दोनो व्याख्याकारो द्वारा ये बडे सम्मान एव आदरके साथ अपने पथप्रदर्शकके रूपमे स्मरण किये गये हैं। प्रभाचन्द्र लिखते है कि अकलकदेवकी सक्षिप्त, गहन और दुर्गम पद्धतिको अनन्तवीर्यके व्याख्यानो परसे सैकडो बार सम्यक् अभ्यास करके तथा विवेचन करके बडे पुण्योदयसे प्राप्त (ज्ञात) कर पाया हूँ।[4] इससे यह प्रकट है कि जहाँ ये अनन्तवीर्य प्रभाचन्द्र (११वी शती) से पूर्ववर्ती है वहाँ वे उनकी असाधारण विद्वत्ताको भी मानते हैं और अकलकदेवकी दुरुह कथन शैलीका मर्मोद्घाटक एवं स्पष्ट करनेवाला प्रतिभा-शाली सारस्वत भी बतलाते है।

स्याद्वाद विद्यापति वादिराज (ई० १०२५) कहते है कि अकलकदेवके गूढ पदोका अर्थ अनन्त-वीर्यके वचन-प्रदीप द्वारा ही मैं अवलोकित कर सका[5]। यही वादिराज एक दूसरे स्थानपर अनन्तवीर्यको

---

१. प्रमेयरत्न पृ० २। २ वही, प्रशस्ति, पृ० २१०।

३. वही, पृ० २, श्लोक ३।

४. न्यायकुमुद० द्वि० भा० ५-३०, पृ० ६०५।

५ न्यायवि० विव०, भाग २, १-३।

वन्दना करते हुए लिखते हैं कि मैं अनन्तवीर्यरूपी मेघको वन्दन करता हूँ, जिन्होंने अपनी वचनामृत वर्षाके द्वारा जगतको ध्वस करनेवाली शून्यवादरूपी अग्निको बुझाया[1]। अत: ये अनन्तवीर्य इन दोनो (प्रभाचन्द्र और वादिराज (१०२५) व्याख्याकारोसे पूर्ववर्ती हैं। तथा विद्यानन्द (७७५-८४०) के समकालीन हैं, क्योकि दोनोंमें किसीने किसीका उल्लेख नही किया। अतः अनन्तवीर्यका समय विद्यानन्दका समय (८वी-९वी शती) जान पडता है।[2]

सिद्धिविनिश्चय-टीका

ऊपर हम कह आये है कि यह टीका अकलकदेवके स्वोपज्ञवृत्ति सहित सिद्धिविनिश्चय की है। अकलकदेवके जितने तर्कग्रन्थ हैं वे सभी दुरवगाह, दुरधिगम्य है। टीकाकार अनन्तवीर्य उनकी गहनता प्रकट करते हुए स्वय कहते हैं—

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पद व्यक्तु तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि॥ ३॥

अर्थात्—मै अनन्तवीर्य होकर भी अकलकदेवके पदोको पूर्णत व्यक्त करना नही जानता। इस लोकमे यह बडा आश्चर्य है।

उस समय ऐसे गहन और सक्षिप्त प्रकरणोका रचयिता बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिको माना जाता था। अनन्तवीर्य उनकी अकलकके साथ तुलना करते हुए लिखते हैं—

सर्वधर्मस्य नैरात्म्यं कथयन्नपि सर्वथा।
धर्मकीर्तिः कथं गच्छेदाकलङ्कं पदं ननु॥ ५॥

अर्थात्—सर्व धर्मकी निरात्मकताका कथन करनेवाला धर्मकीर्ति भी अकलङ्कके पदको-समानताको कैसे प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नही।

इससे प्रकट है कि अकलंककी रचनाएँ बेजोड और अत्यन्त दुरूह है।

इनकी दो तरहकी रचनाएँ है—(१) टीकात्मक और (२) मौलिक। टीकात्मक दो हैं—(१) तत्त्वार्थवार्तिक (स्वोपज्ञभाष्य सहित) और (२) अष्टशती (देवागम-विवृति-देवागमभाष्य)। तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य आ० गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रकी विस्तृत व्याख्या है और अष्टशती स्वामी समन्तभद्रके देवागम (आप्त-मीमासा) की विवृति/भाष्य है।

मौलिक ग्रन्थ निम्न है—

१ लघीयस्त्रय (प्रमाण, नय और निक्षेप इन तीन प्रकरणोका समुच्चय), २ न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तियुत) ३. सिद्धिविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित) और ४. प्रमाणसग्रह (स्वोपज्ञवृत्तियुक्त) ये सब सक्षिप्त और सूत्ररूप हैं।

अष्टशतीको वेष्टित करके विद्यानन्दने देवागम पर अपनी विद्वत्तापूर्ण अष्टसहस्री (देवागमालंकार टीका) लिखी है। लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञवृत्तिपर प्रभाचन्द्रने 'लघीयस्त्रयालकार' अपरनाम 'न्याय-कुमुदचन्द्र' नामकी विशाल व्याख्या रची है। 'न्यायविनिश्चय' पर मात्र उसकी कारिकाओको लेकर वादि-

१. पार्श्व० च०।
२. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० २५०।

इसने 'न्यायविनिश्चयविवरण' अथवा 'न्यायविनिश्चयालंकार' नामक वैदुष्यपूर्ण बृहद् व्याख्या लिखी है। उसकी स्वोपज्ञवृत्ति को उन्होंने छोड़ दिया है, इसीसे उन्होंने सन्धि वाक्योंमें 'कारिका विवरण' शब्दका प्रयोग किया है। फलत वह आज अनुपलब्ध है। 'सिद्धिविनिश्चय' और प्रमाणसंग्रह तथा इनकी स्वोपज्ञवृत्तियोंपर अनन्तवीर्यने अपनी महान् व्याख्याएँ—सिद्धिविनिश्चयटीका और प्रमाणसंग्रहभाष्य लिखी हैं। अकलंकके इन व्याख्याकारोंमें अनन्तवीर्यका उन्नत स्थान है और संभवत वे ही अकलंकके आद्य व्याख्याकार हैं। यदि विद्यानन्द अनन्तवीर्यसे पूर्ववर्ती है तो वे अकलंकके प्रथम व्याख्याकार हैं, क्योंकि उनकी अष्टशतीपर अष्टसहस्री लिखनेवाले विद्यानन्द हैं। यद्यपि विद्यानन्दने अष्टसहस्री अष्टशतीपर न लिखकर देवागम (आप्तमीमांसा) पर लिखी है। किन्तु अष्टशती लिखी जानेके बाद अष्टसहस्री लिखी गयी है क्योंकि विद्यानन्दने अष्टशती को अष्टसहस्रीमें ऐसा आवेष्टित किया है, मानो वह अष्टसहस्रीका ही अपना आत्मीय अंश है।

अनन्तवीर्यने प्रभाचन्द्र और वादिराजकी तरह दार्शनिक एवं तार्किक चर्चाओं को न देकर अकलंक के पदोंके साकांक्ष हार्दको ही पूर्णत व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है और वे अपने इस प्रयत्नमें सफल भी हुए हैं। वे अकलंकके प्रत्येक पद, वाक्यादिका समासादि द्वारा योग्यतापूर्ण सुस्पष्ट व्याख्यान करते है। कहीं-कहीं दो-दो, तीन-तीन व्याख्यान करते हुए पाये जाते है। अनन्तवीर्यको हम प्रज्ञाकरकी तरह परपक्षके निराकरणमें मुख्य पाते हैं, स्वपक्ष साधन तो उनके लिए उतना ही है, जितना मूलसे ध्वनित होता है। अकलंककी चोट यदि धर्मकीर्तिपर है तो अनन्तवीर्यकी उनके प्रधान टीकाकार प्रज्ञाकर पर है। अपनी इस टीकामें उन्होंने प्रज्ञाकरका बीसियों जगह नामोल्लेख करके उनके मतका कदर्थन किया है। उनके प्रमाण-वार्तिकालंकारके तो अनेक स्थलोंको उद्धृत करके उसका सर्वाधिक समालोचन किया है। हमारा अनुमान है कि अनन्तवीर्यने जो प्रमाणसंग्रहालंकार/प्रमाणसंग्रहभाष्य लिखा था, जिसका उल्लेख स्वयं उन्होंने सिद्धि-विनिश्चयालंकारमें किया है और जो आज अनुपलब्ध है वह प्रज्ञाकरके प्रमाणवार्तिकालंकारके जवाबमें ही लिखा होगा। दोनोंका नाम साम्य भी यही प्रकट करता है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि अनन्तवीर्यने सबसे ज्यादा प्रज्ञाकरका ही खण्डन किया है, जैसे अकलंकने धर्मकीर्तिका। अत जैन साहित्यमें अकलंकके टीकाकारोंमें अनन्तवीर्यका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो बौद्ध न्याय-साहित्यमें धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें प्रधान टीकाकार प्रज्ञाकरको प्राप्त है और इसलिए अनन्तवीर्यको जैन साहित्यका प्रज्ञाकर कहा जा सकता है।

इनका व्यक्तित्व और वैदुष्य इसीसे जाना जा सकता है कि उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र, वादिराज जैसे टीकाकारोंने उनके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा और सम्मान प्रकट किया है तथा अकलंक पदोंका उन्हें तलस्पर्शी एवं मर्मज्ञ व्याख्याकार कहा है। अकलंककी न्यायकृतियोंमें वस्तुत सबसे अधिक क्लिष्ट और दुर्बोध प्रमाण-संग्रह और सिद्धिविनिश्चय हैं। अनन्तवीर्यने इनपर ही अपनी व्याख्याएँ लिखी है। यद्यपि उनके सामने अकलंकके न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय ग्रन्थ भी थे और जो अपेक्षाकृत उनसे सरल हैं। किन्तु उनपर व्याख्याएँ नहीं लिखी। इससे अनन्तवीर्यकी योग्यता, बुद्धि वैभव और अदम्य साहस प्रतीत होते है। इसीसे ये अनन्तवीर्य 'बृहदनन्तवीर्य' कहे जाते हैं।

अनन्तवीर्यकी गुरु परम्परा

अनन्तवीर्यने अपनी इस टीकामें प्रत्येक प्रस्तावके अन्तमें केवल अपने साक्षात् गुरुका नाम 'रविभद्र' दिया है और अपनेको उनका पादोपजीवी—शिष्य बतलाया है। ये रविभद्र कौन थे ? इस सम्बन्धमें न टीकाकारने कुछ परिचय दिया और न अन्य साधनोंसे कुछ अवगत होता है। इतना ही ज्ञात होता है कि

वे उस समयके विशिष्ट विद्वानाचार्य थे, जिनके चरणोमे बैठकर अनन्तवीर्यने शिक्षण प्राप्त किया होगा। एक बात यह भी प्रकट होती है कि इन अनन्तवीर्यके पूर्व या समसमयमे अनन्तवीर्य नामके दूसरे भी विद्वान् होंगे, जिनसे व्यावृत्त करनेके लिए ये अपनेको 'रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य बतलाते हैं।

अनन्तवीर्यने जो ग्रन्थ रचे हैं वे व्याख्या ग्रन्थ है। सम्भव है इन्होने मौलिक ग्रथ भी रचा हो, जो आज उपलब्ध नही है। व्याख्या ग्रन्थ उनके निम्न दो है—(१) प्रमाणसग्रहभाष्य और (२) सिद्धिविनिश्चयटीका। प्रमाणसग्रहभाष्य अनुपलब्ध है, केवल इसके सिद्धिविनिश्चयटीकामे अनेक जगह उल्लेख आये हैं। इससे मालूम होता है कि वह महत्त्वपूर्ण और एक विशाल व्याख्या ग्रन्थ है। सिद्धिविनिश्चयटीका प्रस्तुत है, जिसका परिचय यहाँ अकित है।

सिद्धिविनिश्चयटीकाकी उपलब्धिका दिलचस्प और दुखपूर्ण इतिहास / परिचय श्रद्धेय इतिहासविद् प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'अनेकान्त' वर्ष १, किरण ३ मे 'पुरानी बातोकी खोज' शीर्षक लेखमे दिया है, जिसमे उन्होने बताया है कि यह टीका एक श्वेताम्बर जैनशास्त्र भण्डारमे सुरक्षित थी, वहाँसे यह प्राप्त हुई। जिनदास गणि महत्तरने 'निशीथचूर्णि और श्रीचन्द्रसूरिने 'जीतकल्पचूर्णि' मे सिद्धिविनिश्चयको दर्शन प्रभावक शास्त्र बतलाया है। इससे अकलंकके 'सिद्धिविनिश्चय' की गरिमा और माहात्म्य प्रकट होता है।

अनन्तवीर्यने मगलाचरणके बाद टीका आरम्भ करते हुए अकलंकके वचनो को अति दुर्लभ निरूपित किया है—

अकलकवचः काले कलौ न कलयाऽपि यत्।
नृषु लभ्य क्वचिल्लब्ध्वा तत्रैवास्तु मतिर्मम ॥ २ ॥

'अकलकके वचनोकी एक कला / अश भी मनुष्यो को अलभ्य है। कही प्राप्त हो जाये तो मेरी बुद्धि उसीमे लीन रहे।'

इसके आगे एक अन्य पद्य द्वारा अकलकके वाङ्मयको सद्रत्नाकर—समुद्र बतलाया है और उसके सूक्त-रत्नोको अनेको द्वारा यथेच्छ ग्रहण किये जानेपर उसके कम न होनेपर भी उसे सद्रत्नाकर ही प्रकट किया है। वह सुन्दर और प्रिय पद्य इस प्रकार है —

अकलंक वचोम्भोधेः सूक्त-रक्तानि यद्यपि।
गृह्यन्ते बहुभिः स्वैरं सद्रत्नाकर एव स ॥ ४ ॥

इसम अकलकने बारह (१२) प्रस्ताव रखे है। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकमे परिच्छेद नाम चुना है और अकलकने परिच्छेदार्थक 'प्रस्ताव' नाम दिया है। वे बारह प्रस्ताव निम्न प्रकार है—१. प्रत्यक्षसिद्धि, २. सविकल्पकसिद्धि, ३ प्रमाणान्तरसिद्धि, ४. जीवसिद्धि, ५. जल्पसिद्धि. ६. हेतुलक्षणसिद्धि, ७ शास्त्रसिद्धि, ८ सर्वज्ञसिद्धि, ९. शब्दसिद्धि, १०, अर्थनयसिद्धि, ११. शब्दनयसिद्धि और १२. निरक्षेपसिद्धि। प्रस्तावोमे विषयका वर्णन उनके नामोसे ही अवगत हो जाता है।

टीकामे मूलभाग उस प्रकारसे अन्तर्निहित नही है जिस प्रकार प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमे लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति है। किन्तु कारिका और उसकी वृत्तिके आदि अक्षरोके प्रतीक मात्र दिये गये हैं। इससे यह जानना बडा कठिन है कि यह मूल कारिका-भाग है और यह उसकी वृत्ति है। टीकासे अलग मूलकारिका भाग तथा वृत्तिभाग अन्यत्र उपलब्ध नही, जिसकी सहायतासे उसे टीका परसे अलग

किया जा सके। नि सन्देह इसके लिये बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। स्व० प० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस दिशामें कुछ प्रयत्न करके निम्न मगलाचरण कारिकाको उद्धृत किया था—

सर्वज्ञं सर्वतत्त्वार्थस्याद्वादन्यायदेशिनम्।
श्रीवर्द्धमानमभ्यर्च्य वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम् ॥

हमने भी एक कारिकाको उद्धृत किया है वह यह है—

समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।
पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्ग प्रभावना ॥

—हस्त-लि० प्रति पृ० ७३५ (प्रस्ता० ५)।

सम्पादकका स्तुत्य प्रयत्न

स्व० डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने बहु प्रयास करके उन दोनोको टीका परसे उद्धृत किया है। इस दुष्कर कार्यमे उन्हें पाँच वर्ष लगे थे। यह उनका अदम्य साहस था। टीकाका योग्यतापूर्ण सम्पादन किया है। ग्रन्थके साथ १६४ पृष्ठकी महत्त्वपूर्ण एव असाधारण परिश्रमसे लिखी गयी प्रस्तावना भी निबद्ध की गयी है, जिसमे ग्रन्थकार, ग्रन्थ और सम्पादन सामग्रीकी योजना पर विस्तृत विमर्श किया गया है। ग्रन्थकार-भागमे जैन न्यायके ग्रन्थकारोका विस्तारसे शोधपूर्ण परिचय दिया गया है। ग्रन्थ-भागमे प्रमाण, नय, निक्षेप, सर्वज्ञ, स्याद्वाद, अनेकान्त, सप्तभगी प्रभृति विषयो पर सूक्ष्म प्रकाश डाला गया है।

भारतीय दर्शनोके विशेषज्ञ डॉ० गोपीनाथ कविराज और तत्कालीन उत्तर प्रदेशके मुख्यमत्री श्री सम्पूर्णानन्दके प्राक्कथन भी ग्रन्थके आरम्भमे दिये गये हैं।

सबसे बड़े आश्चर्यकी बात यह है कि इस ग्रन्थके सम्पादनमे शतश ग्रन्थोका अनुशीलन सम्पादकके घोर परिश्रम और अध्ययनको सूचित करता है। पण्डितजीको इसपर काशी हिन्दू विश्वविद्यालयने पी०-एच० डी० की उपाधि प्रदान कर उनके पाण्डित्यका सम्मान भी किया।



पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके द्वारा संपादित एवं अनूदित 'षड्दर्शनसमुच्चय' को समीक्षा

• डॉ० सागरमल जैन, वाराणसी

पं० महेन्द्रकुमारजी 'न्यायाचार्य' के वैदुष्यको समझना हो, उनकी प्रतिभा एवं व्यक्तित्वका मूल्यांकन करना हो तो हमे उनकी सम्पादित एव अनूदित कृतियोका अवलोकन करना होगा। जिनमे एक समदर्शी आचार्य हरिभद्रका 'षड्दर्शनसमुच्चय' और उसकी गुणरत्नकी टीकाका सम्पादन-अनुवाद है। उनकी यह कृति भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (वर्तमानमे देहली) से सन् १९६९ मे उनके स्वर्गवासके दस वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुई है। उनकी इस कृति पर उनके अभिन्न मित्र एव साथीकी विस्तृत भूमिका है। प्रस्तुत समीक्षामें मैंने उन पक्षो पर जिनपर प० दलसुखभाईकी भूमिकामे उल्लेख हुआ है, चर्चा नही करते हुए मुख्यत उनकी अनुवाद शैलीको ही समीक्षाका आधार बनाया है।

यदि हम भारतीय दर्शनके इतिहास मे सभी प्रमुख दर्शनोके सिद्धान्तोको एक ही ग्रन्थमे पूरी प्रामाणिकताके साथ प्रस्तुत करने हेतु किए गये प्रयत्नोको देखते हैं तो हमारी दृष्टिमें हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति है जिन्होने अपने समयके सभी प्रमुख सभी भारतीय दर्शनोको निष्पक्ष रूपसे एक ही ग्रन्थमे प्रस्तुत किया है। हरिभद्रके 'षड्दर्शनसमुच्चय' की कोटिका कोई अन्य दर्शन सग्राहक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नही होता है। यद्यपि हरिभद्रके पूर्व और हरिभद्रके पश्चात् भी अपने-अपने ग्रन्थोमें विविध दार्शनिक सिद्धान्तोको प्रस्तुत करनेका कार्य अनेक जैन एव जैनेतर आचार्योंने किया है, किन्तु उन सबका उद्देश्य अन्य दर्शनोकी समीक्षा कर अपने दर्शनकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करना ही रहा है। चाहे फिर वह मल्लवादीका द्वादशार-नयचक्र हो या शकरका सर्वसिद्धान्तसग्रह हो या मध्वाचार्यका सर्वदर्शनसग्रह हो। इन ग्रन्थोमे पूर्वदर्शनका उन्ही दर्शनोंके द्वारा निराकरण करते हुए अतमे अपने सिद्धान्तकी सर्वोपरिता या श्रेष्ठताकी स्थापना की गई है। इसी प्रकारका एक प्रयत्न जैनदर्शनमे हरिभद्रके लगभग तीन वर्ष पूर्व पाँचवी शताब्दीमे मल्लवादीके नयचक्रमे भी देखा जाता है। उसमे भी एकदर्शनके द्वारा दूसरे दर्शनका खण्डन कराते हुए अन्तिम दर्शनका खण्डन प्रथम दर्शनसे करवाकर एक चक्रकी स्थापना की गई है। यद्यपि नयचक्र स्पष्टरूपसे जैनदर्शनकी सर्वोपरिताको प्रस्तुत नही करता किन्तु उसकी दृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवादके मण्डन और परपक्षके खण्डनकी ही रही है। यही स्थिति सर्वसिद्धान्तसग्रह और सर्वदर्शनसग्रहकी भी है। उनमे भी स्वपक्षके मण्डनकी प्रवृत्ति रही है। अत ये जैन दार्शनिक हो या जैनेतर दार्शनिक, सभीके दर्शन सग्राहक ग्रन्थोमें मूल उद्देश्य तो अपने दर्शनकी सर्वोपरिताको प्रतिस्थापना ही रही है। हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयकी जो विशेषता है वह जैन और जैनेतर परम्पराके अन्यदर्शन सग्राहक ग्रथोमे नही मिलती। यह हरिभद्रकी उदार और व्यापक दृष्टि थी, जिसके कारण उनके द्वारा सम्प्रदायनिरपेक्ष षड्दर्शनसमुच्चयकी रचना हो पाई। उनके षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय इन दोनोमे अन्य दर्शनोंके प्रति पूर्ण प्रामाणिकता और आदरका तत्त्व देखा जाता है। उन्होने षड्दर्शनसमुच्च मे अन्य दर्शनोंको अपने यथार्थरूपमे प्रस्तुत किया है।

हरिभद्रके इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर गुणरत्नसूरिकृत टीका है। किन्तु ज्ञातव्य है कि टीकामें

उस उदार दृष्टिका निर्वाह नही देखा जाना जो मूल ग्रन्थकार की है क्योकि टीकामे चतुर्थ अधिकारमें जैनमतके प्रस्तुतीकरणके साथ अन्य मतोकी समीक्षा भी की गई है जब कि हरिभद्रकी कारिकाओंमें इस प्रकारका कोई भी संकेत नही मिलता है। इस टीकामे जैनदर्शनकी प्रतिस्थापनाका प्रयत्न अतिविस्तारसे हुआ। टीकाका आधे से अधिक भाग तो मात्र जैनदर्शनमे सम्बन्धित है, अत टीकाके विवेचनमे वह सन्तुलन नही है जो हरिभद्रके मूल ग्रन्थमें है।

हरिभद्रका यह मूलग्रन्थ और उसकी टीका यद्यपि अनेक भडारोमे हस्तप्रतियोके रूपमे उपलब्ध थे किन्तु जहाँ तक हमारी जानकारी है गुजराती टीकाके साथ हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयका सर्वप्रथम प्रकाशन एसियाटिक सोसायटी, कलकत्तासे १९०५ मे हुआ था। इसी प्रकार मणिभद्रकी लघुवृत्तिके साथ इसका प्रकाशन चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणसीके द्वारा १९२० मे हुआ। इस प्रकार षड्दर्शनसमुच्चय मूलका-टीकाके साथ प्रकाशन उसके पूर्व भी हुआ था किन्तु वैज्ञानिक रीतिमे सम्पादन और हिन्दी अनुवाद अपेक्षित था। इस ग्रथका वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन और हिन्दी अनुवादका यह महत्त्वपूर्ण कार्य पडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके द्वारा किया गया। सम्भवत उनके पूर्व और उनके पश्चात् भी इस ग्रन्थका ऐसा अन्य कोई प्रामाणिक सस्करण आज तक नही प्रकाशित हो पाया है।

अनेक प्रतियोसे पाठोका मिलान करके और जिस ढगसे मूलग्रन्थको सम्पादित किया गया था वह निश्चित ही एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य रहा होगा जिसमे पंडितजी को अनेक कष्ट उठाने पडे होगे। दुर्भाग्यसे इस ग्रन्थ पर उनकी अपनी भूमिका न हो पानेके कारण हम यह नही समझ पा रहे हैं कि मूल प्रतियोको प्राप्त करके अथवा एक प्रकाशित सस्करणके आधार पर इस ग्रन्थको सम्पादित करनेमे किन-किन कठिनाइयोका सामना करना पडा होगा। इस ग्रन्थके सदर्भमे अपने पाडुलिपिमे जो सूचना मिलती है इससे मात्र इतना ज्ञात होता है कि उन्होने षड्दर्शनसमुच्चय मूल और गुणरत्न टीकाका अनुवाद २५/६।४० को ४ बजे पूर्ण किया था किन्तु उनके संशोधन उसपर टिप्पण लिखनेका कार्य वे अपनी मृत्यु जून १९५९ के पूर्व तक करते रहे। इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि उन्होने इस ग्रन्थको अन्तिम रूप देनेमे पर्याप्त परिश्रम किया है। खेद तो यह भी है कि वे अपने जीवनकालमे न तो इसकी भूमिका लिख पाए न इसे प्रकाशित रूपमे ही देख पाये।

भारतीय ज्ञानपीठमे प्रकाशित होकर यह ग्रन्थ जिस रूपमे हमारे सामने आया और उनके श्रम एवं उनकी प्रतिभाका अनुमान किया जा सकता है। यह तो एक सुनिश्चित तथ्य है कि सस्कृतकी अधिकाश टीकाएँ मूलग्रन्थसे भी अधिक दुष्कर हो जाती हैं और उन्हे पढकर समझ पाना मूलग्रन्थकी अपेक्षा भी कठिन होता है। अनेक सस्कृत ग्रन्थोकी टीकाओ विशेषरूपसे जैनदर्शनसे सम्बन्धित ग्रन्थोकी सस्कृत टीकाओके अध्ययनसे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि टीकाओका अनुवाद करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। सामान्यतया यह देखा जाता है विद्वज्जन अनुवादमे ग्रन्थके मूलशब्दोको यथावत् रखकर अपना काम चला लेते हैं किन्तु इससे विषयकी स्पष्टतामे कठिनाई उत्पन्न होती है। 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' रखकर अनुवाद तो किया जा सकता है किन्तु वह पाठकोके लिए बोधगम्य और सरल नही होता। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी अनुवाद शैलीका यह वैशिष्ट्य है कि इनका अनुवाद मूलग्रन्थ और उसकी टीकाकी अपेक्षा अत्यन्त सरल और सुबोध है। दर्शनके ग्रन्थको सरल और सुबोध ढंगसे प्रस्तुत करना केवल उसी व्यक्तिके लिए सभव होता है जो उन ग्रन्थोको आत्मसात् कर प्रस्तुतीकरणकी क्षमता रखता हो। जिसे विषय ज्ञान न हो वह चाहे कैसा ही भाषाविद हो सफल अनुवादक नही होता है।

अनुवादके क्षेत्रमें प० महेन्द्रकुमारजी ने मूल टीकाकी अपेक्षा भी अर्थमे विस्तार किया है किन्तु इस विस्तारके कारण उनकी शैलीमे जो स्पष्टता और सुबोधता आई है वह निश्चय ही ग्रन्थको सरलतापूर्वक समझानेमे सहायक होती है। उदाहरणके रूपमे ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वकी सरल शब्दोमें समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—अच्छा यह भी बताओ कि ईश्वर ससारको क्यो बनाता है ? क्या वह अपनी रुचिसे जगत्को गढ़ने बैठ जाता है ? अथवा हम लोगोके पुण्य-पापके अधीन होकर इस जगत्की सृष्टि करता है या दयाके कारण यह जगत् बनाता है या उसने क्रीडाके लिए यह खेल-खिलौना बनाया है। किंवा शिष्टोकी भलाई और दुष्टो को दण्ड देनेके लिए यह जगत्-जाल बिछाया है या उसका यह स्वभाव ही है कि वह बैठे ठाले कुछ न कुछ किया ही करे। यदि हम उनकी इस व्याख्या को मूलके साथ मिलान करके देखते है तो यह पाते हैं कि मूल टीका मात्र दो पक्तियोमे है जबकि अनुवाद विस्तृत है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह अनुवाद शब्दानुसारी न होकर विषयको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे ही हुआ है। प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके इस अनुवाद शैलीकी विशेषता यह है कि वे इसमे किसी दुरूह शब्दावलीका प्रयोग न करके ऐसे शब्दो की योजना करते है जिससे सामान्य पाठक भी विषयको सरलतापूर्वक समझ सके। इस अनुवादसे ऐसा लगता है कि इसमे पडितजीका उद्देश्य अपने वैदुष्य का प्रदर्शन करना नही है, अपितु सामान्य पाठकको विषयका बोध कराना है। यही कारण है कि उन्होने मूल टीकामे हटकर भी विषयको स्पष्ट करनेके लिए अपने ढगसे उदाहरण प्रस्तुत किए है।

प० महेन्द्रकुमारजीके इस अनुवादकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होने अपनी व्याख्यामे जनसामान्य की परिचित शब्दावलीका ही उपयोग किया है। उदाहरणके रूपमे जैनदृष्टिसे ईश्वरके सृष्टिकर्ता होनेकी समीक्षाके प्रसगमे वे लिखते हैं कि यदि ईश्वर हम लोगोके पाप-पुण्यके आधारपर ही जगत्की सृष्टि करता है तो उसकी स्वतन्त्रता कहाँ रही। वह काहेका ईश्वर। वह तो हमारे कर्मोके हुकुमको बजानेवाला एक मैनेजर सरीखा ही हुआ। यदि ईश्वर कृपा करके इस जगत्को रचता है तो ससारमे कोई दु.खी प्राणी नही रहना चाहिए, खुशहाल और सुखी ही सुखी उत्पन्न हो। इस शब्दावलीमे हम स्पष्ट अनुमान कर सकते हैं कि पडितजीने दर्शन जैसे दुरूह विषयको कितना सरस और सुबोध बना दिया है। यह कार्य सामान्य पडित का नही अपितु एक अधिकारी विद्वान् का ही हो सकता है।

वस्तुत यदि इसे अनुवाद कहना हो तो मात्र इस प्रकारका कहा जा सकता है कि उन्होने टीकाके मूल तर्कों और विषयोका अनुसरण किया है किन्तु यथार्थमे तो यह टीकापर आधारित एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है। दर्शन जैसे दुरूह विषयके तार्किक ग्रन्थोकी ऐसी सरल और सुबोध व्याख्या हमे अत्यन्त कम ही देखने को मिलती है। यह उनकी लेखनीका ही कमाल है कि वे बात-बातमे ही दर्शनकी दुरूह समस्याओको हल कर देते हैं। हरिभद्रके ही एक ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चयकी टीका अनुवाद सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालयके पूर्व कुलपति स्व० प० बद्रीनाथ शुक्लने किया है किन्तु उनका यह अनुवाद इतना जटिल है कि अनुवादकी अपेक्षा मूलग्रन्थसे विषयको समझ लेना अधिक आसान है। यही स्थिति प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अष्टसहस्री आदि जैनदार्शनिक ग्रन्थोंके हिन्दी अनुवाद की है। वस्तुत किसी व्यक्तिका वैदुष्य इस बात मे नही झलकता कि पाठकको विषय अस्पष्ट बना रहे, वैदुष्य तो इसीमे है कि पाठक ग्रन्थको सहज और सरल रूपमे समझ सके। प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी यही एक ऐसी विशेषता उन्हे उन विद्वानोकी उस कोटिमे लाकर खड़ी कर देती है जो गम्भीर विषयको भी स्पष्टताके साथ समझने और समझानेमे सक्षम है।

सामान्यतया सस्कृतके ग्रन्थोके व्याख्याताओं या अनुवादकोको यह समझनेमे एक कठिनाई यह होती

है कि मूलग्रन्थ या टीकाओंमें पूर्वपक्ष कहाँ समाप्त होता है और उत्तरपक्ष कहाँसे प्रारम्भ होता है किन्तु पं० महेन्द्रकुमारजीने अपने अनुवादमें ईश्वरवादी जैन अथवा शंका-समाधान ऐसे छोटे-छोटे शीर्षक देकरके बहुत ही स्पष्टताके साथ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षको अलग-अलग रख दिया ताकि पाठक दोनों पक्षोंको अलग-अलग ढंगसे समझ सके।

भाषाकी दृष्टिसे पंडितजीके अनुवादकी भाषा अत्यन्त सरल है। उन्होंने दुरूह संस्कृतनिष्ठ वाक्यों की अपेक्षा जनसाधारणमें प्रचलित शब्दावलीका ही प्रयोग किया है। यही नहीं, यथास्थान उर्दू और अंग्रेजी शब्दोंका भी निःसंकोच प्रयोग किया है। उनके अनुवादमें प्रयुक्त कुछ पदावलियों और शब्दोंका प्रयोग देखें—"यह जगत् जाल बिछाया है।" "कर्मोंके हुकुमको बजानेवाला मैनेजर", "बैठे-ठाले"; "हाइड्रोजन में जब आक्सीजन" अमुक मात्रामें मिलता है तो स्वभावसे ही जल बन जाता है, "इसके बीचके ऐजेन्ट ईश्वर की क्या आवश्यकता है", बिना जोते हुए अपनेसे ही उगनेवाली जंगली घास, "प्रत्यक्षसे कर्ताका अभाव निश्चित है।" (देखें पृ० १०२-१०३) आदि। वस्तुतः ऐसी शब्द योजना सामान्य पाठकके लिए विषयको समझनेमें अधिक कारगर होती है।

जहाँ तक पं० महेन्द्रकुमारजीके वैदुष्यका प्रश्न है, इस ग्रन्थकी व्याख्यासे वह अपने आप ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब तक व्यक्ति षड्दर्शनों एवं मात्र इतना ही नहीं उनके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका सम्यक् ज्ञाता न हो तब तक वह उनकी टीका नहीं लिख सकता। यद्यपि प्रस्तुत टीकामें जैनदर्शनके पूर्वपक्ष एवं पूर्वपक्षको विस्तार दिया है किन्तु अन्य दर्शनोंके भी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष तो अपनी जगह उपस्थित हुए ही हैं। अतः षड्दर्शनसमुच्चय जैसे ग्रन्थकी टीकापर एक नवीन व्याख्या लिख देना केवल उसी व्यक्तिके लिए सम्भव है जो किसी एक दर्शनका अधिकारी विद्वान् न होकर समस्त दर्शनोंका अधिकारी विद्वान् हो। पं० महेन्द्रकुमारजीकी यह प्रतिभा है कि वे इस ग्रन्थकी सरल और सहज हिन्दी व्याख्या कर सके। दार्शनिक जगत् उनके इस अवदानको कभी भी नहीं भुला पाएगा। वस्तुतः उनका यह अनुवाद, अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है।

उनकी वैज्ञानिक सम्पादन पद्धतिका यह प्रमाण है कि उन्होंने प्रत्येक विषयके सन्दर्भमें अनेक जैन एवं जैनेतर ग्रन्थोंसे प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। सन्दर्भ ग्रन्थोंकी यह संख्या सम्भवतः सौसे भी अधिक होगी जिनके प्रमाण टिप्पणीके रूपमें तुलना अथवा पक्ष समर्थनकी दृष्टिसे प्रस्तुत किए गए हैं। ये टिप्पण पं० महेन्द्रकुमारजीके व्यापक एवं बहुमुखी प्रतिभाके परिचायक हैं। यदि उन्हें इन सब ग्रन्थोंका विस्तृत अवबोध नहीं होता तो यह सम्भव नहीं था कि वे इन सब ग्रन्थोंमें टिप्पण दे पाते। परिशिष्टोंके रूपमें षड्दर्शनसमुच्चयकी मणिभद्रकृत लघुवृत्ति, अज्ञातकर्तृक अवचूर्णिके साथ-साथ कारिका, शब्दानुक्रमिका, उद्धृत वाक्य, अनुक्रमणिका, संकेत विवरण आदिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पं० महेन्द्रकुमारजी केवल परम्परागत विद्वान् ही नहीं थे अपितु वे वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन-कलामें भी निष्णात थे। वस्तुतः उनकी प्रतिभा बहुमुखी और बहुआयामी थी, जिसका आकलन उनकी कृतियोंके सम्यक् अनुशीलनसे ही पूर्ण हो सकता है। षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नकी टीकापर उनकी यह हिन्दी व्याख्या वस्तुतः भारतीय दर्शन जगत्को उनका महत्त्वपूर्ण अवदान है जिसके लिए वे विद्वज्जगत्में सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

प्रमेयकमलमार्तण्डका सम्पादन : एक समीक्षा

• डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

किसी भी प्राचीन ग्रन्थका उद्धार करके उसका साङ्गोपाङ्ग सम्पादन और प्रकाशन अति दुष्कर कार्य है। किन्तु जिस विद्वान्ने विविध कठिनाइयोंके बाद भी अनेक प्राचीन दार्शनिक दुर्लभ एवं जटिल बृहद् ग्रन्थोंका सम्पादन-कार्य किया हो उसके अद्भुत वैदुष्य, प्रतिभा, श्रम-साधना और अदम्य उत्साहके विषयमें जितना लिखा जाए, कम ही होगा। ऐसे विरले ही साहित्य-साधक होते हैं जिन्होंने अपने अल्प जीवनकालमें ही इतने विस्तृत, विपुल एवं कठिन अनेक जैन दार्शनिक ग्रन्थोंको सुसम्पादित करके जैन साहित्यकी सेवामें अपनेको समर्पित कर दे। किन्तु डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने यही सब करके स्वयंको जैन दार्शनिकोंकी गौरवशाली परम्परामें सम्मिलित कर लिया है। आपके द्वारा सम्पादित अनेक ग्रन्थोंकी शृंखलामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थके सम्पादन-कार्यकी समीक्षा प्रस्तुत है—

समृद्ध भारतीय मनीषाकी प्रत्येक परम्परामें उपलब्ध प्राचीन सूत्रग्रन्थोंपर अनेकानेक व्याख्यायें प्राप्त होती हैं। जैन परम्पराके आद्य संस्कृत सूत्रग्रन्थकी तरह जैनन्यायके आद्य सूत्रग्रन्थ आचार्य माणिक्य-नन्दि (आठवीं शती) प्रणीत 'परीक्षामुखसूत्र'' पर भी अनेक टीकाये लिखी गईं। किन्तु इन सभी टीकाओं-की यह एक अन्यतम विशेषता है कि ये सभी अपने आपमें स्वतंत्र ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। इन सब टीकाओंके नाम भी अलग-अलग हैं। इनमें से कुछ तो प्रकाशित होनेके कारण प्रसिद्ध हैं तो कुछ टीकाग्रन्थ अब तक इसीलिए प्रसिद्ध नहीं हो सके क्योंकि वे अभी तक अप्रकाशित हैं। सर्वप्रथम इन सबका उल्लेख आव-श्यक है।

प्रकाशित टीका-ग्रन्थ

इनके अन्तर्गत (१) आचार्य प्रभाचंद्र (११वीं शती) विरचित प्रमेयकमलमार्तण्ड अपरनाम परीक्षा-मुखालङ्कार, (२) आचार्य लघु अनंतवीर्य (१२वीं शतीका पूर्वार्द्ध) विरचित प्रमेयरत्नमाला (चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी द्वारा सन् १९६४ में प्रकाशित), (३) भट्टारक अभिनव चारुकीर्ति (१९वीं शती) द्वारा प्रणीत प्रमेयरत्नमालालंकार (मैसूर युनिवर्सिटी द्वारा सन् १९४८ में प्रकाशित) तथा शान्ति वर्णी विरचित प्रमेयकण्ठिका (भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित) प्रमुख हैं।

अप्रकाशित टीका-ग्रन्थ

(१) भट्टारक अजितसेन (वि० सं० १९८०) प्रणीत न्यायमणिदीपिका, (२) विजयचन्द्र विरचित प्रमेयरत्नमाला अर्थप्रकाशिका, (३) पं० जयचन्दजी छावड़ा (वि० सं० १९वीं शती) प्रणीत प्रमेयरत्न-माला-परीक्षामुख भाषा वचनिका प्रमुख हैं। इनमें से प्रायः सभी प्रकाशित-अप्रकाशित टीकाग्रन्थोंकी हस्त-लिखित पाण्डुलिपियाँ आरा (बिहार) के सुविख्यात जैन सिद्धान्त भवनमें सुरक्षित है।

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्डका सर्वप्रथम प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे पं० बंशीधर जी शास्त्री, सोलापुरके सम्पादकत्वमें हुआ था। इसके बाद यहीसे सन् १९४१ में द्वितीय संस्करणके रूप-में मूलग्रन्थ अनेक टिप्पणियों एवं ८३ पृष्ठीय विस्तृत सम्पादकीय वक्तव्यमें विविध दार्शनिकों एवं उनकी कृतियोंसे तुलनात्मक विवेचन, बृहद् प्रस्तावना और लगभग पचास पृष्ठीय अनेक परिशिष्टोंसे युक्त सांगोपांग प्रकाशन डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके सम्पादकत्वमें हुआ। यह उस समयके प्रकाशनोंमें सम्पादित आदर्श

कृति है और आज भी सम्पादनके आदर्शोका एक अनुपम उदाहरण है। आचार्य प्रभाचन्द्रकी यह दार्शनिक कृति संस्कृत गद्यका भी उत्कृष्ट उदाहरण है। यह कृति अभी तक मूलग्रन्थके रूपमें ही प्रकाशित होनेसे सामान्य पाठक इसके हार्दको समझनेमें कठिनाईका सामना करते थे। किन्तु यह प्रसन्नताका विषय है कि न्यायाचार्यजी द्वारा सुसम्पादित प्रस्तुत मूलग्रन्थके आधार पर ही इसके प्रकाशनके लगभग चार दशक बाद विदुषी आर्यिका जिनमती माताजी द्वारा हिन्दी अनुवाद विशेष विवेचनयुक्त भावार्थके साथ तीन भागोंमें प्रकाशित हो जानेसे जन साधारणका उस ग्रन्थका हार्द समझना तथा विविध विश्वविद्यालयों और शिक्षण संस्थानोंके पाठ्यक्रममें अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसंधानका मार्ग सुगम हो गया है। इतने कठिन ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद भी प० महेन्द्रकुमारजी द्वारा सुसम्पादित प्रस्तुत कृतिके आधार पर ही सम्भव हो सका। हिन्दी अनुवाद सहित इन तीन खण्डोंका प्रकाशन वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, हस्तिनापुरके माध्यमसे सन् १९७० से १९८६ के मध्य अलग-अलग श्रद्धालु दातारों द्वारा हुआ है।

ग्रन्थ-परिचय

आचार्य माणिक्यनन्दि प्रणीत जैनन्यायके सूत्रग्रन्थ "परीक्षामुख सूत्र" पर बारह हजार श्लोक प्रमाण "प्रमेयकमलमार्तण्ड" नामसे बृहद् टीका लिखकर आ० प्रभाचन्द्रने ग्रन्थगत मूलसूत्रोंके विषयको स्पष्ट और विस्तृत विवेचित तो किया ही, अपनी अनेक मौलिक उद्भावनाओंके साथ तत्कालीन प्रचलित उन सभी भारतीय दार्शनिकों और न्यायशास्त्रियोंके पक्षों एवं चर्चित विषयोंको पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत करके अनेकान्तमय प्रबल प्रमाणों द्वारा खण्डनात्मक अकाट्य उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए जैनन्यायको गौरव प्रदान किया और उसके विकासका मार्ग प्रशस्त बनाया। इसीलिए यह ग्रन्थ मात्र टीका ग्रन्थ ही न रहकर आरम्भसे ही मौलिक ग्रन्थके रूपमें भी इसकी अधिक ख्याति रही। यह ग्रन्थ अपने नामको सार्थक करते हुए प्रमेयरूपी कमलोंको उद्भासित करनेके लिए मार्त्तण्ड (सूर्य) के समान है तथा मिथ्या-अभिनिवेशरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए भी मार्तण्ड (सूर्य) के सदृश होनेसे भी यह ग्रन्थ अपने नामको सार्थक करता है। वस्तुतः जैसे सूर्य कमलोंको विकसित करता है, वैसे ही यह ग्रन्थ समस्त प्रमेयोंको प्रदर्शित करता है।

आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि बारह ग्रन्थ प्रणीत होनेके उल्लेख मिलते हैं किन्तु इनकी ख्याति मुख्यतः इन्हीं दो न्याय ग्रन्थोंके कारण ही विशेष है। इन दोनों ग्रन्थोंमें ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शनोंकी प्रायः सभी शाखाओंकी प्रमुख मान्यताओंको उनके विविध मूलभूत प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारपर आ० प्रभाचन्द्रने गहन अध्ययन एवं मथन करके ही उन्हें पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत किया। प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ ही इतना सर्वाङ्ग परिपूर्ण है कि मात्र अकेले इस ग्रन्थके आधारपर ही सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय दर्शनोंको समझा जा सकता है। जबकि इस ग्रन्थका प्रमुख उद्देश्य मुख्यतः प्रमाण-तत्त्वका विवेचन है।

सम्पादन-कार्यकी विशेषतायें

डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित प्रमेयकमलमार्तण्डका प्रस्तुत संस्करण श्रेष्ठ एवं आदर्श सम्पादनकलाका एक कीर्तिमान उदाहरण है। प० जी द्वारा सम्पादित प्रस्तुत ग्रन्थका जिसने भी अध्ययन किया, प० जी के अगाध पाण्डित्य एवं अपूर्व श्रम तथा साहित्यसाधनाकी उसने भरपूर प्रशंसा की। सर्वाङ्गीण तुलनात्मक अध्ययनकी दिशामें इस ग्रन्थकी महत्ता तो प्रत्येक पृष्ठपर उल्लिखित भरपूर पाद-टिप्पणियोंके आधारसे ही सिद्ध है। जो विद्वान् इस प्रकारके सम्पादन-कार्यमें गहरी रुचि रखते हैं, इस

प्रकारके कार्योंको ईमानदारीसे सम्पादित करनेमे ही विश्वास रखते हैं वे प० महेन्द्रकुमारजीकी सारस्वत साधनासे प्रसूत इस अप्रतिम कृतिका एक आदर्श कृतिके रूपमे मूल्याकन किये बिना नही रह सकता। पं० जीने स्वयं इसके सम्पादकीय आद्य वक्तव्यमे प्रस्तुत सस्करणकी विशेषताओका उल्लेख करते हुए लिखा है—

जब न्यायकुमुदचन्द्रका सम्पादन चल रहा था तब श्रीयुत कुन्दनलालजी जैन तथा प० सुखलालजी संघवीके आग्रहसे मुझे प्रमेयकमलमार्त्तण्डके पुन सम्पादनका भी भार लेना पडा। इसके प्रथम संस्करणके सपादक प० बशीधरजी शास्त्री, सोलापुर थे। मैंने उन्हीके द्वारा सम्पादित प्रतिके आधारसे ही इस सस्करण-का सम्पादन किया है। मैने मूलपाठका शोधन, विषय वर्गीकरण, अवतरण निर्देश तथा विरामचिह्न आदिका उपयोगकर इसे कुछ सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया है। प्रथम तो यही विचार था कि न्यायकुमुदचन्द्रकी ही तरह इसे तुलनात्मक तथा अर्थबोधक टिप्पणोसे पूर्ण समृद्ध बनाया जाय, और इसी सकल्पके अनुसार प्रथम अध्यायमे कुछ टिप्पण भी दिये गए हैं। ये टिप्पण अग्रेजी अकोके साथ चालू टिप्पणके नीचे पृथक् मुद्रित कराए हैं। परन्तु प्रकाशककी मर्यादा, प्रेसकी दूरी आदि कारणोसे उस सकल्पका दूसरा परिच्छेद प्रारम्भ नही हो सका और यह प्रथम परिच्छेदके साथ ही समाप्त हो गया। आगे तो यथासभव पाठशुद्धि करके ही इसका सपादन किया है।

सपादक न्यायाचार्यजीके उपर्युक्त कथनमे स्पष्ट है कि वे इसे और भी अनेक टिप्पणो, पाठभेदो आदिमे युक्त प्रकाशित करानेके इच्छुक थे किन्तु अनेक कठिनाइयोके कारण वे ऐसा नही कर सके। फिर भी प० बशीधरजी, सोलापुर द्वारा सम्पादित प्रथम सस्करणकी अपेक्षा न्यायाचार्यजी द्वारा सम्पादित इस द्वितीय सस्करणमे अनेक विशेषतायें हैं। इनमेसे कुछ इस प्रकार हैं—प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन वैज्ञानिक विधि से अर्थात् स्पष्ट और विस्तृत विषयसूची दी गई है, अनेक परिशिष्ट दिये गये है और शब्दानुक्रमणिका भी है। इनसे पाठकको इतने बृहद् मूलग्रन्थमे भी सम्बद्ध विषयको खोजनेमे कठिनाई नही होती।

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थका दूसरा नाम परीक्षामुखालङ्कार भी है अत तदनुरूप प्रस्तुत सस्करणमे मूल-ग्रन्थ परीक्षामुखके सूत्रोको उसकी वृत्तिके पूर्व यथास्थान रखकर व्यवस्थित किया है। इससे तद-तद् सूत्रकी व्याख्याका पृथक्करण हो गया, अन्यथा कुछ पाठकोको पता ही नही चल पाता था कि किस सूत्रको व्याख्या कहाँसे प्रारम्भ है और कहाँ समाप्त है। इसी तरह प्रकरण और अर्थकी दृष्टिसे अशुद्धियोका सशोधन भी किया गया है। यद्यपि प्रथम सस्करणमे मुद्रित टिप्पण एक ही हस्तलिखित प्रतिसे लिये गये थे। अत उनमे कुछ-कुछ अस्तव्यस्तता और अशुद्धियाँ दिखलाई पडती थी किन्तु प्राचीन टिप्पणोकी मौलिकताके संरक्षणके उद्देश्यसे न्यायाचार्यजीने उन्हे इस अपने सस्करणमे भी यथावत् रहने दिया किन्तु साथ ही कुछ अन्य प्रतियोके और भी टिप्पण साथमे दे दिये है।

प्रस्तुत संस्करणको और भी अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण बनानेके लिए न्यायाचार्यजीने जो बहुत ही श्रमसाध्य कठिन कार्य किया है, वह है विविध जैन और जैनेतर मूलग्रन्थोके अनेको अवतरण, जिन्हें आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रतिपाद्य विषयकी पुष्टि हेतु अपने इस ग्रन्थमे उद्धृत किया था और हस्तलिखित ग्रन्थोकी प्रतिलिपियाँ करते समय लिपिकारोने लगभग उन्हे मूलग्रन्थमे ही सम्मिलित कर लिया था। न्याया-चार्यजीने उन अवतरणोको अलग दिखलानेकी दृष्टिसे उन उद्धरणोको इनवर्टेड कामा (" ") मे रख कर प्रस्तुत किया है। इतना ही नही, जिन-जिन ग्रन्थोके ये उद्धरण हैं, उन्हे उन-उन ग्रन्थोमे खोजकर पृष्ठ सहित उन ग्रन्थोके नामोल्लेख भी कोष्ठकमे कर दिये गये है। अज्ञात अवतरणोके बाद खाली ब्रैकेट छोड़

दिये गये ताकि किसी विद्वान् पाठकको इस अवतरणके सही ग्रन्थ और ग्रन्थकारका नाम पता हो तो वहाँ उसे लिख सके और सम्पादकको भी सूचित कर सके ताकि आगेके संस्करणोमे उन्हे सम्मिलित किया जा सके।

इन ग्रन्थकी ७८ पृष्ठीय विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनामे पं० जीने जहाँ मूलग्रन्थकार आ० माणिक्यनन्दि एव आ० प्रभाचन्द्रके व्यक्तित्व एव कृतित्वपर व्यापक रूपमें प्रकाश डाला है वही जैनेतर एव जैन पूर्ववर्ती एव परवर्ती अनेक भारतीय दार्शनिको एव उनके ग्रथोसे प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रतिपाद्य विषयकी जो तुलना, प्रभाव एवं समीक्षा प्रस्तुत की है वह अपने आपमे तुलनात्मक अध्ययन एव अनुसधानकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, गीता, पतञ्जलि, भर्तृहरि, व्यासभाष्य आदि ग्रन्थोके जिन अंशोको आ० प्रभाचन्द्रने उद्धृत किया है, उन सन्दर्भोको तथा माख्य आदि दार्शनिकोके सन्दर्भोको भी सम्पादकजीने उद्धृत किया है। इस कार्यसे अनेक ऐसे ग्रन्थ, ग्रन्थकार एव ऐसे सन्दर्भ प्रकाशमे आये है जो अब उपलब्ध नही होते। जैसे प्रशस्तपाद (कणादसूत्र भाष्यकार—ई० पाँचवी शती) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमे प्रमेयकमलमार्त्तण्डके पृ० २७० पर 'प्रशस्तमतिना च" लिखकर "सर्गादौ पुरुषाणा व्यवहारो" इत्यादि अनुमान उद्धृत किया है। किन्तु यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमे नही है। इसी तरह आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमे साख्यदर्शनके कुछ ऐसे वाक्य और कारिकाएँ उद्धृत की है जो उपलब्ध ग्रन्थोमे प्राप्त नही होती।

प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीकाम प्रतिपाद्य अनेक मतोका आ० प्रभाचन्द्रने खण्डन किया ह। आ० प्रभाचन्द्रके इन उल्लेखोसे व्योमशिवके सही काल-निर्धारणमे बहुत सहायता प्राप्त हुई है। इसी तरह उद्योतकर, जयन्तभट्ट, वाचस्पति, शबरऋषि, कुमारिल, मण्डनमिश्र, प्रभाकर, शङ्कराचार्य, सुरेश्वर आदि वैदिक दार्शनिको तथा अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रभाकर गुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील, अर्चट, धर्मोत्तर और ज्ञानश्री जैसे बौद्धदार्शनिको तथा दिगम्बर एव श्वेताम्बर जैन परम्पराओंके पचाससे भी अधिक ग्रन्थ एव ग्रन्थकारोसे आ० प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित एव उद्धृत ग्रन्थगत विषयकी महत्त्वपूर्ण समीक्षा की गई है। यह बृहद् प्रस्तावना फाल्गुन शुक्ला द्वादशी वीर निर्वाण सवत् २४६७ के आष्टाह्निक पर्वमे पूर्ण हुई।

इस महत्वपूर्ण प्रस्तावनाके बाद न्यायप्रवेश, न्यायबिन्दु, न्यायविनिश्चय, न्यायसार, न्यायावतार, प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणमीमासा, प्रमाणसग्रह, लघीयस्त्रय स्ववृत्ति इत्यादि अनेक ग्रन्थोसे परीक्षामुख सूत्रोकी तुलना प्रस्तुत की गई है। इससे इन ग्रन्थगत सूत्रोके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावका स्पष्ट बोध होता है।

ग्रन्थके अन्तमे परीक्षामुख सूत्रपाठ, प्रमेयकमलमार्त्तण्डगत अवतरणो, परीक्षामुख एव प्रमेयकमलमार्त्तण्डके लाक्षणिक शब्दो, उल्लिखित ग्रन्थ एव ग्रन्थकारो, विशिष्ट शब्दोकी सूची और सबसे अन्तमे आरा के जैन सिद्धान्त भवनकी हस्तलिखित प्रतिके पाठान्तर—ये सब शोधपूर्ण परिशिष्ट प्रस्तुत किये गये है।

६९४ पृष्ठीय मूलग्रन्थमे प्रत्येक सूत्रका जिस तरह विषयका स्पष्ट प्रतिपादन और पूर्वपक्ष एव उत्तरपक्षके विविध प्रमाण उद्धृत करते हुए उनका विशद विवेचन, साथ ही सन्दर्भ और कठिन शब्दोको स्पष्ट करनेके लिए जो टिप्पण दिये गये है—ये सब विषयको समझनेका मार्ग प्रशस्त करते है।

इस प्रकार प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उत्कृष्ट सम्पादन-कार्यसे जहाँ इस ग्रन्थकी महत्ता और उपयोगिता प्रकाशमे आई है, वही सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक क्षेत्रने भी इसका बहुमानपूर्वक मूल्याकन किया। इस कार्य से डा० महेन्द्रकुमारजीमे भी विद्वत्ता, सम्पादन-पटुता, अन्यान्य दर्शनोका गहन अध्ययन एवं उनके प्रति

समादर दृष्टि और तुलनात्मक अध्ययन एवं अनुसंधानकी व्यापकता, विशेषताओंका सागर हिलोरें लेता दिखलाई पड़ता है जो किसी भी विद्वान्के मनमें उनके प्रति गौरव और आदरके भाव उत्पन्न करनेके लिए पर्याप्त है। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ तथा अन्य अनेक ग्रन्थोंके सम्पादन कार्य, मौलिक चिन्तन और लेखन कार्यों के मूल्याकनसे श्रेष्ठ भारतीय दार्शनिकोंकी पंक्तिमें सम्मिलित न्यायाचार्य जी एक प्रकाशमान नक्षत्रकी तरह दिखलाई देते रहेंगे।



डॉ० महेन्द्रकुमारजी द्वारा सम्पादित न्यायकुमुदचन्द्र

• डॉ० जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य प्राचीन संस्कृत ग्रंथोंके सम्पादन-कार्यमें निपुण थे। उनके द्वारा प्राचीन आचार्योंकी हस्तलिखित जैन न्याय विषयक अनेक कृतियोंका उद्धार हुआ है। उन्हींमें-से आचार्य अकलंकदेव द्वारा रचित लघीयस्त्रयकी कारिकाओंपर आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा रचित लगभग बीस सहस्र पद्य प्रमाण न्यायकुमुदचन्द्र नामक टीकाका सम्पादन एवं संशोधन उनके जैन एवं जैनेतर न्याय विषयक ज्ञान का उद्घोष करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बईसे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० नाथूराम जी प्रेमीके मन्त्रित्व कालमें सन् १९३८ एवं १९४१ में क्रमशः दो भागोंमें ३८वें एवं ३९वें पुष्पके रूपमें प्रकाशित हुआ है।

न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादन एवं संशोधनमें आदरणीय पण्डितजीके द्वारा जैन एवं जैनेतर ग्रन्थोंसे लिये गये विविध टिप्पण सम्पादनका मूल हार्द हैं। इन टिप्पणोंके माध्यमसे अनेक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक गुत्थियोंका स्पष्टीकरण तो हुआ ही है, साथ ही समालोचनात्मक अध्ययन करनेवाले शोधी-खोजी विद्वानों के लिए बहुमूल्य शोधात्मक सामग्री प्रस्तुत की गई है। इन टिप्पणोंसे एक अन्य लाभ यह हुआ है कि अनेक आचार्योंके काल निर्धारणमें पर्याप्त सहायता मिली है और लेखन शैली तथा विद्वानों/आचार्यों द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की गई सामग्रीका आकलन हुआ है।

मूल ग्रन्थमें अनेक आचार्योंके नामोल्लेखपूर्वक आये हुये उद्धरणोंके माध्यमसे अनेक विलुप्त ग्रन्थों एवं उनके लेखक आचार्योंका पता चला है। इस प्रकार न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनके व्याजसे समस्त दर्शनों एवं न्याय विषयक विविध प्रस्थानोंका एक ही स्थानपर अच्छा मेल हुआ है। अतः इस ग्रन्थका टिप्पणों सहित अध्ययन करनेसे समग्र भारतीय दर्शनों एवं न्याय विषयक मान्यताओंकी अच्छी जानकारी मिलती है।

सम्पादनकी प्रामाणिकताके लिए आदरणीय पण्डितजीने हस्तलिखित मूल ग्रन्थके एक पृष्ठकी फोटो प्रति भी ग्रन्थमें मुद्रित कराई है।

उपर्युक्त विशेषताओंके अतिरिक्त इस ग्रन्थके प्रारम्भमें प्रथम भागमें स्याद्वाद महाविद्यालय, काशीके पूर्व प्राचार्य एवं जैन जगत्के विश्रुत विद्वान् पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीके द्वारा लिखित प्रस्तावनामें सिद्धिविनिश्चय एवं प्रमाणसंग्रहका परिचय तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी इतर दर्शनोंके ग्रंथोंके साथ तुलना जैसे

प्रकरण, जो कि प० महेन्द्रकुमारजीकी लेखनीसे ही प्रसूत हैं और आचार्य प्रभाचन्द्र के काल-निर्धारणमें पर्याप्त सहयोग किया है। साथ ही प्रस्तावनागत (पृ० १२६) अन्य विषयोंके लेखनमें भी प० कैलाशचन्द्र शास्त्री-को सहायता की है। इस प्रकार न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागकी प्रस्तावनाके लेखनमें प० महेन्द्रकुमारजीका अनन्य सहयोग रहा है।

न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भागकी प्रस्तावना प० महेन्द्रकुमारजीने स्वतन्त्र रूपसे लिखी है, जिसमें उन्होंने लघीयस्त्रयके रचयिता भट्टाकलंकदेव एवं उसपर न्यायकुमुदचन्द्र नामक टीकाके लेखक आचार्य प्रभाचन्द्रके समयपर पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रभाचन्द्रकी इतर वैदिक एवं अवैदिक आचार्योंसे जो उन्होंने तुलना की है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रभाचन्द्रके अन्य ग्रंथोंका परिचय भी उसी प्रस्तावनाका एक अंग है, जिसमें प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंका परिचय देकर उन ग्रन्थोंके प्रभाचन्द्रकृत होनेका सतर्क उल्लेख किया है। इससे प्रस्तावनाका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। मूलग्रन्थका दोहन करके लिखी गई यह प्रस्तावना मन्दिरके ऊपर रखे गये कलशकी भाँति सुशोभित है और सटिप्पण मूलग्रन्थका संशोधन एवं सम्पादन तो उनकी प्रतिभाका निदर्शन है ही।

उपर्युक्तके अतिरिक्त इस प्रस्तावनामें आचार्य प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंका आन्तरिक परीक्षण करके उनके समय आदिपर पूर्वापर दृष्टिसे विचार करते हुये विविध युक्तियों एवं तर्कोंका उल्लेख किया है। इस क्रममें आदरणीय पण्डितजीने आचार्य प्रभाचन्द्रके समय आदिपर जो प्रकाश डाला है वह न केवल इतर पूर्व चिन्तित विद्वानोंके मतोंकी समीक्षा ही करता है, अपितु पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री द्वारा स्थापित शंकाओंको बल देता हुआ उनके मतकी पुष्टि भी करता है।

अनेकान्तवादको विविध भारतीय दर्शनोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान मिल सके, इसके लिये तर्क और युक्तियों से परिपूर्ण वाक्योंका प्रयोग अपेक्षित है। जैनदर्शनका यह अनेकान्तवाद सिद्धान्त मूल रूपसे अहिंसावादको ही दूसरे प्रकारसे पुष्ट करता है। इस सन्दर्भमें गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, बनारसके तत्कालीन प्रिन्सिपल डॉ० मङ्गलदेव शास्त्रीके निम्नाङ्कित विचार (न्यायकुमुदचन्द्र भाग २, आदिवचन पृ० १०) ध्यातव्य है। वे लिखते हैं कि जैनधर्मकी भारतीय संस्कृतिको बड़ी भारी देन अहिंसावाद है, जो कि वास्तवमें दार्शनिक भित्तिपर स्थापित अनेकान्तवादका ही नैतिकशास्त्रकी दृष्टिसे अनुवाद कहा जा सकता है।

उपर्युक्त उल्लिखित विविध बिन्दुओंपर विचार करनेपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यकी प्रतिभा अद्भुत थी।



न्यायकुमुदचन्द्र और उसके सम्पादन की विशेषतायें

● डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

ग्रन्थ परिचय

भट्टाकलङ्कदेवकृत लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञविवृत्तिकी विस्तृत व्याख्याका नाम है 'न्यायकुमुदचन्द्र'। न्यायकुमुदचन्द्र एक व्याख्या ग्रन्थ होकर भी अपनी महत्ताके कारण स्वतन्त्र ग्रन्थ ही है। इसमे भारतीय दर्शनके समग्र तर्क-साहित्य एवं प्रमेय-साहित्यका आलोडन करके नवनीत प्रस्तुत किया गया है। तार्किक-शिरोमणि प्रभाचन्द्राचार्यने निष्पक्षभावसे वात्स्यायन, उद्योतकर आदि वैदिक तार्किकोके और धर्मकीर्ति आदि बौद्धतार्किकोके मतोका विवेचन उनके ही ग्रन्थोंका आधार लेकर उतनी ही निष्पक्षतासे किया है जितना कि जैनाचार्योंके मन्तव्योका प्रस्तुतीकरण किया है। जैन सिद्धान्तोके सदर्भमे उठने वाली सूक्ष्मसे सूक्ष्म समस्याओको उठाकर उनका तार्किक शैलीमें विशद समाधान प्रस्तुत किया है।

तर्कशास्त्र वह शास्त्र है जो अतीत, अनागत, दूरवर्ती, सूक्ष्म और व्यवहित अर्थोका ज्ञान कराता है। तर्कशास्त्रका विशेषत सम्बन्ध अनुमान प्रमाणसे है। परन्तु कभी-कभी इन्द्रियप्रत्यक्ष और आगमकी प्रमाणतामे सदेह होनेपर तर्कके द्वारा ही उस सदेहका निवारण किया जाता है। इस शैलीका आश्रय लेकर परवादियोके प्राय सभी सिद्धान्तोकी समीक्षा न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई है। जिस प्रकार प्रभाचन्द्राचार्यकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड–प्रमेयरूपी कमलोका विकास करनेके लिए मार्तण्ड (सूर्य) है उसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र भी न्यायरूपी कुमुदोका विकास करनेके लिए चन्द्रमा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि न्यायकुमुदचन्द्र भट्टाकलङ्ककृत लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञविवृतिकी व्याख्या है। लघीयस्त्रय प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश इन तीन छोटे-छोटे प्रकरणोका सग्रह है। प्रमाणप्रवेशमे चार परिच्छेद हैं, नयप्रवेशमे एक तथा प्रवचनप्रवेशमे दो। इस तरह लघीयस्त्रयमे कुल सात परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदके प्रारम्भकी दो कारिकाओ पर, पञ्चम परिच्छेदकी अंतिम दो कारिकाओ पर, षष्ठ परिच्छेदकी प्रथम कारिका पर और सप्तम परिच्छेदकी अतिम दो कारिकाओ पर विवृति नही है, शेष पर है। विवृतिमे दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, वार्षगण्य और सिद्धसेनके ग्रन्थोसे वाक्य या वाक्याश लिए गए हैं।[1]

जैनदर्शनमे स्वामी समन्तभद्र (ई० २री शता०) को जैन तर्क विद्याकी नीवका प्रतिष्ठापक माना जाता है। पश्चात् सिद्धसेन दिवाकर (वि० स० ६२५ के आसपास)का जैन तर्कका अवतरण कराने वाला और आचार्य भट्टाकलङ्क (ई०-७-८ शता०) का जैन तर्कके भव्यप्रासादको सस्थापित करनेवाला माना जाता है। अकलङ्क द्वारा सस्थापित सिद्धान्तोका आश्रय लेकर परवर्ती जैन न्यायके ग्रन्थ लिखे गए। आचार्य विद्यानंद (ई० ९वी शता०) ने इस तर्कविद्याको प्रौढ़ता प्रदान की और आचार्य प्रभाचन्द्र (ई० ९८०-१०६५) ने जैन तर्कविद्याकी दुरूहताको बोधगम्य बनाया। प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती, न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायमजरी, शाबरभाष्य, श्लोकवार्तिक, बृहती, प्रमाणवार्तिकालङ्कार, तत्त्वसग्रह आदि जैनेतर प्रौढतर्क ग्रन्थोका गहन अध्ययन करके आचार्य प्रभाचन्द्रने उनकी ही शैलीमे प्रबलयुक्तियोमे उनके सिद्धान्तोका परिमार्जन किया है। इस तरह जैन तर्क शास्त्रमे नवीन शैलीको जन्म देकर न्यायकुमुदचन्द्र आदि द्वारा व्योमवती जैसे प्रौढ ग्रन्थोकी कमीको पूरा किया है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भा०, प्रस्तावना, पृ० ५-७।

संपादन और प्रकाशन योजना

माणिकचंद्र दि० जैन ग्रन्थमालाके मंत्री पं० नाथूराम जो 'प्रेमी' की इच्छासे प्रेरित होकर न्यायाचार्य, न्यायदिवाकर, जैनप्राचीन न्यायतीर्थ आदि उपाधियोसे विभूषित पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री जो श्री स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय, काशीमें जैन न्यायके अध्यापक थे, ने पं० सुखलाल संघवी द्वारा संपादित सन्मतितर्ककी शैलीमें न्यायकुमुदचन्द्रका सम्पादन प्रारम्भ किया। यह पं० महेन्द्रकुमारजी का इस क्षेत्रमें प्रथम प्रयास था। इसके सम्पादनमें पं० सुखलाल संघवी और पं० कैलाशचन्द्रजी का बहुमूल्य सहयोग रहा है। सम्पादनोपयोगी साहित्योपलब्धि करानेमें पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णीका औदार्यपूर्ण सहयोग मिला। इसके सम्पादनमें पाँच प्रमुख प्रतियोसे सहायता ली गई थी। और उन प्रतियोके आधार पर जो या तो अशुद्ध थी या अधूरी थी, प्रस्तुत संस्करणका सम्पादन कितना कठिन कार्य है, यह अनुभवी सम्पादक ही समझ सकता है। सम्पादन करते समय जिन-जिन बातोंका ध्यान रखना चाहिए उन सभीका ध्यान रखा गया है। प्रस्तुत संस्करण माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बईसे ई० सन् १९३८ तथा १९४१ में क्रमशः दो भागोंमें प्रकाशित हुआ है। छपाईमें मूलपाठ, विवृत्ति, व्याख्यान, टिप्पण, पाठान्तर, विरामचिह्नो आदिका समुचित प्रयोग किया गया है। विषयकी सुबोधता तथा शोधार्थियोंके उपयोगके लिए द्वितीय भागमें निम्न १२ परिशिष्ट दिए गए हैं—

(१) लघीयस्त्रय–कारिकानुक्रमणिका, (२) लघीयस्त्रय और उसकी स्वविवृतिमें आगत अवतरण-वाक्योंकी सूची, (३) लघीयस्त्रय और स्वविवृतिके विशेष शब्दोंकी सूची, (४) अन्य आचार्यों द्वारा उद्धृत लघीयस्त्रय कारिकायें एवं विवृति अंशोंकी तुलना, (५) न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत ग्रन्थान्तरोंके अवतरण, (६) न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट न्यायवाक्य, (७) न्यायकुमुदचन्द्रमें आगत ऐतिहासिक और भौगोलिक नामोंकी सूची, (८) न्यायकुमुदचन्द्रमें उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंकी सूची, (९) न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गत लाक्षणिक शब्दोंकी सूची, (१०) न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गत कुछ विशिष्ट शब्द, (११) न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गत दार्शनिक शब्दोंकी सूची, (१२) मूल ग्रन्थ तथा टिप्पणीमें प्रयुक्त ग्रन्थ संकेत सूची (पृष्ठ संकेतके साथ)।

पं० महेन्द्रकुमारजीका वैदुष्य

पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जिन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तंड, अकलङ्कग्रन्थत्रय आदि महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर ग्रन्थोंका सटिप्पण सुन्दर सम्पादन किया है, उनकी बराबरीका आज दूसरा कोई संपादक नहीं दिखलाई पड़ रहा है। आप जैनविद्याके प्रकाण्ड मनीषी तो थे ही, साथ ही जैनेतर न्यायशास्त्रमें भी गहरी पैठ थी। न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा द्वितीय भागकी ६३ पृष्ठोंकी विस्तृत प्रस्तावना आपके वैदुष्यको प्रकट करती है। प्रथम भागकी १२६ पृष्ठोंकी प्रस्तावना पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री द्वारा लिखित है। इसके बाद भी आपने द्वितीय भागमें प्रभाचन्द्रकी वैदिक और अवैदिक इतर आचार्योंसे तुलना करते हुए अभिनव तथ्योंको प्रकट करनेवाली प्रस्तावना लिखी है। ग्रन्थ संकेत सूची, शुद्धिपत्रक आदिके साथ विस्तृत विषयसूची दोनों भागोंमें दी गई है जिसमे विषयकी दुर्बोधता समाप्त हो गई है।

संपादनकी प्रमुख विशेषताएँ

पं० महेन्द्रकुमार जीके वैदुष्यको तथा सम्पादन कलाकी वैज्ञानिकता को प्रकट करनेवाली प्रस्तुत न्यायकुमुदचन्द्रके संस्करणकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

१–आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से संपादन किया गया है। ग्रन्थसंकेतसूची, विस्तृत विषयसूची, परिशिष्ट, प्रस्तावना, शुद्धिपत्रक, सहायक ग्रन्थसूची, विराम चिह्नो का समुचित प्रयोग, टिप्पण, पाठान्तर, तुलना आदि सभी सुव्यवस्थित और प्रामाणिक हैं।

२–टिप्पणी और द्वितीय भागकी प्रस्तावना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसमे सम्पादकने अथक श्रम किया है। ऐतिहासिकताके बीजोको उद्घाटित करते हुए तुलनात्मक दृष्टि अपनाई गई है। विषय विवेचनमें संकीर्णता नही अपनाई गई है।

३–कुछ टिप्पणियाँ ग्रन्थकारके आशयको स्पष्ट करनेके लिए तथा कुछ पाठशुद्धिके लिए भी दी गई हैं।

४–प्रत्येक विषयके अन्तमे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष संबंधी ग्रन्थोकी विस्तृत सूची दी गई है जिससे उस विषयके पर्यालोचनमें और अधिक सहायता मिलती है।

५–प्रस्तावनामे आचार्य अकलंक और प्रभाचन्द्रके संबंधमे ज्ञातव्य अनेक ऐतिहासिक और दार्शनिक मन्तव्योका विवेचन किया गया है। प्रसङ्गत जैन एव जैनेतर ग्रन्थकारोकी तुलना करते हुए बहुत-सी बातोके रहस्य खोले गए है। इसे यदि जैनतर्क युगके इतिहासकी रूपरेखा कही जाय तो कोई अत्युक्ति नही होगी। अत ऐतिहासिकोके लिए यह प्रस्तावना बहुत उपयोगी है।

६–जो पाठ अशुद्ध थे उनको सुधारनेका प्रयत्न किया गया है। सपादकने इस बातको इंगित करनेके लिए उस कल्पित शुद्धपाठको (   ) ऐसे ब्रैकिटमे दिया है। इसके अतिरिक्त जो शब्द मूलमे त्रुटित थे या नहीं थे उनकी जगह सपादकने जिनशब्दोको अपनी ओरसे रखा है उसे [   ] ऐसे ब्रैक्टिके द्वारा प्रदर्शित किया है।

७–इसके संपादनमे ईडर भण्डारकी (आ॰ सज्ञक) प्रतिको आदर्श माना गया है। शेष अन्य चार प्रतियोका यथास्थान उपयोग किया गया है। विवृतिकी पूर्णता आ॰ प्रतिके अतिरिक्त जयपुरकी प्रतिसे की गई है।

इस तरह न्यायाचार्य प॰ महेन्द्रकुमार जीका यह प्रथम संपादन कार्य इतना महत्त्वपूर्ण और आदर्शदीपक हुआ कि कालान्तरमे इन्हें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि ग्रन्थोंके सपादनका उत्तरदायित्व सौंपा गया जिसे इन्होने उसी लगन और ईमानदारीसे पूर्ण किया। न्यायकुमुदचन्द्रका इनपर इतना प्रभाव था कि इन्होने इसके सपादन कालमे उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्रका नाम स्मृतिनिमित्त 'कुमुदचन्द्र' रखा जो कालकी गतिका निशाना बन गया और सपादित यह ग्रन्थ ही उसका पुण्यस्मारक बना जिसे प॰ जीने अपने साहित्ययज्ञकी आहुति माना। ऐसे स्वनामधन्य प॰ महेन्द्रकुमार जीकी प्रतिभा जो प्रभाचन्द्राचार्यवत् थी को शतशत वन्दन करते हुए उनके द्वारा प्रदर्शित मार्गपर चलनेकी कामना करता हूँ।

●

न्यायविनिश्चय-विवरण : एक मूल्यांकन

• डॉ० शीतलचन्द जैन, जयपुर

भारतीय दर्शनमे जैनदर्शनका एक विशिष्ट स्थान है और जैनदर्शनके क्षेत्रमें आचार्य श्रीमद्भट्टाकलंकदेव द्वारा लिखित न्यायविनिश्चय अद्वितीय ग्रन्थरत्न है। इस ग्रन्थके पद्य भागपर प्रबल तार्किक स्याद्वादविद्यापति वादिराजसूरिकृत तात्पर्य विद्योतिनी व्याख्यान रत्नमाला उपलब्ध है जिसका नाम न्यायविनिश्चय-विवरण है। जैसा कि वादिराजकृत श्लोकसे प्रकट है—

प्रणिपत्य स्थिरभक्त्या गुरून् परानप्युदारबुद्धिगुणान्।
न्यायविनिश्चयविवरणमभिरमणीयं मया क्रियते ॥

उक्त श्लोकसे स्पष्ट है कि इसका नाम न्यायविनिश्चय विवरण ही है, अलंकार नहीं। इस विषय पर विद्वान् सम्पादकने काफी महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपस्थित कर विमर्श किया है। ग्रन्थका सम्पादन २०वीं शताब्दिके प्रसिद्ध मूर्धन्य दार्शनिक विद्वान् पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा किया गया है। पं० जी की जो सम्पादित कृतियाँ हैं उनमे आचार्य भट्टाकलंकदेव द्वारा रचित ग्रंथ प्रमुख हैं। आपकी सम्पादकीय एवं प्रस्तावनाओंको पढ़कर ग्रंथका रहस्य सुगमतासे समझमें आ जाता है। वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थोमे दार्शनिक ग्रन्थोका सम्पादन अति दुसाध्य कार्य है। इस कार्यके लिये निष्ठा, समय, शक्तिके साथ विद्वत्ता अत्यन्त अपेक्षित है। क्योकि दार्शनिक ग्रन्थोमे ग्रन्थान्तरोके अवतरण पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनोंमें प्रचुर मात्रामें आते है उन सबका स्थान खोजना तथा उपयुक्त टिप्पणियोंका संकलन आदि सभी कार्य धैर्य और स्थिरताके बिना नहीं सध सकते विशेषकर उन ग्रन्थोके सम्पादनमे जिनका मूल भाग उपलब्ध न हो और विवरणकी प्रतियाँ अशुद्धियोंका पुञ्ज हो ऐसी स्थितिमें सम्पादककी प्रतिभाकी समीक्षा विद्वान् ही कर सकते है। हम जैसे अत्यल्पबुद्धि वाले तो उनकी सम्पादित कृतियोंका मूल्यांकन ही कर सकेंगे।

प्रस्तुत कृति न्यायविनिश्चयविवरण दो भागोंमे विभक्त है। इसमे कुल तीन प्रस्ताव है जिसमें प्रथम भागके प्रथम प्रस्तावमें प्रत्यक्षकी विवेचना है और द्वितीय भागके द्वितीय एवं तृतीय प्रस्तावमे क्रमशः अनुमान एवं प्रवचनकी विवेचना है। ग्रन्थकारने सर्वप्रथम न्यायके विनिश्चय करनेकी प्रतिज्ञा की है। वे न्याय अर्थात् स्याद्वादमुद्रांकित आम्नायको कलिकाल दोषसे गुणद्वेषी व्यक्तियों द्वारा मलिन किया हुआ देखकर विचलित हो उठते हैं और भव्य पुरुषोंकी हितकामना से सम्यग्ज्ञान-वचन रूपी जलसे उस न्याय पर आये हुए मलको दूर करके उसको निर्मल बनानेके लिए कृतसंकल्प होते है। जिसके द्वारा वस्तु स्वरूपका निर्णय किया जाय उसे न्याय कहते हैं। अर्थात् न्याय उन उपायोंको कहते है जिनसे वस्तु तत्त्वका निश्चय हो। ऐसे उपाय तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमाण और नय दो तथा इनके भेद-प्रभेद ही निर्दिष्ट है।

विद्वान् सम्पादकने अपने मन्तव्यमें लिखा है कि दार्शनिक क्षेत्रमें दर्शनकी व्याख्या बदली है और वह चैतन्याकारकी परिधिको लाँघकर पदार्थोंके सामान्यावलोकन तक जा पहुँची परन्तु सिद्धान्त ग्रन्थोमे दर्शनका अनुपयुक्त दर्शन तत्वतः ही वर्णन है।

विद्वान् सम्पादकने अकलंकके ज्ञानकी साकारता विषयक विवेचनमें धवला-जयधवलाका आधार लेते हुए न्यायविनिश्चय-विवरणका युक्तिसंगत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तावनामें प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तावनाको पढ़कर ग्रन्थकी कारिकाओंके हृदयको समझनेमें कठिनाई नहीं होती है।

अर्थ सामान्य विशेषात्मक और द्रव्य पर्यायात्मक है, के विवेचन प्रसंगमें सुयोग्य विद्वान्ने ग्रन्थको आधार बनाते हुये इतर भारतीय दार्शनिकोंकी समालोचना करते हुए राहुल सांकृत्यायनके विचारोंको विस्तारसे उल्लेख करके समीक्षा की है और जैनदर्शनकी दृष्टिसे पदार्थकी कैसी व्यवस्था है इसको सूक्ष्माति-सूक्ष्म तर्कोंके माध्यमसे विषयको समझाया है।

इसी तरह विद्वान् सम्पादकने प्रत्यक्षके भेदोंके विमर्शमें आचार्य अकलंक द्वारा मान्य भेद और उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य भेदोंको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अकलंक देवने प्रत्यक्षके तीन भेद किये हैं —१–इन्द्रिय प्रत्यक्ष २–अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष ३–अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष।

चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रूपादिकका स्पष्ट ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। मनके द्वारा सुख आदिकी अनुभूति मानस प्रत्यक्ष है। अकलंकदेवने लघीयस्त्रयस्ववृत्तिमें स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधको अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि–मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध ये सब मति-ज्ञान हैं, मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे इनकी उत्पत्ति होती है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको जब सव्यवहारमें प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्धि होनेके कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष मान लिया तब उसी तरह मनोमति रूप स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानको भी प्रत्यक्ष ही कहना चाहिये। परन्तु सव्य-वहार इन्द्रियजन्य मतिको तो प्रत्यक्ष मानता है पर स्मरण आदि को नहीं। अतः अकलंककी स्मरण आदिको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माननेकी व्याख्या उन्ही तक सीमित रही। वे शब्दयोजनाके पहिले स्मरण आदिको मति-ज्ञान और शब्दयोजनाके बाद इन्हींको श्रुतज्ञान भी कहते हैं। पर उत्तरकालमें असंकीर्ण प्रमाण विभागके लिए—"इन्द्रियमति और मनोमतिको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति आदिको परोक्ष, श्रुतको परोक्ष और अवधि, मन पर्यय तथा केवलज्ञान ये तीन ज्ञान परमार्थ प्रत्यक्ष" यही व्यवस्था सर्वस्वीकृत हुई।

न्यायविनिश्चयविवरणके द्वितीय भागकी विस्तृत प्रस्तावनामें प्रमाण विभागकी चर्चा करते हुए विद्वान् सम्पादकने लिखा है कि द्वितीय भागके दो प्रस्तावोंमें परोक्ष प्रमाणके विषयमें आचार्य अकलंकदेवने जैन-दार्शनिक क्षेत्रमें एक नई व्यवस्था दी। अकलंकदेवने पाँच इंद्रिय और मनसे होनेवाले ज्ञानको जो कि आगमिक परिभाषामें परोक्ष था, साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कोटिमें लिया और स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, आभिनि-बोधिक और श्रुत इन पाँचोंको आगमानुसार परोक्ष प्रमाण कहा है।

प्रवचन प्रस्तावमें सर्वज्ञताके विषयमें पर्याप्त ऊहापोह किया है। विद्वान् लेखकने अकलंकके अभिप्राय को समझानेके लिए सर्वज्ञताका इतिहास बताते हुए लिखा है कि—

सर्वज्ञताके विकासका एक अपना इतिहास भी है। भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार सर्वज्ञताका सम्बन्ध भी मोक्षसे था। मुमुक्षुओंके विचारका मुख्य विषय यह था कि मोक्षके उपाय, मोक्षका आधार, संसार और उसके कारणोंका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं। विशेषतः मोक्ष प्राप्तिके उपायोंका अर्थात् उन धर्मा-नुष्ठानोंका जिनसे आत्मा बन्धनोंसे मुक्त होता है, किसीने स्वयं अनुभव करके उपदेश दिया है या नहीं? वैदिक परम्पराओंके एक भागका इस सम्बन्धमें विचार है कि धर्मका साक्षात्कार किसी एक व्यक्तिको नहीं हो सकता, चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु या महेश्वर जैसा महान् भी क्यों न हो? धर्म तो केवल अपौरुषेय वेदसे ही जाना जा सकता है। वेदका धर्मसे निर्बाध और अन्तिम अधिकार है। उसमें जो लिखा है वही धर्म है। मनुष्य प्रायः रागादि द्वेषोंसे दूषित होते हैं और अल्पज्ञ भी। यह सम्भव हो नहीं है कि कोई भी मनुष्य किसी भी सम्पूर्ण निर्दोष या सर्वज्ञ बनकर धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार कर सके।

विद्वान् सम्पादकने न्यायविनिश्चयविवरणके दोनों भागोंकी प्रस्तावनाओंमें जो चिन्तनपूर्ण प्रमेय दिया है वह बिल्कुल मौलिक, महत्त्वपूर्ण एवं नया है। जो दार्शनिक विद्वानोंके लिए अत्यन्त अनुकरणीय, विचारणीय एवं दिशाबोध देने वाला है।

अकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिक का सम्पादन-कार्य : एक समीक्षा

• डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मयकी गौरववृद्धिमे जहाँ जैन वाङ्मयका अप्रतिम योगदान है, वही इस महत्त्वपूर्ण अपूर्व विशाल जैन साहित्यके सृजनमे सहस्रो आचार्यों, विद्वानो आदि मनीषियोकी दीर्घकालसे चली आ रही लम्बी परम्पराका जब स्मरण करते है, तो हमारा हृदय उनके प्रति कृतज्ञतासे गद्गद हो जाता है। उस समयकी विविध कठिन, प्रतिकूल परिस्थितियाँ, अनेक उपसर्गों, विपुल कष्टोका सदभाव और आज जैसी सुख-सुविधाओ, अनुकूलताओका उस समय सर्वथा अभाव होनेके बावजूद इतने विशाल सृजनात्मक साहित्य-निर्माणके महान् उद्देश्यको देखते है तो अनुभव होता है कि उन्हें मात्र इस देशकी ही नही, अपितु सम्पूर्ण विश्वके कल्याणकी कितनी उत्कट अभिलाषाने उन्हे साहित्य-सृजनकी प्रेरणा दी होगी।

प्रस्तुत प्रसगमे हम यहाँ उस लबी परम्पराकी नही, अपितु बीसवी शतीके मात्र उस महान् सपूतके कृतित्वकी चर्चा कर रहे है जिसने बुन्देलखण्डकी खुरई (सागर जिला) नगरीमे सन् १९११ मे जन्म लेकर २० मई १९५९ तकके मात्र ४८ वर्षोंके जीवनमे जैनधर्म-दर्शन, न्याय तथा अन्यान्य विधाओके ऐसे अनेक प्राचीन, दुरूह, दुर्लभ और क्लिष्ट ग्रन्थोका सम्पादन करके उद्धार किया, जिनमे सम्पूर्ण भारतीय मनीषाके तथ्य समाहित है। ऐसे वे महामनीषी विद्यानगरी वाराणसीके स्व० डॉ० प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, जिन्होने सातवी शतीके महान् जैन तार्किक आचार्य अकलंकदेवके प्राय सम्पूर्ण वाङ्मय और उसपर लिखित व्याख्या साहित्यका वैज्ञानिक ढगसे श्रेष्ठ सम्पादन-कार्य करके आचार्य अकलकदेवके साहित्य उद्धारकर्ताके रूपमे अपनी विशेष पहचान बनाई है।

वस्तुत इस बीसवी शतीके आरम्भिक छह-सात दशकोका समय ही ऐसा था, जबकि बहुमूल्य दुर्लभ जैन-साहित्यके पुनरुद्धारकी कठिन जुम्मेवारीका अलग-अलग क्षेत्रो एव विषयोमे बीडा उठाकर जैन विद्वानोने अपनी अलग-अलग विशेष पहचान बनाई है। जैसे—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसारके अध्ययन-अध्यापन और स्वाध्यायकी परम्पराको पुन लोकप्रिय बनानेका प्रमुख श्रेय गुरूणा गुरु प० गोपालदास जी वरैयाको है। प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश और हिन्दीके अनेक शास्त्रोका शास्त्र-भण्डारोसे खोजबीन एव उनका उचित मूल्याकन करके इन भाषाओके अनेक शास्त्रोके उद्धारकर्ता एव जैन साहित्यके इतिहास-लेखकके रूपमे प० नाथूरामजी प्रेमीने सम्पूर्ण देशमे अपनी विशेष पहचान बनाई थी। वही आचार्य समन्तभद्र और उनके सम्पूर्ण अवदानको सामने लानेका प्रमुख श्रेय आचार्य प० जुगलकिशोरजी मुख्तारको है। आचार्य कुन्दकुन्ददेवके बहुमूल्य चिन्तन और उनके अवदानपर कार्य करनेवाले इसी शतीके पूज्य गणेशप्रसाद वर्णी, पूज्य कानजी स्वामी आदि अनेक विद्वानोकी लंबी परम्परा है, किन्तु उन्हें मात्र धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टिसे ही नही, अपितु उनके बाद बहुआयामी व्यक्तित्व और कृतित्वका अनुसधानपरक दृष्टिसे मूल्याकन करनेके लिए सभीको प्रेरित करनेका प्रमुख श्रेय महामनीषी डॉ० ए० एन० उपाध्येको है। डॉ० हीरालाल-जी जैन एव ए० एन० उपाध्ये द्वारा अनेक ग्रन्थोका सम्पादन एव उनकी अग्रेजी भाषामें लिखित विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनाओके रूपमे इन दोनो विद्वानोका योगदान विशेष प्रसिद्ध है।

आगमिक सिद्धान्त ग्रन्थोमे मुख्यत: अनेक खण्डोमे कसायपाहुडकी जयधवला टीका और षट्खण्डागम-की धवला टीका तथा आ० पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धिका सुसम्पादन और अनुवाद जैसे महान् कार्योंमे

सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकी पहचान इस क्षेत्रमे सर्वोपरि है। सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्दजी शास्त्रीने यद्यपि अनेक प्राचीन ग्रन्थोका सम्पादन और अनुवाद कार्य किया है, किन्तु इन्हें जैन इतिहासकारके रूपमे विशेष सम्मान प्राप्त है। मुख्यत जैन पुराण एव काव्य साहित्यके अनुवादकके रूपमे डॉ० प० पन्नालालजीका महनीय योगदान है। नवी शताब्दी के आचार्य विद्यानन्दके अधिकाश साहित्यके उद्धारकर्ताके रूपमे डॉ० दरबारलालजी कोठिया तथा अपभ्रंशके महाकवि रइधू द्वारा सृजित साहित्यके उद्धारकर्ताके रूपमे डॉ० राजारामजी जैनका महनीय योगदान है। इसी तरह और भी अनेक विद्वानोंने साहित्यकी अनेक विधाओपर महत्त्वपूर्ण कार्य करके अपना विशेष स्थान बनाया है।

प्रथम शतीके आचार्य उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र एक ऐसा लोकप्रिय ग्रन्थहै जिसपर व्याख्या लिखनेके कार्यको प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों और विद्वानोने महान् गौरवपूर्णकार्य माना। वस्तुत इस ग्रन्थमे जैनधर्मके चारो अनुयोगोका सार समाहित है। इसीलिए अब तक इसपर शताधिक टीकग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। यहाँ तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई सर्वार्थसिद्धि नामक व्याख्या-ग्रंथके आधारपर आ० अकलकदेव द्वारा लिखित "तत्त्वार्थवार्तिक" के सम्पादन-कार्यकी समीक्षा प्रस्तुत है—

इस तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थके सम्पादक एवं हिन्दीसार करनेवाले प० महेन्द्रकुमारजी है। वस्तुतः अकलकदेवके तार्किक, जटिल-साहित्यका यदि प० महेन्द्रकुमारजी उद्धार नही करते तो शायद प० जीकी प्रतिभा रूपमे इस अनुपम लाभसे हम सभी वंचित रह जाते। यद्यपि आपने अकलकके अतिरिक्त आचार्य प्रभाचन्द तथा आचार्य हरिभद्र आदि और भी आचार्य ग्रन्थोका भी सम्पादन किया है। जैसा कि प० महेन्द्रकुमारजीके बहुमूल्य कृतित्वसे स्पष्ट है कि उन्होने अनेक मूल ग्रन्थोका सम्पादन किया है, किन्तु आ० उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रपर सातवी शतीके महान् आचार्य अकलंकदेव द्वारा टीकारूपमे रचित "तत्त्वार्थवार्तिक" (तत्त्वार्थ राजवार्तिक) का प० जीने मात्र सम्पादन ही नही किया, अपितु उसका हिन्दीसार लिखकर उस ग्रन्थका हार्द समझनेका मार्ग भी प्रशस्त किया।

तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ, काशीके अन्तर्गत मूर्तिदेवी जैनग्रन्थमालासे सस्कृत ग्रन्थांक १० एव २०के क्रममे दो भागोमे क्रमश सन् १९५३ एव १९५७मे प्रकाशित हुए थे। द्वितीय सस्करण १९८२में प्रकाशित हुआ है। अभी कुछ वर्ष पूर्व सन् १९८७ में यह ग्रन्थ शब्दश. सम्पूर्ण अनुवाद सहित दो भागोमे दुलीचन्द्र बाकलीवाल युनिवर्सल, एजेन्सीज, देरगाँव (आसाम) से प्रकाशित हुआ है। इसकी हिन्दी अनुवादिका है सुप्रसिद्ध विदुषी गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी। पूज्य माताजीने यह अनुवाद प० महेन्द्रकुमारजी द्वारा सम्पादित इस ग्रथके आधारपर किया। यद्यपि तत्त्वार्थवार्तिक पर प० सदासुखदासजीके शिष्य प० पन्नालालजी सघी, दूनीवालोने वि० स० १९२० के आसपास भाषा-वचनिका भी लिखी थी। सन् १९१५ मे प० गजाधरलालजीके सम्पादकत्वमे सनातन जैन ग्रन्थमाला, बनारससे तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ मूलमात्र प्रकाशित हुआ था। उसके बाद प० गजाधर लालजीके ही हिन्दी अनुवादको पं० मक्खनलाल जी न्यायालकारके सशोधन एव परिवर्धनके साथ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्तासे हरीभाई देवकरण ग्रन्थमालाके क्रमाक ८वे पुष्पके रूपमे सन् १९२९ ई० मे यह प्रकाशित हुआ। किन्तु इस ग्रन्थकी यह बहुत ही विशालकाय विस्तृत व्याख्या होने तथा वार्तिकके साथ टीका नही होनेसे स्वाध्यायियोको कठिनाईका सामना करना पडता था। अत प० जी द्वारा सपादित यह ग्रन्थ हिन्दीसार सहित आ जानेसे समस्त पाठकोको इसे समझनेमे सुविधा हुई। इस श्रमसाध्य उद्देश्यकी पूर्ति करते हुए, जिस ज्ञानसाधनाका कार्य पं० जीने किया है, वैसा शायद ही किसी दूसरेसे संभव होता ? पं० जीने ऐसे प्रामाणिक बनानेके लिए जयपुर,

ब्यावर, दिल्ली, वाराणसी, आरा, पूना, मूडबिद्री, श्रवणवेलगोल आदि शास्त्रभंडारोकी हस्तलिखित और उपलब्ध मुद्रित प्रतियोके आधारपर इसका सम्पादन किया है। जो विद्वान् इस प्रकारके दुर्लभ ग्रन्थोका सम्पादन-कार्य स्वय करते हैं, वे ही इतनी अधिक प्रतियोके आधारपर मिलान करके सम्पादन-कार्यकी श्रमसाधना और कठिनाइयोको समझ सकते हैं। अन्यथा ऐसे दृढ संकल्प, अटूट श्रद्धा एवं दृढ इच्छाशक्तिके इस महान् कार्यका वैसा मूल्याकन सभीके वशकी बात नही होती।

पं० जीके सम्पादनकी यही विशेषता है कि ग्रन्थके उत्तम सम्पादन-कार्य हेतु उस ग्रन्थकी अनेक प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपिकी मूलप्रतियो, पूर्व प्रकाशित ग्रन्थोका तथा उस ग्रन्थमे प्रतिपाद्य विषयके तुलनात्मक अध्ययन हेतु जैनेतर विभिन्न ग्रन्थकारोके ग्रन्थोका वे भरपूर उपयोग कर लेते हैं, ताकि सम्पादन-कार्यमे कुछ कमी न रहे। इसलिए वे विस्तृत प्रस्तावनाके साथ ही अनेक परिशिष्टोमे भी उसे सुसज्जित करते हैं जिसमे प्रमुख हैं—ग्रन्थगत सूत्रपाठ, उद्धरण, ग्रन्थमे आये ग्रन्थकार, ग्रन्थोके नामोकी सूची शब्दानुक्रमणिका, भौगोलिक शब्द सूची, पारिभाषिक शब्दावली तथा सम्पादनमे सहायक ग्रथोका विवरण आदि।

प्रस्तुत तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थके सम्पादन-कार्यको भी प०जीने इन्ही विशेषताओसे सुसज्जित किया है। इसमे मात्र प्रस्तावनाकी कमी काफी महसूस होती है। किसी कारणवश प० जीने इसकी प्रस्तावना इसमे नही दी। अन्यथा इस ग्रन्थके सम्पादन-कार्यके अनुभव, आचार्य अकलक और उनके इस ग्रन्थकी विविध विशेषताओको सम्पन्न करनेमे ग्रन्थ, विषय, शैली, रचयिताओं लेन व देन एव उनका व्यक्तिगत परिचय, रचनाकाल आदि इतिहासमे उन्हे क्या कैसा प्रतीत हुआ? इन सभी बातोका उन्हीके द्वारा लिखित विवरण ग्रन्थकी प्रस्तावनाके रूपमे पाठकोके सामने आता तो उसका विशेष महत्त्व होता।

फिर भी प० जी द्वारा प्रस्तुत इस ग्रन्थके अच्छे सम्पादन हेतु पूर्व प्रकाशित सस्करणोके अतिरिक्त कुछ अन्य प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोके पाठसकलन, सशोधन, तुलनात्मक टिप्पण, हिन्दीसार सूत्र-पाठ, समस्त दिगम्बर-श्वेताम्बर टीकाकारोके पाठभेदो सहित सूत्रोकी व तद्गत शब्दोकी वर्णानुक्रमणियाँ, अवतरण-सूची, भौगोलिक शब्द सूची तथा वार्तिकके विशिष्ट शब्दोकी सूची—ये इस सस्करणकी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ है।

तत्त्वार्थवार्तिकके अध्येता यह अच्छी तरह जानते हैं कि इस ग्रन्थका मूल आधार आचार्य पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि है। सर्वार्थसिद्धिकी वाक्य रचना, सूत्र आदि बडे ही सतुलित और परिमित हैं। इसीलिए अपने पूर्ववर्ती और आगमानुकूल विषयका प्रतिपादन करनेवाले आचार्यके प्राय सभी प्रमुख वाक्योको आचार्य अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमे वार्तिकके रूपमे समायोजित करके उनका विवेचन प्रस्तुत किया। प्रसगानुसार नये-नये वार्तिकोकी रचना भी की। इस प्रकार हम यही कह सकते है कि जिस प्रकार वृक्षमे बीज समाविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिकमे समाविष्ट होते हुए भी दोनो ग्रन्थोका अपना-अपना स्वतत्र और मौलिक ग्रन्थके समान महत्त्व है। तत्त्वार्थवार्तिककी यह भी विशेषता है कि वार्तिको ग्रन्थोके नियमानुसार यह अध्याय आह्निक और वार्तिकोसे युक्त है।

इस ग्रन्थके प्रथम खण्डके द्वितीय संस्करणमे सम्पादकीय प्रस्तावनाके अभावमे सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचंदजी शास्त्रीने अपनी प्रधानसम्पादकीय वक्तव्यमे लिखा है—''जहाँ भी दार्शनिक चर्चाका प्रसंग आया है वहाँ अकलंकदेवकी तार्किक सरणिके दर्शन होते है। इस तरह यह सैद्धान्तिक ग्रन्थ दर्शनशास्त्रका एक अपूर्व ग्रन्थ बन गया है। जैन सिद्धान्तोके जिज्ञासु इस एक ही ग्रन्थके स्वाध्यायसे अनेक शास्त्रोका रहस्य हृदयंगम कर सकते है। उन्हे इसमे ऐसी भी अनेक चर्चाये मिलेगी जो अन्यत्र नही हैं।

इस ग्रन्थमें जगह-जगह आचार्य अकलंकदेवने विविध दर्शनोंके प्राचीन ग्रन्थोंके वाक्य उद्धृत किये हैं। प० जीने उन सबकी अलग पहचान हेतु उतने अंशोको इन्वरटेड कामा ("   ") मे रख दिया है तथा जितने उद्धरणोके मूलग्रन्थोंकी जानकारी हुई, कोष्ठकमे उनके नाम और सन्दर्भ आदि सख्यायें दे दी, जितने अज्ञात रहे, उनके कोष्ठक खाली छोड दिये गये, ताकि विद्वानोको ज्ञात होनेपर वे वहाँ लिख सकें।

जिस तरह आ० अकलकदेवकी शैली गूढ़ और शब्दार्थ गर्भित है, वे प्रतिपाद्य विषयको गंभीर और अर्थपूर्ण वाक्योंमें सहज विवेचन करते चलते हैं। इतना ही नही, उस विषयको पूरी तरहसे समझानेके लिए सम्भाव्य प्रश्नोको पूर्वपक्षके रूपमे प्रस्तुत करके उत्तरपक्षके रूपमें उनका समाधान करते हुए चलते हैं, उसी प्रकार प० महेन्द्रकुमारजीकी भी हिन्दीसारकी शैली भी अर्थगंभीर है। यद्यपि इस ग्रन्थके हिन्दीसारको मूलग्रन्थके अतमे इकट्ठा प्रस्तुत किया है। किन्तु मूलग्रन्थकारका ऐसा कोई मुख्य विषय या स्थलका हार्द अवशिष्ट नही है, जिसे प० जी ने स्पष्ट रूपमें प्रस्तुत न किया हो। सम्बद्ध कुछ-कुछ वार्तिकों और उसमें प्रस्तुत सुसम्बद्ध विषयको सम्पादकने एक साथ हिन्दीसारके रूपमे किया है। उदाहरणस्वरूप ग्रन्थके आरम्भमे मगलाचरणका अर्थ करनेके बाद प० जीने प्रथम अध्यायके आरम्भिक प्रथम एवं द्वितीय वार्तिकमे प्रतिपाद्य विषयको सार रूपमे एक साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"उपयोगस्वरूप तथा श्रेयोमार्गकी प्राप्तिके पात्रभूत आत्मद्रव्यको ही मोक्षमार्गके जाननेकी इच्छा होती है। जैसे आरोग्यलाभ करनेवाले चिकित्साके योग्य रोगीके रहनेपर ही चिकित्सामार्गकी खोज की जाती है, उसी प्रकार आत्मद्रव्यकी प्रसिद्धि होनेपर मोक्षमार्गके अन्वेषणका औचित्य सिद्ध होता है।"

इसके बाद मात्र तीसरे वार्तिकका अर्थ बतलाते हुए लिखा कि—"ससारी आत्माके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोमे मोक्ष ही अन्तिम और प्रधानभूत पुरुषार्थ है। अत उसकी प्राप्तिके लिए मोक्ष मार्गका उपदेश करना ही चाहिए।" इस वार्तिकके हिन्दीसारके बाद चौथेसे लेकर आठवें वार्तिक तकके विषयको एक साथ प्रश्न (पूर्वपक्ष) और उसके समाधान (उत्तरपक्ष) के रूपमें अर्थ लिखा। प्रथम अध्याय-के प्रथमसूत्रके ३९ से ४६ तकके ७ वार्तिकोका अर्थ एक साथ ही नही अपितु उस सम्पूर्ण विषयको सुसम्बद्ध करते हुए "मिथ्याज्ञानसे बध और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष" माननेवाले साख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध आदि जैनेतर दर्शनोकी एतद् विषयक मान्यताओका अलग-अलग किन्तु सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हुए रत्नत्रय-को मोक्षमार्ग प्रतिपादित करते हुए जैनधर्म सम्बन्धी मान्यताओका औचित्य सिद्ध किया है। इसी प्रकारको शैलीमें पं० जीने सम्पूर्ण ग्रन्थका हिन्दीसार प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत हिन्दीसारके इन अशोको उदाहरणके रूपमे यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन प० जीकी शैली बताना है। आपने मूलग्रन्थकारके सभी अग और भावोको किस तरह अपनी सधी हुए भाषा, चुने हुए शब्दों और प्रभावक शैलीमें प्रस्तुत किया है कि देखते ही बनता है। वस्तुत किसी भी दार्शनिक या तात्त्विक ग्रन्थका किसी भी भाषामे ग्रन्थकारके सम्पूर्ण भावोको अनुवादके माध्यमसे प्रस्तुत करना जितना कठिन होता है, उसका साराश प्रस्तुत करना उससे भी अधिक कठिन एव चुनौतीपूर्ण कार्य होता है। फिर भी प० जीका हिन्दीसार रूप अनुवाद तथा इस ग्रन्थका श्रेष्ठ सम्पादन रूप यह साहसपूर्ण कार्य उनकी विलक्षण प्रतिभाका परिचायक है।

अकलङ्कग्रन्थत्रय : एक अनुचिन्तन

• डॉ॰ कमलेशकुमार जैन, वाराणसी

डॉ॰ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित विविध प्राचीन ग्रन्थोंकी शृङ्खलामें आचार्य भट्टाकलङ्कदेव द्वारा रचित लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह—इन तीन ग्रन्थोंको संकलित कर 'अकलङ्कग्रन्थत्रयम्' के नामसे सम्पादित किया गया है, जो सिंघी जैन ज्ञानपीठ कलकत्ता द्वारा सिंघी जैन ग्रन्थमालाके बारहवें पुष्पके रूपमें सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ है। आजसे लगभग छप्पन वर्ष पूर्व प्रकाशित विस्तृत प्रस्तावना, विविध टिप्पणियों, पाठ भेदों एवं अनेक परिशिष्टोंसे अलंकृत प्रस्तुत ग्रन्थ आज भी उतना ही प्रामाणिक, उपयोगी एवं कार्यकारी है, जितना इतः पूर्व रहा है।

उक्त ग्रन्थत्रयके कर्त्ता भट्टाकलङ्कदेव जैनदर्शनके एक महान् ज्योतिर्धर आचार्य थे। यदि वे स्वामी समन्तभद्रके उपज्ञ सिद्धान्तोंके उपस्थापक, समर्थक, विवेचक और प्रसारक थे तो सम्प्रति ईसाकी इस बीसवीं शताब्दीमें डॉ॰ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य स्वामी समन्तभद्र और भट्टाकलङ्कदेव इन दोनों आचार्योंके द्वारा रचित ग्रन्थोंके उद्धारकर्त्ता तथा हिन्दी भाषामें तुलनात्मक अध्ययनके माध्यमसे दार्शनिक जगत्के समक्ष उक्त दोनोंके सिद्धान्तों/विचारोंके प्रस्तोता हैं।

डॉ॰ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने 'अकलङ्कग्रन्थत्रयम्' पर लिखी गई अपनी हिन्दी प्रस्तावनाको सर्वप्रथम दो भागोंमें विभाजित किया है—ग्रन्थकार और ग्रन्थ। ग्रन्थकार अकलङ्कदेवकी जन्मभूमि एवं पितृकुल पर विचार किया है। साथ ही उनके स्थिति काल पर भी विचार किया है। उनके द्वारा काल निर्णयकी पद्धति बहुत ही युक्तियुक्त किंवा तर्कसंगत है। अतः भट्टाकलङ्कदेवका समय सन् ७२० के पहले नहीं माना जा सकता है। इस क्रममें उन्होंने भट्टाकलङ्कदेवके ग्रन्थोंकी तुलना अनेक वैदिक दार्शनिकोंके साथ की है। यही पद्धति उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड और सिद्धिविनिश्चय आदि ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाओंमें भी अपनाई है।

प्रस्तुत 'अकलङ्कग्रन्थत्रयम्' में भट्टाकलङ्कदेवकी तीन मौलिक कृतियों—लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रहका वैज्ञानिक पद्धतिसे सम्पादन होकर प्रथम बार प्रकाशन हुआ है। हाँ, इतः पूर्व लघीयस्त्रय की मात्र मूलकारिकाओंके साथ अभयचन्द्र कृत वृत्ति अवश्य प्रकाशित हुई है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थत्रयमें लघीयस्त्रयकी मूलकारिकाएँ तो हैं ही, साथ ही उनपर स्वोपज्ञ विवृति भी प्रकाशित है। लघीयस्त्रय पर आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा लिखी गई अठारह हजार श्लोक प्रमाण न्यायकुमुदचन्द्र टीकासे उत्थान वाक्य चुनकर दिये हैं। इसी प्रकार न्यायविनिश्चय में वादिराजसूरि विरचित बीस हजार श्लोक प्रमाण न्यायविनिश्चय विवरणसे लिये हैं। प्रमाणसंग्रहकी प्राचीन टीका उपलब्ध न होनेसे उसे ज्योंका त्यों मुद्रित किया है। हाँ; कहीं-कहीं आद्य भागसे कारिकांशको छाँटकर ब्रेकेटमें दे दिया गया है। किसी भी टीका या भाष्यसे मूल कारिकाको निकाल लेना बहुत बड़े परिश्रम एवं साहसकी बात है, जिसे डॉ॰ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने सम्पन्न किया है। यह उनकी स्फूर्त प्रतिभाका एक उत्कृष्ट पक्ष है।

डॉ सा॰ ने लघीयस्त्रयको अकलङ्ककर्तृक सिद्ध करने हेतु जिस पद्धतिका प्रयोग किया है, वह अति महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थके आन्तरिक साक्ष्योंको तो उन्होंने ग्रहण किया ही है, साथ ही अन्य परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा उद्धृत लघीयस्त्रयकी कारिकाओंके उद्धरणोंको अकलङ्कदेवके नामोल्लेख पूर्वक जहाँ-जहाँ ग्रहण किया

गया है, उन उद्धरणोको भी विभिन्न ग्रन्थोसे संकलित कर अपने कथनकी पुष्टि की है। इसी प्रकार अन्त-र्बाह्य साक्ष्योके द्वारा न्यायविनिश्चय और प्रमाणसग्रहके अकलङ्ककर्तृक होनेकी पुष्टि एव समर्थन किया है, जिससे डॉ० सा० के अल्पायुमे ही विविध सम्प्रदायोके शास्त्रोंके पारायण करनेकी जानकारी मिलती है। वे जिस ग्रन्थका अध्ययन करते थे उसमे उनकी शोध-खोज दृष्टि सतत् बनी रहती थी। वे ग्रन्थका मात्र वाचन ही नही करते थे, अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थकी शल्यक्रिया करके उसे पूर्णत- आत्मसात् कर लेते थे।

पण्डितजीने पहले ग्रन्थत्रयका संक्षेपमें सामान्य परिचय दिया है। तत्पश्चात् उनके विषय पर एक साथ विचार किया है। इससे आचार्य अकलङ्कदेवके एतद्विषयक विवेचनका समवेत रूपमे हम सभीको ज्ञान हो जाता है।

इस ग्रन्थकी सम्पादन कलाका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है इस ग्रन्थकी प्रस्तावनाके अन्तर्गत सुप्रसिद्ध प्राचीन जैनेतर प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थकारोके ग्रन्थो और विषयोसे आचार्य अकलंकके ग्रन्थोका तुलनात्मक अध्ययन। यहाँ मुख्यत भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रभाकरगुप्त, कर्णकगोमि, धर्मकीर्तिके यशस्वी टीकाकार धर्मोत्तर, शान्तरक्षित आदि अनेक ग्रन्थकारोंसे आचार्य अकलकदेवका तुलनात्मक, समीक्षा-त्मक और विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जो परस्पर आदान-प्रदान, योगदान एव प्रभाव आदि दृष्टियोसे अध्ययन हेतु अति महत्त्वपूर्ण है।

ग्रन्थत्रयके नामका इतिहास तथा उनका परिचय प्रस्तुत करते हुए पं० जीने प्रथम ग्रन्थके परिचयमें स्वय लिखा है कि "लघीयस्त्रय नामसे मालूम होता है कि यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणोका एक सग्रह है। ग्रन्थ बनाते समय अकलकदेवको 'लघीयस्त्रय' नामकी कल्पना नही थी। उनके मनमे तो दिङ्नागके न्याय-प्रवेश जैसा एक जैनन्यायप्रवेश बनानेकी बात घूम रही थी। लघीयस्त्रयके परिच्छेदोका प्रवेशरूपसे विभाजन तो न्यायप्रवेशको आधार माननेकी कल्पनाका स्पष्ट समर्थन करता है।" मुझे ऐसा लगता कि यह सूझ अनन्त-वीय आचार्य की है क्योकि लघीयस्त्रय नामका सबसे पुराना उल्लेख सिद्धिविनिश्चयटीकामे मिलता है। लघीयस्त्रयके इसी सस्करणके आधार पर इसका हिन्दी अनुवाद सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचदजी द्वारा कुछ वर्ष पूर्व किया गया, जो श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान नरिया, वाराणसी से शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

द्वितीय ग्रन्थ "न्यायविनिश्चय" है। इसका नाम धर्मकीर्तिके गद्यपद्यमय "प्रमाणविनिश्चय" का अनुकरण लगता है। न्यायविनिश्चयमे प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन-नामके तीन प्रस्ताव हैं। अतः सभव है कि अकलकके लिए विषयकी पसदगीमे तथा प्रस्तावके विभाजनमे आ० सिद्धसेन कृत न्यायावतार प्रेरक हो और इसीलिए उन्होने न्यायतारके 'न्याय' के साथ 'प्रमाणविनिश्चय' के 'विनिश्चय' का मेल बैठाकर न्यायविनिश्चय नाम रखा हो।

लघीयस्त्रयमे तृतीय ग्रन्थ 'प्रमाणसंग्रह' है। इसकी भाषा विशेषकर विषय तो अत्यन्त जटिल तथा कठिनतासे समझने लायक प्रमेय-बहुल ग्रन्थ है। इसकी प्रौढ़ शैलीसे ज्ञात होता है कि यह इनकी अन्तिम कृति है, जिसमे इन्होने अपने यावत् अवशिष्ट विचारोंके लिखनेका प्रयास किया है, इसीलिए प्रमाणो—युक्तियोका सग्रह-रूप यह ग्रन्थ इतना गहन हो गया है। प० सुखलालजी संघवीके अनुसार इस ग्रन्थका नाम दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चय तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहका स्मरण दिलाता है। किन्तु पं० महेन्द्रकुमारजीके अनुसार तत्त्वसग्रहके पहिले भी प्रशस्तपाद भाष्यका "पदार्थसग्रह" नाम प्रचलित रहा है। संभव है कि संग्रहान्त नाम पर इसका भी कुछ प्रभाव हो।

इस तरह लघीयस्त्रयमे संग्रहीत तीनों ग्रन्थ अपने नाम को सार्थक करते हैं। जिनका प्रस्तुत प्रामाणिक सम्पादन कार्य पं० जीने वैज्ञानिक विधिसे किया है। वस्तुत आ० अकलंकदेवके ग्रन्थोका इस रूपमे सम्पादन करना कोई साधारण कार्य नही है। इसके लिए पं० जीको जैन एवं जैनेतर अनेक प्राचीन ग्रन्थो और ग्रन्थकारोंका गहन अध्ययन, मनन और तुलनात्मक विवेचन करना पड़ा। आ० अकलकदेवके साहित्य और उसमें प्रतिपाद्य विषयोके तलस्पर्शी ज्ञानके बिना ऐसा सफल सम्पादन असम्भव कार्य था किन्तु उनके इस कार्यमे सफलतासे यही सिद्ध होता है कि पं० महेन्द्रकुमारजी भी उस महान् विरासतके सच्चे प्रहरी थे। क्योकि आचार्य अकलंकदेव जब आगमिक विषय पर कलम उठाते हैं तब उनके लेखनकी सरलता, विशदता एव प्रसाद गुणका प्रवाह पाठकको पढ़ने ऊबने नही देता। राजवार्तिककी प्रसन्न रचना इसका अप्रतिम उदाहरण है। परन्तु जब वही अकलक तार्किक विषयो पर लिखते हैं तब वे उतने ही दुरूह बन जाते है। यहाँ इनके प्रमाण विवेचनका विषय प्रस्तुत है—

प्रमाणके भेदोके प्रसङ्गमे आचार्य अकलङ्कदेवके दृष्टिकोणको स्पष्ट करते हुये डॉ० सा० ने उसके भेदोको जिस पद्धतिसे प्रस्तुत किया है उसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है। उन्होने अपनी प्रस्तावना (पृ० ४८) मे लिखा है कि "प्रत्यक्षके दो भेद है—१. सांव्यवहारिक, २ मुख्य। सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके दो भेद—१. इन्द्रिय प्रत्यक्ष, २ अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणादि ज्ञान। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष—शब्द योजनासे पहले अवस्था वाले स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान।" इसीको स्पष्ट करते हुये पण्डितजी लिखते हैं—हाँ! इसमे स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधको शब्द योजनाके पहले अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्यने स्वीकार नही किया। उन्हे सर्वांशमे अर्थात् शब्द योजनाके पूर्व और पश्चात्—दोनो अवस्थाओमे परोक्ष ही कहा है। यही कारण है कि आचार्य प्रभाचन्द्रने लघीयस्त्रयकी 'ज्ञानमाद्य' कारिकाका यह अर्थ किया है कि—मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान शब्द योजनाके पहले और शब्द योजनाके बाद—दोनो अवस्थाओमें श्रुत है अर्थात् परोक्ष हैं।"

आगे मुख्य प्रत्यक्षका स्वरूप लिखा है कि—"इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना, अतीन्द्रिय, व्यवसायात्मक, विशद, सत्य, अव्यवहित, अलौकिक, अशेष पदार्थोंको विषय करने वाले अक्रम ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।"

डॉ० सा० ने सर्वज्ञता पर विस्तारसे विचार किया है। सर्वप्रथम उन्होने कुमारिलके मतकी समीक्षा की है।

इस समीक्षासे पं० जीके जैन-बौद्धदर्शनके अतिरिक्त वैदिक दर्शनके मूलभूत ग्रन्थोके अध्ययन एव उनकी समालोचनात्मक दृष्टि परिलक्षित होती है।

पं० जीने 'अकलङ्कग्रन्थत्रयम्' की प्रस्तावनाके मध्यमे पूर्वपक्षियों द्वारा उठाये गये अनेक प्रश्नोका समाधान ऐसा तर्क एव आगम-सम्मत प्रस्तुत किया है कि सामान्य व्यक्ति भी उसे पढ़कर उसके हार्दको समझ सकेगा।

आगे न्यायाचार्यजीने (प्रस्तावना पृ० सं० ९४ मे) नयों और नयाभासोका स्पष्ट एवं तुलनात्मक विवेचन किया है। नयोके सन्दर्भमे आचार्य सिद्धसेनके कथनको युक्तिसगत बताते हुये वे लिखते हैं कि—चूँकि नैगम नय सकल्प मात्रग्राही है तथा संकल्प या तो अर्थके अभेद अशको विषय करता है या भेद अंशको। इसीलिये अभेद सकल्पी नैगमका संग्रहनयमे तथा भेद सकल्पी नैगमका व्यवहार नयमे अन्तर्भाव करके आचार्य सिद्धसेनने नैगम नयको स्वतन्त्र नय नही माना है। इनके मतसे सग्रहादि छह ही नय हैं।

विद्वान् सम्पादकने यहाँ इतनी अच्छी तुलनात्मक नय व्यवस्था प्रस्तुत की है कि उनके इस संक्षिप्त विवेचनमें ही नयवादकी पूर्ण और स्पष्ट मीमांसा हो जाती है और आचार्य सिद्धसेन एवं आचार्य अकलङ्कके मन्तव्योंका भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

सात भंगोकी क्रम व्यवस्थामें (प्रस्तावना पृ० सं० १०१) न्यायाचार्यजीका मत है कि—अवक्तव्य मूल भङ्ग है, अत. सप्तभङ्गोके उल्लेख क्रममे अवक्तव्यका क्रम तीसरा होना चाहिये।

अपने इस मन्तव्यके कारण आचार्य मलयगिरिने आचार्य अकलङ्कके मन्तव्यकी आलोचना की है, किन्तु श्वेताम्बर विद्वान् उपाध्याय यशोविजयने समन्तभद्र और सिद्धसेन आदिके मतका समर्थन किया है।

इस प्रकार हम देखते है कि डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यने काफी मनन और चिन्तन करके इस प्रस्तावनाको लिखा है। जिसमे न केवल जैनदर्शन, अपितु जैनेतर दर्शनोके मूल सिद्धान्तोको प्रस्तुत कर उनका समाधान जैनदर्शनके परिप्रेक्ष्यमे खोजनेका सार्थक प्रयास किया है।

इस विस्तृत प्रस्तावनामे उल्लिखित विषय वस्तु तथा तर्क एव आगम-सम्मत समाधान प्रस्तुत करनेसे डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी शोध-खोज एव समालोचनात्मक दृष्टि एव उनका अतुलनीय वैदुष्य मुखर हुआ है।



विविध तीर्थकल्प : एक समीक्षात्मक अध्ययन

● डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

विविधतीर्थकल्प डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य द्वारा संस्कृतसे हिन्दी गद्यमे अनूदित एक ऐसी कृति है जिसका सबसे कम अध्ययन हुआ है। जिसकी चर्चा नही के बराबर हो सकी है। इसका कारण डॉ० साहबके न्याय शास्त्रके बडे-बडे ग्रन्थोका सपादन, भूमिका लेखनको विशालतामे दब जाना है या ओझल हो जाता है। संस्कृतसे हिन्दीमे अनुवादित उनकी यह एक मात्र कृति है।

विविधतीर्थकल्पकी रचना श्वेताम्बर जैनाचार्य श्री जिनप्रभसूरिने सवत् १३८५ ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमीके दिन की थी। १४वी शताब्दीका वह समय मुसलिम आक्रमणकारियो द्वारा मन्दिरोको नष्ट करनेका था। इसके प्रथम कल्पमे लिखा है कि जावडि शाह द्वारा स्थापित भगवान् आदिनाथका सुन्दर प्रतिबिम्ब संवत् १३६९ मे मलेच्छों द्वारा नष्ट किये जानेके २ वर्ष पश्चात् अर्थात् संवत् १३७१ मे श्रेष्ठी समरशाहने उस भग्न मूलनायक प्रतिमाका पुनरुद्धार करवाया और अभूतपूर्व धर्मलाभ लिया।

श्री जिनप्रभसूरिने अपने विविधतीर्थकल्पके शत्रुजयकल्पमे लिखा है कि स्वनामधन्य मत्री वस्तुपालने विचारा कि कलिकालमे मलेच्छ लोग इस तीर्थका विनाश कर देंगे इसने उसने भगवान् आदिनाथ एवं भगवान् पुण्डरीककी भव्य मूर्तियाँ बनवाकर तलघरमे चुपचाप विराजमान कर दी। उनको जो आशका थी वही हुआ और भगवान् आदिनाथकी प्रतिमाको मलेच्छोने नष्ट कर दिया।

विविधतीर्थकल्प एक ऐतिहासिक दस्तावेज है जिनका श्री जिनप्रभसूरिने अपने कल्पमे उल्लेख किया है। इसी कल्प कृतिका डॉ० प० महेन्द्रकुमारजी ने हिन्दी गद्यमे अनुवाद करके हिन्दी भाषा-भाषी पाठकोके लिए एक ऐतिहासिक रचनाको सुलभ बना दिया है। लेकिन हमारे पास जो पाण्डुलिपि है उसमे प० महेन्द्रकुमारजी के नामका कही उल्लेख नही मिलता है। और इस कृतिका कब उन्होने हिन्दी गद्यानुवाद किया इस सम्बन्धमे भी कृति मौन है।

फिर भी यह 'विविधतीर्थकल्प' कृतिको हिन्दी गद्यमे उन्होने अनूदित की है इसमे कोई सन्देह नही है। अब हम यहाँ इसके प्रत्येक कल्पका परिचय उपस्थित कर रहे हैं जिससे पाठकोको इसकी विषय वस्तुसे परिचय मिल सके। श्री जिनप्रभसूरि श्वेताम्बर सत थे इसलिये उन्होने तीर्थोका इतिहास भी उन्होने इसी दृष्टिसे किया है इसके अतिरिक्त सवत् १३८५ मे देशमे कौन-कौनसे जैनतीर्थ थे इसका भी प्रस्तुत कृतिसे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

१—प्रथम कल्प शत्रु जय कल्प

यह इस कृतिका प्रथम कल्प है। शत्रुजय तीर्थ श्वेताम्बर समाजका महान् तीर्थ है। जैसे दिगम्बर समाजमे सम्मेदशिखरजी का माहात्म्य है उसी तरह श्वेताम्बर जैन समाजमे शत्रुजय तीर्थका महत्त्व है। शत्रुजय पर्वतसे महातपस्वी पुडरीकने पाँच करोड मुनियोके साथ मोक्ष प्राप्त किया था इसलिये इसे पुडरीक तीर्थ भी कहते है। इस गिरिराज से अबतक अनगिनत तीर्थंकर एव साधुमे मोक्ष पद प्राप्त किये, वर्तमानके सभी चौबीस तीर्थंकर इस पर्वत पर पधारे थे और वहाँ उनका समवसरण रचा गया था। प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराजने यहाँ एक योजन लम्बा चौडा चैत्यालय बनाया था। जिनमे आदिनाथ स्वामीकी मूल नायक प्रतिमा विराजमान की गयी थी।

इस युगमे महाराजा सम्प्रति, विक्रमादित्य, सातवाहन, वाग्भट्ट, पादलिप्त, आम और दत्त इन्होने इस पर्वतराजका समय-समयपर जीर्णोद्धार करवा कर उसका सरक्षण करते रहे। प्रसिद्ध तीर्थोद्धारक श्री जावडि साहूने भी इस तीर्थराजका उद्धार करवा कर अजितनाथ स्वामीके मन्दिरमे एक तालाबका निर्माण कराया था। इस कल्पमे शत्रुजय तीर्थका उद्धार कराने वाले महान् आत्माओके नाम गिनाये हैं। जिनमे इतिहासका पुट भी है। श्री जिनप्रभसूरिने जब इस विविध तीर्थकल्पकी रचना आरम्भ की तो सघ पर राजाधिराज अत्यधिक प्रसन्न हुये इसलिये कल्पका नाम 'राजप्रासाद' भी दिया गया है। श्री जिनप्रभसूरिने इस प्रथम कल्पकी रचना सवत् १३८५ ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्षकी सप्तमीको पूर्ण की थी। इस कल्पमे १३३ संस्कृत पद्योका भाषानुवाद है।

२–रैवतकगिरि संक्षेप कल्प

रैवतकगिरि जिसका दूसरा गिरिनार है के माहात्म्यको बतलाने वाला है। इस कल्पका पूर्वमें पादलिप्त आचार्यने जिस प्रकार वर्णन किया था वज्रस्वामीके शिष्यने पालीताणाका वर्णन किया है उसी प्रकार जिनप्रभसूरिने रैवतकगिरिका वर्णन किया है। २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ ने छत्रशिलाके पास दीक्षा ली थी, सहस्राम्र वनमे केवलज्ञान प्राप्त किया, लक्षा रामवनमे मोक्षमार्गका उपदेश दिया तथा सबसे ऊँची अवलोकन नामक शिखरसे मोक्ष प्राप्त किया। स्वय श्रीकृष्ण जीने भगवानके तीनो कल्याणकोमे भाग लिया था। रैवतकगिरि पर और कौनसे मन्दिर आदि है इन सबका प्रस्तुत कल्पोमे वर्णन मिलता है।

३–श्री उज्जयन्त स्तव

इसका नाम उज्जयन्त कल्पके स्थान पर उज्जयन्त स्तव दिया है। रैवतक, उज्जयन्त आदि एक ही शिखरके नाम हैं। उज्जयन्त गिरनार पर्वतका नाम है जो गुजरात देश मे स्थित है। इस पर्वतके किनारे पर बसे हुये खगारगढमे श्री ऋषभनाथ आदि अनेक तीर्थंकरोके चैत्यालय है। काश्मीर देशके निवासी श्री रत्नशाहने कूष्माडी देवीके आदेशसे भगवान् नेमिनाथकी सुन्दर पाषाण प्रतिमा स्थापित की थी। इस स्तवमें २४ पद्य हैं।

४–उज्जयन्त महातीर्थ कल्प

इस कल्पमे इसी गिरनार पर्वत और ४० पद्योंमें और विशद वर्णन किया गया है।

५–रैवतकगिरि कल्प

इस कल्पमे गिरिनार तीर्थका और विशेष वर्णन है। इतिहासकी दृष्टिसे यह अच्छा कल्प है। श्री जिनप्रभसूरिने इसमे कितने पद्य लिखे अथवा गद्यमे ही लिखा इसका कल्पके अध्ययनसे पता नही चलता है।

इस प्रकार रैवतक कल्प चार छोटे-छोटे कल्पोमे पूर्ण होता है।

६–श्री पार्श्वनाथ कल्प

इस कल्पमे स्तम्भनक पार्श्वनाथ तीर्थके उद्भवका वर्णन किया गया है। इस कल्पमे ७४ पद्य हैं। भगवान् पार्श्वनाथकी इस प्रतिमाके दर्शनके कारण ही अभयदेवसूरिका रोग दूर हुआ था।

७–अहिछत्रा नगरी कल्प

इस कल्पमे अहिछत्र तीर्थका इतिहास दिया है जिसमें भगवान् पार्श्वनाथको कैवल्य होनेके पूर्व कमठ द्वारा उपसर्ग किया गया था। उसीका विस्तृत वर्णन है। उपसर्ग स्थल पर ही भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति विराजमान कर दी गयी।

८–अर्बुदाद्रि (आबू पर्वत) कल्प

प्रारम्भमे आबू पहाड़की विस्तृत कथा दी गयी है। सवत् १०८८मे चैत्यालयका निर्माण करवा कर उसका नाम विमलवसति रखा गया। संवत् १२८८ मे लूणिगवसतिका निर्माण किया गया जिसमे भगवान् पार्श्वनाथकी कसौटीके पत्थरकी प्रतिमा विराजमान की गयी। इन दोनो विमल वसति एवं लूणिगवसतिको म्लेच्छोने नष्ट कर दिया था। उसके पश्चात् विमलवसतिका पुनरुद्धार विक्रम संवत् १२४३ मे श्री महणसिंह-के पुत्र ल्ललने किया। तथा चण्डसिंहके पुत्र पीथडने लूणिगवसतिका उद्धार किया। इस कल्पमे ५२ पद्य हैं।

९–मथुरापुरी कल्प

इस कल्पमें मथुरा नगरी, चौरासी मथुरा आदिका विस्तृत इतिहास दिया गया है।

१०–अश्वावबोध तीर्थ कल्प

इस कल्पमे अश्वावबोध तीर्थ एव सकुलिकाविहार इन दोनों तीर्थोंका विस्तृत वर्णन है। इस कल्पके अनुसार भगवान् मनिसुव्रतनाथके निर्वाणके ११८४४७० वर्ष पश्चात् विक्रम सवत् चला तथा ११९४९७२के पश्चात् विक्रम राजा हुए।

११–वैभारगिरि कल्प

इस कल्पकी रचना सवत् १३६४ मे की गयी थी, राजगृहीमें पहिले वैश्योके छत्तीस हजार घर थे जिनमे आधे बौद्ध और आधे जैन थे।

१२–कौशाम्बी नगरी कल्प

इन नगरीमे भगवान् महावीरका चन्दनवालाके यहाँ पाँच कम छह माहके पश्चात् पारणा हुआ था। वह ज्येष्ठ सुदी दशमीका दिन था। कौशाम्बी आर्या मृगावतीका नगर था। इसी नगरीमे भगवान् पद्मप्रभुके गर्भ, जन्म, दीक्षा एव ज्ञान ये चार कल्याणक हुए।

१३–अयोध्यानगरी कल्प

अयोध्या नगरी ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ एव अनन्तनाथकी जन्म-भूमि है। भगवान् महावीरके नवे गणधर श्री अचलभ्राता एव विमलवाहन आदि सात कुलकरोकी जन्मभूमि रही थी। भगवान् पार्श्वनाथकी दिव्य प्रतिमाकी स्थापनाका इतिहास भी दिया हुआ है।

१४–अपापापुरी सक्षिप्त कल्प

इसका दूसरा नाम पावापुरी है जहाँसे भगवान् महावीरने निर्वाण पद प्राप्त किया था। यही महावीर स्वामीके कानोसे कील निकाली गयी थी। इसी नगरीमे भगवान् महावीर जृम्भिका नगरीमे पधार कर सर्व प्रथम उपदेश दिया था।

१५–कलिकुण्ड कुक्कुटेश्वर कल्प

इसमें कलिकुण्ड तीर्थके उद्भवकी कथा एव कुक्कुटेश्वर कल्पकी उत्पत्तिकी कथा दी हुई है।

१६–हस्तिनापुर कल्प

तीर्थंकर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एव अरनाथ तीर्थंकरोकी जन्मभूमि तथा इनके दीक्षाकल्याणक एव ज्ञान कल्याणककी भूमि रहनेका सौभाग्य प्राप्त है। भगवान् ऋषभनाथका प्रथम आहार हुआ। यहाँ मल्लि-नाथ स्वामीका समवसरण आया था। विष्णुकुमार मुनि द्वारा सात सौ मुनियोकी रक्षा आदि आश्चर्यजनक घटनाएँ हुई।

१७–सत्पुर तीर्थ कल्प—सत्यपुर तीर्थकी विस्तृत कथा दी हुई है। कथा रोचक है।

१८–अष्टापद महातीर्थ कल्प

यह कल्प श्री धर्मघोषसूरि कृत है। अष्टापदका दूसरा नाम गिरिराज कैलाश है। आठ पर्वतोंसे वेष्टित होनेके कारण इसे अष्टापद कहते हैं। इस कल्पमें २४ पद्य हैं।

१९–मिथिला तीर्थ कल्प

मिथिलापुरी विदेह देशमें अवस्थित है। इस मिथिला नगरीमें मल्लिनाथ एवं नमिनाथ भगवान्‌के चार कल्याणक हुए थे। यहाँ बाणगंगा एवं गंडकी नदी बहती है। भगवान् महावीरने यहाँ एक चातुर्मास किया था। जनकसुता सीताका भी मिथिला नगरी जन्म-स्थान है। मिथिला नगरी अनेक राजा-महाराजाओं-की जन्मभूमि रही है।

२०–श्री रत्नवाहपुर कल्प—रत्नवाहपुर कौशल देशमें स्थित है। यह भगवान् धर्मनाथकी जन्मभूमि है। इस कल्पमें कुम्हारके लडके और नागराजकी खेलनेकी कला है।

२१–अपापा बृहत्कल्प

दीपमालिकोत्सव सहित अपापाका कल्प है। इसमें अनेक अवान्तर कथाएँ हैं। इस कल्पका निर्माण संवत् १३८७ भाद्रपद कृष्ण द्वादशीके दिन किया गया था। यह बहुत बड़ा कल्प है।

२२–कन्यानयनीय महावीर प्रतिमा कल्प

इस कल्पमें कन्यानय नगरमें तेईस पर्व प्रमाण ऊँची महावीरकी प्रतिमा है इसे विक्रमपुर निवासी जिनपतिसूरीके चाचा साहु मानदेवने संवत् १२३३ आषाढ शुक्ला १० को आचार्य जिनपतिसूरि द्वारा प्रतिष्ठा-पित की थी।

२३–प्रतिष्ठानपुर कल्प—भगवान् महावीरके ९९३ वर्ष पश्चात् आर्य कालकाचार्यने इस नगरीमें पधार-कर भाद्रपद शुक्ला चतुर्थीके दिन वार्षिक प्रतिक्रमण करके पर्वकी प्रवृत्ति की थी।

२४–नन्दीश्वर द्वीप कल्प—नन्दीश्वर द्वीपका विस्तारसे वर्णन है।

२५–काम्पिल्यपुर तीर्थ कल्प

२६–अणहिलपुर (पाटन) कल्प—इसका दूसरा नाम अरिष्टनेमि कल्प भी है।

२७–शंखपुर पार्श्व कल्प

२८–नासिक्यपुर कल्प—पहिले यह नगर पद्मपुर नामसे विख्यात था फिर त्रेता युगमें सूर्पणखाकी लक्ष्मण द्वारा नाक काट लेनेके कारण वह नगर नासिक्यपुर नामसे प्रसिद्ध हुआ। आगे भी नगरमें कितनी ही घटनाएँ होती रही।

२९–हरिकंखी नगर स्थित पार्श्वनाथ कल्प।

३०–कपर्दियक्ष कल्प।

३१–शुद्धदन्ती स्थित पार्श्वनाथ कल्प।

३२–अवन्तिदेशस्थ श्री अभिनन्दन कल्प।

३३–प्रतिष्ठापुर कल्प।

३४–प्रतिष्ठानपुरके महाराज सातवाहनका चरित्र—इस कल्पमे कितनी ही असगत बाते है जो जैन-सिद्धान्तसे मेल नही खाती।
३५–चम्पापुरी कल्प।
३६–पाटलीपुत्र कल्प।
३७–श्रावस्ती कल्प।
३८–वाराणसी नगरी कल्प।
३९–महावीर गणधर कल्प।
४०–कोकावसति पार्श्वनाथ कल्प।
४१–कोटिशिला तीर्थ कल्प।
४२–वस्तुपाल तेजपाल मन्त्रि कल्प।
४३–ढिपुरी तीर्थ कल्प—इसमे वंकचूलकी कथा दी हुई है।
४४–ढिपुरी स्तव।
४५–चौरासी महातीर्थ नाम संग्रह कल्प।
४६–समवसरण रचना कल्प।
४७–कुंडुगेश्वर नाभेयदेव कल्प।
४८–व्याघ्री कल्प।
४९–अष्टापदगिरि कल्प।
५०–हस्तिनापुर तीर्थ स्तवन।
५१–कन्यानय महावीर कल्प परिशेष।
५२–कुल्य पाकस्थ ऋषभदेव स्तुति।
५३–अमरकुण्ड पद्मावती देवी कल्प।
५४–चतुर्विंशति जिन कल्याणक कल्प।
५५–तीर्थंकरातिशय विचार।
५६–पञ्च कल्याणक स्तवन।
५७–कोल्लपाक माणिक्यदेव तीर्थ कल्प।
५८–श्रीपुर अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ कल्प।
५९–स्तम्भक कल्प–अवशिष्ट भाग।
६०–फलवर्द्धि पार्श्वनाथ कल्प।
६१–अम्बिका देवी कल्प।
६२–पंचपरमेष्ठी नमस्कार कल्प।

इस प्रकार विविधतीर्थकल्पमे ६२ कल्पोंकी कथाएँ दी हुई हैं। डॉ० महेन्द्रकुमारजीने कल्पका भाषानुवाद खड़ी बोलीमे किया है। भाषा साफ सुथरी है। पूरा कल्प एक ही कथा संग्रह बन गया है।

जैनदर्शन : एक मौलिक चिन्तन

• श्री निर्मल जैन, सतना

संसार और उसके चेतन-अचेतन समस्त द्रव्योंको जानने और समझनेकी जिज्ञासा, जिज्ञासु व्यक्तियो को हमेशासे रही है। दृष्टिगोचर एवं अनुभवगम्य पदार्थोंका अस्तित्व कबसे हैं, किस कारणसे है और कब तक रहेगा। इनके उत्पन्न होने, बने रहने और विनश जानेकी प्रक्रियाका रहस्य क्या है, कौन सी शक्ति इसके पीछे कार्य करती है। इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर पानेके लिए लोग विशिष्ट ज्ञानी-तपस्वी जनोकी शरणमे जाते रहे है। अध्यात्म प्रधान हमारे भारत देशमें इन प्रश्नोका उत्तर देने वालोकी भी कमी नही रही, विभिन्न मत-मतान्तरोके जनक या व्याख्याकारोने अपनी-अपनी मान्यताओके अनुसार प्रश्नोको सुलझानेका प्रयास किया परन्तु पक्ष व्यामोहके कारण और दूसरी मान्यताओको सर्वथा मिथ्या माननेके कारण वे सही स्थितिको न तो समझ सके और न जिज्ञासुओको समझा सके।

अनन्त धर्मात्मक वस्तुओकी तहमे वे जितने घुसे अपने सीमित और भ्रामक ज्ञानके कारण उतने ही उलझते चले गय। अपनी मान्यता बनाए रखनेके लिए कुछ न कुछ उत्तर देना भी उन्हे अभीष्ट था सो येन-केन-प्रकारेण उक्ति बिठाकर उत्तर देते रहे। एक दो दार्शनिकोने कुछ प्रश्नोको अनावश्यक बताकर टाला भी और कुछ ने अपनी अनभिज्ञता भी जाहिर की, पर जिज्ञासाएँ तो बनी ही रही।

जैनदर्शनमे विश्वव्यवस्था और उसके पदार्थोंका सूक्ष्म और वैज्ञानिक विश्लेषण अनादिकालमे होता आया है। भगवान महावीरके निर्वाणके कुछ काल बाद केवलज्ञानियोकी परम्परा समाप्त हुई परन्तु भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि और उसके बाद हुए केवली-श्रुतकेवली भगवंतो द्वारा प्रसारित ज्ञानका सहारा लेकर ईसाकी दूसरी शताब्दीसे १५वी शताब्दी तक बहु श्रुतज्ञ जैनाचार्योंने अनेक ऐसे ग्रन्थोकी रचना की जिसमे जैनदर्शन और न्यायको पूरी बारीकियोके साथ प्रस्तुत किया गया है। तथा मिथ्या मान्यताओका खण्डन भी युक्तिपूर्वक किया गया है। उक्त शास्त्र प्राय प्राकृत भाषामे लिखे गए, उनकी टीकाएँ भी श्रुतज्ञ आचार्यों द्वारा हुई पर सस्कृत मे। कुछ शास्त्र मौलिक रूपसे सस्कृतमे लिखे गए।

इस बीच अन्य दार्शनिकोने भी अपने मतकी पुष्टिके लिए ग्रन्थ लिखे। साथ ही भारतीय दार्शनिक क्षितिजपर कुछ ऐसे दर्शनो/दार्शनिकोका भी उदय हुआ जिन्होने अपने मतकी पुष्टिके लिए कुतर्कोंके द्वारा जैनदर्शनका खण्डन करना प्रारम्भ किया। जैसे स्याद्वादके मूल स्वर स्यात् शब्दका अर्थ सशयके रूपमे प्रतिपादित कर एक भ्रामक व्याख्या उपस्थित की गई।

बीसवी सदीमे आते-आते भाषाकी दुरूहता जन साधारणके लिए आर्ष ग्रन्थोके स्वाध्यायमे बाधक बनने लगी। शास्त्रोकी हिन्दी टीकाएँ तो हुई परन्तु दर्शन और न्याय विषयक ग्रन्थोपर कार्य करने वाले विद्वान् विशेष नही हुए। कुछ इने-गिने विद्वानोने ही इन विषयोको अपने चिन्तनका विषय बनाया।

इस शताब्दीके चौथे दशकमे युवा विद्वान् प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने इन गम्भीर विषयोका विशद अध्ययन किया, केवल जैनदर्शन ही नही, अन्य भारतीय दर्शनोका भी गहन अध्ययन करके उन्होने अपने विचारोको शब्दोका आकार देना प्रारम्भ किया। जैन ग्रन्थोके प्रकाशनका स्तुत्य कार्य करनेवाली सस्था भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापनामे तथा विद्वत् परिषद जैसी सस्थाकी स्थापनामे भी प० महेन्द्रकुमार जीका विशेष योगदान था। भारतीय ज्ञानपीठकी व्यवस्थामे सहयोगी बनकर उन्होने 'न्यायकुमुदचन्द्र', 'न्याय-विनिश्चयविवरण', 'अकलंकग्रन्थत्रय', 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड', 'तत्त्वार्थवार्तिक', 'तत्वार्थवृत्ति', 'सिद्धिविनि-

स्चयटीका' आदि ग्रन्थोका कुशलतापूर्वक सम्पादन किया तथा उनपर चिन्तन पूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखकर उन्हे प्रकाशित भी कराया।

सन् १९११ मे जन्म लेने वाले महेन्द्रकुमार जीने अपने तीव्र क्षयोपशम और पुरुषार्थके बलपर अल्प-वयमें ही लौकिक एव पारमार्थिक शिक्षा प्राप्त करके सन् १९३२ से ही काशीमे अध्यापन कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अध्यापनके साथ ही आपका अध्ययन भी जारी रहा और उन्होने एम ए शास्त्री, न्यायाचार्य आदि उपाधियाँ अर्जित कर ली। प० महेन्द्रकुमार जीका चिन्तन और सम्पादन आदिका कार्य कितना उच्च-कोटिका था इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि 'सिद्धिविनिश्चय' टीका के कार्यका सही मूल्या-कन करके हिन्दू विश्वविद्यालय काशीने आपको पी एच डी की उपाधिसे सम्मानित किया।

ग्रन्थोकी प्रस्तावनामे डॉ० महेन्द्रकुमार जीने जहाँ एक ओर जैनदर्शनकी विशेषताओको उजागर किया वही विभिन्न दार्शनिको द्वारा किए जा रहे जैनदर्शनके खण्डनका भी तर्कपूर्ण उत्तर दिया। उन्होने अपनी लेखनीको किसी लोभ लालच या भयसे प्रभावित नही होने दिया। सस्कृत महाविद्यालय काशीमे बौद्धदर्शनके प्राध्यापक होते हुए भी बौद्धदर्शनकी तर्कसम्मत आलोचना एव महापण्डित राहुल साकृत्यायन जैसे मनीषी एव मान्य विद्वान्के विचारोकी आलोचना करना इसका प्रमाण है।

उनकी आलोचना ऐसे तथ्योपर आधारित थी कि राहुल साकृत्यायन जैसे विद्वान्ने उसे स्वीकार किया और उनकी विद्वत्तासे प्रभावित होकर उन्हे स्याद्वादपर स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ लिखनेके लिये प्रेरित किया। फलस्वरूप डॉ० महेन्द्रकुमार जीके चिन्तन और स्वाध्यायका सार ६०० पृष्ठो वाले मौलिक ग्रन्थ "जैनदर्शन" के रूपमे सामने आया। उन्होने ग्रन्थके 'दो शब्द' मे स्वय स्वीकार किया है कि राहुल साकृ-त्यायनके उलाहनेने ही इस ग्रन्थको लिखनेका सकल्प कराया।

'जैनदर्शन' ग्रन्थ को अपने प्रतिपाद्य विषयपर प्रथम ग्रथका गौरव प्राप्त हुआ। अक्टूबर १९५५ मे श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसीसे इसका प्रकाशन हुआ। प्रकाशकीय वक्तव्यमे सस्थाके कर्णधार विद्वान् पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री एव प० बशीधर जी व्याकरणाचार्यने लिखा है कि—

'जैन समाजमे दर्शनशास्त्रके जो इने-गिने विद्वान् हैं उनमे न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमार प्रथम हैं। इन्होने जैनदर्शनके साथ-साथ सब भारतीय दर्शनोका सागोपाग अध्ययन किया है तथा बडे परिश्रम तथा अध्ययनपूर्वक इस ग्रन्थका निर्माण किया है। हिन्दीमे एक ऐसी मौलिक कृतिकी आवश्यकता थी जिसमे जैनदर्शनके सभी दार्शनिक मतव्योका ऊहापोहके साथ विचार किया गया हो। इस सर्वांगपूर्ण कृति द्वारा उस आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है। अतएव हम इस प्रयत्नके लिए प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका जितना आभार माने, थोडा है।'

'जैनदर्शन' मे केवल जैनदर्शनकी ही व्याख्या नही है, अन्य भारतीय दर्शनोकी मान्यताओको उदा-हरण सहित प्रस्तुत करके लेखकने उनके अधूरेपनको भी उजागर किया है और जैनदर्शनसे उनकी तुलना करनेके लिए आधार प्रस्तुत किए है। यद्यपि प्रकाशनके पूर्व कुछ विद्वानोको भय था कि इस कृतिके प्रकाशन से साम्प्रदायिक विद्वेष फैल सकता है परन्तु निष्पक्ष दार्शनिको और विचारक विद्वानोने लेखककी इस कृति-की उपयोगिता स्वीकार करते हुए सराहना की, केवल मौखिक सराहना ही नही, अनेक विद्वानोने प्रशसात्मक पत्र लिखे तथा एक जैनेतर विद्वान् सस्कृत कॉलेज बनारसके पूर्व प्राचार्य प० मगलदेव शास्त्री एम० ए०, डी० फिल० ने उक्त ग्रन्थका प्राक्कथन लिखकर ग्रन्थकी प्रशसा की एवं जैनदर्शनके सिद्धान्तोके महत्त्वको स्वीकार किया। प्राक्कथनके अन्तमे आपने लिखा—

"अभी तक राष्ट्रभाषा हिन्दीमें कोई ऐसी पुस्तक नहीं थी, जिसमें व्यापक और तुलनात्मक दृष्टिसे जैनदर्शनके स्वरूपको स्पष्ट किया गया हो। बड़ी प्रसन्नताका विषय है कि इस बड़ी भारी कमीको प्रकृत पुस्तकके द्वारा उसके सुयोग्य विद्वान् लेखकने दूर कर दिया। पुस्तककी शैली विद्वत्तापूर्ण है, उसमें प्राचीन मूल ग्रन्थोंके प्रमाणोंके आधारसे जैनदर्शनके सभी प्रमेयोंका बड़ी विशद रीतिसे यथासम्भव सुबोध शैलीमें निरूपण किया गया है। विभिन्न दर्शनोंके सिद्धान्तोंके साथ तद्विषयक आधुनिक दृष्टियोंका भी इसमें सन्निवेश और उनपर प्रसंगानुसार विमर्श करनेका भी प्रयत्न किया गया है। पुस्तक अपनमें मौलिक-परिपूर्ण और अनूठी है। हम हृदयसे ग्रन्थका अभिनन्दन करते हैं।"

'जैनदर्शन' ग्रन्थमें लेखकने १२ अधिकारोंके माध्यमसे सम्पूर्ण विवेचना की है। 'पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन' नामके प्रथम अध्यायमें उन्होंने कर्मभूमिकी प्रारम्भिक स्थितियोंकी चर्चा करते हुए भगवान् आदिनाथसे लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके काल तककी परिस्थितियों और प्रचलित मान्यताओंका उल्लेख किया है। साथ ही जैनधर्म एवं दर्शनके मूल मुद्दोंको उजागर करते हुए श्रुत परम्परा और मान्य आचार्योंका परिचय देते हुए उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंकी भी संक्षिप्त चर्चा की है। इस अध्यायके उपसंहारमें वे लिखते हैं कि—

तर्क जैसे शुष्क शास्त्रका उपयोग भी जैनाचार्योंने समन्वय और समताके स्थापनमें किया है। दार्शनिक कटाकटीके युगमें भी इस प्रकारकी समता और उदारता तथा एकताके लिए प्रयोजक समन्वयदृष्टिका कायम रखना अहिंसाके पुजारियोंका ही कार्य था। स्याद्वादके स्वरूप तथा उसके प्रयोगकी विधियोंके विवेचनमें ही जैनाचार्योंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करनेमें जैनदर्शनका अकेला और स्थायी प्रयत्न रहा है।' (पृष्ठ २६।)

'विषय प्रवेश' नामक दूसरे अध्यायमें दर्शन शब्दकी उद्भूति, अर्थ आदिको स्पष्ट करते हुए विद्वान् लेखकने विभिन्न दार्शनिकोंके मनमाने अर्थका खण्डन करते हुए जैन दृष्टिकोणकी यथार्थता प्रतिपादित की है। इस अध्यायमें सुदर्शन और कुदर्शनकी व्याख्या करते हुए आपने लिखा है कि—

'जिस प्रकार नयके सुनय और दुर्नय विभाग, सापेक्षता और निरपेक्षताके कारण होते हैं उसी तरह 'दर्शन' के भी सुदर्शन और कुदर्शन (दर्शनाभास) विभाग होते हैं। जो दर्शन अर्थात् दृष्टिकोण वस्तुकी सीमाको उल्लंघन नहीं करके उसे पानेकी चेष्टा करता है, बनानेकी नहीं, और दूसरे वस्तुस्पर्शी दृष्टिकोण-दर्शनको भी उचित स्थान देता है, उसकी अपेक्षा रखता है वह सुदर्शन है और जो दर्शन केवल भावना और विश्वासकी भूमिपर खड़ा होकर कल्पनालोकमें विचरण कर, वस्तुसीमाको लाँघकर भी वास्तविकताका दम्भ करता है, अन्य वस्तुग्राही दृष्टिकोणोंका तिरस्कार कर उनकी अपेक्षा नहीं करता वह कुदर्शन है। दर्शन अपने ऐसे कुपूतोंके कारण ही मात्र संदेह और परीक्षाकी कोटिमें जा पहुँचा है। अतः जैन तीर्थंकरों और आचार्योंने इस बातकी सतर्कतासे चेष्टा की है कि कोई भी अधिगमका उपाय, चाहे वह प्रमाण (पूर्ण ज्ञान) हो या नय (अंशग्राही), सत्यको पानेका यत्न करे, बनानेका नहीं। वह मौजूद वस्तुकी मात्र व्याख्या कर सकता है। उसे अपनी मर्यादाको समझते रहना चाहिए।' (पृष्ठ ३८।)

तीसरे अध्यायका शीर्षक है 'भारतीय दर्शनको जैनदर्शनकी देन' इस अध्यायका प्रारम्भ करते हुए लेखकने कहा है कि परम अहिंसक तीर्थंकर भगवान्ने मानसिक अहिंसाके लिए अनेकान्तदृष्टिके उपयोगकी बात कही है।

अनेकान्तको अहिंसाका आधारभूत तत्त्वज्ञान, स्याद्वादको एक निर्दोष भाषाशैली और स्यात्‌को प्रहरी

निरूपित करते हुए ठोस तर्क देकर यह भी सिद्ध किया है कि स्यातका अर्थ शायद नहीं है। अनेकान्त दर्शनको न्यायाधीशकी उपमा देते हुए कहा गया है कि—

'प्रत्येक पक्षके वकीलों द्वारा अपने पक्षके समर्थनके लिए सकलित दलीलोंकी फाइलकी तरह न्यायाधीशका फैसला भले ही आकारमें बड़ा न हो, पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता, सूक्ष्मता और निष्पक्षपातिता अवश्य होती है। उसी तरह एकान्तके समर्थनमें प्रयुक्त दलीलोंके भण्डार-भूत एकान्तवादी दर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें विकल्प या कल्पनाओंका चरम विकास न हो, पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, समतावृत्ति एवं अहिंसाधारितामें तो सदेह किया ही नहीं जा सकता। यही कारण है कि जैनाचार्योंने वस्तु-स्थितिके आधारसे प्रत्येक दर्शनके दृष्टिकोणके समन्वयकी पवित्र चेष्टा की है और हर दर्शनके साथ न्याय किया है। यह वृत्ति अहिंसाहृदयीके सुसस्कृत मस्तिष्ककी उपज है। यह अहिंसा स्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनके भव्य प्रासादका मध्य स्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शनकी प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शन सचमुच इस अतुल सत्यको पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शनने इस अनेकान्तदृष्टिके आधारसे बनी हुई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्रके कोषागारमें अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है।' (पृ० ५५।)

'लोक व्यवस्था' नामके चौथे अध्यायमें लोकके स्वरूप और छहों द्रव्योंका विवेचन है। इसकी चर्चामें स्वाभाविक ही द्रव्यके परिणमन, सत् तथा उसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होनेके प्रकरण आए हैं जिन्हें छहों द्रव्योंमें तर्क और उदाहरणके साथ समझाया गया है।

विभाव परिणमनकी चर्चा करते हुए निमित्त और उपादानकी भी विशद व्याख्या इस अध्यायमें की गई है। कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवादकी विभिन्न मान्यताओंकी समीक्षा भी इस अध्यायमें है। लेखकने केवल अन्य दर्शनोंकी भ्रामक मान्यताओंका ही खण्डन नहीं किया है, वरन् जैनदर्शनकी अनेकान्त पद्धतिमें आये एकान्त प्रदूषणकी भी आलोचना की है। नियतिवादके एक ऐसे ही प्रकरणमें श्रीकानजी स्वामी लिखित पुस्तक 'वस्तुविज्ञानसार' की मान्यताओंको एकान्तिक निरूपित करते हुए लेखकने कहा है कि—

'नियतिवादका एक आध्यात्मिक रूप और निकला है। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्यकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है। जिस समय जो पर्याय होनी है वह अपने नियत स्वभावके कारण होगी ही, उसमें प्रयत्न निरर्थक है। उपादानशक्तिसे ही वह पर्याय प्रकट हो जाती है, वहाँ निमित्तकी उपस्थिति स्वयमेव होती है, उसके मिलानेकी आवश्यकता नहीं। इनके मतसे पेट्रोलसे मोटर नहीं चलती, किन्तु मोटरको चलना ही है और पेट्रोलको जलना ही है। और यह सब प्रचारित हो रहा है द्रव्यके शुद्ध स्वभावके नामपर। इसके भीतर भूमिका यह जमाई जाती है कि—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता। सब अपने आप नियतिचक्रवश परिणमन करते हैं। जिसको जहाँ जिस रूपमें निमित्त बनना है उस समय उसकी वहाँ उपस्थिति हो ही जायगी। इस नियतिवादसे पदार्थोंके स्वभाव और परिणमनका आश्रय लेकर भी उनका प्रतिक्षणका अनन्तकाल तकका कार्यक्रम बना दिया गया है, जिसपर चलनेको हर पदार्थ बाध्य है। किसीको कुछ नया करनेका नहीं है। नियतिवादियोंके जो विविध रूप विभिन्न समयोंमें हुए हैं उन्होंने सदा पुरुषार्थको रेड मारी है और मनुष्यको भाग्यके चक्करमें डाला है।' (पृष्ठ ८४।)

आचार्य कुन्दकुन्दके अकर्तृत्ववादकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि समयसारमें स्वभावका वर्णन करनेवाली गाथाको कुछ विद्वान् नियतिवादके समर्थनमें लगाते हैं परन्तु इस गाथामें सीधी बात यही बताई गई है कि कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई नया गुण नहीं ला सकता, जो आयेगा वह उपादान योग्यताके अनुसार ही आयेगा।

लेखकने प्रश्न उठाया है कि जब प्रत्येक जीवका प्रतिसमयका कार्यक्रम निश्चित है तब पुण्य-पाप और

सदाचार-दुराचारकी क्या परिभाषा बनेगी ? क्योंकि इस नियतिवादमें तो 'ऐसा क्यों हुआ' का एक ही उत्तर है कि 'ऐसा होना ही था'।

इस अध्यायमें कर्मवाद, यदृच्छावाद, पुरुषवाद, ईश्वरवाद, भूतवाद, अव्याकृतवाद, उत्पादादित्रयात्मकवाद, जडवाद और परिणामवादकी मान्यताओंकी भी समीक्षा की गई है।

पदार्थके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए ग्रन्थमें छोटेसे पाँचवें अध्यायके रूपमें अलगसे अध्याय रखा गया है जिसमें पदार्थके गुण और धर्मका स्वरूपास्तित्वका और सामान्य विशेषका विवेचन है।

'षट्द्रव्य विवेचन' नामके छठें अधिकारमें छह द्रव्योंकी सामान्य विवेचनाके बाद जीव द्रव्यके संसारी और मुक्त आदि भेद, पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध आदि भेद, बन्धकी प्रक्रिया, धर्म-अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंके कार्योंका विवेचन किया गया है तथा इनके स्वरूपमें बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनोंकी भ्रान्तियोंको भी उजागर किया गया है। एक द्रव्यके दूसरे द्रव्यपर पड़नेवाले प्रभावकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि—

'इसीलिए जगत्के महापुरुषोंने प्रत्येक भव्यको एक ही बात कही है कि "अच्छा वातावरण बनाओ; मंगलमय भावोंको चारों ओर बिखेरो।' किसी प्रभावशाली योगीके अचिन्त्य प्रेम और अहिंसाकी विश्वमैत्री रूप संजीवन धारासे आसपासकी वनस्पतियोंका असमयमें पुष्पित हो जाना और जातिविरोधी साँप-नेवला आदि प्राणियोंका अपना साधारण वैर भूलकर उनके अमृतपूत वातावरणमें परस्पर मैत्रीके क्षणोंका अनुभव करना कोई बहुत अनहोनी बात नहीं है, यह तो प्रभावकी अचिन्त्य शक्तिका साधारण स्फुरण है।' (पृष्ठ १५२।)

सातवें अधिकारका शीर्षक है 'तत्त्व निरूपण'। इसका प्रयोजन बताते हुए प्रारम्भमें ही कहा गया है कि यद्यपि विश्व षट्द्रव्यमय है परन्तु मुक्तिके लिए जिस तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होती है वे तत्त्व सात हैं। विश्व व्यवस्थाका ज्ञान न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी साधना की जा सकती है। परन्तु तत्त्वज्ञान न होनेपर विश्व व्यवस्थाका समग्र ज्ञान भी कार्यकारी नहीं होता।

सात तत्त्वोंकी विवेचना करते हुए लेखकने लिखा है कि इन सात तत्त्वोंका मूल है आत्मा। स्वभाव से अमूर्तिक-अखण्डअविनाशी आत्माको जैन दार्शनिकों द्वारा अनादिबद्ध माननेके कारणोंकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि व्यवहारसे जीव मूर्तिक भी है। कर्म संयोगके कारण अनादिसे जीव मूर्तिक और अशुद्ध माना गया है परन्तु एक बार शुद्ध-अमूर्तिक हो जानेके बाद फिर वह अशुद्ध या मूर्तिक नहीं होता।

आत्मदृष्टिको ही सम्यक्दृष्टि निरूपित करते हुए कहा है कि बन्ध, मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोंके सिवाय उस आत्माका ज्ञान भी आवश्यक है जिसे शुद्ध होना है पर जो वर्तमानमें अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी यह अशुद्ध दशा स्वरूप प्रच्युतिरूप है। यह दशा स्वस्वरूपको भूलकर पर पदार्थोंमें ममकार अहंकार करनेके कारण हुई है अतः इस अशुद्ध दशाकी समाप्ति स्वस्वरूपके ज्ञानसे ही हो सकती है।

संसारके कारण आस्रव और बन्ध तथा मोक्षके कारण संवर और निर्जरा तत्त्वोंकी समुचित व्याख्या करके मोक्ष तत्त्वकी चर्चा करते हुए लेखकने कहा है कि अन्य दार्शनिकोंने मोक्षको निर्वाण नामसे व्यवहार करके आत्म निर्वाण को दीप निर्वाण आदिकी तरह व्याख्यायित कर दिया है पर जैन दार्शनिकोंने सात तत्त्वोंमें उसका नाम ही मोक्ष तत्त्व रखा है जिसका अर्थ है छूटना।

अध्यायके अन्तमें मोक्ष-मार्गकी चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्ष का मार्ग है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोषक या वर्धक नहीं

है, मोक्षका साधन नही होता। जो ज्ञान जीवनमे उतरकर आत्म शोधन करे वही मोक्षका साधन है। अन्तत. सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्र शुद्धि ही है। इस अध्यायमे एक जगह सुख और दु खकी स्थूल परिभाषाके रूपमे भी एक अच्छी बात कही गई है कि 'जो चाहे सो होवे, इसे कहते हैं सुख और चाहे कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते हैं दु ख।'

'प्रमाण मीमासा' नामक आठवाँ अध्याय इस ग्रन्थका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। लगभग २०० पृष्ठोमें समाहित इस अध्यायमे प्रमाण ज्ञानकी विशद विवेचना की गई है। प्रारम्भमे ही ज्ञान और दर्शनका अन्तर समझाते हुए कहा है कि जड पदार्थोसे आत्माको भिन्न करनेवाला गुण या स्वरूप है चैतन्य, यही चैतन्य अवस्था विशेषमे निराकार रहकर 'दर्शन' कहलाता है और साकार होकर 'ज्ञान'। प्रमाणके स्वरूप-का निरूपण करते हुए कहा है कि प्रमाणका सामान्यतया अर्थ व्युत्पत्तिलब्ध है अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों-का ज्ञान होता है उस द्वारका नाम प्रमाण है।

तदाकारता, सामग्री, इन्द्रिय व्यापार आदिको प्रमाण न माननेके कारणोकी व्याख्या करके बौद्धदर्शन के क्षणिकवादसे उत्पन्न भ्रान्तियोका भी निराकरण किया गया है। जैनदर्शन पदार्थको एकान्त क्षणिक न मानकर कथचित नित्य भी मानता है। वस्तु अनन्त धर्मवाली है किसी ज्ञानके द्वारा वस्तुके किन्ही अशोका निश्चय होनेपर भी अग्रहीन अशोको जाननेके लिए प्रमाणान्तर को अवकाश रहता है।

प्रमाणके भेदोकी चर्चा करते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण तथा उसके साव्यावहारिक प्रत्यक्ष, सन्निकर्ष, पारमार्थिक प्रत्यक्ष, अनुमान, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान, प्रत्याक्षाभास, परोक्षभासा आदि भेदोकी भी विशद व्याख्या करके समझाया गया है। ज्ञानकी उत्पत्तिका क्रम बताते हुए उसके अवग्रह, ईहा आदि भेदोकी व्याख्या है तथा सभी ज्ञानोको स्वसवेदी निरूपित किया है। इसी सन्दर्भमे विपर्यय आदि मिथ्याज्ञानो की भी चर्चा है। अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञानके विश्लेषणके बाद केवलज्ञानका स्वरूप बताते हुए 'सर्वज्ञताका इतिहास' शीर्षकसे जैनाचार्यों भगवान् कुन्दकुन्द, वीरसेन आदिके द्वारा की गई सर्वज्ञताकी व्याख्याओको अन्य दर्शनोकी सर्वज्ञता की अपेक्षा प्रामाणिक सिद्ध किया गया है।

इस आठवे अध्यायमे व्याप्ति और व्याप्य-व्यापार सम्बन्ध, अभाव, साध्य-साधन सम्बन्ध, शब्दार्थ प्रतिपत्ति, प्राकृत, अपभ्रश शब्दोकी अर्थवाचकताकी व्याख्याके साथ शब्दाद्वैतवाद, ब्रह्मवाद, साख्यवाद, बौद्धो का विशेष पदार्थवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदिकी भी विस्तारसे समीक्षा की गई है जिससे विषय स्पष्ट होता है और पाठकको वस्तुस्वरूप की निर्दोष अवधारणा हो जाती है।

नौवाँ अध्याय है 'नय विचार, इसमे नयका लक्षण तथा नयके भेदोका भलीभाँति निरूपण किया गया है, सुनय-दुर्नय, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, परमार्थ-व्यवहार, निश्चयव्यवहार आदि भेदोके अतिरिक्त नय के तीन और सात भेदोको भी समझाया गया है। साथ ही नयाभासके माध्यमसे भी नयोकी व्याख्या की गई है इसमे प्राय सभी भारतीय दर्शनोके नयवादोका विश्लेषण तो है ही, सम्यक् नय माननेवाले नयाभासियो-की भी आलोचना की गई है। जैनाचार्योंकी नय प्ररूपणाका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

'अध्यात्मशास्त्रका उद्देश्य है कि वह साधकको यह स्पष्ट बता दे कि तुम्हारा गन्तव्य स्थान क्या है ? तुम्हारा परम ध्येय और चरम लक्ष्य क्या हो सकता है ? बीचके पडाव तुम्हारे साध्य नही है। तुम्हें तो उनसे बहुत ऊँचे उठकर परम स्वावलम्बी बनना है। लक्ष्यका दो-टूक वर्णन किए बिना मोही जीव भटक ही जाता है। साधकको उन स्वोपादानक, किन्तु परनिमित्तक विभूति या विकारोसे उसी तरह अलिप्त रहना है, उससे ऊपर उठना है, जिस तरह कि वह स्त्री, पुत्रादि परचेतन तथा धन-धान्यादिपर अचेतन पदार्थोसे नाता

तोड़कर स्वावलम्बी मार्ग पकड़ता है। यद्यपि यह साधककी भावनामात्र है, पर इसे आ० कुन्दकुन्दने दार्शनिक आधार पकड़ाया है। वे उस लोकव्यवहारको हेय मानते हैं, जिसमें अंशत भी परावलम्बन हो। किन्तु यह ध्यानमे रखनेकी बात है कि वे सत्यस्थितिका अलाप नही करना चाहते। वे लिखते हैं कि 'जीवके परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको प्राप्त होते है और उन कर्मोंके निमित्तसे जीवनमे रागादि परिणाम होते हैं, यद्यपि दोनों अपने-अपने परिणामोमे उपादान होते हैं, पर ये परिणमन परस्परहेतुक-अन्योन्यनिमित्त हैं।' उन्होने 'अण्णोण्णणिमित्तेण' पदसे इसी भावका समर्थन किया है। यानी कार्य उपादान और निमित्त दोनो सामग्रीसे होता है।' (पृष्ठ ४६८-४६९।)

'अत निश्चयनयको यह कहनेके स्थानमे कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पृष्ट हूँ', यह कहना चाहिए कि 'मैं शुद्ध, अबद्ध और अस्पृष्ट हो सकता हूँ।' क्योकि आज तक तो उसने आत्माकी इस शुद्ध आदर्श दशाका अनुभव किया ही नही है। बल्कि अनादिकालसे रागादिपकमें ही वह लिप्त रहा है। यह निश्चित तो इस आधारपर किया जा रहा है कि जब दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तब उनका सयोग भले ही अनादि हो, पर वह टूट सकता है और वह टूटेगा तो अपने परमार्थ स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य करनेसे। इस शक्तिका निश्चय भी द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर ही तो किया जा सकता है। अनादिकी अशुद्ध आत्मामे शुद्ध होनेकी शक्ति है, वह शुद्ध हो सकता है। यह शक्यता-भविष्यतका ही तो विचार है। हमारा भूत और वर्तमान अशुद्ध है, फिर भी निश्चयनय हमारे उज्जवल भविष्यकी ओर, कल्पनामे नही, वस्तुके आधारसे ध्यान दिलाता है? उसी तत्त्वको आचार्य कुन्दकुन्द बडी सुन्दरतासे कहते है कि 'काम, भोग और बन्धकी कथा सभीको श्रुत, परिचित और अनुभूत है, पर विभक्त-शुद्ध आत्माके एकत्वकी उपलब्धि सुलभ नही है।' कारण यह है कि शुद्ध आत्माका स्वरूप ससार जीवोको केवली श्रुतपूर्व है अर्थात् उसके सुननेमे ही कदाचित् आया हो, पर न तो उसने कभी इसका परिचय पाया है और न कभी उसका अनुभव ही किया है। (पृष्ठ ४७१-४७२।)

ग्रन्थका दसवाँ अध्याय है 'स्याद्वाद और सप्तभंगी' इस अध्यायमे स्याद्वादकी उद्भूतिका कारण बताते हुए विद्वान् लेखकने कहा है कि जब मनुष्यकी दृष्टि अनेकान्त तत्त्वका स्पर्श करनेवाली बन जाती है तब उसके समझानेका ढग भी निराला हो जाता है, वह उस शैलीसे वचन प्रयोग करना चाहता है जिससे वस्तुतत्वका यथार्थ प्रतिपादन हो जाए। इस शैलीका भाषाके निर्दोष प्रकारकी आवश्यकताने स्याद्वादका आविष्कार किया है। इसमे लगा हुआ स्यात् शब्द प्रत्येक वाक्यके सापेक्ष होनेकी सूचना देता है। स्यात् एक सजग प्रहरी है जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नही जाने देता तथा अविक्षित धर्मोंके अधिकारका सरक्षण करता है। स्यात् शब्द जहाँ अस्तित्व धर्मकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है वही एक न्यायाधीशकी तरह यह भी कह देता है कि हे अस्ति, तुम अपनी अधिकार सीमाको समझो, स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम वस्तुमे रहते हो, उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति नामका तुम्हारा भाई भी उसी वस्तुमे रहता है।

वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताका सुन्दर विश्लेषण करते हुए उसमे प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, इतरेतराभाव एव अत्यन्ताभावका सामजस्य भी बिठाया गया है। सदसदात्मक तत्त्व, एकानेकात्मक तत्त्व, नित्यानित्यात्मक तत्व और भेदा-भेदात्मक तत्त्व भी किस प्रकार वस्तुमे एक साथ रह लेते है इसकी प्ररूपणा भी बहुत स्पष्ट रूपसे की गई है। सप्तभंगीकी व्याख्या करते हुए यह भी समझाया है कि भग सात ही क्यो हैं, अवक्तव्य भगका क्या अर्थ है तथा भंगोमे सकलविकलादेशता किस प्रकार बनती है।

चूँकि स्याद्वादकी लेकर जैनदर्शनकी आलोचना पूर्ववर्ती और वर्तमान अनेक दार्शनिकोंने की है अत: लेखकने इस अध्यायमें उन सबके मतोंका उद्धरण देकर स्याद्वाद पद्धतिसे ही उनका निराकरण भी कर दिया है। आलोचना करनेवालोंकी तो लम्बी सूची है परन्तु कुछ वर्तमान जैनेतर दार्शनिकोंने स्याद्वादकी महत्ताको स्वीकार भी किया है जैसे—

महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा लिखते हैं कि 'जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धांतका खण्डन पढ़ा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धांतमें बहुत कुछ है जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा।'

दर्शनशास्त्रके अद्वितीय विद्वान् प्रो० फणिभूषण अधिकारीने तो और भी स्पष्ट शब्दोंमें लिखा था कि—'जैनधर्मके स्याद्वाद सिद्धांतको जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धांतको नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोषसे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धांतके प्रति अन्याय किया है, यह बात अल्पज्ञ पुरुषोंके लिए क्षम्य हो सकती थी किन्तु भारतके इस महान् विद्वानके लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने जैन-धर्मके मूल ग्रन्थोंके अध्ययनकी परवाह नहीं की।'

इस प्रकार इस अध्यायमें स्याद्वादपर अनेक मतावलम्बी दार्शनिकोंके विचारोंका ऊहापोह संकलित है। स्याद्वादपर लगाए गए आक्षेपोंका जो परिहार पूर्वमें हो हमारे अकलंकदेव, हरिभद्र आदि आचार्योंने किया था वह भी इसमें संक्षेपसे उद्धृत है।

ग्यारहवें अध्यायका शीर्षक है 'जैन दर्शन और विश्व शान्ति' इस अधिकारको लिखनेमें लेखकने अपने मौलिक विचार ही सँजोए हैं, परन्तु वे विचार जैनदर्शनकी महानता एवं विश्व शान्तिके परिप्रेक्ष्यमें उसकी उपयोगिताको उजागर करनेवाले हैं।

जैनदर्शन अनन्त आत्मवादी है। वह प्रत्येक आत्माको मूलमें समान स्वभाव और समान धर्मवाला मानता है। उनमें जन्मना किसी जातिभेद या अधिकार भेदको नहीं मानता। वह अनन्त जडपदार्थोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इस दर्शनने वास्तवबहुत्वको मानकर व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी साधार स्वीकृति दी है। वह एक द्रव्यके परिणमनपर दूसरे द्रव्यका अधिकार नहीं मानता। अतः किसी भी प्राणीके द्वारा दूसरे प्राणीका शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण ही अन्याय है। किसी चेतनका अन्य जड पदार्थोंको अपने अधीन करनेकी चेष्टा करना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्रका दूसरे देश या राष्ट्रको अपने अधीन करना, उसे अपना उपनिवेश बनाना ही मूलतः अनधिकार चेष्टा है, अतएव हिंसा और अन्याय है। (पृष्ठ ५७३।)

ग्रन्थका अन्तिम अध्याय यद्यपि एक ग्रन्थ सूचीके रूपमें है परन्तु वह सामान्य पाठकोंसे लेकर चिंतक और शोधकर्ता विद्वानों तकके लिए अत्यन्त उपयोगी है।

अध्यायके अन्तमें लेखककी यह टिप्पणी भी है कि यहाँ प्राकृत/संस्कृत ग्रन्थोंका ही उल्लेख किया गया है। कन्नड भाषामें भी अनेक ग्रन्थोंकी टीकाएँ पाई जाती हैं तथा कुछ जैनाचार्योंने अजैन दर्शन ग्रन्थोंकी टीकाएँ भी लिखी हैं वे इसमें सम्मिलित नहीं हैं।

इस प्रकार डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी महान् कृति 'जैनदर्शन' हमें जैनदर्शनके सिद्धांतोंको सही परिप्रेक्ष्यमें समझनेके लिए तथा अन्य मतावलम्बी दार्शनिकोंकी भ्रामक मान्यताओंसे बचानेके लिए दीप-शिखाका कार्य पिछले चार दशकोंसे करती आ रही है, आज भी कर रही है और आगे भी करती रहेगी।

●

खण्ड ४

विशिष्ट निबन्ध

अकलङ्कग्रन्थत्रय और उसके कर्ता

ग्रन्थकार आचार्य अकलङ्कदेव

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवकी जीवनगाथा न तो उन्होने स्वय ही लिखी है और न तन्निकटसमयवर्ती किन्ही दूसरे आचार्योंने ही। उपलब्ध कथाकोशोमे सबसे पुराने हरिषेणकृत कथाकोशमे समन्तभद्र और अकलक जैसे युगप्रधान आचार्योंकी कथाएँ ही नही हैं। हरिषेणने स्वय अपने कथाकोशका समाप्तिकाल शकसंवत् ८५३ (ई० ९४१) लिखा है। प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमे अकलककी कथा मिलती है। प० नाथूरामजी प्रेमी इसका रचनाकाल विक्रमकी चौदहवी सदी अनुमान करते हैं। प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशको ही ब्रह्मचारी नेमिदत्तने विक्रमसवत् १५७५के आसपास पद्यरूपमे परिवर्तित किया है। देवचन्द्रकृत कनडी भाषाकी 'राजावलीकथे' मे भी अकलककी कथा है। इसका रचनाकाल १६वी सदीके बाद है। इस तरह कथाग्रन्थोमें चौदहवी सदीसे पहिलेका कोई कथाग्रन्थ नही मिलता जिसमे अकलकका चरित्र तो क्या निर्देश तक भी हो। अकलकदेवके ६०० वर्ष बादकी इन कथाओका इतिवृत्तज्ञ विद्वान् पूरे-पूरे रूपमें अनुसरण नही करते हैं। इनके सिवाय अकलकके शास्त्रार्थका उल्लेख मल्लिषेणप्रशस्तिमें है। यह प्रशस्ति विक्रमसवत् ११८५मे लिखी गई थी। अकलंकके पिताका नाम राजवार्तिक प्रथमाध्यायके अन्तमे आए हुए 'जीयाच्चिर' श्लोकमे 'लघुहव्व' लिखा हुआ है। इस तरह अकलकके जीवनवृत्तकी सामग्री नही वत् है। जो है भी वह इतनी बाद की है कि उसपर अन्य प्रबल साधक प्रमाणोके अभावमे सहसा जोर नही दिया जा सकता।

प० नाथूरामजी प्रेमीने कथाकोश आदिके आधारसे जैनहितैषी (भाग ११ अक ७-८) मे अकलकदेवका जीवन वृत्तान्त लिखा है। उसीके आधारसे न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनामे भी बहुत कुछ लिखा गया है। यहाँ मै उसका पिष्टपेषण न करके सिर्फ उन्ही मुद्दोपर कुछ विचार प्रकट करूँगा, जिनके विषयमे अभी कुछ नया जाना गया है तथा अनुमान करनेके लिए प्रेरकसामग्री सकलित की जा सकी है। खासकर समयनिर्णयार्थ कुछ आभ्यन्तर सामग्री उपस्थित करना ही इस समय मुख्यरूपसे प्रस्तुत है, क्योकि इस दिशामे जैसी गुजाइश है वैसा प्रयत्न नही हुआ।

१ जन्मभूमि-पितृकुल

प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोश तथा उसीके परिवर्तितरूप ब्रह्मचारी नेमिदत्तके आराधनाकथाकोशके लेखानुसार अकलकका जन्मस्थान मान्यखेट नगरी है। वे वहाँके राजा शुभतुगके मन्त्री पुरुषोत्तमके ज्येष्ठ पुत्र थे। श्री देवचन्द्रकृत कनडी भाषाके राजावलीकथे नामक ग्रन्थमे उन्हे काञ्चीके जिनदास ब्राह्मणका पुत्र बताया है। इनकी माताका नाम जिनमती था। तीसरा उल्लेख राजवार्तिकके प्रथम अध्यायके अन्तमे पाया जाने वाला यह श्लोक है— "जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविद्य प्रशस्तजनहृद्य ॥"

इस श्लोकके अनुसार वे लघुहव्व राजाके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र थे। विद्वानोकी आजतककी पर्यालोचनासे ज्ञात होता है कि वे राजावलीकथेका वर्णन प्रमाणकोटिमे नही मानते और कथाकोशके वर्णनकी अपेक्षा उनका झुकाव राजवार्तिकके श्लोककी ओर अधिक दिखाई देता है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि—लघुहव्व और पुरुषोत्तम एक ही व्यक्ति हैं। राष्ट्रकूटवशीय इन्द्रराजद्वितीय तथा कृष्णराजप्रथम भाई-भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्गद्वितीय अपने पिताकी मृत्युके बाद राज्याधिकारी हुआ। कर्नाटक प्रान्तमे पिताको अव्व या अप्प शब्दसे कहते हैं। सम्भव है कि दन्तिदुर्ग अपने

चाचा कृष्णराजको भी अव्व शब्दसे कहता हो। यह तो एक साधारण-सा नियम है कि जिसे राजा 'अव्व' कहता हो, उसे प्रजा भी 'अव्व' शब्दसे ही कहेगी। कृष्णराज जिसका दूसरा नाम शुभतुंग था, दन्तिदुर्गके बाद राज्याधिकारी हुआ। मालूम होता है कि—पुरुषोत्तम कृष्णराजके प्रथममें ही लघु सहकारी रहे हैं, इसलिए स्वयं दन्तिदुर्ग एवं प्रजाजन इनको 'लघु अव्व' शब्दसे कहते होंगे। बादमें कृष्णराजके राज्यकालमें ये कृष्णराजके मंत्री बने होंगे। कृष्णराज अपनी परिणत अवस्थामें राज्याधिकारी हुए थे। इसलिये यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है कि—पुरुषोत्तमकी अवस्था भी करीब-करीब उतनी ही होगी और ज्येष्ठ पुत्र अकलंक दन्तिदुर्गकी सभामें, जिनका उपनाम 'साहसतुंग' कहा जाता है, अपने हिमशीतलकी सभामें होनेवाले शास्त्रार्थकी बात कहें। पुरुषोत्तमका 'लघुअव्व' नाम इतना रूढ़ हो गया था कि अकलंक भी उनके असली नाम पुरुषोत्तमकी अपेक्षा प्रसिद्ध नाम 'लघुअव्व' अधिक पसन्द करते होंगे। यदि राजवार्तिकवाला श्लोक अकलंक या तत्समकालीन किसी अन्य आचार्यका है तो उसमें पुरुषोत्तमकी जगह 'लघुअव्व' नाम आना स्वाभाविक ही है। 'लघुअव्व' एक ताल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य तो थे ही और इसीलिए वे भी नृपति कहे जाते थे। अकलंक उनके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र या श्रेष्ठ पुत्र थे।

यद्यपि अभी तक इतिहाससे यह मालूम हो सका है कि—मान्यखेट राजधानीकी प्रतिष्ठा महाराज अमोघवर्षने की थी। पर इसमें सभी ऐतिहासिक विद्वानोंका एकमत नहीं है। यह तो सम्भव है कि अमोघवर्षने इसका जीर्णोद्धार करके पुनः प्रतिष्ठा की हो, क्योंकि अमोघवर्षके पहिले भी 'मान्यपुर, मान्यात्' आदि उल्लेख मिलते हैं। अथवा यह मान भी लिया जाय कि अमोघवर्षने ही मान्यखेटको प्रतिष्ठित किया था। तब भी इससे कथाकोशकी बातें सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कही जा सकतीं। इससे तो इतना ही कहा जा सकता है कि—कथाकोशकारके समयमें राष्ट्रकूटवंशीय राजाओंकी राजधानी आमतौरसे मान्यखेट प्रसिद्ध थी और इसीलिये कथाकोशकारने शुभतुंगकी राजधानी भी मान्यखेट लिख दी है।

यदि पुरुषोत्तम और लघुअव्वके एक ही व्यक्ति होनेका अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि अकलंकदेवकी जन्मभूमि मान्यखेटके ही आस पास होगी तथा पिताका असली नाम पुरुषोत्तम तथा प्रचलित नाम 'लघुअव्व' होगा। 'लघुअव्व' की जगह 'लघुहव्व' का होना तो उच्चारणकी विविधता और प्रति के लेखनवैचित्र्यका फल है।

२ समय विचार

अकलंकके समयके विषयमें मुख्यतया दो मत हैं। पहिला स्वर्गीय डॉ० के० बी० पाठकका और दूसरा प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री तथा प० जुगलकिशोर मुख्तारका। डॉ० पाठक मल्लिषेणप्रशस्तिके 'राजन साहसतुंग' श्लोकके आधारसे इन्हें राष्ट्रकूटवंशीय राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथमका समकालीन मानते हैं, और अकलंकचरितके—"विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥" इस श्लोकके 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्दका शकसंवत् अर्थ करते हैं। अतः इनके मतानुसार अकलंकदेव शकसंवत् ७०० (ई० ७७८) में जीवित थे।

दूसरे पक्षमें श्रीकण्ठशास्त्री तथा मुख्तारसा० 'विक्रमार्कशकाब्द' का विक्रमसंवत् अर्थ करके अकलंकदेवकी स्थिति विक्रम सं० ७०० (ई० ६४३) में बतलाते हैं।

प्रथममतका समर्थन स्व० डॉ० आर० जी० भाण्डारकर, स्व० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण तथा प० नाथूरामजी प्रेमी आदि विद्वानोंने किया है। इसके समर्थनार्थ हरिवंशपुराण (१।३१) में अकलंकदेवका स्मरण, अकलंक द्वारा धर्मकीर्तिका खंडन तथा प्रभाचन्द्रके कथाकोशमें अकलंकको शुभतुंगका मन्त्रिपुत्र बतलाया जाना आदि युक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं।

दूसरे मतके समर्थक प्रो० ए० एन० उपाध्ये और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि हैं। इस मतके समर्थनार्थ वीरसेन द्वारा धवलाटीकामें राजवार्तिकके अवतरण लिये जाना, हरिभद्रके द्वारा 'अकलक न्याय' शब्दका प्रयोग, सिद्धसेनगणिका सिद्धि-विनिश्चयवाला उल्लेख, जिनदासगणि महत्तर द्वारा निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयका दर्शनप्रभावक शास्त्ररूपसे लिखा जाना आदि प्रमाण दिये गये हैं[१]।

हमारी विचारसरणि—किसी एक आचार्यका या उसके ग्रन्थका अन्य आचार्य समकालीन होकर भी उल्लेख और समालोचन कर सकते हैं, और उत्तरकालीन होकर भी। पर इसमें हमें इस बातपर ध्यान रखना होगा कि उल्लेखादि करनेवाला आचार्य जैन है या जैनेतर। अपने सम्प्रदायमें तो जब मामूलीसे थोड़ा भी अच्छा व्यक्ति, जिसकी प्रवृत्ति इतरमत निरसनके द्वारा मार्गप्रभावनाकी ओर अधिक होती है, बहुत जल्दी ख्यात हो जाता है, तब असाधारण विद्वानोंकी तो बात ही क्या ? स्वसम्प्रदायमें प्रसिद्धिके लिये अधिक समयकी आवश्यकता नहीं होती। अतः स्वसम्प्रदायके आचार्यों द्वारा पूर्वकालीन तथा समकालीन आचार्योंका उल्लेख किया जाना ठीक है। इतना ही नहीं, पर स्वसम्प्रदायमें तो किसी वृद्ध आचार्य द्वारा असाधारण-प्रतिभाशाली युवक आचार्यका भी उल्लेख होना सम्भव है। पर अन्य सम्प्रदायके आचार्यों द्वारा समालोचन या उल्लेख होने योग्य प्रसिद्धिके लिए कुछ समय अवश्य ही अपेक्षित होता है। क्योंकि १२-१३ सौ वर्ष पूर्वके साम्प्रदायिक वातावरणमें असाधारण प्रसिद्धिके बिना अन्य सम्प्रदायके आचार्योंपर इस प्रकारकी छाप नहीं पड़ सकती, जिससे वे उल्लेख करनेमें तथा समालोचन या अनुसरण करनेमें प्रवृत्त हों। अतः सम्प्रदायान्तरके उल्लेख या समालोचन करनेवाले आचार्यसे समालोच्य या उल्लेखनीय आचार्यके समयमें समकालीन होनेपर भी १५-२० वर्ष जितने समयका पौर्वापर्य मानना विशेष सयुक्तिक जान पड़ता है। यद्यपि इसके अपवाद मिल सकते हैं और मिलते भी हैं, पर साधारणतया यह प्रणाली सत्यमार्गोन्मुख होती है। दूसरे समानकालीन लेखकोंके द्वारा लिखी गई विश्वस्त सामग्रीके अभावमें ग्रन्थोंके आन्तरिकपरीक्षणको अधिक महत्त्व देना सत्यके अधिक निकट पहुँचनेका प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षणके सिवाय अन्य बाह्य साधनोंका उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं। मैं यहाँ इसी विचार पद्धतिके अनुसार विचार करूँगा।

अकलंकके ग्रन्थोंके आन्तरिक अवलोकनके आधारसे मेरा विचार स्पष्टरूपसे अकलंकके समयके विषयमें डॉ० पाठकके मतकी ओर ही अधिक झुकता है। हाँ, मेरी समर्थनपद्धति डॉ० पाठककी समर्थन पद्धतिसे भिन्न है। मैं पहिले विरोधी मतकी उन एक दो खास युक्तियोंकी आलोचना करूँगा जिनके आधारपर उनका मत स्थिर है, फिर उन विचारोंको विस्तारसे लिखूँगा जिनने मेरी मति डॉ० पाठकके मतसमर्थनकी ओर झुकाई।

आलोचना—(१) निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयका दर्शनप्रभावकरूपसे उल्लेख है तो सही। यह भी ठीक है कि इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं, क्योंकि निशीथचूर्णिके अन्तमें दी हुई गाथासे उनका नाम स्पष्टरूपसे निकल आता है। पर अभी इस चूर्णिके रचनाकालका पूरा निश्चय नहीं है। यद्यपि नन्दी-चूर्णिकी प्राचीन और विश्वसनीय प्रतिमें उसका रचनासमय शक ५९८ (ई० ६७६) दिया है पर इसके कर्त्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं यह अभी सदिग्ध है। इसके कारण ये हैं—

१–अभी तक परम्परागत प्रसिद्धि हो ऐसी चली आ रही है कि नन्दीचूर्णि जिनदासकी है, पर कोई

[१] इन दोनों मतोंके समर्थनकी सभी युक्तियोंका विस्तृत संग्रह न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनामें देखना चाहिए।

साधकप्रमाण नही मिला। भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिरके जैनागम कैटलॉगमे प्रो॰ H R कापडिया ने स्पष्ट लिखा है कि—नन्दीचूर्णिके कर्त्ता जिनदास है यह प्रघोषमात्र है।

२—निशीथचूर्णिकी तरह नन्दीचूर्णिके अन्तमे जिनदासने अपना नाम नही दिया।

३—नन्दीचूर्णिके अन्तमे पाई जानेवाली—

"णिरेण गामेत्त महामहा जिता, पसूयती सख जगद्धिताकुला।
कमद्विता वीमत चिंतितक्खरो फुड कहेय अभिहाणकम्मुणा॥"

इस गाथाके अक्षरोको लौट पलटनेपर भी 'जिनदास' नाम नही निकलता।

४—नन्द्यध्ययन टीकाके रचयिता आचार्य मलयगिरिको भी चूर्णिकारका नाम नहो मालूम था, क्योंकि वे अपनी टीका[1] मे पूर्वटीकाकार आचार्योंका स्मरण करते समय हरिभद्रसूरिका तो नाम लेकर स्मरण करते हैं जब कि हरिभद्रके द्वारा आधार रूपसे अवलम्बित चूर्णिके रचयिताका वे नामोल्लेख नही करके 'तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु' इतना लिखकर ही चुप हो जाते है। इसलिए यह स्पष्ट है कि—आचार्य मलयगिरि चूर्णिकारके नामसे अपरिचित थे, अन्यथा वे हरिभद्रकी तरह चूर्णिकारका नाम लिये बिना नहो रहते।

अत जब नन्दीचूर्णिकी और निशीथचूर्णिकी एककर्तृकता ही अनिश्चित है तब नन्दीचूर्णिके समयसे निशीथचूर्णिके समयका निश्चय नही किया जा सकता। इस तरह अनिश्चितसमयवाला निशीथचूर्णिका सिद्धि-विनिश्चयवाला उल्लेख अकलकका समय ई॰ ६७६ से पहिले ले जानेमे साधक नहो हो सकता।

(२) अकलकचरितके 'विक्रमार्क शकाब्द' वाले उल्लेखको हमे अन्य समर्थ प्रमाणोके प्रकाशमे ही देखना तथा सगत करना होगा, क्योकि अकलकचरित १५वा १६वी शताब्दीका ग्रन्थ है। यह अकलकसे करीब सात आठ सौ वर्ष बाद बनाया गया है। अकलकचरितके कर्त्ताके सामने यह परम्परा रही होगी कि 'सवत् ७०० मे अकलकका शास्त्रार्थ हुआ था', पर उन्हे यह निश्चित मालूम नही था कि—यह सवत् विक्रम है या शक अथवा और कोई ? आगे लिखे हुए 'अकलकके ग्रन्थोंकी तुलना' शीर्षक स्तम्भसे यह स्पष्ट हो जायगा कि अकलकने भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि आदि आचार्योंके विचारोकी आलोचना की है। कुमारिल आदिका कार्यकाल सन् ६५० ई॰ से पहले किसी भी तरह नही जाता, क्योकि भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) की आलोचना कुमारिल आदिके ग्रन्थोमे पाई जाती है। यदि विक्रमार्क शकाब्दसे विक्रम-सवत् विवक्षित किया जाय तो अकलकको कुमारिल आदिसे पूर्वकालीन नही ता ज्येष्ठ तो अवश्य ही मानना पडेगा। यह अकलकके द्वारा जिन अन्य आचार्योंकी समालोचना की गई है, उनके समयसे स्पष्ट ही विरुद्ध पडता है। अत हम इस श्लोकको इतना महत्त्व नही दे सकते, जिससे हमे सारी वस्तुस्थितिको उलटकर भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और कर्णकगोमिको, जिनमे स्पष्टरूपसे पौर्वापर्य है खाचतानकर समान कालमे लाना पडे। अकलकदेवके ग्रन्थोसे मालूम होता है कि उनका बौद्धदर्शनविषयक अभ्यास धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्योके मूल एव टीकाग्रन्थोंका था। इसका यह तात्पर्य नही है कि—उन्होने वसुबन्धु या दिग्नाग-के ग्रन्थ नही देखे थे। किन्तु बौद्धोके साथ महान् शास्त्रार्थ करनेवाले अकलकको उन पूर्वग्रन्थोका देखना भर

१. भाण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिरके जैनागम कैटलॉग (Part II P. 302) मे मलयगिरिरचित लिखित तीन नन्दिसूत्रविवरणोका परिचय है। उनमे चूर्णिकार तथा हरिभद्रका निम्न श्लोकोमे स्मरण किया है—

"नन्द्यध्ययन पूर्वं प्रकाशितं येन विषमभावार्थम्। तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोस्तु विदुषे परोपकृते॥ १॥
मध्ये समस्तभूपीठ यशो यस्याभिवर्द्धत। तस्मै श्रीहरिभद्राय नमष्टीकाविधायिने॥ २॥"

पर्याप्त नही था, उन्हे तो शास्त्रार्थमें खण्डनीय जटिल युक्तिजालका विशिष्ट अभ्यास चाहिए था। इसलिये शास्त्रार्थमे उपयोगी दलीलोके कोटिक्रममे पूर्ण निष्णात अकलकका महान्वाद विक्रम ७०० मे असभव मालूम होता है; क्योकि धर्मकीर्ति आदिका ग्रन्थरचनाकाल सन् ६६० से पहिले किसी तरह सभव नही है। साराश यह कि—हमे इस उल्लेखकी सगतिके लिये अन्य साधक एव पोषक प्रमाण खोजने होगे। मैंने इसी दिशामे यह प्रयत्न किया है।

अन्य हरिभद्र, सिद्धसेनगणि आदि द्वारा अकलकका उल्लेख, हरिवश[1]पुराणमे अकलकका उल्लेख, वीरसेन द्वारा राजवार्तिकके अवतरण लिये जाना आदि ऐसे रबरप्रकृतिक प्रमाण हैं, जिन्हे खीचकर कही भी बिठाया जा सकता है। अत उनकी निराधार खीचतानमे मैं अपना तथा पाठकोका समय खर्च नही करूँगा।

३ अकलंकके ग्रन्थोंको तुलना

हमे अकलकके ग्रन्थोके साथ जिन आचार्योंके ग्रन्थोकी तुलना करना है उनके पारस्परिक पौर्वापर्य एव समयके निर्णयकी खास आवश्यकता है। अत तुलना लिखनेके पहिले उन खास-खास आचार्योंके पौर्वापर्य तथा समयके विषयकी आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसमे प्रथम भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित आदि आचार्योंके समय आदिका विचार होगा फिर इनके साथ अकलंककी तुलना करके अकलकदवका समय निर्णीत होगा।

भर्तृहरि और कुमारिल—इत्सिगके उल्लेखानुसार भर्तृहरि उस समयके एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उस समय इनका वाक्यविषयकचर्चावाला वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध था। इत्सिगने जब (सन् ६९१) अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरिकी मृत्यु हुए ४० वर्ष हो चुके थे। अत भर्तृहरिका समय सन् ६००-६५० तक सुनिश्चित है। भर्तृहरि शब्दाद्वैत दर्शनके प्रस्थापक थे। मीमासकधुरीण कुमारिलने भर्तृहरिके वाक्यपदीय-से अनेको श्लोक उद्धृतकर उनकी समालोचना की है। यथा—

"अस्त्यर्थ सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गे सममाहुर्गवादिषु॥" —वाक्यपदीय २।१२१

तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) मे यह श्लोक दो जगह उद्धृत होकर आलोचित हुआ है। इसी तरह

---

१ हरिवशपुराणके "इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिण। देवस्य देवसघस्य न वन्द्यन्ते गिर कथम्॥" (१-३१) इस श्लोकमे प कैलाशचन्द्रजी देवनन्दिका स्मरण मानते हैं। उसके लिये 'देवसघस्य' की जगह 'देववन्द्यस्य' पाठ शुद्ध बताते है (न्यायकुमुद प्रस्ता०)। पर इस श्लोकका 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडि-व्याकरणेक्षिण' विशेषण ध्यान देने योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि—वे देव इन्द्र चन्द्र अर्क जैनेन्द्र व्याडि आदि व्याकरणोके इक्षिन्-द्रष्टा-विशिष्ट अभ्यासी थे। देवनन्दि इन्द्र आदि व्याकरणोके अभ्यासी तो हो सकते है पर जैनेन्द्रव्याकरणके तो वे रचयिता थे। यदि देवनन्दिका स्मरण हरिवशकारको करना था तो वे 'जैनेन्द्रकर्त्तु' या जैनेन्द्रप्रणेतु' ऐसा कोई पद रखते। एक ही पदमे जैनेन्द्रके कर्त्ता तथा इन्द्रादि व्याकरणोके अभ्यासी देवनन्दिका उल्लेख व्याकरणशास्त्रके नियमोसे विरुद्ध है। देवनन्दिका स्मरण माननेके लिए 'देवसघस्य' की जगह 'देववन्द्यस्य' पाठरूप कल्पनागौरवका, तथा 'देवनन्दस्य' पाठके भ्रष्ट रूपसे देवनन्दिका संकेत मानने रूप क्लिष्टकल्पनाका भार व्यर्थ ही ढोना पडता है। अत. इस श्लोकमे शब्दशास्त्रनिष्णात अकलंकका ही स्मरण मानना चाहिए।

६ (पृ० २०९-१०) मे कुमारिलने वाक्यपदीयके "तत्त्वावबोध शब्दाना नास्ति व्याकरणादृते" (वाक्यप० १।७) अंश को उद्धृतकर उसका खडन किया है। मीमासाश्लोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लोक ५१ से) में वाक्यपदीय (२।१-२) मे आए हुए दशविध वाक्यलक्षणोका समालोचन किया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी भी आलोचना कुमारिलने (मी० श्लो० स्फोटवाद) बड़ी प्रखरतासे की है। डॉ० के० बी० पाठकने यह निर्धारित किया है कि—कुमारिल ईसवी सन्‌की ८वी शताब्दीके पूर्वभागमे हुए हैं। डॉ० पाठकके द्वारा अन्विष्ट प्रमाणोसे इतना तो स्पष्ट है कि कुमारिल भर्तृहरि (सन् ६५०) के बाद हुए हैं। अतः कम से कम उनका कार्यकाल सन् ६५० के बाद तो होगा, पर वे इतने बाद तो कभी नही हो सकते। मेरे 'धर्मकीर्ति और कुमारिल' के विवेचनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि—कुमारिल भर्तृहरिके बाद होकर भी धर्मकीर्तिके कुछ पूर्व हुए हैं; क्योंकि धर्मकीर्तिने कुमारिलके विचारोका खडन किया है। डॉ० पाठक कुमारिल और धर्मकीर्तिके पारस्परिक पौर्वापर्यके विषयमे अभ्रान्त नही थे। यही कारण है कि—वे कुमारिलका समय ई० ८वी का पूर्वभाग मानते थे। धर्मकीर्तिका समय आगे सन् ६२० से ६९० तक निश्चित किया जायगा। अतः कुमारिलका समय सन् ६०० से ६८० तक मानना ही समुचित होगा।

भर्तृहरि और धर्मकीर्ति—कुमारिलकी तरह धर्मकीर्तिने भी भर्तृहरिके स्फोटवाद तथा उनके अन्य विचारोका खडन अपने प्रमाणवार्तिक तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमे किया है। यथा—

१—धर्मकीर्ति स्फोटवादका खण्डन प्रमाणवार्तिक (३।२५१ से) मे करते है।

२—भर्तृहरि की—"नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तिपरिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥"

—वाक्यप० १।८५

इस कारिकामे वर्णित वाक्यार्थबोधप्रकारका खण्डन धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२५३) मे इस प्रकार उल्लेख करके करते हैं—

"समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यया बुद्धया वाक्यावधारणमित्यपि मिथ्या।"

अतः धर्मकीर्तिका समय भर्तृहरिके अनन्तर माननेमे कोई सन्देह नही है।

कुमारिल और धर्मकीर्ति—डॉ० विद्याभूषण आदिको विश्वास था कि कुमारिलने धर्मकीर्तिकी आलोचना की है। मद्रास युनि०से प्रकाशित बृहतीके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामे प्रो० रामनाथ शास्त्रीने उक्त मन्तव्यकी पुष्टिके लिये मीमासाश्लोकवार्तिकके ४ स्थल (मी० श्लो० पृ० ६९ श्लो० ७६, पृ० ८३ श्लो० १३१, पृ० १४४ श्लो० ३६, पृ० २५० श्लो० १३१) भी खोज निकाले है। मालूम होता है कि—इन स्थलोकी पार्थसारथिमिश्र विरचित न्यायरत्नाकर व्याख्यामे जो उत्थान वाक्य दिए है, उन्हीके आधारसे ही प्रो० रामनाथजीने उन श्लोकोको धर्मकीर्तिके मतखण्डनपरक समझ लिया है। यहा पार्थसारथिमिश्रकी तरह, जो कुमारिलसे ४-५ सौ वर्ष बाद हुए हैं शास्त्रीजी भी भ्रममे पड गए है। क्योकि उन श्लोकोमे कोई भी शब्द ऐसा नही है जिसके बलपर उन श्लोकोका अर्थ साक्षात् धर्मकीर्तिके मतखण्डनपरक रूपमे लगाया जा सके। ४-५ सौ वर्ष बाद हुए टीकाकारकी, जिसकी दृष्टि ऐतिहासिककी अपेक्षा तात्त्विक अधिक है ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है। इसी तरह डॉ० पाठक[1]का यह लिखना भी अभ्रान्त नही है कि—"मीमासा श्लोकवार्तिकके शून्यवाद प्रकरणमे कुमारिलने बौद्धमतके 'बुद्धयात्मा ग्राह्य ग्राहक रूपसे भिन्न दिखाई देता है' इस विचारका

१. यह उद्धरण न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनासे लिया है।

खण्डन किया है। श्लोकवार्तिककी व्याख्यामें इस स्थानपर सुचरितमिश्र धर्मकीर्तिका निम्न श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्यने भी उद्धृत किया है, बारम्बार उद्धृत करते हैं—

''अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥'' —प्रमाणवा० २।३५४

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल धर्मकीर्तिके बाद हुए हैं।''

डॉ० पाठक जिन श्लोकोंकी व्याख्यामें सुचरितमिश्र द्वारा 'अविभागोऽपि' श्लोक उद्धृत किए जानेका जिक्र करते हैं, वे श्लोक ये हैं—

''मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः । तथाप्यनादौ संसारे पूर्वज्ञानप्रसूतिभिः ॥
चित्राभिश्चित्रहेतुत्वाद्वासनाभिरुपप्लवात् । स्वानुरूपेण नीलादिग्राह्यग्राहकदूषितम् ॥
प्रविभक्तमिवोत्पन्नं नान्यमर्थमपेक्षते ।'' —मी० श्लो० शून्यवाद श्लो० १५-१७

इन श्लोकोंकी व्याख्यामें न केवल सुचरितमिश्रने ही किन्तु पार्थसारथिमिश्रने भी 'अविभागोऽपि' श्लोकको उद्धृतकर बौद्धमतका पूर्वपक्ष स्थापित किया है। पर इन श्लोकोंकी शब्दावलीका ध्यानसे पर्यवेक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि—ग्रन्थकार इन श्लोकोंको सीधे तौरसे पूर्वपक्षके किसी ग्रन्थसे उठाकर उद्धृत कर रहा है। इनकी शब्दावली 'अविभागोऽपि' श्लोककी शब्दरचनासे करीब-करीब बिल्कुल भिन्न है। यद्यपि आर्थिक दृष्टिसे 'अविभागोऽपि' श्लोककी संगति 'मत्पक्षे' आदि श्लोकोंसे ठीक बैठ सकती है, पर यह विषय स्वयं धर्मकीर्ति द्वारा मूलतः नहीं कहा गया है। धर्मकीर्तिके पूर्वज आचार्य वसुबन्धु आदिने विंशतिकाविज्ञप्तिमात्रता और त्रिंशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि आदि ग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे उक्त विषयका स्थापन किया है। दिग्नागके जिस प्रमाणसमुच्चयपर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक वृत्ति रची है उसमें तो इसका विवेचन होगा ही। स्थिरमति आदि विज्ञानवादियोंने वसुबन्धुकी त्रिंशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धिपर भाष्य आदि रचके उक्त मतको पूरी-पूरी तौरसे पल्लवित किया है। धर्मकीर्ति तो उक्त मतके अनुवादक हैं। अतः सुचरितमिश्र या पार्थसारथिमिश्रके द्वारा उद्धृत श्लोकके बलपर कुमारिलको धर्मकीर्तिका समालोचक नहीं कहा जा सकता।

अब मैं कुछ ऐसे स्थल उद्धृत करता हूँ जिनसे यह निर्धारित किया जा सकेगा कि धर्मकीर्ति ही कुमारिलका खण्डन करते हैं—

१-कुमारिलने शाबरभाष्यके 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' इस वाक्यको ध्यानमें रखकर अपने द्वारा किए गए सर्वज्ञत्वनिराकरणका एक ही तात्पर्य बताया है कि—

'[1]धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥''

अर्थात्—सर्वज्ञत्वके निराकरणका तात्पर्य है धर्मज्ञत्वका निषेध। धर्मके सिवाय अन्य सब पदार्थोंके जाननेवालेका निषेध यहाँ प्रस्तुत नहीं है।

धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (१-३१-३५) में ठीक इससे विपरीत सुगतकी धर्मज्ञता ही पूरे जोरसे सिद्ध करते हैं, उन्हें सुगतकी सर्वज्ञता अनुपयोगी मालूम होती है। वे लिखते हैं कि—

''हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः । यः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः ॥

१. यह श्लोक कुमारिलके नामसे तत्त्वसंग्रह (पृ० ८१७) में उद्धृत है।

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे ॥"
—प्रमाणवा० १।३४-३५

अर्थात्—जो हेय–दुख, उपादेय–निरोध, हेयोपाय–समुदय, और उपादेयोपाय–मार्ग इन चार आर्यसत्योंका जानता है वही प्रमाण है। उसे समस्त पदार्थोंका जाननेवाला होना आवश्यक नहीं है। वह दूर-अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाने या न जाने, उसे इष्टतत्त्वका परिज्ञान होना चाहिए। यदि दूरवर्ती पदार्थोंका द्रष्टा ही उपास्य होता हो तब तो हमको दूरद्रष्टा गृद्धोंकी उपासना पहिले करनी चाहिए।

२–कुमारिलने शब्दको नित्यत्व सिद्ध करनेमें जिन क्रमबद्ध दलीलोंका प्रयोग किया है, धर्मकीर्ति उनका प्रमाणवार्तिकमें (३।२६५ से आगे) खण्डन करते हैं।

३–कुमारिलके 'वर्णानुपूर्वी वाक्यम्' इस वाक्यलक्षणका धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२५९) में 'वर्णानुपूर्वी वाक्य चेत्' उल्लेख करके उसका निराकरण करते हैं।

४–कुमारिलके "नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणता"—मी० श्लो० वेदनि० श्लो० १४ इस वाक्यका धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिकमें उल्लेख करके उसकी मखौल उड़ाते हैं—

"मिथ्यात्वं कृतकेष्वेव दृष्टमित्यकृतकं वचः।
सत्यार्थं व्यतिरेकेण विरोधिव्यापनाद् यदि ॥—प्रमाणवा० ३।२८९

५–कुमारिलके "अतोऽत्र पुन्निमित्तत्वादुपपन्ना मृषार्थता" । —मी० श्लो० चोदनासू० श्लोक० १६९ इस श्लोकका खंडन धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२९१) में किया है—"ततो यत्किञ्चिन्मिथ्यार्थं तत्सर्वं पौरुषेयमित्यनिश्चयात्।"

६–कुमारिलने "आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता" दिग्नागके इस वचनकी मीमांसाश्लोकवार्तिक (पृ० ४१८ और ९१३) में समालोचना की है। इसका उत्तर धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२१६) में देते हैं।

७–कुमारिल श्लोकवार्तिक (पृ० १६८) में निर्विकल्पकप्रत्यक्षका निम्नरूपसे वर्णन करते हैं—

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥

धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक (२।१४१) में इसका "केचिदिन्द्रियजत्वादेर्बालधीवदकल्पनाम्। आहुर्बाला....." उल्लेख करके खण्डन किया है।

८–कुमारिल वेदके अपौरुषेयत्वसमर्थनमें वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतुका भी प्रयोग करते हैं—

"वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥"—मी० श्लो० पृ० ९४९

धर्मकीर्ति अपौरुषेयत्वसाधक अन्य हेतुओंके साथ ही साथ कुमारिलके इस हेतुका भी उल्लेख करके खण्डन करते हैं—

"यथाऽयमन्यतोऽश्रुत्वा नेमं वर्णपदक्रमम् ।
वक्तुं समर्थः पुरुष तथान्योऽपीति कश्चन ॥"—प्रमाणवा० ३।२४०

प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्तिके टीकाकार कर्णकगोमि इस श्लोककी उत्थानिका इस प्रकार देते हैं—"तदेवं कर्तुरस्मरणादिति हेतुं निराकृत्य अन्यदपि साधनम् वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्....इति

दूषयितुमुपन्यस्यति यथेत्यादि।" इससे स्पष्ट है कि—इस श्लोकमें धर्मकीर्ति कुमारिलके वेदध्ययनवाच्यत्व हेतुका ही खंडन कर रहे हैं।

इन उद्धरणोंमें यह बात असन्दिग्धरूपसे प्रमाणित हो जाती है कि—धर्मकीर्तिने ही कुमारिलका खंडन किया है न कि कुमारिलने धर्मकीर्तिका। अतः भर्तृहरिका समय सन् ६००से ६५० तक, कुमारिल-का समय सन् ६००से ६८० तक, तथा धर्मकीर्तिका समय सन् ६२० से ६९० तक मानना समुचित होगा। धर्मकीर्तिके इस समयके समर्थनमें कुछ और विचार भी प्रस्तुत किए जाते हैं—

धर्मकीर्तिका समय—डॉ० विद्याभूषण आदि धर्मकीर्तिका समय सन् ६३५ से ६५० तक मानते हैं। यह प्रसिद्धि है कि—धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालयके अध्यक्ष धर्मपालके शिष्य थे। चीनी यात्री हुएनसांग जब सन् ६३५में नालन्दा पहुँचा तब धर्मपाल अध्यक्षपदसे निवृत्त हो चुके थे और उनका वयोवृद्ध शिष्य शीलभद्र अध्यक्षपद पर था। हुएनसांगने इन्हींसे योगशास्त्रका अध्ययन किया था। हुएनसांगने अपना यात्राविवरण सन् ६४५ ई०के बाद लिखा है। उसने अपने यात्रावृत्तान्तमें नालन्दाके प्रसिद्ध विद्वानोंकी जो नामावली दी है उसमें ये नाम हैं—धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानमित्र, शीघ्रबुद्ध और शीलभद्र। धर्मकीर्तिका नाम न देनेके विषयमें साधारणतया यही वि[illegible]र है, और वह युक्ति-संगत भी है कि—धर्मकीर्ति उस समय प्रारम्भिक विद्यार्थी होंगे।

भिक्षु राहुलसांकृत्यायनजीका विचार है[1] कि—'धर्मकीर्तिकी उस समय मृत्यु हो चुकी होगी। चूँकि हुएनसांगको तर्कशास्त्रसे प्रेम नहीं था और यतः वह समस्त विद्वानोंके नाम देनेको बाध्य भी नहीं था, इसी-लिए उसने प्रसिद्ध तार्किक धर्मकीर्तिका नाम नहीं लिया।' राहुलजीका यह तर्क उचित नहीं मालूम होता, क्योंकि धर्मकीर्ति जैसे युगप्रधानतार्किकका नाम हुएनसांगको उसी तरह लेना चाहिए था जैसे कि उसने पूर्वकालीन नागार्जुन या वसुबन्धु आदिका लिया है। तर्कशास्त्रसे प्रेम न होनेपर भी गुणमति, स्थिरमति जैसे विज्ञानवादी तार्किकोंका नाम जब हुएनसांग लेता है तब धर्मकीर्तिने तो बौद्धदर्शनके विस्तारमें उनसे कहीं अधिक एवं ठोस प्रयत्न किया है। इसलिए धर्मकीर्तिका नाम लिया जाना न्यायप्राप्त ही नहीं था, किन्तु हुएनसांगकी सहज गुणानुरागिताका द्योतक भी था। यह ठीक है कि—हुएनसांग सबके नाम लेनेको बाध्य नहीं था, पर धर्मकीर्ति ऐसा साधारण व्यक्ति नहीं था जिसकी ऐसी उपेक्षा अनजानमें भी की जाती। फिर यदि धर्मकीर्तिका कार्यकाल गुणमति, स्थिरमति आदिसे पहिले ही समाप्त हुआ होता तो इनके ग्रन्थों-पर धर्मकीर्तिकी विशालग्रन्थराशिका कुछ तो असर मिलना चाहिए था। जो उनके ग्रन्थोंका सूक्ष्म पर्यवेक्षण करनेपर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। हुएनसांगने एक जिनमित्र नामके आचार्यका भी उल्लेख किया है। इत्सिंगके "धर्मकीर्तिने 'जिन' के पश्चात् हेतुविद्याको और सुधारा" इस उल्लेखके अनुसार तो यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि धर्मकीर्तिका कार्यकाल 'जिन' के पश्चात् था, क्योंकि हुएनसांगके '[2]जिनमित्र' और इत्सिंगके 'जिन' एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं। अतः यही उचित मालूम होता है कि—धर्मकीर्ति उस समय युवा थे जब हुएनसांगने अपना यात्राविवरण लिखा।

दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग था। इसने सन् ६७१ से ६९५ तक भारतवर्षकी यात्रा की। यह सन् ६७५ से ६८५ तक दस वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालयमें रहा। इसने अपना यात्रावृत्तान्त सन् ६९१-९२में लिखा

१ देखो वादन्यायकी प्रस्तावना।

२. दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयपर जिनेन्द्रविरचित टीका उपलब्ध है। सभव है ये जिनेन्द्र ही हुएनसांगके जिनमित्र हों।

है। इत्सिंगने नालन्दा विश्वविद्यालयकी शिक्षाप्रणाली आदिका अच्छा वर्णन किया है। वह विद्यालयके लब्ध-प्रतिष्ठ स्नातकोंकी चर्चाके सिलसिलेमें लिखता है कि—"प्रत्येक पीढ़ीमें ऐसे मनुष्योंमेंसे केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं जिनकी उपमा चाँद या सूर्यसे होती है और उन्हें नाग और हाथीकी तरह समझा जाता है। पहिले समयमें नागार्जुनदेव, अश्वघोष, मध्यकालमें वसुबन्धु, असङ्ग, संघभद्र और भवविवेक, अन्तिम समयमें जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ, जिनप्रभ ऐसे मनुष्य थे।" (इत्सिंगकी भारतयात्रा पृ० २७७) इत्सिंग (पृ० २७८) फिर लिखते हैं कि "धर्मकीर्तिने 'जिन' के पश्चात् हेतुविद्याको और सुधारा। प्रज्ञागुप्तने (मतिपाल नहीं) सभी विपक्षी मतोंका खंडन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया।" इन उल्लेखोंसे मालूम होता है कि—सन् ६९१ तकमें धर्मकीर्तिकी प्रसिद्धि ग्रन्थकारके रूपमें हो रही थी। इत्सिंगने धर्मकीर्तिके द्वारा हेतुविद्याके सुधारनेका जो वर्णन किया है वह सम्भवतः धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु ग्रन्थको लक्ष्यमें रखकर किया गया है, जो हेतुविद्याका एक प्रधान ग्रन्थ है। वह इतना परिष्कृत एवं हेतुविद्यापर सर्वांगीण प्रकाश डालनेवाला है कि केवल उसीके अध्ययनसे हेतुविद्या-का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है।

इत्सिंगके द्वारा धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति आदिके साथ ही साथ धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्तिके टीका-कार शिष्य प्रज्ञागुप्तका नाम लिए जानेसे यह मालूम होता है कि—उसका उल्लेख किसी खास समयके लिए नहीं है किन्तु एक ८० वर्ष जैसे लम्बे समयवाले युगके लिए है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि—धर्मकीर्ति इत्सिंगके यात्राविवरण लिखने तक जीवित थे। यदि राहुलजीकी कल्पनानुसार धर्मकीर्तिकी मृत्यु हो गई होती तो इत्सिंग जिस तरह भर्तृहरिको धर्मपालका समकालीन लिखकर उनकी मृत्युके विषयमें भी लिखता है कि—'उसे मरे हुए अभी ४० वर्ष हो गए' उसी तरह अपने प्रसिद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्तिकी मृत्युपर भी आँसू बहाए बिना न रहता।

यद्यपि इत्सिंग धर्मकीर्तिको हेतुविद्याके सुधारक रूपसे लिखता है, परन्तु वह हेतुविद्यामें पाण्डित्य प्राप्त करनेके लिये पठनीय शास्त्रोंकी सूचीमें हेतुद्वारशास्त्र, हेत्वाभासद्वार, न्यायद्वार, प्रज्ञप्तिहेतु, एकीकृत अनुमानोंपर शास्त्र, आदि ग्रन्थोंका ही नाम लेता है, धर्मकीर्तिके किसी भी प्रसिद्ध ग्रन्थका नाम नहीं लेता। इसके ये कारण हो सकते हैं—इत्सिंगने अपना यात्राविवरण चाइनी भाषामें लिखा है अतः अनुवादकोंने जिन शब्दोंका हेतुद्वार, न्यायद्वार तथा हेत्वाभासद्वार अनुवाद किया है उनका अर्थ हेतुबिन्दु और न्यायबिन्दु भी हो सकता हो। अथवा धर्मकीर्तिको हेतुविद्याके सुधारक रूपमें जानकर भी इत्सिंग उनके ग्रंथोंसे परिचित न हो। अथवा उस समय धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंकी अपेक्षा अन्य आचार्योंके ग्रंथ नालन्दामें विशेषरूपसे पठन-पाठनमें आते होंगे।

इस विवेचनसे हमारा यह निश्चित विचार है कि—भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) के साथ ही साथ उसके आलोचक कुमारिल (सन् ६२० से ६८०) की भी आलोचना करनेवाले, तथा प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्ध परीक्षा आदि ९ प्रौढ, विस्तृत और सटीक प्रकरणोंके रचयिता धर्मकीर्तिकी समयावधि सन् ६३५–६५० से आगे लम्बानी ही होगी। और वह अवधि सन् ६२० से ६९० तक रखनी समुचित होगी। इससे हुएनसांगके द्वारा धर्मकीर्तिके नामका उल्लेख न होनेका, तथा इत्सिंग द्वारा होनेवाले उल्लेखका वास्तविक अर्थ भी संगत हो जाता है। तथा तिब्बतीय इतिहासलेखक तारानाथका धर्मकीर्तिको तिब्बतके राजा स्रोङ् सन् गम् पो का, जिसने सन् ६२९ से ६८९ तक राज्य किया था, समकालीन लिखना भी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

अकलंकदेवने भर्तृहरि कुमारिल तथा धर्मकीर्तिकी समालोचनाके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, धर्मोत्तर आदिके विचारोका भी आलोचन किया है। इन सब आचार्योंके ग्रथोके साथ अकलंकके ग्रन्थोकी आन्तरिक तुलना अकलंकके समयनिर्णयमे खास उपयोगी होगी। इसलिए अकलकके साथ उक्त आचार्योंकी तुलना क्रमश: की जाती है—

भर्तृहरि और अकलक—भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचनाके सिलसिलेमे अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० २३१) मे वाक्यपदीयकी (१।७९) "इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा।" इस कारिकामे वर्णित इन्द्रियसस्कार, शब्दसंस्कार तथा उभयसस्कार रूप तीनो पक्षोका खडन किया है।

राजवार्तिक (पृ० ४०) मे वाक्यपदीयकी "शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते"—वाक्यप० २।२३५ यह कारिका उद्धृत की गई है। सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिवि० टी० पृ० ५४६ से) के शब्दसिद्धि प्रकरणमे भी स्फोटवादका खडन है। शब्दाद्वैतवादका खडन भी सिद्धिविनिश्चयमे (टी० पृ० ४५८ से) किया गया है।

कुमारिल और अकलक—अकलकदेवके ग्रन्थोमे कुमारिलके मन्तव्योके आलोचनके साथ ही साथ कुछ शब्दसादृश्य भी पाया जाता है—

१—कुमारिल सर्वज्ञका निराकरण करते हुए लिखते हैं कि—

"प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।
सद्भाववारणे शक्त को नु त कल्पयिष्यति ॥"—मी० श्लो० पृ० ८५

अर्थात्—जब प्रत्यक्षादिप्रमाणोसे अबाधित प्रमेयत्वादि हेतु ही सर्वज्ञका सद्भाव रोक रहे हैं तब कौन उसे सिद्ध करनेकी कल्पना भी कर सकेगा ?

अकलकदेव इसका प्रतिबन्दि उत्तर अपनी अष्टशती (अष्टसह० पृ० ५८) में देते हैं कि—"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षण पुष्णाति तं कथ चेतन प्रतिषेद्धुमर्हति सशयितु वा" अर्थात्—जब प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्वका हेतुका पोषण कर रहे हैं तब कौन चेतन उस सर्वज्ञका प्रतिषेध या उसके सद्भावमे सशय कर सकता है ?

२—तत्त्वसग्रहकार शान्तरक्षितके लेखानुसार कुमारिलने सर्वज्ञनिराकरणमे यह कारिका भी कही है कि—

"दश हस्तान्तर व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनशत गन्तु शक्तोऽभ्यासशतैरपि।"—तत्त्वसं० पृ० ८२६

अर्थात्—यह सभव है कि कोई प्रयत्नशील पुरुष अभ्यास करनेपर अधिकसे अधिक १० हाथ ऊँचा कूद जाय; पर सैकडो वर्षों तक कितना भी अभ्यास क्यो न करे वह १०० योजन ऊँचा कभी भी नही कूद सकता। इसी तरह कितना भी अभ्यास क्यो न किया जाय ज्ञानका प्रकर्ष अतीन्द्रियार्थके जाननेमे नही हो सकता।

अकलकदेव सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० ४२५ B.) में इसका उपहास करते हुए लिखते है कि—
"दश हस्तान्तर व्योम्नो नोत्प्लवेरन् भवादृश। योजनाना सहस्रं किं वोत्प्लवेदधुना नरैः ॥"

अर्थात्—जब शारीरिक असामर्थ्यके कारण आप दस हाथ भी ऊँचा नही कूद सकते तब दूसरोसे हजार योजन कूदनेकी आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि अमुक मर्यादासे ऊँचा कूदनेमे शारीरिकगुरुत्व बाधक होता है।

३–कुमारिलने जैनसम्मत केवलज्ञानकी उत्पत्तिको आगमाश्रित मानकर यह अन्योन्याश्रय दोष दिया है कि—'केवलज्ञान हुए बिना आगमकी सिद्धि नही हो सकती तथा आगम सिद्ध हुए बिना केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही हो सकती ।'—

"एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिण । सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ।"
"नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेनागमो विना ।"—मी० श्लो० पृ० ८७

अकलंकदेव न्यायविनिश्चय (का० ४१२-१३) मे मीमासाश्लोकवार्तिकके शब्दोको ही उद्धृत कर इसका उत्तर यह देते हैं कि—सर्वज्ञ और आगमकी परम्परा अनादि है । इस पुरुषको केवलज्ञान पूर्व आगमसे हुआ तथा उस आगमकी उत्पत्ति तत्पूर्व सर्वज्ञसे । यथा—

"एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् । नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेन विनागमः ॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मत । प्रभव पौरुषेयोस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥"

शाब्दिक तुलना—

"पुरुषोऽभ्युपगन्तव्य कुण्डलादिषु सर्पवत् ।"—मी० श्लो० पृ० ६९५
"प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्य कुण्डलादिषु सर्पवत् ।" –न्यायवि० का० ११७
"तदय भाव स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत् ।"—प्रमाणम० पृ० ११२

धर्मकीर्ति और अकलंक —अकलंकने धर्मकीर्तिकी केवल मार्मिक समालोचना ही नही की है, किन्तु परपक्षके खडनमे उनका शाब्दिक और आर्थिक अनुसरण भी किया है । अकलंकके साहित्यका बहुभाग बौद्धोके खडनसे भरा हुआ है । उसमे जहाँ धर्मकीर्तिके पूर्वज दिग्नाग आदि विद्वानोकी समालोचना है वहाँ धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन प्रज्ञाकर तथा कर्णकगोमि आदिके विचारोका भी निरसन किया गया है । अकलंक और धर्मकीर्तिकी पारस्परिक तुलना कुछ उद्धरणो द्वारा स्पष्ट रूपसे नीचे की जाती है—

१–धर्मकीर्तिके सन्तानान्तरसिद्धि प्रकरणका पहिला श्लोक यह है—

"बुद्धिपूर्वां क्रिया दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । मन्यते बुद्धिसद्भाव सा न येषु न तेषु धी ।"

अकलकदेवने राजवार्तिक (पृ० १९) मे इसे 'तदुक्तम्' लिखकर उद्धृत किया है तथा सिद्धिविनिश्चय (द्वितीय परि०) मे तो 'ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तै पुरुषै क्वचित्' इस हेरफेरके साथ मूलमे ही शामिल करके इसकी समालोचना की है ।

२–हेतुबिन्दु प्रथमपरिच्छेदका "अर्थक्रियार्थी हि सर्व प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाण वाऽन्वेषते" यह वाक्य लघीयस्त्रयकी स्वोपज्ञविवृति (पृ० ३) मे मूलरूपसे पाया जाता है । हेतुबिन्दुकी—

"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव स । अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥"

इस आद्यकारिकाकी आलोचना सिद्धिविनिश्चयकी हेतुलक्षणसिद्धिमे की गई है ।

३–प्रमाणविनिश्चयके "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियो" वाक्यकी अष्टशती (अष्टसह० पृ० २४२) मे उद्धरण देकर आलोचना है ।

४–वादन्यायकी—"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावन द्वयो ।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥"

इस आद्यकारिकाकी समालोचना न्यायविनिश्चय (का० ३७८) मे, सिद्धिविनिश्चयके जल्पसिद्धि प्रकरण मे तथा अष्टशती (अष्टसह० पृ० ८१) मे हुई है ।

५–प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्तिका "तस्मादेकस्य भावस्य यावन्ति पररूपाणि तावत्यस्तदपेक्षा तदसम्भविकार्यकारणा' तस्य भेदात् यावत्यश्च व्यावृत्तयः तावत्य. श्रुतय ।" यह अश अष्टशती (अष्टसह० पृ० १३८) के "ततो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि" इस अशसे शब्द तथा अर्थदृष्टया तुलनीय है ।

६–प्रमाणवार्तिककी आलोचना तथा तुलनाके लिए उपयोगी अवतरण न्यायविनिश्चयादि ग्रंथोंमें प्रचुर रूपसे पाये जाते हैं । ये सब अवतरण प्रस्तुतग्रन्थत्रयके टिप्पणोमे सगृहीत किये हैं । देखो—लघी० टि० पृ० १३१-१३३, १३६-१३९, १४१, १४२, १४६, १४७, १५२ तथा न्यायविनिश्चय टि० पृ० १५५-१५७, १५९-१७० मे आये हुए प्रमाणवार्तिकके अवतरण ।

प्रज्ञाकरगुप्त और अकलंक—धर्मकीर्तिके टीकाकारोमें प्रज्ञाकरगुप्त एक मर्मज्ञ टीकाकार हैं । ये केवल टीकाकार ही नही हैं किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी रखते हैं । इनका समय अभी तक पूर्ण रूपसे निश्चित नही है । डॉ० सतीशचद्र विद्याभूषण उन्हे १०वी सदीका विद्वान् बताते है । भिक्षु राहुल सांकृत्यायनजीने टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय सन् ७०० दिया है । इनका नामोल्लेख अनन्तवीर्य सिद्धिविनिश्चयटीकामे, विद्यानन्द अष्टसहस्रीमे तथा प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्डमे करते है । जयन्तभट्टने (न्यायमं० पृ० ७४) जिनका समय ईस्वी ८वीका मध्य भाग है, इनके वार्तिकालंकारके "एकमेवेद सविद्रूप हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्याम तत्र यथेष्ट सज्ञा क्रियन्ताम्" इस वाक्यका खण्डन किया है । अत. इनका समय ८वी सदीका प्रारम्भिक भाग तो होना ही चाहिए । इत्सिगने अपने यात्राविवरणमे एक प्रज्ञागुप्त नामके विद्वान्का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—"प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नही) ने सभी विपक्षी मतोका खण्डन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया ।" हमारे विचारसे इत्सिगके द्वारा प्रशमित प्रज्ञागुप्त दूसरे व्यक्ति नहीं हैं । वे वार्तिकालंकारके रचयिता प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं, क्योकि इनके वार्तिकालकारमे विपक्ष खण्डनका भाग अधिक है ।

इस तरह सन् ६९१-९२ मे लिखे गये यात्राविवरणमे प्रज्ञाकरगुप्तका नाम होनेसे ये भी धर्मकीर्तिके समकालीन ही हे । हाँ, धर्मकीर्ति वृद्ध तथा प्रज्ञाकर युवा रहे होगे । अत इनका समय भी करीब ६७० से ७२५ तक मानना ठीक है । यह समय भिक्षु राहुलजी द्वारा सूचित टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार भी ठीक बैठता है । प्रज्ञाकरगुप्तके वार्तिकालकारकी भिक्षु राहुलजी द्वारा की गयी प्रेसकापी पलटनेसे मालूम हुआ कि प्रज्ञाकरने मात्र प्रमाणवार्तिककी टीका ही नही की है, किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी प्रकट किये है । जैसे—

१–सुषुप्त अवस्थामे ज्ञानकी सत्ता नही मानकर जाग्रत् अवस्थाके ज्ञानको प्रबोध अवस्थाकालीन ज्ञानमे कारण मानना तथा भाविमरणको अरिष्ट–अपशकुनमे कारण मानना । तात्पर्य यह कि—अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद दोनो ही प्रज्ञाकरके द्वारा आविष्कृत हैं । वे वार्तिकालकार मे लिखते है कि—

"अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम् । यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । नचानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात् ।

गाढसुप्तस्य विज्ञान प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥
तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् । कार्यकारणभावस्य तद्भाविन्यपि विद्यते ॥
भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव । मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहार , यदि ॥

मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति ।''—वार्तिकालकार पृ० १७६

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ११० A.) का यह उल्लेख—''ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदय-कार्यतया कृतिकोदयस्य गमकत्वात् कथ कार्यहेतौ नास्यान्तर्भाव ''—इस बातका सबल प्रमाण है कि—प्रज्ञाकरगुप्त भाविकारणवादी थे। इसी तरह व्यवहितकारणवादके सिलसिलेमे अनन्तवीर्यका यह लिखना कि—''इति प्रज्ञाकरगुप्तस्यैव मत न धर्मोत्तरादीनामिति मन्यते।'' (सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A) प्रज्ञाकरके व्यवहितकारणवादी होनेका खासा प्रमाण है। प्रज्ञाकरके इस मतको समकालीन धर्मोत्तर आदि तथा उत्तरकालीन शान्तरक्षित आदि नही मानते थे।

२–स्वप्नान्तिकशरीर—प्रज्ञाकर स्वप्नमे स्थूल शरीरके अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर मानता है। स्वप्नमे जो शरीरका दौडना, त्रास, भूख, प्यास, मेरुपर्वतादिपर गमन आदि देखे जाते हैं वे सब क्रियाएँ, मौजूदा स्थूलकायके अतिरिक्त जो सूक्ष्मशरीर बनता है, उसीमें होती हैं। इस सूक्ष्मशरीरको वह स्वप्नान्तिकशरीर शब्दसे कहता है। यथा—

''यथा स्वप्नान्तिक काय त्रासलघनधावनै । जाग्रद्देहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि ॥''

''स्वप्नान्तिकशरीरसञ्चारदर्शनात् ।''—वार्तिकालकार पृ० १४८, १८४

अनन्तवीर्याचार्यके सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १३८ B) मे उल्लिखित ''प्रज्ञाकरस्तु स्वप्नान्तिक-शरीरवादी''' ''' '' वाक्यसे स्पष्ट है कि यह मत भी प्रज्ञाकरगुप्तका था।

३–धर्मकीर्तिने सुगतकी सर्वज्ञताके समर्थनमे अपनी शक्ति न लगाकर धर्मज्ञत्वका समर्थन ही किया है। पर प्रज्ञाकर धर्मज्ञत्वके साथ ही साथ सर्वज्ञत्वका भी समर्थन करते है। सर्वज्ञत्वके समर्थनमे वे 'सत्य-स्वप्नज्ञान'का दृष्टान्त भी देते हैं। यथा—

''इहापि सत्यस्वप्नदर्शिनोऽतीतादिक सविदन्त्येव ।''—वार्तिकालकार पृ० ३९६

४–पीतशंखादिज्ञानोके द्वारा अर्थक्रिया नही होती, अत वे प्रमाण नही हैं, पर सस्थानमात्र अशसे होनेवाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है, अत उस अशमे उन्हे अनुमानरूपसे प्रमाण मानना चाहिये, तथा अन्य अशमे सशयरूप। इस तरह इस एक ज्ञानमे आशिक प्रमाणता तथा आशिक अप्रमाणता है। यथा–

''पीतशखादिविज्ञान तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात् । सस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञान प्रमाणमनुमानम्; तथाहि—

'प्रतिभास एवम्भूतो य स न सस्थानवर्जित । एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमान तथा च तत् ॥'

ततोऽनुमान सस्थाने, सशय परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाण च, अनेन मणिप्रभाया मणिज्ञान व्याख्यातम् ।''—वार्तिकालकार पृ० ६

अकलकदेवने प्रज्ञाकरगुप्तके उक्त सभी सिद्धान्तोका खण्डन किया है यथा—

१–अकलकदेवने सिद्धिविनिश्चयमे जीवका स्वरूप बताते हुए 'अभिन्न सविदात्मार्थ. स्वापप्रबोधादौ' विशेषण दिया है। इसका तात्पर्य है कि—स्वाप और प्रबोध तथा मरण और जन्म आदिमे जीव अभिन्न रहता है, उसकी सन्तान विच्छिन्न नही होती। इसीका व्याख्यान करते हुए उन्होने लिखा है कि—'तदभावे मिद्धादेरनुपपत्ते' यदि सुप्तादि अवस्थाओमे ज्ञानका अभाव माना जायगा तो मिद्ध-अतिनिद्रा मूर्च्छा आदि नही बन सकेगी, क्योकि सर्वथा ज्ञानका अभाव माननेसे तो मृत्यु ही हो जायगी। मूर्च्छा और अति-निद्रा व्यपदेश तो ज्ञानका सद्भाव माननेपर ही हो सकता है। हाँ, उन अवस्थाओमे ज्ञान तिरोहित रहता

है। अनन्तवीर्याचार्य 'तदभावे मिद्धादेरनुपपत्ते' वाक्यका व्याख्यान निम्नरूपसे करते हैं—"ननु स्वापे ज्ञानं नास्त्येव इति चेदत्राह—'तदभाव इत्यादि' " ज्ञानस्य अभति मिद्धादे अनुपपत्ते. इति। मिद्धो निद्रा आदि यस्य मूर्च्छादे तस्यानुपपत्ते मरणोपपत्ते अवस्थाचतुष्टयाभाव तदवस्थ एव।" (सिद्धिवि० टी० पृ० ५७९ A.) इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि—अकलंकदेव सुषुप्तावस्थामें ज्ञान नहीं माननेवाले प्रज्ञाकरका खण्डन करते हैं। अतएव वे न्यायविनिश्चय (का० २२२) में भी जीवस्वरूपका निरूपण करते हुए 'सुषुप्तादौ बुद्ध' पद देते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहितकारणवादपर भी उन्होंने आक्षेप किया है। (देखो सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A.)

इसके सिवाय अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय प्रथमपरिच्छेदमें स्पष्टरूपसे लिखते हैं कि—"न हि स्वापादौ चित्तचैत्तसिकानामभाव प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति" अर्थात्—जो लोग स्वापादि अवस्थाओंमें निर्विकल्पक और सविकल्पकज्ञानका अभाव मानते हैं उनका ऐसा मानना प्रमाणशून्य है। इस पंक्तिसे अकलंकके द्वारा प्रज्ञाकरके अतीतकारणवादके ऊपर किये गये आक्षेपकी बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

२–न्यायविनिश्चय (का० ४७) में अकलंकदेवने प्रज्ञाकरके स्वप्नान्तिकशरीरका अन्त शरीर शब्दसे उल्लेख करके पूर्वपक्ष किया है। सिद्धिविनिश्चय (टी० पृ० १३८ B.) में भी अकलंकने स्वप्नान्तिक शरीरपर आक्रमण किया है।

३–अकलंकदेव प्रज्ञाकरकी तरह सर्वज्ञताके समर्थनमें न्यायविनिश्चय (कारि० ४०७) में स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं तथा प्रमाणसंग्रह (पृ० ९९) में तो स्पष्ट ही सत्यस्वप्नज्ञानका ही उदाहरण उपस्थित करते हैं। यथा—"स्वयंप्रभुरलङ्घनाहं स्वार्थालोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत्।"

४–जिस प्रकार प्रज्ञाकरगुप्तने पीतशखादिज्ञानको संस्थानमात्र अंशमें प्रमाण तथा इतरांशमें अप्रमाण कहा है। उसी तरह अकलंक भी लघीयस्त्रय तथा अष्टशतीमें द्विचन्द्रज्ञानको चन्द्रांशमें प्रमाण तथा द्वित्वांशमें अप्रमाण कहते हैं। दोनों ग्रन्थोंके अवतरणके लिए देखो—लघी० टि० पृ० १४० प० २० से। अष्टशतीमें तो अकलंकदेव प्रज्ञाकरगुप्तकी संस्थानमात्रमें अनुमान माननेकी बातपर आक्षेप करते हैं। यथा—

"नापि लैङ्गिकं लिंगलिंगिसम्बन्धाप्रतिपत्ते अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात्।"

—अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७

इसके अतिरिक्त हम कुछ ऐसे वाक्य उपस्थित करते हैं जिससे प्रज्ञाकर और अकलंकके ग्रन्थोंकी शाब्दिक और आर्थिक तुलनामें बहुत मदद मिलेगी।

"एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्याम तत्र यथेष्टं संज्ञा क्रियन्ताम्।"—वार्तिकालंकार

"हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तज्ञानवृत्ते प्रकृतेरपरा चैतन्यवृत्ति क प्रेक्षावान् प्रतिजानीते।"—सिद्धिवि० टी० पृ० ५२६ B शेषके लिए देखो—लघी० टि० पृ० १३५ प० ३१, न्यायवि० टि० पृ० १५९ पं० ११, पृ० १६२ प० १३, पृ० १६५ प० २०।

प्रज्ञाकरगुप्तने प्रमाणवार्तिक टीकाका नाम प्रमाणवार्तिकालंकार रखा है। इसीलिए उत्तरकालमें इनकी प्रसिद्धि 'अलङ्कारकार'के रूपमें भी रही है। अकलंकदेवका 'तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार' या 'तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालंकार' नाम भी वार्तिकालंकारके नामप्रभावसे अछूता नहीं मालूम होता। इस तरह उपर्युक्त दलीलोंके आधारसे कहा जा सकता है कि—अकलंकदेवने धर्मकीर्तिकी तरह उनके टीकाकार शिष्य प्रज्ञाकरगुप्तको देखा ही नहीं था किन्तु उनकी समालोचना भी डटकर की है।

कर्णकगोमि और अकलंक—धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम-स्वार्थानुमान परिच्छेदपर ही वृत्ति बनाई थी। इस वृत्तिकी कर्णकगोमिरचित टीकाके प्रूफ हमारे सामने हैं। कर्णकगोमिके समयका बिलकुल ठीक निश्चय न होनेपर भी इतना तो उनके ग्रन्थ देखनेसे कहा जा सकता है कि—ये मंडनमिश्रके बादके हैं। इन्होंने अनेकों जगह मंडनमिश्रका नाम लेकर कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथा उनका खंडन किया है। इनने प्रमाणवा० स्ववृ० टीका (पृ० ८८) में 'तदुक्त मण्डनेन' कहकर "आहुर्विधातृ प्रत्यक्ष न निषेद्धृ विपश्चित। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते॥" यह कारिका उद्धृत की है तथा इसका खण्डन भी किया है।

मण्डनमिश्रने स्फोटसिद्धि (पृ० १९३) में मी० श्लोकवार्तिक (पृ० ५४२) की "वर्णा वा ध्वनयो वापि" कारिका उद्धृत की है, तथा विधिविवेक (पृ० २७९) में तन्त्रवार्तिक (२।१।१) की 'अभिधा-भावनामाहु' कारिका उद्धृत की है। इसलिए इनका समय कुमारिल (सन् ६०० से ६८०) के बाद तो होना ही चाहिए। बृहती द्वितीयभागकी प्रस्तावनामें इनका समय सन् ६७० से ७२० सूचित किया है, जो युक्तियुक्त है।

अत मण्डनका उल्लेख करनेवाले कर्णकगोमिका समय ७०० ई० के बाद होना चाहिए। ये प्रज्ञाकर-गुप्तके उत्तरकालीन मालूम होते हैं, क्योंकि इन्होंने अपनी टीकामें (पृ० १३७) 'अलङ्कार एव अवस्तुत्व-प्रतिपादनात्' लिखकर वार्तिकालंकारका उल्लेख किया है। अत इनका समय ६९० से पहिले होना संभव ही नहीं है।

अकलंकदेवने प्रमाणसंग्रहमें इनके मतकी भी आलोचना की है। यथा—

जब कुमारिल आदिने बौद्धसम्मत पक्षधर्मत्वरूपपर आक्षेप करते हुए कहा कि कृतिकोदयादि हेतु तो शकटोदयादि पक्षमें नहीं रहते, अत हेतुका पक्षधर्मत्वरूप अव्यभिचारी कैसे कहा जा सकता है? तब इसका उत्तर कर्णकगोमिने अपनी स्ववृत्तिटीकामें इस प्रकार दिया है कि—कालको पक्ष मानकर पक्षधर्मत्व घटाया जा सकता है। यथा—"तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमान चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्? [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ११]

अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—यदि कालादिको धर्मी मानकर पक्षधर्मत्व सिद्ध करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। यथा—"कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्ग।"—प्रमाणसं० पृ० १०४

धर्मोत्तर और अकलंक—प्रज्ञाकरकी तरह धर्मोत्तर भी धर्मकीर्तिके यशस्वी टीकाकार हैं। इन्होंने प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु आदिपर टीका लिखनेके सिवाय कुछ स्वतन्त्र प्रकरण भी लिखे हैं। न्यायविनि-श्चयविवरणकार (पृ० ३९० B) के लेखानुसार मालूम होता है कि—अकलंकदेवने न्यायविनिश्चय (का० १६२) में धर्मोत्तर (न्यायवि० टी० पृ० १९) के मानसप्रत्यक्ष विषयक विचारोंकी आलोचना की है। इसी तरह वे न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० २६ B.) में लिखते हैं कि—चूर्णिमें अकलंकदेवने धर्मोत्तरके (न्यायबिन्दुटीका पृ० १) आदिवाक्यप्रयोजन तथा शास्त्रशरीरोपदर्शनका प्रतिक्षेप किया है। यह चूर्णि अकलंकदेवकी ही है, क्योंकि—'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्' इस उल्लेखके साथ ही एक श्लोक न्याय-विनिश्चयविवरणमें उद्धृत देखा जाता है (देखो इसी ग्रन्थका परिशिष्ट ९वाँ)। इसी तरह अनन्तवीर्याचार्य-ने सिद्धिविनिश्चयके अनेक वाक्योंको धर्मोत्तरके खंडन रूपमें सूचित किया है। धर्मोत्तर करीब-करीब प्रज्ञाकर-के समकालीन मालूम होते हैं।

शान्तरक्षित और अकलंक—धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें शान्तरक्षित भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने वादन्यायकी टीकाके सिवाय तत्त्वसंग्रह नामका विशाल ग्रन्थ भी लिखा है। इसका समय सन् ७०५ से ७६२ तक माना जाता है। (देखो तत्त्वसंग्रहकी प्रस्तावना) अकलंक और शान्तरक्षितकी तुलनाके लिए हम कुछ वाक्य नीचे देते हैं—

"वृक्षे शाखा शिलाश्चाग इत्येषा लौकिका मतिः।"—तत्त्वसं० पृ० २६७

"तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः।"—न्यायविनि० का० १०४,

प्रमाणसं० का० २६

"अविकल्पमविभ्रान्तं तद्योगीश्वरमानसम्।"—तत्त्वसं० पृ० ९३४

"अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षं न पटीयसाम्।"—न्यायवि० का० १५५

"एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः। निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति॥"

—तत्त्वसं० पृ० ८८५

"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा॥"

—अष्टश० अष्टसह० पृ० ५८

इनके सिवाय शान्तरक्षितने सर्वज्ञसिद्धिमें ईक्षणिकादिविद्याका दृष्टान्त दिया है।

यथा—"अस्ति ह्यीक्षणिकाद्याख्या विद्या या (या) सुविभाविता।
परचित्तपरिज्ञानं करोतीहैव जन्मनि॥" —तत्त्वसं० पृ० ८८८

अकलंकदेव भी (न्यायवि० का० ४०७) सर्वज्ञसिद्धिमें ईक्षणिकाविद्याका दृष्टान्त देते हैं।

इन अवतरणोंसे अकलंक और शान्तरक्षितके बिम्बप्रतिबिम्बभावका आभास हो सकता है।

अकलंकके साथ की गई प्रज्ञाकर आदिकी तुलनासे यह बात निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो जाती है कि अकलंकदेव इनके उत्तरकालीन नहीं तो लघुसमकालीन तो अवश्य ही हैं। उक्त समस्त आचार्योंको खींचकर एक कालमें किसी भी तरह नहीं रखा जा सकता। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिल, कुमारिलका निरसन करनेवाले धर्मकीर्ति, धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त तथा प्रज्ञाकरगुप्तके वार्तिकालंकारके बाद बनी हुई कर्णकगोमिकी टीका तकका आलोचन करनेवाले अकलंक किसी भी तरह कुमारिल और धर्मकीर्तिके समकालीन नहीं हो सकते। धर्मकीर्तिके समयसे इनको अवश्य ही कमसे कम ५० वर्ष बाद रखना होगा। इन पचास वर्षोंमें प्रमाणवार्तिककी टीका, वार्तिकालंकारकी रचना तथा कर्णकगोमिकी स्वोपज्ञवृत्तिटीका बनी होगी, और उसने इतनी प्रसिद्धि पाई होगी कि जिससे वह अकलंक जैसे तार्किकको अपनी ओर आकृष्ट कर सके। अतः अकलंकका समय ७२० से ७८० तक मानना चाहिए। पुराने जमानेमें आज जैसे प्रेस, डॉक आदि शीघ्र प्रसिद्धिके साधन नहीं थे, जिससे कोई लेखक या ग्रन्थकार ५ वर्षमें ही दुनियाँके इस छोरसे उस छोर तक ख्याति प्राप्त कर लेता है। फिर उस समयका साम्प्रदायिक वातावरण ऐसा था जिससे काफी प्रसिद्धि या विचारोंकी मौलिकता ही प्रतिपक्षी विद्वानोंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकती थी, और इस प्रसिद्धिमें कमसे कम १५-२० वर्षका समय तो लगना ही चाहिए। इस विवेचनाके आधारपर हम निम्न आचार्योंका समय इस प्रकार रख सकते हैं—

भर्तृहरि ६०० से ६५० तक	प्रज्ञाकर ६७० से ७२५ तक
कुमारिल ६०० से ६८० तक	कर्णकगोमि ६९० से ७५० तक

धर्मकीर्ति	६२० से ६९० तक	शान्तरक्षित	७०५ से ७६२ तक
धर्मोत्तर	६५० से ७२० तक	अकलंक	७२० से ७८० तक

तात्पर्य यह कि—भर्तृहरिकी अन्तिम कृति वाक्यपदीय सन् ६५० के आसपास बनी होगी। वाक्य-पदीयके श्लोकोंका खंडन करनेवाला कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक जैसा महान् ग्रन्थ सन् ६६० से पहिले नहीं रचा गया होगा। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिककी समालोचना जिस धर्मकीर्ति-कृत बृहत्काय प्रमाणवार्तिकमें है, उसकी रचना सन् ६७० के आसपास हुई होगी। प्रमाणवार्तिकपर प्रज्ञाकर गुप्तकी अतिविस्तृत वार्तिकालंकार टीका सन् ६८५ के करीब रची गई होगी। वार्तिकालंकारका उल्लेख करने-वाली कर्णकगोमिकी विशाल प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्तिटीकाकी रचना ७२० से पहिले कम संभव है। अतः इन सब ग्रन्थोंकी आलोचना करनेवाले अकलंकका समय किसी भी तरह सन् ७२० से पहिले नहीं जा सकता। अकलंकचरितके '७०० विक्रमार्कशकाब्द' वाले उल्लेखको हमें इन्हीं प्रमाणोंके प्रकाशमें देखना है। यदि १६वीं सदीके अकलंकचरितकी दी हुई शास्त्रार्थकी तिथि ठीक है तो वह विक्रमसंवत्की न होकर शक संवत्की होनी चाहिए। शकसंवत्का उल्लेख भी 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्दसे पाया जाता है। अकलंकका यह समय माननेसे प्रभाचन्द्रके कथाकोशका उन्हें शुभतुंग (कृष्णराज प्र० राज्य सन् ७५८ के बाद) का मन्त्रि-पुत्र बतलाना, मल्लिषेणप्रशस्तिका साहसतुंग (दन्तिदुर्ग द्वि०, राज्य सन् ७४५-७५८) की सभामें उपस्थित होना आदि घटनाएँ युक्तिसंगत समयवाली सिद्ध हो जाती हैं। सोलहवीं सदीके अकलंकचरितकी अपेक्षा हमें १४वीं सदीके कथाकोश तथा १२वीं सदीकी मल्लिषेणप्रशस्तिको अग्रस्थान देना ही होगा, जब कि उसके साधक तथा पोषक अन्य आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। इति।

अकलंकग्रन्थत्रय ग्रन्थ

[बाह्यस्वरूपपरिचय]

१. ग्रन्थत्रय की अकलङ्ककर्तृकता

प्रस्तुत ग्रन्थत्रयके कर्ता प्रखर तार्किक, वाग्मी श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव हैं। अकलङ्कदेवकी यह शैली है कि—वे अपने ग्रन्थोंमें कहीं न कहीं 'अकलङ्क' नामका प्रयोग करते हैं। कहीं वह प्रयोग जिनेन्द्रके विशेषण-रूपसे हुआ है तो कहीं ग्रन्थके विशेषणरूपसे और कहीं किसी लक्ष्यके लक्षणभूत शब्दोंमें विशेषणरूप से।

लघीयस्त्रय के प्रमाणनयप्रवेशके अन्तमें आए हुए 'कृतिरियं सकलवादिचक्रचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टा-कलङ्कदेवस्य' इस पुष्पिकावाक्यसे, कारिका नं० ५० में प्रयुक्त 'प्रेक्षावानकलङ्कमेति' पदसे तथा कारिका नं० ७८ में कथित 'भगवदकलङ्कानाम्' पदसे ही लघीयस्त्रयकी अकलङ्ककर्तृकता स्पष्ट है और अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ९९B) में उद्धृत "तदुक्तम् लघीयस्त्रये-प्रमाणफलयो ..." इस वाक्यसे, आचार्य विद्यानन्द द्वारा प्रमाणपरीक्षा (पृ० ६९) एवं अष्टसहस्री (पृ० १३४) में 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत लघीयस्त्रयकी तीसरी कारिकासे, तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २३९) में 'अत्र अकलङ्क-देवाः प्राहुः' करके उद्धृत लघीयस्त्रयकी १०वीं कारिकासे लघीयस्त्रयकी अकलङ्ककर्तृकता समर्थित होती है। आचार्य मलयगिरि आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७०B) में 'तथा चाहाकलङ्कः' कहकर लघीयस्त्रयकी ३०वीं कारिका उद्धृत करके लघीयस्त्रयकी अकलङ्ककर्तृताका अनुमोदन करते हैं।

न्यायविनिश्चय कारिका नं० ३८६ में प्रयुक्त 'विसर्ज्येरकलङ्करत्ननिचयन्यायो' पदसे, तथा कारिका न० ४८० में 'आभव्यादकलकमङ्गलफलम्' पदके प्रयोगसे केवल न्यायविनिश्चयकी अकलङ्ककर्तृकता द्योतित हो नहीं होती; किन्तु न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराजसूरिके उल्लेखोसे तथा आचार्य अनन्तवीर्य-द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २०८B) मे, एवं आचार्य विद्यानन्द द्वारा आप्तपरीक्षा (पृ० ४९) में 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत की गई इसकी ५१वी कारिकासे इसका प्रबल समर्थन भी होता है। आचार्य धर्मभूषणने तो न्यायदीपिका (पृ० ८) मे 'तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये' लिखकर न्यायविनिश्चयकी तीसरी कारिका उद्धृत करके इसका असंदिग्ध अनुमोदन किया है।

प्रमाणसग्रह की कारिका न० ९ मे आया हुआ 'अकलङ्कं महीयसाम्' पद प्रमाणसग्रहके अकलङ्क-रचित होनेकी सूचना दे देता है। इसका समर्थन आचार्य विद्यानन्द द्वारा 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८५) मे 'अकलङ्कैरप्यधायि य' कहकर उद्धृत इसकी दूसरी कारिकासे, तथा वादिराजसूरि द्वारा न्यायविनिश्चय-विवरण (पृ० ८३A) मे 'तथा चात्र देवस्य वचनम्' लिखकर उद्धृत किए गए इसके (पृ० ९८) 'विविधानुविवादनस्य' वाक्य से स्पष्टरूपसे हो जाता है।

२. ग्रन्थत्रयके नामका इतिहास तथा परिचय

लघीयस्त्रय नामसे मालूम होता है कि यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणोका एक सग्रह है। पर इसका लघीयस्त्रय नाम ग्रन्थकर्ताके मनमें प्रारम्भसे ही था या नही, अथवा बादमे ग्रन्थकारने स्वयं या उनके टीकाकारोने यह नाम रखा, यह एक विचारणीय प्रश्न है। मालूम होता है कि—ग्रन्थ बनाते समय अकलकदेवको 'लघीयस्त्रय' नामकी कल्पना नही थी। उनके मनमे तो दिग्नागके न्यायप्रवेश जैसा एक जैनन्यायप्रवेश बनानेकी बात घूम रही थी। यद्यपि बौद्ध और नैयायिक परार्थानुमानको न्यायशब्दकी मर्यादामे रखते है; पर अकलकदेवने तत्त्वार्थसूत्रके 'प्रमाणनयैरधिगम' सूत्र मे वर्णित अधिगमके उपायभूत प्रमाण और नयको ही न्यायशब्दका वाच्य माना है। तदनुसार ही उन्होने अपने ग्रन्थकी रचनाके समय प्रमाण और नयके निरूपणका उपक्रम किया। लघीयस्त्रयके परिच्छेदोका प्रवेशरूपसे विभाजन तो न्यायप्रवेशको आधार माननेकी कल्पनाका स्पष्ट समर्थन करता है। प्रमाणनयप्रवेशकी समाप्तिस्थलमे विवृतिकी प्रतिमे "इति प्रमाणनय-प्रवेश समाप्त । कृतिरिय सकलवादिचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्य" यह वाक्य पाया जाता है। इस वाक्यसे स्पष्ट मालूम होता है कि —अकलकदेवने प्रथम ही 'प्रमाणनयप्रवेश' बनाया था। इस प्रमाणनयप्रवेशकी सकलना, मगल तथा पर्यवसान इसके अखण्ड प्रकरण होनेको पूरी तरह सिद्ध करते हैं। यदि नयप्रवेश प्रमाणप्रवेशसे भिन्न एक स्वतन्त्र प्रकरण होता तो उसमें प्रवचनप्रवेशकी तरह स्वतंत्र मगलवाक्य होना चाहिए था। अकलकदेवकी प्रवचनपर अगाध श्रद्धा थी। यही कारण है कि—स्वतन्त्र उत्पादनकी पूर्ण सामर्थ्य रखते हुए भी उन्होने अपनी शक्ति पुरातनप्रवचनके समन्वयमे ही लगाई। उनने प्रवचनमे प्रवेश करनेके लिए तत्त्वार्थसूत्रमें अधिगमोपाय रूपसे प्ररूपित प्रमाण, नय और निक्षेपका अखडरूपसे वर्णन करनेके लिए प्रवचन-प्रवेश बनाया। इस तरह अकलंकदेवने प्रमाणनयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश ये दो स्वतंत्र प्रकरण बनाये।

यह प्रश्न अभी तक है ही कि—'इसका लघीयस्त्रय नाम किसने रखा ?' मुझे तो ऐसा लगता है कि—यह सूझ अनन्तवीर्य आचार्य की है, क्योकि लघीयस्त्रय नामका सबसे पुराना उल्लेख हमे सिद्धिविनिश्चय टीकामे मिलता है। अनन्तवीर्यकी दृष्टिमे 'प्रमाणनयप्रवेश' एक अखण्ड प्रकरण नही था, वे उसे दो स्वतंत्र प्रकरण मानते थे। इसका आधार यह है कि— सिद्धिविनिश्चय टीका (पृ० ५७२ B) मे शब्द-नयादिका लक्षण करके वे लिखते हैं कि "एतेषामुदाहरणानि नयप्रवेशकप्रकरणादवगन्तव्यानि"—इनके

उदाहरण नयप्रवेशकप्रकरणसे जानना चाहिए। यहाँ नयप्रवेशको स्वतन्त्र प्रकरणरूपमें उल्लेख करनेसे अनुमान किया जा सकता है कि अनन्तवीर्यकी दृष्टिमें प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश दो प्रकरण थे। और यह बहुत कुछ सम्भव है कि उनने ही प्रवचनप्रवेशको मिलाकर इनकी 'लघीयस्त्रय' संज्ञा दी हो। उस समय प्रवेशक और लघु ग्रंथोंको प्रकरण शब्दसे कहनेकी परम्परा थी। जैसे न्यायप्रवेशप्रकरण, न्यायबिन्दुप्रकरण आदि। अनन्तवीर्यके इस लघीयस्त्रय संज्ञाकरणके बाद तो इनकी प्रमाणनयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेश संज्ञा लघीयस्त्रयके तीन प्रवेशोंके रूपमें ही रही ग्रन्थके नामके रूपमें नहीं।

अस्तु, लघीयस्त्रय नामका इतिहास जान लेनेके बाद अब हम इसका एक अखण्ड ग्रन्थके रूपमें ही वर्णन करेंगे; क्योंकि आज तक निर्विवाद रूपसे यह एक ही ग्रन्थके रूपमें स्वीकृत चला आ रहा है। इस ग्रन्थमें तीन प्रवेश हैं—१ प्रमाण प्रवेश, २. नय प्रवेश, ३ निक्षेप प्रवेश। प्रमाण प्रवेशके चार परिच्छेद हैं—१. प्रत्यक्ष परिच्छेद, २ विषय परिच्छेद, ३ परोक्ष परिच्छेद, ४ आगम परिच्छेद। इन चार परिच्छेदोंके साथ नयप्रवेश तथा प्रवचन प्रवेशको मिलाकर कुल ६ परिच्छेद स्वोपज्ञविवृतिकी प्रतिमें पाए जाते हैं। लघीयस्त्रयके व्याख्याकार आ० प्रभाचन्द्रने प्रवचनप्रवेशके भी दो परिच्छेद करके कुल सात परिच्छेदोंपर अपनी न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या लिखी है। प्रवचनप्रवेशमें जहाँ तक प्रमाण और नयका वर्णन है वहाँ तक प्रभाचन्द्रने छठवाँ परिच्छेद, तथा निक्षेपके वर्णनको स्वतन्त्र सातवाँ परिच्छेद माना है।

लघीयस्त्रयमें कुल ७८ कारिकाएँ हैं। मुद्रित लघीयस्त्रयमें ७७ ही कारिकाएँ हैं। उसमें 'लक्षण क्षणिकैकान्ते' (का० ३५) कारिका नहीं है। नयप्रवेशके अन्तमें 'मोहेनैव परोऽपि' इत्यादि पद्य भी विवृतिकी प्रतिमें लिखा हुआ मिलता है। पर इस पद्यका प्रभाचन्द्र तथा अभयनन्दिने व्याख्यान नहीं किया है, तथा उसकी मूलग्रन्थके साथ कोई संगति भी प्रतीत नहीं होती, अतः इसे प्रक्षिप्त समझना चाहिए। प्रथम परि०में ६॥, द्वि० परि०में ३, तृ० परि०में १२, चतु० परि०में ७, पंचम परि०में २१, तथा ६ प्रवचन प्र० में २८, इस तरह कुल ७८ कारिकाएँ हैं।

मूल लघीयस्त्रयके साथ ही स्वयं अकलंकदेवकी संक्षिप्त विवृति भी इसी संस्करणमें मुद्रित है। यह विवृति कारिकाओंका व्याख्यानरूप न होकर उसमें सूचित विषयोंकी पूरक है। अकलंकदेवने इसे मूल श्लोकोंके साथ ही साथ लिखा है। मालूम होता है कि—अकलंकदेव जिस पदार्थको कहना चाहते हैं, वे उसके अमुक अंशकी कारिका बनाकर बाकीको गद्य भागमें लिखते हैं। अतः विषयकी दृष्टिसे गद्य और पद्य दोनों मिलकर ही ग्रन्थकी अखण्डता स्थिर रखते हैं। धर्मकीर्तिकी प्रमाणवार्तिककी वृत्ति भी कुछ इसी प्रकारकी है। उसमें भी कारिकोक्त पदार्थकी पूर्ति तथा स्पष्टताके लिए बहुत कुछ लिखा गया है। अकलंकके प्रमाणसंग्रहका अध्ययन करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—अकलंकके गद्यभागको हम शुद्ध वृत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध वृत्तिमें मात्र मूलकारिकाका व्याख्यान होना ही आवश्यक है, पर लघीयस्त्रयकी विवृति या प्रमाणसंग्रहके गद्यभागमें व्याख्यानात्मक अंश नहींके ही बराबर हैं। हाँ, कारिकोक्त पदोंको आधार बनाकर उस विषयका शेष वक्तव्य गद्यरूपमें उपस्थित कर दिया है। व्याख्याकार प्रभाचन्द्रने इसको विवृति माना है और वे कारिकाका व्याख्यान करके जब गद्य भागका व्याख्यान करते हैं तब 'विवृतिं विवृण्वन्नाह' लिखते हैं। विवृति शब्दका प्रयोग हमारे विचारसे खालिस टीका या वृत्तिके अर्थमें न होकर तत्सम्बद्ध शेष वक्तव्यके अर्थमें है।

लघीयस्त्रयमें चर्चित विषय संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

प्रथमपरिच्छेदमें—सम्यग्ज्ञानकी प्रमाणता, प्रत्यक्ष परोक्षका लक्षण, प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और

मुख्य रूपसे दो भेद, साव्यवहारिकके इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष रूपसे भेद, मुख्यप्रत्यक्षका समर्थन, साव्यवहारिकके अवग्रहादिरूपसे भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादिके बह्वादिरूप भेद, भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रियके लक्षण, पूर्व पूर्वज्ञानकी प्रमाणतामें उत्तरोत्तर ज्ञानोकी फलरूपता आदि विषयोकी चरचा है।

द्वितीयपरिच्छेदमे—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुका प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्व, नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्तमें क्रमयौगपद्यरूपसे अर्थक्रियाकारित्वका अभाव, नित्य माननेपर विक्रिया तथा अविक्रियाका अविरोध आदि प्रमाणके विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले विचार प्रकट किए हैं।

तृतीयपरिच्छेदमे—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तथा अभिनिबोधका शब्दयोजनासे पूर्व अवस्थामें मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्थामें श्रुतव्यपदेश, व्याप्तिका ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा असंभव होनेसे व्याप्तिग्राही तर्कका प्रामाण्य, अनुमानका लक्षण, जलचन्द्रके दृष्टान्तसे कारण हेतुका समर्थन, कृतिकोदय आदि पूर्वचर हेतुका समर्थन, अदृश्यानुपलब्धिसे भी परचैतन्य आदिका अभावज्ञान, नैयायिकाभिमत उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमे अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञानके वैसदृश्य आपेक्षिक प्रतियोगि आदि भेदोका निरूपण, बौद्ध मतमे स्वभावादि हेतुओके प्रयोगमें कठिनता, अनुमानानुमेयव्यवहारकी वास्तविकता एव विकल्पबुद्धिकी प्रमाणता आदि परोक्षज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोकी चरचा है।

चतुर्थपरिच्छेदमे—किसी भी ज्ञानमे ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणताका निषेध करके प्रमाणाभासका स्वरूप, सविकल्पज्ञानमे प्रत्यक्षाभासताका अभाव, अविसंवाद और विसवादसे प्रमाण-प्रमाणाभासव्यवस्था, विप्रकृष्टविषयोमे श्रुतकी प्रमाणता, हेतुवाद और आप्तोक्तरूपसे द्विविध श्रुतकी अविसवादि होनेसे प्रमाणता, शब्दोके विवक्षावाचित्वका खण्डनकर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुत सम्बन्धी बातोका विवेचन किया गया है। इस तरह प्रमाणके स्वरूप, सख्या, विषय और फलका निरूपणकर प्रमाणप्रवेश समाप्त होता है।

पचम परिच्छेदमें—नय दुर्नयके लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूपसे मूलभेद, सत्‌रूपसे समस्त वस्तुओके ग्रहणका सग्रहनयत्व, ब्रह्मवादका संग्रहाभासत्व, बौद्धाभिमत एकान्तक्षणिकताका निरास, गुण-गुणी, धर्म-धर्मीकी गौण मुख्य विवक्षामे नैगमनयकी प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुणगुण्यादिके एकान्त भेदका नैगमाभासत्व, प्रामाणिक भेदका व्यवहारनयत्व, काल्पनिक भेदका व्यवहाराभासत्व, कालकारकादिके भेदसे अर्थभेद निरूपणकी शब्दनयता, पर्यायभेदसे अर्थभेदक कथनका समभिरूढनयत्व, क्रियाभेदसे अर्थभेद प्ररूपणका एवंभूतनयत्व, सामग्रीभेदसे अभिन्नवस्तुमें भी षट्कारकीका सभव आदि समस्त नयपरिवारका विवेचन है। यहाँ नयप्रवेश समाप्त हो जाता है।

६ प्रवचन प्रवेशमें—प्रमाण, नय और निक्षेपके कथनकी प्रतिज्ञा, अर्थ और आलोककी ज्ञानकारणताका खंडन, अन्धकारको ज्ञानका विषय होनेसे आवरणरूपताका अभाव, तज्जन्म, ताद्रूप्य और तदध्यवसायका प्रामाण्यमे अप्रयोजकत्व, श्रुतके सकलादेश विकलादेश रूपसे दो उपयोग, 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यकी विकलादेशता, 'स्याज्जीव एव' इस वाक्यकी सकलादेशता, शब्दकी विवक्षासे भिन्न वास्तविक अर्थकी वाचकता, नैगमादि सात नयोमेसे आदिके नैगमादि चार नयोका अर्थनयत्व, शब्दादि तीन नयोंका शब्दनयत्व, नामादि चार निक्षेपोके लक्षण, अप्रस्तुत निराकरण तथा प्रस्तुत अर्थका निरूपण रूप निक्षेपका फल, इत्यादि प्रवचनके अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेपका निरूपण किया गया है।

न्यायविनिश्चय—धर्मकीर्तिका एक प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसकी रचना गद्यपद्यमय है। न्यायविनिश्चय नाम स्पष्टतया इसी प्रमाणविनिश्चय नामका अनुकरण है। नामकी पसन्दगीमें आन्तरिक

विषयका निश्चय भी एक खास कारण होता है। सिद्धसेन दिवाकरने अपने न्यायावतारमे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोका विवेचन किया है। अकलकदेवने न्यायविनिश्चयमे भी तीन प्रस्ताव रखे हैं—१ प्रत्यक्ष प्रस्ताव, २ अनुमान प्रस्ताव, ३ प्रवचन प्रस्ताव। अत सभव है कि—अकलंकके लिए विषयकी पसन्दगीमे तथा प्रस्तावके विभाजनमे न्यायावतार प्रेरक हो, और इसीलिए उन्होंने न्यायावतारके 'न्याय'के साथ प्रमाणविनिश्चयके 'विनिश्चय' का मेल बैठाकर न्यायविनिश्चय नाम रखा हो। वादिदेवसूरिने स्याद्वाद-रत्नाकर (पृ० २३) में 'धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्य ...' यह उल्लेख करके लिखा है कि न्यायविनिश्चय-के तीन परिच्छेदोमे क्रमश प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमानका वर्णन है। यदि धर्मकीर्तिका प्रमाण-विनिश्चयके अतिरिक्त भी कोई न्यायविनिश्चय ग्रन्थ है तब तो ज्ञात होता है कि—प्रस्तावविभाजन तथा नामकरणकी कल्पनामे उसीने कार्य किया है। यह भी सभव है कि—प्रमाणविनिश्चयको ही वादिदेवसूरिने न्यायविनिश्चय समझ लिया हो। इसके तीन प्रस्तावोमे निम्नविषयोका विवेचन है—

प्रथम प्रत्यक्षप्रस्तावमे—प्रत्यक्षका लक्षण, इन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण, प्रमाणसम्प्लवसूचन, चक्षुरादि-बुद्धियोका व्यवसायात्मकत्व, विकल्पके अभिलापवत्त्व आदि लक्षणोका खंडन, ज्ञानको परोक्ष माननेका निरा-करण, ज्ञानके स्वसवेदनकी सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, निरा-कारज्ञानसिद्धि, सवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखडन, परमाणुरूप बहिरर्थका निराकरण, अवयवोमे भिन्न अवयवीका खडन, द्रव्यका लक्षण, गुणपर्यायका स्वरूप, सामान्यका स्वरूप, अर्थके उत्पादादित्रयात्मकत्वका समर्थन, अपोहरूप सामान्यका निरास, व्यक्तिसे भिन्न सामान्यका खण्डन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणका खडन, बौद्धकल्पित स्वसवेदनयोगिमानसप्रत्यक्षनिरास, साख्यकल्पित प्रत्यक्ष-लक्षणका खडन, नैयायिकके प्रत्यक्षका समालोचन, अतीन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण आदि विषयोका विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्तावमे—अनुमानका लक्षण, प्रत्यक्षकी तरह अनुमानकी बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभासके लक्षण, बौद्धादिमतोमे साध्यप्रयोगकी असम्भवता, शब्दका अर्थवाचकत्व, शब्दसकेतग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवादका निराकरण, गुणगुणि भेदका निराकरण, साधन-साधनाभासके लक्षण, प्रमेयत्व हेतुकी अने-कान्तसाधकता, सत्त्वहेतुकी परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्य खडन पूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्ककी प्रमाणता, अनुपलम्भहेतुका समर्थन, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचरहेतुका समर्थन, असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभासोका विवेचन, दूषणाभास लक्षण, जातिलक्षण, जयेतरव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभास विचार, वादका लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभासलक्षण आदि अनुमानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोका वर्णन है।

तृतीय प्रवचनप्रस्तावमे—प्रवचनका स्वरूप, सुगतके आप्तत्वका निरास, सुगतके करुणावत्त्व तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्वका परिहास, आगमके अपौरुषेयत्वका खण्डन, सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्य-स्वप्नज्ञान तथा ईक्षणिकादिविद्याके दृष्टान्त द्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्यभावनाकी निरर्थकता, मोक्षका स्वरूप, सप्तभगीनिरूपण, स्याद्वादमे दिये जानेवाले संशयादि दोषोका परिहार, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिका प्रामाण्य, प्रमाणका फल आदि विषयोका विवेचन है।

लघीयस्त्रयकी तरह न्यायविनिश्चयपर भी स्वयं अकलङ्ककृत विवृति अवश्य रही है। जैसा कि न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० १२० B) के 'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्' आदि वाक्योसे तथा सिद्धिविनिश्चय-टीका (पृ० १२० A) मे न्यायविनिश्चयके नामसे उद्धृत 'नचैतद्बहिरेव ...' आदि गद्यभागसे पता चलता

है। न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० १६१ B.) में 'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्' कहकर 'समारोपव्यवच्छेदात्....' श्लोक उद्धृत मिलता है। बहुत कुछ सम्भव है कि इसी विवृतिरूप गद्यभागका ही विवरणकारने चूर्णि शब्दसे उल्लेख किया हो। न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराजने न्यायविनिश्चयके केवल पद्यभागका व्याख्यान किया है।

प्रमाणसंग्रह—पं० सुखलालजीकी कल्पना है कि—'प्रमाणसंग्रह नाम दिग्नागके प्रमाणसमुच्चय तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहका स्मरण दिलाता है। यह कल्पना हृदयको लगती है। पर तत्त्वसंग्रहके पहिले भी प्रशस्तपादभाष्यका पदार्थसंग्रह नाम प्रचलित रहा है। सम्भव है कि संग्रहान्त नामपर इसका भी कुछ प्रभाव हो। जैसा कि इसका नाम है वैसा ही यह ग्रन्थ वस्तुतः प्रमाणों—युक्तियोंका संग्रह ही है। इस ग्रन्थकी भाषा और खासकर विषय तो अत्यन्त जटिल तथा कठिनतासे समझने लायक है। अकलंकके इन तीन ग्रन्थोंमें यही ग्रन्थ प्रमेयबहुल है। मालूम होता है कि यह ग्रन्थ न्यायविनिश्चयके बाद बनाया गया है; क्योंकि इसके कई प्रस्तावोंके अन्तमें न्यायविनिश्चयकी अनेकों कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्यके लिखी गई हैं। इसकी प्रौढ़शैलीसे ज्ञात होता है कि यह अकलंकदेवकी अन्तिम कृति है, और इसमें उन्होंने अपने यावत् अवशिष्ट विचारोंके लिखनेका प्रयास किया है, इसलिए यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओंके उपलब्धि अनुपलब्धि आदि अनेकों भेदोंका विस्तृत विवेचन है; जबकि न्यायविनिश्चयमें मात्र उनका नाम ही लिया गया है। अतः यह सहज ही समझा जा सकता है कि—यह न्यायविनिश्चयके बाद बनाया गया होगा।

इसमें ९ प्रस्ताव हैं, तथा कुल ८७॥ कारिकाएँ।

प्रथम प्रस्तावमें–९ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रत्यक्षका लक्षण, श्रुतका प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाणका फल, मुख्यप्रत्यक्षका लक्षण आदि प्रत्यक्ष विषयक निरूपण है।

द्वितीय प्रस्तावमें–९ कारिकाएँ हैं। इनमें स्मृतिका प्रामाण्य, प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणता, तर्कका लक्षण, प्रत्यक्षानुपलम्भसे तर्कका उद्भव, कुतर्कका लक्षण, विवक्षाके बिना भी शब्दप्रयोगका सम्भव, परोक्ष पदार्थोंमें श्रुतसे अविनाभावग्रहण आदिका वर्णन है। अर्थात् परोक्षके भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका निरूपण है।

तृतीय प्रस्तावमें–१० कारिकाएँ हैं। इनमें अनुमानके अवयव साध्य-साधनका लक्षण, साध्याभासका लक्षण, सदसदेकान्तमें साध्यप्रयोगकी असंभवता, सामान्यविशेषात्मक वस्तुकी साध्यता तथा उसमें दिये जानेवाले संशयादि आठ दोषोंका परिहार आदिका वर्णन है।

चतुर्थ प्रस्तावमें–११॥ कारिकाएँ हैं। इनमें त्रिरूपका खंडन करके अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुलक्षणका समर्थन, हेतुके उपलब्धि, अनुपलब्धि आदि भेदोंका विवेचन, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचरहेतुका समर्थन आदि हेतु-सम्बन्धी विचार है।

पंचम प्रस्तावमें–१०॥ कारिकाएँ हैं। इनमें विरुद्धादि हेत्वाभासोंका निरूपण, सर्वथा एकान्तमें सत्त्वहेतुकी विरुद्धता, सहोपलम्भनियमहेतुकी विरुद्धता, विरुद्धाव्यभिचारीका विरुद्धमें अन्तर्भाव, अज्ञात हेतुका अकिञ्चित्करमें अन्तर्भाव आदि हेत्वाभास विषयक प्ररूपण है, तथा अन्तर्व्याप्तिका समर्थन है।

षष्ठ प्रस्तावमें—१२॥ कारिकाएँ हैं। इनमें वादका लक्षण, जयपराजय व्यवस्थाका स्वरूप, जातिका लक्षण, दध्युष्ट्रत्वादिके अभेदप्रसंगका जात्युत्तरत्व, उत्पादादित्रयात्मकत्वसमर्थन, सर्वथा नित्य सिद्ध करनेमें सत्त्वहेतुका सिद्धसेनादिके मतसे असिद्धत्वादिनिरूपण आदि वादविषयक कथन है। अन्तमें—धर्मकीर्ति आदिमें अपने ग्रन्थोंमें प्रतिवादियोंके प्रति जिन जाड्य आदि अपशब्दोंका प्रयोग किया है उनका बहुत सुन्दर

मुँहतोड उत्तर दिया है। लिखा है कि—शून्यवाद, संवृतिवाद, विज्ञानवाद, निर्विकल्पकदर्शन, परमाणुसंचयको प्रत्यक्षका विषय मानना, अपोहवाद तथा मिथ्यासन्तान ये सात बातें माननेवाला ही वस्तुतः जड है। प्रतिज्ञाको असाधन कहना, अदृश्यानुपलब्धिको अगमक कहना आदि ही अह्रीकता—निर्लज्जता है। निर्विकल्पकप्रत्यक्षके सिवाय सब ज्ञानोंको भ्रान्त कहना, साकार ज्ञान मानना, क्षणभङ्गवाद तथा असत्कार्यवाद ही पशुताके द्योतक हैं। परलोक न मानना, शास्त्र न मानना, तप-दान देवता आदिसे इन्कार करना ही अलौकिकता है। अतीन्द्रिय धर्माधर्म आदिमे शब्द-वेदको ही प्रमाण मानना, किसी चेतनको उसका ज्ञाता न कहना ही तामस है। सस्कृत आदि शब्दोंमे साधुता, असाधुताका विचार तथा उनके प्रयोगमात्रसे पुण्य-पाप मानना ही प्राकृत-ग्रामीणजनका लक्षण है।

सप्तम प्रस्तावमें–१० कारिकाएँ हैं। इसमे प्रवचनका लक्षण, सर्वज्ञतामे किये जानेवाले सन्देहका निराकरण, अपौरुषेयत्वका खंडन, तत्त्वज्ञानचारित्रकी मोक्षहेतुता आदि प्रवचन सम्बन्धी विषयोका विवेचन है।

अष्टम प्रस्तावमें–१३ कारिकाएँ है। इनमे सप्तभंगीका निरूपण तथा नैगमादिनयोका कथन है।

नवम प्रस्तावमे–२ कारिकाएँ हैं। इनमे प्रमाणनय और निक्षेपका उपसंहार है।

३ रचनाशैली

अकलङ्कके ग्रथ दो प्रकारके हैं—१ टीका ग्रथ, २.स्वतन्त्र प्रकरण। टीका ग्रथोमे राजवार्तिक तथा अष्टशती हैं। स्वतन्त्र ग्रथोमे लघीयस्त्रयसविवृति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति और प्रमाणसग्रह ये चार ग्रथ निश्चितरूपसे अकलककर्तृक हैं। परम्परागत प्रसिद्धिकी दृष्टिसे स्वरूपसम्बोधन, न्यायचूलिका, अकलक प्रतिष्ठापाठ, अकलक प्रायश्चित्तसग्रह आदि है, जिनके कर्त्ता प्रसिद्ध अकलंकदेव न होकर अन्य अकलक हैं।

राजवार्तिकके सिवाय प्राय सभी ग्रथ अष्टशती जितने ८०० श्लोक प्रमाण ही मालूम होते है। धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु, वादन्याय, प्रमाणविनिश्चय ग्रथ भी करीब-करीब इतने ही छोटे है। उस समय सक्षिप्त पर अर्थबहुल, गम्भीर तथा तलस्पर्शी प्रकरणोकी रचनाका ही युग था।

अकलंक जब आगमिक विषयपर कलम उठाते हैं तब उनके लेखनकी सरलता, विशदता एव प्रसाद गुणका प्रवाह पाठकको पढ़नेसे ऊबने नही देता। राजवार्तिककी प्रसन्न रचना इसका अप्रतिम उदाहरण हैं। परन्तु जब वही अकलक तार्किक विषयोपर लिखते हैं तब वे उतने ही दुरूह बन जाते हैं। अकलकके प्रस्तुत संस्करणमे मुद्रित प्रकरणग्रथ अत्यन्त जटिल, गूढ एव इतने सक्षिप्त हैं कि कही-कही उनका आधार लेकर टीकाकारो द्वारा किये गये अर्थ अकलकके मनोगत थे या नही यह सन्देह होने लगता है। अकलंकके प्रकरणोकी यथार्थज्ञताका दावा करनेवाले अनन्तवीर्य भी इनकी गूढताके विषयमे बरबस कह उठते हैं कि—

"देवस्यानन्तवीर्योऽपि पद व्यक्त तु सर्वथा। न जानीतेऽकलकस्य चित्रमेतत्पर भुवि॥"

अर्थात्—"अनन्तवीर्य भी अकलक देवके पदोके व्यक्त अर्थको नही जान पाता यह बड़ा आश्चर्य है।" ये अनन्तवीर्य उस समय अकलंकके प्रकरणोके मर्मज्ञ, तलद्रष्टा समझे जाते थे। प्रभाचन्द्र एवं वादिराज अनतवीर्यकी अकलकीय प्रकरणोकी तलस्पर्शिताका वर्णन करते हुए लिखते है कि—"मैंने त्रिलोकके यावत् पदार्थोंको सक्षेपरूपसे वर्णन करनेवाली अकलंककी पद्धतिको अनन्तवीर्यकी उक्तियोका सैकडो बार अभ्यास करके समझ पाया है।" "अकलकके गूढ प्रकरणोको यदि अनन्तवीर्यके वचनदीप प्रकट न करते तो उन्हें कौन समझ सकता था?" आदि।

सविवृति लघीयस्त्रयपर प्रभाचन्द्रकी टीका उपलब्ध होनेसे तथा उसका विषय कुछ प्रारम्भिक होनेसे समझनेमे उतनी कठिनाई नही मालूम होती जितनी न्यायविनिश्चयमे। प्रमाणसग्रहमे तो यह कठिनाई अपनी चरमसीमाको पहुँच जाती है। एक ही प्रकरणमे अनेक चर्चाओका समावेश हो जानेसे तो यह जटिलता और भी बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ—न्यायविनिश्चयमे भूतचैतन्यवादका निराकरण करते हुए जहाँ यह लिखा है कि ज्ञान भूतोका गुण नही है, वही लगे हाथ गुण शब्दका व्याख्यान तथा वैशेषिकके गुणगुणिभेदका खडन भी कर दिया है। समझनेवाला इससे विषयके वर्गीकरणमे बडी कठिनाईका अनुभव करता है। अकलंकदेवका षड्दर्शनका गहरा अभ्यास तथा बौद्धशास्त्रोका अतुलभावनापूर्वक आत्मसात्करण ही उनके प्रकरणोकी जटिलतामे कारण मालूम होता है। वे यह सोचते है कि कम-से-कम शब्दोमे अधिकसे अधिक सूक्ष्म और बहुपदार्थ ही नही किन्तु बहुविध पदार्थ लिखा जाय। उनकी यह शब्दसक्षिप्तता बडे-बडे प्रकाण्डपण्डितोको अपनी बुद्धिको मापनेका मापदण्ड बन रही है। धर्मकीर्तिकी प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्तिको देखकर तो यह और भी स्पष्ट मालूम होने लगता है कि उस समय कुछ ऐसी ही सूत्र रूपसे लिखने की परम्परा थी। लेखनशैलीमें परिहासका पुट भी कही-कही बडी व्यजनाके साथ मिलता है, जैसे—न्यायविनिश्चयमे धर्मकीर्तिके—"जब सब पदार्थ द्रव्यरूपसे एक है तब दही और ऊँट भी द्रव्यरूपसे एक हुए, अत दहीको खानेवाला ऊँटको क्यो नही खाता ?" इस आक्षेपका उत्तर देते हुए लिखा है कि—भाई, जैसे सुगत पूर्व भवमे मृग थे, तथा मृग भी सुगत हुआ था, अत सन्तानदृष्टिसे एक होनेपर भी आप मृगकी जगह सुगतको क्यों नही खाते और मृगकी वन्दना क्यो नही करते ? अत जिस तरह वहाँ पर्यायभेद होनेसे वन्द्यत्व और खाद्यत्व की व्यवस्था है उसी तरह दही और ऊँटके शरीरमे पुद्गलद्रव्यरूपसे एकता होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा भिन्नता है। यथा—

"सुगतोऽपि मृगो जात मृगोऽपि सुगतस्तथा। तथापि सुगतो वन्द्यो मृग खाद्यो यथेष्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थिते। चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥"

—न्यायवि० ३।३७३-७४

अकलकके प्रकरणोका सूक्ष्मतासे अनुसधान करनेपर मालूम होता है कि—अकलकदेवकी सीधी चोट बौद्धोके ऊपर है। इतरदर्शन तो प्रसगसे ही चर्चित हैं, और उनकी समालोचनामे बौद्धदर्शनका सहारा भी लिया गया है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकसे तो अनेको पूर्वपक्ष शब्दश लेकर समालोचित हुए हैं। धर्मकीर्तिके साथ ही साथ उनके शिष्य एवं टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि प्रभृति भी अकलकके द्वारा युक्तिजालोमे लपेटे गये हैं। जहाँ भी मौका मिला सौत्रान्तिक या विज्ञानवादीके ऊपर पूरा-पूरा प्रहार किया गया है। कुमारिलकी सर्वज्ञताविरोधिनी युक्तियाँ प्रबलप्रमाणोसे खंडित की गई है। जैननिरूपणमे समन्तभद्र, पूज्यपादका प्रभाव होनेपर भी न्यायविनिश्चयमे सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतार तथा लघीयस्त्रयके नयनिरूपणमे सम्मतितर्कके नयकाण्ड तथा मल्लवादिके नयचक्रका भी प्रभाव है। उत्तरकालीन ग्रथकार अनतवीर्य, माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, शान्तिसूरि, वादिराज, वादिदेव, हेमचन्द्र तथा यशोविजय आदि सभी आचार्योंने अकलंकके द्वारा प्रस्थापित जैनन्यायकी रेखाका विस्तार किया तथा उनके वाक्योको बडी श्रद्धासे उद्धृतकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

अकलंक द्वारा प्रणीत व्यवस्थामे अनुपपत्ति शान्तिसूरि तथा मलयगिरि आचार्यने दिखाई है। शान्तिसूरिने जैनतर्कवार्तिकमे अकलंक द्वारा प्रमाणसग्रहमे प्रतिपादित प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमनिमित्तक त्रिविध श्रुतकी जगह द्विविध-अनुमानज और शब्दज श्रुत माना है। मलयगिरि आचार्यने सप्तनयमे स्यात्पदके प्रयोगका इस आधारपर समालोचन किया है कि स्यात् पदका प्रयोग करनेसे तो प्रमाण और नयमें कोई भेद नही रहेगा। पर इसका उत्तर उ० यशोविजयने गुरुतत्त्वविनिश्चयमें दे दिया है कि—मात्र स्यात् पदके प्रयोगसे प्रमाण

और नयमे भेदाभाव नही हो सकता । नयान्तरसापेक्षनय यदि प्रमाण हो जाय तब तो व्यवहारादि सभी नयो-को प्रमाण मानना होगा । इस तरह उपाध्यायजीने अकलंकके मतका ही समर्थन किया है ।

आन्तरिक विषयपरिचय

इस परिचयमे अकलंकदेवने प्रस्तुत तीनो ग्रन्थोमे जिन विषयोपर संक्षेप या विस्तारसे जो भी लिखा है, उन विषयोका सामान्य परिचय तथा अकलंकदेवके वक्तव्यका सार दिया है । इससे योग्यभूमिवाले जैनन्यायके अभ्यासियोका अकलंकके ग्रन्थोंमे प्रवेश तो होगा ही, साथ ही साथ जैनन्यायके रसिक अध्यापको-को जैनन्यायसे सम्बन्ध रखनेवाले दर्शनान्तरीय विषयोकी अनेको महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ भी मिल सकेगी । इसमे प्रसंगतः जिन अन्य आचार्योंके मतोकी चर्चा आई है उनके अवतरण देखनेके लिए उस विषयके टिप्पणोको ध्यानसे देखना चाहिए । इस परिचयको ग्रथश नही लिखकर तीनो ग्रन्थोके मुख्य-मुख्य विषयोका सकलन करके लिखा है जिससे पाठकोको विशेष सुविधा रहेगी । यह परिचय मुख्यतयासे प्रमाण, प्रमेय, नय, निक्षेप और सप्तभगीरूपसे स्थूल विभाग करके लिखा गया है ।

१. प्रमाणनिरूपण

प्रमाणसामान्यविचार—समन्तभद्र और सिद्धसेनने प्रमाणसामान्यके लक्षणमे स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधवर्जित पद रखे हैं, जो उस समयके प्रचलित लक्षणोसे जैनलक्षणको व्यावृत्त कराते थे । साधारणतया 'प्रमाकरण प्रमाणम्' यह लक्षण सर्वमान्य था । विवाद था तो इस विषयमे कि वह करण कौन हो ? न्याय-भाष्यमे करणरूपसे सन्निकर्ष और ज्ञान दोनोका स्पष्टतया निर्देश है । यद्यपि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानको स्वसंवेदी मानते रहे हैं, पर वे करणके स्थानमे सारूप्य या योग्यताको रखते है । समन्तभद्रादिने करणके स्थानमे स्वपरावभासक ज्ञान पद रखके ऐसे ही ज्ञानको प्रमाण माना जो स्व और पर उभयका अवभासन करनेवाला हो । अकलंकदेवने इस लक्षणमे अविसवादि और अनधिगतार्थग्राहि इन दो नए पदोका समावेश करके अवभासकके स्थानमे व्यवसायात्मक पदका प्रयोग किया है । अविसवादि तथा अज्ञातार्थप्रकाश पद स्पष्टरूपसे धर्मकीर्तिके प्रमाणके लक्षणसे आए हैं तथा व्यवसायात्मक पद न्यायसूत्र से । इनकी लक्षणसघटनाके अनुसार स्व और परका व्यवसाय-निश्चय करनेवाला, अविसवादि-सशयादि समारोपका निरसन करनेवाला और अनधिगतार्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण होगा ।

प्रमाणसम्प्लव विचार—यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार धर्मोत्तरने अज्ञातार्थप्रकाश और अनधिगतार्थग्राहि शब्दोका प्रयोग करके प्रमाणसम्प्लवका निषेध किया है । एक प्रमेयमे अनेक प्रमाणोकी प्रवृत्ति को प्रमाणसम्प्लव कहते हैं । बौद्ध पदार्थोंको एकक्षणस्थायी मानते है । उनके सिद्धान्तके अनुसार पदार्थ ज्ञानमे कारण होता है । अतः जिस विवक्षित पदार्थसे कोई भी प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कि वह पदार्थ दूसरे क्षणमे नियमसे नष्ट हो जाता है । इसलिए किसी भी अर्थमे दो ज्ञानोके प्रवृत्त होनेका अवसर ही नही है । दूसरे, बौद्धोने प्रमेयके दो भेद किए हैं—१ विशेष (स्वलक्षण), २ सामान्य (अन्यापोहरूप) । विशेष पदार्थको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष है तथा सामान्यको जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान । इस तरह विषयद्वैविध्यात्मक व्यवस्था होनेसे कोई भी प्रमाण अपनी विषयमर्यादा-को नहीं लाँघ सकता । इसलिए विजातीय प्रमाणको तो स्वनियत विषयसे भिन्न प्रमेयमें प्रवृत्ति ही नही हो सकती । रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तरके सम्प्लवकी बात, सो द्वितीय क्षणमे जब वह पदार्थ रहता ही नही है तब सम्प्लवकी चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि—'जैन तो पदार्थको एकान्तक्षणिक नही मानते और न विषयद्वैविध्यको

ही । जैनकी दृष्टिसे तो एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थ सभी प्रमाणोका विषय होता है । तब अनधिगतार्थग्राहि पदका जैनोक्त प्रमाणलक्षणमे क्या उपयोग हो सकता है ?' अकलंकदेवने इसका उत्तर दिया है कि—वस्तु अनन्तधर्मवाली है । अमुक ज्ञानके द्वारा वस्तुके अमुक अंशोका निश्चय होनेपर भी अगृहीत अंशोको जाननेके लिए प्रमाणान्तरको अवकाश रहता है । इसी तरह जिन ज्ञान अशोमे सवाद हो जानेसे निश्चय हो गया है, उन अशोमे भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेष परिच्छेद न करे पर जिन अशोमे असंवाद होनेसे अनिश्चय या विपरीतनिश्चय है उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेषपरिच्छेदक होनेके कारण अनधिगतग्राहिरूपसे प्रमाण ही हैं । प्रमाणसम्प्लवके विषयमे यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि—अकलंकदेवने प्रमाणके लक्षणमे अनधिगतार्थग्राहि पदके प्रवेश करनेके कारण अनिश्चितांशके निश्चयमे या निश्चितांशमे उपयोग-विशेष होनेपर प्रमाणसम्प्लव माना है, जब कि नैयायिकने अपने प्रमाणलक्षणमे ऐसा कोई पद नही रखा, अत उसकी दृष्टिसे वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिल जायें तो अवश्य ही प्रमाण-की प्रवृत्ति होगी, इसी तरह उपयोग विशेष हो या न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नही होगा कि उसने गृहीत को ग्रहण किया है । तात्पर्य यह कि नैयायिकको प्रत्येक अवस्थामे प्रमाणसम्प्लव स्वीकृत है ।

अकलकदेवने बौद्धमतमे प्रमाणसम्प्लवकी असभवताके कारण 'अनुमानकी अप्रवृत्ति' रूप दूषण देते हुए कहा है कि—जब आपके यहाँ यह नियम है कि प्रत्यक्षके द्वारा वस्तुके समस्त गुणोका दर्शन हो जाता है; तब प्रत्यक्षके द्वारा सर्वांशतया गृहीत वस्तुमे कोई भी अनधिगत अश नही बचा, जिसके ग्रहणके लिए अनुमान-को प्रमाण माना जाय । अनुमानके विषयभूत अन्यापोहरूप सामान्यमे विपरीतारोपकी सभावना नही है, अतः समारोपव्यवच्छेदार्थ भी अनुमान प्रमाण नही हो सकता । अकलंकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दिने अनधि-गतार्थकी जगह कुमारिलके अपूर्वार्थ पदको स्थान दिया । पर विद्यानन्द तथा उनके बाद अभयदेव, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि आचार्योंने अनधिगत या अपूर्वार्थ किसी भी पदको अपने लक्षणोमे नही रखा ।

ज्ञान का स्व-परसवेदन विचार—ज्ञानके स्वरूपसंवेदनके विषयमे निम्न वाद है—१. मीमासकका परोक्षज्ञानवाद, २ नैयायिकका ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ३ साख्यका प्रकृतिपर्यायात्मक ज्ञानका पुरुष द्वारा सचेतनवाद, ४. बौद्धका साकार-स्वसवेदनज्ञानवाद, ५. जैनका निराकार-स्वसवेदनज्ञानवाद । अकलंकदेवने इतर वादोकी समालोचना इस प्रकार की है—

परोक्षज्ञानवादनिरास—यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाय अर्थात् ज्ञान स्वय अपने स्वरूपको न जान सके, तब उस परोक्षज्ञानके द्वारा जाना गया पदार्थ हमारे प्रत्यक्षका विषय नही हो सकेगा, क्योकि आत्मान्तर-के ज्ञानसे हमारे ज्ञानमे यही स्वकीयत्व है कि वह हमारे स्वय प्रत्यक्षका विषय है, उसे हम स्वय उसीके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जब कि आत्मान्तरके ज्ञानको हम स्वय उसीके द्वारा प्रत्यक्ष नही करते । यही कारण है कि आत्मान्तरके ज्ञानके द्वारा हमे पदार्थका प्रत्यक्ष नही होता । जब ज्ञान स्वय प्रत्यक्ष नही तब उसकी सिद्धि अनुमानसे भी कैसे होगी ? क्योकि अस्वसविदित अर्थप्रकाशरूप लिंगसे अज्ञात धर्मि-ज्ञानका अविनाभाव ही गृहीत नही है । अर्थप्रकाशको स्वसविदित माननेपर तो ज्ञानकी कल्पना ही निरर्थक हो जायगी; क्योकि स्वार्थसवेदी अर्थप्रकाशसे स्व और अर्थ उभयका परिच्छेद हो सकता है । इसी तरह विषय, इन्द्रिय, मन आदि भी परोक्ष ज्ञानका अनुमान नही करा सकते, क्योकि एक तो इनके साथ ज्ञानका अविनाभाव असिद्ध है, दूसरे इनके होनेपर भी कभी-कभी ज्ञान नही होता अत ये व्यभिचारी भी हैं । यदि विषयजन्य ज्ञानात्मक सुखादि परोक्ष हैं, तब उनसे हमे अनुग्रह या परिताप नही हो सकेगा । अपने सुखादिको अनुमानग्राह्य मानकर अनुग्रहादि मानना तो अन्य आत्माके सुखसे व्यभिचारी है, अर्थात् परकीय आत्माके सुखादिका हम उसकी

प्रसाद-विषादादि चेष्टाओसे अनुमान तो कर सकते है पर उनसे अनुग्रहादि तो हमे नही होता। ज्ञानको परोक्ष माननेपर आत्मान्तरकी बुद्धिका अनुमान करना भी कठिन हो जायगा। परकीय आत्मामे बुद्धिका अनुमान व्यापार वचनादि चेष्टाओसे किया जाता है। यदि हमारा ज्ञान हमे ही अप्रत्यक्ष है, तब हम ज्ञानका व्यापारादिके साथ कार्यकारणरूप अविनाभाव अपनी आत्मामे तो ग्रहण ही नही कर सकेगे, अन्य आत्मामे तो अभी तक ज्ञानका सद्भाव ही असिद्ध है। अत अविनाभावका ग्रहण न होनेसे परकीय आत्मामे बुद्धिका अनुमान नही हो सकेगा।

नैयायिकके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका निराकरण—यदि प्रथमज्ञानका प्रत्यक्ष द्वितीयज्ञानसे माना जाय और इसी तरह अस्वसवेदी तृतीयादिज्ञानसे द्वितीयादिज्ञानोका प्रत्यक्ष, तब अनवस्था नामका दूषण ज्ञानके सद्भाव सिद्ध करनेमे बाधक होगा, क्योकि जब तक आगे-आगेके ज्ञान अपने स्वरूपका निश्चय नही करेगे तब तक वे पूर्वपूर्वज्ञानोको नही जान सकेगे। और जब प्रथमज्ञान ही अज्ञात रहेगा तब उसके द्वारा अर्थका ज्ञान असभव हो जायगा। इस तरह जगत् अर्थनिश्चयशून्य हो जायगा। एक ज्ञानके जाननेमे ही जब इस तरह अनेकानेक ज्ञानोका प्रवाह चलेगा, तब तो ज्ञानको विषयान्तरमे प्रवृत्ति ही नही हो सकेगी। यदि अप्रत्यक्षज्ञानसे अर्थबोध माना जाय, तब तो हम लोग ईश्वरज्ञानके द्वारा भी समस्त पदार्थोको जानकर सर्वज्ञ बन जायँगे, क्योकि अभी तक हम लोग सर्वज्ञके ज्ञानके द्वारा अर्थोको इसी कारणसे नही जान सकते थे कि वह हमारे स्वय अप्रत्यक्ष है।

साख्यके प्रकृतिपर्यायात्मकज्ञानवाद निरसन—यदि ज्ञान प्रकृतिका विकार होनेसे अचेतन है तथा वह पुरुषके सचेतन द्वारा अनुभूत होता है, तो फिर इस अकिञ्चित्कर ज्ञानका क्या प्रयोजन? क्योकि उसी ज्ञानस्वरूपसचेतक पुरुषानुभवके द्वारा अर्थका भी परिज्ञान हो जायगा। यदि वह सञ्चेतन स्वप्रत्यक्ष नही है; तब इस अकिञ्चित्कर ज्ञानकी सत्ता किससे सिद्ध की जायगी? ज्ञान विषयक सञ्चेतना जो कि अनित्य है, अविकारी कूटस्थनित्य पुरुषका धर्म भी कैसे हो सकती है? अत ज्ञान परिणामी पुरुषका ही धर्म है और वह स्वार्थसवेदक होता है। इसी तरह यदि अर्थसञ्चेतना स्वार्थसवेदक है, तब तद्व्यतिरिक्त अकिञ्चित्कर पुरुषके माननेका भी क्या प्रयोजन? यदि वह अस्वसवेदक है, तब पूर्वज्ञान तथा पुरुषकी सिद्धि किससे होगी?

बौद्धोके साकारज्ञानवादका निरास—साकारज्ञानवादी निराकारज्ञानवादियोको ये दूषण देते है कि—'यदि ज्ञान निराकार है, उसका किसी अर्थके साथ कोई खास सम्बन्ध नही है, तब प्रतिकर्मव्यवस्था—घटज्ञानका विषय घट ही है पट नही—कैसे होगी? तथा विषयप्रतिनियम न होनेसे सब अर्थ एक ज्ञानके या सब ज्ञानोके विषय हो जायँगे। विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञानमे कोई भेद नही रहेगा। इनमे यही भेद है कि विषयज्ञानजहाँ केवल विषयके आकार होता है तब विषयज्ञानज्ञान अर्थ और अर्थाकारज्ञान दोनोके आकारको धारण करता है। विषयकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए ज्ञानको साकार मानना आवश्यक है।' अकलकदेवने इनका समाधान करके ज्ञानको निराकार सिद्ध करते हुए लिखा है कि—विषयप्रतिनियमके लिए ज्ञानकी अपनी शक्ति ही नियामक है। जिस ज्ञानमे जिस प्रकारकी जितनी शक्ति होगी उससे उतनी और उसी प्रकारकी अर्थव्यवस्था होगी।

इस स्वशक्तिको न मानकर ज्ञानको साकार माननेपर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'घटज्ञान घटके ही आकार क्यो हुआ पटके आकार क्यो नही हुआ?' तदुत्पत्तिसे तो आकारनियम नही किया जा सकता, क्योकि जिस तरह घटज्ञान घटसे उत्पन्न हुआ है उसी तरह इन्द्रिय, आलोक आदि पदार्थोसे भी तो

उत्पन्न हुआ है, अतः उनके आकारको भी उसे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान विषयके आकारको यदि एकदेशसे ग्रहण करता है; तब तो ज्ञान सांश हो जायगा। यदि सर्वदेशसे तो ज्ञान अर्थकी तरह जड हो जायगा। समानकालीन पदार्थ किसी तरह आकार ज्ञानमें समर्पित कर सकते हैं पर अतीत और अनागत पदार्थोंके जाननेवाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमानादि ज्ञान कैसे उन अविद्यमान पदार्थोंके आकार हो सकते हैं ? हाँ, शक्तिप्रतिनियम माननेसे अतीतादि पदार्थोंका ज्ञान भलीभाँति हो सकता है। ज्ञानका अमुक अर्थको विषय करना ही अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्त होना है। अतः ज्ञानको निराकर मानना ही ठीक है। अमूर्त ज्ञानमें मूर्त अर्थका प्रतिबिम्ब भी कैसे आ सकता है ?

सौत्रान्तिकको ज्ञानके साकार होनेका 'ज्ञानमें अर्थका प्रतिबिम्ब पडता है।' यह अर्थ इष्ट था या नहीं यह तो विचारणीय है। पर विज्ञानवादी बौद्धोंने उसका खण्डन यही अर्थ मानकर किया है और उसीका प्रतिबिम्ब अकलंककृत खण्डनमें है।

इस तरह अकलंकने स्वार्थव्यवसायात्मक, अनधिगतार्थग्राहि, अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहा है। इस लक्षणके अनधिगतार्थग्राहित्व विशेषण के सिवाय बाकी अंश सभी जैन तार्किकोंने अपनाए हैं। अनधिगतार्थग्राहित्वकी परम्परा माणिक्यनन्दि तक ही चली। आ० हेमचन्द्रने स्वनिर्णयको भी प्रमाणके व्यावर्त्तक लक्षणमें नहीं रखा, क्योंकि स्वनिर्णय तो ज्ञानसामान्यका धर्म है न कि प्रमाणात्मक विशेषज्ञानका। अकलंकदेवने जहाँ अज्ञानात्मक सन्निकर्षादिकी प्रमाणताका व्यवच्छेद प्रमितिक्रियामें अव्यवहित करण न होनेके कारण किया है, वहाँ ज्ञानात्मक संशय और विपर्ययका विसंवादी होनेसे तथा निर्विकल्पज्ञानका सव्यवहारानुपयोगी होनेके कारण निरास किया है। इसी संव्यवहारानुपयोगी पदसे सुषुप्त चैतन्यके समान निर्विकल्पकदर्शन भी प्रमाणकोटिसे बहिर्भूत है इसकी सूचना मिलती है।

प्रमाणके भेद—तत्त्वार्थसूत्रके 'तत्प्रमाणे' इस सूत्रको लक्ष्यमें रखकर ही अकलंकने प्रमाणके दो मूल भेद किए हैं। यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्षके कई अवान्तर भेद मानना पड़े हैं। इसीलिए उनने 'प्रमाणे इति संग्रह' पद देकर उस भेदके आधारभूत सूत्रकी सूचना दी है। वे दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्रमें मति (इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) इन ज्ञानोंको मतिसे अनर्थान्तर अर्थात् मतिज्ञानरूप बताया है। मतिज्ञानका परोक्षत्व भी वहीं स्वीकृत है। अतः उक्तज्ञान जिनमें इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष भी शामिल है आगमिकपरम्परामें स्पष्टरूपसे परोक्ष हैं। पर लोकव्यवहार तथा दर्शनान्तरोंमें इन्द्रियानिन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षरूपसे ही प्रसिद्ध तथा व्यवहृत होते हैं। यद्यपि अकलंकदेवके पहिले आ० सिद्धसेन दिवाकरने अपने न्यायावतारमें प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणोंका कथन किया है, पर प्रमाणोंकी व्यावर्तक संख्या अभी तक अनिश्चितसी ही रही है। अकलंकदेवने सूत्रकारकी परम्पराकी रक्षा करते हुए लिखा है कि—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान शब्दयोजनासे पहिले मतिज्ञान तथा शब्दयोजनाके अनन्तर श्रुतज्ञान कहे जायँ। श्रुतज्ञान परोक्ष कहा जाय। मतिज्ञानमें अन्तर्भूत मति—इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षको लोकव्यवहारमें प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध होनेके कारण तथा वैशद्यांशका सद्भाव होनेसे संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाय। प्रत्यक्षके इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये तीन मूलभेद हों।

इस वक्तव्यका यह फलितार्थ हुआ कि प्रत्यक्षके दो भेद—१. सांव्यवहारिक, २ मुख्य। सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके दो भेद—१. इन्द्रियप्रत्यक्ष, २ अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष-अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणादिज्ञान। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष-शब्दयोजनासे पहिलेकी अवस्थावाले स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान। इस तरह अकलंकदेवने प्रमाणके भेद किए जो निर्विवाद रूपसे उत्तरकालीन ग्रन्थकारो द्वारा माने गए।

हाँ, इसमें जो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञानको शब्दयोजनाके पहिले अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्यने स्वीकार नहीं किया। उन्हें सबोंमें अर्थात् शब्दयोजनाके पूर्व और पश्चात् दोनों अवस्थाओंमें परोक्ष ही कहा है। यही कारण है कि आचार्य प्रभाचन्द्रने लघीयस्त्रयकी 'ज्ञानमाद्यं' कारिकाका यह अर्थ किया है कि—'मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान शब्दयोजनाके पहिले तथा शब्दयोजनाके बाद दोनों अवस्थाओंमें श्रुत हैं अर्थात् परोक्ष हैं।'

यद्यपि जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यकभाष्यमें प्रत्यक्षके दो भेद करके इन्द्रियानिन्द्रियज-प्रत्यक्षको सव्यवहारप्रत्यक्ष कहा है, पर उन्होंने स्मृति आदि ज्ञानोंके विषयमें कुछ खास नहीं लिखा। इन्द्रिय-प्रत्यक्षको सव्यवहारप्रत्यक्ष मान लेनेसे लोकप्रसिद्धिका निर्वाह तथा दर्शनान्तरप्रसिद्धिका समन्वय भी हो गया और सूत्रकारका अभिप्राय भी सुरक्षित रह गया।

प्रत्यक्ष—सिद्धसेनदिवाकरने प्रत्यक्षका—'अपरोक्ष रूपसे अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह परोक्षलक्षणाश्रित लक्षण किया है। यद्यपि विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेकी परम्परा बौद्धोंमें स्पष्ट है, फिर भी प्रत्यक्षके लक्षणमें अकलंकके द्वारा विशद पदके साथ ही साथ प्रयुक्त साकार और अंजसा पद खास महत्त्व रखते हैं। बौद्ध निर्विकल्पज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पकज्ञान जैनपरम्परामें प्रसिद्ध-इन्द्रिय और पदार्थके योग्यदेशावस्थितिरूप सन्निकर्षके बाद उत्पन्न होनेवाले, तथा सत्तात्मक महासामान्यका आलोचन करने-वाले अनाकार दर्शनके समान है। अकलंकदेवकी दृष्टिमें जब निर्विकल्पकदर्शन प्रमाणकोटिसे ही बहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता। इसी बातकी सूचनाके लिए उन्होंने प्रत्यक्षके लक्षणमें साकार पद रखा, जो निराकारदर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पप्रत्यक्षका निराकरणकर निश्चयात्मक विशद ज्ञानको ही प्रत्यक्षकोटिमें रखता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बाद होनेवाले 'नीलमिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पों-को भी सव्यवहारसे प्रमाण मान लेते हैं। इसका मूल यह है कि—प्रत्यक्षके विषयभूत दृश्य-स्वलक्षणमें विकल्पके विषयभूत विकल्प्यसामान्यका आरोपरूप एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करनेपर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है। अतः विकल्पज्ञान सव्यवहारसे विशद है। इसका निराकरण करनेके लिए अकलंकदेवने 'अञ्जसा' पदका उपादान करके सूचित किया कि विकल्पज्ञान सव्यवहारसे नहीं किन्तु अंजसा—परमार्थरूपसे विशद है।

अनुमान आदि ज्ञानोंसे अधिक विशेषप्रतिभासका नाम वैशद्य है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तरकी अपेक्षा करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रखता, यही अनुमानादिसे प्रत्यक्षमें अतिरेक-अधिकता है।

अकलंकदेवने इतरवादिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणोंका निराकरण इस प्रकार किया है—

बौद्ध—जिसमें शब्दसंसर्गकी योग्यता नहीं है ऐसे निर्विकल्पज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं सविकल्प-कको नहीं, क्योंकि विकल्पज्ञान अर्थके अभावमें भी उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा यद्यपि अर्थमें रहनेवाले क्षणिकत्वादि सभी धर्मोंका अनुभव हो जाता है, पर वह नीलादि अंशोंमें 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञानके द्वारा व्यवहारसाधक होता है, तथा क्षणिकत्वादि अंशोंमें यथासंभव अनुमानादि विकल्पों द्वारा। अतः निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पोंका उत्पादक होनेसे तथा अर्थस्वलक्षणसे उत्पन्न होनेके कारण प्रमाण है। विकल्पज्ञान अस्पष्ट है, क्योंकि वह परमार्थसत् स्वलक्षणसे उत्पन्न नहीं होता। सर्वप्रथम अर्थसे निर्विकल्प ही उत्पन्न होता है। निर्विकल्पकमें असाधारण क्षणिक परमाणुओंका प्रतिभास होता है। उस निर्विकल्पक अवस्थामें कोई भी विकल्प अनुभवमें नहीं आता। विकल्पज्ञान कल्पितसामान्यको विषय करनेके कारण तथा निर्विकल्पकके द्वारा गृहीत अर्थको ग्रहण करनेके कारण प्रत्यक्षाभास है।

अकलंकदेव इसका निराकरण इस तरह करते हैं—अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाणका अन्वेषण करते हैं। जब व्यवहारमें साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पज्ञानमें ही है, तब क्यों न उसे ही प्रमाण माना जाय ? निर्विकल्पकमें प्रमाणता लानेको आखिर आपको सविकल्पज्ञान तो मानना ही पड़ता है। यदि निर्विकल्पके द्वारा गृहीत नीलाद्यशको विषय करनेसे विकल्पज्ञान अप्रमाण है; तब तो अनुमान भी प्रत्यक्षके द्वारा गृहीत क्षणिकत्वादिको विषय करनेके कारण प्रमाण नहीं हो सकेगा। निर्विकल्पसे जिस प्रकार नीलाद्यशोंमें 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार क्षणिकत्वादि अशोंमें भी 'क्षणिकमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होना चाहिए। अत व्यवहारसाधक सविकल्पज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाने योग्य है। विकल्पज्ञान ही विशदरूपसे हर एक प्राणीके अनुभवमें आता है, जबकि निर्विकल्पज्ञान अनुभवसिद्ध नही है। प्रत्यक्षसे तो स्थिर स्थूल अर्थ ही अनुभवमें आते है, अत क्षणिक परमाणुका प्रतिभास कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। निर्विकल्पकको स्पष्ट होनेसे तथा सविकल्पको अस्पष्ट होनेसे विषयभेद मानना भी ठीक नही है; क्योंकि एक ही वृक्ष दूरवर्ती पुरुषको अस्पष्ट तथा समीपवर्तीको स्पष्ट दीखता है। आद्यप्रत्यक्षकालमें भी कल्पनाएँ बराबर उत्पन्न तथा विनष्ट तो होती ही रहती है, भले ही वे अनुपलक्षित रहें। निर्विकल्पसे सविकल्पककी उत्पत्ति मानना भी ठीक नही है; क्योंकि यदि अशब्द निर्विकल्पकसे सशब्द विकल्पज्ञान उत्पन्न हो; तो शब्दशून्य अर्थसे ही विकल्पकी उत्पत्ति माननेमें क्या बाधा है ? अत मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्तादि यावद्विकल्पज्ञान सवादी होनेसे प्रमाण हैं। जहाँ ये विसवादी हो वही इन्हें अप्रमाण कह सकते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें अर्थक्रियास्थिति-अर्थात् अर्थक्रियासाधकत्व रूप अविसवादका लक्षण भी नही पाया जाता, अतः उसे प्रमाण कैसे कह सकते हैं ? शब्दससृष्ट ज्ञानको विकल्प मानकर अप्रमाण कहनेसे शास्त्रोपदेशसे क्षणिकत्वादिकी सिद्धि नही हो सकेगी।

मानसप्रत्यक्ष निरास—बौद्ध इन्द्रियज्ञानके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले विशद ज्ञानको, जो कि उसी इन्द्रियज्ञानके द्वारा ग्राह्य अर्थके अनन्तरभावी द्वितीयक्षणको जानता है, मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। अकलकदेव कहते हैं कि—एक ही निश्चयात्मक अर्थसाक्षात्कारी ज्ञान अनुभवमें आता है। आपके द्वारा बताए गए मानस प्रत्यक्षका तो प्रतिभास ही नही होता। 'नीलमिदम्' यह विकल्पज्ञान भी मानसप्रत्यक्षका असाधक है; क्योंकि ऐसा विकल्पज्ञान तो इन्द्रियप्रत्यक्षसे ही उत्पन्न हो सकता है, इसके लिए मानसप्रत्यक्ष माननेकी कोई आवश्यकता नही है। बड़ी और गरम जलेबी खाते समय जितनी इन्द्रियबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं उतने ही तदनन्तरभावी अर्थको विषय करनेवाले मानस प्रत्यक्ष मानना होंगे; क्योंकि बादमें उतने ही प्रकारके विकल्पज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस तरह अनेक मानसप्रत्यक्ष माननेपर सन्तानभेद हो जानेके कारण 'जो मै खाने वाला हूँ वही मैं सूँघ रहा हूँ' यह प्रत्यभिज्ञान नही हो सकेगा। यदि समस्त रूपादिको विषय करनेवाला एक ही मानसप्रत्यक्ष माना जाय; तब तो उसीसे रूपादिका परिज्ञान भी हो ही जायगा, फिर इन्द्रियबुद्धियाँ किसलिए स्वीकार को जायँ ? धर्मोत्तरने मानसप्रत्यक्षको आगमप्रसिद्ध कहा है। अकलंकने उसकी भी समालोचना की है कि—जब वह मात्र आगमप्रसिद्ध ही है, तब उसके लक्षणका परीक्षण ही निरर्थक है।

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष खंडन—यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है तब तो स्वाप तथा मूर्च्छादि अवस्थाओंमें ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षको माननेमे क्या बाधा है ? सुषुप्ताद्यवस्थाओंमे अनुभवसिद्ध ज्ञानका निषेध तो किया ही नही जा सकता। यदि उक्त अवस्थाओमे ज्ञानका अभाव हो तो उस समय योगियोको चतु.सत्यविषयक भावनाओका भी विच्छेद मानना पड़ेगा।

बौद्धसम्मत विकल्पके लक्षणका निरास—बौद्ध 'अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना' अर्थात् जो ज्ञान शब्दससर्गके योग्य हो उस ज्ञानको कल्पना या विकल्पज्ञान कहते है। अकलंकदेवने उनके इस लक्षणका खडन

करते हुए लिखा है कि—यदि शब्दके द्वारा कहे जाने लायक ज्ञानका नाम कल्पना है तथा बिना शब्दसंश्रयके कोई भी विकल्पज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता; तब शब्द तथा शब्दांशोके स्मरणात्मक विकल्पके लिए तद्वाचक अन्य शब्दोंका प्रयोग मानना होगा, उन अन्य शब्दोके स्मरणके लिए भी तद्वाचक अन्यशब्द स्वीकार करना होंगे, इस तरह दूसरे-दूसरे शब्दोकी कल्पना करनेसे अनवस्था नामका दूषण होगा। अत जब विकल्पज्ञान ही सिद्ध नही हो पाता; तब विकल्पज्ञानरूप साधकके अभावमे निर्विकल्पक भी असिद्ध ही रह जायगा और निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप प्रमाणद्वयके अभावमें सकल प्रमेयका भी साधक प्रमाण न होनेसे अभाव ही प्राप्त होगा। यदि शब्द तथा शब्दांशोंका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक शब्दप्रयोगके बिना ही हो जाय; तब तो विकल्पका अभिलापवत्त्व लक्षण अव्याप्त हो जायगा। और जिस तरह शब्द तथा शब्दांशोका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक अन्य शब्दके प्रयोगके बिना ही हो जाता है। उसी तरह 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प भी शब्दप्रयोगकी योग्यताके बिना ही हो जायँगे, तथा चक्षुरादिबुद्धियाँ शब्दप्रयोगके बिना ही नीलपीतादि पदार्थोंका निश्चय करनेके कारण स्वत व्यवसायात्मक सिद्ध हो जायँगी। अत विकल्पका अभिलापवत्त्व लक्षण दूषित है। विकल्पका निर्दोष लक्षण है—समारोपविरोधीग्रहण या निश्चयात्मकत्व।

सांख्य—श्रोत्रादि इन्द्रियोकी वृत्तियोको प्रत्यक्षप्रमाण मानते है। अकलकदेव कहते है कि—श्रोत्रादि इन्द्रियोकी वृत्तियाँ तो तैमिरिक रोगीको होनेवाले द्विचन्द्रज्ञान तथा अन्य सशयादि ज्ञानोमे भी प्रयोजक होती हैं, पर वे सभी ज्ञान प्रमाण तो नही है।

नैयायिक—इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। इसे भी अकलकदेवने सर्वज्ञके ज्ञानमे अव्याप्त बताते हुए लिखा है कि—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंको विषय करनेवाला सर्वज्ञका ज्ञान प्रतिनियतशक्तिवाली इन्द्रियोसे तो उत्पन्न नही हो सकता, पर प्रत्यक्ष तो अवश्य है। अत सन्निकर्ष अव्याप्त है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—चार प्रकारका है—१ अवग्रह, २ ईहा, ३. अवाय, ४ धारणा। प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्तिका साधारण क्रम यह है कि—सर्वप्रथम इन्द्रिय और पदार्थका योग्यदेशस्थितिरूप सम्बन्ध (सन्निकर्ष), तत सामान्यावलोकन (निर्विकल्पक), तत अवग्रह (सविकल्पक ज्ञान), तत. ईहा (विशेष जिज्ञासा), तत अवाय (विशेष निश्चय), अन्तमे धारणा (संस्कार)।

सामान्यावलोकनसे धारणापर्यन्त ज्ञान चाहे एक ही मत्युपयोगरूप माने जायँ या पृथक्-पृथक् उपयोगरूप, दोनो अवस्थाओमे अनुस्यूत आत्माकी सत्ता तो मानना ही होगी, अन्यथा 'जो मै देखनेवाला हूँ, वही मैं अवग्रह तथा ईहादि ज्ञानवाला हूँ, वही मैं धारण करता हूँ' यह अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञान नही हो सकेगा। इसी दृष्टिसे अकलंकदेवने दर्शनकी अवग्रहरूप परिणति, अवग्रहकी ईहारूप, ईहाकी अवायरूप तथा अवायकी धारणारूप परिणति स्वीकार की है। अन्वित आत्मदृष्टिसे अभेद होनेपर भी इन ज्ञानोमें पर्यायकी दृष्टिसे तो भेद है ही।

ईहा और धारणाकी ज्ञानात्मकता—वैशेषिक ईहाको प्रयत्न नामका पृथक् गुण तथा धारणाको भावनासंस्कार नामक पृथक् गुण मानते हैं। अकलंकदेवने इन्हें एक चैतन्यात्मक उपयोगकी अवस्था होनेके कारण ज्ञानात्मक ही कहा है, ज्ञानसे पृथक् स्वतत्र गुणरूप नही माना है।

अवग्रहादिका परस्पर प्रमाण-फलभाव—ज्ञानके साधकतम अंशको प्रमाण तथा प्रमित्यंशको फल कहते हैं। प्रकृत ज्ञानोमे अवग्रह, ईहाके प्रति साधकतम होनेसे प्रमाण है, ईहा प्रमाणरूप होनेसे उसका फल है।

इसी तरह ईहाकी प्रमाणतामें अवाय फल है तथा अवायको प्रमाण माननेपर धारणा फलरूप होती है। तात्पर्य यह कि—पूर्वपूर्वज्ञान साधकतम होनेसे प्रमाण हैं तथा उत्तरोत्तरज्ञान प्रमितिरूप होनेसे फलरूप हैं। प्रमाण-फलभावका ऐसा ही क्रम वैशेषिकादि अन्य दर्शनोंमें भी पाया जाता है।

मुख्य प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना होनेवाले, अतीन्द्रिय, व्यवसायात्मक, विशद, सत्य, अव्यवहित, अलौकिक, अशेष पदार्थोंको विषय करनेवाले, अक्रम ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। वह सकल और विकलके भेदसे दो प्रकारका है। सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान अमुक पदार्थोंको विषय करनेके कारण विकलप्रत्यक्ष हैं।

सर्वज्ञता विचार—प्राचीनकालमें भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार सर्वज्ञताका सम्बन्ध भी मोक्षके ही साथ था। मुमुक्षुओंमें विचारणीय विषय तो यह था कि—मोक्षके मार्गका किसने साक्षात्कार किया है? इसी मोक्षमार्गको धर्म शब्दसे कहते हैं। अतः 'धर्मका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं?' इस विषयमें विवाद था। एक पक्षका, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमांसक हैं, कहना था कि—धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तुको हम लोग प्रत्यक्षसे नहीं जान सकते, उसमें तो वेदका ही निर्बाध अधिकार है। धर्मकी परिभाषा भी 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' करके धर्ममें चोदना-वेदको ही प्रमाण कहा है। ऐसी धर्मज्ञतामें वेदको ही अन्तिम प्रमाण माननेके कारण उन्हें पुरुषमें अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञानका अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुषोंमें राग-द्वेष-अज्ञान आदि दोषोंकी शंका होनेसे अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक वेदको पुरुषकृत न मानकर उसे अपौरुषेय स्वीकार किया। इस अपौरुषेयत्वकी मान्यतासे ही पुरुषमें सर्वज्ञताका अर्थात् प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाली धर्मज्ञताका निषेध हुआ। कुमारिल इस विषयमें स्पष्ट लिखते हैं कि—सर्वज्ञत्वके निषेधसे हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्वके निषेधसे है। धर्मके सिवाय यदि कोई पुरुष संसारके समस्त अर्थोंको जानना चाहता है, खुशीसे जाने, हमें कोई आपत्ति नहीं है। पर धर्मका ज्ञान वेदके द्वारा ही होगा, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे नहीं। इस तरह धर्मको वेदके द्वारा तथा धर्मातिरिक्त अन्य पदार्थोंको यथासंभव अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा जानकर कोई पुरुष यदि टोटलमें सर्वज्ञ बनता है, तब भी हमें कोई आपत्ति नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धोंका है। ये बुद्धको धर्म-चतुरार्यसत्यका साक्षात्कार मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्धने अपने निरास्रव शुद्धज्ञानके द्वारा दुःख, समुदय—दुःखके कारण, निरोध-मोक्ष, मार्ग—मोक्षोपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्मका प्रत्यक्षसे ही स्पष्ट साक्षात्कार किया है। अतः धर्मके विषयमें बुद्ध ही प्रमाण हैं। वे करुणा करके कषायज्वालासे झुलसे हुए संसारी जीवोंके उद्धारकी भावनासे उपदेश देते हैं। इस मतके समर्थक धर्मकीर्तिने लिखा है कि—हम 'संसारके समस्त पदार्थोंका कोई पुरुष साक्षात्कार करता है कि नहीं' इस निरर्थक बातके झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि—उसने इष्टतत्त्व-धर्मको जाना है कि नहीं? मोक्षमार्गमें अनुपयोगी संसारके कीड़े-मकोड़ों आदिकी संख्याके परिज्ञानका भला मोक्षमार्गसे क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञताका सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञताके समर्थकोंसे कहते हैं कि—भाई, मीमांसकोंके सामने सर्वज्ञता—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्तपदार्थोंका प्रत्यक्षसे ज्ञान—पर जोर क्यों देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञतामें है कि धर्मके विषयमें धर्मके साक्षात्कर्त्ताको प्रमाण माना जाय या वेदको? उस धर्ममार्गके साक्षात्कारके लिए धर्मकीर्तिने आत्मा-ज्ञानप्रवाहसे दोषोंका अत्यन्तोच्छेद माना और उसके साधन नैरात्म्यभावना आदि बताए हैं। तात्पर्य यह कि—जहाँ कुमारिलने प्रत्यक्षसे धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही अव्याहत अधिकार सिद्ध किया है, वहाँ धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्म-मोक्षमार्गका साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाली धर्मज्ञताका जोरोंसे समर्थन किया है।

धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्तने सुगतको धर्मज्ञके साथ ही साथ सर्वज्ञत्रिकालवर्ती यावत् पदार्थों-का ज्ञाता भी सिद्ध किया है। और लिखा है कि—सुगतकी तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं यदि वे अपनी साधक अवस्थामें रागादिविनिर्मुक्तिकी तरह सर्वज्ञताके लिए भी यत्न करें। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे चाहें तो थोड़ेसे प्रयत्नसे तो सर्वज्ञ बन सकते हैं। शान्तरक्षित भी इसी तरह धर्मज्ञता साधनके साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और इस सर्वज्ञताको वे शक्तिरूपसे सभी वीतरागोंमे मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहें तब जिस किसी भी वस्तुको अनायास ही जान सकते हैं।

योग तथा वैशेषिकके सिद्धान्तमे यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियोकी तरह एक विभूति है जो सभी वीतरागोंके लिए अवश्य प्राप्तव्य नही है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन तार्किकोने प्रारम्भसे ही त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयोके प्रत्यक्षदर्शन रूप अर्थमे सर्वज्ञता मानी है और उसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्कयुगके पहिले 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'—जो एक आत्मा-को जानता है वह सर्व पदार्थोंको जानता है इत्यादि वाक्य जो सर्वज्ञताके मुख्य साधक नही है, पाए जाते हैं; पर तर्कयुगमें इनका जैसा चाहिए वैसा उपयोग नही हुआ। समन्तभद्र आदि आचार्योंने सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व हेतुसे सिद्ध किया है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है, जब दोष और आव-रणका समूल क्षय हो जायगा तब ज्ञान अनायास ही अपने पूर्णरूपमे प्रकट होकर सम्पूर्ण अर्थका साक्षात्कार करेगा। बौद्धोकी तरह किसी भी जैनतर्कग्रन्थमे धर्मज्ञता और सर्वज्ञताका विभाजनकर उनमे गौण-मुख्य-भाव नही बताया गया है। सभी जैनतार्किकोने एकस्वरसे त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंके पूर्णपरिज्ञान अर्थमें सर्वज्ञताका समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्णसर्वज्ञताके गर्भमे ही निहित मान ली गई है।

अकलंकदेवने सर्वज्ञता तथा मुख्यप्रत्यक्षके समर्थनके साथ ही साथ धर्मकीर्तिके उन विचारोका खूब समालोचन किया है जिनमे बुद्धको करुणावान्, शास्ता, तायि, तथा चातुरार्यसत्यका उपदेष्टा बताया है। साथ ही सर्वज्ञाभावके विशिष्ट समर्थक कुमारिलकी युक्तियोका खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि—आत्मा-में सर्वपदार्थोंके जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। ससारी अवस्थामे मल-ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण उसका पूर्ण प्रकाश नही हो पाता पर जब चैतन्यके प्रतिबन्धक कर्मका पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त अर्थोंको जाननेमे क्या बाधा है ? यदि अतीन्द्रियपदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो ज्योतिर्ग्रहोकी ग्रहण आदि भविष्यद्दशाओंका जो अनागत होनेसे अतीन्द्रिय हैं, उपदेश कैसे होगा ? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश यथार्थ देखा जाता है, अत यह मानना ही चाहिए कि उसका यथार्थ उपदेश साक्षाद्द्रष्टा माने बिना नही हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भाविराज्यलाभादिका यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी भाविपदार्थोंमें संवादक तथा स्पष्ट है। जैसे प्रश्न या ईक्षणिकावि-विद्या अतीन्द्रिय पदार्थोंका स्पष्ट भान करा देती है उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान स्पष्ट भासक होता है। इस तरह साधक प्रमाणोको बताकर उन्होने जो एक खास हेतुका प्रयोग किया है, वह है—'सुनिश्चितासम्भव-द्बाधकप्रमाणत्व' अर्थात् किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए सबसे बडा प्रमाण यही हो सकता है कि उसकी सत्तामें कोई बाधक प्रमाण नही मिले। जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुखका साधक प्रमाण यही है कि—मेरे सुखी होनेमें कोई बाधक प्रमाण नही है। चूँकि सर्वज्ञकी सत्तामे कोई भी बाधक प्रमाण नही है, अतः उसकी निर्बाध सत्ता होनी चाहिए। इस हेतुके समर्थनार्थ उन्होने विरोधियोके द्वारा कल्पित बाधकोंका निराकरण इस प्रकार किया है—

प्र०—'अर्हन्त सर्वज्ञ नही है, क्योकि वह वक्ता है, पुरुष है, जैसे कोई भी गलीमे घूमनेवाला साधारण मनुष्य' यह अनुमान बाधक है।

उ०—वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वका कोई विरोध नहीं है, वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। ज्ञानकी बढ़तीमें वचनोंका ह्रास नहीं होता।

प्र०—वक्तृत्व विवक्षासे सम्बन्ध रखता है, अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञमें वचनोंकी संभावना ही कैसे है? शब्दोच्चारणकी इच्छा तो मोहकी पर्याय है।

उ०—विवक्षाके साथ वक्तृत्वका कोई अविनाभाव नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्रविवक्षा रखते हैं, पर शास्त्रका व्याख्यान नहीं कर सकते। सुषुप्तादि अवस्थाओंमें वचन देखे जाते हैं पर विवक्षा नहीं है। अतः वचनप्रवृत्तिमें चैतन्य तथा इन्द्रियोंकी पटुता कारण है। लेकिन उनका सर्वज्ञताके साथ कोई विरोध नहीं है। अथवा, वचन विवक्षाहेतुक मान भी लिए जायँ पर सत्य और हितकारक वचनकी प्रवृत्ति करानेवाली विवक्षा दोषवाली कैसे हो सकती है? इसी तरह निर्दोष वीतराग पुरुषत्व सर्वज्ञताके साथ कोई विरोध नहीं रखता। अतः इन व्यभिचारी हेतुओंसे साध्यसिद्धि नहीं हो सकती; अन्यथा 'जैमिनिको यथार्थ वेदज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है एवं पुरुष है' इस अनुमानसे जैमिनिकी वेदार्थज्ञताका भी निषेध भलीभाँति किया जा सकता है।

प्र०—आजकल हमें किसी भी प्रमाणसे सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुपलम्भ होनेसे उसका अभाव ही मानना चाहिए।

उ०—पूर्वोक्त अनुमानोंसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है, अतः अनुपलम्भ तो नहीं कहा जा सकता। यह अनुपलम्भ आपको है, या संसारके समस्त जीवोंको? आपको तो इस समय हमारे चित्तमें आनेवाले विचारोंकी भी अनुपलब्धि है पर इससे उनका अभाव तो सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है। 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात तो सबके ज्ञानोंका ज्ञान होनेपर ही सिद्ध हो सकती है। और यदि किसी पुरुषको समस्त प्राणियोंके ज्ञानका ज्ञान हो सके; तब तो वही पुरुष सर्वज्ञ हो जायगा। यदि समस्तजीवोंके ज्ञानका ज्ञान नहीं हो सके, तब तो 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात असिद्ध ही रह जायगी।

प्र०—'सर्वज्ञता आगमोक्तपदार्थोंका यथार्थज्ञान एवं अभ्याससे होगी तथा आगम सर्वज्ञके द्वारा कहा जायगा' इस तरह सर्वज्ञ और आगम दोनों ही अन्योन्याश्रित—एक-दूसरेके आश्रित होनेसे असिद्ध हैं।

उ०—सर्वज्ञ आगमका कारक है। प्रकृत सर्वज्ञका ज्ञान पूर्वसर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमके अर्थके आचरणसे उत्पन्न होता है, पूर्व आगम तत्पूर्वसर्वज्ञके द्वारा कहा गया है। इस तरह बीजांकुरकी तरह सर्वज्ञ और आगमकी परम्परा अनादि मानी जाती है। अनादिपरम्परामें इतरेतराश्रय दोषका विचार अव्यवहार्य है।

प्र०—जब आजकल पुरुष प्रायः रागादि दोषसे दूषित तथा अज्ञानी देखे जाते हैं, तब अतीतकालमें भी किसी अतीन्द्रियार्थद्रष्टाकी संभावना नहीं की जा सकती और न भविष्यत्कालमें ही? क्योंकि पुरुषजातिकी शक्तियाँ तीनों कालोंमें प्रायः समान ही रहती हैं; वे अपनी अमुक मर्यादा नहीं लाँघ सकतीं।

उ०—यदि पुरुषातिशयको हम नहीं जान सकते तो इससे उसका अभाव नहीं होता। अन्यथा आजकल कोई वेदका पूर्णज्ञ नहीं देखा जाता अतः अतीतकालमें जैमिनिको भी उसका यथार्थ ज्ञान नहीं था यह कहना चाहिये। बुद्धिमें तारतम्य होनेसे उसके प्रकर्षकी संभावना तो है ही। जैसे मलिन सुवर्ण अग्निके तापसे क्रमशः पूर्ण निर्मल हो जाता है, उसी तरह सम्यग्दर्शनादिके अभ्याससे आत्मा भी पूर्णरूपसे निर्मल हो सकता है।

प्र०—जब सर्वज्ञ रागी आत्माके राग तथा दु खीके दु खका साक्षात्कार करता है तब तो वह स्वयं रागी तथा दु खी हो जायगा ।

उ०—दु.ख या राग को जाननेमात्रसे कोई दु खी या रागी नही होता । राग तो आत्माका स्वय तद्रूपसे परिणमन करनेपर होता है । क्या कोई श्रोत्रियब्राह्मण मदिराके रसका ज्ञान करनेमात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है ? रागके कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञसे अत्यन्त उच्छिन्न हो गए है, अत वे राग या दु.खको जाननेमात्रसे रागी या दु खी नही हो सकते ।

प्र०—जब सर्वज्ञके साधक और बाधक दोनो प्रकारके प्रमाण नही मिलते, तो उसकी सत्ता सदिग्ध हो कहना चाहिए ।

उ०—साधक प्रमाण पहिले बता आए हैं तथा बाधकोका परिहार भी किया जा चुका है तब सदेह क्यों हो ? सर्वज्ञके अभावका साधन तो सर्वज्ञ हुए बिना किया ही नही जा सकता । जब हम त्रिकाल-त्रिलोक-वर्ती यावत्पुरुषोंका असर्वज्ञरूपसे दर्शन कर सकेंगे तभी असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है । पर ऐसी असर्वज्ञता सिद्ध करनेवाला व्यक्ति स्वय अनायास ही सर्वज्ञ बन जायगा ।

धर्मकीर्तिने बुद्धको करुणावान् तथा हेयोपादेय तत्त्वका उपदेष्टा कहा है । अकलक कहते हैं कि—जब आप समस्तधर्मोंके आधारभूत आत्माको ही नही मानते तब किसपर करुणा की जायगी तथा कौन करुणा करेगा ? कौन उसका अनुष्ठान करेगा ? ज्ञानक्षण तो परस्पर भिन्न हैं, अत भावना किसी अन्यज्ञानक्षणको होगी तो मुक्ति किसी दूसरे ज्ञानक्षणको । दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य तो तब ठीक हो सकते हैं जब दु खादिके अनुभव करनेवाले आत्माको स्वीकार किया जाय । इस तरह जीव जिसे ससार होता है तथा जो मुक्त होता है, अजीव जिसके सम्बन्धसे दु ख होता है, इन दो आधारभूत तत्त्वोको माने बिना तत्त्वसख्याकी पूर्णता नही हो सकती । दु खको जैन लोग बन्ध तथा समुदयको आस्रव शब्दसे कहते हैं । निरोधको मोक्ष तथा मार्गको सवर और निर्जरा शब्दसे कहते है । अत चार आर्यसत्यके साथ जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वोको मानना ही चाहिय । जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वोके अनादिकालीन सम्बन्धसे ही दु ख आदिकी सृष्टि होती है । बुद्धने हिंसाका भी उपदेश दिया है अत मालूम होता है कि वे यथार्थदर्शी नहो थे । इत्यादि । सद् आत्माको हेय कहना, निरोधको जो असद्रूप है उपादेय कहना, उसके कारणोका उपदेश देना तथा असत्की प्राप्तिके लिए यत्न करना ये सब बाते उनकी असर्वज्ञताका दिग्दर्शन करानेके लिए पर्याप्त है । अकलकके द्वारा बुद्धके प्रति किए गए अकरुणावत्त्व आदि आक्षेपोके लिए उस समय-की साम्प्रदायिक परिस्थिति ही जवाबदेह है, क्योकि कुमारिल और धर्मकीर्ति आदिने जैनोके ऊपर भी ऐसे ही कल्पित आक्षेप किए हैं ।

परोक्ष—अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थसूत्रकारके द्वारा निर्दिष्ट परोक्षज्ञानोमे मतिज्ञान मति स्मृत्यादि ज्ञानो-को नामयोजनाके पहिले साव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहकर नाम योजना होनेपर उन्ही ज्ञानोको श्रुतव्यपदेश दिया है और श्रुतको अस्पष्ट होनेसे परोक्ष कहा है । अर्थात् परोक्षज्ञानके स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध तथा श्रुत-आगम ये पाँच भेद हुए । अकलकदेवने राजवार्तिकमे अनुमान आदि ज्ञानोको स्वप्रतिपत्तिकालमे (नामयो-जनासे पहिले) अनक्षरश्रुत तथा परप्रतिपत्तिकालमे अक्षरश्रुत कहा है । लघीयस्त्रयमे मति (इन्द्रियानिन्द्रियज-प्रत्यक्ष) को नामयोजनाके पहिले मतिज्ञान एव साव्यवहारिकप्रत्यक्ष तथा शब्दयोजनाके बाद उसे ही श्रुत कहना उनके समन्वय करनेके उत्कट यत्नकी ओर ध्यान खीचता है, और इससे यह भी मालूम होता है कि लघीय-स्त्रय बनाते समय वे अपनी योजनाको दृढ़ नही कर सके थे, क्योकि उनने लघीयस्त्रयमे मति, स्मृति आदिको

अवस्थाविशेषमें मतिज्ञान लिखनेपर भी न्यायविनिश्चयमें स्मरणादि ज्ञानोंके ऐकान्तिक श्रुतत्व-परोक्षत्वका विधान किया है।

स्मृति—स्मरणको कोई वादी गृहीतग्राही होनेसे तथा कोई अर्थसे उत्पन्न न होनेके कारण अप्रमाण कहते आए हैं। पर अकलंकदेव कहते हैं कि—यद्यपि स्मरण गृहीतग्राही है फिर भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण ही होना चाहिये। वह अविसंवादी प्रत्यभिज्ञानका जनक भी है। स्मृति समारोपका व्यवच्छेद करनेवाली है, अत. उसे प्रमाण माननेमें कोई विरोध नही होना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान—दर्शन और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले, एकत्व सादृश्य वैसदृश्य प्रतियोगि तथा दूरत्वादिरूपसे संकलन करनेवाले ज्ञानका नाम प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान यद्यपि स्मरण और प्रत्यक्षसे उत्पन्न होता है फिर भी इन दोनोंके द्वारा अगृहीत पूर्वोत्तरपर्यायवर्ती एकत्वको विषय करनेके कारण प्रमाण है। अविसंवादित्व भी प्रत्यभिज्ञानमे पाया जाता है जो प्रमाणताका खास प्रयोजक है।

तर्क—प्रत्यक्ष—साध्यसाधनसद्भावज्ञान और अनुपलम्भ—साध्याभाव-साधनाभावज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला सर्वोपसंहाररूपसे साध्यसाधनके सम्बन्धको ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क है। संक्षेपमे अविनाभावरूप व्याप्तिको ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क कहलाता है। जितना भी धूम है वह कालत्रय तथा त्रिलोकमे अग्निसे ही उत्पन्न होता है, अग्निके अभावमे कही भी कभी भी नही हो सकता ऐसा सर्वोपसंहारी अविनाभाव प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे गृहीत नही होता। अत अगृहीतग्राही तथा अविसंवादक तर्कको प्रमाणभूत मानना ही चाहिये। सन्निहितपदार्थको विषय करनेवाला अविचारक प्रत्यक्ष इतने विस्तृत क्षेत्रवाले अविनाभावको नही जान सकता। भले ही वह एक अमुकस्थानमें साध्यसाधनके सम्बन्धको जान सके, पर अविचारक होनेसे उसकी साध्यसाधनसम्बन्धविषयक विचारमे सामर्थ्य ही नही है। अनुमान तो व्याप्तिग्रहणके बाद ही उत्पन्न होता है, अत. प्रकृत अनुमान स्वय अपनी व्याप्तिके ग्रहण करनेका प्रयत्न अन्योन्याश्रयदोष आनेके कारण नही कर सकता; क्योकि जब तक व्याप्ति गृहीत न हो जाय तब तक अनुमानोत्पत्ति नही हो सकती और जब तक अनुमान उत्पन्न न हो जाय तब तक व्याप्तिका ग्रहण असभव है। प्रकृत अनुमानकी व्याप्ति किसी दूसरे अनुमानके द्वारा ग्रहण करनेपर तो अनवस्था दूषण स्पष्ट ही है। इस तरह तर्कको स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही उचित है।

जिनमे अविनाभाव नही है उनमे अविनाभावकी सिद्धि करनेवाला ज्ञान कुतर्क है। जैसे विवक्षासे वचनका अविनाभाव बतलाना; क्योंकि विवक्षाके अभावमे भी सुषुप्तादि अवस्थामे वचनप्रयोग देखा जाता है। शास्त्रविवक्षा रहनेपर भी मन्दबुद्धियोके शास्त्रव्याख्यानरूप वचन नही देखे जाते।

अनुमान—अविनाभावी साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। नैयायिक अनुमितिके करणको अनुमान कहते हैं। उनके मतसे परामर्शज्ञान अनुमानरूप होता है। 'धूम अग्निसे व्याप्त है तथा वह धूम पर्वतमे है' इस एकज्ञानको परामर्शज्ञान कहते हैं। बौद्ध त्रिरूपलिंगसे अनुमेयके ज्ञानको अनुमान मानते हैं।

साधनका स्वरूप तथा अविनाभावग्रहणप्रकार—साध्यके साथ जिसकी अन्यथानुपपत्ति-अविनाभाव निश्चित हो उसे साधन कहते हैं। अविनाभाव (बिना-साध्यके अभावमे अ-नही भाव-होना) साध्यके अभावमे साधनके न होनेको कहते हैं। यह अविनाभाव प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे उत्पन्न होनेवाले तर्क नामके प्रमाणके द्वारा गृहीत होता है। बौद्ध पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपवाले साधनको सत्साधन कहते हैं। वे सामान्यसे अविनाभावको ही साधनका स्वरूप मानते हैं। त्रिरूप तो अविनाभावके परिचायकमात्र हैं। वे तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धोसे अविनाभावका ग्रहण मानते हैं। उनके मतसे हेतुके तीन भेद हैं—

१. स्वभावहेतु, २. कार्यहेतु, ३. अनुपलब्धिहेतु। स्वभाव और कार्यहेतु विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धिहेतु निषेधसाधक। स्वभावहेतुमें तादात्म्यसम्बन्ध, कार्यहेतुमे तदुत्पत्तिसम्बन्ध तथा अनुपलब्धिहेतुमें यथासंभव दोनों सम्बन्ध अविनाभावके प्रयोजक होते हैं।

अकलंकदेव इसका निरास करते हैं कि—जहाँ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धसे हेतुमे गमकत्व देखा जाता है वहाँ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वह अविनाभाव तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिप्रयुक्त हो, पर बहुतसे ऐसे भी हेतु हैं जिनका साध्यके साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नही है फिर भी अविनाभावके कारण वे नियत साध्यका ज्ञान कराते है। जैसे कृतिकोदयसे भविष्यत् शकटोदयका अनुमान। यहाँ कृतिकोदय-का शकटोदयके साथ न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही। हेतुओंके तीन भेद मानना भी ठीक नही है; क्योकि स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धिके सिवाय कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतु भी स्वनियत-साध्यका अनुमान कराते हैं।

कारणहेतु—वृक्षसे छायाका ज्ञान, चन्द्रमासे जलमे पड़नेवाले उसीके प्रतिबिम्बका अबाधित अनुमान होता है। यहाँ वृक्ष या चन्द्र न तो छाया या जलप्रतिबिम्बित चन्द्रके कार्य है और न स्वभाव ही। हाँ, निमित्तकारण अवश्य है। अत. कारणलिंगसे भी कार्यका अनुमान मानना चाहिये। जिस कारणकी सामर्थ्य अप्रतिबद्ध हो तथा जिसमे अन्य कारणोकी विकलता न हो वह कारण अवश्य ही कार्योत्पादक होता है।

पूर्वचरहेतु—कृतिका नक्षत्रका उदय देखकर एक मुहूर्तके बाद रोहिणी नक्षत्रके उदयका अनुमान देखा जाता है। अब विचार कीजिये कि—कृतिकाका उदय जिससे रोहिणीके उदयका अविसवादी अनुमान होता ह, किस हेतुमे शामिल किया जाय? कृतिकोदय तथा रोहिण्युदयमे कालभेद होनेसे तादात्म्य सम्बन्ध नही हो सकता, अत स्वभावहेतुमे अन्तर्भाव नही होगा। तथा एक दूसरेके प्रति कार्यकारणभाव नही है अत. कार्य या कारणहेतुमे उसका अन्तर्भाव नही किया जा सकता। अत पूर्वचरहेतु अतिरिक्त ही मानना चाहिये। इसी तरह आज सूर्योदय देखकर कल सूर्योदय होगा, चन्द्रग्रहण होगा इत्यादि भविष्यद्विषयोका अनुमान अमुक अविनाभावी पूर्वचर हेतुओसे होता है।

उत्तरचरहेतु—कृतिकाका उदय देखकर एक मुहूर्त पहिले भरणी नक्षत्रका उदय हो चुका यह अनु-मान होता है। यह उत्तरचर हेतु पूर्वोक्त किसी हेतुमे अन्तर्भूत नही होता।

सहचरहेतु—चन्द्रमाके इस भागको देखकर उसके उस भागका अनुमान, तराजूके एक पलडेको नीचा देखकर दूसरे पलडेके ऊँचे होनेका अनुमान, रस चखकर रूपका अनुमान तथा सास्ना देखकर गौका अनुमान देखा जाता है। यहाँ रसादि सहचर हेतु हैं, क्योकि इनका अपने साध्योके साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति आदि कोई सम्बन्ध नहीं होनेसे ये कार्य आदि हेतुओंमें अन्तर्भूत नही हैं। हाँ, अविनाभावमात्र होनेसे ये हेतु गमक होते हैं।

अनुपलब्धि—बौद्ध दृश्यानुपलब्धिसे ही अभावकी सिद्धि मानते है। दृश्यसे उनका तात्पर्य ऐसी वस्तु-से है कि—जो वस्तु सूक्ष्म, अन्तरित या दूरवर्ती न हो तथा जो प्रत्यक्षका विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धिके समस्त कारण मिलनेपर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिये। सूक्ष्मादि पदार्थोंमें हम लोगोके प्रत्यक्ष आदि की निवृत्ति होनेपर भी उनका अभाव तो नही होता। प्रमाणसे प्रमेयका सद्भाव जाना जा सकता है पर प्रमाणकी अप्रवृत्तिसे प्रमेयका अभाव नही माना जा सकता। अत विप्रकृष्ट पदार्थोंमें अनुपलब्धि संशयहेतु होनेसे अभावकी साधिका नही हो सकती।

अकलंकदेव इसका निरास करते हुए लिखते हैं कि—दृश्यत्वका अर्थ प्रत्यक्षविषयत्व ही न होना

चाहिये किन्तु प्रमाणविषयत्व करना चाहिये। इससे यह तात्पर्य होगा कि—जो वस्तु जिस प्रमाणका विषय होकर यदि उसी प्रमाणसे उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध होगा। देखो—मृत शरीरमें स्वभावसे अतीन्द्रिय परचैतन्यका अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं। वहाँ परचैतन्यमें प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नहीं है; क्योंकि परचैतन्य हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं होता। वचन उष्णताविशेष या आकारविशेष आदिके द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, अत उन्हीं वचनादिके अभावसे चैतन्यका अभाव सिद्ध होना चाहिये। अदृश्यानुपलब्धि यदि सशय हेतु मानी जाय तो अपनी अदृश्य आत्माकी सत्ता भी कैसे सिद्ध हो सकेगी? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमानके विषय हैं; यदि हम उनकी अनुमानसे उपलब्धि न कर सके तब उनका अभाव सिद्ध कर सकते हैं। हाँ, जिन पिशाचादि पदार्थोंको हम किसी भी प्रमाणसे नहीं जान सकते उनका अभाव हम अनुपलब्धिसे नहीं कर सकेंगे। तात्पर्य यह कि—जिस वस्तुको हम जिन-जिन प्रमाणोंसे जानते हैं उस वस्तुका उन-उन प्रमाणोंकी निवृत्तिसे अभाव सिद्ध होगा।

अकलंककृत हेतुके भेद—अकलकदेवने सद्भाव साधक छ. उपलब्धियोंका वर्णन किया है—

१–स्वभावोपलब्धि—आत्मा है, उपलब्ध होनेसे।

२–स्वभावकार्योपलब्धि—आत्मा थी, स्मरण होनेसे।

३–स्वभावकारणोपलब्धि—आत्मा होगी, सत् होनेसे।

४–सहचरोपलब्धि—आत्मा है, स्पर्शविशेष (शरीरमें उष्णता विशेष) पाया जानेसे।

५–सहचरकार्योपलब्धि—कायव्यापार हो रहा है, वचनप्रवृत्ति होनेसे।

६–सहचरकारणोपलब्धि—आत्मा सप्रदेशी है, सावयवशरीरके प्रमाण होनेसे।

असद्व्यवहारसाधनके लिए छ. अनुपलब्धियाँ बतायी हैं—

१–स्वभावानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, अनुपलब्ध होनेसे।

२–कार्यानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कार्य नहीं पाया जाता।

३–कारणानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कारण नहीं पाया जाता।

४–स्वभावसहचरानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, रूपविशेष (शरीरमें आकारविशेष) नहीं पाया जाता।

५–सहचरकार्यानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, व्यापार, आकारविशेष तथा वचनविशेषकी अनुपलब्धि होनेसे।

६–सहचरकारणानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, उसके द्वारा आहार ग्रहण करना नहीं देखा जाता। सजीव शरीर ही स्वयं आहार ग्रहण करता है।

सद्व्यवहारके निषेधके लिए ३ उपलब्धियाँ बतायी हैं—

१–स्वभावविरुद्धोपलब्धि—पदार्थ नित्य नहीं है, परिणामी होनेसे।

२–कार्यविरुद्धोपलब्धि—लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, विसवादी होनेसे। (?)

३–कारणविरुद्धोपलब्धि—इस व्यक्तिको परीक्षाका फल प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसने अभावैकान्तका ग्रहण किया है।

इस तरह सद्भावसाधक ९ उपलब्धियाँ तथा अभावसाधक छ अनुपलब्धियोंको कण्ठोक्त कहकर इनकी और अन्य अनुपलब्धियोंके भेदप्रभेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव किया है। साथ ही यह भी बताया है कि—धर्मकीर्तिके कथनानुसार अनुपलब्धियाँ केवल अभाव साधक ही नहीं हैं, किन्तु भावसाधक भी होती हैं। इसी संकेतके अनुसार माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द तथा वादिदेवसूरिने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनोंको उभयसाधक मानकर उनके अनेकों भेदप्रभेद किये हैं।

त्रैरूप्य निरास—बौद्ध हेतुके तीन रूप मानता है। प्रत्येक सत्य हेतुमे निम्न त्रिरूपता अवश्य ही पाई जानी चाहिए, अन्यथा वह सद्धेतु नही हो सकता। १ पक्षधर्मत्व—हेतुका पक्षमें रहना। २. सपक्ष-सत्त्व—हेतुका समस्त सपक्षोमे या कुछ सपक्षोमे रहना। ३. विपक्षासत्त्व—हेतुका विपक्षमे बिलकुल नहीं पाया जाना। अकलकदेव इनमेसे तीसरे विपक्षासत्त्व रूपको ही सद्धेतुत्वका नियामक मानते हैं। उनकी दृष्टि-से हेतुका पक्षमे रहना तथा सपक्षसत्त्व कोई आवश्यक नही है। वे लिखते हैं कि—'शकटोदय होगा, कृति-कोदय होनेसे' 'भरणीका उदय हो चुका, कृतिकाका उदय होनेसे' इन अनुमानोमे कृतिकोदय हेतु पक्षभूत शकट तथा भरणिमें नही पाया जाता। इसी तरह 'अद्वैतवादीके प्रमाण हैं, अन्यथा इष्टसाधन और अनिष्ट-दूषण नही हो सकेगा।' इस स्थलमे जब इस अनुमानके पहिले अद्वैतवादियोके यहाँ प्रमाण नामक धर्मीकी सत्ता ही सिद्ध नही है तब पक्षधर्मत्व कैसे बन सकता है? पर उक्त हेतुओकी स्वसाध्यके साथ अन्यथाऽनु-पपत्ति (अन्यथा-साध्यके अभावमे-विपक्षमे अनुपपत्ति-असत्त्व) देखी जाती है, अत वे सद्धेतु हैं।

धर्मकीर्तिके टीकाकार कर्णकगोमिने शकटोदयादिका अनुमान करानेवाले कृतिकोदयादि वैयधिकरण हेतुओमे काल या आकाशको धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटानेकी युक्तिका उपयोग किया है। अकलकदेवने इसका भी निराकरण करते हुए कहा है कि—यदि काल आदिको धर्मी बनाकर कृतिकोदयमे पक्षधर्मत्व घटाया जायगा तब तो पृथिवीरूप पक्षकी अपेक्षासे महानसगतधूमहेतुसे समुद्रमे भी अग्नि सिद्ध करनेमे हेतु अपक्षधर्म नही होगा।

सपक्षसत्त्वको अनावश्यक बताते हुए अकलकदेव लिखते हैं कि—पक्षमे साध्य और साधनकी व्याप्ति-रूप अन्तर्व्याप्तिके रहनेपर ही हेतु सर्वत्र गमक होता है। पक्षसे बाहिर-सपक्षमे व्याप्ति ग्रहण करने रूप बहिर्व्याप्तिसे कोई लाभ नही। क्योकि अन्तर्व्याप्तिके असिद्ध रहनेपर बहिर्व्याप्ति तो असाधक ही है। जहाँ अन्तर्व्याप्ति गृहीत है वहाँ बहिर्व्याप्तिके ग्रहण करनेपर भी कुछ खास लाभ नही है। अत बहिर्व्याप्तिका प्रयोजक सपक्षसत्त्वरूप भी अनावश्यक है। इस तरह अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका व्यावर्त्तक रूप मानते हुए अकलकदेवने स्पष्ट लिखा है कि—जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रिरूपता माननेसे क्या लाभ? जहाँ अन्यथा-नुपपत्ति नही है वहाँ त्रिरूपता मानकर भी गमकता नही आ सकती। 'अन्यथानुपपन्नत्वं' यह कारिका तत्त्व-संग्रहकारके उल्लेखानुसार पात्रस्वामिकी मालूम होती है। यही कारिका अकलंकने न्यायविनिश्चयके त्रिलक्षण-खण्डनप्रकरणमे लिखी है।

हेत्वाभास—नैयायिक हेतुके पाँच रूप मानते है, अत वे एक-एक रूपके अभावमे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास मानते है। बौद्धने हेतुको त्रिरूप माना है, अतः उनके मतसे पक्षधर्मत्वके अभावसे असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्त्वके अभावसे विरुद्ध हेत्वाभास तथा विपक्षासत्त्वके अभावसे अनैकान्तिक हेत्वाभास, इस तरह तीन हेत्वाभास होते है। अकलकदेवने जब अन्यथा-नुपपन्नत्वको ही हेतुका एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावत इनके मतसे अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमे एक ही हेत्वाभास माना जायगा, जिसे उन्होने स्वय लिखा है कि—वस्तुत एक ही असिद्ध हेत्वाभास है। अन्यथानुपपत्तिका अभाव कई प्रकारसे होता है अत विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्करके भेदसे चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१-असिद्ध—सर्वथात्ययात्—सर्वथा पक्षमे न पाया जानेवाला, अथवा सर्वथा जिसका साध्यसे अविना-भाव न हो। जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होनेसे।

२-विरुद्ध—अन्यथाभावात्—साध्याभावमें पाया जानेवाला, जैसे सब क्षणिक हैं, सत् होनेसे। सत्त्व-हेतु सर्वथाक्षणिकत्वके विपक्षभूत कथञ्चित्क्षणिकत्वमे पाया जाता है।

३–अनेकान्तिक—विपक्षमें भी पाया जानेवाला। जैसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त वक्तृत्वादिहेतु। यह निश्चितानैकान्तिक, सन्दिग्धनैकान्तिक आदिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है।

४–अकिञ्चित्कर—सिद्ध साध्यमें प्रयुक्त हेतु। अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने त्रिलक्षण हेतु हैं उन सबको भी अकिञ्चित्कर समझना चाहिए।

दिग्नागाचार्यने विरुद्धाव्यभिचारी नामका भी एक हेत्वाभास माना है। परस्पर विरोधी दो हेतुओंका एक धर्मीमें प्रयोग होनेपर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है। यह संशयहेतु होनेसे हेत्वाभास है। धर्मकीर्तिने इसे हेत्वाभास नहीं माना है। वे लिखते हैं कि—प्रमाणसिद्ध त्रैरूप्यवाले हेतुके प्रयोग होनेपर विरोधी हेतुको अवसर ही नहीं मिल सकता। अतः इसकी आगमाश्रितहेतुके विषयमें प्रवृत्ति मानकर आचार्यके वचनकी संगति लगा लेनी चाहिए; क्योंकि शास्त्र अतीन्द्रियार्थविषयमें प्रवृत्ति करता है। शास्त्रकार एक ही वस्तुको परस्पर विरोधी रूपसे कहते हैं, अतः आगमाश्रित हेतुओंमें ही यह संभव हो सकता है। अकलंकदेवने इस हेत्वाभासका विरुद्धहेत्वाभासमें अन्तर्भाव किया है। जो हेतु विरुद्धका अव्यभिचारी-विपक्षमें भी रहनेवाला होगा वह विरुद्ध हेत्वाभासकी ही सीमामें आयगा।

अर्चटकृत हेतुबिन्दुविवरणमें एक षड्लक्षण हेतु माननेवाले मतका कथन है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्व ये छह लक्षण हैं। इनमें ज्ञातत्व नामके रूपका निर्देश होनेसे इस वादीके मतसे 'अज्ञात' नामका भी हेत्वाभास फलित होता है। अकलंकदेवने इस 'अज्ञात' हेत्वाभासका अकिञ्चित्कर हेत्वाभासमें अंतर्भाव किया है। नैयायिकोक्त पाँच हेत्वाभासोंमें कालात्ययापदिष्टका अकिञ्चित्कर हेत्वाभासमें, तथा प्रकरणसमका जो दिग्नागके विरुद्धाव्यभिचारी जैसा है, विरुद्धहेत्वाभासमें अन्तर्भाव समझना चाहिए। इस तरह अकलंकदेवने सामान्य रूपसे एक हेत्वाभास कहकर भी विशेषरूपसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर इन चार हेत्वाभासोंका कथन किया है।

अकलंकदेवका अभिप्राय अकिञ्चित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुदृढ़ नहीं मालूम होता। क्योंकि वे लिखते हैं कि—सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्करके विस्तार हैं। फिर लिखते हैं कि—अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण हैं उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिए। इससे मालूम होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंकी अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे। इसके स्वतन्त्र हेत्वाभास होनेपर उनका भार नहीं था। यही कारण है कि आ० माणिक्यनन्दिने अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके लक्षण और भेद कर चुकनेपर भी लिखा है कि—इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका विचार हेत्वाभासके लक्षणकालमें ही करना चाहिए। शास्त्रार्थके समय तो इसका कार्य पक्षदोषसे ही किया जा सकता है। आचार्य विद्यानन्दने भी सामान्यसे एक हेत्वाभास कहकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिकको उसीका रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके ऊपर भार नहीं दिया। वादिदेवसूरि आदि उत्तरकालीन आचार्योंने असिद्धादि तीन ही हेत्वाभास गिनाए हैं।

साध्य—आ० दिग्नागने पक्षके लक्षणमें ईप्सित तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध ये दो विशेषण दिए हैं। धर्मकीर्ति ईप्सितकी जगह इष्ट तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्धके स्थानमें प्रत्यक्षाद्यनिराकृत शब्दका प्रयोग करते हैं। अकलंकदेवने अपने साध्यके लक्षणमें शक्य (अबाधित) अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध इन तीन विशेषणोंका प्रयोग किया है। असिद्ध विशेषण तो 'साध्य' शब्दके अर्थसे ही फलित होता है। साध्यका अर्थ है—सिद्ध करने योग्य, अर्थात् असिद्ध। शक्य और अभिप्रेत विशेषण बौद्धाचार्योंके द्वारा किए गए साध्यके लक्षणसे आए हैं।

साध्यका यह लक्षण निर्विवादरूपसे माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। सिद्ध, अनिष्ट तथा बाधितको साध्याभास कहा है।

दृष्टान्त—जहाँ साध्य और साधनके सम्बन्धका ज्ञान होता है उस प्रदेशका नाम दृष्टान्त है। साध्य-विकल तथा साधनविकलादिक दृष्टान्ताभास हैं। इस तरह दृष्टान्त और दृष्टान्ताभासका लक्षण करनेपर भी अकलंकदेवने दृष्टान्तको अनुमानका अवयव स्वीकार नहीं किया। उनने लिखा है कि—सभी अनुमानोंमें दृष्टान्त होना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं है, दृष्टान्तके बिना भी साध्यकी सिद्धि देखी जाती है, जैसे बौद्धके मतसे समस्त पदार्थोंको क्षणिकत्व सिद्ध करनेमें सत्त्व हेतुके प्रयोगमें कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः दृष्टान्त अनुमानका नियत अवयव नहीं है। इसीलिये उत्तरकालीन कुमारनन्दि आदि आचार्योंने प्रतिज्ञा और हेतु इन दोको ही अनुमानका अवयव माना है। हाँ, मन्दबुद्धि शिष्योंकी दृष्टिसे दृष्टान्त, उपनय तथा निगमनादि भी उपयोगी हो सकते है।

धर्मी—बौद्ध अनुमानका विषय कल्पित सामान्य मानते हैं, क्षणिक स्वलक्षण नहीं। आ० दिग्नागने कहा है कि—समस्त अनुमान-अनुमेयव्यवहार बुद्धिकल्पित धर्मधर्मिन्यायसे चलता है, किसी धर्मीकी वास्तविक सत्ता नहीं है। अकलंकदेव कहते हैं कि—जिस तरह प्रत्यक्ष परपदार्थ तथा स्वरूपको विषय करता है उसी तरह अनुमान भी वस्तुभूत अर्थको ही विषय करता है। हाँ, यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष उस वस्तुको स्फुट तथा विशेषाकार रूपसे ग्रहण करे और अनुमान उसे अस्फुट एवं सामान्याकार रूपसे। पर इतने मात्रसे एक वस्तुविषयक और दूसरा अवस्तुको विषय करनेवाला नहीं कहा जा सकता। जिस विकल्पज्ञानसे आप धर्मधर्मि-भावकी कल्पना करते हैं, वह विकल्पज्ञान निर्विकल्पकसे तो सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि निर्विकल्पक—निश्चय-शून्यज्ञानसे किसी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। विकल्पान्तरसे सिद्धि माननेमें अनवस्था दूषण आता है। अतः विकल्पको स्व और अर्थ दोनों ही अंशोंमें प्रमाण मानना चाहिए। जब विकल्प अर्थांशमें प्रमाण हो जायगा; तब ही उसके द्वारा विषय किए गए धर्मी आदि भी सत्य एवं परमार्थ सिद्ध होंगे। यदि धर्मी ही मिथ्या है; तब तो उसमें रहनेवाले साध्य-साधन भी मिथ्या एवं कल्पित ठहरेंगे। इस तरह परम्परासे भी अनुमानके द्वारा अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अतः धर्मीको प्रमाणसिद्ध मानना चाहिए केवल विकल्प-सिद्ध नहीं। अकलंकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दिने इसी आशयसे परीक्षामुखसूत्रमें धर्मीके तीन भेद किए हैं—१. प्रमाणसिद्ध, २ विकल्पसिद्ध, ३ उभयसिद्ध।

अनुमानके भेद—न्यायसूत्रमें अनुमानके तीन भेद किए हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। साख्यतत्त्वकौमुदीमें अनुमानके दो भेद पाये जाते हैं—एक वीत और दूसरा अवीत। वीत अनुमान के दो भेद—१ पूर्ववत्, २. सामान्यतोदृष्ट। सांख्यके इन भेदोंकी परम्परा वस्तुतः प्राचीन है। वैशेषिकने अनुमानके कार्यलिंगज, कारणलिंगज, संयोगिलिंगज और समवायिलिंगज, इस तरह पांच भेद किए हैं। अकलंकदेव तो सामान्यरूपसे एक ही अन्यथानुपपत्तिलिंगज अनुमान मानते हैं। वे इन अपूर्ण भेदोंकी परिगणनाको महत्त्व नहीं देते।

वाद—नैयायिक कथाके तीन भेद मानते हैं—१ वाद, २ जल्प, ३ वितण्डा। वीतरागकथाका नाम वाद है तथा विजिगीषुकथाका नाम जल्प और वितण्डा है। पक्ष-प्रतिपक्ष तो दोनों कथाओंमें ग्रहण किए ही जाते हैं। हाँ, इतना अन्तर है कि—वादमें स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्कके द्वारा होते हैं, जब कि जल्प और वितण्डामें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरोंमें भी किए जा सकते हैं। नैया-यिकने छलादिके प्रयोगको असदुत्तर माना है और साधारण अवस्थामें उनके प्रयोगका निषेध भी किया है। वादका प्रयोजन तत्त्वनिर्णय है। जल्प और वितण्डाका प्रयोजन है—तत्त्वसंरक्षण, जो छलजातिरूप

असदुपायोंसे भी किया जा सकता है। जैसे खेतकी रक्षाके लिए काटोंकी बारी लगाई जाती है उसी तरह तत्त्वसंरक्षणके लिए काँटेके समान छलादिके प्रयोगका अवलम्बन अमुक अवस्थामें ठीक है। आ० धर्मकीर्तिने अपने वादन्यायमें छलादिके प्रयोगको बिलकुल अन्याय्य बताया है। उसी तरह अकलंकदेव अहिंसाकी दृष्टिसे किसी भी हालतमें छलादि रूप असदुत्तरके प्रयोगको उचित नहीं समझते। छलादिको अन्याय्य मान लेनेसे जल्प और वादमें कोई भेद ही नहीं रह जाता। अतः वे वादको ही एकमात्र कथा रूपसे स्वीकार करते हैं। उनने वादका सक्षेपमें 'समर्थवचनको वाद कहते हैं' यह लक्षण करके कहा है कि वादि-प्रतिवादियोंका मध्यस्थोंके सामने स्वपक्षसाधन-परपक्षदूषणवचनको वाद कहना चाहिए। इस तरह वाद और जल्पको एक मान लेनेपर वे यथेच्छ कहीं वाद शब्दका प्रयोग करते है तो कहीं जल्पका। वितण्डाको जिसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र प्रतिवादीके पक्षका खण्डन ही खण्डन करता है, वादाभास कहकर त्याज्य बताया है।

जय-पराजयव्यवस्था—नैयायिकने इसके लिए प्रतिज्ञाहानि आदि २२ निग्रहस्थान माने हैं जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञाकी हानि कर दे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद-वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहनेपर भी प्रतिवादी और परिषद न समझ पावे, हेतुदृष्टान्तादिका क्रम भंग हो जाय, अवयव न्यून कहे जायँ, अधिक अवश्य कहे जायँ, पुनरुक्त हो, प्रतिवादी वादीके द्वारा कहे गए पक्षका अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, वादीके द्वारा दिए गए दूषणको अर्धस्वीकारकर खण्डन करे, निग्रहार्हके लिए निग्रहस्थान उद्भावन न कर सके, अनिग्रहार्हको निग्रहस्थान बता देवे, सिद्धान्तविरुद्ध बोल जावे, हेत्वाभासोंका प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगा। सामान्यसे नैयायिकोंने विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थान माना है। विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या असम्बद्ध कहना। अप्रतिपत्ति—पक्षस्थापन नहीं करना, स्थापितका प्रतिषेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्धका उद्धार नहीं करना। प्रतिज्ञाहान्यादि २२ तो इन्हीं दोनोंके ही विशेष प्रकार है।

धर्मकीर्तिने इनका खण्डन करते हुए लिखा है कि—जय-पराजयव्यवस्थाको इस तरह गुटालेमें नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादीका मात्र इसलिए निग्रह होना कि वह कुछ अधिक बोल गया या अमुक कायदेका पालन नहीं कर सका, सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन, ये दो ही निग्रहस्थान मानना चाहिये। वादीका कर्तव्य है कि वह सच्चा और पूर्ण साधन बोले। प्रतिवादीका कार्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधनके अंग नहीं है ऐसे वचन कहता है तो उसका असाधनागवचन होनेसे पराजय होना चाहिये। प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषोंका उद्भावन न कर सके या जो दोष नहीं हैं उनका उद्भावन करे तो उसका पराजय होना चाहिए। इस तरह सामान्यलक्षण करनेपर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपलेमें पड़ गए। उन्होंने असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावनके विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक दृष्टान्तमेंसे केवल एक दृष्टान्तसे ही जब साध्यकी सिद्धि संभव है तो दोनों दृष्टान्तोंका प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन होगा। त्रिरूपवचन ही साधनाङ्ग है, उसका कथन न करना असाधनाङ्ग है। प्रतिज्ञा निगमनादि साधनके अंग नहीं है, उनका कथन असाधनाङ्ग है। यह सब लिखकर अन्तमें उनने यह भी सूचन किया है कि—स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष निराकरण जयलाभके लिए आवश्यक है।

अकलंकदेव असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावनके झगडेको भी पसन्द नहीं करते। किसको साधनाङ्ग माना जाय किसको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं, यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थका विषय हो

जाता है। अत. स्वपक्षसिद्धिसे ही जयव्यवस्था माननी चाहिए। स्वपक्षसिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक बोल जाय तो कुछ हानि नही। प्रतिवादी यदि विरुद्ध हेत्वाभासका उद्भावन करता है तो फिर उसे स्वतन्त्र रूपसे पक्षसिद्धिकी भी आवश्यकता नही है; क्योकि वादीके हेतुको विरुद्ध कहनेसे प्रतिवादीका पक्ष तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। हाँ, असिद्ध आदि हेत्वाभासोके उद्भावन करनेपर प्रतिवादीको अपना पक्ष भी सिद्ध करना चाहिए। स्वपक्षसिद्धि नही करनेवाला शास्त्रार्थके नियमोके अनुसार चलनेपर भी जयका भागी नही हो सकता।

जाति—मिथ्या उत्तरोको जाति कहते है। जैसे धर्मकीर्तिका अनेकान्तके रहस्यको न समझकर यह कहना कि—"यदि सभी वस्तुएँ द्रव्यदृष्टिसे एक हैं तो द्रव्यदृष्टिसे तो दही और ऊँट भी एक हो गया। अत दही खानेवाला ऊँटको भी क्यो नही खाता ?" साधर्म्यादिसम जातियोको अकलकदेव कोई खास महत्त्व नही देते और न उनकी आवश्यकता ही समझते है। आ० दिग्नागकी तरह अकलकदेवने भी असदुत्तरोको अनन्त कहकर जातियोंकी २४ सख्या भी अपूर्ण सूचित की है।

श्रुत—समस्त एकान्त प्रवादोके अगोचर, प्रमाणसिद्ध, परमात्माके द्वारा उपदिष्ट प्रवचन श्रुत है। श्रुत द्वीप, देश, नदी आदि व्यवहित अर्थोमे प्रमाण है। हेतुवादरूप आगम युक्तिसिद्ध है। उसमे प्रमाणता होनेसे शेष अहेतुवाद आगम भी उसी तरह प्रमाण है। आगमकी प्रमाणताका प्रयोजक आप्तोक्तत्व नामका गुण होता है।

शब्दका अर्थवाचकत्व—बौद्ध शब्दका वाच्य अर्थ नही मानते। वे कहते है कि शब्दकी प्रवृत्ति संकेतसे होती है। स्वलक्षण क्षणक्षयी तथा अनन्त है। जब अनन्त स्वलक्षणोका ग्रहण भी सभव नही है तब संकेत कैसे ग्रहण किया जायगा ? ग्रहण करनेपर भी व्यवहार काल तक उसकी अनुवृत्ति न होनेसे व्यवहार कैसे होगा ? शब्द अतीतानागतकालीन अर्थोमे भी प्रयुक्त होते है, पर वे अर्थ विद्यमान तो नही है। अतः शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नही है। यदि शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध हो तो शब्दबुद्धिका प्रतिभास इन्द्रियबुद्धिकी तरह स्पष्ट होना चाहिए। शब्दबुद्धिमे यदि अर्थ कारण नही है, तब वह उसका विषय कैसे हो सकेगा ? क्योकि जो ज्ञानमे कारण नही है वह ज्ञानका विषय भी नही हो सकता। यदि अर्थ शब्दज्ञानमें कारण हो, तो फिर कोई भी शब्द विसवादी या अप्रमाण नही होगा, अतीतानागत अर्थोमे शब्दकी प्रवृत्ति ही रुक जायगी। सकेत भी शब्द और अर्थ उभयका ज्ञान होनेपर ही हो सकता है। एक प्रत्यक्षसे तो उभयका ज्ञान नही हो सकता; क्योकि श्रावणप्रत्यक्ष अर्थको विषय नही करता तथा चाक्षुषादिप्रत्यक्ष शब्दको विषय नही करते। स्मृति तो निर्विषय एव गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण ही नही है। इसलिए शब्द अर्थका वाचक न होकर विवक्षाका सूचन करता है। शब्दका वाच्य अर्थ न होकर कल्पित—बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोहरूप सामान्य है। इसलिए शब्दसे होनेवाले ज्ञानमे सत्यार्थताका कोई नियम नही है।

अकलकदेव इसका समालोचन करते हुए कहते है कि–पदार्थमे कुछ धर्म सदृश तथा कुछ धर्म विसदृश होते है। सदृशधर्मोकी अपेक्षासे शब्दका अर्थमे सकेत होता है। जिस शब्दमे सकेत ग्रहण किया जाता है भले ही वह व्यवहारकाल तक नही पहुँचे पर तत्सदृश दूसरे शब्दसे अर्थबोध होनेमे क्या बाधा है ? एक घटशब्दका एक घट अर्थमे संकेत ग्रहण करनेके बाद तत्सदृश यावद् घटोमे तत्सदृश यावद् घटशब्दोकी प्रवृत्ति होती है। केवल सामान्यमे सकेत नही होता, क्योकि केवल सामान्यमे संकेत ग्रहण करनेसे विशेषमें प्रवृत्ति रूप फल नही हो सकेगा। न केवल विशेषमे; अनन्त विशेषोमें सकेतग्रहणकी शक्ति अस्मदादि पामर जनोमे नही है। अत. सामान्यविशेषात्मक–सदृशधर्मविशिष्ट शब्द और अर्थव्यक्तिमे संकेत ग्रहण किया जाता है। संकेत ग्रहणके अनन्तर

शब्दार्थका स्मरण करके व्यवहार होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षबुद्धि अतीतार्थको जानकर भी प्रमाण है उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है। प्रत्यक्षबुद्धिमें अर्थ कारण है, अतः वह एक क्षण पहिले रहता है ज्ञानकालमें नहीं। ज्ञानकालमें तो वह क्षणिक होनेसे नष्ट हो जाता है। जब अविसंवादप्रयुक्त प्रमाणता स्मृतिमें है ही, तब शब्द सुनकर स्मृतिके द्वारा अर्थबोध करके तथा अर्थ देखकर स्मृतिके द्वारा तद्वाचक शब्दका स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलना ही है। यह अवश्य है कि–सामान्यविशेषात्मक अर्थको विषय करनेपर भी अक्षज्ञान स्पष्ट तथा शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे एक ही वृक्षको विषय करनेवाला दूरवर्ती पुरुषका ज्ञान अस्पष्ट तथा समीपवर्तीका स्पष्ट होता है। स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेदप्रयुक्त नहीं हैं, किन्तु आवरण-क्षयोपशमादिसामग्रीप्रयुक्त है। जिस प्रकार अविनाभावसम्बन्धसे अर्थका बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण है उसी तरह वाच्यवाचकसम्बन्धसे अर्थका ज्ञान करानेवाला शब्दबोध भी ही प्रमाण होना चाहिए। यदि शब्द बाह्यार्थमें प्रमाण न हो, तब बौद्ध स्वयं शब्दोंसे अदृष्ट नदी, देश, पर्वतादिका अविसंवादि ज्ञान कैसे करते हैं? यदि कोई एकाध शब्द अर्थकी गैरमौजूदगीमें प्रयुक्त होनेसे व्यभिचारी देखा गया तो मात्र इतनेसे सभी शब्दोंको व्यभिचारी या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान कहीं-कहीं भ्रान्त देखे जानेपर भी अभ्रान्त या अव्यभिचारि विशेषणोंसे युक्त होकर प्रमाण हैं उसी तरह आभ्रान्त शब्दको बाह्यार्थमें प्रमाण मानना चाहिए। यदि हेतुवादरूप शब्दके द्वारा अर्थका निश्चय न हो; तो साधन और साधनाभासकी व्यवस्था कैसे होगी? इसी तरह आप्तके वचनके द्वारा अर्थबोध न हो तो आप्त और अनाप्तकी व्यवस्था कैसे की जायगी? यदि पुरुषोंके अभिप्रायोंमें विचित्रता होनेके कारण शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिए जायँ, तो सुगतकी सर्वज्ञता या सर्वशास्तृतामें कैसे विश्वास किया जा सकेगा? वहाँ भी अभिप्रायवैचित्र्यकी शंका उठ सकती है। यदि अर्थव्यभिचार देखा जानेके कारण शब्द अर्थमें प्रमाण नहीं है; तो विवक्षामें भी तो व्यभिचार देखा जाता है, अन्य शब्दकी विवक्षामें अन्य शब्दका प्रयोग उपलब्ध होता है। इस तरह तो शिंशपात्व हेतु वृक्षाविसंवादी होनेपर कहीं-कहीं शिंशपाकी लताकी संभावनासे, अग्नि ईंधनसे पैदा होती है पर कहीं मणि आदिसे उत्पन्न होनेके कारण सभी स्वभावहेतु तथा कार्यहेतु व्यभिचारी हो जायँगे। अतः जैसे यहाँ सुविवेचित व्याप्य और कार्य, व्यापक और कारणका उल्लंघन नहीं कर सकते उसी तरह सुविवेचित शब्द अर्थका व्यभिचारी नहीं हो सकता। अतः अविसंवादि श्रुतको अर्थमें प्रमाण मानना चाहिये। शब्दका विवक्षाके साथ कोई अविनाभाव नहीं है, क्योंकि शब्द, वर्ण या पद कहीं अवांछित अर्थको भी कहते है तथा कहीं वांछितको भी नहीं कहते। यदि शब्द विवक्षामात्रके वाचक हो तो शब्दोंमें सत्यत्व और मिथ्यात्वकी व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि दोनों ही प्रकारके शब्द अपनी-अपनी विवक्षाका अनुमान कराते हैं। शब्दमें सत्यत्वव्यवस्था अर्थप्राप्तिके कारण होती है। विवक्षा रहते हुए भी मन्दबुद्धि शास्त्रव्याख्यानरूप शब्दका प्रयोग नहीं कर पाते तथा सुषुप्तादि अवस्थामें इच्छाके न रहनेपर भी शब्दप्रयोग देखा जाता है। अतः शब्दोंमें सत्यासत्यत्वव्यवस्थाके लिए उन्हें अर्थका वाचक मानना ही होगा।

श्रुतके भेद—श्रुतके तीन भेद हैं—१ प्रत्यक्षनिमित्तक, २ अनुमाननिमित्तक, ३ आगमनिमित्तक। प्रत्यक्षनिमित्तक—परोपदेशकी सहायता लेकर प्रत्यक्षसे होनेवाला। अनुमाननिमित्तक—परोपदेशके बिना केवल अनुमानसे होनेवाला। आगमनिमित्तक—मात्र परोपदेशसे होनेवाला। जैनतर्कवार्तिककारने परोपदेशज तथा लिंगनिमित्तक रूपसे द्विविध श्रुत स्वीकार करके अकलंकके इस मतकी समालोचना की है।

शब्दका स्वरूप—शब्द पुद्गलकी पर्याय है। वह स्कन्ध रूप है, जैसे छाया और आतप। शब्द मीमांसकोंकी तरह नित्य नहीं हो सकता। शब्द यदि नित्य और व्यापक हो तो व्यञ्जक वायुओंसे एक जगह

उसकी अभिव्यक्ति होनेपर सभी जगह सभी वर्णोंकी अभिव्यक्ति होनेसे कोलाहल मच जायगा। संकेतके लिए भी शब्दको नित्य मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि अनित्य होनेपर भी सदृशशब्दमें संकेत होकर व्यवहार हो सकता है। 'स एवायं शब्दः' यह प्रत्यभिज्ञान शब्दके नित्य होनेके कारण नहीं होता किंतु तत्सदृश शब्दमें एकत्वाध्यवसाय करनेके कारण होता है। अतः यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है। यदि इस तरह भ्रान्त प्रत्यभिज्ञानसे वस्तुओंमें एकत्व सिद्ध हो; तो बिजली आदि पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जायँगे। शब्दकी उपादानभूत शब्दवर्गणाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनकी प्रत्यक्षसे उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी तरह शब्दकी उत्तरपर्याय भी सूक्ष्म होनेसे अनुपलब्ध रहती है। क्रमसे उच्चरित शब्दोंमें ही पद, वाक्य आदि संज्ञाएँ होती हैं। यद्यपि शब्द सभी दिशाओंमें उत्पन्न होते हैं पर उनमेंसे जो शब्द श्रोतके साथ सन्निकृष्ट होते हैं वही श्रोत्रके द्वारा सुने जाते हैं, अन्य नहीं। श्रोत्रको प्राप्यकारी कहकर अकलंकदेवने बौद्धके 'श्रोत्रको भी चक्षुरिन्द्रियकी तरह अप्राप्यकारी माननेके' सिद्धान्तका खण्डन किया है। इसतरह शब्द ताल्वादिके संयोगसे उत्पन्न होता है और वह श्रावणमध्यस्वभाव है। इसीमें इच्छानुसार संकेत करनेसे अर्थबोध होता है।

वेदापौरुषेयत्व विचार—मीमांसक वेदको अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि धर्ममें वेदवाक्य ही प्रमाण हो सकते हैं। चूँकि प्रत्यक्षसे अतीन्द्रिय पुण्यपापादि पदार्थोंके ज्ञानकी सम्भावना नहीं है, अतः अतीन्द्रिय धर्मादिका प्रतिपादक वेद किसी पुरुषकी कृति नहीं हो सकता। आज तक उसके कर्त्ताका स्मरण भी तो नहीं है। यदि कर्त्ता होता तो अवश्य ही उसका स्मरण होना चाहिए था। अतः वेद अपौरुषेय तथा अनादि है। अकलंकदेवने श्रुतको परमात्मप्रतिपादित बताते हुए कहा है कि—जब आत्मा ज्ञानरूप है तथा उसके प्रतिबन्धक कर्म हट सकते हैं, तब उसे अतीन्द्रियादि पदार्थोंके जाननेमें क्या बाधा है? यदि ज्ञानमें अतिशय असम्भव ही हो, तो जैमिनि आदि को वेदार्थका पूर्ण परिज्ञान कैसे सम्भव होगा? सर्वत्र प्रमाणता कारणगुणोंके ही आधीन देखी जाती है। शब्दमें प्रमाणताका लानेवाला वक्ताका गुण है। यदि वेद अपौरुषेय है, तब तो उसकी प्रमाणता हो सन्दिग्ध रहेगी। जब अतीन्द्रियदर्शी एक भी पुरुष नहीं है, तब वेदका यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है? परम्परा तो मिथ्यार्थकी भी चल सकती है। यदि समस्तार्थज्ञानमें शंका की जाती है, तब चंचल-इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें कैसे विश्वास किया जा सकता है? यदि अपौरुषेय वेद अपने अर्थका स्वतः विवरण करे, तब तो वेदके अंगभूत आयुर्वेद आदिके परिज्ञानार्थ मनुष्योंका पठन-पाठनरूप प्रयत्न निष्फल ही हो जायगा। अतः सामग्रीके गुण-दोषसे ही प्रमाणता और अप्रमाणताका सम्बन्ध मानना चाहिए। शब्दकी प्रमाणताके लिए वक्ताका सम्यग्ज्ञान ही एकमात्र अंकुश हो सकता है। जब वेदका कोई अतीन्द्रियार्थद्रष्टा नियामक नहीं है, तब उसके अर्थमें अन्धपरम्परा ही हुई। आज तक अनादिकाल बीत चुका, ऐसा अनाप्त वेद नष्ट क्यों नहीं हुआ? अनादि माननेसे या कर्त्ताका स्मरण न होनेसे ही तो कोई प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि लोकमें बहुतसे ऐसे म्लेच्छादिव्यवहार या गाली-गलौज आदि पाए जाते हैं, जिनके कर्त्ताका आज तक किसीको स्मरण नहीं है पर इतने मात्रसे वे प्रमाण तो नहीं माने जा सकते। इसलिए वेदके अर्थमें यथार्थताका नियामक अतीन्द्रियार्थदर्शी पुरुषविशेष ही मानना चाहिए। कर्त्ताका अस्मरणरूप हेतु जीर्ण खण्डहर, कुआ आदि चीजोंमें, जिनके कर्त्ताका किसीको स्मरण नहीं है, अनैकान्तिक है। अतः सर्वज्ञप्रतिपादित आगमको ही अतीन्द्रियधर्म आदिमें भी प्रमाण मानना चाहिए। सर्वज्ञके माने बिना वेदकी प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती; क्योंकि अपौरुषेय वेदका व्याख्याता यदि रागी, द्वेषी और अज्ञानी पुरुष होगा तो उसके द्वारा किया गया व्याख्यान प्रमाणकोटिमें नहीं आ सकेगा। व्याख्याभेद होनेपर अन्तिम निर्णय तो धर्मादिके साक्षात्कर्ता का ही माना जा सकता है।

परपरिकल्पित प्रमाणान्तर्भाव—नैयायिक प्रसिद्ध अर्थके सादृश्यसे साध्यके साधनको—संज्ञासंज्ञि-

सम्बन्धज्ञानको उपमान कहते हैं। जैसे किसी नागरिकने यह सुना कि 'गौके सदृश गवय होता है।' यह जंगलमें गया। वहाँ गवयको देखकर उसमे गोसादृश्यका ज्ञान करके गवयसंज्ञाका सम्बन्ध जोडता है और गवयशब्दका व्यवहार करता है। इसी संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञानको उपमान प्रमाण कहते है। अकलंकदेव इस ज्ञानका यथासम्भव अनुमान तथा प्रत्यभिज्ञानमें अंतर्भाव करते हुए कहते हैं कि—यदि प्रसिद्धार्थका सादृश्य अविनाभावी रूपसे निर्णीत हैं तब तो वह लिंगात्मक हो जायगा और उससे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमान कहलायगा। यदि अविनाभाव निर्णीत नही है, तो दर्शन और स्मरणपूर्वक सादृश्यात्मक सकलन होनेके कारण यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमे ही अन्तर्भूत होगा। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमे अन्तर्भूत होनेपर भी यदि इस ज्ञानको स्वतंत्ररूपसे उपमान नामक प्रमाण मानोगे, तो भैंसको देखकर 'यह गवय नही हैं' या 'यह गौसे विलक्षण हैं' इस वैलक्षण्यज्ञानको किस प्रमाणरूप मानोगे ? 'शाखादिवाला वृक्ष होता है' इस शब्दको सुनकर वैसे ही शाखादिमान् अर्थको देखकर 'वृक्षोऽयम्' इस ज्ञानको किस नामसे पुकारोगे ? इसी तरह 'यह इससे पूर्वमे है, यह इससे पश्चिममे है', 'यह छोटा है, यह बडा है', 'यह दूर है, यह पास है', 'यह ऊँचा है, यह नीचा है', 'ये दो है, यह एक है' इत्यादि सभी ज्ञान उपमानसे पृथक् प्रमाण मानने होंगे; क्योकि उक्त ज्ञानोमें प्रसिद्धार्थसादृश्यकी तो गध भी नही है। अत जिनमे दर्शन और स्मरण कारण हो उन सभी सकलनरूप ज्ञानोको प्रत्यभिज्ञान कहना चाहिए, भले ही वह सकलन सादृश्य वैसदृश्य या एकत्वादि किसी भी विषयक क्यो न हो। उक्त सभी ज्ञान हितप्राप्ति, अहितपरिहार तथा उपेक्षाज्ञानरूप फलके उत्पादक होनेसे अप्रमाण तो कहे ही नही जा सकते।

मीमासक जिस साधनका साध्यके साथ अविनाभाव पहिले किसी सपक्षमे गृहीत नही है उस साधनसे तत्कालमे ही अविनाभाव ग्रहण करके होनेवाले साध्यज्ञानको अर्थापत्ति कहते है। इससे शक्ति आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका भी ज्ञान किया जाता है। अकलंकदेवने अर्थापत्तिको अनुमानमे अन्तर्भूत किया है; क्योकि अविनाभावी एक अर्थसे दूसरे अर्थका ज्ञान अनुमान तथा अर्थापत्ति दोनोमे समान है। सपक्षमे व्याप्तिका गृहीत होना या न होना प्रमाणान्तरताका प्रयोजक नही हो सकता। सम्भव नामका प्रमाण यदि अविनाभावप्रयुक्त है; तो उसका अनुमानमे अन्तर्भाव होगा। यदि अविनाभावप्रयुक्त नही है, तब तो वह प्रमाण ही नही हो सकता। ऐतिह्य नामका प्रमाण यदि आप्तोपदेशमूलक है, तो आगमनामक प्रमाणमे अन्तर्भूत होगा। यदि आप्तमूलत्व संदिग्ध है; तो वह प्रमाणकोटिमे नही आ सकता। अभाव नामका प्रमाण यथासम्भव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमानादि प्रमाणोमे अन्तर्भूत समझना चाहिए। इस तरह परपरिकल्पित प्रमाणोका अतर्भाव होनेपर प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही मूल प्रमाण हो सकते हैं।

प्रमाणाभास—अविसवादि ज्ञान प्रमाण है, अत विसंवादि ज्ञान प्रमाणाभास होगा। यहाँ अकलंकदेवकी एक दृष्टि विशेषरूपसे विचारणीय है। वे किसी ज्ञानको सर्वथा विसवादि नही कहते। वे कहते है कि—जो ज्ञान जिस अंशमे अविसवादि हो वह उस अंशमे प्रमाण तथा विसंवादि-अशमे अप्रमाण होगा। हम किसी भी ज्ञानको एकान्तसे प्रमाणाभास नही कह सकते। जैसे तिमिररोगीका द्विचन्द्रज्ञान चन्द्राशमे अविसंवादी है तथा द्वित्वसंख्यामें विसंवादी है, अत. इसे चन्द्राशमे प्रत्यक्ष तथा द्वित्वाशमे प्रत्यक्षाभास कहना चाहिए। इस तरह प्रमाण और प्रमाणाभासकी सकीर्ण स्थिति रहनेपर भी जहाँ अविसंवादकी प्रकर्षता हो वहाँ प्रमाण व्यपदेश तथा विसंवादके प्रकर्षमे प्रमाणाभास व्यपदेश करना चाहिए। जैसे कस्तूरीमे रूप, रस आदि सभी गुण मौजूद हैं, पर गन्धकी प्रकर्षता होनेके कारण उसमें 'गन्धद्रव्य' व्यपदेश होता है।

ज्ञानके कारणोंका विचार—बौद्धके मतसे चार प्रत्ययोसे चित्त और चैत्तोकी उत्पत्ति होती है—

१. समनन्तरप्रत्यय, २ अधिपतिप्रत्यय, ३ आलम्बनप्रत्यय, ४. सहकारिप्रत्यय। ज्ञानकी उत्पत्तिमे पूर्वज्ञान समनन्तरकारण होता है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ अधिपतिप्रत्यय होती है, पदार्थ आलम्बनप्रत्यय तथा आलोक आदि अन्य कारण सहकारिप्रत्यय होने है। इस तरह बौद्धकी दृष्टिसे ज्ञानके प्रति अर्थ तथा आलोक दोनो ही कारण हैं। उन्होने स्पष्ट लिखा है कि—'नाकारण विषय' अर्थात् जो ज्ञानका कारण नही होगा वह ज्ञानका विषय भी नही होगा। नैयायिकादि इन्द्रियार्थसन्निकर्षको ज्ञानमे कारण मानते हैं अत उनके मतसे सन्निकर्ष-घटकतया अर्थ भी ज्ञानका कारण है ही।

अर्थकारणतानिरास—ज्ञान अर्थका कार्य नही हो सकता; क्योकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि 'यह अमुक अर्थ है'। वह यह नही जानता कि 'मैं इस अर्थसे उत्पन्न हुआ हूँ'। यदि ज्ञान यह जानने लगे कि 'मैं इस अर्थसे पैदा हुआ हूँ', तब तो विवादको स्थान ही नही रहता। जब उत्पन्न ज्ञान अर्थके परिच्छेदमें व्यापार करता है तब वह अपने अन्य इन्द्रियादि उत्पादक कारणोकी सूचना स्वयं ही करता है; क्योंकि यदि ज्ञान उमी अर्थसे उत्पन्न हो जिसे वह जानता है, तब तो वह उस अर्थको जान ही नही सकेगा; क्योकि अर्थकालमे तो ज्ञान अनुत्पन्न है तथा ज्ञानकालमे अर्थ विनष्ट हो चुका है। यदि ज्ञान अपने कारणोको जाने; तो उसे इन्द्रियादिकको भी जानना चाहिए। ज्ञानका अर्थके साथ अन्वय और व्यतिरेक न होनेसे भी उनमें कारण-कार्यभाव नही हो सकता। संशयज्ञान अर्थके अभावमे भी हो जाता है। संशयज्ञानस्थलमे स्थाणु-पुरुषरूप दो अर्थ तो विद्यमान नही है। अर्थ या तो स्थाणुरूप होगा या पुरुषरूप। व्यभिचार-अन्यथा प्रतिभास बुद्धिगत धर्म है। जब मिथ्याज्ञानमे इन्द्रियगत–तिमिरादि, विषयगत–आशुभ्रमणादि, बाह्य–नौकामें यात्रा करना आदि तथा आत्मगत–वातपित्तादिजन्य क्षोभ आदि दोष कारण होते है; तब तो अर्थकी हेतुता अपने ही आप व्यर्थ हो जाती है। मिथ्याज्ञान यदि इन्द्रियोकी दुष्टतासे होता है, तो सत्यज्ञानमे भी इन्द्रियगत निर्दोषता ही कारण होगी। अत. इन्द्रिय और मनको ही ज्ञानमे कारण मानना चाहिए। अर्थ तो ज्ञानका विषय ही हो सकता है, कारण नही।

अन्य कारणोसे उत्पन्न बुद्धिके द्वारा सन्निकर्षका निश्चय होता है, सन्निकर्षसे बुद्धिका निश्चय तो नही देखा जाता। सन्निकर्षप्रविष्ट अर्थके साथ ज्ञानका कार्यकारणभाव तब निश्चित हो सकेगा, जब सन्निकर्षप्रविष्ट आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञानके विषय हो। पर आत्मा, मन और इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय हैं, अतः पदार्थके साथ होनेवाला इनका सन्निकर्ष भी अतीन्द्रिय होगा और जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है, तब उसे ज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण कैसे माना जाय? ज्ञान अर्थको तो जानता है, पर अर्थमे रहनेवाली स्व-कारणताको नही जानता। ज्ञान जब अतीत और अनागत पदार्थोंको जो ज्ञानकालमे अविद्यमान हैं, जानता है; तब तो अर्थकी ज्ञानके प्रति कारणता अपने आप निःसार सिद्ध हो जाती है। देखो—कामलादि रोगवालेको शुक्लशखमे अविद्यमान पीलेपनका ज्ञान होता है। मरणोन्मुख व्यक्तिको अर्थके रहनेपर भी ज्ञान नही होता या विपरीतज्ञान होता है।

क्षणिक अर्थ तो ज्ञानके प्रति कारण हो ही नही सकता, क्योकि जब वह क्षणिक होनेसे कार्यकाल तक नही पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय? अर्थके होनेपर उसके कालमें ज्ञान उत्पन्न नही हुआ तथा अर्थके अभावमें ही ज्ञान उत्पन्न हुआ तब ज्ञान अर्थका कार्य कैसे माना जाय? कार्य और कारण एक साथ तो रह ही नही सकते। यह कहना भी ठीक नही है कि—"यद्यपि अर्थ नष्ट हो चुका है पर वह अपना आकार ज्ञानमे समर्पित कर चुकनेके कारण ग्राह्य होता है। पदार्थमे यही ग्राह्यता है कि—वह ज्ञानको उत्पन्न कर उसमे अपना आकार अर्पण करे।" क्योकि ज्ञान अमूर्त है वह मूर्त अर्थके प्रतिबिम्बको धारण नही कर सकता। मूर्त दर्पणादिमे ही मुखादिका प्रतिबिम्ब आता है, अमूर्तमे मूर्तका नही। यदि

पदार्थसे उत्पन्न होनेके कारण ज्ञानमें विषयप्रतिनियम हो; तो जब इन्द्रिय आदिसे भी घटज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे घटकी तरह इन्द्रिय आदिको भी विषय करना चाहिये। तदाकारतासे विषयप्रतिनियम माननेपर एक अर्थका ज्ञान करनेपर उसी आकारवाले यावत् समान अर्थोका परिज्ञान होना चाहिए। तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर यदि विषयनियामक हों; तो घटज्ञानसे उत्पन्न द्वितीय घटज्ञानको, जिसमे पूर्वज्ञानका आकार है तथा जो पूर्वज्ञानसे उत्पन्न भी हुआ है, अपने उपादानभूत पूर्वज्ञानको जानना चाहिये। पर बौद्धोके सिद्धान्तानुसार 'ज्ञानं ज्ञानस्य न नियामकम्'—ज्ञान ज्ञानका नियामक नही होता। तदध्यवसाय (अनुकूल विकल्पका उत्पन्न होना) से भी वस्तुका प्रतिनियम नही होता; क्योकि शुक्लशंखमे होनेवाले पीताकारज्ञानसे उत्पन्न द्वितीयज्ञानमें तदध्यवसाय देखा जाता है पर नियामकता नही है। अत अपने-अपने कारणोसे उत्पन्न होनेवाले अर्थ और ज्ञानमें परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव-विषय-विषयिभाव होता है। जैसे दीपक अपने तैलादि कारणोंसे प्रज्वलित होकर मिट्टी आदिसे उत्पन्न होनेवाले घटादिको प्रकाशित करता है, उसीतरह इन्द्रिय तथा मन आदि कारणोसे उत्पन्न ज्ञान अपने कारणोंसे उत्पन्न अर्थको जानेगा। जैसे 'देवदत्त काठको छेदता है' यहाँ अपने-अपने कारणोसे उत्पन्न देवदत्त तथा काष्ठमें कर्तृ-कर्मभाव है उसी तरह स्व-स्वकारणोसे समुत्पन्न ज्ञेय और ज्ञानमें ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव होता है। जैसे खदानसे निकली हुई मलयुक्त मणि अनेक शाण आदि कारणोंसे तरतम-न्यूनाधिकरूपसे निर्मल एव स्वच्छ होती है उसी तरह कर्मयुक्त आत्माका ज्ञान अपनी विशुद्धिके अनुसार तरतमरूपसे प्रकाशमान होता है, और अपनी क्षयोपशम-रूप योग्यताके अनुसार पदार्थोंको जानता है। अत' अर्थको ज्ञानमें कारण नही माना जा सकता।

आलोककारणतानिरास—आलोकज्ञानका विषय आलोक होता है, अत' वह ज्ञानका कारण नही हो सकता। जो ज्ञानका विषय होता है वह ज्ञानका कारण नही होता जैसे अन्धकार। आलोकका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे भी वह ज्ञानका कारण नहीं कहा जा सकता। यदि आलोक ज्ञानका कारण हो तो उसके अभावमे ज्ञान नही होना चाहिये, पर अन्धकारका ज्ञान आलोकके अभावमें ही होता है। नक्त-ञ्चररात्रिचारी उल्लू आदिको आलोकके अभावमे ही ज्ञान होता है तथा उसके सद्भावमे नही। 'आलोकके अभावमे अन्धकारकी तरह अन्य पदार्थ क्यों नही दिखते' इस शंकाका उत्तर यह है कि—अन्धकार अन्य पदार्थोंका निरोध करनेवाला है, अत· आलोकके अभावमें निरोध करनेवाला अन्धकार तो दिखता है पर उससे निरुद्ध अन्य पदार्थ नही। जैसे एक महाघटके नीचे दो चार छोटे घट रखे हो, तो महाघटके दिखनेपर भी उसके नीचे रखे हुए छोटे घट नही दिखते। अन्धकार ज्ञानका विषय है अत· वह ज्ञानका आवरण भी नही माना जा सकता। ज्ञानका आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है। इसीके क्षयोपशमकी तरतमतासे ज्ञानके विकासमें तारतम्य होता है। अतः आलोकके साथ ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे आलोक भी ज्ञान-का कारण नही हो सकता। अर्थालोककारणताविषयक अकलंकके इन विचारोंका उत्तरकालीन माणिक्यनन्दि आदि आचार्योंने प्राय· उन्हीके ही शब्दोंमें अनुसरण किया है।

प्रमाणका फल—प्रशस्तपादभाष्य तथा न्यायभाष्यादिमें हान, उपादान एवं उपेक्षाबुद्धिको प्रमाणका फल कहा है। समन्तभद्र, पूज्यपाद आदिने अज्ञाननिवृत्तिको भी प्रमाणके अभिन्न फलरूपसे प्ररूपण किया है। अकलंकदेव अज्ञाननिवृत्तिके विधिपरकरूपतत्त्वनिर्णयका तथा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धिके साथ ही परनिः-श्रेयसका भी प्रमाणके फलरूपसे कथन करते हैं। केवलज्ञान वीतराग योगियोंके होता है अतः उनमें रागद्वेष-जन्य हानोपादानका संभव ही नहीं है, इसलिये केवलज्ञानका फल अज्ञाननिवृत्ति और उपेक्षाबुद्धि है। इनमें अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणका साक्षात् फल है, शेष परम्परासे।

२. प्रमेयनिरूपण

प्रमाणका विषय—यद्यपि अकलंकदेवने प्रमाणके विषयका निरूपण करते समय लघीयस्त्रयमें द्रव्य-पर्यायात्मक अर्थको ही प्रमेय बताया है, पर न्यायविनिश्चयमें उन्होंने द्रव्य-पर्यायके साथ ही साथ सामान्य और विशेष ये दो पद भी प्रयुक्त किए हैं। वस्तुमे दो प्रकारका अस्तित्व है—१ स्वरूपास्तित्व, २. सादृश्यास्तित्व। एक द्रव्यकी पर्यायोको दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यसे असङ्कीर्ण रखनेवाला स्वरूपास्तित्व है। जैसे एक शाबलेय गौ की हरएक अवस्थामें 'शाबलेय शाबलेय' व्यवहार करानेवाला तत्-शाबलेयत्व। इससे एक शाबलेय गौव्यक्तिकी पर्याऐं अन्य सजातीय शाबलेयादि गौव्यक्तियोंसे तथा विजातीय अश्वादिव्यक्तियोसे अपनी पृथक् सत्ता रखती हैं। इसीको जैन द्रव्य, ध्रौव्य, अन्वय, ऊर्ध्वतासामान्य आदि शब्दोसे व्यवहृत करते हैं। मालूम तो ऐसा होता है कि बौद्धोने सन्तानशब्दका प्रयोग ठीक इसी अर्थमे किया है। इसी स्वरूपास्तित्वको विषय करनेवाला 'यह वही है' यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान होता है। अपनी भिन्न-भिन्न सत्ता रखनेवाले पदार्थोंमे अनुगतव्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व है। जैसे भिन्न-भिन्न गौव्यक्तियोमे 'गौ गौ' इस अनुगत-व्यवहारको करानेवाला साधारण गोत्व। इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं। गौत्वादि जातियाँ सदृशपरिणाम रूप ही हैं; नित्य एक तथा निरंश नही हैं। एक द्रव्यकी पूर्वोत्तर पर्यायोमें व्यावृत्तप्रत्यय पर्यायरूप विशेषके निमित्तसे होता है। भिन्न सत्ता रखनेवाले दो द्रव्योमे विलक्षणप्रत्यय व्यतिरेकरूप विशेष (द्रव्यगतभेद) से होता है। इस तरह दो प्रकारके सामान्य तथा दो प्रकारके विशेषसे युक्त वस्तु प्रमाणका विषय होती है। ऐसी ही वस्तु सत् है। सत्का लक्षण है—उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यसे युक्त होना। सत्को ही द्रव्य कहते है। उत्पाद और व्यय पर्यायकी दृष्टिसे हैं जब कि ध्रौव्य गुणकी दृष्टिसे। अत द्रव्यका गुण-पर्यायवत्त्व लक्षण भी किया गया है। द्रव्य एक अखंड तत्त्व है। वह सयुक्त या रासायनिक मिश्रणसे तैयार न होकर मौलिक है। उसमें भेदव्यवहार करनेके लिए देश, देशाश तथा गुण, गुणाशकी कल्पना की जाती है। ज्ञान अखण्डद्रव्यको ग्रहण भले ही कर ले, पर उसका व्यवहार तो एक-एक धर्मके द्वारा ही होता है। इन व्यवहारार्थ कल्पित धर्मोंको गुण शब्दसे कहते हैं। वैशेषिकोकी तरह गुण कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहो है। द्रव्यके सहभावी अश गुण कहलाते हैं, तथा क्रमसे होनेवाले परिणमन पर्याय कहलाते हैं। इस तरह अखण्ड मौलिक तत्त्वकी दृष्टिसे वस्तु नित्य होकर भी क्रमिक परिणमनकी अपेक्षासे अनित्य है। नित्यका तात्पर्य इतना ही है कि—वस्तु प्रतिक्षण परिणमन करते हुए भी अपने स्वरूपास्तित्वको नहीं छोड सकती। कितना भी विलक्षण क्यो न हो जीव कभी भी पुद्गलरूप नही हो सकता। इस असाकर्यका नियामक ही द्रव्याश है। साख्यके अपरिणामी कूटस्थ नित्य पुरुषकी तरह नित्यता यहाँ विवक्षित नही है और न बौद्धकी तरह सर्वथा अनित्यता ही, जिससे वस्तु सर्वथा अपरिणामी तथा पूर्वक्षण और उत्तरक्षण सर्वथा अनन्वित रह जाते हैं।

ध्रौव्य और सन्तान—यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि—जिस प्रकार जैन एक द्रव्याश मानते हैं उसी तरह बौद्ध सन्तान मानते हैं। प्रत्येक परमाणु प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूपसे परिणमन करता है, उसमे ऐसा कोई भी स्थायी अश नही बचता जो द्वितीय क्षणमें पर्यायके रूपमें न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अश बिलकुल अपरिवर्तनशील रहता है और कुछ अश सर्वथा परिवर्तनशील; तब तो नित्य तथा क्षणिक दोनो पक्षोमे दिए जानेवाले दोष ऐसी वस्तुमे आयँगे। कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध माननेके कारण पर्यायोके परिवर्तित होनेपर भी अपरिवर्तिष्णु कोई अश हो ही नही सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंशसे तादात्म्य रखनेके कारण शेष अश भी अपरिवर्तनशील ही होगे। इस तरह कोई एक ही मार्ग पकडना होगा—या तो वस्तु बिलकुल नित्य मानी जाय या बिलकुल परिवर्तनशील—चेतन भी अचेतन-रूपसे परिणमन करनेवाली। इन दोनों अन्तिम सीमाओके मध्यका ही वह मार्ग है जिसे हम द्रव्य कहते हैं।

जो न बिलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला जिससे अचेतन भी अपनी अचेतनत्वकी सीमाको लाँघकर चेतन बन जाए, या दूसरे अचेतन द्रव्यरूप हो जाय। अथवा एक चेतन दूसरे सजातीय चेतनरूप या विजातीय अचेतनरूप हो जाय। उसको सीधे शब्दोंमें यही परिभाषा हो सकती है कि किसी एक द्रव्यके प्रतिक्षणमें परिणमन करनेपर भी जिसके कारण उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य-रूपसे परिणमन नहीं होता, उस स्वरूपास्तित्वका ही नाम द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। बौद्धके द्वारा माने गए सन्तानका भी यही कार्य है कि—वह नियत पूर्वक्षणका नियत उत्तरक्षणके साथ ही कार्य-कारणभाव बनाता है क्षणान्तरसे नहीं। तात्पर्य यह कि इस सन्तानके कारण एक चेतनक्षण अपनी उत्तर चेतनक्षणपर्यायका ही कारण होगा, विजातीय अचेतनक्षणका और सजातीय चेतनान्तरक्षणका नहीं। इस तरह तात्त्विक दृष्टिसे द्रव्य या सन्तानके कार्य या उपयोगमें कोई अन्तर नहीं है। हाँ, अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूपनिरूपण-में। बौद्ध उस सन्तानको काल्पनिक कहते हैं, जब कि जैन उस द्रव्यांशको पर्याय क्षणकी तरह वास्तविक कहते हैं। सदा कूटस्थ अविकारी नित्य अर्थमें तो जैन भी उसे वस्तु नहीं कहते। सन्तानको समझानेके लिए बौद्धोंने यह दृष्टान्त दिया है कि—जैसे दस आदमी एक लाइनमें खड़े हैं पर उनमें पंक्ति जैसी कोई एक अनुस्यूत वस्तु नहीं है, उसी तरह क्रमिक पर्यायोंमें कूटस्थ नित्य कोई द्रव्यांश नहीं है। पर इस दृष्टान्तकी स्थितिसे द्रव्यकी स्थिति कुछ विलक्षण प्रकार की है। यद्यपि यहाँ दश भिन्नसत्ताक पुरुषोंमें पंक्ति नामकी कोई स्थायी वस्तु नहीं है फिर भी पंक्तिका व्यवहार हो जाता है। पर एक द्रव्यकी क्रमिक पर्याएँ दूसरे द्रव्यकी पर्यायोंसे किसी स्वरूपास्तित्वरूप तात्त्विक अंशके माने बिना असक्रान्त नहीं रह सकती। यहाँ एक पुरुष चाहे तो इस पंक्तिसे निकलकर दूसरी पंक्तिमें शामिल हो सकता है। पर कोई भी पर्याय चाहनेपर भी दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यकी पर्यायसे संक्रान्त नहीं हो सकती और अपने द्रव्यमें भी अपना क्रम छोड़कर न आगे जा सकती है और न पीछे। अतः द्रव्यांशमात्र पंक्ति एवं सेना आदिकी तरह बुद्धिकल्पित नहीं है किन्तु क्षणकी तरह सत्य है। इस तरह द्रव्यपर्यायात्मक—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु अर्थक्रियाकारी है, सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती।

बौद्ध सत्का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व करते हैं। अर्थक्रिया दो प्रकारसे होती है—१. क्रमसे, २. यौग-पद्यरूप से। उनका कहना है कि नित्य वस्तु न क्रमसे ही अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। अतः अर्थ-क्रियाकारित्व रूप सत्त्वके अभावमें वह असत् ही सिद्ध होती है। नित्य वस्तु सदा एकरूप रहती है, अतः जब वह समर्थ होनेसे सभी कार्योंको युगपत् उत्पन्न कर देगी, तब कार्योंमें भेद नहीं हो सकेगा; क्योंकि कार्योंमें भेद कारणके भेदसे होता है। जब कारण एक एवं अपरिवर्तनशील है तब कार्यभेदका वहाँ अवसर ही नहीं है। यदि वह युगपत् अर्थक्रिया करे; तो सभी कार्य एक ही क्षणमें उत्पन्न हो जायँगे, तब दूसरे क्षणमें नित्य अकिञ्चित्कर ठहरेगा। इस तरह क्रमयौगपद्यसे अर्थक्रियाका विरोध होनेसे नित्य असत् है।

अकलंकदेव कहते हैं कि—यदि नित्यमें अर्थक्रिया नहीं बनती तो सर्वथा क्षणिकमें भी तो उसके बननेकी गुंजाइश नहीं है। क्षणिकवस्तु एकक्षण तक ही ठहरती है, अतः जो जिस देश तथा जिस कालमें है वह उसी देश तथा कालमें नष्ट हो जाती है। इसलिये जब वह देशान्तर या कालान्तर तक किसी भी रूपमें नहीं जाती तब देशकृत या कालकृत क्रम उसमें नहीं आ सकता, अतः उसमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनेगी। निरंश होनेसे उसमें एक साथ अनेकस्वभाव तो रहेंगे ही नहीं; अतः युगपत् भी अनेक कार्य कैसे हो सकते हैं? एक स्वभावसे तो एक ही कार्य हो सकेगा। कारणमें नाना शक्तियाँ माने बिना कार्योंमें नानात्व नहीं आ सकता। इस तरह सर्वथा क्षणिक तथा नित्य दोनों वस्तुओंमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती। अर्थक्रिया तो

उभयात्मक—नित्यानित्यात्मक वस्तुमे ही संभव है। क्षणिकमे अन्वित रूप नही है तथा नित्यमे उत्पाद और व्यय नही हैं। उभयात्मक वस्तुमे ही क्रम, यौगपद्य तथा अनेक शक्तियाँ संभव हैं।

अर्थनिरूपणके प्रसंगमे अकलकने विभ्रमवाद, संवेदनाद्वैतवाद, परमाणुरूपअर्थवाद, अवयवसे भिन्न अवयवविवाद, अन्यापोहात्मक सामान्यवाद, नित्यैकसर्वगत-सामान्यवाद, प्रसगसे भूतचैतन्यवाद आदिका समालोचन किया है। जिसका सार यह है—

विभ्रमवाद निरास—स्वप्नादि विभ्रमकी तरह समस्त ज्ञान विभ्रम हैं। जिस प्रकार स्वप्नमें या जादूके खेलमें अथवा मृगतृष्णामे अनेको पदार्थ सत्यरूपसे प्रतिभासित तो होते हैं, पर उनकी वहाँ कोई वास्तविक सत्ता नही है, मात्र प्रतिभास ही प्रतिभास होता है, उसी तरह घट-पटादि ज्ञानोके विषयभूत घट-पटादि अर्थ भी अपनी पारमार्थिक सत्ता नही रखते। अनादिकालीन विकल्पवासनाके विचित्र परिपाकसे ही अनेकानेक अर्थ प्रतिभासित होते है। वस्तुत वे सब विभ्रमरूप ही हैं। इनके मतसे किसी भी अर्थ और ज्ञानकी सत्ता नही है, जितना ग्राह्य-ग्राहकाकार है वह सब भ्रान्त है। इसका खडन करते हुए अकलंकदेवने लिखा है कि—'स्वप्नादि विभ्रमकी तरह समस्त ज्ञान विभ्रम रूप हैं' इस वाक्यका अर्थ विभ्रम रूप है, कि सत्य ? यदि उक्त वाक्यका अर्थ विभ्रम—मिथ्या है, तब तो सभी अर्थोंकी सत्ता अविभ्रम-सत्य सिद्ध हो जायगी। यदि उक्त वाक्यका अर्थ सत्य है, तो समस्त वस्तुएँ विभ्रमात्मक कहाँ हुई ? कम-से-कम उक्त वाक्यका अर्थ तो स्वरूप सत् हुआ। इसी तरह अन्य वस्तुएँ भी स्वरूप सत् सिद्ध होंगी।

संवेदनाद्वैतवाद निरसन—ज्ञानाद्वैतवादीमात्र ज्ञानकी ही वास्तविक सत्ता मानते हैं बाह्यार्थकी नही। ज्ञान ही अनादिकालीन विकल्पवासनाके कारण अनेकाकार अर्थरूपसे प्रतिभासित होता है। जैसे इन्द्र-जाल गन्धर्वनगर आदिमे अविद्यमान भी आकार प्रतिभासित होते हैं उसी तरह ज्ञानसे भिन्न घटादि पदार्थ अपनी प्रातिभासिकी सत्ता रखते हैं पारमार्थिकी नही। इसी अभिन्नज्ञानमे प्रमाण-प्रमेय आदि भेद कल्पित होते हैं, अत यह ग्राह्य-ग्राहकरूपसे प्रतिभासित होना है।

इसकी समालोचना करते हुए अकलकदेव लिखते हैं कि—तथोक्त अद्वयज्ञान स्वत. प्रतिभासित होता है, या परत ? यदि स्वत प्रतिभासित हो, तब तो विवाद ही नही होना चाहिए। आपकी तरह ब्रह्मवादी भी अपने ब्रह्मका भी स्वत प्रतिभास ही तो कहते हैं। परत प्रतिभास तो परके बिना नही हो सकता। परको स्वीकार करनेपर द्वैतप्रसग होगा। इन्द्रजालदृष्ट पदार्थ तथा बाह्यसत् पदार्थोंमे इतना मोटा भेद है कि उसमे स्त्रियाँ तथा ढोर चरानेवाले ग्वाले आदि मूढजन भी भ्रान्त नही हो सकते। वे बाह्यसत्य पदार्थों-को प्राप्तकर अपनी आकाक्षाएँ शान्त कर सन्तोषका अनुभव करते है जब कि इन्द्रजालदृष्ट पदार्थोंसे कोई अर्थक्रिया या सन्तोषानुभव नही होता। वे तो प्रतिभासकालमें ही असत् मालूम होते हैं। अद्वयज्ञानवादियोको प्रतिभासकी सामग्री–प्रतिपत्ता, प्रमाण, विचार आदि तो मानना ही चाहिए, अन्यथा प्रतिभास कैसे हो सकेगा ? अद्वयज्ञानमे अर्थ-अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदिकी व्यवस्था न होनेसे तद्ग्राही ज्ञानोमे प्रमाणता या अप्र-माणता भी निश्चित नही की जा सकेगी। पर्वतादि बाह्य पदार्थोंको विकल्पवासनाप्रसूत कहनेसे उनमे मूर्तत्व, स्थूलत्व, सप्रतिघत्व आदि धर्म कैसे संभव हो सकते है ? यदि विषादि पदार्थ बाह्यसत् नही हैं केवल ज्ञान-रूप ही हैं; तब उनके खानेसे मृत्यु आदि कैसे हो जाते हैं ? विषके ज्ञानमात्रसे तो मृत्यु नही देखी जाती। प्रतिपाद्यरूप आत्मान्तरकी सत्ता माने बिना शास्त्रोपदेश आदिका क्या उपयोग होगा ? जब परप्रतिपत्तिके उपायभूत वचन ही नही हैं; तब परप्रतिपादन कैसे सभव है ? इसी तरह ग्राह्य-ग्राहकभाव, बाध्य-बाधकभाव आदि अद्वैतके बाधक हैं। अद्वयसिद्धिके लिए साध्य-साधनभाव तो आपको मानना ही चाहिए; अन्यथा सहोप-

लम्भनियम आदि हेतुओंसे अद्वयसिद्धि कैसे करोगे ? सहोपलम्भनियम—अर्थ और ज्ञान दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं अतः अर्थ और ज्ञान अभिन्न है, जैसे द्विचन्द्रज्ञानमें प्रतिभासित होनेवाले दो चन्द्र वस्तुतः पृथक् सत्ता नहीं रखते, किन्तु एक ही हैं।' यह अनुमान भी संवेदनाद्वैतकी सिद्धि करनेमें असमर्थ है। यतः सहोपलम्भ हेतु विरुद्ध है—'शिष्यके साथ गुरु आया' इस प्रयोगमें सहोपलम्भनियम भेद होनेपर ही देखा गया है। ज्ञान अन्तरंगमें चेतनाकारतया तथा अर्थ बाह्य देशमें जडरूपसे देखा जाता है अतः उनका सहोपलम्भनियम असिद्ध है। बाह्यसत् एकचन्द्रके स्वीकार किए बिना द्विचन्द्र दृष्टान्त भी नहीं बन सकता। सहोपलम्भनियमका भेदके साथ कोई विरोध नहीं होनेके कारण वह अनैकान्तिक भी है।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्यपदार्थके अस्तित्वमें निम्न बाधक उपस्थित करते हैं कि—एक परमाणु अन्य-परमाणुओंसे एकदेशसे संयोग करेगा, या सर्वात्मना ? एकदेशसे संयोग माननेपर छह परमाणुओंसे संयोग करनेवाले परमाणुके छह देश हो जायँगे। सर्वात्मना संयोग माननेपर परमाणुओंका पिण्ड एकपरमाणुरूप हो जायगा। इसी तरह अवयवी अपने अवयवोंमें एकदेशसे रहेगा, या सर्वात्मना ? एकदेशसे रहनेपर अवयवीके उतने ही देश मानने होंगे जितने कि अवयव हैं। सर्वात्मना प्रत्येक अवयवमें रहनेपर जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जायेंगे। अवयवी यदि निरंश है, तो रक्तारक्त, चलाचल आदि विरुद्धधर्मोंका अध्यास होनेसे उसमें भेद हो जायगा। इत्यादि।

अकलंकदेवने इनका समाधान संक्षेपमें यह किया है कि—जिस तरह एक ज्ञान अपने ग्राह्य, ग्राहक और संविदाकारसे तादात्म्य रखकर भी एक रहता है, उसी तरह अवयवी अपने अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्धसे रहनेपर भी एक ही रहेगा। अवयवोंसे सर्वथा भिन्न अवयवी तो जैन भी नहीं मानते। परमाणुओंमें परस्पर स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध होता है जिससे स्कन्ध बनता है। अतः ज्ञानके अतिरिक्त बाह्यपदार्थकी सत्ता मानना ही चाहिए, क्योंकि संसारके समस्त व्यवहार बाह्यसत् पदार्थोंसे चलते हैं, केवल ज्ञानमात्रसे नहीं।

परमाणुसंचयवाद निरास—सौत्रान्तिक ज्ञानसे अतिरिक्त बाह्यार्थ मानते हैं, पर वे बाह्यार्थको स्थिर, स्थूलरूप नहीं मानकर क्षणिक परमाणुरूप मानते हैं। परमाणुओंका पुंज ही अत्यन्त आसन्न होनेके कारण स्थूलरूपसे मालूम होता है। जैसे पृथक् स्थित अनेक वृक्ष दूरसे एक स्थूलरूपमें प्रतिभासित होते हैं। अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है और वह अपने परमाणुत्वको छोडकर स्कन्ध अवस्थामें नहीं आता तब उनका समुदाय प्रत्यक्षका विषय कैसे हो सकेगा ? अतीन्द्रिय वस्तुओंका समुदाय भी अपनी अतीन्द्रियता-सूक्ष्मता छोडकर स्थूलता धारण किए बिना इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता।

भिन्नअवयविवाद निरास—नैयायिक अवयवीको अवयवोंसे भिन्न मानकर भी उसकी अवयवोंमें समवायसम्बन्धसे वृत्ति मानते हैं। वे अवयवीको निरंश एवं नित्य स्वीकार करते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—अवयवोंसे भिन्न कोई अवयवी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं होता। 'वृक्षमें शाखाएँ हैं' यह प्रतिभास तो होता है पर 'शाखाओंमें वृक्ष है' यह एक निराली ही कल्पना है। यदि अवयवी अतिरिक्त हो; तो एक-एक छटाक वजनवाले चार अवयवोंसे बने हुए स्कन्धमें अवयवोंके चार छटाक वजनके अतिरिक्त कुछ अवयवीका भी वजन आना चाहिये। अवयव तथा अवयवीका रूप भी पृथक्-पृथक् दिखना चाहिए। निरंश अवयवीके एक देशको रँगनेपर पूरा अवयवी रँगा जाना चाहिए। उसके एक देशमें क्रिया होनेपर समस्त अवयवीमें क्रिया होना चाहिये। उसके एक देशका आवरण होनेपर पूरे अवयवीको आवृत हो जाना

चाहिए। इस तरह विरुद्ध धर्मोंका अध्यास होनेसे उसमें एकत्व नही रह सकता। अत अवयवोंसे सर्वथा भिन्न अवयवी किसी भी तरह प्रत्यक्षका विषय नही हो सकता। इसलिये प्रतीतिके अनुसार अवयवोंसे कथञ्चिद्भिन्न—अवयवरूप ही अवयवी मानना चाहिए।

इस तरह गुण-पर्यायवाला, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय होता है। गुण सहभावी तथा पर्याएँ क्रमभावी होते हैं। जैसे भेदज्ञानसे वस्तुके उत्पाद और व्ययकी प्रतीति होती है उसी तरह अभेदज्ञानसे स्थिति भी प्रतिभासित होती ही है। जिस प्रकार सर्प अपनी सीधी, टेढी, उत्फण, विफण आदि अवस्थाओंमे अनुस्यूत एक सत् है उसी तरह उत्पन्न और विलीन होनेवाली पर्यायोमे द्रव्य अनुगत रहता है। अभिन्न प्रतिभास होनेसे वस्तु एक है। विरुद्ध धर्मोंका अध्यास होनेसे अनेक है। वस्तु अमुक स्थूल अंशसे प्रत्यक्ष होनेपर भी अपनी सूक्ष्मपर्यायोकी अपेक्षासे अप्रत्यक्ष रहती है। वस्तु के ध्रौव्य अशके कारण ही 'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञान होता है। उपादानोपादेयभाव भी ध्रौव्यांशके माननेपर ही बन सकता है। वस्तु जिस रूपसे उत्तरपर्यायमे अन्वित होगी उसी रूपसे उसमे उपादानताका निश्चय होता है। यद्यपि शब्दादिका उपादान तथा आगे होनेवाला उपादेयभूत कार्य प्रत्यक्षगोचर नही है, तथापि उसकी मध्यक्षणवर्ती सत्ता ही उसके उपादानका तथा आगे होनेवाले उपादेयरूप कार्यका अनुमान कराती है; क्योंकि उपादानके बिना कार्यकी उत्पत्ति नही हो सकती तथा मध्यक्षण यदि आगे कोई कार्य न करेगा, तो वह अर्थक्रियाकारित्वके अभावमे अवस्तु ही हो जायगा। अत द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाणका विषय हो सकती है।

सामान्य—नैयायिक-वैशेषिक नित्य, एक, सर्वगत सामान्य मानते हैं, जो स्वतन्त्र पदार्थ होकर भी द्रव्य, गुण और कर्ममें समवायसम्बन्धसे रहता है। मीमासक ऐसे ही सामान्यका व्यक्तिसे तादात्म्य मानते हैं। बौद्ध सामान्यको वस्तुभूत न मानकर उसे अतद्व्यावृत्ति या अन्यापोहरूप स्वीकार करते हैं। जैन सदृश परिणमनको सामान्य कहते हैं। वे उसे अनेकानुगत न कहकर व्यक्तिस्वरूप मानते हैं। वह व्यक्तिकी तरह अनित्य तथा असर्वगत है। अकलकदेवने सामान्यका स्वरूप वर्णन करते हुए इतर मतोकी आलोचना इस प्रकार की है—

नित्य-सामान्यनिरास—नित्य, एक, निरंश सामान्य यदि सर्वगत है; तो उसे प्रत्येक व्यक्तिमे खंडश रहना होगा; क्योंकि एक ही वस्तु अनेक जगह युगपत् सर्वात्मना नहीं रह सकती। नित्य निरश सामान्य जिस समय एक व्यक्तिमे प्रकट होता है, उसी समय उसे सर्वत्र-व्यक्तिके अन्तरालमे भी प्रकट होना चाहिये। अन्यथा व्यक्त और अव्यक्तरूपसे स्वरूपभेद होनेपर अनित्यत्व एवं सांशत्वका प्रसग होगा। जिस तरह सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न सत्ताके समवायके बिना भी स्वत. सत् है उसी तरह द्रव्य, गुण और कर्म भी स्वत सत् होकर 'सत् सत्' ऐसा अनुगत व्यवहार भी करा सकते हैं। अत द्रव्यादिके स्वरूपसे अतिरिक्त सामान्य न मानकर सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए।

अन्यापोह निरास—बौद्ध सामान्यको अन्यापोहरूप मानते हैं। इनके मतसे कोई भी एक वस्तु अनेक आधारोमें वृत्ति ही नही रख सकती, अत अनेक आधारोमे वृत्ति रखनेवाला सामान्य असत् है। सामान्य अनुगत व्यवहारके लिए माना जाता है। उनका कहना है कि—हमलोगोंको परस्पर विभिन्न वस्तुओंके देखनेके बाद जो बुद्धिमे अभेदका भान होता है, उसी बुद्धिमें प्रतिबिम्बित अभेदका नाम सामान्य है। यह बुद्धिप्रतिबिम्बित अभेद भी कोई विध्यात्मक धर्म नही है, किन्तु अतद्व्यावृत्तिरूप है। जिन व्यक्तियोंमे अमनुष्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमे 'मनुष्य मनुष्य' व्यवहार किया जाता है। जैसे चक्षु, आलोक और रूप आदि पदार्थ परस्परमे अत्यन्त भिन्न होकर भी अरूपज्ञानजनकव्यावृत्ति होनेके कारण रूपज्ञानजनकरूपसे

समान व्यवहारमें कारण हो जाते हैं, उसी तरह परस्परमें अत्यन्त भिन्न मनुष्यव्यक्तियाँ भी अमनुष्यव्यावृत्तिके कारण 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा समान व्यवहार कर सकेंगी। इसी तरह अतत्कार्य-कारणव्यावृत्तिसे अनुगत व्यवहार होता है। प्रकृत मनुष्यव्यक्तियाँ मनुष्यके कारणोंसे उत्पन्न हुई हैं तथा मनुष्यके कार्योंको करती है, अत. उनमें अमनुष्यकारणव्यावृत्ति तथा अमनुष्यकार्यव्यावृत्ति पाई जाती है, इसीसे उनमें किसी वस्तुभूत सामान्यके बिना भी सदृश व्यवहार हो जाता है।

अकलंकदेव इसका खंडन करते हैं कि—सदृशपरिणामरूप विध्यात्मक सामान्यके माने बिना अपोह-का नियम ही नहीं हो सकता। जब एक शाबलेय गौव्यक्ति दूसरी बाहुलेय गौव्यक्ति से उतनी ही भिन्न है जितनी कि एक अश्वव्यक्तिसे, तब क्या कारण है कि अगौव्यावृत्ति शाबलेय और बाहुलेयमे ही 'गौ गौ' ऐसा अनुगत व्यवहार करती है अश्व में नही ? अत· यह मानना होगा कि शाबलेय गौ बाहुलेय गौसे उतनी भिन्न नही है जितनी अश्वसे, अर्थात् शाबलेय और बाहुलेयमे कोई ऐसा सादृश्य है जो अश्वमें नही पाया जाता। इसलिए सदृश परिणाम हो समान व्यवहारका नियामक हो सकता है। यह तो हम प्रत्यक्षसे ही देखते हैं कि—कोई वस्तु किसीसे समान है तथा किसीसे विलक्षण। बुद्धि समानधर्मोंकी अपेक्षासे अनुगत व्यवहार कराती है, तथा विलक्षण धर्मोंकी अपेक्षासे विसदृश व्यवहार। पर वह समानधर्म विध्यात्मक है निषेधात्मक नही। बौद्ध जब स्वयं अपरापरक्षणोंमें सादृश्यके कारण ही एकत्वका भान मानते हैं, शुक्तिका और चाँदीमे सादृश्यके कारण ही भ्रमोत्पत्ति स्वीकार करते है; तब अनुगत व्यवहारके लिए अतद्व्यावृत्ति जैसी निषेधमुखी कल्पनासे क्या लाभ ? क्योंकि उसका निर्वाह भी आखिर सदृश-परिणामके ही आधीन आ पडता है। बुद्धिमे अभेदका प्रतिबिम्ब वस्तुगत सदृश धर्मके माने बिना यथार्थता नही पा सकता। अत सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। इस तरह अकलंकदेवने सदृशपरिणामरूप तिर्यक्सामान्य, एकद्रव्यरूप ऊर्ध्वतासामान्य, भिन्नद्रव्योमे विलक्षण व्यवहारका प्रयोजक विशेष और एक द्रव्यकी दो पर्यायो-मे भेद व्यवहार करानेवाले पर्याय इन द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष चार पदोका उपादान करके प्रमाण-के विषयभूत पदार्थकी सम्पूर्णताका प्रतिपादन किया है।

भूतचैतन्यवाद निरास—चार्वाकका सिद्धान्त है कि–जीव कोई स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व नही है किन्तु पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके अमुक प्रमाणमे विलक्षण रासायनिक मिश्रणसे ही उन्ही पृथिव्यादिमें चैतन्यशक्ति आविर्भूत हो जाती है। इसी ज्ञानशक्तिविशिष्ट भूत-शरीरमें जीव व्यवहार होता है। जिस प्रकार कोदों, महुआ आदिमे जलादिका मिश्रण होनेसे मदिरा तैयार हो जाती है उसी तरह जीव एक रासायनिक मिश्रणसे बना हुआ संयुक्त-द्रव्य है स्वतन्त्र अखण्ड मूल-द्रव्य नही है। उस मिश्रणमेसे अमुक तत्त्वोकी कमी होने-पर जीवनीशक्तिके नष्ट होनेपर मृत्यु हो जाती है। अतः जीव गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त ही रहता है, परलोक तक जानेवाला नही है। उसको शरीरके साथ ही साथ या शरीरके पहिले ही इतिश्री हो जाती है, शरीर तो मृत्युके बाद भी पड़ा रहता है। ''जलबुद्बुदवज्जीवा., मदशक्तिवद्विज्ञानम्''—जलके बुद्बुदोकी तरह जीव तथा महुआ आदिमें मादकशक्तिकी तरह ज्ञान उत्पन्न होता है—ये उनके मूल सिद्धान्तसूत्र हैं।

अकलंकदेव इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—यदि आत्मा-जीव स्वतन्त्र मूल-तत्त्व न हो तो संसार और मोक्ष किसे होगा ? शरीरावस्थाको प्राप्त पृथिव्यादि भूत तो इस लोकमे ही भस्मीभूत हो जाते हैं, परलोक तक कौन जायगा ? परलोकका अभाव तो नहीं किया जा सकता; क्योंकि आज भी बहुत लोग जातिस्मरण होनेसे अपने पूर्वभवकी तथ्यस्थितिका आँखोंदेखा हाल वर्णन करते हुए देखे जाते हैं। यक्ष, राक्षस, भूत पिशाचादि पर्यायोंमें पहुँचे हुए व्यक्ति अपनी वर्तमान तथा अतीतकालीन पूर्वपर्यायका समस्त

वृत्तान्त सुनाते हैं। जन्म लेते ही नवजातशिशुको माँके दूध पीनेकी अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा पूर्वानुभावके बिना नहीं हो सकती; क्योंकि अभिलाषा पूर्वदृष्ट पदार्थकी सुखसाधनताका स्मरण करके होती है। अतः पूर्वानुभवका स्थान परलोक मानना चाहिये। "गर्भमें माँके द्वारा उपभुक्त भोजनादिसे बने हुए अमुक विलक्षण रसविशेषके ग्रहण करनेसे नवजातशिशुको जन्म लेते ही दुग्धपानकी ओर प्रवृत्ति होती है" यह कल्पना नितान्त युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि गर्भमें रसविशेषके ग्रहण करनेसे ही यदि अभिलाषा होती है तो गर्भमें एक साथ रहनेवाले, एक साथ ही रसविशेषको ग्रहण करनेवाले युगल पुत्रोमें परस्पर प्रत्यभिज्ञान एव अभिलाषा होनी चाहिए, एकके द्वारा अनुभूत वस्तुका दूसरेको स्मरण होना चाहिए। प्रत्येक पृथिवी आदि भूतमें तो चैतन्यशक्तिका आविर्भाव नही देखा जाता अत. समस्तभूतोके अमुक मिश्रणमे ही जब एक विलक्षण अतीन्द्रिय स्वभावसिद्ध शक्ति माननी पडती है तब ऐसे विलक्षणशक्तिशाली अतीन्द्रिय आत्मतत्त्वके माननेमे ही क्या बाधा है ? ज्ञान प्राणयुक्त शरीरका भी धर्म नही हो सकता, क्योकि अन्धकारमे शरीरका प्रत्यक्ष न होनेपर भी 'अहं ज्ञानवान्' इस प्रकारसे ज्ञानका अन्त मानसप्रत्यक्ष होता है। यदि ज्ञानरूपसे शरीरका ग्रहण होता; तो कदाचित् ज्ञान शरीरका धर्म माना जाता। दूसरा व्यक्ति अपने नेत्रोसे हमारे शरीरका ज्ञान कर लेता है पर शरीरके रूपादिकी तरह वह हमारे ज्ञानका ज्ञान नही कर सकता। शरीरमे विकार होनेपर भी बुद्धिमें विकार नही देखा जाता, शरीरकी पुष्टि या कमजोरीमे ज्ञानकी पुष्टि या कमजोरी नही देखी जाती, शरीरके अतिशय बलवान् होनेके साथ ही साथ बुद्धिबल बढता हुआ नही देखा जाता, इत्यादि कारणोसे यह सुनिश्चित है कि—ज्ञान शरीरका गुण नही है। ज्ञान, सुख आदि इन्द्रियोके भी धर्म नही हो सकते, क्योकि चक्षुरादि इन्द्रियोकी अनुपयुक्त दशामे मनसे ही 'मै सुखी हूँ' मैं 'दु खी हूँ' यह मानस प्रत्यक्ष अनुभवमे आता है। चक्षुरादि इन्द्रियोकी शक्ति नष्ट हो जानेपर भी मानस स्मरणज्ञान देखा जाता है। अत जीवनशक्ति या ज्ञानशक्ति भूतोका गुण या पर्याय नही हो सकती, वह तो आत्माकी ही पर्याय है। यह जीव ज्ञान-दर्शनादि उपयोगवाला है। सुषुप्तादि अवस्थाओमे भी इसका ज्ञान नष्ट नही होता। अकलकदेवने 'सुषुप्तादौ बुद्ध' इस पदका उपादान करके प्रज्ञाकरगुप्त आदिके 'सुषुप्तावस्थामे ज्ञान नष्ट या तिरोहित हो जाता है' इस सिद्धान्तका खडन किया है। यह आत्मा प्राणादिको धारण करके जीता है इसलिए जीव कहलाता है। जीव स्वय अपने कर्मोंका कर्त्ता तथा भोक्ता है। वही रागादिभावोसे कर्मबन्धन करता है तथा वीतरागपरिणामोसे कर्मबन्धन तोडकर मुक्त हो जाता है। यह न तो सर्वव्यापी है और न बटबीजकी तरह अणुरूप ही, किन्तु अपने उपात्तशरीरके परिमाणानुसार मध्यम-परिमाणवाला है। कर्मसम्बन्धके कारण प्रदेशोके संकोच-विस्तार होनेसे छोटे-बडे शरीरके परिमाण होता रहता है।

गुण—इसी प्रसगमे गुण और गुणीके सर्वथा भेदका खण्डन करते हुए लिखा कि—अर्थ अनेकधर्मात्मक है। उसका अखण्डरूपसे ग्रहण करना कदाचित् सभव है, पर कथन या व्यवहार तो उसके किसी खास रूपधर्मसे ही होता है। इसी व्यवहारार्थ भेदरूपसे विवक्षित धर्मको गुण कहते हैं। गुण द्रव्यका ही परिणमन है, वह स्वतन्त्र पदार्थ नही है। चूँकि गुण पदार्थके धर्म है अतः ये स्वयं निर्गुण—गुणशून्य होते हैं। यदि गुण स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय और वह भी द्रव्यसे सर्वथा भिन्न, तो 'अमुकगुण-ज्ञान अमुकगुणी-आत्मामें ही रहता है पृथिव्यादिमे नही' इसका नियामक कौन होगा ? इसका नियामक तो यही है कि—ज्ञानका आत्मासे ही कथंचित्तादात्म्य है अतः वह आत्मामे ही रहता है पृथिव्यादिमे नही। वैशेषिकके मतमे 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग नही हो सकेंगे, क्योकि गन्ध, रूप तथा सख्या आदि सभी गुण हैं, और गुण स्वय निर्गुण होते हैं। यदि आश्रयभूत द्रव्यकी संख्याका एकार्थसमवाय सम्बन्धके कारण रूपादिमे उपचार करके 'एक गन्ध'

इस प्रयोगका निर्वाह किया जायगा; 'तो एक द्रव्यमे रूपादि बहुत गुण हैं' यह प्रयोग असंभव हो जायगा; क्योंकि रूपादि बहुत गुणोंके आश्रयभूत द्रव्यमें तो एकत्वसंख्या है बहुत्वसख्या नही। अत. गुणको स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर द्रव्यका ही धर्म मानना चाहिए। धर्म अपने आश्रयभूत धर्मीकी अपेक्षासे धर्म होनेपर भी अपनेमें रहनेवाले अन्य धर्मोंकी अपेक्षासे धर्मी भी हो जाता है। जैसे रूपगुण आश्रयभूत घटकी अपेक्षासे यद्यपि धर्म है पर अपनेमे पाये जानेवाले एकत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मोंकी अपेक्षा धर्मी है। अतः जैन सिद्धान्तमें धर्म-धर्मिभावके अनियत होनेके कारण 'एक गन्ध दो रूप' आदि प्रयोग बडी आसानीसे बच जाते हैं। इति।

३. **नयनिरूपण**

जैनदृष्टिका आधार और स्थान—भारतीय सस्कृति मुख्यत दो भागो में बाँटी जा सकती है—एक वैदिक सस्कृति और दूसरी उसके मुकाबिलेमे खडी हुई श्रमणसस्कृति। वैदिकसस्कृतिके आधारभूत वेदको प्रमाण माननेवाले न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग, पूर्वमीमासा तथा औपनिषद आदि दर्शन हैं। श्रमणसस्कृतिके शिलाधार वेदको प्रमाणताका विरोध करनेवाले बौद्ध और जैनदर्शन हैं। वैदिकदर्शन तथा वैदिकसस्कृतिके प्राणप्रतिष्ठानमे विचारोकी प्रधानता है। श्रमणसंस्कृति एवं अवैदिक दर्शनोकी उद्भूति आचारशोधनके प्रामुख्यसे हुई है। सभी दर्शनोका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, और गौण या मुख्यरूपसे तत्त्वज्ञानको मोक्षका साधन भी सबने माना ही है। वैदिक संस्कृति तथा वैदिकदर्शनोकी प्राणप्रतिष्ठा, सवर्द्धन एव प्रौढीकरणमे बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्गने पुश्तैनी प्रयत्न किया है जो आजतक न्यूनाधिक रूपमें चालू है। यही कारण है कि वैदिकदर्शनका कोषागार, उनकी सूक्ष्मता, तलस्पर्शिता, भावग्राहिता एव पराकाष्ठाको प्राप्त कल्पनाओका कोटिक्रम अपनी सानी कम रखता है। परम्परागत-बुद्धिजीवित्वशाली ब्राह्मणवर्गने अपनी सारी शक्ति कल्पना-जालका विकास करके वेदप्रामाण्यके समर्थन मे लगाई और वैदिकक्रियाकाण्डोंके द्वारा गर्भसे लेकर मरण पर्यन्तके जीवनके प्रत्येकक्षणको इतना ओतप्रोत कर दिया जिससे मुकाबिलेमे खडी होनेवाली बौद्ध और जैनसंस्कृति भी पीछे जाकर इन क्रियाकाण्डोसे अशत पराभूत हो गई।

श्रमणसस्कृति वैदिक क्रियाकाण्ड, खासकर धर्मके नामपर होनेवाले अजामेध, अश्वमेध, नरमेध आदि हिंसाकाण्डका तात्त्विक एव क्रियात्मक विरोध करनेके लिए उद्भूत हुई, और उसने इस क्षेत्रमें पर्याप्त सफलता भी पाई। श्रमणसस्कृतिका आधार पूर्णरूपसे अहिंसा रही है। अहिंसाका वास्तविक रूप तो सचमुच आचारगत ही है। अहिंसाका विचार तो वैदिकदर्शनोने भी काफी किया है पर विशिष्ट अपवादोंके साथ। श्रमणसंस्कृति अहिंसाका सक्रिय रूप थी। इस अहिंसाकी साधना तथा पूर्णताके लिए ही इसमे तत्त्वज्ञानका उपयोग हुआ, जब कि वैदिक सस्कृतिमे तत्त्वज्ञान साध्यरूपमे रहा है।

बौद्धदृष्टि—बुद्ध अहिंसाकी साधनाके लिए प्रारम्भमे छह वर्ष तक कठोर तपस्या करते हैं। जब उनका भावुक चित्त तपस्याकी उग्रतासे ऊब जाता है, तब वे विचार करते है कि—इतनी दीर्घतपस्याके बाद भी मुझे बोधिलाभ क्यो नही हुआ ? यही उनकी तीक्ष्णदृष्टि 'मध्यम प्रतिपदा' को पकड लेती है। वे निश्चय करते हैं कि—यदि एक ओर वैदिक हिंसा तथा विषय भोग आदिके द्वारा शरीरके पोषणका बोलबाला है तो इस ओर भी अव्यवहार्य अहिंसा तथा भीषण कायक्लेशके द्वारा होनेवाला शरीरका शोषण हृदयकी कोमलभावनाओके स्रोतको ही बन्द किए देता है। अतः इन दोनोके मध्यका ही मार्ग सर्वसाधारणको व्यवहार्य हो सकता है। आन्तरिक शुद्धिके लिए ही बाह्य उग्रतपस्याका उपयोग होना चाहिए, जिससे बाह्यतप ही हमारा साध्य न बन जाय। दयालु बुद्ध इस मध्यममार्ग द्वारा अपने आचारको मृदु बनाते है और बोधिलाभ कर जगत्मे मृदु-अहिंसाका सन्देश फैलाते है। तात्पर्य यह कि—बुद्धने अपने आचारकी मृदुता-

के समाधानके लिए 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग किया। इस तत्त्वका उपयोग बुद्धने आखिर तक आचारके ही क्षेत्र तक सीमित रखा, उसे विचारके क्षेत्रमे दाखिल करनेका प्रयत्न नही हुआ। जब बोधिलाभ करनेके बाद संघरचनाका प्रश्न आया, शिष्यपरिवार दीक्षित होने लगा तथा उपदेशपरम्परा चालू हुई, तब भी बुद्धने किसी आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थका तात्त्विक विवेचन नही किया, किन्तु अपने द्वारा अनुभूत दुःखनिवृत्तिके मार्गका ही उपदेश दिया। जब कोई शिष्य उनसे आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थके विषयमे प्रश्न करता था तो वे स्पष्ट कह देते थे कि—"आवुस ! तुम इन आत्मा आदिको जानकर क्या करोगे ? इनके जाननेसे कोई फायदा नही है। तुम्हें तो दुःखसे छूटना है, अतः दुःख, समुदय—दुःखके कारण निरोध-दुःखनिवृत्ति और मार्ग—दुःखनिवृत्तिका उपाय इन चार आर्यसत्योको जानना चाहिए तथा आचरण कर बोधिलाभ करना चाहिए।" उन्हे बुद्धिजीवी ब्राह्मण वर्गकी तरह बैठेठाले अनन्त कल्पनाजाल रचके दर्शनशास्त्र बनानेके बजाय अहिंसाकी आंशिक साधना ही श्रेयस्कर मालूम होती थी। यही कारण है कि—वे दर्शनशास्त्रीय आत्मादि पदार्थोंके तत्त्वविवेचनके झगड़ेको निरुपयोगी समझकर उसमे नही पड़े। और उन्होने अपनी मध्यम-प्रतिपदाका उपयोग उस समयके प्रचलितवादोके समन्वयमे नही किया। उस समय आत्मादि पदार्थोंके विषयमे अनेको वाद प्रचलित थे। कोई उसे कूटस्थ नित्य मानता था तो कोई उसे भूतविकारमात्र, कोई व्यापक कहता था तो कोई अणुरूप। पर बुद्ध इन सब वादोके खंडन-मंडनसे कोई सरोकार ही न रखते थे, वे तो केवल अहिंसाकी साधनाकी ही रट लगाए हुए थे।

पर जब कोई शिष्य अपने आचरण तथा संघके नियमोंमें मृदुता लानेके लिए उनके सामने अपनी कठिनाइयाँ पेश करता था कि—"भन्ते ! आजकल वर्षाकाल है, एक सघाटक-चीवर रखनेसे तो वह पानीमे भीग जाता है, और उससे शीतकी बाधा होती है। अतः दो चीवर रखनेकी अनुज्ञा दी जाय। हमे बाहिर स्नान करते हुए लोक-लाजका अनुभव होता है, अतः जन्ताघर (स्नानगृह) बनानेकी अनुज्ञा दी जाय इत्यादि" तब बुद्धका मातृहृदय अपने प्यारे बच्चोकी कठिनाइयाँ सुनकर तुरन्त पसीज जाता था। वे यहाँ अपनी 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग करते है और उनकी कठिनाइयाँ हल करनेके लिए उन्हे अनुज्ञा दे देते है। इस तरह हम देखते हैं कि—बुद्धकी मध्यमप्रतिपदा केवल आचारकी समाधानीके लिए उपयुक्त होती थी, वह आचारका व्यवहार्यसे व्यवहार्य मार्ग ढूंढ़ती थी। उसने विचारके अपरिमित क्षेत्रमे अपना कार्य बहुत कम किया।

जब बुद्धने स्वयं 'मध्यमप्रतिपदा' विचारके क्षेत्रोमे दाखिल नही किया तब उत्तरकालीन बौद्धाचार्योंसे तो इसकी आशा ही नही की जा सकती थी। बुद्धके उपदेशोमे आए हुए क्षणिक, निरात्मक, विभ्रम, परमाणुपुञ्ज, विज्ञान, शून्य आदि एक-एक शब्दको लेकर उत्तरकालीन बौद्धाचार्योंने अनन्त कल्पनाजालसे क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, विभ्रमवाद, विज्ञानवान, शून्यवाद आदि वादोको जन्म देकर दर्शनक्षेत्रमे बड़ा भारी तूफान मचा दिया। यह तूफान मामूली नही था, इससे वैदिक दर्शनोकी चिरकालीन परम्परा काँप उठी थी। बुद्धने तो मार-काम विजयके लिए, विषय-कषायोको शान्तकर चित्त शोधनके लिए जगत्को जलबुद्बुदकी तरह क्षणिक-विनाशशील कहा था। निरात्मक शब्दका प्रयोग तो इसलिए था कि—'यह जगत् आत्मस्वरूपसे भिन्न है, नित्य कूटस्थ कोई आत्मा नही है जिसमें राग किया जाय, जगत्मे आत्माका हितकारक कुछ नही है' आदि समझकर जगत्से विरक्ति हो। संसारको स्वप्नकी तरह विभ्रम एव शून्य भी इसीलिए कहा था कि—उससे चित्तको हटाकर चित्तको विशुद्ध किया जाय। स्त्री आदि रागके साधन पदार्थोंको एक, नित्य, स्थूल, अमुक संस्थानवाली, वस्तु समझकर उसके मुख आदि अवयवोका दर्शन-स्पर्शनकर रागद्वेषादिकी अमरबेल फूलती है। यदि उन्हें स्थूल अवयवी न समझकर परमाणुओका पुंज ही समझा जायगा तो जैसे

मिट्टीके ढेलेमे हमे राग नही होता उसी तरह स्त्री आदिसे विरक्त होनेमे चित्तको मदद मिलेगी। इन्ही पवित्र मुमुक्षुभावनाओको सुभावित करनेके लिए करुणामय बुद्धके हृदयग्राही उपदेश होते थे। उत्तरकालमे इन मुमुक्षुभावनाओका लक्ष्य यद्यपि वही रहा पर समर्थनका ढग बदला। उसमे परपक्षका जोरोसे खडन शुरू हुआ तथा बुद्धिकल्पित विकल्पजालोसे बहुविध पन्थो और ग्रन्थोका निर्माण हुआ। इन बुद्धिवाग्वैभवशाली आचार्योंने बुद्धकी उस मध्यमप्रतिपदाका इस नए क्षेत्रमे जरा भी उपयोग नही किया। मध्यमप्रतिपदा शब्द-का अपने ढंगसे शाब्दिक आदर ता किया पर उसके प्राणभूत समन्वयके तत्त्वका बुरी तरह कचूमर निकाल डाला। विज्ञानवादियोने मध्यमप्रतिपदाको विज्ञानस्वरूप कहा तो विभ्रमवादियोने उसे विभ्रमरूप। शून्य-वादियोने तो मध्यमप्रतिपदाको शून्यताका पर्यायवाची ही लिख दिया है—

"मध्यमा प्रतिपत् सैव सर्वधर्मनिरात्मता। भूतकोटिश्च सैवेय तथता सर्वशून्यता।"

—अर्थात् सर्वशून्यताको ही सर्वधर्मनैरात्म्य तथा मध्यमा प्रतिपत् कहते हैं। यही वास्तविक तथा तथ्यरूप है।

इन अहिंसाके पुजारियोने मध्यमप्रतिपदाके द्वारा वैदिक संस्कृतिका समन्वय न करके उसपर ऐकान्तिक प्रहार कर पारस्परिक मनोमालिन्य-हिंसाको ही उत्तेजन दिया। इससे वैदिक संस्कृति तथा बौद्ध संस्कृतिके बीच एक ऐसी अभेद्य दीवार खडी हो गई जिसने केवल दार्शनिक क्षेत्रमें ही नही किन्तु राज-नैतिक और सामाजिक क्षेत्रमे भी दोनोको सदाके लिए आत्यन्तिक विभक्त कर दिया। इसके फलस्वरूप प्राणोकी बाजी लगाकर अनेकों शास्त्रार्थ हुए तथा राजनैतिक जीवनमें इस कालकूटने प्रवेशकर अनेको राज-वंशोका सत्यानाश किया। उत्तरकालमे बौद्धाचार्योंने मन्त्र-तन्त्रोकी साधना इसी हिंसाके उत्तेजनके लिए की और आखिर इसी हिंसाज्वालासे भारतवर्षमे बौद्धोका अस्तित्व खाकमे मिल गया। यदि मध्यमा प्रतिपद्ने इस दार्शनिक क्षेत्रमे भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया होता तो आज उसकी अहिंसक किरणोसे दर्शनशास्त्र-का कुछ दूसरा ही रूप हुआ होता, और भारतवर्षका मध्यकालीन इतिहास सचमुच स्वर्णाक्षरोमे लिखा जाने लायक होता।

जैनदृष्टि—भगवान् महावीर अत्यन्त कठिन तपस्या करनेवाले तप शूर थे। इन्होने अपनी उग्र तपस्यामे कैवल्य प्राप्त किया। ये इतने दृढतपस्वी तथा कष्टसहिष्णु व्यक्ति थे कि इन्हे बुद्धकी तरह अपनी व्यक्तिगत तपस्यामे मृदुता लानेके लिए मध्यममार्गके उपयोगकी आवश्यकता ही नही हुई। इनकी साधना कायिक अहिंसाके सूक्ष्मपालनके साथ ही साथ वाचनिक और खासकर मानस अहिंसाकी पूर्णताकी दिशामे थी। भगवान् महावीर पितृचेतस्क व्यक्ति थे, अतः इनका आचारके नियमोमे अत्यन्त दृढ एवं अनुशासनप्रिय होना स्वाभाविक था। पर संघमे तो पंचमेल व्यक्ति दीक्षित होते थे। सभी तो उग्रमार्गके द्वारा साधना करनेमें समर्थ नही हो सकते थे अत इन्होने अपनी अनेकान्तदृष्टिसे आचारके दर्जे निश्चित कर चतुर्विधसघका निर्माण किया। और प्रत्येक कक्षाके योग्य आचारके नियम स्थिरकर उनके पालन करानेमें ढिलाई नही की। भग० महावीरकी अनेकान्तदृष्टिने इस तरह आचारके क्षेत्रमें सुदृढ संघनिर्माण करके तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया।

अनेकान्तदृष्टिका आधार—भगवान् महावीरने बुद्धकी तरह आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके स्वरूप-निरूपणमे मौन धारण नही किया; किन्तु उस समयके प्रचलित वादोंका समन्वय करनेवाला वस्तुस्वरूपस्पर्शी उत्तर दिया कि—आत्मा है भी, नही भी, नित्य भी, अनित्य भी, आदि। यह अनेकान्तात्मक वस्तुका कथन

उनकी मानसी अहिंसाका प्रतिफल हैं। अन्यथा वे बुद्धकी तरह इस चर्चाको अनुपयोगी कह सकते थे। कायिक अहिंसाके लिए जिस तरह व्यक्तिगत सम्यगाचार आवश्यक हैं, उसी तरह वाचनिक और खासकर मानस अहिंसाके लिए अनेकान्तदृष्टि विशेषरूपसे उपासनीय है। जब तक दो विभिन्न विचारोंका अनेकान्तदृष्टिसे वस्तुस्थितिके आधारपर समीकरण न होगा तब तक हृदयमें उनका अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहेगा, और उन विचारोंके प्रयोजकोंके प्रति राग-द्वेषका भाव जाग्रत् हुए बिना न रहेगा। इस मानस अहिंसाके बिना केवल बाह्य अहिंसा याचितकमण्डनरूप ही है। यह तो और भी कठिन है कि—'किसी वस्तुके विषयमें दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हों, और उनका अपने-अपने ढंगसे समर्थन ही नहीं उसकी सिद्धिके लिए वाद-विवाद भी करते हों, फिर भी वे एक दूसरेके प्रति समताभाव-मानस अहिंसा रख सकें।' भगवान् महावीरने इसी मानसशुद्धिके लिए, अनिर्वचनीय अखण्ड अनन्तधर्मा वस्तुके एक-एक अंशको ग्रहण करके भी पूर्णताका अभिमान करनेके कारण विरुद्धरूपसे भासमान अनेक दृष्टियोंका समन्वय करनेवाली, विचारोंका वास्तविक समझौता करानेवाली, पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टिको सामने रखा। जिसमें एक वादी इतरवादियोंकी दृष्टिका तत्त्व समझकर उसका उचित अंश तक आदर करे, उसके विचारोंके प्रति सहिष्णुताका परिचय दे, और राग-द्वेषविहीन हो शान्त चित्तसे वस्तुके पूर्णस्वरूप तक पहुँचनेकी दिशामें प्रयत्न करे। समाजरचना या संघनिर्माणमें तो इस तत्त्वकी खास आवश्यकता थी। संघमें तो विभिन्न सम्प्रदाय एवं विचारोंके चित्रविचित्र व्यक्ति दीक्षित होते थे। उनका समीकरण इस यथार्थदृष्टिके बिना कर सकना अत्यन्त कठिन था, और समन्वय किए बिना उनके चित्तकी स्थिरता संभव ही नहीं थी। ऊपरी एकीकरणसे तो कभी भी विस्फोट हो सकता था और इस तरह अनेकों संघ छिन्न-भिन्न हुए भी।

अनेकान्तदृष्टिके मूलमें यह तत्त्व है कि—वस्तु स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, अनन्तधर्मोंका एक अखण्ड पिण्ड है। वचन उसके पूर्ण स्वरूपकी ओर इशारा तो कर सकते हैं, पर उसे पूर्णरूपसे कह नहीं सकते। लिहाजा एक ही वस्तुको विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे देखते हैं तथा उनका निरूपण करते हैं। इसलिए यदि विरोध भासित हो सकता है तो एक-एक अंशको ग्रहण करके भी अपनेमें पूर्णताका अभिमान करनेवाली दृष्टियोंमें ही। जब हम एक अंशको जाननेवाली अपनी दृष्टिमें पूर्णताका अभिमान कर बैठेंगे तो सहज ही द्वितीय अंशको जानकर भी पूर्णताभिमानिनी दूसरी दृष्टि उससे टकराएगी। यदि अनेकान्तदृष्टिसे हमें यह मालूम हो जाय कि—ये सब दृष्टियाँ वस्तुके एक-एक धर्मोंको ग्रहण करनेवाली है, इनमें पूर्णताका अभिमान मिथ्या है तब स्वरसतः द्वितीय दृष्टिको, जो अभी तक विरुद्ध भासित होती थी, उचित स्थान एवं आदर मिल जायगा। इसीको आचार्योंने शास्त्रीय शब्दोंमें कहा है कि—'एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं है, किन्तु बुद्धिगत है। अतः बुद्धिके शुद्ध होते ही एकान्तका नामोनिशान भी नहीं रहेगा।' इसी समन्वयात्मक दृष्टिसे होनेवाला वचनव्यवहार स्याद्वाद कहलाता है। यह अनेकान्त-ग्राहिणी दृष्टि प्रमाण कही जाती है। जो दृष्टि वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करके भी इतरधर्मग्राहिणी दृष्टियोंका प्रतिक्षेप नहीं करके उन्हें उचित स्थान दे वह नय कहलाती है। इस तरह मानस अहिंसाके कार्य-कारणभूत अनेकान्तदृष्टिके निर्वाह एवं विस्तारके लिए स्याद्वाद, नयवाद, सप्तभंगी आदि विविध रूपोंमें उत्तरकालीन आचार्योंने खूब लिखा। उन्होंने उदारतापूर्वक यहाँ तक लिखा है कि—'समस्त मिथ्यैकान्तोंका समूह ही अनेकान्त है, समस्त पाखण्डोंके समुदाय अनेकान्तकी जय हो।' यद्यपि पातञ्जलदर्शन, भास्करीयवेदान्त, भाट्ट आदि दर्शनोंमें भी इस समन्वयदृष्टिका उपयोग हुआ है; पर स्याद्वादके ऊपर ही संख्याबद्ध शास्त्रोंकी रचना जैनाचार्योंने ही की है। उत्तरकालीन जैनाचार्योंने यद्यपि भगवान् महावीरकी उसी पुनीत अनेकान्तदृष्टिके अनुसार ही शास्त्ररचना की है; पर वह मध्यस्थभाव अंशतः परपक्षखण्डनमें बदल गया। यद्यपि यह आवश्यक था कि—प्रत्येक एकान्तमें

दोष दिखाकर अनेकान्तकी सिद्धि की जाय, फिर भी उसका सूक्ष्म पर्यवेक्षण हमे इस नतीजेपर पहुँचाता है कि भगवान् महावीरकी वह मानस अहिंसा ठीक शत-प्रतिशत उसी रूपमें तो नही ही रही।

विचार विकासकी चरमरेखा—भारतीय दर्शनशास्त्रोमे अनेकान्तदृष्टिके आधारसे वस्तुके स्वरूप-के प्ररूपक जैनदर्शनको हम विचारविकासकी चरमरेखा कह सकते हैं। चरमरेखासे मेरा तात्पर्य यह है कि—दो विरुद्ध वादोमे तब तक शुष्कतर्कजन्य कल्पनाओका विस्तार होता जायगा जब तक कि उनका कोई वस्तु-स्पर्शी हल-समाधान न हो जाय। जब अनेकान्तदृष्टि उनमे सामञ्जस्य स्थापित कर देगी तब झगडा किस और शुष्क तर्कजाल किसलिए ? तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नही होती तब तक विवाद बातका बराबर बढता ही जाता है। जब वह वस्तु अनेकान्तदृष्टिसे अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी तब वादोका स्रोत अपने आप सूख जायगा।

स्वतःसिद्ध न्यायाधीश—इसलिए हम अनेकान्तदृष्टिको न्यायाधीशके पदपर अनायास ही बैठा सकते हैं। यह दृष्टि न्यायाधीशकी तरह उभयपक्षको समुचित रूपसे समझकर भी अपक्षपातिनी है। यह मौजूदा यावत् विरोधी वादरूपी मुद्दई मुद्दाहलोका फैसला करनेवाली है। यह हो सकता है कि—कदाचित् इस दृष्टिके उचित उपयोग न होनेसे किसी फैसलेमें अपीलको अवसर मिल सके। पर इसके समुचित उपयोग-से होनेवाले फैसलेमे अपीलकी कोई गुजाइश नही रहती। उदाहरणार्थ—देवदत्त और यज्ञदत्त मामा-फुआके भाई है। रामचन्द्र देवदत्तका पिता है तथा यज्ञदत्तका मामा। यज्ञदत्त और देवदत्त दोनो ही बडे बुद्धिशाली लडके है। देवदत्त जब रामचन्द्रको पिता कहता है तब यज्ञदत्त देवदत्तसे लडता है और कहता है कि—रामचन्द्र तो मामा है तू उसे पिता क्यो कहता है ? इसी तरह देवदत्त भी यज्ञदत्तसे कहता है कि—वाह ! रामचन्द्र तो पिता है उसे मामा नही कह सकते। दोनो शास्त्रार्थ करने बैठ जाते हैं। यज्ञदत्त कहता है कि—देखो, रामचन्द्र मामा हैं, क्योकि वे हमारी माँके भाई हैं, हमारे बडेभाई भी उसे मामा ही तो कहते हैं आदि। देवदत्त कहता है—वाह ! रामचन्द्र तो पिता है, क्योकि उसके भाई हमारे चाचा होते है, हमारी माँ उसे स्वामी कहती है आदि। इतना ही नही, दोनोमे इसके फलस्वरूप हाथापाई हो जाती है। एक दूसरेका कट्टर शत्रु बन जाता है। अनेकान्तदृष्टिवाला रामचन्द्र पासके कमरेसे अपने होनहार लडकोकी कल्पनाशक्ति एव बुद्धिपटुतासे प्रसन्न होकर भी उसके फलस्वरूप होनेवाली हिंसा-मारपीटसे खिन्न हो जाता है। वह उन दोनो-की गलती समझ जाता है और उन्हें बुलाकर धीरेसे समझाता है—बेटा देवदत्त, यह ठीक है कि मैं तुम्हारा पिता हूँ, पर केवल तुम्हारा पिता ही तो नही हूँ, इसका मामा भी तो हूँ। इसी तरह यज्ञदत्तको समझाता है कि—बेटा यज्ञदत्त, तुम भी ठीक कहते हो, मै तुम्हारा तो मामा ही हूँ, पर यज्ञदत्तका पिता भी तो हूँ। यह सुनते ही दोनो भाइयोकी दृष्टि खुल जाती है। वे झगडना छोडकर आपसमे बडे हेलमेलसे रहने लगते है। इस तरह हम समझ सकते है कि—एक-एक धर्मके समर्थनमे वस्त्वशको लेकर गढी गई दलीले तब तक बराबर चालू रहेंगी और एक-दूसरेका खडन ही नही किन्तु उससे होनेवाले रागद्वेष—हिंसाकी परम्परा बराबर चलेगी जब तक कि अनेकान्तदृष्टि उनकी चरमरेखा बनाकर समन्वय न कर देगी। इसके बाद तो मस्तिष्कके व्यायामस्वरूप दलीलोका दलदल अपने आप सूख जायगा।

प्रत्येक पक्षके वकीलो द्वारा अपने पक्षसमर्थनके लिए सङ्कलित दलीलोकी फाइलकी तरह न्याया-धीशका फैसला भले ही आकार मे बडा न हो; पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता एवं सूक्ष्मताके साथ ही साथ निष्पक्षपातिता अवश्य ही रहती है। उसी तरह एकान्तके समर्थनमे प्रयुक्त दलीलोंके भण्डारभूत एकान्तवादी दर्शनोकी तरह जैनदर्शनमे कल्पनाओंका चरम विकास न हो और न उसका परिमाण ही

अधिक हो; पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, तटस्थवृत्ति एवं अहिंसाधारतामें तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता। हो सकता है कि उत्तरकालमें मध्यकालीन आचार्यों द्वारा अशत परपक्ष खडनमें पड़नेके कारण उस मध्यस्थताका उत्तरूपमें निर्वाह न हुआ हो; पर वह दृष्टि उनके पास सदा जाग्रत् रही, और उसीके श्रेय प्रकाशमें उन्होने परपक्षको भी नयदृष्टिसे उचित स्थान दिया। जिस तरह न्यायाधीशके फैसलेके उपक्रममें उभयपक्षीय वकीलोकी दलीलोके बलाबलकी जाँचमें एक दूसरेकी दलीलोका यथा-संभव उपयोग होकर अन्तमे उनके निःसार भागकी समालोचनापूर्वक व्यवहार्य फैसला होता है। उसी तरह जैनदर्शनमें एक एकान्तके खण्डनार्थ या उसके बलाबलकी जाँचके लिए द्वितीय एकान्तवादीकी दलीलो-का पर्याप्त उपयोग देखा जाता है। अन्तमे उनकी समालोचना होकर उनका समन्वयात्मक फैसला दिया गया है। एकान्तवादी दर्शनोके समन्वयात्मक फैसलेकी ये मिसले ही जैनदर्शनशास्त्र हैं।

बात यह है कि—भगवान् महावीर कार्यशील अहिंसक व्यक्ति थे। वे वादी नही थे किन्तु सन्त थे। उन्हें वादकी अपेक्षा कार्य-सदाचरण अधिक पसन्द था, और जब तक हवाई बातोसे कार्योपयोगी व्यवहार्य मार्ग न निकाला जाय तब तक कार्य होना ही कठिन था। मानस-अहिंसाके संवर्द्धन, परिपोषणके लिए अनेकान्तदृष्टिरूपी संजीवनीकी आवश्यकता थी। वे बुद्धिजीवी या कल्पनालोकमें विचरण करनेवाले नही थे। उन्हें तो सर्वाङ्गीण अहिंसाप्रचारका सुलभ रास्ता निकाल कर जगत्को शान्तिका सहज सन्देश देना था। उन्हें मस्तिष्कके शुष्क कल्पनात्मक व्यायामकी अपेक्षा हृदयसे निकली हुई व्यवहार्य अहिंसाकी छोटी-सी आवाज ही अधिक कारगर मालूम होती थी। यह ठीक है कि—बुद्धिजीवीवर्ग जिसका आचरणसे विशिष्ट सम्पर्क न हो, बैठेठाले अनन्तकल्पना जालसे ग्रन्थ गूँथा करे और यही कारण है कि—बुद्धिजीवीवर्ग द्वारा वैदिक दर्शनोका पर्याप्त प्रसार हुआ। पर कार्यक्षेत्रमें तो केवल कल्पनाओसे ही निर्वाह नही हो सकता था, वहाँ तो व्यवहार्य मार्ग निकाले बिना चारा ही नही था। भग० महावीर ने अनेकान्तदृष्टि रूप, जिसे हम जैनदर्शनकी जान कहते है, एक वह व्यवहार्यमार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोगसे मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूपसे पाली जा सकती है। इस तरह भग० महावीरकी यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनके भव्य प्रासादका मध्यस्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शनकी प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अतुलसत्यको पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शनने इस अनेकान्तदृष्टिके आधारसे बनी हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्रके कोषागारमें अपनी ठोस और पर्याप्त पूंजी जमा की है। पूर्वकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकोने इसी दृष्टिके समर्थन द्वारा सत्-असत्, नित्यत्वानित्यत्व, भेदाभेद, पुण्य-पापप्रकार, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध-वादोमें पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन अकलंक, हरिभद्र आदि तार्किकोने अशत परपक्षका खण्डन करके भी उसी दृष्टि को, प्रौढ किया। इसी दृष्टिके विविध प्रकारसे उपयोगके लिए सप्तभगी, नय, निक्षेप आदिका निरूपण हुआ। इस तरह भग० महावीरने अपनी अहिंसाकी पूर्णसाधनाके लिए अनेकान्तदृष्टिका आविर्भाव करके जगत्को वह ध्रुवबीजमन्त्र दिया जिसका समुचित उपयोग ससारको पूर्ण सुख-शान्तिका लाभ करा सकता है।

नय—जब भग० महावीरने मानस अहिंसाकी पूर्णताके लिए अनेकान्तदृष्टिका सिद्धान्त निकाला, तब उसको कार्यरूपमे परिणत करनेके लिए कुछ तफसीली बाते सोचना आवश्यक हो गया कि कैसे इस दृष्टिसे प्रचलित वादोका उचित समीकरण हो? इस अनेकान्तदृष्टिकी कामयाबीके लिए किए गए मोटे-मोटे नियमोका नाम नय है। साधारणतया विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते है—१. ज्ञानाश्रयी, २. अर्थाश्रयी,

३. शब्दाश्रयी। कोई व्यक्ति ज्ञानकी सीमामें ही अपने विचारोंको दौडाता है उसे अर्थकी स्थितिकी कोई परवाह ही नहीं रहती। ऐसे मनसूबा बाँधनेवाले, हवाई किले बनानेवाले, शेखचिल्लीकी तरह विचारोंकी धुनमें ही मस्त रहनेवाले लोग अपने विचारोको ज्ञान ही ज्ञान – कल्पनाक्षेत्रमे ही दौड़ाते रहते हैं। दूसरे प्रकारके लोग अर्थानुसारी विचार करते हैं। अर्थमें एक ओर एक, नित्य और व्यापीरूपसे चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है, तो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनो चरम कोटियोंके मध्यकी है। पहिली प्रकारकी कोटिमें सर्वथा अभेद-एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं, तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक, निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटिमे पदार्थको नानारूपसे व्यवहारमे लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं। तीसरे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री, जिन्हें शब्दोके बालकी खाल खीचनेमे ही मजा आता है। ये लोग एक अर्थकी हर एक हालतमे विभिन्न शब्दके प्रयोगको मानते हैं। इनका तात्पर्य है कि—भिन्नकालवाचक, भिन्न कारकोमे निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्नपर्यायवाचक, भिन्नक्रियावाचक शब्द एक अर्थको नही कह सकते। शब्दभेदसे अर्थ भेद होना ही चाहिए। उपर्युक्त ज्ञान, अर्थ और शब्दका आश्रय लेकर होनेवाले विचारोके समन्वयके लिए किए गए स्थूल मूल नियमोको नय कहते हैं।

इनमे ज्ञानाश्रित व्यवहारका सकल्प-विचारमात्रको ग्रहण करनेवाले नैगमनयमें समावेश हुआ। अर्थाश्रित अभेदव्यवहारका, जो "आत्मैवेद सर्वम्, एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" आदि उपनिषद्वाक्योंसे प्रकट होता है, संग्रहनयमे अन्तर्भाव किया गया। इसके आगे तथा एकपरमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहिले होनेवाले यावद मध्यवर्ती भेदोका जिनमे न्याय वैशेषिकादि दर्शन शामिल हैं, व्यवहारनयमे समावेश किया। अर्थकी आखिरी देशकोटि परमाणुरूपता तथा कालकोटि क्षणमात्रस्थायिताको ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनयमे शामिल हुई। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेदाभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियोका नम्बर आया। काल, कारक, सख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिकी दृष्टिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोके वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, इस कालकारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टिका शब्दनयमे समावेश हुआ। एक ही साधनमे निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, इन पर्यायवाची शब्दोसे भी अर्थभेद माननेवाली समभिरूढनयकी दृष्टि हैं। एवंभूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रियामे परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न हैं। गुणवाचक शुक्ल शब्द भी शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक चलति शब्द चलने रूप क्रियासे, नामवाचक यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि भी 'देवने इसको दिया' इस क्रियासे निष्पन्न हुए हैं। इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दरूपसे होनेवाले यावद्व्यवहारोका समन्वय इन नयोमे किया गया है। पर यह समन्वय एक खास शर्तपर हुआ है। वह शर्त यह है कि—कोई भी दृष्टि अपनी प्रतिपक्षी दृष्टिका निराकरण नही कर सकेगी। इतना हो सकता है कि एक-अभेद अशकी मुख्यता होनेपर दूसरी-भेददृष्टि गौण हो जाय। यही सापेक्षभाव नयका प्राण है। इस सापेक्षताके अभावमे नयदृष्टि सुनयरूप न रहकर दुर्नय बन जाती है। "सापेक्षो नय, निरपेक्षो दुर्नय." यह स्पष्ट ही कहा है।

इस संक्षिप्त कथनमें यदि सूक्ष्मतासे देखा जाय तो दो प्रकारकी दृष्टियाँ ही मुख्यरूपसे कार्य करती हैं—एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियोका आधार चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर

कल्पना अभेद या भेद दो ही रूपसे की जा सकती है। उस कल्पनाका प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यो न हो। इन दो मूल आधारोको द्रव्यनय और पर्यायनय नामसे व्यवहृत किया है। देश, काल तथा आकार जिस किसी भी रूपसे अभेद ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है तथा भेदग्राही पर्यायार्थिक नय है। इन्हें मूलनय कहते हैं, क्योकि समस्त विचारोका मूल आधार यही दो नय होते है। नैगमादि नय तो इन्हीकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक, निश्चय-व्यवहार, शुद्धनय-अशुद्धनय आदि शब्द इन्हीके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

चूँकि नैगमनय सकल्पमात्रग्राही है, तथा संकल्प या तो अर्थके अभेद अंशको विषय करता है या भेद अंशको। इसीलिए अभेदसकल्पी नैगमका सग्रहनयमे तथा भेदसकल्पी नैगमका व्यवहारनयमे अन्तर्भाव करके आचार्य सिद्धसेनने नैगमनयको स्वतन्त्र नय नही माना है। इनके मतमे संग्रहादि छह ही नय है।

अकलंकदेवने नैगमनयको अर्थनय मानकर ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नयोका अर्थनयरूपमे तथा शब्द आदि तीन नयोका शब्दनयरूपसे विभाग किया है। नय तथा दुर्नयका निम्न लक्षण समझना चाहिए—भेदाभेदात्मक, उत्पादव्ययध्रौव्यरूप, समान्यविशेषात्मक पदार्थ अखण्डरूपसे प्रमाणका विषय होता है। उसके किसी एक धर्मको मुख्य तथा इतरधर्मोंको गौणरूपमे विषय करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय नय कहलाता है। जब वही अभिप्राय इतरधर्मोंको गौण नही करके उनका निरास करने लगता है तब वह दुर्नय कहलाता है। तात्पर्य यह कि—प्रमाणमे अनेकधर्मवाली पूर्ण वस्तु विषय होती है, नयमे एक धर्म मुख्यरूपसे विषय होकर भी इतरधर्मोंके प्रति उपेक्षा-गौणता रहती है, जबकि दुर्नय इतरधर्मोंका ऐकान्तिक निरास कर देता है।

नैगम-नैगमाभास—यद्यपि अकलकदेवने राजवार्तिकमे सर्वार्थसिद्धिके अनुसार नैगमनयका 'सङ्कल्पमात्रग्राही' यह ज्ञानाश्रितव्यवहारका समन्वय करनेवाला लक्षण किया है, पर लघीयस्त्रयमे वे नैगमनयको अर्थकी परिधिमे लाकर उसका यह लक्षण करते हैं—''गुण-गुणी या धर्म-धर्मीमे किसी एकको गौण तथा दूसरेको मुख्यतासे ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे जीवके स्वरूपनिरूपणमे ज्ञानादिगुण गौण होते हैं तथा ज्ञानादिगुणोके ही वर्णनमे जीव।'' गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमे सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योकि—गुण-गुणीसे अपनी पृथक् सत्ता नही रखता और न गुणोकी उपेक्षा करके गुणी अपना अस्तित्व रख सकता है। अत इनमे कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही समुचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, तथा सामान्य-विशेषमे भी कथञ्चित्तादात्म्य ही सम्बन्ध है। यदि गुण आदि गुणी आदिमे बिलकुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हो, तो उनमे नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण-गुण्यादिभाव नही बन सकेगा। अवयवी यदि अवयवोसे सर्वथा पृथक् है, तो उसकी अपने अवयवोंमें वृत्ति—सम्बन्ध माननेमे अनेको दूषण आते हैं। यथा—अवयवी अपने प्रत्येक अवयवोमे यदि पूर्णरूपसे रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही स्वतन्त्र अवयवी सिद्ध होगे। यदि एकदेश से रहेगा, तो जितने अवयव हैं अवयवीके उतने ही देश मानना होगे, उन देशोमे भी वह 'सर्वात्मना रहेगा या एक देशसे' इत्यादि विकल्प होनेसे अनवस्था दूषण आता है।

सत्तासामान्यका अपनी व्यक्तियोसे सर्वथा भेद माननेपर, सत्तासम्बन्धसे पहिले द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियोको सत् माना जाय, या असत् ? यदि वे असत् है, तो उनमे सत्तासम्बन्ध नही हो सकता। सत्ता सर्वथा असत् खरविषाणादिमे तो नही रहती। यदि वे सत् हैं, तो जिस प्रकार स्वरूपसत् द्रव्यादिमे सत्ता-सम्बन्ध मानते हो उसी तरह स्वरूपसत् सामान्यादिमे भी सत्तासम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। अथवा जिस प्रकार सामान्यादि स्वरूपसत् है उनमे किसी अन्य सत्ताके सम्बन्धकी आवश्यकता नही है, उसी तरह

द्रव्य, गुण, कर्मको भी स्वरूपसत् ही मानना चाहिए। स्वरूपसत्में अतिरिक्त सत्ताका समवाय मानना तो बिलकुल ही निरर्थक है। इसी तरह गोत्वादि जातियोको शाबलेयादि व्यक्तियोसे सर्वथा भिन्न माननेमे अनेको दूषण आते हैं। यथा—जब एक गौ उत्पन्न हुई, तब उसमे गोत्व कहाँसे आयगा ? उत्पन्न होनेके पहिले गोत्व उस देशमे तो नही रह सकता; क्योकि गोत्वसामान्य गोविशेषमें ही रहता है गोशून्य देशमें नहीं। निष्क्रिय होनेसे गोत्व अन्य देशसे आ नही सकता। यदि अन्य देशसे आवे भी, तो पूर्वपिण्डको एकदेशसे छोडेगा या बिलकुल ही छोड देगा ? निरश होनेके कारण एकदेशसे पूर्वपिण्डको छोडना युक्तिसगत नही है। यदि गोत्व पूर्णरूपसे पूर्व गोपिण्डको छोडकर नूतन गौमें आता है; तब तो पूर्वपिण्ड अगौ-गोत्वशून्य हो जायगा, उसमे गौ व्यवहार नही हो सकेगा। यदि गोत्वसामान्य सर्वगत है; तो गोव्यक्तियोकी तरह अश्वादिव्यक्तियोमे भी गोव्यवहार होना चाहिए।

अवयव और अवयवीके सम्बन्धमें एक बडी विचित्र बात यह है कि—संसार तो यह मानता है कि पटमे तन्तु, वृक्षमे शाखा तथा गौमे सीग रहते हैं, पर 'तन्तुओमें पट, शाखाओमे वृक्ष तथा सींगमें गौ' का मानना तो सचमुच एक अलौकिक ही बात है। अत गुण आदिका गुणी आदिसे कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही युक्तिसगत है। कथञ्चित्तादात्म्यका तात्पर्य यह है कि–गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं उनसे भिन्न नही हैं। जो ज्ञानस्वरूप नही है वह ज्ञानके समवायसे भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है ? यदि अज्ञ वस्तु भी ज्ञानके समवायसे 'ज्ञ' हो जाय; तो समवाय स्वय 'ज्ञ' बन जायगा, क्योकि समवाय आत्मामें ज्ञानका सम्बन्ध तभी करा सकता है जब वह स्वयं ज्ञान और आत्मासे सम्बन्ध रखे। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोमे असम्बद्ध रहकर सम्बन्धबुद्धि नही करा सकता। अत यह मानना ही चाहिये कि–ज्ञानपर्याय-वाली वस्तु ही ज्ञानके सम्बन्धको पा सकती है। अतः वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे निरपेक्ष–सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

इसी तरह साख्यका ज्ञान सुखादिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। वह मानता है कि—सत्त्वरजस्तमोरूप-त्रिगुणात्मक प्रकृतिके ही सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसीमे आविर्भूत तथा तिरोहित होते हैं। इसी प्रकृतिके ससर्गसे पुरुषमे ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप व्यक्त-कार्यकी दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप-अव्यक्तस्वरूपसे अदृश्य है। पुरुष चेतनरूप तथा कूटस्थ–अपरिणामी नित्य है। इस तरह वह चैतन्यसे बुद्धिको भिन्न समझकर उसे पुरुषसे भी भिन्न मानता है। उसका यह ज्ञान और आत्माका सर्वथा भेद मानना भी नैगमाभास है; क्योकि चैतन्य तथा ज्ञानमे कोई भेद नही है। बुद्धि, उपलब्धि, चैतन्य, ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। यदि चैतन्य पुरुषका धर्म हो सकता है; तो ज्ञानको भी उसीका ही धर्म होना चाहिये। प्रकृतिकी तरह पुरुष भी ज्ञानादिरूपसे दृश्य होता है। 'सुख ज्ञानादिक सर्वथा अनित्य हैं, चैतन्य सर्वथा नित्य है' यह भी प्रमाणसिद्ध नही है, क्योकि पर्यायदृष्टिसे उनमे अनित्यता रहनेपर भी चैतन्यसामान्यकी अपेक्षा नित्यता भी है। इस तरह वैशेषिकका गुण-गुण्यादिमें सर्वथा भेद मानना तथा साख्यका पुरुषसे बुद्धयादिका भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि इनमे अभेद अशका निराकरण ही हो गया है।

संग्रह-संग्रहाभास—समस्त पदार्थोंको अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय सग्रहनय है। यह परसंग्रह तथा अपरसंग्रहके भेदसे दो प्रकारका है। परसंग्रहमे सत् रूपसे समस्त पदार्थोंका संग्रह किया जाता है, तथा अपरसंग्रहमें द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका, गोत्वरूपसे समस्त गौओंका आदि। यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक कि भेद अपनी चरम कोटि तक नही पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यव-

हारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्र नयके विषयभूत एक वर्त्तमान कालीन अर्थपर्याय तक पहुँचता है तब अपर-संग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है।अपरसंग्रह और व्यवहारनयका क्षेत्र तो समान है पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसंग्रहमें तद्गत अभेदांशके द्वारा संग्रहकी दृष्टि है तब व्यवहारनयमें भेदकी ही प्रधानता है। परसंग्रहनयकी दृष्टिमें सद्रूपसे सभी पदार्थ एक हैं उनमें कोई भेद नही है। जीव, अजीव आदि सभी सद्रूपसे अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने नीलादि अनेक आकारोमें व्याप्त है उसी तरह सन्मात्रतत्त्व सभी पदार्थोंमें व्याप्त है, जीव, अजीव आदि सब उसीके भेद है। कोई भी ज्ञान सन्मात्र द्रव्यको बिना जाने भेदोको नही जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहिर अर्थात् असत् नही है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादिमें प्रवृत्ति करे या बाह्य नीलादि अचेतन पदार्थोंमें, वह सद्रूपसे अभेदांशको विषय करता ही है। संग्रहनयकी इस अभेददृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेद दृष्टि है। जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर वस्तुमें कोई स्थान ही नही दिया गया है। इस सर्वथा भेददृष्टिके कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेददृष्टिके विषयभूत पदार्थोंकी सत्ता ही नही मानते। नित्यांश कालिक-अभेदके आधारपर स्थिर है, क्योंकि जब वही एक वस्तु त्रिकालानुयायी होगी तभी वह नित्य कही जा सकती है। अवयवी तथा स्थूलादि दैशिक-अभेदके आधारसे माने जाते है; जब एक वस्तु अनेक अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे तभी अवयवी व्यपदेश पा सकती है। स्थूलतामें भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

अकलङ्कदेव कहते है कि—बौद्ध सर्वथा भेदात्मक स्वलक्षणका जैसा वर्णन करते है वैसा सर्वथा क्षणिक पदार्थ न तो किसी ज्ञानका विषय ही हो सकता है और न कोई अर्थक्रिया ही कर सकता है। जिस प्रकार एक क्षणिक ज्ञान अनेक आकारोमें युगपद् व्याप्त रहता है उसी तरह एकद्रव्यको अपनी क्रमसे होने-वाली पर्यायोमें व्याप्त होनेमें क्या बाधा है? इसी अनादिनिधन द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तुओमें अभेदांशकी प्रतीति होती है। क्षणिक पदार्थमें कार्य-कारणभाव सिद्ध न होनेके कारण अर्थक्रियाकी तो बात ही नही करनी चाहिये। 'कारणके होनेपर कार्य होता है' यह नियम तो पदार्थको एकक्षणस्थायी माननेवालोके मतमें स्वप्नकी ही चीज है; क्योंकि एक क्षणस्थायी पदार्थके सत्ताक्षणमें ही यदि कार्यकी सत्ता स्वीकार की जाय, तब तो कारण और कार्य एकक्षणवर्ती हो जायँगे और इस तरह वे कार्य-कारणभावको असंभव बना देंगे। यदि कारण-भूत प्रथमक्षण कार्यभूत द्वितीयक्षण तक ठहरे तब तो क्षणभंगवाद कहाँ रहा? क्योकि कारणक्षणकी सत्ता कम-से-कम दो क्षण मानना पडी। इस तरह कार्यकारणभावके अभावसे जब क्षणिक पदार्थमें अर्थक्रिया ही नही बनती तब उसकी सत्ताकी आशा करना मृगतृष्णा जैसी ही है। और जब वह सत् ही सिद्ध नही होता तब प्रमाणका विषय कैसे माना जाय? जिस तरह बौद्धमतमें कारण अपने देशमें रहकर भी भिन्नदेशवर्ती कार्यको व्यवस्थित रूपसे उत्पन्न कर सकता है उसी तरह जब अभिन्न नित्य पदार्थ भी अपने समयमें रहकर कार्यको कार्यकालमें ही उत्पन्न कर सकता है, तब अभेदको असत् क्यो माना जाय? जिस तरह चित्रज्ञान अपने आकारोमें, गुणी गुणोमें तथा अवयवी अपने अवयवोंमें व्याप्त रहता है उसी तरह द्रव्य अपनी क्रमिक पर्यायोको भी व्याप्त कर सकता है। द्रव्यदृष्टिसे पर्यायोमें कोई भेद नही है। इसी तरह सन्मात्रकी दृष्टिसे समस्त पदार्थ अभिन्न हैं। इस तरह अभेददृष्टिमें पदार्थोंका संग्रह करनेवाला संग्रहनय है। इस नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि—विश्व एक है, अद्वैत है; क्योकि सन्मात्रतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। यह ध्यान रहे कि—इस नयमें शुद्ध सन्मात्र विषय होनेपर भी भेदका निराकरण नही है, भेद गौण अवश्य हो जाता है। यद्यपि अद्वयब्रह्मवाद भी सन्मात्रतत्त्व-को विषय करता है पर वह भेदका निराकरण करनेके कारण संग्रहाभास है। नय सापेक्ष—प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षा रखनेवाला, तथा दुर्नय निरपेक्ष—परपक्षका निराकरण करनेवाला होता है।

व्यवहार-व्यवहाराभास—संग्रहनयके द्वारा गृहीत अर्थमें विधिपूर्वक अविसंवादी-वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोकव्यवहार-विरुद्ध, वस्तुस्थितिकी अपेक्षा न करनेवाली भेदकल्पना व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द तथा ज्ञानरूपसे चलता है। जैसे जीवव्यवहार जीव अर्थ, जीवशब्द तथा जीवविषयक ज्ञान इन तीनो प्रकारोसे हो सकता है। 'वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुणपर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि वाक्य प्रमाण-से अविरोधी होनेके कारण तथा लोकव्यवहारमे अविसंवादी होनेसे प्रमाण हैं, एव पूर्वापरके अविरोधी होने-से ये सद्व्यवहारके विषय हैं। प्रमाणविरुद्ध कल्पनाएँ व्यवहाराभास हैं; जैसे सौत्रान्तिकका जड या चेतन सभी पदार्थोंको क्षणिक, निरंश, परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, तथा माध्यमिकका सर्वशून्यता स्वीकार करना। ये सब व्यवहाराभास प्रमाणविरोधी तथा लोकव्यवहारमे विसवादक होते है। जो भेदव्यवहार अभेदकी अपेक्षा रखेगा वही व्यवहारनयकी परिधिमे आयगा, तथा जो अभेदका निराकरण करेगा वह दुर्व्यवहार—व्यवहाराभास कहलायगा।

ऋजुसूत्र-तदाभास—ऋजुसूत्र नय पदार्थकी एक क्षणरूप शुद्ध वर्त्तमानकालवर्ती अर्थपर्यायको विषय करनेवाला है। इसकी दृष्टिमे अभेद कोई वास्तविक नही है। चित्रज्ञान भी एक न होकर अनेक ज्ञानोका समुदायमात्र है। इस तरह समस्त जगत् एक-दूसरेसे बिलकुल भिन्न है, एक पर्याय दूसरी पर्यायसे भिन्न है। यह भेद इतना सूक्ष्म है कि स्थूलदृष्टिवाले लोगोंको मालूम नही होता। जैसे परस्परमे विभिन्न भी वृक्ष दूरसे सघन तथा एकाकार रूपसे प्रतिभासित होते है, ठीक इसी तरह अभेद एक प्रातिभासिक वस्तु है। इस नय-की दृष्टिमे एक या नित्य कोई वस्तु ही नही है, क्योकि भेद और अभेदका परस्परमे विरोध है। इस तरह यह ऋजुसूत्र नय यद्यपि भेदको मुख्यरूपसे विषय करता है पर वह अभेदका प्रतिक्षेप नही करता। यह अभेदका प्रतिक्षेप कर दे तो बौद्धाभिमत क्षणिकतत्त्वकी तरह ऋजुसूत्राभास हो जायगा। सापेक्ष ही नय होता है। निरपेक्ष तो दुर्नय कहलाता है। जिस प्रकार भेदका प्रतिभास होनेसे वस्तुमे भेदकी व्यवस्था है उसी तरह जब अभेदका भी प्रतिभास होता है तो उसकी भी व्यवस्था होनी ही चाहिए। भेद और अभेद दोनो ही सापेक्ष है। एकका लोप करनेसे दूसरेका लोप होना अवश्यम्भावी है।

शब्द—काल, कारक, लिंग तथा सख्याके भेदसे शब्दभेद द्वारा भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवाला शब्दनय है। शब्दनय के अभिप्रायसे अतीत, अनागत एव वर्त्तमानकालीन क्रियाओके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि कर्तृ-कर्मसाधनमे प्रयुक्त भी देवदत्त भिन्न-भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' आदि लिंगभेदसे प्रयोगमें आनेवाला देवदत्त भी एक नही है। एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनमे प्रयुक्त देवदत्त भी पृथक्-पृथक् है। इसकी दृष्टिसे भिन्नकालीन, भिन्नकारकनिष्पन्न, भिन्न-लिङ्गक एव भिन्नसख्याक शब्द एक अर्थके वाचक नही हो सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए। वर्त्तना-परिणमन करनेवाला तथा स्वत परिणमनशील द्रव्योके परिणमनमे सहायक होनेवाला काल द्रव्य है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, ये तीन भेद हैं। केवल द्रव्य, केवल शक्ति, तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नहो कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते हैं। जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष, तथा जिसमें ये दोनो सामर्थ्य न हो वह नपुंसक कहा जाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्तात्मक अर्थमें ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलनेपर षट्कारक रूपसे परिणमन कर सकती है। कालादिभेदसे एक द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती हैं। एकरूप—सर्वथा नित्य या अनित्य वस्तुमें ऐसा परिणमन नही हो सकता; क्योंकि—सर्वथा

नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न स्त्रीलिङ्ग, पुंल्लिङ्ग आदिकी व्यवस्था भी एकान्त पक्षमें नहीं हो सकती। इस तरह कालादिके भेदसे अर्थभेद मानकर शब्द नय उनमें विभिन्न शब्दोंका प्रयोग मानता है। कालादि भेदसे शब्द-भेद होनेपर भी अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयाभास है।

समभिरूढ—एक कालवाचक, एक लिङ्गक तथा एक सङ्ख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढ नय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोंके द्वारा अर्थमें भेद मानता है। इस नयके अभिप्रायसे एक लिंग-वाले इन्द्र, शक्र तथा पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी विभिन्नता होनेसे विभिन्नार्थवाचकता है। शक्रशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त शासनक्रिया, इन्द्रशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त इन्दनक्रिया तथा पुरन्दरशब्दका प्रवृत्ति-निमित्त पूर्दारणक्रिया है। अत तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक है। शब्दनयमें एकलिंगवाले पर्याय-वाची शब्दोंमें अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढ नयमें विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होनेसे एकलिङ्गक पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद होना अनिवार्य है। पर्यायवाची शब्दोंकी दृष्टिसे अर्थमें भेद नहीं मानना समभिरूढा-भास है।

एवंभूतनय—क्रियाके भेदसे भी अर्थभेद माननेवाला एवभूतनय है। यह नय क्रियाकालमें ही तत्क्रियानिमित्तक शब्दके प्रयोगको साधु मानता है। जब इन्द्र इन्दन-क्रिया कर रहा हो उसी समय उसे इन्द्र कह सकते हैं दूसरे समयमें नहीं। समभिरूढ नय उस समय क्रिया हो या न हो, पर अतीत-अनागत क्रिया या उस क्रियाकी योग्यता होनेके कारण तच्छब्दका प्रयोग मान लेता है। पर एवभूतनय क्रियाकी मौजूदगी-में ही तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दके प्रयोगको साधु मानता है। इस नयकी दृष्टिसे जब कार्य कर रहा है तभी कारक कहा जायगा, कार्य न करनेकी अवस्थामें कारक नहीं कहा जा सकता। क्रियाभेद होनेपर भी अर्थ-को अभिन्न मानना एवंभूताभास है।

इन नयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एव अल्पविषयता है। नैगमनय सकल्पग्राही होनेसे सत् असत् दोनोको विषय करता था इसलिए सन्मात्रग्राही सग्रह नय उससे सूक्ष्म एव अल्पविषयक होता है। सन्मात्रग्राही सग्रह-नयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक एव सूक्ष्म हुआ। त्रिकालवर्ती सद्विशेषग्राही व्यवहारनयसे वर्तमान-कालीन सद्विशेष-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है। शब्दभेद होनेपर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्रसे कालादि-भेदसे शब्दभेद मानकर भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायभेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थभेदग्राही समभिरूढ अल्पविषयक एव सूक्ष्म-तर हुआ। क्रियाभेदसे अर्थभेद नहीं माननेवाले समभिरूढसे क्रियाभेद होनेपर अर्थभेदग्राही एवंभूत परमसूक्ष्म एव अत्यल्पविषयक होता है।

४. निक्षेपनिरूपण

निक्षेप—अखण्ड एवं अनिर्वचनीय वस्तुको व्यवहारमें लानेके लिए उसमें भेद कल्पना करनेको निक्षेप कहते हैं। व्यवहार ज्ञान, शब्द तथा अर्थरूपसे तीन प्रकारका होता है। शब्दात्मक व्यवहारके लिए ही वस्तुका देवदत्त आदि नाम रखा जाता है। अत. शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए नाम निक्षेपकी सार्थकता है। ज्ञानात्मक-व्यवहारके लिए स्थापना निक्षेप तथा अर्थात्मक व्यवहारके लिए द्रव्य और भाव निक्षेप सार्थक हैं। शब्दका प्रयोग जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षासे होता है। जाति, द्रव्य, गुण आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न करके इच्छानुसार सज्ञा रखनेको नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी बालककी गजराज संज्ञामात्र इच्छानुसार ही की गई है, उसमें गजत्वजाति, गजके गुण, गजकी क्रिया आदिकी अपेक्षा नहीं है।

जिसका नामकरण हो चुका है उसकी उसी आकारवाली प्रतिमा या चित्रमे स्थापना करना सद्भाव या तदाकार स्थापना कहलाती है। तथा भिन्न आकारवाली वस्तुमे स्थापना करना असद्भाव या अतदाकार स्थापना कहलाती है, जैसे शतरजके मुहरोमें घोडे आदिकी स्थापना। भविष्यत्कालीन राजपर्यायकी योग्यताके कारण या बीती हुई राजपर्यायका निमित्त लेकर वर्तमानमें किसीको राजा कहना द्रव्य निक्षेप है। तत्पर्यायप्राप्त वस्तुमें तत्व्यवहारको भावनिक्षेप कहते हैं, जैसे वर्तमान राजपर्यायवाले राजाको ही राजा कहना। अप्रस्तुत अर्थका निराकरण, प्रस्तुत अर्थका प्ररूपण एव संशयविनाशनके लिए निक्षेपकी सार्थकता है। अव्युत्पन्न श्रोताकी अपेक्षा अप्रस्तुतका निराकरण करनेके लिए, व्युत्पन्नकी अपेक्षा यदि वह सशयित है तो सशयविनाशके लिए और यदि विपर्यस्त है तो प्रस्तुत अर्थके प्ररूपणके लिए निक्षेपकी सार्थकता है।

५. सप्तभंगीनिरूपण

सप्तभंगी—प्रश्नके अनुसार वस्तुमे प्रमाणाविरोधी विधि-प्रतिषेधकी कल्पनाको सप्तभगी कहते हैं। विचार करके देखा जाय तो सप्तभगीमें मूल भग तो तीन ही हैं, बाकी भग सयोगज हैं। आगम ग्रन्थोंमे 'सिय अत्थि, सिय णत्थि, सिय अवत्तव्वा' रूपसे तीन ही भगोका निर्देश है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमे हमे सात भगोके दर्शन होते हैं। अनेकान्तदृष्टिका उद्देश्य परस्पर विरोधी धर्मोका समन्वय करना है। वस्तुत विरोध तो दोमे ही होता है जैसे नित्यत्वका अनित्यत्वसे, भेदका अभेदसे इत्यादि। अत पहिले तो परस्पर विरोधी दो धर्मोके समन्वय करनेकी ही बात उठती है। ऐसे अनेक विरोधी युगल वस्तुमें रह सकते है अत वस्तु अनेकान्तात्मक एव अनन्तधर्मा कही जाती है। अवक्तव्य धर्म तो वस्तुकी वास्तविक स्थिति बतानेवाला है कि वस्तुका अखण्डआत्मरूप शब्दोका विषय नही हो सकता। कोई ज्ञानी अनिर्वचनीय, अखण्ड वस्तु को कहना चाहता है, वह पहिले उसका अस्तिरूपसे वर्णन करता है पर वस्तुके पूर्ण वर्णन करनेमे असमर्थ होनेपर नास्तिरूपसे वर्णन करता है। पर इस समय भी वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताकी सीमा तक नही पहुँच पाता। लिहाजा कोशिश करनेपर भी अन्तमे उसे अवक्तव्य कहता है। शब्दमें वस्तुत इतनी सामर्थ्य नही है कि वह समग्रवस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करे। इसी अनिर्वचनीय तत्त्वका उपनिषदोमे 'अस्ति अस्ति' रूपसे तथा 'नेति नेति' रूपसे भी वर्णन करनेका प्रयत्न किया गया है। पर वर्णन करनेवाला अपनी तथा शब्दकी असामर्थ्यपर खीज उठता है और अन्तमें वरबस कह उठता है कि—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जिसके वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति वचन तथा मन भी नही कर सकते अत वे भी उससे निवृत्त हो जाते है, ऐसा है वह वचन तथा मनका अगोचर अखण्ड, अनिर्वचनीय, अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व। इसी स्थितिके अनुसार अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य ये तीन ही मूल भग हो सकते है। आगेके भग तो वस्तुत कोई स्वतन्त्र भग नही हैं। कार्मिक भगजालकी तरह द्विसयोगीरूपसे तृतीय, पञ्चम तथा षष्ठ भगका आविर्भाव हुआ तथा सप्तमभंगका त्रिसंयोगीके रूपमे। तीन मूल भगोके अपुनरुक्त भग सात ही हो सकते हैं। कही-कही अवक्तव्य भगका नंबर तीसरा है और कही उभय भगका। वस्तुत अवक्तव्य मूल भंग है। अत. उसीका नबर तीसरा होना चाहिये।

प्रथम भगमे स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे वस्तुका अस्तित्व विवक्षित होता है। द्वितीय भगमे परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तित्वकी विवक्षा होती है। यदि वस्तुमे स्वद्रव्यादिकी अपेक्षासे अस्तित्व न माना जाय तो वस्तु निःस्वरूप हो जायगी। और यदि परका नास्तित्व न माना जाय तो वस्तु साकर्य हो जायगा; क्योंकि घटमे पटका नास्तित्व न रहनेके कारण घट और पट एक हो जाना अनिवार्य ही है। यद्यपि आपाततः यह मालूम होता है कि स्वसत्त्व ही परासत्त्व है; पर विचार करनेसे मालूम हो जाता है कि ये दोनों

एक दूसरेसे फलित न होकर स्वतन्त्र धर्म हैं; क्योंकि इनकी प्रवृत्तिकी अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न हैं तथा कार्य भी भिन्न हैं ।

जब हम युगपद् अनन्तधर्मवाली वस्तुको कहना चाहते हैं तो ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जो ऐसी वस्तुके सभी धर्मोंका या विवक्षित दो धर्मोंका युगपत् प्रधान भावसे कथन कर सके । अत: कहनेकी अशक्ति होनेके कारण वस्तु अवक्तव्य है । वस्तुत: पदार्थ स्वरूपसे ही अनिर्वचनीय है और पदार्थकी उसी स्वरूपनिष्ठ अनिर्वाच्यताका द्योतन यह अवक्तव्य नामका तीसरा भंग करता है । संकेतके बलपर ऐसे किसी शब्दकी कल्पना तो की ही जा सकती है जो दो धर्मोंका भी एकरससे कथन कर सकता हो । अत: यह भङ्ग वस्तुके मौलिक वचनातीत पूर्णरूपका द्योतन करता है ।

चौथा अस्ति-नास्ति भंग—दोनों धर्मोंकी क्रमसे विवक्षा होनेपर बनता है । क्रमसे यहाँ कालिकक्रम ही समझना चाहिये । अर्थात् प्रथम समयमें अस्तिकी विवक्षा तथा दूसरे समयमें नास्तिकी विवक्षा हो और दोनों समयोंकी विवक्षाको मोटी दृष्टिसे देखनेपर इस तृतीय भंगका उदय होता है । और यह क्रमसे अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों का प्रधानरूपसे कथन करता है ।

पाँचवाँ अस्ति-अवक्तव्य भंग—अस्तित्व और अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षामें, अर्थात् प्रथम समयमें अस्तित्वकी विवक्षा तथा दूसरे समयमें अवक्तव्यकी विवक्षा होनेपर तथा दोनों समयकी विवक्षाओंपर स्थूलदृष्टिसे विचार करनेपर अस्ति-अवक्तव्य भंग माना जाता है । यह क्रमसे अस्तित्व और अवक्तव्यत्व-का प्रधानभावसे कथन करता है ।

छठवाँ नास्ति-अवक्तव्य भंग—नास्तित्व और अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षामें । अर्थात् प्रथम समयमें नास्तित्वकी विवक्षा तथा दूसरे समयमें अवक्तव्यकी विवक्षा होनेपर तथा दोनों समयोंकी विवक्षाओंपर व्यापकदृष्टि रखनेपर नास्ति-अवक्तव्य भंगकी प्रवृत्ति होती है । यह क्रमसे नास्तित्व और अवक्तव्यत्वका प्रधानभावसे कथन करता है ।

सातवाँ अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यभंग—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षामें, अर्थात् प्रथम समयमें अस्तित्वकी विवक्षा, दूसरे समयमें नास्तित्वकी विवक्षासे अस्तिनास्ति भंग बना, इसीके अनन्तर तृतीय समयमें अवक्तव्यकी विवक्षा होनेपर तथा तीनों समयोंकी विवक्षाओंपर स्थूलदृष्टिसे विचार करनेपर अस्ति नास्ति-अवक्तव्य भंगकी सृष्टि होती है । यह क्रमसे अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्यत्व धर्मोंका प्रधानरूपसे कथन करता है ।

यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि—प्रत्येक भंगमें अपने धर्मकी मुख्यता रहती है तथा शेष धर्मोंकी गौणता । इसी मुख्य-गौणभावके सूचनार्थ 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित्, अर्थात् अमुक अपेक्षासे वस्तु इस रूप है । इससे दूसरे धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता । प्रत्येक भंगकी स्थिति सापेक्ष है और इसी सापेक्षताका सूचक 'स्यात्' शब्द होता है । सापेक्षताके इस सिद्धान्तको नहीं समझनेवालोंके लिए प्रत्येक भंगके साथ स्यात् शब्दके प्रयोगका नियम है, क्योंकि स्यात् शब्दके प्रयोग किए बिना उन्हें सन्देह हो सकता है । पर यदि वक्ता या श्रोता कुशल है तब इसके प्रयोगका नियम नहीं है, क्योंकि बिना प्रयोगके ही वे स्याच्छब्दके सापेक्षत्व अर्थको बुद्धिगत कर सकते हैं । अथवा स्पष्टताके लिए इसका प्रयोग होना ही चाहिए । जैसे 'अहम् अस्मि' इन दो पदोंमेंसे किसी एकका प्रयोग करनेसे दूसरेका मतलब निकल आता है, पर स्पष्टताके लिए दोनोंका प्रयोग किया जाता है । संसारमें समझदारोंकी अपेक्षा कमसमझ या नासमझोंकी संख्या औसत दर्जे अधिक रहती आई है । अत: सर्वत्र स्यात् शब्दका प्रयोग करना ही राजमार्ग है ।

स्यादस्ति-अवक्तव्य आदि तीन भंग परमतकी अपेक्षा भी इस तरह लगाये जाते हैं कि—अद्वैत-वादियोंका सन्मात्र तत्त्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि केवल सामान्यमें वचनकी प्रवृत्ति नहीं होती। बौद्धोंका अन्यापोह नास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि शब्दके द्वारा मात्र अन्यका अपोह करनेसे किसी विधिरूप वस्तुका बोध नहीं हो सकेगा। वैशेषिकके स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति-नास्ति रूप—सामान्य विशेष रूप होकर भी अवक्तव्य—शब्दके वाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि दोनोंको स्वतन्त्र माननेसे उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकेगा। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेषमें शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती और न वैसी हालतमें कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है।

सकलादेश-विकलादेश—इन भंगोंका प्रयोग दो दृष्टियोंसे होता है—१–सकलादेशदृष्टि, जिसे स्याद्वादशब्दसे भी व्यवहृत किया गया है और यही प्रमाणरूप होती है। २–विकलादेशदृष्टि, इसे नय शब्दसे कहते हैं। एक धर्मके द्वारा समस्त वस्तुको अखण्डरूपसे ग्रहण करनेवाला सकलादेश है तथा उसी धर्मको प्रधान तथा शेष धर्मोंको गौण करनेवाला विकलादेश है। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थको ग्रहण करता है, जैसे 'जीव.' कहनेसे ज्ञानदर्शनादि असाधारण गुणवाले, सत्त्व-प्रमेयत्वादि साधारण स्वभाववाले तथा अमूर्तत्व-असख्यातप्रदेशित्व आदि साधारणासाधारण-धर्मशाली जीवका समग्र भावसे ग्रहण हो जाता है। इसमें सभी धर्म एकरूपसे गृहीत होते हैं अत यहाँ गौण-मुख्यविवक्षा अन्तर्लीन हो जाती है।

विकलादेश—नय एक धर्मका मुख्यतया कथन करता है। जैसे 'ज्ञो जीव' कहनेसे जीवके ज्ञानगुण-का मुख्यतया बोध होगा तथा शेषधर्म गौणरूपसे उसीके गर्भमें प्रतिभासित होंगे। एक धर्मका मुख्यतया बोध करानेके कारण ही वह वाक्य विकलादेश या नय कहा जाता है। नयमें भी स्यात् पदका प्रयोग किया जाता है और वह इसलिए कि–शेषधर्मोंकी गौणता उसमें सूचित होती रहे, उनका निराकरण न हो जाय। इसीलिए स्यात्पदलाञ्छित नय सम्यक् नय कहलाता है। 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीव-का अखण्डभावसे बोध कराता है, अत यह सकलादेशवाक्य है। 'स्यादस्त्येव जीव.' इस वाक्यमें जीवके अस्तित्व धर्मका मुख्यतया कथन होता है अत यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। तात्पर्य यह कि सकलादेशमें धर्मिवाचक शब्दके साथ एवकारका प्रयोग होता है और विकलादेशमें धर्मवाचक शब्दके साथ।

अकलंकदेवने राजवार्तिकमें दोनों वाक्योंका 'स्यादस्त्येव जीव' यही उदाहरण दिया है और उनकी सकल-विकलादेशता समझाते हुए लिखा है कि—जहाँ अस्ति शब्दके द्वारा सारी वस्तु समग्रभावसे पकड़ ली जाय वहाँ सकलादेश, तथा जहाँ अस्तिके द्वारा अस्तित्वधर्ममुख्यक एवं शेषानन्तधर्मगौणक वस्तु कही जाय वह विकलादेश समझना चाहिए। इस तरह दोनों वाक्योंमें यद्यपि समग्र वस्तु गृहीत हुई पर सकलादेशमें सभी धर्म मुख्यरूपसे गृहीत हुए हैं जब कि विकलादेशमें एक ही धर्म मुख्यरूपसे गृहीत हुआ है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि–'जब सकलादेशका प्रत्येक भंग समग्र वस्तुका ग्रहण करता है तब सकला-देशके सातों भंगोंमें परस्पर भेद क्या हुआ ?' इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि सभी धर्मोंमें पूरी वस्तु गृहीत होती है सही, पर स्यादस्ति भंगमें अस्तित्व धर्मके द्वारा तथा स्यान्नास्ति भंगमें नास्तित्व धर्मके द्वारा। उनमें मुख्य-गौणभाव भी इतना ही है कि—जहाँ अस्ति शब्दका प्रयोग है वहाँ मात्र 'अस्ति' इस शाब्दिक प्रयोग हीकी मुख्यता है धर्मकी नहीं। शेषधर्मोंकी गौणताका तात्पर्य है उनका शाब्दिक अप्रयोग।

इस तरह अकलंकदेवने सातों ही भंगोंको सकलादेश तथा विकलादेश कहा है। सिद्धसेनगणि आदि अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य इन तीन भंगोंको एकधर्मवाली वस्तुको ग्रहण करनेके कारण विकलादेश तथा शेष भंगोंको अनेकधर्मवाली वस्तु ग्रहण करनेके कारण सकलादेश कहते हैं।

मलयगिरि आचार्यकी दृष्टिसे सब ही नय मिथ्यारूप हैं। इनका कहना है कि—यदि नयवाक्यमें स्यात् शब्दका प्रयोग किया जायगा तो वे स्याच्छब्दके द्वारा सूचित अनन्तधर्मोके ग्राहक हो जानेके कारण प्रमाणरूप ही हो जायँगे। अत प्रमाणवाक्यमे ही स्याच्छब्दका प्रयोग उनके मतसे ठीक है नय वाक्यमे नही। इसी आशयसे उन्होंने अकलकके मतकी समालोचना की है। उपा० यशोविजयजीने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि—मात्र स्यात् पदके प्रयोगसे ही नयवाक्यमे प्रमाणता नही आ सकती, क्योंकि प्रमाणमे तो अनन्तधर्मोंका मुख्यतया ग्रहण होता है जबकि सुनयमे स्याच्छब्द-सूचित बाकी धर्म गौण रहते है आदि। अत. समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि द्वारा उपज्ञात यही व्यवस्था ठीक है कि—सापेक्ष नय सम्यक्, तथा निरपेक्ष नय मिथ्या होते है।

सशयादि दूषण—अनेकात्मक वस्तुमें सशयादि दूषणोके शिकार जैन ही नही बने किन्तु इतर लोग भी हुए है। जैनकी तरह पातञ्जलमहाभाष्यमें वस्तुको उत्पादादिधर्मशाली कहा है। व्यासभाष्यमे परिणामका लक्षण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि–'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्ति परिणाम' अर्थात् स्थिर द्रव्यकी एक अवस्थाका नाश होना तथा दूसरीका उत्पन्न होना ही परिणाम है। इसी भाष्यमें 'सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य' प्रयोग करके अर्थकी सामान्यविशेषात्मकता भी द्योतित की है। भट्टकुमारिलने मीमासाश्लोकवार्तिकमे अर्थकी सामान्यविशेषात्मकता तथा भेदाभेदात्मकताका इतर-दूषणोका परिहार करके प्रबल समर्थन किया है। उन्होने समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्" (आप्तमी० का० ५९) जैसी–"वर्धमानकभगेन रुचक क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिन शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन ॥ हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।" इत्यादि कारिकाएँ लिखकर बहुत स्पष्टरूपसे वस्तुके त्रयात्मकत्वका समर्थन किया है। भास्कराचार्यने भास्करभाष्यमे ब्रह्मसे अवस्थाओका भेदाभेद समर्थन बहुत विस्तारसे किया है। कुमारिलानुयायी पार्थसारथिमिश्र भी अवयव-अवयवी, धर्म-धर्मी आदिमे कथञ्चित् भेदाभेदका समर्थन करते है। साख्यके मतसे प्रधान एक होते हुए भी त्रिगुणात्मक, नित्य होकर भी अनित्य, अव्यक्त होकर भी व्यक्त आदि रूपसे परिणामी नित्य माना गया है। व्यासभाष्यमे 'त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्' लिखकर वस्तुकी नित्यानित्यात्मकता द्योतित की है। इस संक्षिप्त यादीसे इतना ध्यानमे आ जाता है कि जैनकी तरह कुमारिलादि मीमासक तथा साख्य भेदाभेदवादी एव नित्यानित्यवादी थे।

दूषण उद्भावित करनेवालोमे हम सबसे प्राचीन बादरायण आचार्यको कह सकते हैं। उन्होने ब्रह्मसूत्रमे 'नैकस्मिन्नसंभवात्'–एकमे अनेकता असम्भव है–लिखकर सामान्यरूपसे एकानेकवादियोका खडन किया है। उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थोमे धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिकमे साख्यके भेदाभेदमे विरोध उद्भावन करके 'एतेनैव यदह्रीका' आदि लिखते हैं। तात्पर्य यह कि धर्मकीर्तिका मुख्य आक्षेप साख्यके ऊपर है तथा उन्ही दोषोका उपसंहार जैनका खडन करते हुए किया गया है। धर्मकीर्तिके टीकाकार कर्णकगोमि जहाँ भी भेदाभेदात्मकताका खंडन करते हैं वहाँ 'एतेन जैनजैमिनीयं. यदुक्तम्' आदि शब्द लिखकर जैन और जैमिनिके ऊपर एक ही साथ प्रहार करते है। एक स्थानपर तो 'तदुक्तं जैनजैमिनीयैं' लिखकर समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाका 'सर्वात्मक तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे' यह कारिकाश उद्धृत किया है। एक जगह दिगम्बरका खंडन करते हुए 'तदाह' करके समन्तभद्रकी 'घटमौलिसुवर्णार्थी, पयोव्रतो न दध्यत्ति, न सामान्यात्मनोदेति' इन तीन कारिकाओके बीचमे कुमारिलकी "न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्। स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥" यह कारिका भी उद्धृत की है। इससे मालूम होता है कि बौद्ध ग्रन्थकारोका

प्रहार भेदाभेदात्मक अंशमें सांख्यके साथ ही साथ जैन और जैमिनिपर समानरूपसे होता था। उनका जैनके नामसे कुमारिलकी कारिकाको उद्धृत करना तथा समन्तभद्रकी कारिकाके ऊपर जैनके साथ जैमिनिका भी प्रयोग करना इस बातको स्पष्ट बतलाता है कि उनकी दृष्टिमें जैन और जैमिनिमें भेदाभेदात्मक माननेवालोंके रूपसे भेद नहीं था। तत्त्वसंग्रहकारने तो 'विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः' लिखकर इस बातको अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है।

संशयादि आठ दूषण अभी तक किसी ग्रन्थमें एक साथ नहीं देखे गए हैं। शांकरभाष्यमें विरोध और संशय इन दो दूषणोंका स्पष्ट उल्लेख है, तत्त्वसंग्रहमें सांकर्य दूषण भी दिया गया है। बाकी प्रमाणवार्तिक आदिमें मुख्यरूपसे विरोध दूषण ही दिया गया है। वस्तुतः समस्त दूषणोंका मूल आधार तो विरोध ही है। हाँ, स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७३८) में नैयायिककी एक कारिका 'तदुक्तम्' करके उद्धृत की है—

"संशयविरोधवैयधिकरण्यसंकरमथोभय दोषः। अनवस्था व्यतिकरमपि जैनमते सप्त दोषाः स्युः ॥"

इस कारिकामें एक साथ सात दूषण गिनाए गए हैं। आठ दूषणोंका परिहार भी सर्वप्रथम अकलंकने ही किया है। उन्होंने लिखा है कि—जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक विरोधी रंगोंको युगपत् धारण करता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मोंको धारण कर सकती है। इसी मेचकरत्नके दृष्टान्तसे संशयादि दोषोंका परिहार भी किया है। सामान्य-विशेषका दृष्टान्त भी इसी प्रसंगमें दिया है—जैसे पृथिवीत्व जाति पृथिवीव्यक्तियोंमें अनुगत होनेसे सामान्यरूप होकर भी जलादिसे व्यावर्तक होनेके कारण विशेषात्मक है और इस तरह परस्पर विरोधी सामान्य-विशेष उभय रूपोंको धारण करती है, उसी तरह समस्त पदार्थ एक होकर भी अनेकात्मक हो सकते हैं। प्रमाणसिद्ध वस्तुमें विरोधादि दोषोंको कोई स्थान ही नहीं है। जिस प्रकार एक वृक्ष अवयवविशेषमें चलात्मक तथा अवयवविशेषकी दृष्टिसे अचलात्मक होता है, एक ही घड़ा एकदेशेन लालरंगका तथा दूसरे देशमें अन्य रंगका, एकदेशेन ढँका हुआ तथा अन्यदेशसे अनावृत, एकदेशेन नष्ट तथा दूसरे देशसे अनष्ट रह सकता है, उसी तरह एक वस्तु भी अनेकधर्मवाली हो सकती है।

●

न्यायविनिश्चय और उसका विषय विवेचन

दर्शन

संसारके यावत् चर-अचर प्राणियोंमें मनुष्यकी चेतना सविशेष विकसित है। उसका जीवन अन्य प्राणियोंकी तरह केवल आहार, निद्रा, रक्षण और प्रजननमें ही नही बीतता किन्तु वह अपने स्वरूप, मरणोत्तर जीवन, जड जगत्, उससे अपने सम्बन्ध आदिके विषयमें सहज गतिसे मनन-विचार करनेका अभ्यासी है। सामान्यत. उसके प्रश्नोंका दार्शनिक रूप इस प्रकार है—आत्मा क्या है ? परलोक है या नही ? यह जड जगत् क्या है ? इससे आत्माका क्या सम्बन्ध है ? यह जगत् स्वय सिद्ध है या किसी चेतन शक्तिसे समुत्पन्न है ? इसकी गतिविधि किसी चेतनसे नियन्त्रित है या प्राकृतिक साधारण नियमोसे आबद्ध ? क्या असत्से सत् उत्पन्न हुआ ? क्या किसी सत्का विनाश हो सकता है ? इत्यादि प्रश्न मानव जातिके आदिकालसे बराबर उत्पन्न होते रहे हैं और प्रत्येक दार्शनिक मानस इसके समाधानका प्रयास करता रहा है। ऋग्वेद तथा उपनिषत्-कालीन प्रश्नोका अध्ययन इस बातका साक्षी है। दर्शनशास्त्र ऐसे ही प्रश्नोके सम्बन्धमें ऊहापोह करता आया है। प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थकी व्याख्यामे मतभेद हो सकता है पर स्वरूप उसका विवादसे परे है किन्तु परोक्ष पदार्थकी व्याख्या और स्वरूप दोनो ही विवादके विषय है। यह ठीक है कि दर्शनका क्षेत्र इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत दोनों प्रकारके पदार्थ है। पर मुख्य विचार यह है कि—दर्शनकी परिभाषा क्या है ? उसका वास्तविक अर्थ क्या है ? वैसे साधारणतया दर्शनका मुख्य अर्थ साक्षात्कार करना होता है। वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान ही दर्शनका मुख्य अभिधेय है। यदि दर्शनका यही मुख्य अर्थ हो तो दर्शनोमे भेद कैसा ? किसी भी पदार्थका वास्तविक पूर्ण प्रत्यक्ष दो प्रकारका नही हो सकता। अग्निका प्रत्यक्ष गरम और ठण्डेके रूपमे दो तरहसे न अनुभवगम्य है और न विश्वासयोग्य ही। फिर दर्शनोमे तो पग-पगपर परस्पर विरोध विद्यमान है। ऐसी दशामे किसी भी जिज्ञासुको यह सन्देह स्वभावत होता है कि—जब सभी दर्शन-प्रणेता ऋषियोने तत्त्वका साक्षाद्दर्शन करके निरूपण किया है तो उनमे इतना मतभेद क्यो है ? या तो दर्शन शब्दका साक्षात्कार अर्थ नही है या यदि यही अर्थ है तो वस्तुके पूर्ण स्वरूपका वह दर्शन नही है या वस्तुके पूर्ण स्वरूपका दर्शन भी हुआ हो तो उसके प्रतिपादनकी प्रक्रियामे अन्तर है ? दर्शनके परस्पर विरोधका कोई-न-कोई ऐसा ही हेतु होना चाहिये। दूर न जाइये, सर्वत सन्निकट आत्माके स्वरूपपर ही दर्शनकारोंके साक्षात्कारपर विचार कीजिये—साख्य आत्माको कूटस्थनित्य मानते है। इनके मतसे आत्माका स्वरूप अनादि अनन्त अविकारी नित्य है। बौद्ध इसके विपरीत प्रतिक्षण परिवर्तित ज्ञानक्षणरूप ही आत्मा मानते है। नैयायिक-वैशेषिक परिवर्तन तो मानते हैं, पर वह गुणो तक ही सीमित है। मीमांसकने आत्मामें अवस्थाभेदकृत परिवर्तन स्वीकार करके भी द्रव्य नित्य स्वीकार किया है। योगदर्शनका भी यही अभिप्राय है। जैनोने अवस्थाभेदकृत परिवर्तनके मूल आधार द्रव्यमे परिवर्तनकालमें किसी भी अपरिवर्तिष्णु अशको स्वीकार नही किया, किन्तु अविच्छिन्न पर्याय-परम्पराके चालू रहनेको ही द्रव्यस्वरूप माना है। चार्वाक इन सब पक्षोसे भिन्न भूतचतुष्टयरूप ही आत्मा मानता है। उसे आत्माके स्वतन्त्र द्रव्यके रूपमें दर्शन नही हुए। यह तो हुई आत्माके स्वरूपकी बात। उसकी आकृतिपर विचार कीजिये तो ऐसे ही अनेक दर्शन मिलते हैं। आत्मा अमूर्त है या मूर्त होकर भी इतना सूक्ष्म है कि वह हमारे चर्मचक्षुओसे नही दिखाई दे सकता इसमें किसीको विवाद नही है। इसलिए अतीन्द्रियदर्शी कुछ ऋषियोने अपने दर्शनसे बताया कि आत्मा सर्वव्यापक है। दूसरे ऋषियोको दिखा कि आत्मा अणुरूप है, वटबीजके समान अति सूक्ष्म है। कुछ को दिखा कि देहरूप ही आत्मा है तो किन्हीने छोटे-बड़े शरीर-प्रमाण संकोच-

विकासशील आत्माका आकार बताया। बिचारा जिज्ञासु अनेक पगडण्डियोंवाले इस चौराहेपर खड़ा होकर दिग्भ्रान्त हुआ या तो दर्शन शब्दके अर्थपर ही शंका करता है या फिर दर्शनकी पूर्णतामें ही अविश्वास करनेको उसका मन होता है। प्रत्येक दर्शनकार यही दावा करता है कि उसका दर्शन पूर्ण और यथार्थ है। एक ओर मानवकी मननशक्तिमूलक तर्कको जगाया जाता है और जब तर्क अपने यौवनपर आता है तभी रोक दिया जाता है और 'तर्कोऽप्रतिष्ठ' 'तर्काप्रतिष्ठानात्' जैसे बन्धनोंसे उसे जकड़ दिया जाता है। 'तर्कसे कुछ होने जानेवाला नहीं है' इस प्रकारके नकनैराश्यवादका प्रचार किया जाता है। आचार्य हरिभद्र अपने लोकतत्त्वनिर्णयमें स्पष्टरूपसे अतीन्द्रिय पदार्थोंमें तर्ककी निरर्थकता बताते हैं—

"ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता तेषां कृतः स्यादर्थनिर्णयः॥"

अर्थात्—यदि तर्कवादसे अतीन्द्रिय पदार्थोंके स्वरूप-निर्णयकी समस्या हल हो सकती होती, तो इतना समय बीत गया, बड़े-बड़े तर्कशास्त्री तर्ककेशरी हुए, आज तक उनने इनका निर्णय कर दिया होता। पर अतीन्द्रिय पदार्थोंके स्वरूपज्ञानकी पहली पहिलेसे अधिक उलझी हुई है। जय हो उस विज्ञानकी जिसने भौतिक तत्त्वोंके स्वरूपनिर्णयकी दिशामें पर्याप्त प्रकाश दिया है।

दूसरी ओर यह घोषणा की जाती है कि—

"तापात् छेदात् निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न त्वादरात्॥"

अर्थात्—जैसे सोनेको तपाकर, काटकर, कसौटीपर कसकर उसके खोटे-खरेका निश्चय किया जाता है उसी तरह हमारे वचनोंको अच्छी तरह कसौटीपर कसकर उनका विश्लेषणकर उन्हें ज्ञानाग्निमें तपाकर ही स्वीकार करना केवल अन्धश्रद्धासे नहीं। अन्धी श्रद्धा जितनी सस्ती है उतनी शीघ्र प्रतिपातिनी भी।

तब दर्शन शब्दका अर्थ क्या हो सकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें पहिले ये विचार आवश्यक है कि—ज्ञान[1] वस्तुके पूर्णरूपको जान सकता है या नहीं? यदि जान सकता है तो इन दर्शन-प्रणेताओंको पूर्ण ज्ञान था या नहीं? यदि पूर्ण ज्ञान था तो मतभेदका कारण क्या है?

१ ज्ञान—जीव चैतन्यशक्तिवाला है। यह चैतन्यशक्ति जब बाह्य वस्तुके स्वरूपको जानती है तब ज्ञान कहलाती है। इसीलिए शास्त्रोंमें ज्ञानको साकार बताया है। जब चैतन्यशक्ति ज्ञेयको न जानकर स्वचैतन्याकार रहती है तब उस निराकार अवस्थामें दर्शन कहलाती है। अर्थात् चैतन्यशक्तिके दो आकार हुए एक ज्ञेयाकार और दूसरा चैतन्याकार। ज्ञेयाकार दशाका नाम ज्ञान और चैतन्याकार दशाका नाम दर्शन है। चैतन्यशक्ति काँचके समान स्वच्छ और निर्विकार है। जब उस काँचको पीछे पारेकी कलई करके इस योग्य बना दिया जाता है कि उसमें प्रतिबिम्ब पड़ सके तब उसे दर्पण कहने लगते हैं। जब तक काँचमें कलई लगी हुई है तब तक उसमें किसी न किसी पदार्थके प्रतिबिम्बकी सम्भावना है। यद्यपि प्रतिबिम्बाकार परिणमन काँचका ही हुआ है पर वह परिणमन उसका निमित्तजन्य है। उसी तरह निर्विकार चितिशक्तिका ज्ञेयाकार परिणमन जिसे हम ज्ञान कहते हैं मन, शरीर, इन्द्रिय आदि निमित्तोंके आधीन है या यों कहिये कि जब तक उसकी बद्ध दशा है तब तक बाह्य निमित्तोंके अनुसार उसका ज्ञेयाकार परिणमन होता रहता है। जब अशरीरी सिद्ध अवस्थामें जीव पहुँच जाता है तब सकल उपाधियोंसे शून्य होनेके कारण उसका ज्ञेयाकार परिणमन न होकर शुद्ध चिदाकार परिणमन रहता है। इस विवेचनका संक्षिप्त तात्पर्य यह है—

१. शुद्ध काँच	१. मुक्त जीवका चैतन्य, शुद्ध चिन्मात्र
२. कलई लगा हुआ काँच-दर्पण (प्रतिबिम्ब रहित).	२. सशरीरी संसारी जीवका चैतन्य, पर ज्ञेयाकार शून्य, दर्शनावस्था निराकार
३. सप्रतिबिम्ब दर्पण	३. ज्ञेयाकार, साकार, ज्ञानावस्था

इस तरह चैतन्यके दो परिणमन—एक निर्विकार अबद्ध अनन्त शुद्ध चैतन्यरूप मोक्षावस्थाभावी और दूसरा शरीर कर्म आदिसे बद्ध सविकारी सोपाधिक संसारावस्थाभावी। संसारावस्थाभावी चैतन्यके दो परिणमन एक सप्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह ज्ञेयाकार और दूसरा निष्प्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह निराकार। ज्ञेयाकार परिणमनका नाम ज्ञान तथा निराकार परिणमनका नाम दर्शन। तत्त्वार्थराजवार्तिकमें—जीवका लक्षण उपयोग किया है और उपयोगका लक्षण इस प्रकार दिया है—

"बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।" (त० वा० २।८) अर्थात्—उपलब्धाको (जिस चैतन्यमें पदार्थोंके उपलब्ध अर्थात् ज्ञान करनेकी योग्यता हो) दो प्रकारके बाह्य तथा दो प्रकारके अभ्यन्तर हेतुओंके मिलनेपर जो चैतन्यका अनुविधान करनेवाला परिणमन होता है उसे उपयोग कहते है। इस लक्षणमें आए हुए 'उपलब्धु' और 'चैतन्यानुविधायी' ये दो पद विशेष ध्यान देने योग्य है। चैतन्यानुविधायी पद यह सूचना दे रहा है कि जो ज्ञान और दर्शन परिणमन बाह्याभ्यन्तर हेतुओंके निमित्तसे हो रहे हैं वे स्वभावभूत चैतन्यका अनुविधान करनेवाले है अर्थात् चैतन्य एक अनुविधाता द्रव्यांश है और उसके ये बाह्याभ्यन्तर हेत्वधीन परिणमन है। चैतन्य इनसे भी परे शुद्ध अवस्थामें शुद्ध परिणमन करनेवाला है। 'उपलब्धु' पद चैतन्यकी उस दशाको सूचित करता है जबसे चैतन्यमें बाह्याभ्यन्तर हेतुओंसे निराकार या साकार होनेकी योग्यता होती है और वह अवस्था अनादिकालसे कर्मबद्ध होनेके कारण अनादिसे ही है। तात्पर्य यह कि अनादिसे कर्मबद्ध होनेके कारण चैतन्य-काँचमें वह कलई लगी है जिससे वह दर्पण बना है इसीमें बाह्याभ्याकार हेतुओंके अधीन निराकार और साकार परिणमन होते रहते हैं जिन्हें क्रमशः दर्शन और ज्ञान कहते है। पर अन्तमें मुक्त अवस्थामें जब सारी कलई धुल जाती है विशुद्ध निर्विकार निर्विकल्प अनन्त अखण्ड चैतन्यमात्र रह जाता है तब उसका शुद्ध चिद्रूप ही परिणमन होता है। ज्ञान और दर्शन परिणमन बाह्याधीन है। उसमें ज्ञान और दर्शनका विभाग ही विलीन हो जाता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक (१।६) में घटके स्वपरचतुष्टयका विचार करते हुए अन्तमें घटज्ञानगत ज्ञेयाकारको घटका स्वात्मा बताया है और निष्प्रतिबिम्ब ज्ञानाकारको परात्मा। यथा—

"चैतन्यशक्तेर्द्वौ आकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः" इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि चैतन्यशक्तिके दो परिणमन होते हैं—ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार। राजवार्तिकमें ज्ञेयाकार परिणमन उसका साकार परिणमन है तथा ज्ञानाकार परिणमन निराकार। जब तक ज्ञेयाकार परिणमन है तब तक वह वास्तविक अर्थमें ज्ञानपर्यायको धारण करता है और निर्ज्ञेयाकार दशामें दर्शन पर्यायको। धवला टीका (पु० १, पृ० १४८) और बृहद्द्रव्यसंग्रह (पृ० ८१–८२) में सैद्धान्तिक दृष्टिसे जो दर्शनकी व्याख्या की है उसका तात्पर्य भी यही है कि—विषय और विषयीके सन्निपातके पहिले जो चैतन्यकी निराकार परिणति या स्वाकार परिणति है उसे दर्शन कहते हैं। राजवार्तिकमें चैतन्यशक्तिके जिस ज्ञानाकारकी चरचा है वह वास्तविकमें दर्शन ही है। इस विवेचनसे इतना तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि—चैतन्यकी एक धारा है जिसमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय,

संसारके समस्त पदार्थ ज्ञेय अर्थात् ज्ञानके विषय होने योग्य हैं तथा ज्ञान पर्यायमें ज्ञेयके जाननेकी योग्यता है, प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म जब हट जाता है तब वस्तुके पूर्ण स्वरूपका भान ज्ञान पर्यायके द्वारा अवश्यम्भावी है। ज्ञान पर्यायकी उत्पत्तिका जो क्रम टिप्पणीमें दिया है उसके अनुसार भी जिस-किसी वस्तुके पूर्णरूप तक ज्ञानपर्याय पहुँच सकती है यह निर्विवाद है। जब ज्ञान वस्तुके अनन्तधर्मात्मक विराट् स्वरूपका यथार्थ ज्ञान कर सकता है और यह भी असम्भव नही है कि किसी आत्मामे ऐसी ज्ञान पर्यायका विकास हो सकता है, तब वस्तुके पूर्णरूपके साक्षात्कारविषयकप्रश्नका समाधान हो ही जाता है। अर्थात् विशुद्ध ज्ञानमें वस्तुके विराट् स्वरूपकी झाँकी आ सकती है। और ऐसा विशुद्ध ज्ञान तत्त्वद्रष्टा ऋषियोका रहा होगा। परन्तु वस्तुका जो स्वरूप ज्ञानमे झलकता है उस सबका शब्दोंसे कथन करना असम्भव है क्योंकि शब्दोंमें वह शक्ति नही है जो अनुभवको अपने द्वारा जता सके।

सामान्यतया यह तो निश्चित है कि वस्तुका स्वरूप ज्ञान ज्ञेय तो है। जो भिन्न-भिन्न ज्ञाताओंके द्वारा जाना जा सकता है वह एक ज्ञाताके द्वारा भी निर्मल ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है। तात्पर्य यह कि वस्तुका अखण्ड अनन्तधर्मात्मक विराट्स्वरूप अखण्ड रूपसे ज्ञानका विषय तो बन जाता है और तत्त्वज्ञ ऋषियोने अपने मानसज्ञान और योगिज्ञानसे उसे जाना भी होगा। परन्तु शब्दोंकी सामर्थ्य इतनी अत्यल्प[1] है कि जाने हुए वस्तुके धर्मोंमे अनन्त बहुभाग तो अनभिधेय है अर्थात् शब्दसे कहे ही नही जा सकते। जो कहे जा सकते है उनका अनन्तवाँ भाग ही प्रज्ञापनीय अर्थात् दूसरोंके लिए समझाने लायक होता है। जितना

ध्रौव्यात्मक परिणमन होता रहता है और जो अनादि-अनन्तकाल तक प्रवाहित रहनेवाली है। इस धारामें कर्मबन्धन शरीर-सम्बन्ध मन, इन्द्रिय आदिके सन्निधानसे ऐसी कलई लग गई है जिसके कारण इसका ज्ञेयाकार–अर्थात् पदार्थोंके जानने रूप परिणमन होता है। इसका ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमानुसार विकास होता है। सामान्यत शरीर सम्पर्कके साथ ही इस चैतन्यशक्तिका कलईवाले काँचकी तरह दर्पणवत् परिणमन हो गया है। इस दर्पणवत् परिणमनवाले समयमे जितने समय तक वह चैतन्य-दर्पण किसी ज्ञेयके प्रतिबिम्ब-को लेता है अर्थात् उसे जानता है तब तक उसकी वह साकार दशा ज्ञान कहलाती है और जितने समय उसकी निराकार दशा रहती है, वह दर्शन कही जाती है। इस परिणामी चैतन्यका साख्यके चैतन्यसे भेद स्पष्ट है। साख्यका चैतन्य सदा अविकारी परिणमनशून्य और कूटस्थ नित्य है जब कि जैनका चैतन्य परिणमन करनेवाला परिणामी नित्य है। साख्यके यहाँ बुद्धि या ज्ञान प्रकृतिका धर्म है जब कि जैनसम्मत ज्ञान चैतन्यकी ही पर्याय है। साख्यका चैतन्य ससार दशामे भी ज्ञेयाकार परिच्छेद नही करता जब कि जैनका चैतन्य उपाधि दशामे ज्ञेयाकार परिणत होता है, उन्हें जानता है। स्थूल भेद तो यह है कि ज्ञान जैनके यहाँ चैतन्यकी पर्याय है जब कि साख्यके यहाँ प्रकृति की। इस तरह ज्ञान चैतन्यकी औपाधिक पर्याय है और यह ससार दशामे बराबर चालू रहती है जब दर्शन अवस्था होती है, तब ज्ञान अवस्था नही होती और जब ज्ञान पर्याय होती है, तब दर्शन पर्याय नही। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म इन्ही पर्यायोको हीनाधिक रूपसे आवृत करते है और इनके क्षयोपशम और क्षयके अनुसार इनका अपूर्ण और पूर्ण विकास होता है। ससारावस्थामे जब ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय हो जाता है तब चैतन्य शक्तिको साकार पर्याय ज्ञान अपने पूर्ण रूपमे विकासको प्राप्त होती है।

१. "पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥"

—गो० जीव० गा० ३३३।

प्रज्ञापनीय है उसका अनन्तवाँ भाग शब्द-श्रुतनिबद्ध होता है। अत कदाचित् दर्शनप्रणेता ऋषियोने वस्तु-तत्त्वको अपने निर्मल ज्ञानसे अखण्डरूप जाना भी हो तो भी एक ही वस्तुके जाननेके भी दृष्टिकोण जुदे-जुदे हो सकते है। एक ही पुष्पको वैज्ञानिक, साहित्यिक, आयुर्वेदिक तथा जनसाधारण आँखोसे समग्र भावसे देखते हैं पर वैज्ञानिक उसके सौन्दर्यपर मुग्ध न होकर उसके रासायनिक सयोगपर ही विचार करता है। कविको उसके रासायनिक मिश्रणकी कोई चिन्ता नही, कल्पना भी नही, वह तो केवल उसके सौन्दर्यपर मुग्ध है और वह किसी कमनीय कामिनीके उपमालकारमे गूँथनेकी कोमल कल्पनासे आकलित हो उठता है। जब कि वैद्यजी उसके गुणदोषोके विवेचनमें अपने मनको केन्द्रित कर देते हैं। पर सामान्यजन उसकी रोमी-रोमी मोहक सुवाससे वासित होकर ही अपने पुष्पज्ञानकी परिसमाप्ति कर देता है। तात्पर्य यह कि वस्तुके अनन्तधर्मात्मक विराट्स्वरूपका अखण्ड भावसे ज्ञानके द्वारा प्रतिभास होनेपर भी उसके विवेचक अभि-प्राय व्यक्तिभेदसे अनन्त हो सकते हैं। फिर अपने-अपने अभिप्रायसे वस्तुविवेचन करनेवाले शब्द भी अनन्त है। एक वैज्ञानिक अपने दृष्टिकोणको ही पूर्ण सत्य मानकर कवि या वैद्यके दृष्टिकोण या अभिप्रायको वस्तुतत्त्वका अग्राहक या असत्य ठहराता है तो वह यथार्थद्रष्टा नही है, क्योकि पुष्प तो अखण्ड भावसे सभीके दर्शनका विषय हो रहा है और उस पुष्पमे अनन्त अभिप्रायो या दृष्टिकोणोसे देखे जानेकी योग्यता है पर दृष्टिकोण और तत्प्रयुक्त शब्द तो जुदे-जुदे हैं और वे आपसमे टकरा भी सकते है। इसी टकराहटसे दर्शन-भेद उत्पन्न हुआ है। तब दर्शन शब्दका क्या अर्थ फलित होता है जिसे हरएक दर्शनवादियोने अपने मतके साथ जोडा और जिसके नामपर अपने अभिप्रायोको एक दूसरेसे टकराकर उसके नामको कलंकित किया? एक शब्द जब लोकमे प्रसिद्धि पा लेता है तो उसका लेबिल तदाभासमिथ्या वस्तुओपर भी लोग लगाकर उसके नामसे स्वार्थ साधनेका प्रयत्न करते है। जब जनताको ठगनेके लिए खोली गई दूकाने भी 'राष्ट्रीय-भण्डार' और 'जनता-भण्डार'का नाम धारण कर सकती है और गान्धीछाप शराब भी व्यवसाइयोने बना डाली है तो दर्शनके नामपर यदि पुराने जमानेमे तदाभास चल पडे हो तो कोई आश्चर्यकी बात नही। सभी दार्शनिकोने यह दावा किया है कि उनके ऋषिने दर्शन करके तत्त्वका प्रतिपादन किया है। ठीक है, किया होगा?

दर्शनका एक अर्थ है—सामान्यावलोकन। इन्द्रिय और पदार्थके सम्पर्कके बाद जो एक बार ही वस्तुके पूर्ण रूपका अखण्ड या सामान्य भावसे प्रतिभास होता है उसे शास्त्रकारोने निर्विकल्प दर्शन माना है। इस सामान्य दर्शनके अनन्तर समस्त झगडोंका मल विकल्प आता है जो उस सामान्य प्रतिभासको अपनी कल्पनाके अनुसार चित्रित करता है।

धर्मकीर्ति आचार्य ने प्रमाणवार्तिक (३।४४) मे लिखा है कि—

"तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते॥"

अर्थात् दर्शनके द्वारा दृष्टपदार्थके सभी गुण दृष्ट हो जाते हैं, उनका सामान्यावलोकन हो जाता है। पर भ्रान्तिके कारण उनका निश्चय नही हो पाता इसलिए साधनोंका प्रयोग करके तत्तद्धर्मोंका निर्णय किया जाता है।

तात्पर्य यह कि—दर्शन एक ही बारमे वस्तुके अखण्ड स्वरूपका अवलोकन कर लेता है और इसी अर्थमे यदि दर्शनशास्त्रके दर्शन शब्दका प्रयोग है तो मतभेदकी गुजाइश रह सकती है, क्योकि यह सामान्याव-लोकन प्रतिनियत अर्थक्रियाका साधक नही होता। अर्थक्रियाके लिए तो तत्तदशोके निश्चयकी आवश्यकता

है। अत: असली कार्यकारी तो दर्शनके बाद होनेवाले शब्दप्रयोगवाले विकल्प हैं। जिन विकल्पोंको दर्शनका पृष्ठबल प्राप्त है वे प्रमाण हैं तथा जिन्हें दर्शनका पृष्ठबल प्राप्त नहीं हैं अर्थात् जो दर्शनके बिना मात्र कल्पनाप्रसूत है वे अप्रमाण हैं। अत: यदि दर्शन शब्दको आत्मा आदि पदार्थोंके सामान्यावलोकन अर्थमें लिया जाता है तो भी मतभेदकी गुंजाइश कम है। मतभेद तो उस सामान्यावलोकनकी व्याख्या और निरूपण करनेमे हैं। एक सुन्दर स्त्रीका मृत शरीर देखकर विरागी भिक्षुको संसारकी असार दशाकी भावना होती है। कामी पुरुष उसे देखकर सोचता है कि कदाचित् यह जीवित होती''। तो कुत्ता अपना भक्ष्य समझकर प्रसन्न होता है। यद्यपि दर्शन तीनोको हुआ है, पर व्याख्याएँ जुदी-जुदी हैं। जहाँतक वस्तुके दर्शनकी बात है वह विवादसे परे है। वाद तो शब्दोसे शुरू होता है। यद्यपि दर्शन वस्तुके बिना नही होता और वही दर्शन प्रमाण माना जा सकता है जिसे अर्थका बल प्राप्त हो अर्थात् जो पदार्थसे उत्पन्न हुआ हो। पर यहाँ भी वही विवाद उपस्थित होता है कि कौन दर्शन पदार्थकी सत्ताका अविनाभावी है तथा कौन पदार्थके बिना केवल काल्पनिक है? प्रत्येक यही कहता है कि हमारे दर्शनने आत्माको उसी प्रकार देखा है जैसा हम कहते है, तब यह निर्णय कैसे हो कि यह दर्शन वास्तविक अर्थसमुद्भूत है और यह दर्शन मात्र कपोलकल्पित? निर्विकल्प दर्शनको प्रमाण माननेवालोंने भी उसी निर्विकल्पकको प्रमाण माना है जिसकी उत्पत्ति पदार्थसे हुई है। अत: प्रश्न ज्योंका त्यों है कि दर्शन शब्दका वास्तविक क्या अर्थ हो सकता है?

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि अनन्तधर्मवाले पदार्थको ज्ञान करनेके दृष्टिकोणोंको शब्दके द्वारा कहनेके प्रकार अनन्त होते हैं। इनमे जो दृष्टियाँ वस्तुका स्पर्श करती हैं तथा अन्य वस्तुस्पर्शी दृष्टियो-का समादर करती हैं वे सत्योन्मुख हैं। जिनमे यह आग्रह है कि मेरे द्वारा देखा गया ही वस्तुतत्त्व सच्चा और अन्य मिथ्या वे वस्तुस्वरूपसे पराङ्मुख होनेके कारण विसंवादिनी हो जाती है। इस तरह वस्तुके स्वरूपके आधारसे दर्शन शब्दके अर्थको बैठानेका प्रयास कथमपि सार्थक हो जाता है। जब वस्तु स्वयं नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भाव-अभाव, आदि विरोधी द्वन्द्वोका अविरोधी क्रीडास्थल है, उसमे उन सबको मिलकर रहनेमे कोई विरोध नही है; तब इन देखनेवालो (दृष्टिकोणो) को क्यो खुराफात सूझता है जो उन्हें एक साथ नही रहने देते। प्रत्येक दर्शनके ऋषि अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार वस्तुस्वरूपको देखकर उसका चिन्तन करते हैं और उसी आधारसे विश्वव्यवस्था बैठानेका प्रयास करते हैं उनकी मनन-चिन्तनधारा इतनी तीव्र होती है कि उन्हे भावनावश उस वस्तुका साक्षात्कार-जैसा होने लगता है। और इस भावनात्मक साक्षात्कारको ही दर्शन संज्ञा मिल जाती है।

सम्यग्दर्शनमे भी एक दर्शन शब्द है। जिसका लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमे तत्त्वार्थश्रद्धान किया गया है। यहाँ दर्शन शब्दका अर्थ स्पष्टता श्रद्धान ही है। अर्थात् तत्त्वोंमें दृढ श्रद्धा या श्रद्धानका होना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस अर्थसे जिसकी जिसपर दृढ श्रद्धा अर्थात् तीव्र विश्वास है वही उसका दर्शन है। और यह अर्थ जी को लगता भी है कि अमुक-अमुक दर्शनप्रणेता ऋषियोको अपने द्वारा प्रणीत तत्त्वपर दृढ विश्वास था। विश्वासकी भूमिकाएँ तो जुदी-जुदी होती हैं। अतः जब दर्शन विश्वासकी भूमिकापर आकर प्रतिष्ठित हुआ तब उसमे मतभेदका होना स्वाभाविक बात है। और इसी मतभेदके कारण मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्नाके जीवित रूपमे अनेक दर्शनोकी सृष्टि हुई और सभी दर्शनोने विश्वासकी भूमिमे उत्पन्न होकर भी अपनेमे पूर्णता और साक्षात्कारका स्वाँग भरा और अनेक अपरिहार्य मतभेदोंकी सृष्टि की। जिनके समर्थनके लिए शास्त्रार्थ हुए, संघर्ष हुए और दर्शनशास्त्रके इतिहासके पृष्ठ रक्तरंजित किए गए।

सभी दर्शन विश्वासकी भूमिमे पनपकर भी अपने प्रणेताओमे साक्षात्कार और पूर्ण ज्ञानकी भावना-को फैलाते रहे फलतः जिज्ञासु सन्देहके चौराहेपर पहुँचकर दिग्भ्रान्त होता गया। इस तरह दर्शनोंने अपने-

अपने विश्वासके अनुसार जिज्ञासुको सत्य साक्षात्कार या तत्त्व साक्षात्कारका पूरा भरोसा तो दिया पर तत्त्वज्ञानके स्थानमे सशय ही उसके पल्ले पड़ा।

जैनदर्शनकी देन

जैनदर्शनने इस दिशामे उल्लेखयोग्य मार्ग-प्रदर्शन किया है। उसने श्रद्धाकी भूमिकापर जन्म लेकर भी वह वस्तुस्वरूपस्पर्शी विचार प्रस्तुत किया है जिससे वह श्रद्धाकी भूमिकासे निकलकर तत्त्वसाक्षात्कारके रङ्गमंचपर पहुँचा है। उसने बताया कि जगत्का प्रत्येक पदार्थ मूलत एक रूपमे सत् है। प्रत्येक सत् पर्यायदृष्टिसे उत्पन्न-विनष्ट होकर भी द्रव्यकी अनाद्यनन्त धारामे प्रवाहित रहता है अर्थात् न वह कूटस्थनित्य है, न सातिशय नित्य न, अनित्य। किन्तु परिणामीनित्य है। जगत्के किसी सत्का विनाश नही हो सकता और न किसी असत्की उत्पत्ति। इस तरह स्वरूपत पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। प्रत्येक पदार्थ नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् जैसे अनेक विरोधी द्वन्द्वोका अविरोधी आधार है। वह अनन्त शक्तियोका अखण्ड मौलिक है। उसका परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है पर उसकी मूलधाराका प्रवाह न तो कही सूखता है और न किसी दूसरी धारामें विलीन ही होता है। जगत्में अनन्त-चेतन द्रव्य, अनन्त अचेतन द्रव्य, एक धर्म-द्रव्य, एक आकाशद्रव्य, और असख्यकालद्रव्य अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। वे कभी एक दूसरेमे विलीन नही हो सकते और अपना मूलद्रव्यत्व नही छोड सकते। प्रत्येक प्रतिक्षण परिणामी है। उसका परिणमन सदृश भी होता है विसदृश भी। द्रव्यान्तरसंक्रान्ति इनमे कदापि नही हो सकती। इस तरह प्रत्येक चेतन अचेतन-द्रव्य अनन्त धर्मोका अखण्ड अविभागी मौलिक तत्त्व है। इसी अनेकान्त-अनन्तधर्मा पदार्थको प्रत्येक दार्शनिकने अपने-अपने दृष्टिकोणसे देखनेका प्रयास किया है।

कोई दार्शनिक वस्तुकी सीमाको भी अपनी कल्पनादृष्टिसे लाँघ गए है। यथा, वेदान्त दर्शन जगत्मे एक ही सत्-ब्रह्मका अस्तित्व मानता है। उसके मतसे अनेक सत् प्रातिभासिक है। एक सत्का चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त, निष्क्रिय-सक्रिय आदि विरुद्ध रूपसे मायावश प्रतिभास होता रहता है। इसी प्रकार विज्ञानवाद या शून्यवादने बाह्य घट-पटादि पदार्थोका लोप करके उनके प्रतिभासको वासनाजन्य बताया है। जहाँ तक जैन दार्शनिकोने जगत्का अवलोकन किया है वस्तुकी स्थितिको अनेकधर्मात्मक पाया, और इसीलिए अनेकान्तात्मक तत्त्वका उनने निरूपण किया। वस्तुके पूर्णरूपको अनिर्वचनीय वाङ्मानसागोचर या अवक्तव्य सभी दार्शनिकोने कहा है। इसी वस्तुरूपको विभिन्न दृष्टिकोणोसे जानने और कथन करनेका प्रयास भिन्न-भिन्न दार्शनिकोने किया है। जैनदर्शनने वस्तुमात्रको परिणामीनित्य स्वीकार किया। कोई भी सत् पर्याय रूपसे उत्पन्न और विनष्ट होकर भी द्रव्यरूपसे अविच्छिन्न रहता है, अपनी असङ्कीर्ण सत्ता रखता है।

साख्य दर्शनमे यह परिणामिनित्यता प्रकृति तक ही सीमित है। पुरुष तत्त्व इनके मतमे कूटस्थ नित्य है। उसका विश्व-व्यवस्थामे कोई हाथ नही है। प्रकृति परिणामिनी होकर भी एक है। एक ही प्रकृतिका घटपटादि मूर्त रूपमे और आकाशादि अमूर्तरूपमे परिणमन होता है। यही प्रकृति बुद्धि अहङ्कार जैसे चेतन भावो रूपसे परिणत होती है और यही प्रकृति रूपरस गन्ध आदि जडभाव रूपमे। परन्तु इस प्रकारके विरुद्ध परिणमन एक ही साथ एक ही तत्त्वमें कैसे सम्भव है? यह तो हो सकता है कि ससारमे जितने चेतनभिन्न पदार्थ है वे एक जातिके हो पर एक तो नही हो सकते। वेदान्तीने जहाँ चेतन-भिन्न कोई दूसरा तत्त्व स्वीकार न करके एक सत्का चेतन और अचेतन, मूर्त-अमूर्त, निष्क्रिय-सक्रिय, आन्तर-बाह्य आदि अनेकधा प्रतिभास माना और दृश्य जगत्की परमार्थ सत्ता न मानकर प्रातिभासिक सत्ता ही स्वीकार की वहाँ साख्य चेतनतत्त्वको अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मानकर भी, प्रकृतिको एक स्वीकार करता है और उसमे विरुद्ध परिण-

मनोंकी वास्तविक स्थिति मानना चाहता है। वेदान्तीकी विरुद्ध-प्रतिभास वाली बात कदाचित् समझमें आ भी जाय पर सांख्यकी विरुद्धपरिणमनोंकी वास्तविक स्थिति स्पष्टत बाधित है।

वेदान्तकी इस असङ्गतिका परिहार तो सांख्यने अनेक चेतन और जडप्रकृति मानकर किया कि—'अद्वैत ब्रह्म तत्त्वमें बद्ध और मुक्त चैतन्य जुदा-जुदा कैसे हो सकते हैं ? एक ही ब्रह्मतत्त्व चेतन और जड़ इन दो महाविरोधी परिणमनोका आधार कैसे बन सकता है ?' अनेक चेतन माननेसे कोई बद्ध और कोई मुक्त रह सकता है। जड प्रकृति माननेसे जडात्मक परिणमन प्रकृतिके हो सकते हैं ? परन्तु एक अखण्ड-सत्ताक प्रकृति अमूर्त आकाश भी बन जाय और मूर्त घडा भी बन जाय। बुद्धि अहंकार भी बने और रूप-रस भी बने, सो भी परमार्थत ; यह महान् विरोध सर्वथा अपरिहार्य है। एक सेर वजनके घडेको फोडकर आधा-आधा सेरके दो वजनदार ठोस टुकडे किये जाते हैं जो अपनी पृथक् ठोस सत्ता रखते हैं। यह विभाजन एकसत्ताक प्रकृतिमे कैसे हो सकता है। संसारके यावत् जडोंमे सत्त्व रजस्तमस इन तीन गुणोका अन्वय देखकर एकजातीयता तो मानी जा सकती है, एकसत्ता नही। इस तरह सांख्यकी विश्वव्यवस्थामे अपरिहार्य असगति बनी रहती है।

न्यायवैशेषिकोने जडतत्त्वका पृथक्-पृथक् विभाजन किया। मूर्तद्रव्य जुदा माने, अमूर्त जुदा। पृथिवी आदिके अनन्त परमाणु स्वीकार किए। पर ये इतने भेदपर उतरे कि क्रिया गुण सम्बन्ध सामान्य आदि परिणमनोको भी स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगे, यद्यपि गुण क्रिया सामान्य आदिकी पृथक् उपलब्धि नही होती और न ये पृथक्सिद्ध ही है। वैशेषिकको सप्रत्ययोपाध्याय कहा है। इसकी प्रकृति है—जितने प्रत्यय हो उतने पदार्थ स्वीकार कर लेना। 'गुण गुण प्रत्यय' हुआ तो गुण पदार्थ मान लिया। 'कर्म कर्म' प्रत्यय हुआ एक स्वतन्त्र कर्म पदार्थ माना गया। फिर इन पदार्थोंका द्रव्यके साथ सम्बन्ध स्थापितकरनेके लिए समवाय नामका स्वतन्त्र पदार्थ मानना पडा। जलमे गन्धकी, अग्निमे रसकी और वायुमे रूपकी अनुद्भूति देखकर पृथक् पृथक् द्रव्य माने। पर वस्तुत· वैशेषिकका प्रत्ययके आधारसे स्वतन्त्र पदार्थ माननेका सिद्धान्त ही गलत है। प्रत्ययके आधारसे उसके विषयभूत धर्म तो जुदा-जुदा किसी तरह माने जा सकते हैं, पर स्वतन्त्र पदार्थ मानना किसी तरह युक्तिसगत नही है। इस तरह एक ओर वेदान्ती या सांख्यने क्रमश जगत्मे और प्रकृतिमे अभेदकी कल्पना की वहाँ वैशेषिकने आत्यन्तिक भेदको अपने दर्शनका आधार बनाया। उपनिषत्मे जहाँ वस्तुके कूटस्थनित्यत्वको स्वीकार किया गया है वहाँ अजित केशकम्बलि जैसे उच्छेदवादी भी विद्यमान थे। बुद्धने आत्माके मरणोत्तर जीवन और शरीरसे उसके भेदाभेदको अव्याकरणीय बताया है। बुद्धको डर था कि यदि हम आत्माके अस्तित्वको मानते हैं तो नित्यात्मवादका प्रसङ्ग आता है और यदि आत्माका नास्तित्व कहते हैं तो उच्छेदवादकी आपत्ति आती है। अत उनने इन दोनो वादोके डरसे उसे अव्याकरणीय कहा है। अन्यथा उनका सारा उपदेश भूतवादके विरुद्ध आत्मवादकी भित्तिपर है ही।

जैनदर्शन वास्तवमें बहुत्ववादी है। वह अनन्त चेतनतत्त्व, अनन्त पुद्गलद्रव्य-परमाणुरूप, एक धर्म-द्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्य कालाणुद्रव्य इसप्रकार अनन्त वास्तविक मौलिक अखण्ड द्रव्योंको स्वीकार करता है। द्रव्य सत्-स्वरूप है। प्रत्येक सत् चाहे वह चेतन हो या चेतनेतर परिणामी-नित्य है। उसका पर्यायरूपसे परिणमन प्रतिक्षण होता ही रहता है। यह परिणमन अर्थपर्याय कहलाता है। अर्थपर्याय सदृश भी होती है और विसदृश भी। शुद्ध द्रव्योंकी अर्थपर्याय सदा एकसी सदृश होती हैं, पर होती है अवश्य। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, आकाशद्रव्य, शुद्धजीवद्रव्य इनका परिणमन सदा सदृश होता है। पुद्गलका परिणमन सदृश भी होता है विसदृश भी।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें वैभाविक शक्ति है और इस शक्तिके कारण इनका विसदृश परिणमन भी होता है। जब जीव शुद्ध हो जाता है तब विलक्षण परिणमन नहीं होता। इस वैभाविक शक्तिका स्वाभाविक ही परिणमन होता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशाली होनेसे परिणामीनित्य है। दो स्वतन्त्र सत्में रहनेवाला एक कोई सामान्य पदार्थ नहीं है। केवल अनेक जीवोंको जीवत्व नामक सादृश्यसे संग्रह करके उनमें एक जीवद्रव्य व्यवहार कर दिया जाता है। इसी तरह चेतन और अचेतन दो भिन्नजातीय द्रव्योंमें 'सत्' नामका कोई स्वतन्त्रसत्ताक पदार्थ नहीं है। परन्तु सभी द्रव्योंमें परिणामिनित्यत्व नामकी सदृशताके कारण 'सत्, सत्' यह व्यवहार कर लिया जाता है। अनेक द्रव्योंमें रहनेवाला कोई स्वतन्त्र सत् नामका कोई वस्तुभूत तत्त्व नहीं है। ज्ञान, रूपादि गुण, उत्क्षेपण आदि क्रियाएँ सामान्य विशेष आदि सभी द्रव्यकी अवस्थाएँ हैं पृथक्सत्ताक पदार्थ नहीं। यदि बुद्ध इस वस्तुस्थितिपर गहराईसे विचार करते तो इस निरूपणमें न उन्हें उच्छेदवादका भय होता और न शाश्वतवादका। और जिस प्रकार उनने आचारके क्षेत्रमें मध्यमप्रतिपदाको उपादेय बताया है उसी तरह वे इस अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्वके निरूपणको भी परिणामिनित्यतामें ढाल देते।

स्याद्वाद—जैनदर्शनने इस तरह सामान्यरूपसे यावत् सत्को परिणामीनित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। अनेकान्त अर्थका निर्दुष्टरूपसे कथन करनेवाली भाषा स्याद्वाद रूप होती है। उसमें जिस धर्मका निरूपण होता है उसके साथ 'स्यात्' शब्द इसलिए लगा दिया जाता है जिससे पूरी वस्तु उसी धर्म रूप न समझ ली जाय। अविवक्षित शेषधर्मोंका अस्तित्व भी उसमें है यह प्रतिपादन 'स्यात्' शब्दसे होता है।

स्याद्वादका अर्थ है—स्यात्-अमुक निश्चित अपेक्षासे। अमुक निश्चित अपेक्षासे घट अस्ति ही है और अमुक निश्चित अपेक्षासे घट नास्ति ही है। स्यात्का अर्थ न तो शायद है न संभवत और न कदाचित् ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोणका प्रतीक है। इस शब्दके अर्थको पुराने मतवादी दार्शनिकोंने ईमानदारीसे समझनेका प्रयास तो नहीं ही किया था किन्तु आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकी दुहाई देनेवाले दर्शनलेखक उसी भ्रान्त परम्पराका पोषण करते आते हैं।

स्याद्वाद—सुनयका निरूपण करनेवाली भाषा-पद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चित रूपसे बताता है कि वस्तु केवल धर्मवाली ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त भी धर्म विद्यमान है। तात्पर्य यह कि—अविवक्षित शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व स्यात् शब्द करता है। 'रूपवान् घट' यह वाक्य भी अपने भीतर 'स्यात्' शब्दको छिपाये हुए है। इसका अर्थ है कि 'स्यात् रूपवान् घट' अर्थात् चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होनेसे या रूप गुणकी सत्ता होनेसे घडा रूपवान् है, पर रूपवान् ही नहीं है उसमें रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण, छोटा बडा आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। इन अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा करनेवाला 'स्यात्' शब्द है। 'स्यात्'का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है किन्तु निश्चय है। अर्थात् घड़ेमें रूपके अस्तित्वकी सूचना तो 'रूपवान्' शब्द दे ही रहा है पर उन उपेक्षित शेष धर्मोंके अस्तित्वकी सूचना 'स्यात्' शब्दसे होती है। सारांश यह कि 'स्यात्' शब्द 'रूपवान्' के साथ नहीं जुटता है, किन्तु अविवक्षित धर्मोंके साथ। वह 'रूपवान्' को पूरी वस्तुपर अधिकार जमानेसे रोकता है और कह देता है कि वस्तु बहुत बड़ी है उसमें रूप भी एक है। ऐसे अनन्त गुणधर्म वस्तुमें लहरा रहे हैं। अभी रूपकी विवक्षा या दृष्टि होनेसे वह सामने है या शब्दसे उच्चरित हो रहा है सो वह मुख्य हो सकती है पर वही सब कुछ नहीं है। दूसरे क्षणमें रसकी मुख्यता होनेपर रूप गौण हो जायगा और वह अविवक्षित शेष धर्मोंकी राशिमें शामिल हो जायगा।

'स्यात्' शब्द एक प्रहरी है, जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नही जाने देता। वह उन अविवक्षित धर्मोंका सरक्षक है। इसलिए 'रूपवान्' के साथ 'स्यात्' शब्दका अन्वय करके जो लोग घड़ेमे रूपको भी स्थितिको स्यात्का शायद या संभावना अर्थ करके संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे भ्रममें है। इसी तरह 'स्यादस्ति घट.' वाक्यमे 'घट अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमे सुनिश्चित रूपसे विद्यमान है। स्यात् शब्द उस अस्तित्व-की स्थिति कमजोर नही बनाता, किन्तु उसकी वास्तविक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके सद्भावका प्रतिनिधित्व करता है। साराश यह कि 'स्यात्' पद एक स्वतन्त्र पद है जो वस्तुके शेषाशका प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कही 'अस्ति' नामका धर्म जिसे शब्दसे उच्चरित होनेके कारण प्रमुखता मिली है पूरी वस्तुको न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोके स्थानको समाप्त न कर जाय। इसलिए वह प्रतिवाक्यमे चेतावनी देता रहता है कि हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोके हकको हडपनेकी चेष्टा नही करना। इस भयका कारण है—'नित्य ही है, अनित्य ही है' आदि अशवाक्योने अपना पूर्ण अधिकार वस्तुपर जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत्मे अनेक तरहसे वितण्डा और सघर्ष उत्पन्न किये है। इसके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक मतवादोकी सृष्टि करके अहकार हिंसा सघर्ष अनुदारता परमतासहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और आकुलतामय बना दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है जिससे अहकारका सर्जन होता है और वस्तुके अन्य धर्मोंके अस्तित्वसे इनकार करके पदार्थके साथ अन्याय होता है।

'स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षाको द्योतन करके जहाँ 'अस्तित्व' धर्मकी स्थिति सुदृढ़ सहेतुक बनाता है, वहाँ वह उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि—हे अस्ति, तुम अपने अधिकारकी सीमाको समझो। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमे रहते हो, उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा 'नास्ति' नामका तुम्हारा भाई भी उसी घटमे है। इसी प्रकार घटका परिवार बहुत बडा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी विवक्षा है। अत इस समय तुम मुख्य हो। पर इसका यह अर्थ कदापि नही है जो तुम अपने समानाधिकारी भाइयोके सद्भावको भी नष्ट करनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है कि यदि परकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घडेमें तुम रहते हो वह घडा घडा ही न रहेगा कपडा आदि पररूप हो जायगा। अत जैसी तुम्हारी स्थिति है वैसी ही पर रूपकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्मकी भी स्थिति है। तुम उनकी हिंसा न कर सको इसके लिए अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहले ही वाक्यमे लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नही है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि अनन्त भाइयोको वस्तुमे रहने देते हो और बडे प्रेमसे सबके सब अनन्त धर्मभाई रहते हो, पर इन वस्तुदर्शियोकी दृष्टिको क्या कहा जाय। इनकी दृष्टि ही एकाङ्गी है। ये शब्दके द्वारा तुममेंसे किसी एक 'अस्ति' आदिको मुख्य करके उसकी स्थिति इतनी अहंकारपूर्ण कर देना चाहते हैं जिससे वह 'अस्ति' अन्यका निराकरण करने लग जाय। बस, 'स्यात्' शब्द एक अञ्जन है जो उनकी दृष्टिको विकृत नही होने देता और उसे निर्मल तथा पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षितसरक्षक, दृष्टिविषहारी, शब्दको सुधारूप बनानेवाले, सचेतक प्रहरी, अहिंसक भावनाके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, सुनिश्चित-अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोने न्याय तो किया ही नही किन्तु उसके स्वरूपको 'शायद, सभव है, 'कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका दुष्ट प्रयत्न अवश्य किया है तथा किया जा रहा है।

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि 'घडा जब 'अस्ति' है तो 'नास्ति' कैसे हो सकता है, घडा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है, यह तो प्रत्यक्ष विरोध है' पर विचार तो करो घडा घडा ही है, कपडा नही, कुरसी नही, टेबिल नही, गाय नही, घोडा नही, तात्पर्य यह कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थ-रूप नही है। तो यह कहनेमे आपको क्यो सकोच होता है कि 'घडा अपने स्वरूपसे अस्ति है, घटभिन्न पररूपोसे नास्ति है। इस घडेमे अनन्त पररूपोकी अपेक्षा 'नास्तित्व' धर्म है, नही तो दुनियामे कोई शक्ति घडेको कपड़ा आदि बननेसे नही रोक सकती। यह 'नास्ति' धर्म ही घडेको घडे रूपमे कायम रखनेका हेतु है। इसी 'नास्ति' धर्मकी सूचना 'अस्ति' के प्रयोगके समय 'स्यात्' शब्द दे देता है। इसी तरह घडा एक है। पर वही घडा रूप रस गन्ध स्पर्श छोटा बडा हलका भारी आदि अनन्त शक्तियोकी दृष्टिसे अनेकरूपमे दिखाई देता है या नही ? यह आप स्वयं बतावे। यदि अनेक रूपमे दिखाई देता है तो आपको यह कहनेमे क्या कष्ट होता है कि घडा द्रव्य एक है, पर अपने गुण धर्म शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है'। कृपाकर सोचिए कि वस्तुमे जब अनेक विरोधी धर्मोका प्रत्यक्ष हो ही रहा है और स्वय वस्तु अनन्त विरोधी धर्मोका अविरोधी क्रीडास्थल है तब हमे उसके स्वरूपको विकृत रूपमे देखनेकी दुर्दृष्टि तो नही करनी चाहिए। जो 'स्यात्' शब्द वस्तुके इस पूर्ण रूप-दर्शनकी याद दिलाता है उसे ही हम 'विरोध, सशय'—जैसी गालियोसे दुरदुराते हैं, किमाश्चर्यमत. परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकाश ध्यानमे आ जाता है कि—

'यदीय स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।'

अर्थात्—यदि यह अनेक धर्मरूपता वस्तुको स्वय पसन्द है, उसमे है, वस्तु स्वय राजी है, तो हम बीचमे काजी बननेवाले कौन ? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकार है। हमे अपनी दृष्टि निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमे कोई विरोध नही है। विरोध हमारी दृष्टिमे है। और इस दृष्टिविरोधकी अमृतौषधि 'स्यात्' शब्द है, जो रोगीको कटु तो जरूर मालूम होती है, पर इसके बिना यह दृष्टि विषमज्वर उतर भी नही सकता।

प्रो० बलदेव उपाध्यायने भारतीय दर्शन (पृ० १५५) मे स्याद्वादका अर्थ बताते हुए लिखा है कि—"स्यात् (शायद, सम्भवत) शब्द अस् धातुके विधिलिङ्के रूपका तिडन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घडेके विषयमे हमारा परामर्श 'स्यादस्ति = सभवत यह विद्यमान है' इसी रूपमे होना चाहिए।" यहाँ 'स्यात्' शब्दको शायदका पर्यायवाची तो उपाध्यायजी स्वीकार नही करना चाहते। इसीलिए वे शायद शब्दको कोष्ठकमे लिखकर भी आगे 'सभवत' शब्दका समर्थन करते है। वैदिक आचार्योमे शकराचार्यने शाकरभाष्यमे स्याद्वादको सशयरूप लिखा है, इसका सस्कार आज भी कुछ विद्वानोके माथेमे पडा हुआ है और वे उस सस्कारवश स्यात्का अर्थ 'शायद' लिख ही जाते हैं। जब यह स्पष्ट रूपसे अवधारण करके कहा जाता है कि—'घट स्यादस्ति' अर्थात् घडा अपने स्वरूपसे है ही। घट. स्यान्नास्ति—घट स्वभिन्न स्वरूपसे नही ही है' तब सशयको स्थान कहाँ है ? स्यात् शब्दसे जिस धर्मका प्रतिपादन किया जा रहा है उससे भिन्न अन्य धर्मोके सद्भावको सूचित करता है। वह प्रति समय श्रोताको यह सूचना देना चाहता है कि वक्ताके शब्दोसे वस्तुके जिस स्वरूपका निरूपण हो रहा है वस्तु उतनी ही नहीं है उनमे अन्य धर्म भी विद्यमान हैं। जब कि सशय और शायदमे एक भी धर्म निश्चित नही होता। जैनके अनेकान्तमे अनन्त धर्म निश्चित है, उनके दृष्टिकोण निश्चित है तब सशय और शायदकी उस भ्रान्त परम्पराको आज भी अपनेको तटस्थ माननेवाले विद्वान् भी चलाए जाते हैं यह रूढिवादका ही माहात्म्य है।

इसी संस्कारवश प्रो० बल्देवजी स्यात्के पर्यायवाचियोंमे शायद शब्दको लिखकर (पृ० १७३) जैनदर्शनकी समीक्षा करते समय शकराचार्यकी वकालत इन शब्दोमे करते हैं कि—"यह निश्चित ही है कि

इसी समन्वय दृष्टिसे वह पदार्थोंके विभिन्न रूपोका समीकरण करता जाता तो समग्र विश्वमे अनुस्यूत परम तत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर शकराचार्यने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरक भाष्य (२, २, ३३) मे प्रबल युक्तियोके सहारे किया है।" पर उपाध्यायजी, जब आप स्यात्का अर्थ निश्चित रूपसे 'संशय' नही मानते, तब शंकराचार्यके खण्डनका मार्मिकत्व क्या रह जाता है? आप कृपाकर स्व० महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झाके इन वाक्योको देखें—"जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्तका खंडन पढ़ा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्तमे बहुत कुछ है जिसे वेदान्तके आचार्योंने नही समझा।" श्री फणिभूषण अधिकारी तो और स्पष्ट लिखते हैं कि—"जैनधर्मके स्याद्वाद सिद्धान्तको जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्तको नही। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोषसे मुक्त नही हैं। उन्होने भी इस सिद्धान्तके प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषोके लिए क्षम्य हो सकती थी। किन्तु यदि मुझे कहनेका अधिकार है तो मैं भारतके इस महान् विद्वान्के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पडता है उन्होने इस धर्मके दर्शनशास्त्रके मूल ग्रन्थोके अध्ययनकी परवाह नही की।"

जैनदर्शन स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय करता है। जो धर्म वस्तुमें विद्यमान है उन्हीका समन्वय हो सकता है। जैनदर्शनको आप वास्तव बहुत्ववादी लिख आये है। अनेक स्वतन्त्र सत् व्यवहारके लिए सद्रूपसे एक कहे जायँ, पर वह काल्पनिक एकत्व वस्तु नही हो सकता? यह कैसे सम्भव है कि चेतन और अचेतन दोनो ही एक सत्के प्रातिभासिक विवर्त हो।

जिस काल्पनिक समन्वयकी ओर उपाध्यायजी संकेत करते है उस ओर भी जैन दार्शनिकोने प्रारम्भसे ही दृष्टिपात किया है। परम सग्रहनयकी दृष्टिसे सद्रूपसे यावत् चेतन-अचेतन द्रव्योका सग्रह करके 'एकं सत्' इस शब्दव्यवहारके होनेमे जैन दार्शनिकोको कोई आपत्ति नही है। सैकड़ो काल्पनिक व्यवहार होते हैं, पर इससे मौलिक तत्त्वव्यवस्था नही की जा सकती? एक देश या एक राष्ट्र अपनेमे क्या वस्तु है? समय-समयपर होनेवाली बुद्धिगत दैशिक एकताके सिवाय एकदेश या एकराष्ट्रका स्वतन्त्र अस्तित्व ही क्या है? अस्तित्व जुदा-जुदा भूखण्डोका अपना है। उसमे व्यवहारकी सुविधाके लिए प्रान्त और देश सज्ञाएँ जैसे काल्पनिक है, व्यवहारसत्य है, उसी तरह एक सत् या एक ब्रह्म काल्पनिकसत् होकर व्यवहारसत्य बन सकता है और कल्पनाकी दौडका चरम बिन्दु भी हो सकता है पर उसका तत्त्वसत् या परमार्थसत् होना नितान्त असम्भव है। आज विज्ञान एटम तकका विश्लेषण कर चुका है और सब मौलिक अणुओकी पृथक् सत्ता स्वीकार करता है। उनमे अभेद और इतना बडा अभेद जिसमे चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि सभी लीन हो जायँ कल्पनासाम्राज्यकी अन्तिम कोटि है। और इस कल्पनाकोटिको परमार्थसत् न माननेके कारण यदि जैनदर्शनका स्याद्वाद सिद्धान्त आपको मूलभूत तत्त्वके स्वरूप समझानेमे नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है तो हो, पर वह वस्तुसीमाका उल्लंघन नही कर सकता और न कल्पनालोककी लम्बी दौड़ ही लगा सकता है।

स्यात् शब्दको उपाध्यायजी सशयका पर्यायवाची नही मानते यह तो प्राय. निश्चित है क्योकि आप स्वयं लिखते हैं (पृ० १७३) कि—"यह अनेकान्तवाद सशयवादका रूपान्तर नही है," पर आप उसे संभववाद अवश्य कहना चाहते हैं। परन्तु स्यात्का अर्थ 'संभवत' करना भी न्यायसगत नही है, क्योंकि संभावना संशयमें जो कोटियाँ उपस्थित होती हैं उनकी 'अर्धनिश्चितता' की ओर सकेतमात्र है, निश्चय उससे भिन्न ही है। उपाध्यायजी स्याद्वादको संशयवाद और निश्चयवादके बीच संभावनावादकी जगह रखना

चाहते हैं जो एक अनध्यवसायात्मक अनिश्चयके समान है। परन्तु जब स्याद्वाद स्पष्ट रूपसे डंकेकी चोट यह कह रहा है कि—घड़ा 'स्यादस्ति' अर्थात् अपने स्वरूप, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने आकार इस स्वचतुष्टयकी अपेक्षा है ही यह निश्चित अवधारण है। घडा स्वसे भिन्न यावत् पर पदार्थोंकी दृष्टिसे नहीं ही है यह भी निश्चित अवधारण है। इस तरह जब दोनों धर्मोका अपने-अपने दृष्टिकोणसे घडा अविरोधी आधार है तब घडेको हम उभयदृष्टिसे अस्ति-नास्ति रूप भी निश्चित ही कहते हैं। पर शब्दमें यह सामर्थ्य नहीं है कि घटके पूर्णरूपको—जिसमें 'अस्ति-नास्ति' जैसे एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेको युगल-धर्म लहरा रहे हैं—कह सके अत. समग्रभावसे घडा अवक्तव्य है। इस प्रकार जब स्याद्वाद सुनिश्चित दृष्टिकोणों-से तत्तत् धर्मोंके वास्तविक निश्चयकी घोषणा करता है तब इसे सम्भावनावादमे कैसे रखा जा सकता है? स्यात् शब्दके साथ ही एवकार भी लगा रहता है जो निर्दिष्ट धर्मका अवधारण सूचित करता है तथा स्यात् शब्द उस निर्दिष्ट धर्मसे अतिरिक्त अन्य धर्मोंकी निश्चित स्थितिकी सूचना देता है। जिससे श्रोता यह न समझ ले कि वस्तु इसी धर्मरूप है। यह स्याद्वाद कल्पित धर्मोंतक व्यवहारके लिए भले ही पहुँच जाय, पर वस्तुव्यवस्थाके लिए वस्तुकी सीमाको नही लाँघता। अत न यह संशयवाद है, न अनिश्चयवाद और न संभावनावाद ही, किन्तु खरा अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद है।

इसी तरह डॉ० देवराजजी का पूर्वी और पश्चिमी दर्शन (पृष्ठ ६५) मे किया गया स्यात् शब्दका 'कदाचित्' अनुवाद भी भ्रामक है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है। इसका सीधा अर्थ है किसी समय। और प्रचलित अर्थमें यह संशयकी ओर ही झुकाता है। स्यात्का प्राचीन अर्थ है कथञ्चित्—अर्थात् किसी निश्चित प्रकारसे, स्पष्ट शब्दोमे अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे। इस प्रकार अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वादका अभ्रान्त वाच्यार्थ है।

महापंडित राहुल साकृत्यायनने तथा इत पूर्व प्रो० जैकोबी आदिने स्याद्वादकी उत्पत्तिको सजय वेलट्ठिपुत्तके मतसे बतानेका प्रयत्न किया है। राहुलजीने 'दर्शन दिग्दर्शन (पृ० ४९६)' मे लिखा है कि—''आधुनिक जैनदर्शनका आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है संजय वेलट्ठिपुत्तके चार अगवाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अगवाला किया गया है। संजयने तत्त्वो (परलोक देवता) के बारेमे कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इन्कार करते हुए उस इन्कारको चार प्रकार कहा है—

१—है ? नहीं कह सकता।
२—नही है ? नही कह सकता।
३—है भी और नहीं भी ? नही कह सकता।
४—न है और न नही है ? नही कह सकता।

इसकी तुलना कीजिये जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

१—है ? हो सकता है (स्यादस्ति)
२—नही है ? नही भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)
३—है भी और नही भी ? है भी और नही भी हो सकता (स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते है (= वक्तव्य हैं) ? इसका उत्तर जैन 'नही' में देते हैं—

४—स्याद् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (= वक्तव्य) है ? नही, स्याद् अ-वक्तव्य है।
५—'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।

६–'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

७–'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यो (प्रश्न और उत्तर दोनो) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भंगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नही है' को जोडकर 'स्याद्' भी अवक्तव्य है, यह सातवाँ भंग तैयारकर अपनी सप्तभंगी पूरी की।·······

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (=वाद) की स्थापना न करना जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया और उसको चतुर्भंगी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।''

राहुलजी ने उक्त सन्दर्भमे सप्तभगी और स्याद्वादके स्वरूपको न समझकर केवल शब्दसाम्यसे एक नये मतकी सृष्टि की है। यह तो ऐसा हो है जैसे कि चोरसे ''क्या तुम अमुक जगह गये थे ? यह पूछनेपर वह कहे कि मैं नही कह सकता कि गया था'' और जज अन्य प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दे कि चोर अमुक जगह गया था। तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जजका फैसला चोरके बयानसे निकला है।

सजयवेलट्ठिपुत्तके दर्शनका विवेचन स्वयं राहुलजीने (पृ० ४९१) इन शब्दोमें किया है—''यदि आप पूछे—'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नही कहता, वैसा भी नही कहता, दूसरी तरहसे भी नही कहता। मैं यह भी नही कहता कि वह नही है। मैं यह भी नही कहता कि वह नहीं नही है। परलोक नही है। परलोक नही नही है। परलोक है भी और नही भी है। परलोक न है और न नही है।''

सजयके परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तिके सम्बन्धके ये विचार शतप्रतिशत अनिश्चयवादके है। वह स्पष्ट कहता है कि—''यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।'' सजयको परलोक मुक्ति आदिके स्वरूप-का कुछ भी निश्चय नही था इसलिए उसका दर्शन बकौल राहुलजीके मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममे नही डालना चाहता और न कुछ निश्चयकर भ्रान्त धारणाओकी पुष्टि ही करना चाहता है। तात्पर्य यह कि संजय घोर अनिश्चयवादी था।

बुद्ध और संजय—बुद्धने ''लोक नित्य है[१], अनित्य है,[२] नित्य-अनित्य है[३], न नित्य, न अनित्य है[४]; लोक अन्तवान् है[१], नही है[२], है-नही है[३], न है न नही है[४]; निर्वाणके बाद तथागत होते हैं[१], नही होते[२], होते-नही होते[३], न होते न नही होते[४]; जीव शरीरसे भिन्न है[१], जीव शरीरसे भिन्न नही है[२]।'' (माध्य-मिक वृत्ति पृ० ४४६) इन चौदह वस्तुओको अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकाय (२।२।३) मे इनकी सख्या दश है। इसमें आदिके दो प्रश्नोंमे तीसरा और चौथा विकल्प नही गिना गया है। इनके अव्याकृत होनेका कारण बुद्धने बताया है कि इनके बारेमें कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिये उपयोगी नही, न यह निर्वेद निरोध शान्ति या परमज्ञान निर्वाणके लिये आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बुद्धकी दृष्टिमें इनका जानना मुमुक्षुके लिए आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दोंमें बुद्ध भी संजयकी तरह, इनके बारेमे कुछ कहकर मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नही डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओं को पुष्ट ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता या अनिश्चयको साफ-साफ शब्दोमे कह देता है कि यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, तब बुद्ध अपने जानने-न जाननेका उल्लेख न करके उस रहस्यको शिष्योंके लिए अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुडा लेते हैं। किसी भी तार्किकका यह प्रश्न अभी तक असमाहित ही रह जाता है कि इस

अव्याकृतता और संजयके अनिश्चयवादमे क्या अन्तर है ? सिवाय इसके कि संजय फक्कडकी तरह खरी-खरी बात कह देता है और बुद्ध बडे आदमियोकी शालीनताका निर्वाह करते हैं ।

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समयके वातावरणमे आत्मा लोक परलोक और मुक्तिके स्वरूपके सम्बन्धमे—'है (सत्), नही (असत्), है-नही (सदसत् उभय), न है न नही है (अवक्तव्य या अनुभय) ।' ये चार कोटियाँ गूँज रही थी । कोई भी प्राश्निक किसी भी तीर्थङ्कर या आचार्यसे बिना किसी संकोचके अपने प्रश्नको एक साँसमे ही उक्त चार कोटियोमे विभाजित करके ही पूछता था । जिस प्रकार आज कोई भी प्रश्न मजदूर और पूँजीपति शोषक और शोष्यके द्वन्द्वकी छायामे ही सामने आता है, उसी प्रकार उस समय आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोके प्रश्न सत् असत् उभय और अनुभय-अनिर्वचनीय इस चतुष्कोटिमें आवेष्टित रहते थे । उपनिषद् या ऋग्वेदमे इस चतुष्कोटिके दर्शन होते हैं । विश्वके स्वरूपके सम्बन्धमे असत्से सत् हुआ ? या सत्से सत् हुआ ? या सदसत् दोनों रूपसे अनिर्वचनीय है ? इत्यादि प्रश्न उपनिषद् और वेदमे बराबर उपलब्ध होते हैं ? ऐसी दशामे राहुलजीका स्याद्वादके विषयमे यह फतवा दे देना कि संजयके प्रश्नोके शब्दोंसे या उसकी चतुर्भङ्गीको तोडमरोडकर सप्तभङ्गी बनी—कहाँ तक उचित है, यह वे स्वय विचारें । बुद्धके समकालीन जो छह तीर्थिक थे उनमें महावीर निगण्ठ नाथपुत्रकी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शीके रूपमे प्रसिद्धि थी । वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नही यह इस समयकी चरचाका विषय नही है, पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक थे और किसी भी प्रश्नको सजयकी तरह अनिश्चय कोटि या विक्षेप[1] कोटिमे या बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमे डालनेवाले नही थे और न शिष्योकी सहज जिज्ञासाको अनुपयोगिताके भयप्रद चक्करमे डुबा देना चाहते थे । उनका विश्वास था कि सघके पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय नही कर लेते तब तक उनमे बौद्धिक दृढता और मानसबल नही आ सकता । वे सदा अपने समानशील अन्य सघके भिक्षुओके सामने अपनी बौद्धिक दीनताके कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उसके जीवन और आचारपर आये बिना नही रहेगा । वे अपने शिष्योको पर्देबन्द पद्मनियोकी तरह जगत्के स्वरूप-विचारकी बाह्य हवासे अपरिचित नही रखना चाहते थे, किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक प्राणी अपनी सहज जिज्ञासा और मननशक्तिका वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचारकी ओर लगावे । न उन्हें बुद्धकी तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्माके सम्बन्धमे 'है' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियोकी तरह लोग नित्यत्वकी ओर झुक जायेगे और नही कहनेसे उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाककी तरह नास्तित्वका प्रसंग प्राप्त होगा । अत इस प्रश्नको अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है । वे चाहते थे कि मौजूद तर्कोंका और सशयोका समाधान वस्तुस्थितिके आधारसे होना ही चाहिये । अत उन्होने वस्तुस्वरूपका अनुभवकर यह बताया कि जगत्का प्रत्येक सत् चाहे वह चेतनजातीय हो या अचेतनजातीय, परिवर्तनशील है । वह निसर्गत. प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, उसकी पर्याय बदलती रहती है, उसका परिणमन कभी सदृश भी होता है, कभी विसदृश भी । पर परिणमनसामान्यके प्रभावसे कोई भी अछूता नही रहता । यह एक मौलिक नियम है कि किसी भी सत्का विश्वसे सर्वथा उच्छेद नही हो सकता, यह परिवर्तित होकर भी अपनी मौलिकता या सत्ताको नही खो सकता । एक परमाणु है वह हाइड्रोजन बन जाय, जल बन जाय, भाप बन जाय, फिर पानी हो जाय, पृथिवी बन जाय, और अनन्त आकृतियाँ या पर्यायोको धारण कर ले, पर अपने द्रव्यत्व या मौलिकत्वको नही खो सकता । किसीकी ताकत नही जो उस परमाणुकी हस्ती या अस्तित्वको मिटा सके । तात्पर्य यह कि जगत्मे जितने 'सत्' हैं उतने बने रहेंगे । उनमेसे एक भी कम नही हो सकता, एक-दूसरेमे विलीन नही

१. प्रो० धर्मानन्द कोसाम्बीने सजयके वादको विक्षेपवाद संज्ञा दी है । देखो—भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ४७ ।

हो सकता। इसी तरह न कोई नया 'सत्' उत्पन्न हो सकता है। जितने हैं उनका ही आपसी संयोग-वियोगोंके आधारसे यह विश्व जगत् ('गच्छतीति जगत्' अर्थात् नाना रूपोंको प्राप्त होना) बनता रहता है।

तात्पर्य यह कि—विश्वमे जितने सत् हैं उनमेंसे न तो एक कम हो सकता है और न एक बढ़ सकता है। अनन्त जड परमाणु, अनन्त आत्माएँ, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश, और असख्य कालाणु इतने सत हैं। इनमें धर्म अधर्म आकाश और काल अपने स्वाभाविक रूपमें सदा विद्यमान रहते हैं, उनका विलक्षण परिणमन नही होता। इसका अर्थ यह नही है कि ये कूटस्थ नित्य हैं, किन्तु इनका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है वह सदृश स्वाभाविक परिणमन ही होता है। आत्मा और पुद्गल ये दो द्रव्य एक-दूसरे-को प्रभावित करते हैं। जिस समय आत्मा शुद्ध हो जाता है उस समय वह भी अपने प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक परिणमनका ही स्वामी रहता है, उसमें विलक्षण परिणति नही होती। जब तक आत्मा अशुद्ध है तब तक ही इसके परिणमनपर सजातीय जीवान्तरका और विजातीय पुद्गलका प्रभाव आनेसे विलक्षणता आती है। इसकी नानारूपता प्रत्येकको स्वानुभवसिद्ध है। जड पुद्गल ही एक ऐसा विलक्षण द्रव्य है जो सदा सजातीय-से भी प्रभावित होता है और विजातीय चेतनसे भी। इसी पुद्गल द्रव्यका चमत्कार आज विज्ञानके द्वारा हम सबके सामने प्रस्तुत है। इसीके हीनाधिक संयोग-वियोगोंके फलस्वरूप असख्य आविष्कार हो रहे हैं। विद्युत् शब्द आदि इसीके रूपान्तर हैं, इसीकी शक्तियाँ हैं। जीवकी अशुद्ध दशा इसीके सपर्कसे होती है। अनादिसे जीव और पुद्गलका ऐसा सयोग है जो पर्यायान्तर लेनेपर भी जीव इसके सयोगसे मुक्त नही हो पाता और उसमे विभाव परिणमन—राग द्वेष मोह अज्ञानरूप दशाएँ होती रहती है। जब यह जीव अपनी चारित्रसाधना द्वारा इतना समर्थ और स्वरूपप्रतिष्ठ हो जाता है कि उसपर बाह्य जगत्का कोई भी प्रभाव न पड सके तो वह मुक्त हो जाता है और अपने अनन्त चैतन्यमे स्थिर हो जाता है। यह मुक्त जीव अपने प्रतिक्षण परिवर्तित स्वाभाविक चैतन्यमे लीन रहता है। फिर उसमें अशुद्ध दशा नही होती। अन्तत. पुद्गल परमाणु ही ऐसे है जिनमे शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशामे दूसरे सयोगके आधारसे नाना आकृतियाँ और अनेक परिणमन सभव है तथा होते रहते हैं। इस जगत्-व्यवस्थामे किसी एक ईश्वर-जैसे नियन्ताका कोई स्थान नही है, यह तो अपने-अपने सयोग-वियोगोसे परिणमनशील है। प्रत्येक पदार्थका अपना सहज स्वभाव-जन्य प्रतिक्षणभावी परिणमनचक्र चालू है। यदि कोई दूसरा सयोग आ पडा और उस द्रव्यने इसके प्रभाव-को आत्मसात् किया तो परिणमन तत्प्रभावित हो जायगा, अन्यथा वह अपनी गतिसे बदलता चला जायगा। हाइड्रोजनका एक अणु अपनी गतिसे प्रतिक्षण हाइड्रोजन रूपमे बदल रहा है। यदि आक्सीजनका अणु उसमे आ जुट. तो दोनोका जलरूप परिणमन हो जायगा। वे एक 'बिन्दु' रूपसे सदृश सयुक्त परिणमन कर लेगें। यदि किसी वैज्ञानिकके विश्लेषणप्रयोगका निमित्त मिला तो वे दोना फिर जुदा-जुदा भी हो सकते हैं। यदि अग्निका सयोग मिल गया भाफ बन जायँगे। यदि साँपके मुखका सयोग मिला विषबिन्दु हो जायेंगे। तात्पर्य यह कि यह विश्व साधारणतया पुद्गल और अशुद्ध जीवके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका वास्तविक उद्यान है। परिणमनचक्रपर प्रत्येक द्रव्य चढ़ा हुआ है। वह अपनी अनन्त योग्यताओंके अनुसार अनन्त परिणमनोको क्रमश. धारण करता है। समस्त 'सत्' के समुदायका नाम लोक या विश्व है। इस दृष्टिसे अब आप लोकके शाश्वत और अशाश्वतवाले प्रश्नको विचारिए—

१—क्या लोक शाश्वत है ? हाँ, लोक शाश्वत है। द्रव्योकी संख्याकी दृष्टिसे, अर्थात् जितने सत् इसमे हैं उनमेका एक भी सत् कम नही हो सकता और न उनमें किसी नये सत्की वृद्धि ही हो सकती है।

न एक सत् दूसरेमें विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जो इसके अंगभूत द्रव्योंका लोप हो जाय या वे समाप्त हो जायँ।

२–क्या लोक अशाश्वत है? हाँ, लोक अशाश्वत है, अङ्गभूत द्रव्योंके प्रतिक्षणभावी परिणमनोंकी दृष्टिसे? अर्थात् जितने सत् हैं वे प्रतिक्षण सदृश या विसदृश परिणमन करते रहते हैं। इसमे दो क्षण तक ठहरनेवाला कोई परिणमन नही है। जो हमे अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी सदृश परिणमनका स्थूल दृष्टिसे अवलोकनमात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील सयोग-वियोगोंकी दृष्टिसे विचार कीजिये तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

३–क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनो रूप है? हाँ, क्रमश उपर्युक्त दोनो दृष्टियोसे विचार कीजिए तो लोक शाश्वत भी है (द्रव्यदृष्टिसे), अशाश्वत भी है (पर्यायदृष्टिसे)। दोनो दृष्टिकोणोको क्रमशः प्रयुक्त करनेपर और उन दोनोपर स्थूल दृष्टिसे विचार करनेपर जगत् उभयरूप ही प्रतिभासित होता है।

४–क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नही है? आखिर उसका पूर्ण रूप क्या है? हाँ, लोकका पूर्णरूप अवक्तव्य है, नही कहा जा सकता। कोई शब्द ऐसा नही जो एक साथ शाश्वत और अशाश्वत इन दोनो स्वरूपोको तथा उसमे विद्यमान अन्य अनन्त धर्मोको युगपत् कह सके। अत शब्दकी असामर्थ्यके कारण जगत्का पूर्णरूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपणमे आप देखेगे कि वस्तुका पूर्णरूप वचनोके अगोचर है, अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है। यह चौथा उत्तर वस्तुके पूर्ण रूपको युगपत् कहनेकी दृष्टिसे है। पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्यदृष्टिसे, अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टिसे। इस तरह मूलत चौथा, पहिला और दूसरा ये तीन ही प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपताका प्रश्न तो प्रथम और द्वितीयके सयोगरूप है। अब आप विचारे कि सजयने जब लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमे स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्धने कह दिया कि इनके चक्करमे न पडो, इसका जानना उपयोगी नही तब महावीरने उन प्रश्नोका वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योंकी जिज्ञासाका समाधान कर उनको बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	सजय	बुद्ध	महावीर
१–क्या लोक शाश्वत है?	मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, (अनिश्चय, विक्षेप)	इसका जानना अनुपयोगी है (अव्याकृत, अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्य-दृष्टिसे शाश्वत है, इसके किसी भी सत्का सर्वथा नाश नही हो सकता।
२–क्या लोक अशाश्वत है?	,,	,,	हाँ, लोक अपने प्रतिक्षण भावी परिवर्तनोकी दृष्टिसे अशाश्वत है, कोई भी पदार्थ दो क्षणस्थायी नही।
३–क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है?	,,	,,	हाँ, दोनो दृष्टिकोणोंसे क्रमशः विचार करनेपर लोकको शाश्वत भी कहते हैं और अशाश्वत भी।

४—क्या लोक दोनों रूप नही है अनुभय है ?	,,	,,	हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोकके परिपूर्ण स्वरूपको एक साथ समग्र भावसे कह सके। उसमें शाश्वत, अशाश्वतके सिवाय भी अनन्त रूप विद्यमान हैं अतः समग्र भावसे वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है, अनिर्वचनीय है।

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नोका समाधान नही करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं, महावीर उन्हीका वास्तविक युक्तिसगत समाधान करते हैं। इसपर भी राहुलजी और धर्मानन्द कोसाम्बी आदि यह कहनेका साहस करते हैं कि 'संजयके अनुयायियोके लुप्त हो जानेपर संजयके वादको ही जैनियोने अपना लिया'। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि भारतमें रही परतन्त्रताको ही परतन्त्रताविधायक अंग्रेजोके चले जानेपर भारतीयोने उसे अपरतन्त्रता (स्वतन्त्रता) रूपसे अपना लिया है, क्योंकि अपरतन्त्रता भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही। या हिंसाको ही बुद्ध और महावीरने उसके अनुयायियोके लुप्त होनेपर अहिंसारूपसे अपना लिया है, क्योंकि अहिंसामें भी 'हिं सा' ये दो अक्षर हैं ही। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि—आप (पृ० ४८४) अनिश्चिततावादियोकी सूचीमे संजयके साथ निग्गठ नाथपुत्त (महावीर) का नाम भी लिख जाते है, तथा (पृ० ४९१) संजयको अनेकान्तवादी। क्या इसे धर्मकीर्तिके शब्दोमे 'धिग् व्यापकं तमः' नही कहा जा सकता ?

'स्यात्' शब्दके प्रयोगसे साधारणतया लोगोंको संशय अनिश्चय या संभावनाका भ्रम होता है। पर यह तो भाषाकी पुरानी शैली है उस प्रसङ्गकी, जहाँ एक वादका स्थापन नही होता। एकाधिक भेद या विकल्पकी सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'स्यात्' पदका प्रयोग भाषाकी शैलीका एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकायके महाराहुलोवाद सुत्तके निम्नलिखित अवतरणसे ज्ञात होता है—"कतमा च राहुल तेजोधातु ? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।" अर्थात् तेजो धातु स्यात् आध्यात्मिक है, स्यात् बाह्य है। यहाँ सिया (स्यात्) शब्दका प्रयोग तेजो धातुके निश्चित भेदोकी सूचना देता है, न कि उन भेदोका संशय अनिश्चय या सम्भावना बताता है। आध्यात्मिक भेदके साथ प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द इस बातका द्योतन करता है कि तेजो धातु मात्र आध्यात्मिक ही नही है किन्तु उससे व्यतिरिक्त बाह्य भी है। इसी तरह 'स्यादस्ति' मे अस्तिके साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द सूचित करता है कि 'अस्ति'से भिन्न धर्म भी वस्तुमे है केवल 'अस्ति' धर्मरूप ही वस्तु नही है। इस तरह 'स्यात्' शब्द न 'शायद' का न 'अनिश्चय' का और न सम्भावनाका सूचक है किन्तु निर्दिष्ट धर्मके सिवाय अन्य अशेष धर्मोंकी सूचना देता है जिससे श्रोता वस्तुको निर्दिष्ट धर्ममात्र रूप ही न समझ बैठे।

सप्तभंगी—वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है। उसमे विभिन्न दृष्टियोंसे विभिन्न विवक्षाओसे अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक धर्मका विरोधी धर्म भी दृष्टिभेदसे वस्तुमे सम्भव है। जैसे 'घट स्यादस्ति' मे घट है ही अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादासे। जिस प्रकार घटमें स्वचतुष्टयकी अपेक्षा 'अस्तित्व' धर्म है, उसी तरह घटव्यतिरिक्त अन्य पदार्थोंका 'नास्तित्व' भी घटमें है। यदि घटभिन्न पदार्थोंका नास्तित्व घटमें न पाया जाय तो घट और पदार्थ मिलकर एक हो जायेंगे। अतः घट स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इसी तरह वस्तुमें

द्रव्यदृष्टिसे नित्यत्व, पर्यायदृष्टिसे अनित्यत्व आदि अनेको विरोधी धर्मयुगल रहते है। एक वस्तुमे अनन्त सप्तभङ्ग बनते हैं। जब हम घटके अस्तित्वका विचार करते है तो अस्तित्वविषयक सात भङ्ग हो सकते हैं। जैसे संजयके प्रश्नोत्तर या बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोत्तरमे हम चार कोटि तो निश्चित रूपसे देखते है—सत्, असत्, उभय और अनुभय। उसी तरह गणितके हिसाबसे तीन मूल भगोको मिलानेपर अधिकसे अधिक सात अपुनरुक्त भंग हो सकते है। जैसे घडेके अस्तित्वका विचार प्रस्तुत है तो पहिला अस्तित्व धर्म, दूसरा तद्विरोधी नास्तित्व धर्म और तीसरा धर्म होगा अवक्तव्य जो वस्तुके पूर्ण रूपकी सूचना देता है कि वस्तु पूर्ण रूपसे वचनके अगोचर है। उसके विराट् रूपको शब्द नही छू सकते। अवक्तव्य धर्म इस अपेक्षासे है कि दोनो धर्मोको युगपत् कहनेवाला शब्द ससारमे नही है अत वस्तु यथार्थत वचनातीत है, अवक्तव्य है। इस तरह मूलमें तीन भङ्ग है—

१–स्यादस्ति घट. २–स्यान्नास्ति घट ३–स्यादवक्तव्यो घट.

अवक्तव्यके साथ स्यात् पद लगानेका भी अर्थ है कि वस्तु युगपत् पूर्ण रूपमे यदि अवक्तव्य है तो क्रमश अपने अपूर्ण रूपमे वक्तव्य भी है और वह अस्ति-नास्ति आदि रूपसे वचनोका विषय भी होती है। अतः वस्तु स्याद् वक्तव्य है। जब मूल भग तीन हैं तब इनके द्विसयोगी भग भी तीन होगे तथा त्रिसयोगी भंग एक होगा। जिस तरह चतुष्कोटिमे सत् और असत्को मिलाकर प्रश्न होता है कि 'क्या सत् होकर भी वस्तु असत् है?' उसी तरह ये भी प्रश्न हो सकते है कि—१ क्या सत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है? २ क्या असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है? ३ क्या सत्-असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है? इन तीनो प्रश्नोका समाधान सयोगज चार भगोमे है। अर्थात्—

४–अस्ति नास्ति उभय रूप वस्तु है—स्वचतुष्टय और परचतुष्टयपर क्रमश दृष्टि रखनेपर और दोनोकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

५–अस्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमे स्वचतुष्टय और द्वितीय समयमे युगपत् स्वपर चतुष्टय-पर क्रमश दृष्टि रखनेपर और दोनोकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

६–नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमे परचतुष्टय और द्वितीय समयमे युगपत् स्वपर चतुष्टयकी क्रमश दृष्टि रखनेपर और दोनोकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

७–अस्ति नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमे स्वचतुष्टय, द्वितीय समयमे परचतुष्टय तथा तृतीय समयमे युगपत् स्व-पर चतुष्टयपर क्रमश दृष्टि रखनेपर और तीनोकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

जब अस्ति और नास्तिकी तरह अवक्तव्य भी वस्तुका धर्म है तब जैसे अस्ति और नास्तिको मिला-कर चौथा भग बन जाता है वैसे ही अवक्तव्यके साथ भी अस्ति, नास्ति और अस्ति-नास्ति मिलकर पाँचवे, छठवे और सातवे भगकी सृष्टि हो जाती है।

इस तरह गणितके सिद्धान्तके अनुसार तीन मूल वस्तुओंके अधिक-से-अधिक अपुनरुक्त सात ही भंग हो सकते है। तात्पर्य यह कि वस्तुके प्रत्येक धर्मको लेकर सात प्रकारकी जिज्ञासा हो सकती है, सात प्रकारके प्रश्न हो सकते है अत उनके उत्तर भी सात प्रकारके ही होते हैं।

दर्शनदिग्दर्शनमे श्री राहुलजीने पाँचवे छठवे और सातवे भगको जिस भ्रष्ट तरीकेसे तोडा-मरोडा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और अतिसाहस है। जब वे दर्शनोको व्यापक नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते है तो किसी भी दर्शनकी समीक्षा उसके स्वरूपको ठीक समझकर ही करनी चाहिए। वे अवक्तव्य नामक धर्मको जो कि सत्के साथ स्वतन्त्रभावसे द्विसयोगी हुआ है, तोडकर अ-वक्तव्य करके

संजयके 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और 'संजयके घोर अनिश्चयवादको ही अनेकान्तवाद कह देते हैं ! किमाश्चर्यमतः परम् ?

श्री सम्पूर्णानन्दजी 'जैनधर्म' पुस्तककी प्रस्तावना (पृ० ३) में अनेकान्तवादकी ग्राह्यता स्वीकार करके भी सप्तभंगी न्यायको बालकी खाल निकालनेके समान आवश्यकतासे अधिक बारीकीमें जाना समझते हैं। पर सप्तभंगीको आजसे अढ़ाई हजार वर्ष पहिलेके वातावरणमें देखनेपर वे स्वयं उसे समयकी माँग कहे बिना नहीं रह सकते। अढ़ाई हजार वर्ष पहिले आबाल-गोपाल प्रत्येक प्रश्नको सहज तरीकेसे 'सत्, असत्, उभय और अनुभय' इन चार कोटियोंमें गूँथकर ही उपस्थित करते थे और उस समयके भारतीय आचार्य उत्तर भी चतुष्कोटिका ही, हाँ या ना में देते थे तब जैन तीर्थंकर महावीरने मूल तीन भंगोंके गणितके नियमानुसार अधिक-से-अधिक सात प्रश्न बनाकर उनका समाधान सप्तभंगी द्वारा किया जो निश्चितरूपसे वस्तुकी सीमाके भीतर ही रही है। अनेकान्तवादने जगत्के वास्तविक अनेक सत्का अपलाप नहीं किया और न वह केवल कल्पनाके क्षेत्रमें विचरा है।

मेरा उन दार्शनिकोंसे निवेदन है कि भारतीय परम्परामें जो सत्यकी धारा है उसे 'दर्शनग्रन्थ' लिखते समय भी कायम रखें और समीक्षाका स्तम्भ तो बहुत सावधानी और उत्तरदायित्वके साथ लिखनेकी कृपा करें जिससे दर्शन केवल विवाद और भ्रान्त परम्पराओंका अजायबघर न बने। वह जीवनमें संवाद लावे और दर्शनप्रणेताओंको समुचित न्याय दे सके।

इस तरह जैनदर्शनने 'दर्शन' शब्दकी काल्पनिक भूमिकासे निकलकर वस्तु-सीमापर खड़े होकर जगत्में वस्तु-स्थितिके आधारसे संवाद समीकरण और यथार्थतत्त्वज्ञानकी दृष्टि दी। जिसकी उपासनासे विश्व अपने वास्तविक रूपको समझकर निरर्थक विवादसे बचकर सच्चा संवादी बन सकता है।

अनेकान्तदर्शनका सांस्कृतिक आधार

भारतीय विचार परम्परामें स्पष्टतः दो धाराएँ हैं। एक धारा वेदको प्रमाण माननेवाले वैदिक दर्शनोंकी है और दूसरी वेदको प्रमाण न मानकर पुरुषानुभव या पुरुषसाक्षात्कारको प्रमाण माननेवाले श्रमण सन्तोंकी। यद्यपि चार्वाक दर्शन भी वेदको प्रमाण नहीं मानता, किन्तु उसने आत्माका अस्तित्व जन्मसे मरण पर्यन्त ही स्वीकार किया है। उसने परलोक, पुण्य, पाप और मोक्ष जैसे आत्मप्रतिष्ठित तत्त्वोंको तथा आत्मसंशोधक चारित्र आदि की उपयोगिताको स्वीकृत नहीं किया है। अतः अवैदिक होकर भी वह श्रमण-धारामें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। श्रमणधारा वैदिक परम्पराको न मानकर भी आत्मा, जड़भिन्न ज्ञान-सन्तान, पुण्य-पाप, परलोक, निर्वाण आदिमें विश्वास रखती है, अतः पाणिनिकी परिभाषाके अनुसार आस्तिक है। वेदको या ईश्वरको जगत्कर्ता न माननेके कारण श्रमणधाराको नास्तिक कहना उचित नहीं है। क्योंकि अपनी अमुक परम्पराको न माननेके कारण यदि श्रमण नास्तिक कहे जाते हैं तो श्रमण-परम्पराको न माननेके कारण वैदिक भी मिथ्यादृष्टि आदि विशेषणोंसे पुकारे गये हैं।

श्रमणधाराका सारा तत्त्वज्ञान या दर्शनविस्तार जीवन-शोधन या चारित्र्य-वृद्धिके लिए हुआ था। वैदिक परम्परामें तत्त्वज्ञानको मुक्तिका साधन माना है, जब कि श्रमणधारामें चारित्रको। वैदिक-परम्परा वैराग्य आदिसे ज्ञानको पुष्ट करती है, विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है, जबकि श्रमण परम्परा कहती

१. जैन कथाग्रन्थोंमें महावीरके बालजीवनकी एक घटनाका वर्णन आता है कि—'संजय और विजय नामके दो साधुओंका संशय महावीरको देखते ही नष्ट हो गया था, इसलिए इनका नाम सन्मति रखा गया था।' सम्भव है यह संजय-विजय संजयवेलट्ठिपुत्त ही हो और इसीके संशय या अनिश्चयका नाश महावीरके सप्तभंगी न्यायसे हुआ हो और बेलट्ठिपुत्त विशेषण ही भ्रष्ट होकर विजय नामका दूसरा साधु बन गया हो।

है कि उस ज्ञान या उस विचारका कोई मूल्य नहीं जो जीवन में न उतरे। जिसकी सुवाससे जीवनशोधन न हो वह ज्ञान या विचार मस्तिष्कके व्यायामसे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखते। जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका आद्यसूत्र है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" (तत्त्वार्थसूत्र १।१) अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आत्मपरिणति मोक्षका मार्ग है। यहाँ मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उस चारित्रके परिपोषक हैं। बौद्ध परम्पराका अष्टांग मार्ग भी चारित्रका ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारामें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका ही अन्तिम महत्त्व रहा है और प्रत्येक विचार और ज्ञानका उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए किया गया है। श्रमण सन्तोंने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की और उसी परम वीतरागता, समता या अहिंसाकी उत्कृष्ट ज्योतिको विश्वमें प्रचारित करनेके लिए विश्वतत्त्वोंका साक्षात्कार किया। इनका साध्य विचार नहीं आचार था, ज्ञान नहीं चारित्र्य था, वाग्विलास या शास्त्रार्थ नहीं, जीवन-शुद्धि और संवाद था। अहिंसाका अन्तिम अर्थ है—जीवमात्रमें (चाहे वह स्थावर हो या जंगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या शूद्र, गोरा हो या काला, एतद्देशीय हो या विदेशी) देश, काल, शरीराकारके आवरणोंसे परे होकर समत्व-दर्शन। प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्य शक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। वह कर्म या वासनाओंके कारण वृक्ष, कीड़ा-मकोड़ा, पशु और मनुष्य आदि शरीरोंको धारण करता है, पर अखण्ड चैतन्यका एक भी अंश उसका नष्ट नहीं होता। वह वासना या रागद्वेषादिके द्वारा विकृत अवश्य हो जाता है। मनुष्य अपने देश, काल आदि निमित्तोंसे गोरे या काले किसी भी शरीरको धारण किए हो, अपनी वृत्ति या कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी भी श्रेणीमें उसकी गणना व्यवहारतः की जाती हो, किसी भी देशमें उत्पन्न हुआ हो, किसी भी सन्तका उपासक हो, वह इन व्यावहारिक निमित्तोंसे ऊँच या नीच नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण ही वह धर्मका ठेकेदार नहीं बन सकता। मानवमात्रके मूलतः समान अधिकार हैं, इतना ही नहीं, किन्तु पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष आदि प्राणियोंके भी। अमुक प्रकारकी आजीविका या व्यापारके कारण कोई भी मनुष्य किसी मानवाधिकारसे वञ्चित नहीं हो सकता। यह मानवसमत्व-भावना, प्राणिमात्रमें समता और उत्कृष्ट सत्त्वमैत्री अहिंसाके विकसित रूप हैं। श्रमणसन्तोंने यही कहा है कि—एक मनुष्य किसी भूखण्डपर या अन्य भौतिक साधनोंपर अधिकार कर लेनेके कारण जगत्में महान् बनकर दूसरोंके निर्दलनका जन्मसिद्ध अधिकारी नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण दूसरोंका शासक या धर्मका ठेकेदार नहीं हो सकता। भौतिक साधनोंकी प्रतिष्ठा बाह्यमें कदाचित् हो भी पर धर्मक्षेत्रमें प्राणिमात्रको एक ही भूमिपर बैठना होगा। हर एक प्राणीको धर्मकी शीतल छायामें समानभावसे सन्तोषकी साँस लेनेका सुअवसर है। आत्म-समत्व, वीतरागत्व या अहिंसाके विकाससे ही कोई महान् हो सकता है न कि जगत्में विषमता फैलानेवाले हिंसक परिग्रहके संग्रहसे। आदर्श त्याग है न कि संग्रह। इस प्रकार जाति, वर्ण, रङ्ग, देश, आकार, परिग्रहसंग्रह आदि विषमता और संघर्षके कारणोंसे परे होकर प्राणिमात्रको समत्व, अहिंसा और वीत-रागताका पावन सन्देश इन श्रमणसन्तोंने उस समय दिया जब यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड एक वर्गविशेषकी जीविकाके साधन बने हुए थे, कुछ गाय, सोना और स्त्रियोंकी दक्षिणासे स्वर्गके टिकिट प्राप्त हो जाते थे, धर्मके नामपर गोमेध, अजामेध क्वचित् नरमेध तकका खुला बाजार था, जातिगत उच्चत्व-नीचत्वका विष समाज-शरीरको दग्ध कर रहा था, अनेक प्रकारसे सत्ताको हथियानेके षड्यन्त्र चालू थे। उस बर्बर युग में मानवसमत्व और प्राणिमैत्रीका उदारतम सन्देश इन युगधर्मी सन्तोंने नास्तिकताका मिथ्या लाछन सहते हुए भी दिया और भ्रान्त जनताको सच्ची समाजरचनाका मूलमन्त्र बताया।

पर, यह अनुभवसिद्ध बात है। अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा मन शुद्धि और वचनशुद्धिके बिना नहीं हो सकती। हम भले ही शरीरसे दूसरे प्राणियोकी हिंसा न करे, पर यदि वचन-व्यवहार और चित्तगत-विचार विषम और विसवादी है तो कायिक अहिंसा पल ही नही सकती। अपने मनके विचार अर्थात् मतको पुष्ट करनेके लिए ऊँच नीच शब्द बोले जायँगे और फलत हाथापाईका अवसर आए बिना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थोंका इतिहास अनेक हिंसा-काडोके रक्तरंजित पन्नोसे भरा हुआ है। अत. यह आवश्यक था कि अहिंसाकी सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठाके लिए विश्वका यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचार-शुद्धिमूलक वचन-शुद्धिकी जीवन-व्यवहारमे प्रतिष्ठा हो। यह सम्भव ही नही है कि एक ही वस्तुके विषयमे परस्पर-विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्षके समर्थनके लिए उचित-अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्ष-प्रतिपक्षोका सगठन हो, शास्त्रार्थमे हारनेवालेको तैलकी जलती कडाहीमे जीवित तल देने-जैसी हिंसक होडे भी लगे, फिर भी परस्पर अहिंसा बनी रहे।

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक सन्त थे। उनने देखा कि आजका सारा राजकारण धर्म और मतवादियोंके हाथमे है। जब तक इन मतवादोका वस्तु-स्थितिके आधारसे समन्वय न होगा तब तक हिंसा की जड नही कट सकती। उनने विश्वके तत्त्वोका साक्षात्कार किया और बताया कि विश्वका प्रत्येक चेतन और जड तत्त्व अनन्त धर्मोंका भण्डार है। उसके विराट् स्वरूपको साधारण मानव परिपूर्णरूपमे नही जान सकता। उसका क्षुद्र ज्ञान वस्तुके एक-एक अशका जानकर अपनेमे पूर्णताका दुरभिमान कर बैठा है। विवाद वस्तुमे नही है। विवाद तो देखनेवालोकी दृष्टिमें है। काश, ये वस्तुके विराट् अनन्त-धर्मात्मक या अनेकात्मक स्वरूपकी झाँकी पा सके। उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्वज्ञानकी ओर मतवादियोका ध्यान खीचा और बताया कि—देखो, प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण पर्याय और धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनाद्य-नन्त सन्तान-स्थितिकी दृष्टिमे नित्य है। कभी भी ऐसा समय नही आ सकता जब विश्वके रंगमञ्चसे एक कणका भी समूल विनाश हो जाय। साथ ही प्रतिक्षण उसकी पर्याएँ बदल रही है, उसके गुण-धर्मोंमे भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है, अत वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्तगुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी निजी सम्पत्ति हैं। इनमेंसे हमारा स्वल्प ज्ञानलव एक-एक अशको विषय करके क्षुद्र मत-वादोकी सृष्टि कर रहा है। आत्माको नित्य सिद्ध करनेवालोका पक्ष अपनी सारी शक्ति आत्माको अनित्य सिद्ध करनेवालोकी उखाड-पछाडमे लगा रहा है तो अनित्यवादियोका गुट नित्यवादियोंको भला-बुरा कह रहा है।

महावीरको इन मतवादियोकी बुद्धि और प्रवृत्तिपर तरस आता था। वे बुद्धकी तरह आत्म-नित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदिको अव्याकृत (अकथनीय) कहकर बौद्धिक तमकी सृष्टि नही करना चाहते थे। उनने इन सभी तत्त्वोका यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्योको प्रकाशमे लाकर उन्हें मानस समताकी समभूमि पर ला दिया। उनने बताया कि वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोणसे देख रहे हो वस्तु उतनी ही नही है, उसमे ऐसे अनन्त दृष्टिकोणोसे देखे जानेकी क्षमता है, उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है उसका ईमानदारीसे विचार करो, वह भी वस्तुमे विद्यमान है। चित्तसे पक्षपातकी दुरभिसन्धि निकालो और दूसरेके दृष्टिकोणको भी उतनी ही प्रामाणिकतासे वस्तुमें खोजो, वह वही लहरा रहा है। हाँ, वस्तुकी सीमा और मर्यादाका उल्लंघन नही होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़-में चेतनत्व खोजा जाय या चेतनमे जड़त्व, तो नही मिल सकता। क्योंकि प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने निजी धर्म निश्चित हैं। मैं प्रत्येक वस्तुको अनन्त धर्मात्मक कह रहा हूँ, सर्वधर्मात्मक नही। अनन्त धर्मोंमें चेतनके

सम्भव अनन्त धर्म चेतनमें मिलेंगे तथा अचेतनगत सम्भव धर्म अचेतनमे। चेतनके गुण-धर्म अचेतनमें नही पाये जा सकते और न अचेतनके चेतनमें। हाँ, कुछ ऐसे सामान्य धर्म भी है जो चेतन और अचेतन दोनोमें साधारण रूपसे पाए जाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुमे बहुत गुञ्जाइश है। वह इतनी विराट् है जो हमारे तुम्हारे अनन्त दृष्टिकोणोंमे देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र-दृष्टिका आग्रह करके दूसरेकी दृष्टिका तिरस्कार करना या अपनी दृष्टिका अहंकार करना वस्तुके स्वरूपकी नासमझीका परिणाम है। हरिभद्र-सूरिने लिखा है कि—

"आग्रही वत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"—लोकतत्त्वनिर्णय

अर्थात्—आग्रही व्यक्ति अपने मतपोषणके लिए युक्तियाँ ढूँढता है, युक्तियोको अपने मतकी ओर ले जाता है, पर पक्षपातरहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपको स्वीकार करनेमे अपनी मतिकी सफलता मानता है।

अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपकी ओर अपने मतको लगाओ न कि अपने निश्चित मतकी ओर वस्तु और युक्तिकी खींचातानी करके उन्हे बिगाड़नेका दुष्प्रयास करो, और न कल्पनाकी उड़ान इतनी लम्बी लो जो वस्तुकी सीमाको ही लाँघ जाय। तात्पर्य यह है कि मानससमताके लिए यह वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस नरतनधारीको ज्ञात हो सकेगा कि वह कितने पानीमें है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है। और वह किस दुरभिमानसे हिंसक मतवाद-का सर्जन करके मानवसमाजका अहित कर रहा है। इस मानस-अहिंसात्मक अनेकान्त-दर्शनसे विचारोमें या दृष्टिकोणोंमें कामचलाऊ समन्वय या ढीलाढाला समझौता नही होता, किन्तु वस्तुस्वरूपके आधारसे यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक समन्वय-दृष्टि प्राप्त होती है।

डॉ० सर राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी (जिल्द १, पृ० ३०५–६) मे स्याद्वादके ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—"इससे हमे केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्यको नही जान सकते। दूसरे शब्दोमे—स्याद्वाद हमे अर्धसत्योके पास लाकर पटक देता है और इन्ही अर्धसत्योको पूर्ण सत्य मान लेनेकी प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्ध-सत्योको मिलाकर एक साथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नही कहा जा सकता।" आदि।

क्या सर राधाकृष्णन् बतानेकी कृपा करेगे कि स्याद्वादने निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योको पूर्ण सत्य माननेकी प्रेरणा कैसे की है? हाँ, वह वेदान्तकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेदकी दिमागी दौड़में अवश्य शामिल नही हुआ। और न वह किसी ऐसे सिद्धान्तका समन्वय करनेकी सलाह देता है जिसमे वस्तुस्थितिकी उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णनको पूर्णसत्य रूपसे वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है जिसमें चेतन-अचेतन मूर्त-अमूर्त सभी काल्पनिक रीतिसे समा जाते है। वे स्याद्वादकी समन्वयदृष्टिको अर्ध-सत्योंके पास लाकर पटकना समझते हैं, पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपत अनन्तधर्मात्मक है तब उस वास्तविक नतीजेपर पहुँचनेको अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं? हाँ, स्याद्वाद उस प्रमाणविरुद्ध काल्पनिक अभेदकी ओर वस्तुस्थितिमूलक दृष्टिसे नही जा सकता। वैसे, संग्रहनयकी एक चरम अभेदकी कल्पना जैनदर्शनकारोने भी की है और उस परम संग्रहनयकी अभेद दृष्टिसे बताया है कि—'सर्वमेक सदविशेषत्' अर्थात्—जगत् एक है, सद्रूपसे चेतन और अचेतनमे कोई भेद नही है। पर यह एक कल्पना है, क्योकि ऐसा एक सत् नही है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमे अनुगत रहता हो। अत यदि सर राधाकृष्णन्को चरम अभेदको कल्पना ही देखनी हो

तो वे परमसंग्रहनयके दृष्टिकोणमे देख सकते हैं, पर वह केवल कल्पना ही होगी, वस्तुस्थिति नहीं। पूर्ण-सत्य तो वस्तुका अनेकान्तात्मक रूपसे दर्शन ही है, न कि काल्पनिक अभेदका दर्शन।

इसी तरह प्रो० बलदेव उपाध्याय इस स्याद्वादसे प्रभावित होकर भी सर राधाकृष्णन्का अनुसरण-कर स्याद्वादको मूलभूततत्त्व (एक ब्रह्म ?) के स्वरूपके समझनेमे नितान्त असमर्थ बतानेका साहस करते है। इनने तो यहाँ तक लिख दिया है कि—'इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीचोबीच तत्त्व-विचारको कतिपय क्षणके लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्रामगृहसे बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" (भारतीय दर्शन, पृ० १७३)। आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शनको उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना चाहिए। पर स्याद्वाद जब वस्तुविचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तुकी सीमाको कैसे लाँघ सकता है ? ब्रह्मैकवाद न केवल युक्तिविरुद्ध ही है पर आजके विज्ञानसे उसके एकीकरणका कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नही होता। विज्ञानने एटम तकका विश्लेषण किया है और प्रत्येककी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अत यदि स्याद्वाद वस्तुकी अनेकान्तात्मक सीमापर पहुँचाकर बुद्धिको विराम देता है तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेदसे वास्तविक स्थितिकी उपेक्षा करना मनोरञ्जनसे अधिक महत्त्वकी बात नही हो सकती।

इसी तरह श्रीयुत् हनुमन्तराव एम. ए. ने अपने "**Jain Instrumental theory of Knowledge**" नामक लेखमे लिखा है कि—"स्याद्वाद सरल समझौतेका मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्य तक नही ले जाता।" आदि। ये सब एक ही प्रकारके विचार है जो स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेके या वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेके परिणाम है। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि—महावीरने देखा कि—वस्तु तो अपने स्थानपर अपने विराट् रूपमे प्रतिष्ठित है, उसमे अनन्त धर्म, जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते है, अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं, पर हमारी दृष्टिमे विरोध होनेसे हम उसकी यथार्थ स्थितिको नहीं समझ पा रहे है। जैनदर्शन वास्तव-बहुत्ववादी है। वह दो पृथक्सत्ताक वस्तुओंको व्यवहारके लिए कल्पनासे अभिन्न कह भी दे, पर वस्तुकी निजी मर्यादाका उल्लंघन नही करना चाहता। जैनदर्शन एक व्यक्तिका अपने गुण-पर्यायोसे वास्तविक अभेद तो मानता है, पर दो व्यक्तियोमे अवास्तविक अभेदको नही मानता। इस दर्शनकी यही विशेषता है, जो यह परमार्थ सत् वस्तुकी परिधिको न लाँघकर उसकी सीमामे ही विचार करता है और मनुष्योको कल्पनाकी उडानसे विरतकर वस्तुकी ओर देखनेको बाध्य करता है। जिस चरम अभेद तक न पहुँचनेके कारण अनेकान्त दर्शनको सर राधाकृष्णन्-जैसे विचारक अर्धसत्योका समुदाय कहते हैं उस चरम अभेदको भी अनेकान्त दर्शन एक व्यक्तिका एक धर्म मानता है। वह उन अभेदकल्पकोको कहता है कि वस्तु इससे भी बडी है, अभेद तो उसका एक धर्म है। दृष्टिको और उदार तथा विशाल करके वस्तुके पूर्ण रूपको देखो, उसमें अभेद एक कोनेमे पडा होगा और अभेदके अनन्तो भाई-बन्धु उसमें तादात्म्य हो रहे होंगे। अत इन ज्ञानलवधारियोको उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तुकी झाँकी दिखानेवाले अनेकान्तदर्शनने वास्तविक विचारकी अन्तिम रेखा खीची है, और यह सब हुआ है मानस-समतामूलक तत्त्व-ज्ञानकी खोजसे। जब इस प्रकार वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है तब सहज ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है उसकी सहानुभूतिसे समीक्षा होनी चाहिये और वस्तु-स्थितिमूलक समीकरण होना चाहिये। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तु-अनन्तधर्मताके वातावरणसे निरर्थक कल्पनाओका जाल टूटेगा और अहंकारका विनाश होकर मानससमताकी सृष्टि होगी। जो कि अहिंसाका संजीवन बीज है। इस तरह मानस-समताके लिए अनेकान्त दर्शन ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है। जब अनेकान्त दर्शनसे विचारशुद्धि हो जाती है तब स्वभावतः वाणीमें नम्रता और परसमन्वयकी वृत्ति उत्पन्न

हो जाती है। वह वस्तुस्थितिको उल्लंघन करनेवाले शब्दका प्रयोग ही नही कर सकता। इसीलिए जैनाचार्यों ने वस्तुकी अनेकधर्मात्मकताका द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। शब्दोमे यह सामर्थ्य नही जो कि वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कह सके। वह एक समयमे एक ही धर्मको कह सकता है। अतः उसी समय वस्तुमे विद्यमान शेष धर्मोंकी सत्ताका सूचन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का 'सुनिश्चित दृष्टिकोण' या 'निर्णीत अपेक्षा' ही अर्थ है 'शायद', 'सम्भव' 'कदाचित्' आदि नही। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है—'स्वरूपादिकी अपेक्षासे वस्तु है ही' न कि 'शायद है', 'सम्भव है', 'कदाचित् है' आदि। सक्षेपत जहाँ अनेकान्तदर्शन चित्तमे समता, मध्यस्थभाव, वीतरागता, निष्पक्षता-का उदय करता है, वहाँ स्याद्वाद वाणीमे निर्दोषता आनेका पूरा अवसर देता है।

इस प्रकार अहिंसाकी परिपूर्णता और स्थायित्वकी प्रेरणाने मानसशुद्धिके लिए अनेकान्तदर्शन और वचन-शुद्धिके लिए स्याद्वाद-जैसी निधियोंको भारतीय संस्कृतिके कोषागारमे दिया है। बोलते समय वक्ता-को सदा यह ध्यान रहना चाहिए कि वह जो बोल रहा है उतनी ही वस्तु नही है, किन्तु बहुत बडी है, उसके पूर्णरूप तक शब्द नही पहुँच सकते। इसी भावको जतानेके लिए वक्ता 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है। 'स्यात्' शब्द विधिलिङ्मे निष्पन्न होता है, जो अपने वक्तव्यको निश्चित रूपमे उपस्थित करता है न कि संशय रूपमे। जैन तीर्थंकरोने इस तरह सर्वाङ्गीण अहिंसाकी साधनाका वैयक्तिक और सामाजिक दोनो प्रकारका प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया है। उनने पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थोंके देखनेका, उनके ज्ञान करनेका और उनके स्वरूपको वचनसे कहनेका नया वस्तुस्पर्शी मार्ग बताया। इस अहिंसक दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनकारोने वस्तुका निरीक्षण किया होता तो भारतीय जल्पकथाका इतिहास रक्तरंजित न हुआ होता और धर्म तथा दर्शनके नामपर मानवताका निर्दलन नही होता। पर अहकार और शासन-भावना मानवको दानव बना देती है। उसपर भी धर्म और मतका 'अहम्' तो अति दुर्निवार होता है। परन्तु युग-युगमे ऐसे ही दानवोको मानव बनानेके लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वय दृष्टि, इसी समता भाव और इसी सर्वाङ्गीण अहिंसाका सन्देश देते आए हैं। यह जैनदर्शनकी ही विशेषता है जो वह अहिंसाकी तह तक पहुँचनेके लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नही रहा, अपितु वास्तविक स्थितिके आधारसे दार्शनिक युक्तियोको सुलझानेकी मौलिक दृष्टि भी खोज सका। न केवल दृष्टि ही किन्तु मन, वचन और काय इन तीनो द्वारोसे होनेवाली हिंसाको रोकनेका प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित कर सका।

डॉ० भगवानदास जैसे मनीषी समन्वय और सब धर्मोंकी मौलिक एकताकी आवाज बुलन्द कर रहे हैं। वे वर्षोंसे कह रहे है कि समन्वय दृष्टि प्राप्त हुए बिना स्वराज्य स्थायी नही हो सकता, मानव मानव नही रह सकता। उन्होने अपने 'समन्वय' और 'दर्शनका प्रयोजन' आदि ग्रन्थोमे इसी समन्वय तत्त्वका भूरि-भूरि प्रतिपादन किया है। जैन ऋषियोने इस समन्वय (स्याद्वाद) सिद्धान्तपर ही सख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विश्वास है कि जब तक दृष्टिमे समीचीनता नही आयगी तब तक मतभेद और सघर्ष बना ही रहेगा। नए दृष्टिकोणसे वस्तुस्थिति तक पहुँचना ही विसवादसे हटाकर जीवनको सवादी बना सकता है। जैनदर्शनकी भारतीय सस्कृतिको यही देन है। आज हमे जो स्वातन्त्र्यके दर्शन हुए हैं वह इसी अहिंसाका पुण्यफल है। कोई यदि विश्वमे भारतका मस्तक ऊँचा रख सकता है तो यह निरुपाधि वर्ण, जाति, रङ्ग, देश आदिकी उपाधियोसे रहित अहिंसा भावना ही है।

इस प्रकार सामान्यत: दर्शन शब्दका अर्थ और उनकी सीमा तथा जैनदर्शनकी भारतीय दर्शनको देनका सामान्य वर्णन करनेके बाद इस भागमे आए हुए ग्रन्थगत प्रमेयका वर्णन संक्षेपमें किया जाता है—

विषयपरिचय

ग्रन्थका बाह्यस्वरूप

नाम—आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने जैन न्यायका अवतार करनेवाला न्यायावतार ग्रन्थ लिखा है। न्यायावतारमे प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुत इन तीन प्रमाणोका विवेचन किया गया है। अकलकदेवने प्रकृत ग्रन्थ न्यायविनिश्चयमे भी प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन ये तीन ही प्रस्ताव रखे है। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकमे प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान इन तीनका विवेचन है। परार्थानुमान और शब्द प्रमाणकी प्रक्रिया लगभग एकसी है। धर्मकीर्तिका एक प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ गद्यपद्यमय रहा है। वादिदेवसूरिने स्याद्वाद रत्नाकर (पृ० २३) मे 'धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्य ' ' यह उल्लेख करके लिखा है कि न्यायविनिश्चयके तीन परिच्छेदोमे क्रमश प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमानका वर्णन है। यदि धर्मकीर्तिका प्रमाणविनिश्चयके अतिरिक्त न्यायविनिश्चय नामका भी कोई ग्रन्थ रहा है तो अकलकदेवने नामकी पसन्दगीमे इसका उपयोग कर लिया होगा। अभी तकके अनुसन्धानसे धर्मकीर्तिके न्यायविनिश्चय ग्रन्थका तो पता नही चला है। हो सकता है कि वादिदेवसूरिने प्रमाणविनिश्चयका ही 'न्यायविनिश्चयके' नामसे उल्लेख कर दिया हो क्योकि उसके प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान परिच्छेद प्रमाणके ही भेदोके निवेचक है। अत प्रमाणवार्तिककी तरह प्रमाणविनिश्चय नामकी ही अधिक सम्भावना है। अकलकदेवने न्यायको कलिदोषसे मलिन हुआ देखकर उसके विनिश्चयार्थ न्यायावतार और प्रमाणविनिश्चयके आद्यन्त पदोसे ग्रन्थका न्यायविनिश्चय नामकरण किया होगा।

न्यायविनिश्चयकी अकलंककर्तृकता—अकलकदेव अपने ग्रन्थोमे कही-न-कही 'अकलक' नामका प्रयोग अवश्य करते है। यह प्रयोग कही जिनेन्द्रके रूपमे, कही ग्रन्थके विशेषणके रूपमे और कही लक्षणघटक विशेषणके रूपमे दृष्टिगोचर होता है। न्यायविनिश्चय ग्रन्थ (कारिका न० २८६) मे ''विस्रब्धैरकलकरत्ननिचयन्यायो विनिश्चीयते'' इस कारिकाशके द्वारा अकलक और न्यायविनिश्चय दोनोकी हृदयहारिणी रीतिसे स्पष्ट सूचना दे दी है। वादिराजसूरिके पुष्पिका वाक्य, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चय टीका (पृ० २०८ B) का उल्लेख, विद्यानन्दिका आप्तपरीक्षा (पृ० ४९) गत 'तदुक्तमकलकदेवै.' कहकर उद्धृत की गई न्यायविनिश्चयकी 'इन्द्रजालादिषु' आदि कारिका, न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणयति द्वारा 'तदुक्त भगवद्भिरकलंकदेवै न्यायविनिश्चये' लिखकर 'प्रत्यक्षलक्षण प्राहु' इस तीसरी कारिकाका उद्धृत किया जाना इस ग्रन्थकी अकलकर्तृकताके प्रबल पोषक प्रमाण है।

ग्रन्थगतप्रमेय—न्यायविनिश्चयमे तीन प्रस्ताव हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. प्रवचन। इन प्रस्तावोमे स्थूल रूपसे जिन विषयोपर प्रकाश डाला गया है—उनका परिचय इस स्मृतिग्रन्थके खण्ड चारमे 'अकलक ग्रन्थत्रय और उनके कर्ता' लेखमे दिया गया है।

प्रस्तुत न्यायविनिश्चयमे तीन प्रकारके श्लोकोका सग्रह है—१–वार्तिक २–अन्तरश्लोक ३–संग्रहश्लोक। इस भागमे 'प्रत्यक्षलक्षण प्राहु' आदि तीसरा श्लोक मूलवार्तिक है, क्योंकि आगे इसी श्लोकगत पदोका विस्तृत विवेचन है। वृत्तिके मध्यमे यत्र-तत्र आनेवाले अन्तरश्लोक हैं। तथा वृत्तिके द्वारा प्रदर्शित मूलवार्तिकके अर्थका संग्रह करानेवाले संग्रहश्लोक हैं। वादिराजसूरिने (पृ० २२९) स्वयं ''निराकारेत्यादय अन्तरश्लोका. वृत्तिमध्यवर्तित्वात्'' विमुखेत्यादि वार्तिकव्याख्यानवृत्तिग्रन्थमध्यवर्तिन खल्वमी श्लोका.। ''''सग्रहश्लोकास्तु वृत्त्युपदर्शितस्य वार्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेष।'' इन शब्दोंमे अन्तरश्लोक और सग्रहश्लोककी विशेषता बताई है। वादिराजसूरिकी व्याख्या गद्यभागपर तो नही ही है। पद्योंमे भी सम्भवत. कुछ पद्य अव्याख्यात छूट गए हैं।

कारिका संख्या—न्यायविनिश्चयकी मूलकारिकाएँ पृथक्-पृथक् पूर्णरूपसे लिखी हुई नही मिलती। इनका उद्धार विवरणगत कारिकाशोंको जोडकर किया गया है। अत जहाँ ये कारिकाएँ पूरी नही मिलती वहाँ उद्धृत अंशको [ ] इस ब्रेकिटमे दे दिया है। अकलङ्कग्रन्थत्रयमे न्यायविनिश्चय मूल प्रकाशित हो चुका है। उसमे प्रथम प्रस्तावमे १६९॥ कारिकाएँ मुद्रित है, पर वस्तुत इस प्रस्तावकी कारिकाओंकी अभ्रान्त सख्या १६८॥ है। अकलङ्कग्रन्थत्रयगत न्यायविनिश्चयमे 'हिताहिताप्ति' (कारिका नं० ४) कारिका मूलकी समझकर छापी गई है, पर अब यह कारिका वादिराजकी स्वकृत ज्ञात होती है। न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० ११५) में लिखा है कि—"करिष्यते हि सदसज्ज्ञान इत्यादिना इन्द्रियप्रत्यक्षस्य, परोक्षज्ञान इत्यादिना अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य, लक्षण सममित्यादिना चातीन्द्रियप्रत्यक्षसमर्थनम्" इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि तीनो प्रत्यक्षोका प्रकारान्तरसे समर्थन कारिकाओमे किया गया है लक्षण नहीं। मूल कारिकाओमे न तो अनिन्द्रिय प्रत्यक्षका लक्षण है और न अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका, तब केवल इन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण क्यो किया होगा ? दूसरे पक्षमे इस श्लोककी व्याख्या (पृ० १०५, १११) विवरणमे मौजूद है और व्याख्याके आधारोसे ही उक्त श्लोकको मैने पहले मूलका माना था। हो सकता है कि वादिराजने स्वकृत श्लोकका ही तात्पर्योद्घाटन किया हो। अथवा वृत्तिमे ही गद्यमे उक्त लक्षण हो और वादिराजने उसे पद्यबद्ध कर दिया हो। जैसा कि लघीयस्त्रय स्ववृत्ति (पृ० २१) मे "इन्द्रियार्थज्ञान स्पष्ट हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिक प्रत्यक्षम्" यह इन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण मिलता है। अथव. इसे ही वादिराजने पद्यबद्ध कर दिया हो। फलत हमने इस श्लोकको इस विवरणमे वादिराजकृत ही मानकर छोटे टाइपमे छापा है। अकलङ्कग्रन्थत्रयकी प्रस्तावनामे इस श्लोकके सम्बन्धमे मैंने पं० कैलाशचन्द्रजीके मतकी चरचा की थी। अनुसन्धानसे उनका मत इस समय उचित मालूम होता है।

अकलङ्कग्रन्थत्रयमे मुद्रित कारिका न० ३८ का "ग्राह्यभेदो न संविर्त्ति भिनत्त्याकारभङ्ग्यपि" यह उत्तरार्ध मूलका नही है। कारिका न० १२९ के पूर्वार्धके बाद "तथा सुनिश्चितस्तैस्तु तत्त्वतो विप्रशसतः" यह उत्तरार्ध मूलका होना चाहिए। इस तरह इस परिच्छेदकी कारिकाओकी सख्या १६८॥ रह जाती है। प्रस्तुत विवरणमे छापते समय कारिकाओके नम्बर देनेमे गडबडी हो गई है।

ताडपत्रीय प्रतिमे प्राय मूल श्लोकोके पहिले ❀ इसप्रकारका चिह्न बना हुआ है, जहाँ पूरे श्लोक आए है। कारिका न० ४ पर यह चिह्न नही बना है। अकलङ्कग्रन्थत्रयमे मुद्रित प्रथम परिच्छेदकी कारिकाओमे निम्नलिखित सशोधन होना चाहिए—

कारिका नं० १६	–शब्दो	–शक्तो।
कारिका न० २४	–वन्यचे	–वत्त्यचे–।
कारिका न० ३१	न विज्ञाना–	न हि ज्ञाना–।
कारिका नं० ७०	–मेष निश्चय.	–मेष विनिश्चय।
कारिका न० ७८	कथन्न तत्	कथं तत.।
कारिका न० १०२	ध्रुमेप्य–	ध्रुवेप्य–।
कारिका नं० १४०	अतदारम्भ–	अतदाभ–

द्वितीय और तृतीय परिच्छेदमे मुद्रित कारिकाओमे निम्नलिखित कारिकापरिवर्तनादि है—कारिका न० १९४ की रचना—"अतद्धेतुफलापोहः सामान्य चेदपोहिनाम्। सन्दर्श्यते तथा बुद्ध्या न तथाऽप्रतिपत्तितः।" इसप्रकार होनी चाहिए।

कारिका नं० २८३ के ५ पूर्वार्धके बाद "चित्रचेत्तविचित्राभदृष्टभङ्गप्रसङ्गतः। स नैकः सर्वथा श्लेषात् नानेको भेदरूपतः।" यह कारिका और होनी चाहिए। कारिका नं० ३७२ का "पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः" यह उत्तरार्ध मूलका नहीं है। कारिका नं० ४३१ के बाद "ततः शब्दार्थयोर्नास्ति सम्बन्धोऽपौरुषेयकः" यह कारिकार्ध और होना चाहिए। कारिका नं० ४७५ के बाद "प्रमा प्रमितिहेतुत्वात् प्रामाण्यमुपगम्यते" यह कारिकार्ध और होना चाहिए। अतः अकलङ्कग्रन्थत्रयगत न्यायविनिश्चयके अङ्कोंके अनुसार सपूर्ण ग्रन्थमे ४८०॥ कारिकाएँ फलित होती हैं।

न्यायविनिश्चयविवरण—न्यायविनिश्चयके पद्य भागपर प्रबलतार्किक स्याद्वादविद्यापति वादिराजसूरिकृत तात्पर्यविद्योतिनी व्याख्यानरत्नमाला उपलब्ध है। जिसका नाम[1] न्यायविनिश्चय-विवरण है, जैसा कि वादिराजकृत इस श्लोकसे प्रकट है—

"प्रणिपत्य स्थिरभक्त्या गुरून् परानप्युदारबुद्धिगुणान्।
न्यायविनिश्चयविवरणमभिरमणीयं मया क्रियते॥"

लघीयस्त्रयकी तरह न्यायविनिश्चयविवरण (प्रथमभाग पृ० २२९) मे आए हुए 'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्', 'वृत्तिचूर्णीना तु विस्तारभयान्नास्माभिर्व्याख्यानमुपदर्श्यते' इन अवतरणोसे स्पष्ट है कि न्यायविनिश्चयपर अकलङ्कदेवकी स्ववृत्ति अवश्य रही है। वृत्तिके मध्यमे भी श्लोक थे जो अन्तरश्लोकके नामसे प्रसिद्ध थे। इसके सिवाय वृत्तिके द्वारा प्रदर्शित मूलवार्तिकके अर्थको संग्रह करनेवाले सग्रहश्लोक भी थे। वादिराजसूरिने जिन ४८०॥ श्लोकोका व्याख्यान विवरणमें किया है उनमे अन्तरश्लोक और सग्रहश्लोक भी शामिल हैं। कितने संग्रहश्लोक हैं और कितने अन्तरश्लोक, इसका ठीक निर्णय बादमें हो सकेगा। पर वादिराजसूरिने वृत्ति या चूर्णिगत सभी श्लोकोका व्याख्यान नही किया। पृ० ३०१ में 'तथा च सूक्त चूर्णौ देवस्य वचनम्' इस उत्थान–वाक्यके साथ "समारोपव्यवच्छेदात्" आदि श्लोक उद्धृत है। यदि वादिराजसूरि न्यायविनिश्चयकी स्ववृत्तिको ही चूर्णिशब्दसे कहते हैं तो कहना होगा कि आपने वृत्ति या चूर्णिगत सभी श्लोकोका व्याख्यान नही किया, क्योकि 'समारोपव्यवच्छेदात्' श्लोक मूलमें शामिल नही किया गया है।

---

१ परम्परागत प्रसिद्धिके अनुसार इसका नाम न्यायकुमुदचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रोदयकी तरह न्यायविनिश्चयालङ्कार रूढ हो गया है। परन्तु वस्तुत वादिराजके उक्त श्लोकगत उल्लेखानुसार इसका मुख्य आख्यान न्यायविनिश्चयविवरण है; दूसरे शब्दोमें इसे तात्पर्यविद्योतिनी व्याख्यानरत्नमाला भी कह सकते हैं। पर न्यायविनिश्चयालङ्कार नामका समर्थन किसी भी प्रमाणसे नही होता। प० परमानन्दजी शास्त्री, सरसावाने इसका न्यायविनिश्चयालङ्कार नाम भी मानकर इसके 'प्रमाणनिर्णय'से पहिले रचे जानेके सम्बन्धमे प्रमाणनिर्णय (पृ० १६) गत यह अवतरण एकीभावस्तोत्रकी प्रस्तावना (पृ० १५) मे उपस्थित किया है–

"अत एव परामर्शात्मकत्वं स्पाष्टयमेव मानसप्रत्यक्षस्य प्रतिपादितमलङ्कारे—इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात् पुरत स्थिते। साक्षात्करणतस्तत्र प्रत्यक्ष मानसं मतम्॥"

परन्तु इस अवतरणमें 'अलङ्कार' शब्दसे न्यायविनिश्चयालङ्कार इष्ट नही है, क्योंकि यह श्लोक वादिराजसूरिके न्यायविनिश्चयविवरणका नही है, किन्तु प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्तिकालङ्कार (लिखित पृ० ४) का है, और इसे वादिराजने न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० ११९) में पूर्वपक्षरूपसे उद्धृत किया है। वादिराज ने स्वय न्यायविनिश्चयविवरणमे बीसों जगह प्रमाणवार्तिकालङ्कारका 'अलङ्कार' नामसे उल्लेख किया है। अतः न्यायविनिश्चयविवरणका न्यायविनिश्चयालङ्कार नाम निर्मूल है और मात्र श्रुतिमाधुर्यनिमित्त ही प्रचलित हो गया है।

इस तरह वृत्तिके यावत् गद्यभागकी तो व्याख्या की ही नहीं गई, सम्भवत: कुछ पद्य भी छूट गए हैं। जैसा कि सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १२० A) के निम्नलिखित उल्लेखोंसे स्पष्ट है—

"तदुक्तं न्यायविनिश्चये—न चैतद् बहिरेव। किं तर्हि ? बहिर्बहिरिव प्रतिभासते। कुत एतत् ? भ्रान्तेः। तदन्यत्र समानम्। इति।"

सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ६९ A) में ही न्यायविनिश्चयके नामसे 'सुखमाल्हादनाकारं' श्लोक उद्धृत है—

"कथमन्यथा न्यायविनिश्चये सहभुवो गुणा इत्यस्य
सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्यात् यूनः कान्तासमागमे॥ इति निदर्शनं स्यात्।"

यह श्लोक सिद्धिविनिश्चयटीकाके उल्लेखानुसार न्यायविनिश्चय स्ववृत्तिका होना चाहिए। क्योंकि वह 'गुणपर्ययवद्द्रव्य ते सहक्रमवृत्तयः' (श्लो० १११) के गुण शब्दकी वृत्तिमें उदाहरणरूपसे दिया गया होगा। यह भी सम्भव है कि अकलङ्कदेवने स्वयं इस श्लोकको वृत्तिमें उद्धृत किया हो क्योंकि वादिराज इसे स्याद्वादमहार्णव ग्रन्थका बताते हैं। यह भी चित्तको लगता है कि न्यायविनिश्चयकी उक्त वृत्ति ही सम्भवत: स्याद्वादमहार्णवके नामसे प्रख्यात रही हो। जो हो, पर अभी यह सब साधक प्रमाणोंका अभाव होनेसे सम्भावनाकोटिमें ही है।

न्यायविनिश्चयविवरणकी रचना अत्यन्त प्रसन्न तथा मौलिक है। तत्तत् पूर्वपक्षोंको समृद्ध और प्रामाणिक बनानेके लिए अगणित ग्रन्थोंके प्रमाण उद्धृत किये गये हैं। जहाँ तक मैंने अध्ययन किया है वादिराजसूरिके ऊपर किसी भी दार्शनिक आचार्यका सीधा प्रभाव नहीं है। वे हरएक विषयको स्वयं आत्मसात् करके ही व्यवस्थित ढंगसे युक्तियोंका जाल बिछाते हैं जिससे प्रतिवादीको निकलनेका अवसर ही नहीं मिल पाता।

साख्यके पूर्वपक्षमें (पृ० २३१) योगभाष्यका उल्लेख 'विन्ध्यवासिनी भाष्यम्' शब्दसे किया है। साख्यकारिकाके एक प्राचीन निबन्धसे (पृ० २३४) भोगकी परिभाषा उद्धृत की है।

बौद्धमतसमीक्षामें धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक और प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारकी इतनी गहरी और विस्तृत आलोचना अन्यत्र देखनेमें नहीं आई। वार्तिकालङ्कारका तो आधा-सा भाग इसमें आलोचित है। धर्मोत्तर, शान्तभद्र, अर्चट आदि प्रमुख बौद्ध ग्रन्थकार इनकी तीखी आलोचनासे नहीं छूटे हैं।

मीमांसादर्शनकी समालोचनामें शबर, उम्बेक, प्रभाकर, मण्डन, कुमारिल आदिका गम्भीर पर्यालोचन है। इसी तरह न्यायवैशेषिक मतमें व्योमशिव, आत्रेय, भासर्वज्ञ, विश्वरूप आदि प्राचीन आचार्योंके मत उनके ग्रन्थोंसे उद्धृत करके आलोचित हुए हैं। उपनिषदोंका 'वेदमस्तक' शब्दसे उल्लेख किया गया है। इस तरह जितना परपक्षसमीक्षणका भाग है वह उन-उन मतोंके प्राचीनतम ग्रन्थोंसे लेकर ही पूर्वपक्षमें स्थापित करके आलोचित किया गया है।

स्वपक्षसस्थापनमें समन्तभद्रादि आचार्योंके प्रमाणवाक्योंसे पक्षका समर्थन परिपुष्ट रीतिसे किया है। जब वादिराज कारिकाओंका व्याख्यान करते हैं तो उनको अपूर्व वैयाकरणचुञ्चुता चित्तको विस्मित कर देती है। किसी-किसी कारिकाके पाँच-पाँच अर्थ तक इन्होंने किए हैं। दो अर्थ तो साधारणतया अनेक कारिकाओंके दृष्टिगोचर होते हैं। काव्यछटा और साहित्यमर्मज्ञता तो इनकी पद-पदपर अपनी आभासे न्याय-भारतीको समुज्ज्वल बनाती हुई सहृदयोंके हृदयको आह्लादित करती है। सारे विवरणमें करीब २०००–

२५०० पद्य स्वयं वादिराजके ही द्वारा रचे गए हैं जो इनकी काव्य-चातुरीको प्रत्येक पृष्ठपर मूर्त किए हुए हैं। इनकी तर्कणाशक्ति अपनी मौलिक है। क्या पूर्वपक्ष और क्या उत्तरपक्ष, दोनोंका बन्धान प्रसाद ओज और माधुर्यसे समलङ्कृत होकर तर्कप्रवणताका उच्च अधिष्ठान है। इस श्लोकमें कितने ओजके साथ यमकमे अचर्टका उपहास किया है—

"अर्चटचटक, तदस्मादुपरम दुस्तर्कपक्षबलचलनात्।
स्याद्वादाचलविदलनचञ्चुर्न तवास्ति नयचञ्चुः॥" (पृ० ४४९)

इस तरह समग्र ग्रन्थका कोई भी पृष्ठ वादिराजकी साहित्यप्रवणता, शब्दनिष्णातता और दार्शनिकताकी युगपत् प्रतीति करा सकता है। एकीभावस्तोत्रके अन्तमें पाया जानेवाला यह पद्य वादिराजका भूतगुणोद्भावक है मात्र स्तुतिपरक नहीं—

"वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥"

वादिराजका 'एकीभावस्तोत्र' उस निष्ठावान् और भक्ति-विभोरमानसका परिस्पन्दन है जिसकी साधनासे भव्य अपना चरम लक्ष्य पा सकता है। इस तरह वादिराज तार्किक होकर भी भक्त थे, वैयाकरणचणप होकर भी काव्यकलाके हृदयाह्लादक लीलाधाम थे और थे अकलङ्कन्यायके सफल व्याख्याकार। जैनदर्शनके ग्रन्थागारमें वादिराजका न्यायविनिश्चयविवरण अपनी मौलिकता, गम्भीरता, अनुच्छिष्टता, युक्तिप्रवणता, प्रमाणसंग्रहता आदिका अद्वितीय उदाहरण है। इसके प्रथम प्रत्यक्ष प्रस्तावका संक्षिप्त विषयपरिचय इस प्रकार है—

प्रत्यक्ष परिच्छेद

न्यायविनिश्चय ग्रन्थके तीन परिच्छेद हैं—१-प्रत्यक्ष २-अनुमान और ३-प्रवचन। इस ग्रन्थमें अकलंकदेवने न्यायके विनिश्चय करनेकी प्रतिज्ञा की है। वे न्याय अर्थात् स्याद्वादमुद्रांकित जैन आम्नायको कलिकाल दोषसे गुणद्वेषी व्यक्तियों द्वारा मलिन किया हुआ देखकर विचलित हो उठते हैं और भव्य पुरुषोंकी हितकामनासे सम्यग्ज्ञान-वचन रूपी जलसे उस न्यायपर आए हुए मलको दूर करके उसको निर्मल बनानेके लिए कृतसंकल्प होते हैं। जिसके द्वारा वस्तु-स्वरूपका निर्णय किया जाय उसे न्याय कहते हैं। अर्थात् न्याय उन उपायोंको कहते हैं जिनसे वस्तु-तत्त्वका निश्चय हो। ऐसे उपाय तत्त्वार्थसूत्र (१।६) में प्रमाण और नय दो ही निर्दिष्ट है। आत्माके अनन्त गुणोंमें उपयोग ही एक ऐसा गुण है जिसके द्वारा आत्माको लक्षित किया जा सकता है। उपयोग अर्थात् चितिशक्ति। उपयोग दो प्रकारका है, एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। एक ही उपयोग जब परपदार्थोंके जाननेके कारण साकार बनता है तब ज्ञान कहलाता है। वही उपयोग जब बाह्यपदार्थोंमें उपयुक्त न रहकर मात्र चैतन्यरूप रहता है तब निराकार अवस्थामें दर्शन कहलाता है। यद्यपि दार्शनिकक्षेत्रमें दर्शनकी व्याख्या बदली है और वह चैतन्याकारकी परिधिको लाँघकर पदार्थोंके सामान्यावलोकन तक आ पहुँची है परन्तु सिद्धान्त ग्रन्थोंमें दर्शनका 'अनुपयुक्त आदर्शतलवत्' ही वर्णन है। सिद्धान्त ग्रंथोंमें स्पष्टतया विषय और विषयीके सन्निपातके पहिले 'दर्शन' का काल बताया है। जब तक आत्मा एकपदार्थविषयज्ञानोपयोगसे च्युत होकर दूसरे पदार्थविषयक उपयोगमें प्रवृत्त नहीं हुआ तब तक बीचकी निराकार अवस्था दर्शन कही जाती है। इस अवस्थामें चैतन्य निराकार या चैतन्याकार रहता है। दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'दर्शन' विषयविषयीके सन्निपातके अनन्तर वस्तुके सामान्यावलोकन रूपमें वर्णित है। और वह है बौद्धसम्मत निर्विकल्पज्ञान और नैयायिकादिसम्मत सन्निकर्ष ज्ञानकी प्रमाणताका निराकरण

करनेके लिए। इसका यही तात्पर्य है कि बौद्धादि जिस निर्विकल्पकको प्रमाण मानते हैं जैन उसे दर्शनकोटि-में गिनते हैं और वह प्रमाणकी सीमासे बहिर्भूत है। अस्तु।

उपायतत्त्वमें ज्ञान ही आता है। जब ज्ञान वस्तुके पूर्णरूपको जानता है तब प्रमाण कहा जाता है तथा जब देशको जानता है तब नय। प्रमाणका लक्षण साधारणतया 'प्रमाकरण प्रमाणम्' यह सर्व-स्वीकृत है। विवाद यह है कि करण कौन हो ? नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान दोनोंका करण रूपसे निर्देश करते हैं। परन्तु जैन परम्परामें अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमितिका करण ज्ञानको मानते हैं। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेनने प्रमाणके लक्षणमें 'स्वपरावभासक' पदका समावेश किया है। इस पदका तात्पर्य है कि प्रमाणको 'स्व' और 'पर' दोनोंका निश्चय करानेवाला होना चाहिए। यद्यपि अकलंकदेव और माणिक्यनन्दीने प्रमाण-के लक्षणमें 'अनधिगतार्थग्राही' और 'अपूर्वार्थव्यवसायात्मक' पदोंका निवेश किया है, पर यह सर्वस्वीकृत नहीं हुआ। आचार्य हेमचन्द्रने तो 'स्वावभासक' पद भी प्रमाणके लक्षणमें अनावश्यक समझा है। उनका कहना है कि स्वावभासकत्व ज्ञानसामान्यका धर्म है। ज्ञान चाहे प्रमाण हो या अप्रमाण, वह स्वसंवेदी होगा ही। तात्पर्य यह है कि जैन परम्परामें ऐसा स्वसंवेदी ज्ञान प्रमाण होगा जो पर-पदार्थ-निर्णय करनेवाला हो। प्रमाण सकलादेशी होता है, वह एक गुणके द्वारा भी पूरी वस्तुको विषय करता है। नय विकलादेशी होता है, क्योंकि वह जिस धर्मका स्पर्श करता है उसे ही मुख्य भावसे विषय करता है।

प्रमाणके भेद—सामान्यतया प्राचीन कालसे जैन परम्परामें प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूपसे स्वीकृत चले आ रहे हैं। आत्ममात्र-सापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं तथा जिस ज्ञानमें इन्द्रिय मन प्रकाश आदि परसाधनोंकी अपेक्षा हो वह ज्ञान परोक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष और परोक्षकी यह परिभाषा जैन परम्पराकी अपनी है। जैन परम्परामें प्रत्येक वस्तु अपने परिणमनमें स्वयं उपादान होती है। जितने परनिमित्तक परिणमन हैं, सब व्यवहारमूलक हैं। जितने मात्र स्वनिमित्तक परिणमन हैं वे परमार्थ हैं, निश्चयनयके विषय हैं। प्रत्यक्ष और परोक्षके लक्षणमें भी वही स्वाभिमुख दृष्टि कार्य कर रही है। और उसके निर्वाहके लिए अक्ष शब्दका अर्थ (अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा) आत्मा किया गया। प्रत्यक्षके लोकप्रसिद्ध अर्थके निर्वाहके लिए इन्द्रियजन्य ज्ञानको सांव्यवहारिक संज्ञा दी। यद्यपि शास्त्रीय परमार्थ व्याख्याके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान परसापेक्ष होनेसे परोक्ष है किन्तु लोकव्यवहारमें इनको प्रत्यक्ष-रूपसे प्रसिद्धि होनेके कारण इन्हें संव्यवहार प्रत्यक्ष कह दिया जाता है। जैनदृष्टिमें उपादानयोग्यतापर ही विशेष भार दिया गया है, निमित्तसे यद्यपि उपादान-योग्यता विकसित होती है, पर निमित्ताधीन परिणमन उत्कृष्ट या शुद्ध नहीं समझे जाते। इसीलिए प्रत्यक्ष-जैसे उत्कृष्ट ज्ञानमें इन्द्रिय और मन-जैसे निकटतम साधनोंकी अपेक्षा भी स्वीकार नहीं की गई। प्रत्यक्ष व्यवहारका कारण भी आत्ममात्रसापेक्षता ही निरूपित-की गई है और परोक्ष व्यवहारके लिए इन्द्रिय मन आदि परपदार्थोंकी अपेक्षा रखना। यह तो जैनदृष्टिका अपना आध्यात्मिक निरूपण है। उस प्रत्यक्षज्ञानकी परिभाषा करते हुए अकलंकदेवने कहा है कि—

"प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टः साकारमञ्जसा।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥"

अर्थात्—जो ज्ञान परमार्थतः स्पष्ट हो, साकार हो, द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक अर्थ-को विषय करनेवाला हो और आत्मवेदी हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इस लक्षणमें अकलंकदेवने निम्नलिखित मुद्दे विचारकोटिके लायक रखे हैं—

१–ज्ञान आत्मवेदी होता है । २–ज्ञान साकार होता है ।
३–ज्ञान अर्थको जानता है । ४–अर्थ सामान्यविशेषात्मक है ।
५–अर्थ द्रव्यपर्यायात्मक है । ६–वह ज्ञान प्रत्यक्ष होगा जो परमार्थतः स्पष्ट हो ।

ज्ञानका आत्मवेदित्व—'ज्ञान आत्माका गुण है या नहीं' यह प्रश्न भी दार्शनिकोंकी चर्चाका विषय रहा है । भूतचैतन्यवादी चार्वाक ज्ञानको पृथ्वी आदि भूतोंका ही धर्म मानता है । वह स्थूल या दृश्य भूतोंका धर्म स्वीकार न करके सूक्ष्म और अदृश्य भूतोंके विलक्षणसंयोगसे उत्पन्न होनेवाले अवस्थाविशेषको ज्ञान कहता है । सांख्य चैतन्यको पुरुषधर्म स्वीकार करके भी ज्ञान या बुद्धिको प्रकृतिका धर्म मानता है । सांख्यके मतसे चैतन्य और ज्ञान जुदा-जुदा हैं । पुरुषगत चैतन्य बाह्यपदार्थोंको नहीं जानता । बाह्यपदार्थोंको जाननेवाला बुद्धितत्त्व जिसे 'महत्तत्त्व' भी कहते हैं प्रकृतिका ही परिणाम है । यह बुद्धि उभयतः प्रतिबिम्बी दर्पणके समान है । इसमें एक ओर पुरुषगत चैतन्य प्रतिफलित होता है और दूसरी ओर पदार्थोंके आकार । इस बुद्धि माध्यमके द्वारा ही पुरुषको "मैं घटको जानता हूँ" यह मिथ्या अहंकार होने लगता है ।

न्याय-वैशेषिक—ज्ञानको आत्माका गुण मानते अवश्य हैं, पर इनके मतमें आत्मा द्रव्यपदार्थ पृथक् है तथा ज्ञान गुणपदार्थ जुदा । यह आत्माका यावद्द्रव्यभावी अर्थात् जब तक आत्मा है तब तक उसमें अवश्य रहनेवाला—गुण नहीं है किन्तु आत्ममनःसंयोग, मन-इन्द्रिय-पदार्थ सन्निकर्ष आदि कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला विशेष गुण है । जब तक ये निमित्त मिलेंगे, ज्ञान उत्पन्न होगा, न मिलेंगे न होगा । मुक्त अवस्थामें मन इन्द्रिय आदिका सम्बन्ध न रहनेके कारण ज्ञानकी धारा उच्छिन्न हो जाती है । इस अवस्थामें आत्मा स्वरूपमात्रमग्न रहता है । तात्पर्य यह कि बुद्धि सुख दुःख आदि विशेष गुण औपाधिक हैं, स्वभावतः आत्मा ज्ञानशून्य है । ईश्वर नामकी एक आत्मा ऐसी है जो अनाद्यनन्त नित्यज्ञानवाली है । परमात्माके सिवाय अन्य सभी जीवात्माएँ स्वभावतः ज्ञानशून्य हैं ।

वेदान्ती ज्ञान और चैतन्यको जुदा-जुदा मानकर चैतन्यका आश्रय ब्रह्मको तथा ज्ञानका आश्रय अन्तःकरणको मानते हैं । शुद्ध ब्रह्ममें विषयपरिच्छेदक ज्ञानका कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता ।

मीमांसक ज्ञानको आत्माका ही गुण मानते हैं । इनके यहाँ ज्ञान और आत्मामें तादात्म्य माना गया है ।

बौद्ध परम्परामें ज्ञान नाम या चित्तरूप है । मुक्त अवस्था में चित्तसन्तति निरास्रव हो जाती है । इस अवस्थामें यह चित्तसन्तति घटपटादि बाह्यपदार्थोंको नहीं जानती ।

जैनपरम्परा ज्ञानको अनाद्यनन्त स्वाभाविक गुण मानती है जो मोक्ष दशामें अपनी पूर्ण अवस्थामें रहता है ।

'संसार दशामें ज्ञान आत्मगत धर्म है' इस विषयमें चार्वाक और सांख्यके सिवाय प्रायः सभी वादी एकमत हैं । पर विचारणीय बात यह है कि जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह दीपककी तरह स्वपरप्रकाशी उत्पन्न होता है या नहीं ? इस सम्बन्धमें अनेक मत हैं—१ मीमांसक ज्ञानको परोक्ष कहता है । उसका कहना है कि ज्ञान परोक्ष ही उत्पन्न होता है । जब उसके द्वारा पदार्थका बोध हो जाता है तब अनुमानसे ज्ञानको जाना जाता है—चूँकि पदार्थका बोध हुआ है और क्रिया बिना करणके हो नहीं सकती अतः करणभूत ज्ञान होना चाहिए । मीमांसकको ज्ञानको परोक्ष माननेका यही कारण है कि—इसने अतीन्द्रिय पदार्थका ज्ञान वेदके द्वारा ही माना है । धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्ष किसी व्यक्तिविशेषको नहीं हो सकता । उसका ज्ञान वेदके द्वारा ही हो सकता है । फलतः ज्ञान जब अतीन्द्रिय है तब उसे परोक्ष होना ही चाहिए ।

दूसरा मत नैयायिकोका है। इनके मतसे भी ज्ञान परोक्ष ही उत्पन्न होता है और उसका ज्ञान द्वितीय ज्ञानसे होता है और द्वितीयका तृतीयसे। अनवस्था दूषणका परिहार जब ज्ञान विषयान्तरको जानने लगता है तब इस ज्ञानकी धारा रुक जानेके कारण हो जाता है। इनका मत ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादके नामसे प्रसिद्ध है। नैयायिकके मतसे ज्ञानका प्रत्यक्ष संयुक्तसमवायसन्निकर्षसे होता है। मन आत्मासे संयुक्त होता है और आत्मामे ज्ञानका समवाय होता है। इस प्रकार ज्ञानके उत्पन्न होनेपर सन्निकर्षजन्य द्वितीय मानसज्ञान प्रथम ज्ञानका प्रत्यक्ष करता है।

सांख्य ने पुरुषको स्वसंवेतक स्वीकार किया है। इसके मतमे बुद्धि या ज्ञान प्रकृतिका विकार है। इसे महत्तत्व कहते है। यह स्वय अचेतन है। बुद्धि उभयमुखप्रतिबिम्बी दर्पणके समान है। इसमे एक ओर पुरुष प्रतिफलित होता है तथा दूसरी ओर पदार्थ। इस बुद्धि-प्रतिबिम्बित पुरुषके द्वारा ही बुद्धिका प्रत्यक्ष होता है, स्वय नही।

वेदान्ती के मतमे ब्रह्म स्वप्रकाश है अत स्वभावत ब्रह्मका विवर्त ज्ञान स्वप्रकाशी होना ही चाहिए।

प्रभाकर के मतमे सवित्ति स्वप्रकाशिनी है, वह सवित्त रूपमे स्वय जानी जाती है।

इस तरह ज्ञानको अनात्मवेदी या अस्वसवेदी माननेवाले मुख्यतया मीमासक और नैयायिक ही हैं।

अकलकदेवने इसकी मीमासा करते हुए लिखा है कि—यदि ज्ञान स्वय अप्रत्यक्ष हो अर्थात् अपने स्वरूपको न जानता हो तो उसके द्वारा पदार्थका ज्ञान हमे नही हो सकता। देवदत्त अपने ज्ञानके द्वारा ही पदार्थोंको क्यो जानता है, यज्ञदत्तके ज्ञानके द्वारा क्यो नही जानता? या प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञानके द्वारा ही अर्थ परिज्ञान करते है आत्मान्तरके ज्ञानसे नही। इसका सीधा और स्पष्ट कारण यही है कि देवदत्तका ज्ञान स्वयं अपनेको जानता है और इसलिये तदभिन्न देवदत्तकी आत्माको ज्ञात है कि अमुक ज्ञान मुझमे उत्पन्न हुआ है। यज्ञदत्तमे ज्ञान उत्पन्न हो जाय पर देवदत्तको उसका पता ही नही चलता। अत यज्ञदत्तके ज्ञानके द्वारा देवदत्त अर्थबोध नही कर पाता। यदि जैसे यज्ञदत्तका ज्ञान उत्पन्न होनेपर भी देवदत्तको परोक्ष रहता है, उसी प्रकार देवदत्तको स्वय अपना ज्ञान परोक्ष हो अर्थात् उत्पन्न होनेपर भी स्वय अपना परिज्ञान न करता हो तो देवदत्तके लिए अपना ज्ञान यज्ञदत्तके ज्ञानकी तरह ही पराया हो गया और उससे अर्थबोध नही होना चाहिए। वह ज्ञान हमारे आत्मासे सम्बन्ध रखता है इतने मात्रसे हम उसके द्वारा पदार्थबोधके अधिकारी नही हो सकते जब तक कि वह स्वय हमारे प्रत्यक्ष अर्थात् स्वय अपने ही प्रत्यक्ष नही हो जाता। अपने ही द्वितीय ज्ञानके द्वारा उसका प्रत्यक्ष मानकर उससे अर्थबोध करनेकी कल्पना इसलिए उचित नही है कि कोई भी योगी अपने योगज प्रत्यक्षके द्वारा हमारे ज्ञानको प्रत्यक्ष कर सकता है जैसे कि हम स्वय अपने द्वितीय ज्ञानके द्वारा प्रथम ज्ञानका, पर इतने मात्रसे वह योगी हमारे ज्ञानसे पदार्थोंका बोध नही कर लेता। उसे तो जो भी बोध होगा स्वय अपने ही ज्ञान द्वारा होगा। तात्पर्य यह कि—हमारे ज्ञानमे यही स्वकीयत्व है जो वह स्वय अपना बोध करता है और अपने आधारभूत आत्मासे तादात्म्य रखता है। यह सभव ही नही है कि ज्ञान उत्पन्न हो जाय अर्थात् अपनी उपयोग दशामे आ जाय और आत्माको या स्वय उसे ज्ञानका ही पता न चले। वह तो दीपक या सूर्यकी तरह स्वयप्रकाशी ही उत्पन्न होता है। वह पदार्थके बोधके साथ ही साथ अपना सवेदन स्वय करता है। इसमे न तो क्षणभेद है और न परोक्षता ही। ज्ञानके स्वप्रकाशी होनेमें यह बाधा भी कि—वह घटादि पदार्थोंकी तरह ज्ञेय हो जायगा—नही हो सकती; क्योकि ज्ञान घटको ज्ञेयत्वेन जानता है तथा अपने स्वरूपको ज्ञानरूपसे। अतः उसमे ज्ञेयरूपताका प्रसङ्ग नही आ सकता। इसके लिए

दीपकसे बढ़कर समदृष्टान्त दूसरा नही हो सकता। दीपकके देखनेके लिए दूसरे दीपककी आवश्यकता नही होती, भले ही वह पदार्थोंको मन्द या अस्पष्ट दिखावे पर अपने रूपको तो जैसेका तैसा प्रकाशित करता ही है। ज्ञान चाहे संशयरूप हो या विपर्ययरूप या अनध्यवसायात्मक स्वय अपने ज्ञानरूपका प्रकाशक होता ही है। ज्ञानमे संशयरूपता, विपर्ययरूपता या प्रमाणताका निश्चय बाह्यपदार्थके यथार्थप्रकाशकत्व और अयथार्थप्रकाशकत्वके अधीन है पर ज्ञानरूपता या प्रकाशरूपताका निश्चय तो उसका स्वाधीन ही है उसमे ज्ञानान्तरकी आवश्यकता नही होती और न वह अज्ञात रह सकता है। तात्पर्य यह कि—कोई भी ज्ञान जब उपयोग अवस्थामे आता है तब अज्ञात होकर नही रह सकता। हाँ, लब्धि वा शक्ति रूपमे वह ज्ञात न हो यह जुदी बात है क्योकि शक्तिका परिज्ञान करना विशिष्टज्ञानका कार्य है। पर यहाँ तो प्रश्न उपयोगात्मक ज्ञानका है। कोई भी उपयोगात्मक ज्ञान अज्ञात नही रह सकता, वह तो जगाता हुआ ही उत्पन्न होता है, उसे अपना ज्ञान करानेके लिए किसी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नही है।

यदि ज्ञानको परोक्ष माना जाय तो उसका सद्भाव सिद्ध करना कठिन हो जायगा। 'अर्थप्रकाश' रूप हेतुसे उसकी सिद्धि करनेमे निम्नलिखित बाधाएँ हैं—पहिले तो अर्थप्रकाश स्वय ज्ञान है, अत जब तक अर्थप्रकाश अज्ञात है तब तक उसके द्वारा मूलज्ञानकी सिद्धि नही हो सकती। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि—''अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थसिद्धि प्रसिध्यति''—अर्थात् अप्रत्यक्ष-अज्ञात ज्ञानके द्वारा अर्थसिद्धि नही होती। ''नाज्ञातं ज्ञापकं नाम''—स्वयं अज्ञात दूसरेका ज्ञापक नही हो सकता, यह भी सर्वसम्मत न्याय है। फलत यह आवश्यक है कि पहिले अर्थप्रकाशका ज्ञान हो जाय। यदि अर्थप्रकाशके ज्ञानके लिये अन्यज्ञान अपेक्षित हो तो उस अन्यज्ञानके लिए तदन्यज्ञान इस तरह अनवस्था नामका दूषण आता है और इस अनन्त-ज्ञानपरम्पराकी कल्पना करते रहनेमे आद्यज्ञान अज्ञात ही बना रहेगा। यदि अर्थप्रकाश स्ववेदी है तो प्रथम-ज्ञानको स्ववेदी माननेमे क्या बाधा है? स्ववेदी अर्थप्रकाशसे ही अर्थबोध हो जानेपर मूल ज्ञानकी कल्पना ही निरर्थक हो जाती है। दूसरी बात यह है कि जब तक ज्ञान और अर्थप्रकाशका अविनाभाव सम्बन्ध गृहीत नही होगा तब तक उससे ज्ञानका अनुमान नही किया जा सकता। यह अविनाभावग्रहण अपनी आत्मामे तो इसलिए नही बन सकता कि अभी तक ज्ञान ही अज्ञात है तथा अन्य आत्माके ज्ञानका प्रत्यक्ष नही हो सकता। अत अविनाभावका ग्रहण न होनेके कारण अनुमानसे भी ज्ञानकी सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। इसी तरह पदार्थ, इन्द्रियाँ, मानसिक उपयोग आदिसे भी मूलज्ञानका अनुमान नही हो सकता। कारण—इनका ज्ञानके साथ कोई अविनाभाव नही है। पदार्थ आदि रहते है पर कभी-कभी ज्ञान नही होता। कदाचित् अविनाभाव हो भी तो उसका ग्रहण नही हो सकता।

आह्लादनाकार परिणत ज्ञानको ही सुख कहते है। सातसंवेदनको सुख और असातसवेदनको दु:ख सभी वादियोने माना है। यदि ज्ञानको स्वसवेदी नही मानकर परोक्ष मानते हैं, तो परोक्ष सुख दु:खसे आत्माको हर्ष विषादादि नही होना चाहिए। यदि अपने सुखको अनुमानग्राह्य या ज्ञानान्तरग्राह्य माना जाय और उससे आत्मामें हर्षविषादादिकी सम्भावना की जाय, तो अन्य सुखी आत्माके सुखका अनुमान करके हमे हर्ष होना चाहिए। अथवा केवलीको, जिसे सभी जीवोंके सुखदु:खादिका प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है, हमारे सुखदु:खसे हर्ष विषादादि उत्पन्न होने चाहिए। चूँकि हमारे सुखदु:खसे हमे ही हर्षविषादादि होते हैं, अन्य किसी अनुमान करनेवाले या प्रत्यक्ष करनेवाले आत्मान्तरको नहीं, अत यह मानना ही होगा कि वे हमारे स्वयंप्रत्यक्ष हैं अर्थात् वे स्वप्रकाशी हैं।

यदि ज्ञानको परोक्ष माना जाता है तो आत्मान्तरकी बुद्धिका अनुमान नहीं किया जा सकता। पहिले हम स्वयं अपनी आत्मामे ही जब तक बुद्धि और वचनादि व्यापारोंका अविनाभाव ग्रहण नही करेंगे तब तक

वचनादि चेष्टाओसे अन्यत्र बुद्धिका अनुमान कैसे कर सकते हैं और अपनी आत्मामे जब तक बुद्धिका स्वयं साक्षात्कार नही हो जाता तब तक अविनाभावका ग्रहण असम्भव ही है। अन्य आत्माओमे तो बुद्धि अभी असिद्ध ही है। आत्मान्तरमे बुद्धिका अनुमान नही होनेपर समस्त गुरु-शिष्य देनलेन आदि व्यवस्थाओका लोप हो जायगा।

यदि अज्ञात या अप्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा अर्थ-बोध माना जाता है, तो सर्वज्ञके ज्ञानके द्वारा हमे सर्वार्थ-ज्ञान होना चाहिए। हमे ही क्यो, सबको सबके ज्ञानके द्वारा अर्थबोध हो जाना चाहिये। अत ज्ञानको स्व-सवेदी माने बिना ज्ञानका सद्भाव तथा उसके द्वारा प्रतिनियत अर्थबोध नही हो सकता। अत यह आवश्यक है कि उसमें अनुभवसिद्ध आत्मसवेदित्व स्वीकार किया जाय।

२–नैयायिकका ज्ञानको ज्ञानान्तरवेद्य मानना उचित नही है, क्योकि इसमे अनवस्था नामका महान् दूषण आता है। जबतक एक भी ज्ञान स्वसवेदी नही माना जाता तब तक पूर्व-पूर्व ज्ञानोका बोध करने लिये उत्तर-उत्तर ज्ञानोकी कल्पना करनी ही होगी। क्योकि जो भी ज्ञानव्यक्ति अज्ञात रहेगी वह स्वपूर्व ज्ञानव्यक्तिकी वेदिका नही हो सकती। और इस तरह प्रथम ज्ञानके अज्ञात रहनेपर उसके द्वारा पदार्थ-का बोध नही हो सकेगा। एक ज्ञानके जाननेके लिए ही जब इस तरह अनन्त ज्ञानप्रवाह चलेगा तब अन्य पदार्थोंका ज्ञान कब उत्पन्न होगा? थक करके या अरुचिसे या अन्य पदार्थके सम्पर्कसे पहिली ज्ञानाधाराको अधूरी छोडकर अनवस्थाका वारण करना इसलिये युक्तियुक्त नही है कि—जो दशा प्रथम ज्ञानकी हुई है और जैसे वह बीचमे ही अज्ञात दशामे लटक रहा है वही दशा अन्य ज्ञानोकी भी होगी। ईश्वरका ज्ञान यदि अस्वसंवेदी माना जाता है तो उसमे सर्वज्ञता सिद्ध नही हो सकेगी, क्योकि एक तो उसने अपने स्वरूपको ही स्वयं नही जाना दूसरे अप्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा वह जगत्का परिज्ञान नही कर सकता। ईश्वरके दो नित्य ज्ञान इसलिए मानना कि—एकसे वह जगत्को जानेगा तथा दूसरेसे ज्ञानको—निरर्थक है, क्योकि दो ज्ञान एक साथ उपयोग दशामें नही रह सकते। दूसरे यदि वह ज्ञानको जाननेवाला द्वितीय ज्ञान स्वय अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष नही करता तो उससे प्रथम अर्थज्ञानका प्रत्यक्ष नही हो सकेगा। यदि प्रत्यक्ष किसी तृतीय ज्ञानसे माना जाय तो अनवस्था दूषण होगा। यदि द्वितीय ज्ञानको स्वसवेदी मानते हैं तो प्रथम ज्ञानको ही स्वसंवेदी माननेमे क्या बाधा है?

३–साख्यके मतमे यदि ज्ञान प्रकृतिका विकार होनेसे अचेतन है, वह अपने स्वरूपको नही जानता, उसका अनुभव पुरुषके सचेतनके द्वारा होना है तो ऐसे अचेतन ज्ञानकी कल्पनाका क्या प्रयोजन है? जो पुरुषका सचेतन ज्ञानके स्वरूपका सवेदन करता है वही पदार्थोंको भी जान सकता है। पुरुषका सचेतन यदि स्वसवेदी नही है तो इस अकिंचित्कर ज्ञानकी सत्ता भी किससे सिद्ध की जायगी? अत स्वार्थसंवेदक पुरुषानुभवसे भिन्न किसी प्रकृतिविकारात्मक अचेतन ज्ञानकी कोई आवश्यकता नही रह जाती। करण या माध्यमके लिए इन्द्रियाँ और मन मौजूद हैं। वस्तुत 'ज्ञान और पुरुषगतसचेतन' ये दो जुदा है ही नही। पुरुष, जिसे सांख्य कूटस्थ नित्य मानता है, स्वय परिणामी है, पूर्वपर्यायको छोडकर उत्तरपर्यायको धारण करता है। संचेतना ऐसे परिणामीनित्य पुरुषका ही धर्म हो सकती है। इससे पृथक् किसी अचेतन ज्ञानकी आवश्यकता ही नही है। अत ज्ञानमात्र स्वसंवेदी है। वह अपने जाननेके लिए किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नही करता।

ज्ञानकी साकारता—ज्ञानकी साकारताका साधारण अर्थ यह समझ लिया जाता है कि जैसे दर्पण-मे घट-पट आदि पदार्थोंका प्रतिबिम्ब आता है और दर्पणका अमुक भाग घटछायाक्रान्त हो जाता है उसी तरह ज्ञान भी घटाकार हो जाता है अर्थात् घटका प्रतिबिम्ब ज्ञानमे पहुँच जाता है। पर वास्तव बात ऐसी

नहीं है। घट और दर्पण दोनों मूर्त और जड पदार्थ हैं, उनमें एकका प्रतिबिम्ब दूसरेमें पड सकता है, किन्तु चेतन और अमूर्त ज्ञानमे मूर्त जड पदार्थका प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता और न अन्य चेतनान्तरका ही। ज्ञानके घटाकार होनेका अर्थ है—ज्ञानका घटको जाननेके लिए उपयुक्त होना अर्थात् उसका निश्चय करना। तत्त्वार्थवार्तिक (१।६) मे घटके स्वचतुष्टयका विचार करते हुए लिखा है कि—घट शब्द सुननेके बाद उत्पन्न होनेवाले घट-ज्ञानमे जो घटविषयक उपयोगाकार है वह घटका स्वात्मा है और बाह्यघटाकार परात्मा। यहाँ जो उपयोगाकार है उसका अर्थ घटकी ओर ज्ञानके व्यापारका होना है न कि ज्ञानका घट-जैसा लम्बा चौड़ा या वजनदार होना। आगे फिर लिखा है कि—"चैतन्यशक्तेर्द्वावाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः। तत्र ज्ञेयाकारः स्वात्मा।" अर्थात् चैतन्यशक्तिके दो आकार होते हैं एक ज्ञानाकार और दूसरा ज्ञेयाकार। ज्ञानाकार प्रतिबिम्बशून्य शुद्ध दर्पणके समान पदार्थविषयक व्यापारसे रहित होता है। ज्ञेयाकार सप्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह पदार्थविषयक व्यापारसे सहित होता है। साकारताके सम्बन्धमें जो दर्पणका दृष्टान्त दिया जाता है उसीसे यह भ्रम हो जाता है कि-ज्ञानमे दर्पणके समान लम्बा चौड़ा काला प्रतिबिम्ब पदार्थका आता है और इसी कारण ज्ञान साकार कहलाता है। दृष्टान्त जिस अंशको समझानेके लिए दिया जाता है उसको उसी अंशके लिए लागू करना चाहिए। यहाँ 'दर्पण' दृष्टान्तका इतना ही प्रयोजन है कि चैतन्यधारा ज्ञेयको जाननेके समय ज्ञेयाकार होती है, शेष समयमे ज्ञानाकार।

धवला (प्र० पु० पृ० ३८०) तथा जयधवला (प्र० पु० पृ० ३३७) में दर्शन और ज्ञानमे निराकारता और साकारता-प्रयुक्त भेद बताते हुए स्पष्ट लिखा है कि—जहाँ ज्ञानसे पृथक् वस्तु कर्म अर्थात् विषय हो वह साकार है और जहाँ अन्तरङ्ग वस्तु अर्थात् चैतन्य स्वयं चैतन्य रूप ही हो वह निराकार। निराकार दर्शन, इन्द्रिय और पदार्थके सम्पर्कके पहिले होता है जब कि साकार ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निपातके बाद। अन्तरङ्गविषयक अर्थात् स्वावभासी उपयोगको अनाकार तथा बाह्यावभासी अर्थात् स्वसे भिन्न अर्थको विषय करनेवाला उपयोग साकार कहलाता है। उपयोगकी ज्ञानसंज्ञा वहाँसे प्रारम्भ होती है जहाँसे वह स्वव्यतिरिक्त अन्य पदार्थको विषय करता है। जब तक वह मात्र स्वप्रकाश-निमग्न है तब तक वह दर्शन-निराकार कहलाता है। इसीलिए ज्ञानमे ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व ये दो विभाग होते हैं। जो ज्ञान पदार्थकी यथार्थ उपलब्धि कराता है वह प्रमाण है अन्य अप्रमाण। पर दर्शन सदा एकविध रहता है उसमे कोई दर्शन प्रमाण कोई दर्शन अप्रमाण ऐसा जातिभेद नहीं होता। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन आदि भेद तो आगे होनेवाली तत्तत् ज्ञानपर्यायोंकी अपेक्षा हैं। स्वरूपकी अपेक्षा उनमे इतना ही भेद है कि एक उपयोग अपने चाक्षुषज्ञानोत्पादकशक्तिरूप स्वरूपमें मग्न है तो दूसरा अन्य स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके जनक स्वरूपमे लीन है, तो अन्य अवधिज्ञानोत्पादक स्वरूपमे और अन्य केवलज्ञानसहभावी स्वरूपमे निमग्न है। तात्पर्य यह कि—उपयोगका स्वसे भिन्न किसी भी पदार्थको विषय करना ही साकार होना है, न कि दर्पणकी तरह प्रतिबिम्बाकार होना।

निराकार और साकार या ज्ञान और दर्शनका यह सैद्धान्तिक स्वरूपविश्लेषण दार्शनिक युगमे अपनी उस सीमाको लाँघकर 'बाह्यपदार्थके सामान्यावलोकनका नाम दर्शन और विशेष परिज्ञानकका नाम ज्ञान' इस बाह्यपरिधिमे आ गया। इस सीमोल्लङ्घनका दार्शनिक प्रयोजन बौद्धादि-सम्मत निर्विकल्पककी प्रमाणताका निराकरण करना ही है।

अकलङ्कदेवने विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष बताते हुए जो ज्ञानका 'साकार' विशेषण दिया है यह उपर्युक्त अर्थको द्योतन करनेके ही लिए।

बौद्ध क्षणिक परमाणु रूप चित्त या जड-क्षणोको स्वलक्षण मानते हैं। यही उनके मतमे परमार्थसत् है, यही वास्तविक अर्थ है। यह स्वलक्षण शब्दशून्य है, शब्दके अगोचर है। शब्दका वाच्य इनके मतसे बुद्धिगत अभेदांश ही होता है। इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धके अनन्तर निर्विकल्पक दर्शन उत्पन्न होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके अनन्तर शब्दसंकेत और विकल्पवासना आदिका सहकार पाकर शब्द-संसर्गी सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। शब्दसंसर्ग न होनेपर भी शब्दसंसर्गकी योग्यता जिस ज्ञानमे आ जाय उसे विकल्प कहते है। किसी भी पदार्थको देखनेके बाद पूर्वदृष्ट तत्सदृश पदार्थका स्मरण होता है, तदनन्तर तद्वाचक शब्दका स्मरण, फिर उस शब्दके साथ वस्तुका योजन, तब यह 'घट' है इत्यादि शब्दका प्रयोग। वस्तु-दर्शनके बाद होनेवाले—पूर्वदृष्ट-स्मरण आदि सभी व्यापार सविकल्पककी सीमामे आते हैं। तात्पर्य यह कि—निर्विकल्पक दर्शन वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अवभासक होनेसे प्रमाण है।

सविकल्पक ज्ञान शब्दवासनासे उत्पन्न होनेके कारण, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको स्पर्श नही करता, अतएव अप्रमाण है। इस निर्विकल्पकके द्वारा वस्तुके समग्ररूपका दर्शन हो जाता है, परन्तु निश्चय यथा-सम्भव सविकल्पक ज्ञान और अनुमानके द्वारा ही होता है।

अकलंकदेव इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि किसी भी ऐसे निर्विकल्पक ज्ञानका अनुभव नही होता जो निश्चयात्मक न हो।

सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी है। इनका कहना है कि यदि ज्ञान पदार्थ के आकार न हो तो प्रतिकर्म-व्यवस्था अर्थात् घटज्ञान का विषय घट ही होता है पट नही—नही हो सकेगी। सभी पदार्थ एक ज्ञानके विषय या सभी ज्ञान सभी पदार्थोंको विषय करनेवाले हो जायँगे। अतः ज्ञानको साकार मानना आवश्यक है। यदि साकारता नही मानी जाती तो विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञानमे कोई भेद नही रहेगा। इनमे यही भेद है कि एक मात्रविषयके आकार है तथा दूसरा विषय और विषयज्ञान दोके आकार है। विषयकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए ज्ञानको साकार मानना नितान्त आवश्यक है।

अकलंकदेवने साकारताके इस प्रयोजनका खण्डन किया है। उन्होने लिखा है कि विषय-प्रतिनियम ज्ञानकी अपनी शक्ति या क्षयोपशमके अनुसार होता है। जिस ज्ञानमें पदार्थको जाननेकी जैसी योग्यता है वह उसके अनुसार पदार्थको जानता है। तदाकारता माननेपर भी यह प्रश्न ज्यो-का-त्यो बना रहता है कि ज्ञान अमुक पदार्थके ही आकारको क्यो ग्रहण करता है? अन्य पदार्थोंके आकारको क्यो नही? अन्तमे ज्ञान-गत शक्ति ही विषयप्रतिनियम करा सकती है, तदाकारता आदि नही।

'जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है वह उसके आकार होता है' इस प्रकार तदुत्पत्तिसे भी आकारनियम नही बन सकता; क्योकि ज्ञान जिस प्रकार पदार्थमे उत्पन्न होता है उसी तरह प्रकाश और इन्द्रियोंसे भी। यदि तदुत्पत्तिसे साकारता आती है तो जिस प्रकार ज्ञान घटाकार होता है उसी प्रकार उसे इन्द्रिय तथा प्रकाशके आकार भी होना चाहिये। अपने उपादानभूत पूर्वज्ञानके आकारको तो उसे अवश्य ही धारण करना चाहिये। जिस प्रकार ज्ञान घट के घटाकारको धारण करता है उसी प्रकार वह उसकी जडता को क्यों नही धारण करता? यदि घटके आकारको धारण करनेपर भी जडता अगृहीत रहती है तो घट और उसके जडत्वमे भेद हो जायगा। यदि घटकी जडता अतदाकार ज्ञानमे जानी जाती है तो उसी प्रकार घट भी अतदाकार ज्ञानसे जाना जाय। वस्तुमात्रको निरंश माननेवाले बौद्धके मतमे वस्तुका खण्डश' भाग तो नहीं ही होना चाहिये। समानकालीन पदार्थ कदाचित् ज्ञानमे अपना आकार अर्पित भी कर दें, पर अतीत और अनागत आदि अविद्यमान अर्थ ज्ञानमें अपना आकार कैसे दे सकते हैं?

विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञानमे भी अन्तर ज्ञानकी अपनी योग्यतासे ही हो सकता है। आकार माननेपर भी अन्तत: स्वयोग्यता स्वीकार करनी ही पड़ती है। अतः बौद्धपरिकल्पित साकारता अनेक दूषणोंसे दूषित होनेके कारण ज्ञानका धर्म नही हो सकती। ज्ञानकी साकारताका अर्थ है ज्ञानका उस पदार्थका निश्चय करना या उस पदार्थकी ओर उपयुक्त होना। निर्विकल्पक अर्थात् शब्द-संसर्गकी योग्यतासे भी रहित कोई ज्ञान हो सकता है यह अनुभवसिद्ध नहीं है।

ज्ञान अर्थको जानता है—मुख्यतया दो विचारधाराएँ इस सम्बन्धमे हैं। एक यह कि—ज्ञान अपनेसे भिन्न सत्ता रखनेवाले जड और चेतन पदार्थोंको जानता है। इस विचारधाराके अनुसार जगत्में अनन्त चेतन और अनन्त अचेतन पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है। दूसरी विचारधारा बाह्य जड़ पदार्थोंकी पारमार्थिक सत्ता नही मानती, किन्तु उनका प्रातिभासिक अस्तित्व स्वीकार करती है। इनका मत है कि घटपटादि बाह्य पदार्थ अनादिकालीन विचित्र वासनाओंके कारण या माया अविद्या आदिके कारण विचित्र रूपमे प्रतिभासित होते हैं। जिस प्रकार स्वप्न या इन्द्रजालमें बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व न होनेपर भी अनेकविध अर्थक्रियाकारी पदार्थोंका सत्यवत् प्रतिभास होता है, उसी तरह अविद्यावासनाके कारण नानाविध विचित्र अर्थोंका प्रतिभास हो जाता है। इनके मतसे मात्र चेतनतत्त्वकी ही पारमार्थिक सत्ता है। इसमे भी अनेक मतभेद है। वेदान्ती एक नित्य व्यापक ब्रह्मका ही पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्म नानाविध जीवात्माओ और अनेक प्रकारके घटपटादिरूप बाह्य अर्थोंके रूपमें प्रतिभासित होता है। संवेदनाद्वैतवादी क्षणिक परमाणुरूप अनेक ज्ञानक्षणोंका पारमार्थिक अस्तित्व मानते हैं। इनके मतसे अनेक ज्ञानसन्तानें पृथक्-पृथक् पारमार्थिक अस्तित्व रखती है। अपनी-अपनी वासनाओंके अनुसार ज्ञानक्षण नाना पदार्थोंके रूपमे भासित होता है। पहिली विचारधाराका अनेकविध विस्तार न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग, जैन, सौत्रान्तिक बौद्ध आदि दर्शनोमे देखा जाता है।

बाह्यार्थलोपकी दूसरी विचारधाराका आधार यह मालूम होता है कि—प्रत्येक व्यक्ति अपनी कल्पनाके अनुसार पदार्थोंमे संकेत करके व्यवहार करता है। जैसे एक पुस्तकको देखकर उस धर्मका अनुयायी उसे धर्मग्रन्थ समझकर पूज्य मानता है। पुस्तकालयाध्यक्ष उसे अन्य पुस्तकोंकी तरह सामान्य पुस्तक समझता है, तो दुकानदार उसे रद्दीके भाव खरीदकर पुड़िया बाँधता है। भंगी उसे कूड़ा-कचरा मानकर झाड सकता है। गाय-भैंस आदि पशुमात्र उसे पुद्गलोंका पुंज समझकर घासकी तरह खा सकते हैं तो दीमक आदि कीडोको उसमें पुस्तक यह कल्पना ही नही होगी। अब आप विचार कीजिए कि पुस्तकमें, धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी, कचरा, घासकी तरह खाद्य आदि संज्ञाएँ तत्तद्व्यक्तियोके ज्ञानसे ही आई हैं अर्थात् धर्मग्रन्थ पुस्तक आदिका सद्भाव उन व्यक्तियोके ज्ञानमे है, बाहिर नही। इस तरह धर्मग्रन्थ पुस्तक आदिकी व्यवहारसत्ता है, परमार्थसत्ता नही। यदि धर्मग्रन्थ पुस्तक आदिकी परमार्थ सत्ता होती तो वह प्राणिमात्र—गाय, भैसको भी धर्मग्रन्थ या पुस्तक दिखनी चाहिये थी। अत जगत् केवल कल्पनामात्र है, उसका वास्तविक अस्तित्व नही।

इसी तरह घट एक है या अनेक। परमाणुओंका संयोग एकदेशसे होता है या सर्वदेशसे। यदि एकदेशसे, तो छह परमाणुओंसे संयोग करनेवाले मध्य परमाणुमें छह अंश मानने पड़ेंगे। यदि दो परमाणुओंका सर्वदेशसे संयोग होता है, तो अणुओंका पिंड अणुमात्र हो जायगा। इस तरह जैसे-जैसे बाह्य पदार्थोंका विचार करते हैं वैसे-वैसे उनका अस्तित्व सिद्ध नही होता। बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व तदाकार ज्ञानसे सिद्ध किया जाता है। यदि नीलाकार ज्ञान है तो नील नामके बाह्य पदार्थकी क्या आवश्यकता? यदि नीलाकार ज्ञान

नही तो नीलकी सत्ता ही कैसे सिद्ध की जा सकती है ? अत ज्ञान ही बाह्य और आन्तर ग्राह्य और ग्राहक रूपमे स्वयं प्रकाशमान है, कोई बाह्यार्थ नही । पदार्थ और ज्ञानका सहोपलम्भ नियम है, अत. दोनो अभिन्न हैं।

अकलङ्कदेवने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि—अद्वय तत्त्व स्वत प्रतिभासित होता है या परत ? यदि स्वत:, तो किसीको विवाद नही होना चाहिए । नित्य ब्रह्मवादीकी तरह क्षणिक विज्ञानवादी भी अपने तत्त्वका स्वत प्रतिभास कहते हैं। इनमे कौन सत्य समझा जाय ? परत प्रतिभासपरके बिना नहीं हो सकता । परको स्वीकार करनेपर अद्वैत तत्त्व नही रह सकता । विज्ञानवादी इन्द्रजाल या स्वप्नका दृष्टान्त देकर बाह्य पदार्थका लोप करना चाहते हैं। किन्तु इन्द्रजालप्रतिभासित घट और बाह्यसत् घटमें अन्तर तो स्त्री बाल गोपाल आदि भी कर लेते हैं। वे घट-पट आदि बाह्य पदार्थोंमे अपनी इष्ट अर्थक्रियाके द्वारा आकाक्षाओको शान्त कर सन्तोषका अनुभव करते है जब कि इद्रजाल या मायादृष्ट पदार्थोंसे न तो अर्थक्रिया ही होती है और न तज्जन्य सन्तोषानुभव ही । उनका काल्पनिकपना तो प्रतिभास कालमे ही ज्ञात हो जाता है। धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी आदि सज्ञाएँ मनुष्यकृत और काल्पनिक हो सकती है पर जिस वजन-वाले रूपरसगन्धस्पर्शवाले स्थूल पदार्थमे ये सज्ञाएँ की जाती है वह तो काल्पनिक नही है। वह तो ठोस, वजनदार, सप्रतिघ, रूपरसादिगुणोका आधार परमार्थसत् पदार्थ है। उस पदार्थको अपने-अपने सकेतके अनुसार कोई धर्मग्रन्थ कहे, कोई पुस्तक, कोई बुक, कोई किताब या अन्य कुछ कहे । ये सकेत व्यवहारके लिए अपनी परम्परा और वासनाओके अनुसार होते हैं, उसमे कोई आपत्ति नही है। दृष्टिसृष्टिका अर्थ भी यही है कि—सामने रखे हुए परमार्थसत् ठोस पदार्थमे अपनी दृष्टिके अनुसार जगत् व्यवहार करता है। उसकी व्यवहारसज्ञाएँ प्रातिभासिक हो सकती हैं पर वह पदार्थ जिसमे वे सज्ञाएँ की जाती है, ब्रह्म या विज्ञान की तरह ही परमार्थसत् है। नीलाकार ज्ञानसे तो कपडा नही रँगा जा सकता ? कपडा रँगनेके लिए ठोस परमार्थसत् जड नील चाहिए जो ऐसे ही कपडेके प्रत्येकतन्तुको नीला बनायगा । यदि कोई परमार्थसत् 'नील' अर्थ न हो, तो नीलाकार वासना कहाँसे उत्पन्न हुई ? वासना तो पूर्वानुभवकी उत्तर दशा है। यदि जगत्मे नील अर्थ नही है तो ज्ञानमें नीलाकार कहाँसे आया ? वासना नीलाकार कैसे बन गई ? तात्पर्य यह कि व्यवहारके लिए की जानेवाली सज्ञाएँ, इष्ट-अनिष्ट, सुन्दर-असुन्दर, आदि कल्पनाएँ भले ही विकल्पकल्पित हो और दृष्टिसृष्टिकी सीमामे हो, पर जिस आधारपर ये सब कल्पनाएँ कल्पित होती हैं वह आधार ठोस और सत्य है। विषके ज्ञानसे मरण नही हो सकता । विषका खानेवाला और विष दोनो ही परमार्थसत् है तथा विषके सयोगसे होनेवाले शरीरगत रासायनिक परिणमन भी । पर्वत, मकान, नदी आदि पदार्थ यदि ज्ञानात्मक ही हैं तो उनमे मूर्तत्व, स्थूलत्व, सप्रतिघत्व आदि धर्म कैसे आ सकते है ? ज्ञानस्वरूप नदीमे स्नान या ज्ञानात्मक जलसे तृषाशान्ति अथवा ज्ञानात्मक पत्थरसे सिर तो नही फूट सकता ?' यदि अद्वयज्ञान ही है तो शास्त्रोपदेश आदि निरर्थक हो जायँगे । परप्रतिपत्तिके लिए ज्ञानसे अतिरिक्त वचनकी सत्ता आवश्यक है। अद्वयज्ञानमे प्रतिपत्ता, प्रमाण, विचार आदि प्रतिभासकी सामग्री तो माननी ही पडेगी, अन्यथा प्रतिभास कैसे होगा ? अद्वयज्ञानमें अर्थ-अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदिकी व्यवस्था न होनेसे तद्ग्राही ज्ञानोमे प्रमाणता या अप्रमाणताका निश्चय कैसे किया जा सकेगा ? ज्ञानाद्वैतकी सिद्धिके लिए अनुमानके अगभूत साध्य, साधन, दृष्टान्त आदि तो स्वीकार करने ही होंगे, अन्यथा अनुमान कैसे हो सकेगा ? सहोपलम्भ—एक साथ उपलब्ध होना—से अभेद सिद्ध नही किया जा सकता; कारण, दो भिन्नसत्ताक पदार्थोंमे ही एक साथ उपलब्ध होना कहा जा सकता है। ज्ञान अन्तरगमें चेतन रूपसे तथा अर्थ बहिरंगमे जडरूपसे अनुभवमे आता है, अत इनका सहोपलम्भ असिद्ध भी है। अर्थशून्य ज्ञान स्वाकारतया तथा ज्ञानशून्य अर्थ अपने अर्थरूपमे अस्तित्व

रखते ही हैं, भले ही हमे वे अज्ञात हो। यदि हम बाह्यपदार्थोका इदमित्थंरूप निरूपण या निर्वचन नहीं कर सकते तो इसका यह तात्पर्य नही है कि उन पदार्थोंका अस्तित्व ही नहीं है। अनन्तधर्मात्मक पदार्थका पूर्ण निरूपण तो सम्भव ही नही है। शब्द या ज्ञानकी अशक्तिके कारण पदार्थोंका लोप नही किया जा सकता। नीलाकारज्ञान रहनेपर भी कपडा रँगनेको नीलपदार्थ की नितान्त आवश्यकता है। ज्ञानमें नीलाकार भी बिना नीलके नही आ सकता। अनेक परमाणुओंसे जो स्कन्ध बनता है उस स्कन्धका कोई पृथक् अस्तित्व नही है, उन्ही परमाणुओका कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध अर्थात् रासायनिक मिश्रण होनेपर परस्पर बन्ध हो जाता है और वह स्कन्ध स्थूल और इन्द्रियग्राह्य होता है। यही अनुभवसिद्ध है। न तो उसका एकदेशसे सम्बन्ध होता है और न सर्वदेशसे, किन्तु जड पदार्थोंका स्निग्ध और रूक्षताके कारण कियत्काल स्थायी विलक्षणबन्ध हो जाता है। जिस प्रकार एक ज्ञान स्वयं ज्ञानाकार, ज्ञेयाकार और ज्ञप्तिस्वरूप अनुभवमें आता है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मोका आधार होता है इसमे विरोध आदि दूषणोका कोई प्रसङ्ग नही है। इस तरह अन्तरङ्गज्ञानमे पृथक्, स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाले बाह्य जडपदार्थ हैं। इन्ही ज्ञेयोंको ज्ञान जानता है। अत अकलङ्कदेवने प्रत्यक्षके स्वरूपनिरूपणमे ज्ञानका अर्थवेदन विशेषण दिया है जो ज्ञानको आत्मवेदीके साथ ही साथ अर्थवेदी सिद्ध करता है। इस तरह ज्ञान स्वभावसे स्वपरवेदी है, स्वार्थसंवेदक है।

५. अर्थ—सामान्यविशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक है

ज्ञान अर्थको विषय करता है यह विवेचन हो चुकनेपर विचारणीय मुद्दा यह है कि अर्थका क्या स्वरूप है? जैन दृष्टिसे प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है या संक्षेपसे सामान्यविशेषात्मक है। वस्तुमे दो प्रकारके अस्तित्व है—एक स्वरूपास्तित्व और दूसरा सादृश्यास्तित्व। एक द्रव्यको अन्य सजातीय या विजातीय किसी भी द्रव्यसे असङ्कीर्ण रखनेवाला स्वरूपास्तित्व है। इसके कारण एक द्रव्यकी पर्यायें दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यसे असङ्कीर्ण पृथक् अस्तित्व रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ इतरद्रव्योसे व्यावृत्ति कराता है वहाँ अपनी पर्यायोमे अनुगत भी रहता है। अत इस स्वरूपास्तित्वसे अपनी पर्यायोंमे अनुगत प्रत्यय उत्पन्न होता है और इतरद्रव्योसे व्यावृत्त प्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वता सामान्य कहते है। इसे ही द्रव्य कहते है। क्योंकि यही अपनी क्रमिक पर्यायोमे द्रवित होता है, क्रमश प्राप्त होता है। दूसरा सादृश्यास्तित्व है जो विभिन्न अनेक द्रव्योमे गौ-गौ इत्यादि प्रकारका अनुगत व्यवहार कराता है। इसे तिर्यक्सामान्य कहते है। तात्पर्य यह कि अपनी दो पर्यायोमे अनुगत व्यवहार करानेवाला स्वरूपास्तित्व होता है। इसे ही ऊर्ध्वतासामान्य और द्रव्य कहते है। तथा विभिन्न दो द्रव्योमे अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है। इसे तिर्यक्सामान्य या सादृश्यसामान्य कहते हैं। इसी तरह, दो द्रव्योमें व्यावृत्त प्रत्यय करानेवाला व्यतिरेक जातिका विशेष होता है तथा अपनी ही दो पर्यायोमे विलक्षण प्रत्यय करानेवाला पर्याय नामका विशेष होता है। निष्कर्ष यह कि एकद्रव्यकी पर्यायोमे अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्यसे होता है तथा व्यावृत्तप्रत्यय पर्याय-विशेषसे होता है। दो विभिन्न द्रव्योमे अनुगतप्रत्यय सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्यसे होता है और व्यावृत्तप्रत्यय व्यतिरेकविशेषसे होता है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक होता है।

यद्यपि सामान्यविशेषात्मक कहनेसे द्रव्यपर्यायात्मकत्वका बोध हो जाता, पर द्रव्यपर्यायात्मकके पृथक् कहनेका प्रयोजन यह है कि पदार्थ न केवल द्रव्यरूप है और न पर्यायरूप, किन्तु प्रत्येक सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। इनमे उत्पाद और व्यय पर्यायका प्रतिनिधित्व करते है तथा ध्रौव्य द्रव्यका। पदार्थ सामान्यविशेषात्मक तो उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् न होकर भी हो सकता है, अत. उसके निज स्वरूपका पृथक् भान करानेके लिए द्रव्यपर्यायात्मक विशेषण दिया है।

सामान्यविशेषात्मक विशेषण धर्मरूप हैं, जो अनुगतप्रत्यय और व्यावृत्तप्रत्ययका विषय होता है। द्रव्य-पर्यायात्मक विशेषण परिणमनसे सम्बन्ध रखता है। प्रत्येक वस्तु अपनी पर्यायधारामे परिणत होती हुई भविष्य वर्तमान और वर्तमानसे अतीत क्षणको प्राप्त करती है। वह वर्तमानको अतीत और भविष्यको वर्तमान बनाती रहती है। प्रतिक्षण परिणमन करनेपर भी अतीतके यावत् संस्कारपुंज इसके वर्तमानको प्रभावित करते हैं या यों कहिए कि इसका वर्तमान अतीतसंस्कारपुजका कार्य है और वर्तमान कारणके अनुसार भविष्य प्रभावित होता है। इस तरह यद्यपि परिणमन करनेपर कोई अपरिवर्तित या कूटस्थ नित्य अंश वस्तुमे शेष नही रहता जो त्रिकालावस्थायी हो, पर इतना विच्छिन्न परिणमन भी नही होता कि अतीत, वर्तमान और भविष्य बिलकुल असम्बद्ध और अतिविच्छिन्न हो। वर्तमानके प्रति अतीतका उपादान कारण होना और वर्तमानका भविष्यके प्रति, यह सिद्ध करता है कि तीनो क्षणोकी अविच्छिन्न कार्यकारणपरम्परा है। न तो वस्तुका स्वरूप सदा स्थायी नित्य ही है और न इतना विलक्षण परिणमन करनेवाला जिससे पूर्व और उत्तर भिन्नसन्तानकी तरह अतिविच्छिन्न हों।

भदन्त नागसेनने 'मिलिन्द प्रश्न'मे जो कर्म और पुनर्जन्मका विवेचन किया है (दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ५५१) उसका तात्पर्य यही है कि पूर्वक्षणको 'प्रतीत्य' अर्थात् उपादान कारण बनाकर उत्तरक्षणका 'समुत्पाद' होना है। मज्झिमनिकाय मे ''अस्मिन् सति इदं भवति'' इसके होनेपर यह होता है, जो इस आशयका वाक्य है उसका स्पष्ट अर्थ यही हो सकता है कि क्षणसन्तति प्रवाहित है, उसमे पूर्वक्षण उत्तरक्षण बनता जाता है। जैसे वर्तमान अतीतसस्कारपुजका फल है वैसे ही भविष्यक्षणका कारण भी।

श्री राहुल साकृत्यायनने दर्शन-दिग्दर्शन (पृ० ५१२) मे प्रतीत्यसमुत्पादका विवेचन करते हुए लिखा है कि—''प्रतीत्यसमुत्पाद कार्यकारण नियमको अविच्छिन्न नहीं, विच्छिन्न प्रवाह बतलाता है। प्रतीत्यसमुत्पादके इसी विच्छिन्न प्रवाहको लेकर आगे नागार्जुनने अपने शून्यवादको विकसित किया।'' इनके मतसे प्रतीत्यसमुत्पाद विच्छिन्न प्रवाहरूप है और पूर्वक्षणका उत्तरक्षणसे कोई सम्बन्ध नही है। पर ये प्रतीत्य शब्दके 'हेतु कृत्वा' अर्थात् पूर्वक्षणको कारण बनाकर इस सहज अर्थको भूल जाते हैं। पूर्वक्षणको हेतु बनाए बिना यदि उत्तरका नया ही उत्पाद होता है तो भदन्त नागसेनकी कर्म और पुनर्जन्मकी सारी व्याख्या आधारशून्य हो जाती है। क्या द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादमे विच्छिन्नप्रवाह युक्तिसिद्ध है? यदि अविद्याके कारण सस्कार उत्पन्न होता है और सस्कारके कारण विज्ञान आदि, तो पूर्व और उत्तरका प्रवाह विच्छिन्न कहाँ हुआ? एक चित्तक्षणकी अविद्या उसी चित्तक्षणमे ही संस्कार उत्पन्न करती है अन्य चित्त-क्षणमे नही, इसका नियामक वही प्रतीत्य है। जिसको प्रतीत्य जिसका समुत्पाद हुआ है उन दोनोमें अति-विच्छेद कहाँ हुआ?

राहुलजी वही (पृ० ५१२) अनित्यवादकी ''बुद्धका अनित्यवाद भी 'दूसरा ही उत्पन्न होता है। दूसरा ही नष्ट होता है' के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्त्वका बाहरी परिवर्तनमात्र नही, बल्कि एकका बिलकुल नाश और दूसरेका बिलकुल नया उत्पाद है। बुद्ध कार्यकारणकी निरन्तर या अविच्छिन्न सन्ततिको नही मानते।'' इन शब्दोमे व्याख्या करते हैं। राहुलजी यहाँ भी केवल समुत्पादको ही ध्यानमें रखते हैं, उसके मूलरूप 'प्रतीत्य'को सर्वथा भुला देते है। कर्म और पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त ''महाराज, यदि फिर भी जन्म नही ग्रहण करे तो मुक्त हो गया; किन्तु चूँकि वह फिर भी जन्म ग्रहण करता है इसलिए (मुक्त) नही हुआ।'' इस सन्दर्भ मे 'वह फिर भी' शब्द क्या अविच्छिन्न प्रवाहको सिद्ध नही कर रहे हैं। बौद्धदर्शनका 'अभौतिक अनात्मवाद' नामकरण केवल भौतिकवादी चार्वाक और आत्मनित्यवादी औपनिषदोके निराकरणके लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिये, पर वस्तुत बुद्ध क्षणिक-

चित्तवादी थे। क्षणिकचित्तको भी अविच्छिन्न सन्तति मानते थे न कि विच्छिन्नप्रवाह। आचार्य कमलशील-ने तत्त्वसंग्रहपंजिका (पृ० ८२) मे कर्तृकर्मसम्बन्धपरीक्षा करते हुए इस प्राचीन श्लोकके भावको उद्धृत किया है—

"यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥"

अर्थात्—जिस सन्तानमे कर्मवासना प्राप्त हुई है उसका फल भी उसी सन्तानमे होता है। जो लाख-के रङ्ग से रँगा गया है उसी कपास-बीजमे उत्पन्न होनेवाली रूई लाल होती है, अन्य नहीं। राहुलजी इस परम्पराका विचार करें और फिर बुद्धको विच्छिन्नप्रवाही बतानेका प्रयास करे! हाँ, यह अवश्य था कि—वे अनन्त क्षणोमे शाश्वत सत्ता रखनेवाला कूटस्थ नित्य पदार्थ स्वीकार नही करते थे। पर वर्तमान क्षण अनन्त अतीतके संस्कारोंका परिवर्तित पुंज स्वगर्भमें लिए हैं और उपादेय भविष्यक्षण उससे प्रभावित होता है, इस प्रकारके त्रैकालिक सम्बन्धको वे मानते थे। यह बात बौद्ध दर्शनके कार्यकारणभावके अभ्यासीको सहज ही समझमे आ सकती है।

निर्वाणके सम्बन्ध मे राहुलजी सर राधाकृष्णन्‌की आलोचना करते समय (पृ० ५२९) बड़े आत्मविश्वासके साथ लिख जाते हैं कि—"किन्तु बौद्ध-निर्वाणको अभावात्मक छोड़ भावात्मक माना ही नही जा सकता।" कृपाकर वे आचार्य कमलशीलके द्वारा तत्त्वसंग्रहपंजिका (पृ० १०४) मे उद्धृत इस प्राचीनश्लोकके अर्थका मनन करे—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात्—चित्त जब रागादिदोष और क्लेश संस्कार से संयुक्त रहता है तब संसार कहा जाता है और जब तदेव—वही चित्त रागादिक्लेश वासनाओसे रहित होकर निरास्रवचित्त बन जाता है तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते है। शान्तरक्षित तो (तत्त्वस० पृ० १८४) बहुत स्पष्ट लिखते हैं कि "मुक्तिर्निर्मलता धिय" अर्थात्—चित्तकी निर्मलताको मुक्ति कहते है। इस श्लोकमे किस निर्वाणकी सूचना है? वही चित्त रागादिप्रवाहसे वासित रहकर संसार बना और वही रागादिसे शून्य होकर मोक्ष बन गया। राहुलजी माध्यमिकवृत्ति (पृ० ५१९) गत इस निर्वाणके पूर्वपक्षको भी ध्यानसे देखें—

"इह हि उषितब्रह्मचर्याणा तथागतशासनप्रतिपन्नाना धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्ताना पुद्गलाना द्विविधं-निर्वाणमुपवर्णितम्—सोपधिशेषं निरुपधिशेषं च। तत्र निरवशेषस्य अविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते। तत्र 'उपधीयते अस्मिन् आत्मस्नेह इत्युपधिः। उपधिशब्देन आत्मप्रज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते। शिष्यते इति शेष, उपधिरेव शेष उपधिशेष—सह उपधिशेषेण वर्तत इति सोपधिशेषम्। किं तत्? निर्वाणम्। तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादि-क्लेशतस्कर-रहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण तत् सोपधिशेषं निर्वाणम्। यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्ति तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेष-चौरगणस्यग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण।"

अर्थात् निर्वाण दो प्रकारका है—१–सोपधिशेष २–निरुपधिशेष। सोपधिशेषमे रागादिका नाश होकर जिन्हे आत्मा कहते हैं ऐसे पाँचस्कन्ध निरास्रव दशामें रहते हैं। दूसरे निरुपधिशेष निर्वाणमें स्कन्ध भी नष्ट हो जाते हैं।

बौद्ध परम्परामें इस सोपधिशेष निर्वाणको भावात्मक स्वीकार किया ही गया है। यह जीवन्मुक्त दशाका वर्णन नहीं है किन्तु निर्वाणावस्थाका।

आखिर बौद्धदर्शनमें ये दो परम्पराएँ निर्वाणके सम्बन्धमें क्यों प्रचलित हुई ? इसका उत्तर हमें बुद्ध-की अव्याकृत सूचीसे मिल जाता है। बुद्धने निर्वाणके बादकी अवस्था सम्बन्धी इन चार प्रश्नोंको अव्याकरणीय अर्थात् उत्तर देनेके अयोग्य बताया। "१—क्या मरनेके बाद तथागत (बुद्ध) होते हैं ? २—क्या मरनेके बाद तथागत नहीं होते ? ३—क्या मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते हैं ? ४—क्या मरनेके बाद तथागत न होते हैं न नहीं होते हैं ?" मालुक्यपुत्रके प्रश्नपर बुद्धने कहा कि इनका जानना सार्थक नहीं है क्योंकि इनके बारेमें कहना भिक्षुचर्या निर्वेद या परमज्ञानके लिए उपयोगी नहीं है। यदि बुद्ध स्वयं निर्वाणके स्वरूपके सम्बन्धमें अपना सुनिश्चित मत रखते होते तो वे अन्य सैकड़ों लौकिक अलौकिक प्रश्नोंकी तरह इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें न डालते। और यही कारण है जो निर्वाणके विषयमें दो धाराएँ बौद्ध दर्शनमें प्रचलित हो गई हैं।

इसी तरह बुद्धने जीव और शरीरकी भिन्नता और अभिन्नताको अव्याकृत कोटिमें डालकर श्री राहुलजीको बौद्धदर्शनके 'अभौतिक अनात्मवाद' जैसे उभयप्रतिषेधक नामकरणका अवसर दिया। बुद्ध अपने जीवनमें देह और आत्माके जुदापन और निर्वाणोत्तर जीवन आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके शंझटोंमें पर अपने शिष्यको खड़ाकर लक्ष्यच्युत नहीं करना चाहते थे। इसलिए लोक क्या है ? आत्मा क्या है ? और निर्वाणोत्तर जीवन कैसा है ? इन जीवन्त प्रश्नोंको भी उनने अव्याकरणीय करार दिया। उनकी विचारधारा और साधनाका केन्द्रबिन्दु वर्तमान दुःखकी निवृत्ति ही रहा है। राहुलजी एक ओर तो विच्छिन्न प्रवाह मानते हैं और दूसरी ओर पुनर्जन्म। वे इतनी बड़ी असङ्गतिको कैसे पी जाते हैं कि यदि पूर्व और उत्तर क्षण विच्छिन्न हैं तो पुनर्जन्म कैसा और किसका ? क्या बुद्धवाक्योंकी ऐसी असंगत व्याख्याको सम्हालनेका प्रयत्न शान्तरक्षित और कमलशील-जैसे दार्शनिकोंने किया है, जो एक अविच्छिन्न कार्यकारण प्रवाह मानते हैं ? अविच्छिन्नका अर्थ है कार्यकारणभाववाली।

जैनदर्शनकी दृष्टिमें प्रत्येक सत् परिणामी है और वह परिणमन प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक है। उसमें किसी अन्य हेतुकी आवश्यकता नहीं है। यदि अन्य कारण मिले तो वे उस परिणमनको प्रभावित कर सकते हैं पर उपादान कारण तो पूर्वपर्याय ही होगी और उसमें जो कुछ है सब अखण्डरूप ही है। अतः द्वितीय क्षणमें वह अखण्डका अखण्ड उत्तरपर्याय बन जाता है। चूँकि पुराना क्षण ही वर्तमान बना है और भविष्यको अपनेमें शक्ति या उपादान रूपसे छिपाए है अतः स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि व्यवहार सोपपत्तिक और समूल बन जाते हैं। परिणामीका अर्थ है उत्पाद और व्यय होते हुए भी ध्रौव्य रहना। आपाततः यह मालूम होता है कि जो उत्पादविनाशवाला है वह ध्रुव कैसे रह सकता है ? पर ध्रौव्यका अर्थ सदा स्थायी कूटस्थ नित्य नहीं है और न यह विवक्षित है कि वस्तुके कुछ अंश उत्पाद-विनाशके कारण परिवर्तित होते है तथा कुछ अंश उस परिवर्तनसे अछूते ध्रुव बने रहते हैं, और न परिवर्तनका यह स्थूल अर्थ ही है कि जो प्रथमक्षणमें है, दूसरे क्षणमें वह बिलकुल बदल जाता है या विलक्षण हो जाता है। परिवर्तन सदृश भी होता है, विसदृश भी। शुद्ध चेतनद्रव्य मुक्त अवस्थामें प्रतिक्षण परिवर्तित रहनेपर भी कभी विलक्षण परिवर्तन नहीं करता, उसका सदा सदृश परिवर्तन ही होता रहता है। इसी तरह आकाश, काल, धर्म और अधर्मद्रव्य सदा स्वभावपरिणमन करते हैं। उनमें परिवर्तन करते रहनेपर भी कहने लायक कोई विलक्षणता नहीं आती। यो समझानेके लिए परद्रव्योंके परिवर्तनके अनुसार इनमें भी परप्रत्यय विलक्षणता दिखाई जा सकती है पर न तो इनमें देशभेद होता है न आकारभेद और न स्वरूपविलक्षणता ही। इनका स्वाभाविक परिणमन तो अगुरुलघु-

गुणकृत ही है। रह जाता है पुद्गलद्रव्य, जिसका शुद्ध परिणमन कोई निश्चित नहीं है। कारण यह है कि शुद्ध जीवको न तो जीवान्तरका सम्पर्क विकारी बना सकता है और न किसी पुद्गलद्रव्यका संयोग ही, पर पुद्गलमें तो पुद्गल और जीव दोनोके निमित्तसे विकृति उत्पन्न होती है। लोकमे ऐसा कोई प्रदेश भी नही है जहाँ अन्य पुद्गल या जीवके सम्पर्कसे विवक्षित पुद्गलाणु अछूता रह सकता हो। अत कदाचित् पुद्गल अपनी शुद्ध-अणु अवस्थामे भी पहुँच जाय, पर उसके गुण और धर्म शुद्ध होगे या द्वितीयक्षणमे शुद्ध रह सकते हैं, इसका कोई नियामक नही है। अनेक पुद्गलद्रव्य मिलकर स्कन्ध दशामे एक सयुक्त बद्ध पर्याय भी बनाते हैं, पर अनेक जीव मिलकर एक सयुक्तपर्याय नही बना सकते। सबका परिणमन अपना जुदा-जुदा है। स्कन्धगत परमाणुओमे भी प्रत्येकका अपना सदृश या विसदृश परिणमन होता रहता है और उन सब परिणमनोकी औसतसे ही स्कन्धका वजन, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श व्यवहारमे आता है। स्कन्धगत परमाणुओमे क्षेत्रकृत और आकारकृत सादृश्य होनेपर भी उनका मौलिकत्व सुरक्षित रहता है। लोकसे एक भी परमाणु अनन्त परिवर्तन करनेपर भी नि सत्त्व-सत्ताशून्य अर्थात् असत् नही हो सकता। अतः परिणमनमें विलक्षणता अनुभूत न होनेपर भी स्वभावभूत परिवर्तन प्रतिक्षण होता ही रहता है।

द्रव्य एक नदीके समान अतीत वर्तमान और भविष्य पर्यायोंका कल्पित प्रवाह नही है। क्योकि नदी विभिन्नसत्ताक जलकणोका एकत्र समुदाय है जो क्षेत्रभेद करके आगे बढता जाता है। किन्तु भविष्य, पर्याय एक-एक क्षणमे क्रमश वर्तमान होतो हुई इस समय एकक्षणवर्ती वर्तमानके रूपमे है। अतीत पर्यायोका कोई पर्याय-अस्तित्व नही है पर जो वर्तमान है वह अतीतका कार्य है, और यही भविष्यका कारण है। सत्ता एकसमयमात्र वर्तमानपर्यायकी है। भविष्य और अतीत क्रमश अनुत्पन्न और विनष्ट है। अन्ततः ध्रौव्य इतना ही है कि एक द्रव्यकी पूर्वपर्याय द्रव्यान्तरको उत्तर-पर्याय नही बनती और न वही समाप्त होती है। इस तरह द्रव्यान्तरसे असाङ्कर्यका नियामक ही ध्रौव्य है। इसके कारण प्रत्येक द्रव्यकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रहती है और नियत कारणकार्य परम्परा चालू रहती है। वह न विच्छिन्न होती है और न संकर ही। यह भी अतिसुनिश्चित है कि किसी भी नये द्रव्यका उत्पाद नही होता और न मौजूदका अत्यन्त विनाश हो। केवल परिवर्तन, सो भी प्रतिक्षण निराबाध गतिसे।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। वह अनन्त गुण और अनन्त शक्तियोंका धनी है। पर्यायानुसार कुछ शक्तियाँ आविर्भूत होती है कुछ तिरोभूत। जैनदर्शनमे इस सत्का एक लक्षण तो है ''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्'', दूसरा है ''सद् द्रव्यलक्षणम्''। इन दोनो लक्षणोका मथितार्थ यही है कि द्रव्यको सत् कहना चाहिए और वह द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद, व्ययके साथ-ही-साथ अपने अविच्छिन्नता रूप ध्रौव्यको धारण करता है। द्रव्यका लक्षण है—''गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'' अर्थात् गुण और पर्यायवाला द्रव्य होता है। गुण सहभावी और अनेक शक्तियोके प्रतिरूप होते हैं जब कि पर्याय क्रमभावी और एक होती है। द्रव्यका प्रतिक्षण परिणमन एक होता है। उस परिणमनको हम उन-उन गुणोके द्वारा अनेक रूपसे वर्णन कर सकते हैं। एक पुद्गलाणु द्वितीय समयमे परिवर्तित हुआ तो उस एक परिणमनका विभिन्न रूपरसादि गुणोंके द्वारा अनेक रूपमे वर्णन हो सकता है। विभिन्न गुणोकी द्रव्यमे स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे स्वतन्त्र परिणमन नही माने जा सकते। अकलकदेवने प्रत्यक्षके ग्राह्य अर्थका वर्णन करते समय द्रव्य-पर्याय-सामान्य-विशेष इस प्रकार जो चार विशेषण दिए है वे पदार्थकी उपर्युक्त स्थितिको सूचित करनेके लिए ही हैं। द्रव्य और पर्याय पदार्थकी परिणतिको सूचित करते हैं तथा सामान्य और विशेष अनुगत और व्यावृत्त व्यवहारके विषयभूत धर्मोंकी सूचना देते हैं।

नैयायिक वैशेषिक प्रत्ययके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था करते हैं। इन्होंने जितने प्रकारके ज्ञान

और शब्द-व्यवहार होते हैं उनका वर्गीकरण करके असाङ्कर्यभावसे उतने पदार्थ माननेका प्रयत्न किया है। इसीलिए इन्हें 'संप्रत्ययोपाध्याय' कहा जाता है। पर प्रत्यय अर्थात् ज्ञान और शब्द-व्यवहार इतने अपरिपूर्ण और लचर हैं कि इनपर पूरा-पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। ये तो वस्तुस्वरूपकी ओर इशारामात्र ही कर सकते हैं। 'द्रव्यम् द्रव्यम्' ऐसा प्रत्यय हुआ एक द्रव्य पदार्थ मान लिया। 'गुण गुण' प्रत्यय हुआ गुण पदार्थ मान लिया। 'कर्म कर्म' ऐसा प्रत्यय हुआ कर्म पदार्थ मान लिया। इस तरह इनके सात पदार्थों-की स्थिति प्रत्ययके आधीन है। परन्तु प्रत्ययसे मौलिक पदार्थकी स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। पदार्थ तो अपना अखण्ड ठोस स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, वह अपने परिणमनके अनुसार अनेक प्रत्ययोंका विषय हो सकता है। गुण क्रिया सम्बन्ध आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, ये तो द्रव्यकी अवस्थाओंके विभिन्न व्यवहार हैं। इसी तरह सामान्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जो नित्य और एक होकर अनेक स्वतन्त्रसत्ताक व्यक्तियों-में मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। पदार्थोंके परिणमन कुछ सदृश भी होते हैं और कुछ विसदृश भी। दो विभिन्नसत्ताक व्यक्तियोंमें भूय साम्य देखकर अनुगत व्यवहार होने लगता है। अनेक आत्माएँ अपने विभिन्न शरीरोंमें वर्तमान हैं, पर जिनकी अवयवरचना अमुक प्रकारकी सदृश है उनमें 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा सामान्य व्यवहार किया जाता है तथा जिनकी घोड़ो-जैसी उनमें 'अश्व अश्व' यह व्यवहार। जिन आत्माओंमें सादृश्यके आधारसे मनुष्य-व्यवहार हुआ है उनमें मनुष्यत्व नामका कोई सामान्य पदार्थ, जो कि अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है, आकर समवायनामक सम्बन्ध पदार्थसे रहता है यह कल्पना पदार्थस्थितिके विरुद्ध है। 'सत् सत्' 'द्रव्यम् द्रव्यम्' इत्यादि प्रकारके सभी अनुगत व्यवहार सादृश्यके आधारसे ही होते हैं। सादृश्य भी उभयनिष्ठ कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। किन्तु वह बहुत अवयवोंकी समानता रूप ही है। तत्तद् अवयव उन-उन व्यक्तियोंमें रहते ही हैं। उनमें समानता देखकर द्रष्टा उस रूपसे अनुगत व्यवहार करने लगता है। वह सामान्य नित्य एक और निरंश होकर यदि सर्वगत है तो उसे विभिन्न देशस्थ स्वव्यक्तियोंमें खण्डशः रहना होगा, क्योंकि एक वस्तु एक साथ भिन्न देशमें पूर्णरूपसे नहीं रह सकती। नित्य निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्तिमें प्रकट होता है उसी समय उसे सर्वत्र-व्यक्तियोंके अन्तरालमें भी प्रकट होना चाहिए। अन्यथा 'क्वचित् व्यक्त' और 'क्वचित् अव्यक्त' रूपसे स्वरूपभेद होनेपर अनित्यत्व और सांशत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। यदि सामान्य पदार्थ अन्य किसी सत्तासम्बन्धके अभावमें भी स्वतः सत् है तो उसी तरह द्रव्य गुण आदि पदार्थ भी स्वतः सत् ही क्यों न माने जायँ? अतः सामान्य स्वतन्त्र पदार्थ न होकर द्रव्योंके सदृश परिणमनरूप ही है।

वैशेषिक तुल्य आकृति तुल्य गुणवाले सम परमाणुओंमें परस्पर भेद प्रत्यय करानेके निमित्त स्वतो विभिन्न विशेष पदार्थकी सत्ता मानते हैं। वे मुक्त आत्माओंमें मुक्त आत्माके मनोंमें विशेष प्रत्ययके निमित्त विशेष पदार्थ मानना आवश्यक समझते हैं। परन्तु प्रत्ययके आधारसे पदार्थ व्यवस्था माननेका सिद्धान्त ही गलत है। जितने प्रकारके प्रत्यय होते जायँ उतने स्वतन्त्र पदार्थ यदि माने जायँ तो पदार्थोंकी कोई सीमा ही नहीं रहेगी। जिस प्रकार विशेष पदार्थ स्वतः परस्पर भिन्न हो सकते हैं उसी तरह परमाणु आदि भी स्वस्वरूपसे ही परस्पर भिन्न हो सकते हैं। इसके लिए किसी स्वतन्त्र 'विशेष' पदार्थकी कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्तियाँ स्वयं ही विशेष हैं। प्रमाणका कार्य है स्वतःसिद्ध पदार्थकी जमकर व्याख्या करना।

बौद्ध सदृशपरिणमनरूप समानधर्म स्वीकार न करके सामान्यको अन्यापोह रूप मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि—परस्पर-भिन्न वस्तुओंको देखनेके बाद जो बुद्धिमें अभेदभान होता है उस बुद्धिप्रतिबिम्बित अभेदको ही सामान्य कहते हैं। यह अभेद भी विध्यात्मक न होकर अतद्व्यावृत्तिरूप है। सभी पदार्थ किसी-न-किसी कारणसे उत्पन्न होते हैं तथा कोई-न-कोई कार्य उत्पन्न भी करते हैं। तो जिन पदार्थोंमें अतत्कारण-

व्यावृत्ति और अतत्कार्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमें अनुगत व्यवहार कर दिया जाता है। जैसे जो व्यक्तियाँ मनुष्यरूप कारणसे उत्पन्न हुई हैं और आगे मनुष्यरूप कार्य उत्पन्न करेंगी उनमें अमनुष्यकारण-कार्यव्यावृत्तिको निमित्त लेकर 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा अनुगत व्यवहार कर दिया जाता है। कोई वास्तविक मनुष्यत्व विध्यात्मक नहीं है। जिस प्रकार चक्षु आलोक और रूप आदि परस्पर अत्यन्त भिन्न पदार्थ भी अरूपज्ञानजननव्यावृत्तिके कारण 'रूपज्ञानजनक' व्यपदेशको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सर्वत्र अतद्व्यावृत्तिसे ही समानाकार प्रत्यय हो सकता है। ये शब्दका वाच्य इसी अपोहरूप सामान्यको ही स्वीकार करते हैं। विकल्पज्ञानका विषय भी यही अपोहरूप सामान्य है।

अकलङ्कदेवने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि—सादृश्य माने बिना अमुक व्यक्तियोंमें ही अपोहका नियम कैसे बन सकता है? यदि शाबलेय गौव्यक्ति बाहुलेय गौव्यक्तिसे उतनी ही भिन्न है जितनी कि किसी अश्वादिव्यक्तिसे, तो क्या कारण है कि शाबलेय और बाहुलेयमें ही अतद्व्यावृत्ति मानी जाय, अश्वमें नहीं। यदि अश्वसे कुछ कम विलक्षणता है तो यह अर्थात् ही मानना होगा कि उनमें ऐसी समानता है जो अश्वके साथ नहीं है। अतः सादृश्य ही व्यवहारका सीधा नियामक हो सकता है। यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है कि वस्तु समान और असमान उभयविध धर्मोंका आधार होती है। समानधर्मोंके आधारसे अनुगत व्यवहार किया जाता है और असमान धर्मके आधारसे व्यावृत्त व्यवहार। अन्य नहीं, 'अतद्व्यावृत्ति' यही एक समान धर्म तत्तद्व्यक्तियोंमें स्वीकार करना होगा। बौद्ध जब स्वयं अपरापर क्षणोंमें सादृश्यके कारण एकत्वभ्रम तथा सीपमें सादृश्यके ही कारण रजतभ्रम स्वीकार करते हैं तब अनुगत व्यवहारके लिए सादृश्यको स्वीकार करनेमें उन्हें क्या बाधा है? अतद्व्यावृत्ति और बुद्धिगत अभेद प्रतिबिम्बका निर्वाह भी सादृश्यके बिना नहीं हो सकता। अतः सदृश परिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। शब्द और विकल्पज्ञान भी सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको ही विषय करते हैं, न केवल सामान्यात्मकको और न केवल विशेषात्मकको ही।

सामान्यतया कल्पनाओंका लक्ष्य द्विमुखी होता है—एक तो अभेदकी ओर दूसरा भेदकी ओर। जगत्में अभेदकी ओर चरम कल्पना वेदान्त दर्शनने की है। वह इतना अभेदकी ओर बढ़ा कि वास्तविक स्थितिको लाँघकर कल्पनालोकमें ही जा पहुँचा। चेतन-अचेतनका स्थूल भेद भी मायारूप बन गया। एक ही तत्त्वका प्रतिभास चेतन और अचेतन रूपमें माना गया। इस तरह देश काल और स्वरूप, हर प्रकारसे चरम अभेदकी कोटि वेदान्त दर्शन है। बौद्धदर्शन प्रत्येक चित्-अचित् स्वलक्षणोंकी वास्तव स्वतन्त्र सत्ता मानकर ही चुप नहीं रहता। वह उनमें कालिक भेद भी क्षणपर्याय तक स्वीकार करता है। यहाँ तक तो उसका पारमार्थिक भेद है। जो प्रथमक्षणमें है वह द्वितीयमें नहीं, जो जहाँ जिस समय जैसे है वह वहीं उसी समय वैसे ही है, द्वितीयक्षणमें नहीं। दो देशोंमें रहनेवाली दो क्षणोंमें रहनेवाली कोई वस्तु नहीं है। इस तरह देश काल और स्वरूपकी दृष्टिसे अन्तिम भेद बौद्धदर्शनका लक्ष्य है। पर अभेदकी तरफ वेदान्त दर्शन और भेदकी ओर बौद्धदर्शन वास्तववादसे काल्पनिकता या अवास्तववादकी ओर पहुँच जाते हैं। बौद्धदर्शनमें विज्ञानवादी, विभ्रमवादी, शून्यवादी सभी काल्पनिक भेदके उपासक हैं। उनने बाह्यजगत्‌का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया। किसीने उसे सावृत कहा तो किसीने उसे अविद्यानिर्मित कहा, तो किसीने उसे प्रत्ययमात्र।

जैनदर्शनने भेद और अभेदका अन्तिम विचार तो किया, पर वास्तवसीमाको लाँघा नहीं है। उसने दो प्रकारके अभेदप्रयोजक सामान्य धर्म माने तथा दो प्रकारके विशेष, जो भेद-कल्पनाके विषय होते हैं। दो विभिन्नसत्ताक द्रव्योंमें अभेद-व्यवहार सादृश्यसे ही हो सकता है, एकत्वसे नहीं। इसलिए परम संग्रहनय यद्यपि वेदान्तको परसत्ताको विषय करता है और कह देता है कि 'सद्रूपेण चेतनाचेतनाना भेदाभावात् अर्थात् सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है' पर वह व्यवहारनयके विषयभूत वास्तव भेदका लोप नहीं

करता। वह स्पष्ट घोषणा करता है कि चेतन और अचेतनमे सत्-सादृश्य रूपसे अनुगतव्यवहार हो सकता है, पर कोई ऐसा एक सत् नही जो दोनोमे वास्तव अनुगत सत्ता रखता हो, सिवाय इसके कि दोनोंमे 'सत् सत्' ऐसा समान प्रत्यय होता है और 'सत् सत्' ऐसा शब्द-प्रयोग होता है। एक द्रव्यकी कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें जो अनुगतव्यवहार होता है वह परमार्थसत् एकद्रव्यमूलक है। यद्यपि द्वितीयक्षणमे अविभक्तद्रव्य अखण्डका अखण्ड बदलता है—परिवर्तित होता है पर उस सत्का, जो कि परिवर्तित हुआ है अस्तित्व दुनियासे नष्ट नही किया जा सकता, उसे मिटाया नही जा सकता। जो वर्तमानक्षणमे अमुक दशामे है वही अखण्डका अखण्ड पूर्वक्षणमे अतीतदशामे था, वही बदलकर आगेके क्षणमे तीसरा रूप लेगा, पर अपने स्वरूपसत्त्वको नही छोड सकता, सर्वथा महाविनाशके गर्तमे प्रलीन नही हो सकता। इसका यह तात्पर्य बिलकुल नही है कि उसमे कोई शाश्वत कूटस्थ अंश है, किन्तु बदलनेपर भी उसका सन्तानप्रवाह चालू रहता है, कभी भी उच्छिन्न नही होता और न दूसरेमे विलीन होता है। अत एक द्रव्यकी अपनी पर्यायोमे होनेवाला अनुगत व्यवहार ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्यमूलक है। यह अपनेमे वस्तुसत् है। पूर्व पर्यायका अखण्ड निचोड उत्तरपर्याय है और उत्तरपर्याय अपने निचोडभूत आगेकी पर्यायको जन्म देती है। इस तरह जैसे अतीत और वर्तमानका उपादानोपादेय सम्बन्ध है उसी तरह वर्तमान और भविष्यका भी। परन्तु सत्ता वर्तमान क्षणमात्रकी है। पर यह वर्तमान परम्परासे अनन्त अतीतोका उत्तराधिकारी है और परम्परासे अनन्त भविष्यका उपादान भी बनेगा। इसी दृष्टिसे द्रव्यको कालत्रयवर्ती कहते है। शब्द इतने लचर होते है कि वस्तुके शतप्रतिशत स्वरूपको अभ्रान्त रूपसे उपस्थित करनेमे सर्वत्र समर्थ नही होते। यदि वर्तमानका अतीतसे बिलकुल सम्बन्ध न हो तभी निरन्वय क्षणिकत्वका प्रसङ्ग हो सकता है, परन्तु जब वर्तमान अतीतका ही परिवर्तित रूप है तब वह एक दृष्टिसे सान्वय ही हुआ। वह केवल पंक्ति और सेनाकी तरह व्यवहारार्थ किया जानेवाला संकेत नही है किन्तु कार्यकारणभूत और खासकर उपादानोपादेयमूलक तत्त्व है। वर्तमान जलबिन्दु एक ऑक्सिजन और एक हाइड्रोजनके परमाणुओका परिवर्तनमात्र है, अर्थात् ऑक्सिजनको निमित्त पाकर हाइड्रोजन परमाणु और हाइड्रोजनको निमित्त पाकर ऑक्सिजन परमाणु दोनोने ही जल पर्याय प्राप्त कर ली है। इस द्विपरमाणुक जलबिन्दुके प्रत्येक जलाणुका विश्लेषण कीजिए तो ज्ञात होगा कि जो एटम ऑक्सिजन अवस्थाको धारण किए था वह समूचा बदलकर जल बन गया है। उसका और पूर्व ऑक्सिजनका यही सम्बन्ध है कि यह उसका परिणाम है। वह जिस समय जल नही बनता और ऑक्सिनका ऑक्सिजन ही रहता है उस समय भी प्रतिक्षण परिवर्तन सजातीय रूप होता ही रहता है। यही विश्वके समस्त चेतन और अचेतन द्रव्योकी स्थिति है। इस तरह एक धाराकी पर्यायोमे अनुगत व्यवहारका कारण सादृश्यसामान्य न होकर ऊर्ध्वतासामान्य ध्रौव्य सन्तान या द्रव्य होता है। इसी तरह विभिन्न द्रव्योंमें भेदका प्रयोजक व्यतिरेक विशेष होता है जो तद्व्यक्तित्व रूप है। एक द्रव्यकी दो पर्यायोमे भेद व्यवहार करानेवाला पर्याय नामक विशेष है।

जैनदर्शनने उन सभी कल्पनाओके ग्राहक नय तो बताए है जो वस्तुसीमाको लाँघकर अधारतवादकी ओर जाती है। पर साथ ही स्पष्ट कह दिया है कि ये सब वक्ताके अभिप्राय हैं, उसके सकल्पके प्रकार है, वस्तुस्थितिके ग्राहक नही है।

गुण और धर्म—वस्तुमें गुण भी होते है और धर्म भी। गुण स्वभावभूत हैं और इनकी प्रतीति परनिरपेक्ष होती है। धर्मोकी प्रतीति परसापेक्ष होती है और व्यवहारार्थ इनकी अभिव्यक्ति वस्तुकी योग्यताके अनुसार होती रहती है। धर्म अनन्त होते है। गुण गिने हुए है। यथा-जीवके असाधारण गुण-ज्ञान,

दर्शन, सुख, वीर्य आदि हैं। साधारण गुण वस्तुत्व प्रमेयत्व सत्त्व आदि। पुद्गलके रूप रस गन्ध स्पर्श आदि असाधारण गुण हैं। धर्मद्रव्यका गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्यका स्थितिहेतुत्व, आकाशका अवगाहननिमित्तत्व और कालका वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण हैं। साधारण गुण वस्तुत्व सत्त्व अभिधेयत्व प्रमेयत्व आदि। जीवमें ज्ञानादि गुणोंकी सत्ता और प्रतीति निरपेक्ष है, स्वाभाविक है। पर छोटा बड़ा, पितृत्व, पुत्रत्व, गुरुत्व, शिष्यत्व आदि धर्म सापेक्ष हैं। यद्यपि इनकी योग्यता जीवमें है, पर ज्ञानादिके समान ये स्वरसतः गुण नहीं हैं। इसी तरह पुद्गलमें रूप रस गन्ध और स्पर्श ये तो स्वाभाविक परनिरपेक्ष गुण हैं परन्तु छोटा बड़ा, एक दो तीन आदि संख्या, सकेतके अनुसार होनेवाली वाच्यता आदि ऐसे धर्म हैं जिनकी अभिव्यक्ति व्यवहारार्थ होती है। गुण परनिरपेक्ष स्वत प्रतीत होते हैं तथा धर्म परापेक्ष होकर। वस्तुमें योग्यता दोनोंकी है। सामान्य-विवक्षासे सभी वस्तुके स्वभाव माने जाते हैं। सप्तभङ्गीमें धर्मोंकी कल्पना वक्ताके प्रश्नोंके अनुसार की जाती है। एक धर्मको केन्द्रमें माननेपर उसका प्रतिपक्षी धर्म आ जाता है। फिर दोनों रूपको एकसाथ शब्दसे कहनेका प्रयत्न सम्भव नहीं है, अतः वस्तुका निजरूप अवक्तव्य उपस्थित हो जाता है। इस तरह सत् असत् और अवक्तव्य इन तीन धर्मोंको लेकर अधिकसे अधिक सात ही प्रश्न हो सकते हैं। अत. सप्त-भङ्गीका निरूपण अधिक-से-अधिक सात प्रश्नोंकी सम्भावनाका उत्तर है। प्रश्न सात हो सकते हैं इसका कारण सात प्रकार की जिज्ञासाका होना है। जिज्ञासाका सात प्रकारका होना सात प्रकारके संशयोंके अधीन है। तथा सशय सात इसलिए होते हैं कि वस्तुके धर्म ही सात प्रकारके हैं।

६. विशदज्ञान प्रत्यक्ष—इस तरह ज्ञान द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक अर्थको विषय करता है। केवल सामान्यात्मक या विशेषात्मक कोई पदार्थ नहीं है और न केवल द्रव्यात्मक या पर्यायात्मक ही। इसीलिए अकलङ्कदेवने प्रत्यक्षका लक्षण करते समय वार्तिकमें द्रव्य पर्याय सामान्य और विशेष ये चार विशेषण अर्थके दिए हैं। इनकी सार्थकता उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाती है। ज्ञानके लिए उनने लिखा है कि उसे साकार और स्वसंवेदी होना चाहिए। यहाँ तक साकार स्वसंवेदी और द्रव्यपर्याय-सामान्यविशे-षार्थवेदी ज्ञानका निरूपण हुआ। ऐसा ज्ञान जब 'अजसा स्पष्ट' अर्थात् परमार्थत विशद हो तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। साधारणतया दर्शनान्तरोंमें तथा लोकव्यवहारमें इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माना गया है। तथा इन्द्रियके परे रहनेवाले पदार्थका बोध परोक्ष कहा जाता है। पर जैनदर्शनका प्रत्यक्ष और परोक्षका अपना स्वोपज्ञ विचार है। वह इन्द्रिय आदि पर पदार्थोंकी अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानको परोक्ष अर्थात् परतन्त्र ज्ञान मानता है, तथा इन्द्रियादि-निरपेक्ष आत्ममात्रोत्थ ज्ञानको प्रत्यक्ष। यह प्रत्यक्षका कारणमूलक विवेचन है। पर स्वरूपमें जो ज्ञान विशद हो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। यह विशदता व्यवहारमें अंशत इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भी पाई जाती है, अत इन्द्रियजन्य ज्ञानको संव्यवहार प्रत्यक्ष कहते हैं। यद्यपि आगमोंमें इन्द्रियजन्य मतिको परोक्ष कहा है और वह आगमिक परिभाषामें उचित भी है पर लोकव्यवहारके निर्वाहार्थ वैशद्यांशका सद्भाव होनेसे उसे सव्यवहार प्रत्यक्ष भी कहा गया है। वैशद्यका लक्षण अकलङ्कदेवने स्वय लघीयस्त्रय (कारिका नं० ४) में यह किया है—

"अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥"

अर्थात्—अनुमान आदिकसे अधिक, नियत देश काल और आकार रूपसे प्रचुरतर विशेषोंके प्रति-भासनको वैशद्य कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें जिस ज्ञानमें अन्य किसी ज्ञानकी सहायता अपेक्षित न हो वह ज्ञान विशद कहलाता है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तरकी अपेक्षा

करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रखता। यही अनुमानादिसे प्रत्यक्षमें अतिरेक-अधिकता है। यद्यपि आगमिक दृष्टिसे इन्द्रिय आलोक या ज्ञानान्तर किसी भी कारणकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान परोक्ष है और आत्ममात्रसापेक्ष ही ज्ञान प्रत्यक्ष, पर दार्शनिक क्षेत्रमें अकलंकदेवके सामने प्रमाणविभागकी समस्या थी जिसे उन्होंने बड़ी व्यवस्थित रीतिसे सुलझाया है। तत्त्वार्थसूत्रमें मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंको परोक्ष कहा है और वहीं मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधको अनर्थान्तर बताया है। अनर्थान्तर कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि ये सब मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं। मतिमें इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले अवग्रह ईहा अवाय और धारणा ज्ञान सम्मिलित हैं। अकलंकदेवने मति-को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर लोकप्रसिद्ध इन्द्रियज्ञानकी प्रत्यक्षताका निर्वाह किया और स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और श्रुति इन सबको परोक्ष प्रमाण रूपसे परिगणित किया। आगममें मति और श्रुत परोक्ष थे ही। स्मृति आदि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान थे ही, इसलिए इनका परोक्षत्व भी सिद्ध था। मात्र इन्द्रिय और मनोजन्य मतिको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष बना देनेसे समस्त प्रमाण-व्यवस्था जम गई और लोक प्रसिद्धिका निर्वाह भी हो गया। यद्यपि अकलंकदेवने लघीयस्त्रयमें स्मृति प्रत्य-भिज्ञान तर्क और अनुमानको भी मनोमति कहा है और सम्भवतः वे इन्हें भी प्रादेशिक प्रत्यक्षकोटिमें लाना चाहते थे, पर यह प्रयास आगेके आचार्योंके द्वारा समर्थित नहीं हुआ।

इस तरह अकलंकदेवने विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहकर श्रीसिद्धसेन दिवाकरके 'अपरोक्ष ग्राहक प्रत्यक्ष' इस प्रत्यक्ष-लक्षणकी कमीको दूर कर दिया। उत्तरकालीन समस्त जैनाचार्योंने अकलंकोपज्ञ इस लक्षण और प्रमाणव्यवस्थाको स्वीकार किया है।

यद्यपि बौद्ध भी विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं फिर भी प्रत्यक्षके लक्षणमें अकलंकदेवके द्वारा विशद पदके साथ ही प्रयुक्त 'साकार' और 'अंजसा' पद खास महत्त्व रखते हैं। बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पक ज्ञान जैनदार्शनिक परम्परामें प्रसिद्ध विषयविषयीसन्निपातके बाद होनेवाले सामान्यावभासी अनाकार दर्शनके समान है। अकलंकदेवकी दृष्टिमें जब निर्विकल्पक दर्शन प्रमाणकोटिसे ही बहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता था। इसी बातकी सूचनाके लिए उन्होंने प्रत्यक्षके लक्षणमें साकार पद दिया है, जो निराकार दर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पक-प्रत्यक्षका निराकरण कर निश्चयात्मक विशदज्ञानको ही प्रत्यक्षकोटिमें रखता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बाद होनेवाले 'नील-मिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पोंको भी संव्यवहारसे प्रमाण मान लेते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्षके-विषयभूत दृश्य स्वलक्षणमें विकल्पके विषयभूत विकल्प सामान्यका एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करनेपर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है, अतः विकल्प ज्ञान भी संव्यवहारसे प्रमाण बन जाता है। इन विकल्पमें निर्वि-कल्पककी ही विशदता आती है। इसका कारण है निर्विकल्पक और सविकल्पकका अतिशीघ्र उत्पन्न होना या एक साथ होना। तात्पर्य यह कि बौद्धके मतसे सविकल्पकमें न तो अपना वैशद्य है और न प्रमाणत्व। इसका निरास करनेके लिए अकलंकदेवने अंजसा विशेषण दिया है और सूचित किया है कि विकल्पज्ञान अंजसा विशद है, संव्यवहारसे नहीं।

परपरिकल्पित प्रत्यक्ष लक्षण निरास

बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्ष मानते हैं। कल्पनापोढ और अभ्रान्तज्ञान उन्हें प्रत्यक्ष इष्ट है। शब्दसंसृष्ट ज्ञान 'विकल्प' कहलाता है। निर्विकल्पक शब्दसंसर्गसे शून्य होता है। निर्विकल्पक परमार्थसत् स्वलक्षण अर्थसे उत्पन्न होता है। इसके चार भेद होते हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष

निर्विकल्पक स्वयं व्यवहारसाधक नहीं होता, व्यवहार निर्विकल्पकजन्य सविकल्पकसे होता है। सविकल्पक ज्ञान निर्मल नहीं होता। विकल्प ज्ञानकी विशदता सविकल्पमे झलकती है। ज्ञात होता है कि वेदकी प्रमाकताका खण्डन करनेके विचारसे बौद्धोने शब्दका अर्थके साथ वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं माना और यावत् शब्दससर्गी ज्ञानोको, जिनका समर्थन निर्विकल्पकसे नहीं होता, अप्रमाण घोषित कर दिया है। इनने उन्ही ज्ञानोको प्रमाण माना जो साक्षात् या परम्परासे अर्थसामर्थ्यजन्य है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा यद्यपि अर्थमे रहनेवाले क्षणिकत्व आदि सभी धर्मोका अनुभव हो जाता है, पर उनका निश्चय यथासभव विकल्पकज्ञान और अनुमानसे ही होता है। नील निर्विकल्पक नीलाशका 'नीलमिदम्' इस विकल्पज्ञान द्वारा निश्चय करता है और व्यवहारसाधक होता है तथा क्षणिकाशका 'सर्व क्षणिक सत्त्वात्' इस अनुमानके द्वारा। चूँकि निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' आदि विकल्पोका उत्पादक है और अर्थस्वलक्षणसे उत्पन्न हुआ है अत प्रमाण है। विकल्पज्ञान अस्पष्ट है, क्योकि वह परमार्थसत् स्वलक्षणसे उत्पन्न नही हुआ है। सर्वप्रथम अर्थसे निर्विकल्पक ही उत्पन्न होता है। उस निर्विकल्पावस्थामे किसी विकल्पका अनुभव नही होता। विकल्प कल्पितसामान्यको विषय करनेके कारण तथा निर्विकल्पकके द्वारा गृहीत अर्थको ग्रहण करनेके कारण प्रत्यक्षाभास है।

अकलङ्कदेव इसकी आलोचना इस प्रकार करते है—अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाणका अन्वेषण करते हैं। जब व्यवहारमे साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पकमे ही है तब क्यो न उसे ही प्रमाण माना जाय ? निर्विकल्पकमे प्रमाणता लानेको आखिर आपको सविकल्पक ज्ञान तो मानना ही पडता है। यदि निर्विकल्पके द्वारा गृहीत नीलाद्यशको विषय करनेसे विकल्पज्ञान अप्रमाण है; तब तो अनुमान भी प्रत्यक्षके द्वारा गृहीत क्षणिकत्वादिको विषय करनेके कारण प्रमाण नही हो सकेगा। निर्विकल्पसे जिस प्रकार नीलाद्यशोमें 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार क्षणिकत्वादि अशोमे भी 'क्षणिकमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होना चाहिये। अत् व्यवहारसाधक सविकल्पज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाने योग्य है। विकल्पज्ञान ही विशदरूपसे प्रत्येक प्राणीके अनुभवमे आता है, जब कि निर्विकल्पज्ञान अनुभवसिद्ध नही है। प्रत्यक्षसे तो स्थिर स्थूल अर्थ ही अनुभवमे आते हैं, अत क्षणिक परमाणुका प्रतिभास कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। निर्विकल्पकको स्पष्ट होनेसे तथा सविकल्पकको अस्पष्ट होनेसे विषयभेद भी मानना ठीक नही है, क्योकि एक ही वृक्ष दूरवर्ती पुरुषको अस्पष्ट तथा समीपवर्तीको स्पष्ट दीखता है। आद्य-प्रत्यक्षकालमे भी कल्पनाएँ बराबर उत्पन्न तथा विनष्ट तो होती ही रहती हैं, भले ही वे अनुपलक्षित रहें। निर्विकल्पसे सविकल्पकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नही है; क्योंकि यदि अशब्द निर्विकल्पकसे सशब्द विकल्पज्ञान उत्पन्न हो सकता है तो शब्दशून्य अर्थसे ही विकल्पककी उत्पत्ति माननेमें क्या बाधा है ? अत मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्तादि यावद्विकल्पज्ञान संवादी होनेसे प्रमाण हैं। जहाँ ये विसंवादी हों वहीं इन्हें अप्रमाण कह सकते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्षमे अर्थक्रियास्थिति अर्थात् अर्थक्रियासाधकत्व रूप अविसवादका लक्षण भी नही पाया जाता, अत उसे प्रमाण कैसे कह सकते हैं ? शब्दसंसृष्ट ज्ञानको विकल्प मानकर अप्रमाण कहनेसे शास्त्रोपदेशसे क्षणिकत्वादिकी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

मानस प्रत्यक्ष निरास—बौद्ध इन्द्रियज्ञानके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले विशदज्ञानको, जो कि उसी इन्द्रियज्ञानके द्वारा ग्राह्य अर्थके अनन्तरभावी द्वितीयक्षणको जानता है, मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—एक ही निश्चयात्मक अर्थसाक्षात्कारी ज्ञान अनुभवमें आता है। आपके द्वारा बताये गये मानस प्रत्यक्षका तो प्रतिभास ही नही होता। 'नीलमिदम्' यह विकल्प ज्ञान भी मानस प्रत्यक्षका असाधक है; क्योंकि ऐसा विकल्प ज्ञान तो इन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही उत्पन्न हो सकता है, इसके लिये मानस प्रत्यक्ष माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। बड़ी और गरम जलेबी खाते समय जितनी इन्द्रियबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं उतने

ही तदनन्तरभावी अर्थको विषय करनेवाले मानस प्रत्यक्ष मानना होगे; क्योंकि बादमे उतने ही प्रकारके विकल्पज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस तरह अनेक मानम प्रत्यक्ष माननेपर सन्तानभेद हो जानेके कारण 'जो मैं खाने वाला हूँ वही मैं सूँघ रहा हूँ' यह प्रत्यभिज्ञान नही हो सकेगा। यदि समस्त रूपादिको विषय करने-वाला एक ही मानस प्रत्यक्ष माना जाय; तब तो उसीसे रूपादिका परिज्ञान भी हो ही जायगा, फिर इन्द्रिय-बुद्धियाँ किसलिये स्वीकार की जायँ? धर्मोत्तरने मानस प्रत्यक्षको 'आगमप्रसिद्ध' कहा है। अकलंकदेवने उसकी भी आलोचना की है कि—जब वह मात्र आगमप्रसिद्ध ही है, तब उसके लक्षणका परीक्षण ही निरर्थक है।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष खण्डन—यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है तो निद्रा तथा मूर्च्छादि अव-स्थाओंमे ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षको माननेमे क्या बाधा है? सुषुप्त आदि अवस्थाओमे अनुभवसिद्ध ज्ञानका निषेध तो किया ही नही जा सकता। यदि उक्त अवस्थाओंमे ज्ञानका अभाव हो तो उस समय योगियोको वस्तु सत्यविषयक भावनाओका भी विच्छेद मानना पडेगा।

बौद्ध सम्मत विकल्पके लक्षणका निरास—बौद्ध 'अभिलापवती प्रतीति कल्पना' अर्थात् जो ज्ञान शब्दसंसर्गके योग्य हो उस ज्ञानको कल्पना या विकल्प ज्ञान कहते है। अकलङ्कदेवने उनके इस लक्षणका खण्डन करते हुए लिखा है कि—यदि शब्दके द्वारा कहे जाने लायक ज्ञानका नाम कल्पना है तथा बिना शब्दसंश्रयके कोई भी विकल्पज्ञान उत्पन्न ही नही हो सकता, तब शब्द तथा शब्दाशोके स्मरणात्मक विकल्पके लिये तद्वाचक अन्य शब्दोंका प्रयोग मानना होगा, उन अन्य शब्दोके स्मरणके लिए भी तद्वाचक अन्य शब्द स्वीकार करना होंगे, इस तरह दूसरे-दूसरे शब्दोकी कल्पना करनेसे अनवस्था नामका दूषण आता है। अत जब विकल्पज्ञान ही सिद्ध नही हो पाता तब विकल्पज्ञानरूप साधकके अभावमे निर्विकल्पक भी असिद्ध ही रह जायगा और निर्विकल्पक तथा सविकल्पकरूप प्रमाणद्वयके अभाव मे साधक प्रमाण न होनेसे सकल प्रमेय-का भी अभाव ही प्राप्त होगा। यदि शब्द तथा शब्दाशोका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक शब्दप्रयोगके बिना ही होता है तो विकल्पका अभिलापवत्त्व लक्षण अव्याप्त हो जायगा और जिस तरह शब्द तथा शब्दाशोका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक अन्य शब्दके प्रयोगके बिना ही हो जाता है उसी तरह 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प भी शब्दप्रयोगकी योग्यताके बिना ही हो जायँगे, तथा चक्षुरादिबुद्धियाँ शब्द प्रयोगके बिना ही नील-पीतादि पदार्थोंका निश्चय करनेके कारण स्वत व्यवसायात्मक सिद्ध हो जायँगी। अत विकल्पका अभिलाप-वत्त्व लक्षण दूषित है। विकल्पका निर्दोष लक्षण है—समारोपविरोधी ग्रहण या निश्चयात्मकत्व।

सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियोकी वृत्तियोको प्रत्यक्ष प्रमाण मानते है। अकलङ्कदेव कहते हैं कि—श्रोत्रादि इन्द्रियोकी वृत्तियाँ तो तैमिरिक रोगीको होनेवाले द्विचन्द्रज्ञान तथा अन्य सशयादिज्ञानोमे भी प्रयोजक होती हैं, पर वे सभी ज्ञान प्रमाण तो नही है।

नैयायिक इन्द्रियों और अर्थ के सन्निकर्षको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इसे भी अकलकदेवने सर्वज्ञके ज्ञानमे अव्याप्त बताते हुये लिखा है कि—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंको विषय करनेवाला सर्वज्ञका ज्ञान प्रतिनियत शक्तिवाली इन्द्रियोसे तो उत्पन्न नही हो सकता, पर प्रत्यक्ष तो अवश्य है। अतः सन्निकर्ष अव्याप्त है। चक्षुके द्वारा रूपका प्रत्यक्ष सन्निकर्षके बिना ही हो जाता है। चाक्षुष प्रत्यक्षमें सन्निकर्षकी आवश्यकता नही है। काँच आदिसे व्यवहित पदार्थका ज्ञान सन्निकर्षकी अनावश्यकता सिद्ध कर ही देता है।

प्रत्यक्षके भेद—अकलकदेवने प्रत्यक्षके तीन भेद किये है—१–इन्द्रिय प्रत्यक्ष २–अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष

३—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष । चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रूपादिकका स्पष्ट ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। मनके द्वारा सुख आदिकी अनुभूति मानस प्रत्यक्ष है। अकलंकदेवने लघीयस्त्रयस्ववृत्तिमें स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध-को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि—मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनि-बोध ये सब मतिज्ञान हैं, मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे इनकी उत्पत्ति होती है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको जब संव्यवहारमें प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्धि होनेके कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष मान लिया, तब उसी तरह मनोमति रूप स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानको भी प्रत्यक्ष ही कहना चाहिये। परन्तु संव्यवहार इन्द्रियजन्य मतिको तो प्रत्यक्ष मानता है, पर स्मरण आदिको नही। अतः अकलङ्ककी स्मरण आदिको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माननेकी व्याख्या उन्ही तक सीमित रही। वे शब्दयोजनाके पहिले स्मरण आदिको मतिज्ञान और शब्दयोजनाके बाद इन्हीको श्रुतज्ञान भी कहते है। पर उत्तरकालमे असकीर्ण प्रमाण विभागके लिए—'इन्द्रिय और मनोमति साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति आदि परोक्ष, श्रुत परोक्ष और अवधि मन पर्यय तथा केवलज्ञान ये तीन ज्ञान परमार्थप्रत्यक्ष' यही व्यवस्था सर्व-स्वीकृत हुई।

परमार्थप्रत्यक्ष आत्ममात्रसे उत्पन्न होता है। अवधि और मन पर्ययज्ञान सीमित विषयवाले है तथा केवलज्ञान सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट आदि समस्त पदार्थोंको जानता है। परमार्थप्रत्यक्षकी सिद्धिके लिए अकलकदेवका निम्नलिखित युक्तिवाद अन्तिम है—

"ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थानवलोकते॥"—न्यायवि० श्लो० ४६५-६६।

अर्थात्—ज्ञस्वभाव आत्माके ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर कोई ज्ञेय शेष नही रह जाता जो उस ज्ञानका विषय न हो सके। चूँकि ज्ञान स्वभावत अप्राप्यकारी है अत. उसे पदार्थके पास या पदार्थों-को ज्ञानके पास आनेकी भी आवश्यकता नही है। अतः ऐसे निरावरण अप्राप्यकारी पूर्णज्ञानसे समस्त पदार्थों-का बोध होना ही चाहिए। सबसे बड़ी बाधा ज्ञानावरणकी थी, सो जब वह समूल नष्ट हो गया तो निरावरण ज्ञान स्वज्ञेयको जानेगा ही।

इस तरह इस प्रत्यक्ष प्रस्तावमे प्रत्यक्षका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

भट्टाकलंकदेव

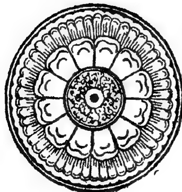
न्यायविनिश्चय मूलग्रन्थके प्रणेता जैनन्यायवाङ्मयके अमर प्रतिष्ठापक, उद्भटवादी, जैनशासनके चिरस्मरणीय प्रभावक, अनेकान्तवादके उपस्तोता आचार्यवर भट्टाकलकदेव हैं। जिनके पुण्यगुणो-का स्मरण, जिनके त्यागकी पूतगाथा आज भी जीवनमें प्रेरणा और स्फूर्ति देती है। जो न केवल जैन सम्प्रदायके ही अमररत्न थे, किन्तु भारतमाताका मुकुट जिन इनेगिने नररत्नोंसे आलोकित है उनमे अग्रणी थे। वे भारतीके भालकी शोभा थे। शास्त्रार्थोंमें जिन्हें दैवीबल भी परास्त नही कर सकता था उन शब्द-अर्थके धनी, पर अकिञ्चन अकलंकब्रह्माके मुख्य ग्रन्थ न्यायविनिश्चयका तदनुरूप व्याख्याकार वादिराजसूरि-के विवरणके साथ प्रथमबार प्रकाशन किया जाता है। ग्रन्थके प्रत्यक्ष प्रस्तावका संक्षिप्त विषयपरिचय पहिले लिखा जा चुका है। ग्रन्थकारोके विषयमें, खासकर उनके समय आदिका, ज्ञात परिचय कराना अवसरप्राप्त है।

अकलंकदेवके समय आदिके विषयमें 'अकलंकग्रन्थत्रय और उसके कर्ता' लेखमें विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। यह लेख इसी स्मृति ग्रंथके खण्ड ४ में प्रकाशित है उसमें ग्रन्थोके आन्तर परीक्षणके

आधारसे इनका समय सन् ७२० से ७८० तक निश्चित किया है। धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्यपरिवारके समयकी अवधिके जो दशक निश्चित किए गए हैं, श्री राहुल सांकृत्यायनकी सूचनानुसार उनमें संशोधनकी गंजाइश है। निशीथचूर्णिमें दर्शनप्रभावक ग्रन्थोंमें जो सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख पाया जाता है, वह सिद्धिविनिश्चय निश्चयतः अकलंककृत ही है और निशीथचूर्णिके कर्त्ता वे ही जिनदासगणि महत्तर हैं जिनने शकसं० ५९८ अर्थात् सन् ६७६ में नन्दीचूर्णिकी रचना की थी। ऐसी दशामें सन् ६७६ के आसपास रची गई निशीथचूर्णिमें अकलंकके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख एक ऐसा मूल प्रमाण बन सकता है जिसके आधार-से न केवल अकलंकका ही समय निश्चित किया जा सकता है, अपितु इस युगके अनेक बौद्धाचार्य और वैदिक आचार्योंके समयपर भी मौलिक प्रकाश डाला जा सकता है।

वादिराजसूरिका समय सुनिश्चित है। उनने अपना पार्श्वनाथचरित्र शक सं० ९४७ कार्तिक सुदी ३ को बनाया था। ये उस समय चौलुक्य-चक्रवर्ती जयसिंहदेवकी राजधानीमें निवास करते थे। उनके इस समयकी पुष्टि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणोंसे भी होती है। अतः सन् १०२५ के आसपास ही इस ग्रन्थकी रचना हुई होगी। जैन समाजके सुप्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थमें वादिराजसूरिपर साङ्गोपाङ्ग लिखा है जो दृष्टव्य है।

इस तरह ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें कुछ खास ज्ञातव्य मुद्दोंका निर्देश किया गया है।



आचार्य प्रभाचन्द्र और उनका प्रमेयकमलमार्तण्ड

सूत्रकार माणिक्यनन्दि

जैनन्यायशास्त्रमें माणिक्यनन्दि आचार्यका परीक्षामुखसूत्र आद्य सूत्रग्रन्थ है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्याचार्य लिखते हैं कि—

"अकलङ्कवचोम्भोधेः उद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥"

अर्थात्—जिस धीमान्ने अकलङ्कके वचनसागरका मथन करके न्यायविद्यामृत निकाला उस माणिक्यनन्दिको नमस्कार हो। इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि माणिक्यनन्दिने अकलङ्कन्यायका मन्थनकर अपना सूत्रग्रन्थ बनाया है। अकलङ्कदेवने जैनन्यायशास्त्रकी रूपरेखा बाँधकर तदनुसार दार्शनिकपदार्थोंका विवेचन किया है। उनके लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह आदि न्यायप्रकरणोंके आधारसे माणिक्यनन्दिने परीक्षामुखसूत्रकी रचना की है। बौद्धदर्शनमें हेतुमुख, न्यायमुख जैसे ग्रन्थ थे। माणिक्यनन्दि जैनन्यायके कोषागारमें अपना एकमात्र परीक्षामुखरूपी माणिक्यको ही जमा करके अपना अमरस्थान बना गए हैं। इस सूत्रग्रन्थकी संक्षिप्त पर विशदसारवाली निर्दोष शैली अपना अनोखा स्थान रखती है। इसमें सूत्रका यह लक्षण—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥"

सर्वांशतः पाया जाता है। अकलङ्कके ग्रन्थोंके साथही साथ दिग्नागके न्यायप्रवेश और धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुका भी परीक्षामुखपर प्रभाव है। उत्तरकालीन वादिदेवसूरिके प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार और हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसापर परीक्षामुख सूत्र अपना अमिट प्रभाव रखता है। वादिदेवसूरिने तो अपने सूत्र ग्रन्थके बहु भागमें परीक्षामुखको अपना आदर्श रखा है। उन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारमें नय, सप्तभंगी और वादका विवेचन बढ़ाकर उसके आठ परिच्छेद बनाए हैं जबकि परीक्षामुखमें मात्र प्रमाणके परिकर ही वर्णन होनेसे ६ परिच्छेद हो हैं। परीक्षामुखमें प्रज्ञाकरगुप्तके भाविकारणवाद और अतीतकारणवादकी समालोचना की गई है। प्रज्ञाकर गुप्तके वार्तिकालङ्कारका भिक्षुवर राहुलसांकृत्यायनके अटूट साहस परिश्रमके फलस्वरूप उद्धार हुआ है। उनकी प्रेसकापीमें भाविकारणवाद और भूतकारणवादका निम्नलिखित शब्दोंमें समर्थन किया गया है—

"अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षया समानम्—यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि। नचानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्य कारणत्वात्—

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्।
जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥
तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम्।
कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते ॥

भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव। मत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति।"—प्रमाणवार्तिकालङ्कार, पृ० १७६। परीक्षामुखके निम्नलिखित सूत्रमें प्रज्ञाकरगुप्तके इन दोनो सिद्धान्तोंका खंडन किया गया है—

"भाव्यतीतयो मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम्। तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्।"—परीक्षामु० ३।६२, ६३।

छठे अध्यायके ५७वें सूत्रमे प्रभाकरकी प्रमाणसंख्याका खंडन किया है। प्रभाकर गुरुका समय ईसाकी ८ वी सदीका प्रारम्भिक भाग है।

माणिक्यनन्दिका समय—प्रमेयरत्नमालाकारके उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दि आचार्य अकलंकदेवके अनन्तरवर्ती है। मैंने अकलङ्कग्रन्थत्रय और उसके कर्ता लेखमें अकलंकदेवका समय ई० ७२० से ७८० तक सिद्ध किया है। अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रय और न्यायविनिश्चय आदि तर्कग्रन्थोका परीक्षामुखपर पर्याप्त प्रभाव है, अत माणिक्यनन्दिके समयकी पूर्वावधि ई० ८०० निर्बाध मानी जा सकती है। प्रज्ञाकरगुप्त (ई० ७२५ तक) प्रभाकर (८वी सदीका पूर्वभाग) आदिके मतोका खडन परीक्षामुखमे है, इससे भी माणिक्यनन्दिकी उक्त पूर्वावधिका समर्थन होता है। आ० प्रभाचन्द्रने परीक्षामुखपर प्रमेयकमलमार्त्तण्डनामक व्याख्या लिखी है। प्रभाचन्द्रका समय ई० की ११ वी शताब्दी है। अत इनकी उत्तरावधि ईसाकी १०वी शताब्दी समझना चाहिए। इस लम्बी अवधिको संकुचित करनेका कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टिमे नही आया। अधिक संभव यही है कि ये विद्यानन्दके समकालीन हो और इसलिए इनका समय ई० ९वी शताब्दी होना चाहिए।

आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयविषयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागोमे बॉट दिया है—१ प्रभाचन्द्रकी इतर आचार्योंसे तुलना, २ समय विचार, ३ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ।

प्रभाचन्द्रकी इतर आचार्योंसे तुलना

इस तुलनात्मक भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविकासको लक्ष्यमे रखकर निम्नलिखित उपभागोमे क्रमश. विभाजित कर दिया है। १ वैदिक दर्शन—वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण, महाभारत, वैयाकरण, साख्य योग, वैशेषिक न्याय, पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा। २ अवैदिक दर्शन—बौद्ध, जैन—दिगम्बर, श्वेताम्बर।

वैदिकदर्शन

वेद और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमे पुरातनवेद ऋग्वेदसे "पुरुष एवेदं यद्भूतं" "हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे" आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये है। कुछ अन्य वेदवाक्य भी न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७२६) मे उद्धृत है—"प्रजापति. सोमं राजानमन्वसृजत्, ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त" "रुद्र वेदकर्त्तारम्" आदि। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७७०) में "आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मण ससर्ज, बाहुभ्या क्षत्रियमुरूभ्या वैश्यं पद्भ्या शूद्रम्" यह वाक्य उद्धृत है। यह ऋग्वेदके "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" आदि सूक्तकी छाया रूप ही है।

उपनिषत् और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनो न्यायग्रन्थोमे ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोमें अनेको उपनिषदोके वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं। इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषत्, श्वेताश्वतरोपनिषत्, तैत्तिर्युपनिषत्, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, रामतापिन्युपनिषत्, जाबालोपनिषत् आदि उपनिषत् मुख्य हैं। इनके अवतरण अवतरणसूचीमें देखना चाहिये।

स्मृतिकार और प्रभाचन्द्र—महर्षि मनुकी मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने कारकसाकल्यवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ८) मे याज्ञवल्क्यस्मृति (२।२२) का

"लिखित साक्षिणो भुक्तिः" वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७५) में मनुस्मृतिका "अकुर्वन् विहितं कर्म" श्लोक उद्धृत है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) मे मनुस्मृतिके "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" श्लोकका "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इस कूर्मपुराणके वाक्यसे विरोध दिखाया गया है।

पुराण और प्रभाचन्द्र—प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मत्स्यपुराणका "प्रतिमन्वतरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते।" यह श्लोकांश उद्धृत मिलता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में कूर्मपुराण (अ० १६) का "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

व्यास और प्रभाचन्द्र—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ५८०) मे महाभारत वनपर्व (अ० ३०।२८) से "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ...." श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३९८ तथा ३०९) मे भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक 'व्यासवचन' के नामसे उद्धृत हैं—"यथैधांसि समिद्धोऽग्नि ...." [गीता ४।३७] "द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्यः ...." (गीता १५।१६, १७) इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३५८) मे गीता (२।१६) का "नाभावो विद्यते सतः" अंश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलिका समय इतिहासकारोंने ईसवी सन्से पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेन्द्रव्याकरणके साथ ही पाणिनिव्याकरण और उसके महाभाष्यका गम्भीर परिशीलन और अध्ययन किया था। वे शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमें स्वयं ही लिखते है कि—

'शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताऽहर्निशम्'

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्करमे पद पदपर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७५) में वैयाकरणोंके मतसे गुण शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य (५।१।११९) से "यस्य हि गुणस्य भावात् शब्दे द्रव्यविनिवेशः" इत्यादि वाक्य उद्धृत किया गया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी उपयोगिताका समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमे किया है।

भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र—ईसाकी ७वी शताब्दीमें भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैतदर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षको वाक्यपदीयकी अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोके साधुत्व-असाधुत्व विचारमे पूर्वपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्यपदीयके द्वितीयकाण्डमे आए हुए "आख्यातशब्दः" आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका सविस्तार खण्डन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्रन्यासके अनेक प्रकरणोंमें वाक्यपदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षमें वैखरी आदि चतुर्विधवाणीके स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो "स्थानेषु विवृते वायौ" आदि तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नही हैं। टीकामे उद्धृत हैं।

व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—योगसूत्रपर व्यासऋषिका व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। इसका समय ईसाकी पञ्चम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १०९) में योगदर्शनके आधारसे ईश्वरवादका पूर्वपक्ष करते समय योगसूत्रोंके अनेक उद्धरण दिए है। इसके विवेचनमे व्यास

भाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। न्यायकुमुदचन्द्रमें योगभाष्यसे "चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपम्" "चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा" आदि वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र—ईश्वरकृष्णकी सांख्यसप्तति या सांख्यकारिका प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। सांख्यदर्शनके मूलसिद्धान्तोंका सांख्यकारिकामें संक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्वत्र सांख्यकारिकाओंका ही विशेष उपयोग किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें सांख्योंके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध सांख्यग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। यथा–"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" "आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः" "प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्येत" "प्रकृतिपरिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म" आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंके सिवाय कोई अन्य प्राचीन सांख्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

माठराचार्य और प्रभाचन्द्र—सांख्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरवृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सांख्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ कहीं सांख्यकारिकाओंकी व्याख्याका प्रसंग आया है, माठरवृत्तिके ही आधारसे व्याख्या की गई है।

प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र—कणादसूत्रपर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवी शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्तपादभाष्यकी "एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः" इस पंक्तिको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५३१) में 'पदार्थप्रवेशकग्रन्थ' के नामसे उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंकी षट्पदार्थपरीक्षाका यावत् पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उसकी पुरातनटीका व्योमवतीसे ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २७०) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें 'प्रशस्तमतिना च' लिखकर "सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारो" इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसंग्रहकी पंजिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत है। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते हैं, पर इनका कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

व्योमशिव और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों ग्रन्थोंमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही व्योमवतीको अपनाया है किन्तु अनेक मतोंके खंडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अंशोंको न्यायकुमुदचन्द्रकी टिप्पणीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके विषयमें विद्वानोंका मतभेद चला आ रहा है। डॉ० कीथ इन्हें नवमशताब्दीका कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हें छठवीं शताब्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तारसे विचार करता हूँ—

राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली' टीकाकी 'पंजिका' में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीकाओंका इस क्रमसे निर्देश किया है—सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणावली' (उदयन) और उसके बाद 'लीलावती' (श्रीवत्साचार्य)। ऐतिह्यपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम संगत जान पड़ता है। यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

व्योमशिवाचार्य शैव थे। अपनी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं

लिखा। पर रणिपद्रपुर रानोद, वर्तमान नारोद ग्रामकी एक वापी प्रशस्ति[1] से इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्व-विषयक बहुत-सी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

"कदम्बगुहाधिवासी मुनीन्द्रके शंखमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तेरम्बिपाल, तेरम्बिपालके आमर्दकतीर्थनाथ और आमर्दकतीर्थनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली तार्किक शिष्य हुए। पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है; क्योंकि उसी प्रशस्ति-शिलालेखमे अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि—"इनके वचनोका खण्डन आज भी बडे-बडे नैयायिक नही कर सकते।"[2] स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रंथोमे पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर ये ही हो। इन पुरन्दरगुरुको अवन्तिवर्मा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया। अवन्तिवर्माने इन्हें अपना राज्यभार सौपकर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया। पुरन्दरगुरुने मत्तमयूरमें एक बडा मठ स्थापित किया। दूसरा मठ रणिपद्रपुरमे भी इन्होने स्थापित किया था। पुरन्दरगुरुका कवचशिव और कवचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपद्रपुरके तापसाश्रममें तप-साधन करता था। सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जो कि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था।" व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे।[3] 'ये सदनुष्ठानपरायण, मृदु-मितभाषी, विनय-नय-सयमके अद्भुत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे। इन्होने रणिपद्रपुरका तथा रणिपद्रमठका उद्धार एवं सुधार किया था और वहां एक शिवमन्दिर तथा वापीका भी निर्माण कराया था। इसी वापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है।

इनकी विद्वत्ताके विषयमे शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं—

"सिद्धान्तेषु महेश एष नियतो न्यायेऽक्षपादो मुनिः।
गम्भीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुतौ जैमिनि.॥
साख्येऽनल्पमति. स्वयं स कपिलो लोकायते सद्गुरुः।
बुद्धो बुद्धमते जिनोक्तिषु जिनः को वाथ नायं कृती॥
यद्भूत यदनागतं यदधुना किंचित्क्वचिद्वर्ध (तं) ते।
सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखिलं पश्यन् प्रमेयं महत्॥
सर्वज्ञ. स्फुटमेष कोपि भगवानन्यः क्षितौ स (श) करः।
धत्ते किन्तु न शान्तधीर्विषमदृग्रौद्रं वपुः केवलम्॥"

इन श्लोकोमे बतलाया है कि 'व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धान्तमे स्वयं शिव, न्यायमे अक्षपाद, वैशेषिक शास्त्रमे कणाद, मीमासामें जैमिनि, साख्यमे कपिल, चार्वाकशास्त्रमे बृहस्पति, बुद्धमतमे बुद्ध तथा जिनमतमे स्वय जिनदेवके समान थे। अधिक क्या; अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत् प्रमेयोको अपनी सम्यग्दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जाननेवाले सर्वज्ञ थे। और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रशरीरको धारण किए बिना वे पृथ्वीपर दूसरे शकर भगवान् ही अवतरे थे। इनके गगनेश, व्योमशम्भु, व्योमेश, गगनशशिमौलि आदि भी नाम थे।

शिलालेखके आधारसे समय—व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरको अवन्तिवर्मा राजा अपने

१. प्राचीन लेखमाला, द्वि० भाग, शिलालेख न० १०८।

२. "यस्याधुनापि विबुधैरतिकृत्यशांसि व्याहन्यते न वचनं नयमार्गविद्भिः॥"

३ "अस्य व्योमपदादिमन्त्ररचनाख्या तदभिधानस्य च।"—वापीप्रशस्तिः।

नगरमे ले गया था। अवन्तिवर्माके चाँदीके सिक्कोंपर "विजितावनिरवनिपति श्री अवन्तिवर्मा दिवं जयति" लिखा रहता है तथा संवत् २५० पढ़ा गया है।[1] यह संवत् सभवत गुप्त-सवत् है। डॉ० फ्लीट्के मतानुसार गुप्त संवत् ई० सन् ३२० की २६ फरवरीको प्रारम्भ होता है।[2] अत ५७० ई० मे अवन्तिवर्माका अपनी मुद्राको प्रचलित करना इतिहाससिद्ध है। इस समय अवन्तिवर्मा राज्य कर रहे होगे। तथा ५७० ई० के आसपास ही वे पुरन्दरगुरुको अपने राज्यमे लाए होगे। ये अवन्तिवर्मा मोखरीवशीय राजा थे। शैव होनेके कारण शिवोपासक पुरन्दरगुरुको अपने यहाँ लाना भी इनका ठीक ही था। इनके समयके सम्बन्धमे दूसरा प्रमाण यह है कि—वैसवशीय राजा हर्षवर्द्धनकी छोटी बहिन राज्यश्री, अवन्तिवर्माके पुत्र ग्रहवर्माको विवाही गई थी। हर्षका जन्म ई० ५९० मे हुआ था। राज्यश्री उससे १ या २ वर्ष छोटी थी। ग्रहवर्मा हर्षसे ५–६ वर्ष बडा जरूर होगा। अत उसका जन्म ५८४ ई० के करीब मानना चाहिए। इसका राज्यकाल ई० ६०० से ६०६ तक रहा है। अवन्तिवर्माका यह इकलौता लडका था। अत मालूम होता है कि ई० ५८४ में अर्थात् अवन्तिवर्माकी ढलती अवस्थामे यह पैदा हुआ होगा। अस्तु, यहाँ तो इतना ही प्रयोजन है कि ५७० ई० के आसपास ही अवन्तिवर्मा पुरन्दरको अपने यहाँ ले गए थे।

यद्यपि सन्यासियोमे शिष्य-परम्पराके लिए प्रत्येक पीढ़ीका समय २५ वर्ष मानना आवश्यक नही है; क्योंकि कभी-कभी २० वर्षमे ही शिष्य-प्रशिष्योंकी परम्परा चल जाती है। फिर भी यदि प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष ही मान लिया जाय तो पुरन्दरसे तीन पीढीके बाद हुए व्योमशिवका समय सन् ६७० के आसपास सिद्ध होता है।

दार्शनिक ग्रन्थोके आधारसे समय—व्योमशिव स्वय ही अपनी व्योमवती टीका (पृ० ३९२) में श्रीहर्षका एक महत्त्वपूर्ण ढगसे उल्लेख करते है। यथा—

"अत एव मदीय शरीरमित्यादिप्रत्ययेष्वात्मानुरागसद्भावेऽपि आत्मनोऽवच्छेदकत्वम् श्रीहर्ष देवकुलमिति ज्ञाने श्रीहर्षस्येव उभयत्रापि बाधकसद्भावात्, यत्र ह्यनुरागसद्भावेऽपि विशेषणत्व बाधकमस्ति तत्रावच्छेदकत्वमेव कल्प्यते इति। अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्। आत्मनि कर्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति बाधकम् ।"

यद्यपि इस सन्दर्भका पाठ कुछ छूटा हुआ मालूम होता है फिर भी 'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्' यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इससे साफ मालूम होता है कि श्रीहर्ष (606-647 A. D राज्य) व्योमशिवके समयमें विद्यमान थे। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्योमशिव श्रीहर्षके बहुत बाद होकर भी ऐसा उल्लेख कर सकते है, परन्तु जब शिलालेखसे उनका समय ई० सन् ६७० के आसपास है तथा श्रीहर्षकी विद्यमानताका वे इस तरह जोर देकर उल्लेख करते है तब उक्त कल्पनाको स्थान ही नही मिलता।

व्योमवतीका अन्तःपरीक्षण—व्योमवती (पृ० ३०६,३०७,६८०) मे धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक (२-११,१२ तथा १-६८,७२) से कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। इसी तरह व्योमवती (पृ० ६१७) में धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु प्रथमपरिच्छेदके "डिण्डिकराग परित्यज्य अक्षिणी निमील्य" इस वाक्यका प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमाणवार्तिककी और भी बहुत-सी कारिकाएँ उद्धृत देखी जाती हैं।

१ देखो, भारतके प्राचीन राजवश, द्वि० भाग, पृ० ३७५।

२. देखो, भारतके प्राचीन राजवश, द्वितीय भाग, पृ० २२९।

व्योमवती (पृ० ५९१,५९२) में कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिककी अनेक कारिकाएँ उद्धृत हैं। व्योमवती (पृ० १२९) में उद्योतकरका नाम लिया है, भर्तृहरिके शब्दाद्वैतदर्शनका (पृ० २० ख) खण्डन किया है और प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषवादका भी (पृ० ५४०) खंडन किया गया है।

इनमें भर्तृहरि, धर्मकीर्ति, कुमारिल तथा प्रभाकर ये सब प्राय: समसामयिक और ईसाकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् हैं। उद्योतकर छठी शताब्दीके विद्वान् हैं। अतः व्योमशिवके द्वारा इन समसामयिक एवं किंचित्पूर्ववर्ती विद्वानोंका उल्लेख तथा समालोचनका होना संगत ही है। व्योमवती (पृ० १५) में बाणकी कादम्बरीका उल्लेख है। बाण हर्षकी सभाके विद्वान् थे, अतः इसका उल्लेख भी होना ठीक ही है।

व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती ग्रन्थकारोंमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धर्षि, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

शान्तरक्षितने वैशेषिक-सम्मत षट्पदार्थोंकी परीक्षा की है। उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शंकरस्वामी नामक नैयायिकका मत भी पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परन्तु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमें प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते हैं। (तुलना—तत्त्वसंग्रह, पृ० २०६ तथा व्योमवती, पृ० ३४३।) तत्त्वसंग्रहकी पंजिका (पृ० २०६) में व्योमवती (पृ० १२९) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई० की आठवीं शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। (देखो, तत्त्वसंग्रहकी भूमिका, पृ० xcvi)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) में व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्त पदकृत्य उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा (पृ० ६) में की गई है। विद्यानन्द ईसाकी नवमशताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती हैं।

जयन्तकी न्यायमंजरी (पृ० २३) में व्योमवती (पृ० ६२१) के अनर्थजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समर्थन किया है, साथ ही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के फलविशेषणपक्षको स्वीकार कर कारकसामग्रीको प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९वीं शताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करेंगे।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीकामें (पृ० १०८) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमें 'यत:' पदका अध्याहार करते हैं तथा (पृ० १०२) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीकामें (पृ० ५५६) 'यत:' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमें किया है तथा (पृ० ५६१) लिंगपरामर्शज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A.D. है।

प्रभाचन्द्र आचार्यने मोक्षनिरूपण (प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ३०७) आत्मस्वरूपनिरूपण (न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा०, पृ० ११०) समवायलक्षण (न्यायकुमु०, पृ० २९५, प्रमेयकमलमा०, पृ० ६०४) आदिमें व्योमवती (पृ० २०, ३९३, १०७) का पर्याप्त सहारा लिया है। स्वसंवेदनसिद्धिमें व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका खण्डन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली (पृ० ४) तथा किरणावलीमें व्योमवती (पृ० २० क)

के "नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्" "यथा प्रदीपसन्तान।" इस अनुमान-को 'तार्किकाः' तथा 'आचार्याः' शब्दके साथ उद्धृत किया है। कन्दली (पृ० २०) मे व्योमवती (पृ०१४९) के 'द्रव्यत्वोपलक्षितः समवायः द्रव्यत्वेन योग' इस मतकी आलोचना की गई है। इसी तरह कन्दली (पृ० १८) में व्योमवती (पृ० १२९) के 'अनित्यत्वं तु प्रागभावप्रध्वंसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया है। कन्दली (पृ० २००) में व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमान-लक्षणमे विद्याके सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके संशयादिका व्यवच्छेद करना' तथा स्मरणके व्यवच्छेदके लिये 'द्रव्यादिषु उत्पद्यते' इस पदका अनुवर्त्तन करना' इन दो मतोका समालोचन किया है। कन्दलीकार श्रीधरका समय कन्दलीके अन्तमे दिए गए "त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे" पदके अनुसार ९१३ शक अर्थात् ९९१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ९८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चय-विवरण (लिखित पृ० १११ B. तथा १११ A) मे व्योमवतीसे पूर्वपक्ष करते है। वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३१८ तथा ४१८) मे पूर्वपक्षरूपसे व्योमवती-का उद्धरण देते है।

सिद्धर्षि न्यायावतारवृत्ति (पृ० ९) मे, हेमचन्द्र प्रमाणमीमासा (पृ० ७) मे तथा गुणरत्न अपनी षड्दर्शनसमुच्चयकी वृत्ति (पृ० ११४ A) मे व्योमवतीके प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम रूप प्रमाणत्रित्वकी-वैशेषिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते है। इस तरह व्योमवतीकी सक्षिप्त तुलनासे ज्ञात हो सकता है कि व्योम-वतीका जैनग्रन्थोंसे विशिष्ट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम व्योमशिवका समय शिलालेख तथा उनके ग्रन्थके उल्लेखोके आधारसे ईस्वी सातवी शताब्दीका उत्तर भाग अनुमान करते है। यदि ये आठवी या नवमी शताब्दीके विद्वान् होते तो अपने सम-सामयिक शंकराचार्य और शान्तरक्षित जैसे विद्वानोका उल्लेख अवश्य करते। हम देखते है कि—व्योमशिव शांकरवेदान्तका उल्लेख भी नही करते तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमे अलौकिकार्थख्याति, स्मृतिप्रमोष आदि-का खण्डन करनेपर भी शकरके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादका नाम भी नही लेते। व्योमशिव जैसे बहुश्रुत एवं सैकड़ो मतमतान्तरोका उल्लेख करनेवाले आचार्यके द्वारा किसी भी अष्टमशताब्दी या नवम शताब्दीवर्त्ती आचार्यके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तमशताब्दीवर्ती होनेका प्रमाण है।

अतः डॉ० कीथका इन्हें नवमी शताब्दीका विद्वान् लिखना तथा डॉ० एस० एन० दासगुप्ताका इन्हे छठी शताब्दीका विद्वान् बतलाना ठीक नही जँचता।

श्रीधर और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओमे न्यायकन्दली टीकाका भी अपना अच्छा स्थान है। इसकी रचना श्रीधरने शक ९१३ (ई० ९९१) मे की थी। श्रीधराचार्य अपने पूर्व टीकाकार व्योमशिवका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमे नही चूकते। व्योमशिव बुद्धयादि विशेष गुणोकी सन्ततिके अत्यन्तोच्छेदको मोक्ष कहते है और उसकी सिद्धिके लिए 'सन्तानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं (प्रश० व्यो०, पृ० २० क)। श्रीधर आत्यन्तिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सन्तानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताते हैं (कन्दली, पृ० ४)। आ० प्रभाचन्द्रने भी वैशेषिकोको मुक्तिका खण्डन करते समय न्यायकुमुद० (पृ ८२६) और प्रमेयकमल० (पृ० ३१८) मे 'सन्तानत्वात्' हेतुको पाकजपरमाणुओको रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताया है। इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोमे हम कन्दलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोपर देखते हैं।

वात्सायन और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर वात्सायनकृत न्यायभाष्य उपलब्ध है। इनका समय

ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है। वात्सायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोंसे ही इनका निर्देश किया गया है।

उद्योतकर और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर न्यायवार्तिक ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६वीं सदी, अन्तत: सातवीं सदीके पूर्वपादके विद्वान हैं। इन्होंने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयके खण्डनके लिए न्याय वार्तिक बनाया था। इनके न्यायवार्तिकका खण्डन धर्मकीर्ति (ई० ६३५ के बाद) ने अपने प्रमाणवार्तिकमें किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सृष्टिकर्तृत्व प्रकरणके पूर्वपक्षमें (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोंको 'वार्तिककारेणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें एकाधिकस्थानोंमें 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। न्यायकुमुदचन्द्रके षोडशपदार्थवादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पर्याप्त पुष्टि पाया है। "पूर्ववच्छेषवत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिककारकृत विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें खंडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमत्वका "भावाभावयोस्तद्वत्ता" यह लक्षण प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

भट्ट जयन्त और प्रभाचन्द्र—भट्ट जयन्त जरन्नैयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्यायसूत्रोंके आधारसे न्यायकलिका और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे हैं। न्यायमञ्जरी तो कतिपय न्यायसूत्रोंकी विशद व्याख्या है। अब हम भट्ट जयन्तके समयका विचार करते हैं—

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम संस्करण विजयनगरं सीरीजमें सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके सपादक म० म० गंगाधर शास्त्री मानवल्ली हैं। उन्होंने भूमिकामें लिखा है कि—"जयन्तभट्टका गंगेशोपाध्यायने उपमान-चिन्तामणि (पृ० ६१) मे जरन्नैयायिक शब्दसे उल्लेख किया है, तथा जयन्तभट्टने न्यायमजरी (पृ० ३१२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य-टीकासे "जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः" यह वाक्य 'आचार्यैः' करके उद्धृत किया है। अतः जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D.) से उत्तर तथा गंगेश (1175 A. D.) से पूर्व होना चाहिये। इन्हींका अनुसरण करके न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक प० सूर्यनारायणजी शुक्लने, तथा 'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास' के लेखकोंने भी जयन्तको वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधारपर इनका समय ९वीसे ११वी शताब्दी तक मानते थे।[1] अत जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्री-द्वारा "जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः" इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय 'न्यायसूची निबन्ध' के अन्तमें स्वयं दिया है। यथा—

"न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे॥"

इस श्लोकमें ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादजीने 'वत्सर' शब्दसे शकसंवत् लिया है।[2] डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रम संवत् लेते हैं।[3] म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं[4] कि 'तात्पर्यटीकाकी परिशुद्धिटीका बनानेवाले

१. हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लॉजिक, पृ० १४६।
२. न्यायवार्तिक-भूमिका, पृ० १४५।
३. हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लॉजिक, पृ० १३३।
४. हिस्ट्री एंड बिब्लोग्राफी ऑफ न्यायवैशेषिक लिटरेचर, Vol. III, पृ० १०१।

आचार्य उदयनने अपनी 'लक्षणावली' शक सं० ९०६ (984 A. D) मे समाप्त की है। यदि वाचस्पति-का समय शक सं० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उसपर परिशुद्धि जैसी टीकाका बन जाना संभव मालूम नही होता।

अतः वाचस्पतिमिश्रका समय विक्रम संवत् ८९८ (841 A. D.) प्राय सर्वसम्मत है। वाचस्पति-मिश्रने वैशेषिकदर्शनको छोडकर प्राय सभी दर्शनोंपर टीकाएँ लिखी हैं। सर्वप्रथम इन्होने मंडनमिश्रके विधि-विवेकपर 'न्यायकणिका' नामकी टीका लिखी है, क्योकि इनके दूसरे ग्रन्थोमे प्राय इसका निर्देश है। उसके बाद मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' तथा 'तत्त्वबिन्दु'; इन दोनो ग्रन्थोंका निर्देश तात्पर्य-टीकामे मिलता है, अत उनके बाद 'तात्पर्य-टीका' लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथ ही 'न्यायसूची-निबन्ध' लिखा होगा, क्योकि न्यायसूत्रोंका निर्णय तात्पर्य-टीकामे अत्यन्त अपेक्षित है। 'साख्यतत्त्वकौमुदी' में तात्पर्य-टीका उद्धृत है, अत तात्पर्यटीकाके बाद 'साख्यतत्त्वकौमुदी' की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीका-में 'साख्यतत्त्वकौमुदी' का निर्देश है, अत निर्दिष्ट कौमुदीके बाद 'तत्त्ववैशारदी' रची गई। और इन सभी ग्रन्थोंका 'भामती' टीकामे निर्देश होनेसे 'भामती' टीका सबके अन्तमे लिखी गई है।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध हैं—वाचस्पतिमिश्र अपनी आद्यकृति 'न्यायकणिका'के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीकारको बडे महत्त्वपूर्ण शब्दोमे गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा—

"अज्ञानतिमिरशमनी परदमनीं न्यायमञ्जरी रुचिराम्।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे॥"

अर्थात्—जिनने अज्ञानतिमिरका नाश करनेवाली, प्रतिवादियोका दमन करनेवाली, रुचिर न्याय-मंजरीको जन्म दिया उन समर्थ विद्यातरु गुरुको नमस्कार हो।

इस श्लोकमें स्मृत 'न्यायमञ्जरी' भट्ट जयन्तकृत न्यायमञ्जरी जैसी प्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ही होनी चाहिये। अभी तक कोई दूसरी न्यायमञ्जरी तो सुननेमें भी नही आई। जब वाचस्पति जयन्तको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पतिके उत्तरकालीन कैसे हो सकते हैं। यद्यपि वाचस्पतिने तात्पर्यटीकामें 'त्रिलोचनगुरून्नीत' इत्यादि पद देकर अपने गुरुरूपसे 'त्रिलोचन' का उल्लेख किया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होनेमें कोई बाधा नहीं है; क्योकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक 'जातञ्च सम्बद्धं चेत्येक कालः' इस वचनके आधारपर ही जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माना जाता है। पर, यह वचन वाचस्पतिको तात्पर्य-टीकाका नही है, किन्तु न्यायवार्तिककार श्री उद्योतकरका है (न्यायवार्तिक, पृ० २३६), जिस न्यायवार्तिकपर वाचस्पतिकी तात्पर्यटीका है। इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निर्विवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी 'हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर' में लिखते हैं[1] कि—"वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिए, क्योंकि जयन्तके ग्रन्थोपर वाचस्पतिका कोई असर देखनेमें नही आता।" 'जातञ्च' इत्यादि वाक्यके विषयमे भी उन्होने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि—"यह वाक्य किसी पूर्वाचार्यका होना चाहिये।" वाचस्पतिके पहले भी शंकरस्वामी आदि नैयायिक हुए हैं, जिनका उल्लेख तत्त्वसग्रह आदि ग्रन्थोमे पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन मानकर न्यायमञ्जरी (पृ० १२०)

१. सरस्वती भवन सीरीज़, III पार्ट।

में उद्धृत 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः' इस पद्यको टिप्पणीमें 'भामती' टीकाका लिख दिया है। पर वस्तुतः यह पद्य वाक्यपदीय (१–३४) का है और न्यायमञ्जरीकी तरह भामती टीकामें भी उद्धृत ही है, मूलका नहीं है।

न्यायसूत्रके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र (१-१-४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—'व्यवसायात्मक' पदसे सविकल्पक प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिये तथा 'अव्यपदेश्य' पदसे निर्विकल्पक ज्ञानका। संशयज्ञानका निराकरण तो 'अव्यभिचारी' पदसे हो ही जाता है, इसलिये संशयज्ञानका निराकरण करना 'व्यवसायात्मक' पदका मुख्य कार्य नहीं है। यह बात मैं 'गुरून्नीत मार्ग' का अनुगमन करके कह रहा हूँ। इसी तरह कोई व्याख्याकार 'अयमश्व' इत्यादि शब्दसंसृष्ट ज्ञानको उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्यक्षताका निराकरण करनेके लिये अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते हैं। वाचस्पति 'अयमश्व' इस ज्ञानको उभयजज्ञान न मानकर ऐन्द्रियक कहते हैं। और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस गाथाके आधारपर—

शब्दजत्वेन शाब्दश्चेत् प्रत्यक्षं चाक्षजत्वतः।
स्पष्टग्रहरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियकं हि तत्॥

इसलिये वे 'अव्यपदेश्य' पदका प्रयोजन निर्विकल्पका संग्रह करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी (पृ० ७८) में 'उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है' इस मतका 'आचार्या' इस शब्दके साथ उल्लेख किया गया है। उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्यायमञ्जरीकारने उभयजज्ञानका खण्डन किया है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्या' पदके नीचे 'तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि—यह मत वाचस्पति मिश्रका है या अन्य किसी पूर्वाचार्यका? तात्पर्य-टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नहीं मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नहीं है। व्योमवती[1] टीका (पृ० ५५५) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अतः यह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकारकी अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिकी तरफ लग सकती है; सो भी ठीक नहीं; क्योंकि वाचस्पतिने अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (सम्भवतः व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी, जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य-टीकामें स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य-टीकामें (पृ० १०२) 'यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धय फलम्' इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रने उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम

१ "न, इन्द्रियसहकारिणा शब्देन यज्जन्यते तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्, तथा ह्यकृतसमयो रूप पश्यन्नपि चक्षुषा रूपमिति न जानीते रूपमितिशब्दोच्चारणानन्तरं प्रतिपद्यत इत्युभयज ज्ञानम्; ननु च शब्देन्द्रिययोरेकस्मिन् काले व्यापाराऽसम्भवादयुक्तमेतत्। तथाहि-मनसाऽधिष्ठित न श्रोत्रं शब्दं गृह्णाति पुनः क्रियाक्रमेण चक्षुषा सम्बन्धे सति रूपग्रहणम्। न च शब्दज्ञानस्यैतावत्कालमवस्थानं सम्भवतीति कथमुभयजं ज्ञानम्? अत्रैका श्रोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियोत्पन्ना विभागमारभते तत स्वज्ञानसहायशब्दसहकारिणा चक्षुषा रूपज्ञानमुत्पद्यते इत्युभयजं ज्ञानम्। यदि वा···भवत्येवोभयजं ज्ञानम्"—प्रश० व्यो०, पृ० ५५५।

भी 'तोयालोचन, तोयविकल्प, दृष्टतज्जातीयसंस्कारोद्बोध, स्मरण, 'तज्जातीय चेदम्' इत्याकारकपरामर्श' इत्यादि बताया है।

न्यायमंजरी (पृ० ६६) मे इसी प्रकरणमे शङ्का की है कि—'प्रथम आलोचनज्ञानका फल उपादानादिबुद्धि नही हो सकती; क्योकि उसमें कई क्षणोका व्यवधान पड जाता है' ? इसका उत्तर देते हुए मजरीकारने 'आचार्या.' शब्द लिखकर 'उपादेयताज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं' इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्या' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्रा:' ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक पं० सूर्यनारायणजी न्यायाचार्यने भी उन्हीका अनुसरण करके उसे बडे टाइपमे हेडिंग देकर छपाया है। मजरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है। जो इस परामर्शात्मिक उपादेयताज्ञानको नही मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि–यह मत स्वय वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका ? यद्यपि यहाँ उन्होने अपने गुरुका नाम नहीं लिया है, तथापि जब व्योमवती[1] जैसी प्रशस्तपादकी प्राचीन टीका (पृ० ५६१) मे इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी और 'आचार्या' पदमे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होगे। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने "जातञ्च सम्बद्ध चेत्येक: काल:" इस वचनको वाचस्पतिका माननेके कारण ही उक्त दो स्थलोमे 'आचार्या:' पदपर 'वाचस्पतिमिश्रा.' ऐसी टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह कोटिमे रखा है।

भट्ट जयन्तकी समयावधि—जयन्त मजरीमे धर्मकीर्तिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मोत्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाको स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरगुप्तके 'एकमेवेद हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्त पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञा. क्रियन्ताम्' (भिक्षु राहुलजीकी वार्तिकालकारकी प्रेसकॉपी, पृ० ४४९) इस वचनका खडन करते हैं, (न्यायमंजरी, पृ० ७४)।

भिक्षु राहुलजीने टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार धर्मकीर्तिका समय ई० ६२५, प्रज्ञाकरगुप्तका ७००, धर्मोत्तर और रविगुप्तका ७२५ ईस्वी लिखा है। जयन्तने एक जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है। अत जयन्तकी पूर्वावधि ७६० A D तथा उत्तरावधि ८४० A D. होनी चाहिए। क्योकि वाचस्पतिका न्यायसूचीनिबन्ध ८४१ A. D मे बनाया गया है, इसके पहिले भी वे ब्रह्मसिद्धि, तत्त्वबिन्दु और तात्पर्यटीका लिख चुके हैं। संभव है कि वाचस्पतिने अपनी आद्यकृति न्यायकणिका ८१५ ई० के आसपास लिखी हो। इस न्यायकणिकामे जयन्तकी न्यायमजरीका उल्लेख होनेसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A. D. ही मानना समुचित ज्ञात होता है। यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्द द्वारा दी गई जयन्तकी पूर्वजावलीसे भी सगत बैठता है। अभिनन्द अपने कादम्बरीकथासारमे लिखते है कि–

"भारद्वाज कुलमे शक्ति नामका गौड ब्राह्मण था। उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ। यह शक्तिस्वामी कर्कोटवंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मंत्री थे। शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए, जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे। जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ।"

---

१ "द्रव्यादिजातीयस्य पूर्वं सुखदु.खसाधनत्वोपलब्धे: तज्ज्ञानानन्तरं यद्यत् द्रव्यादिजातीयं तत्तत्सुखसाधनमित्यविनाभावस्मरणम्, तथा चेदं द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शज्ञानम्, तस्मात् सुखसाधनमिति विनिश्चय. तत उपादेयज्ञानम्' ..."–प्रश० व्यो०, पृ० ५६१।

काश्मीरके कर्कोट वंशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३ से ७६८ A. D तक रहा है[1]। शक्तिस्वामीके, जो अपनी प्रौढ़ अवस्थामें मन्त्री होंगे, अपने मन्त्रित्वकालके पहिले ही ई० ७२० मे कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके होगे। इसके अनन्तर यदि प्रत्येक पीढ़ीका समय २० वर्ष भी मान लिया जाय तो कल्याणस्वामीके ईस्वी सन् ७४० में चन्द्र, चन्द्रके ई० ७६० में जयन्त उत्पन्न हुए और उन्होंने ईस्वी ८०० तकमे अपनी 'न्यायमंजरी' बनाई होगी। इसलिए वाचस्पतिके समयमे जयन्त वृद्ध होंगे और वाचस्पति इन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते होंगे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी आद्यकृतिमे न्यायमंजरी-कारका स्मरण किया है।

जयन्तके इस समयका समर्थक एक प्रबल प्रमाण यह है कि–हरिभद्रसूरिने अपने षड्दर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) में न्यायमंजरी (विजयानगरं सं०, पृ० १२९) के—

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः।
रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः॥
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः॥"

इन दो श्लोकोंके द्वितीय पादोंको जैसाका तैसा शामिल कर लिया है। प्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ मुनि जिनविजयजीने "जैन साहित्यसंशोधक' (भाग १ अंक १,) मे अनेक प्रमाणोसे, खासकर उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला कथामें हरिभद्रका गुरुरूपसे उल्लेख होनेके कारण हरिभद्रका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। कुवलयमाला कथाकी समाप्ति शक ७०० (ई० ७७८) मे हुई थी। मेरा इस विषयमें इतना संशोधन है कि उस समयकी आयुःस्थिति देखते हुए हरिभद्रकी निर्धारित आयु स्वल्प मालूम होती है। उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक माननेसे वे न्यायमंजरीको देख सकेंगे। हरिभद्र जैसे सैकड़ों प्रकरणोंके रचयिता विद्वान्के लिए १०० वर्ष जीना अस्वाभाविक नहीं हो सकता। अतः ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रसूरिके द्वारा न्यायमंजरीके श्लोकोंका अपने ग्रन्थमे शामिल किया जाना जयन्तके ७६० से ८४० ई० तकके समयका प्रबल साधकप्रमाण है।

आ० प्रभाचन्द्रने वात्सायनभाष्य एवं न्यायवार्त्तिककी अपेक्षा जयन्तकी न्यायमञ्जरी एवं न्यायकलिकाका ही अधिक परिशीलन एवं समुचित उपयोग किया है। षोडशपदार्थके निरूपणमें जयन्तकी न्यायमंजरीके ही शब्द अपनी आभा दिखाते हैं। प्रभाचन्द्रको न्यायमंजरी स्वभ्यस्त थी। वे कहीं-कहीं मंजरीके ही शब्दोंको 'तथा चाह भाष्यकार' लिखकर उद्धृत करते हैं। भूतचैतन्यवादके पूर्वपक्षमें न्यायमंजरीमें 'अपि च' करके उद्धृत की गई १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योंकी त्यों उद्धृत की गई हैं। जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वप्रथम खण्डन। प्रभाचन्द्रने ही किया है। न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुदचन्द्रमे उद्धृत की गई हैं।

(न्यायकुमुद० पृ० ३३६) "ज्ञातं सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवाय वा।
तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम्॥" [न्यायमं० पृ० ४४७]

(न्यायकुमुद० पृ० ४९१) "भूयोऽवयवसामान्ययोगो यद्यपि मन्यते।
सादृश्यं तस्य तु ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि॥ [न्यायमं० पृ० १४६]

(न्यायकुमुद० पृ० ५११) "नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः संगतिग्रहः।
भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेतद्भविष्यति॥" [न्यायमं० पृ० ३८]

---

१. देखो, संस्कृतसाहित्यका इतिहास, परिशिष्ट (ख), पृ० १५।

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें न्यायमंजरीका नाम लिखा जा सकता है।

वाचस्पति और प्रभाचन्द्र—षड्दर्शनटीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ई० ८४१में समाप्त किया था। इनमें अपनी तात्पर्यटीका (पृ० १६५) में सांख्योंके अनुमानके मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खंडन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४६२) में भी सांख्योंके अनुमानके इन्हीं सात भेदोंके नाम निर्दिष्ट हैं। वाचस्पतिने शांकरभाष्यकी भामती टीकामें अविद्यासे अविद्याके उच्छेद करनेके लिए "यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति ....." इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६६) में इन्हीं दृष्टान्तोंको पूर्वपक्षमें उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमें विधिविवेकके साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत न्यायकणिका टीकाका भी पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है। वाचस्पतिके उक्त ई० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका (पृ० २१७) में शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह (श्लो० २००) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—'नर्त्तकीभ्रूलताक्षेपो न ह्येकः पारमार्थिकः। अनेकाणुसमूहत्वात् एकत्वं तस्य कल्पितम् ॥" शान्तरक्षितका समय ई० ७६२ है।

शबर ऋषि और प्रभाचन्द्र—जैमिनिसूत्रपर शाबरभाष्य लिखनेवाले महर्षि शबरका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शाबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकरने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्द-नित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद आदिमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकके साथ ही साथ शाबरभाष्यकी दलीलोंको भी पूर्वपक्षमें रखा है। शाबरभाष्यसे ही "गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" यह उपवर्ष ऋषिका मत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४६४) में उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७९) में शब्दको वायवीय माननेवाले शिक्षाकार मीमांसकोंका मत भी शाबरभाष्यसे ही उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्रमें शाबरभाष्यके कई वाक्य प्रमाणरूपमें और पूर्वपक्षमें उद्धृत किए गए हैं।

कुमारिल और प्रभाचन्द्र—भट्ट कुमारिलने शाबरभाष्यपर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है—

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥" —वाक्यप० २।१२१

इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९-१०) में वाक्यपदीय (१।७) के "तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते" अंश उद्धृत होकर खंडित हुआ है। मीमांसाश्लोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लो० ५१) में वाक्यपदीय (२।१-२) में निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवादमें बड़ी प्रखरतासे की है। चीनी यात्री इत्सिगने अपने यात्राविवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय ईस्वी ७वीं शताब्दीका उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वज्ञवाद, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादिप्रमाणोंका विचार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकसे पचासों कारिकाएँ उद्धृत की हैं। शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलकी युक्तियोंका सिलसिलेवार सप्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आत्माको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आत्माकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते

समय कुमारिलकी "तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः" आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत की हैं। इसी तरह सृष्टिकर्तृत्वखंडन, ब्रह्मवादखंडन आदिमें प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ-साथ चलते हैं। सारांश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूपमें रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिककी भट्ट उम्बेककृत तात्पर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोडन भी प्रभाचन्द्रने खूब किया है। सर्वज्ञवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जाती। संभव है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहट्टीका या अन्य किसी ग्रंथ की हों।

मंडनमिश्र और प्रभाचन्द्र—आ० मंडनमिश्रके मीमांसानुक्रमणी, विधिविवेक, भावनाविवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय[1] ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने (ई० ९वीं शताब्दीका पूर्वभाग) अपनी अष्टसहस्रीमें मण्डनमिश्रका नाम लिया है। यतः मण्डनमिश्र अपने ग्रन्थोंमें सप्तमशतकवर्ती कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई०की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा ८वीं सदीका पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४९) में मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका "आहुर्विधातृ प्रत्यक्ष" श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७२) में विधिवादके पूर्वपक्षमें मंडनमिश्रके विधिविवेकमें वर्णित अनेक विधिवादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचनमें विधिविवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

प्रभाकर और प्रभाचन्द्र—शाबरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब-करीब कुमारिलके समकालीन थे। भट्ट कुमारिलका शिष्य परिवार भाट्टके नामसे ख्यात हुआ तथा प्रभाकरके शिष्य प्राभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर विपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोष या विवेकाख्याति रूप मानते हैं। ये अभावको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योंका अर्थ नियोगपरक करते हैं। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोष, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तोंका विस्तृत खंडन किया है।

शालिकनाथ और प्रभाचन्द्र—प्रभाकरके शिष्योंमें शालिकनाथका अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८वीं शताब्दी है। इन्होंने बृहतीके ऊपर ऋजुविमला नामकी पञ्जिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धान्तोंका विवेचन करनेके लिए इन्होंने प्रकरणपञ्जिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्धकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञानानुत्पत्तिको ही अन्धकार कहते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २३८) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में शालिकनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र—आद्य शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेकों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय[2] ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें शाङ्करभाष्यके आधारसे ही वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषोंका परिहार किया गया है।

सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र—शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वराचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका

१. देखो बृहती द्वि० भागकी प्रस्तावना।

२. द्रष्टव्य—अच्युतपत्र वर्ष ३, अङ्क ४ में म० म० गोपीनाथ कविराजका लेख।

नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीमृतिमोक्षविचार, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द (ईसाकी ९वीं शताब्दी) ने अष्टसहस्री (पृ० १६२) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकसे 'ब्रह्माविद्यावदिष्टं चेन्ननु' इत्यादि कारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः इनका समय भी ईसाकी ९वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य (ई० ७८८ से ८२० के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४४-४५) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४१) में ब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक (३।५।४३-४४) से "यथा विशुद्धमाकाश" आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

भामह और प्रभाचन्द्र—भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रह (पृ०२९१) में भामहके काव्यालंकारकी अपोहखण्डन वाली "यदि गौरित्यय शब्द" आदि तीन कारिकाओं-की समालोचना की है। ये कारिकाएँ काव्यालंकारके ६वें परिच्छेद (श्लोक० १७-१९) में पाई जाती हैं। तत्त्वसंग्रहकारका समय ई० ७०५–७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने (काव्यालंकार ५।६) दिङ्नागके मात्र 'कल्पनापोढ' पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्ति के 'कल्पनापोढ और अभ्रान्त' उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खंडन करते समय भामहकी अपोहखण्डनविषयक "यदि गौरित्यय" आदि तीनों कारिकायें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४३२) में उद्धृत की हैं। यह भी संभव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसंग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

बाण और प्रभाचन्द्र—प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन (राज्य ६०६ से ६४८ ई०) की सभाके कविरत्न थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। बाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोंको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आद्यश्लोक "रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये" प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २९८) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें (प्रमेयक० पृ० ३९३) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है—"कादम्बर्यादीनां कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते"–अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभा-चन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता विवादग्रस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

माघ और प्रभाचन्द्र—शिशुपालवध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है।[1] माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलातका उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविका समय ई० ६७१ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य (१।२३) का "युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो" श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६८८) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

अवैदिकदर्शन

अश्वघोष और प्रभाचन्द्र—अश्वघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है। इनके बुद्ध-चरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। सौन्दरनन्दमें अश्वघोषने प्रसङ्गतः बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थों

१. देखो, संस्कृत साहित्यका इतिहास, पृ० १४३।

का भी सारगर्भ विवेचन किया है। आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें (प्रमेयक० पृ० ६८७) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं–

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"

—सौन्दरनन्द १६।२८, २९

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र–नागार्जुनकी माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं। इन्हें शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है। माध्यमिककारिकामें इन्होंने विस्तृत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है। विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १३२) में माध्यमिकके शून्यवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी 'न स्वतो नापि परतः' और 'यथा मया यथा स्वप्नो' ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र–वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है। अभिधर्मकोश बहुत अंशोंमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३९०) में वैभाषिक सम्मत द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादका खंडन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है। उसमें यथावसर अभिधर्मकोशसे २-३ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३९५।

दिङ्नाग और प्रभाचन्द्र–आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट संस्थापकोंमें है। इनके न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं। इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है। प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोढ लक्षण किया है। इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है। इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है। भिक्षु राहुलजीने[1] दिग्नागके आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा और हेतुचक्रडमरु आदि ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ८०) में 'स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः' लिखकर प्रमाणसमुच्चयका 'प्रमाणभूताय' इत्यादि मंगलश्लोकांश उद्धृत किया है। इसी तरह अपोहवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ४३६) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है–"दिग्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् 'नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहु' इत्युक्तम्।

धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र—बौद्धदर्शनके युगप्रधान आचार्य धर्मकीर्ति ईसाकी ७वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धविद्यापीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिक-संस्कृतिपर दृढ़ प्रहार किए हैं। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोंके खंडनमें जितनी कुशलता तथा सतर्कतासे जैनाचार्योंने लक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि आदिके जैनन्यायशास्त्रके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धोंके खंडनने ही रोक रखा है। धर्मकीर्तिके समयके विषयमें मैं विशेष ऊहापोह "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावना

१. वादन्याय परिशिष्ट पृ० VI.

(पृ० १८) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाचन्द्रको गहरा अभ्यास था। इन ग्रन्थोंकी अनेको कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिककी कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमे उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी अथ से इति तक २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्षमें ज्योकी त्यो रखी गई है, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत है। वादन्यायका "हसति हसति स्वामिनि" आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमे उद्धृत है। संवेदनाद्वैतके पूर्वपक्षमे धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' आदि हेतुओका निर्देशकर बहुविध विकल्पजालोसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी "असाधनाङ्गवचन-मदोषोद्भावन द्वयो" कारिकाका और इसके विविध व्याख्यानोका सयुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमे दिया गया है। इन सब ग्रन्थोके अवतरण और उनसे की गई तुलना न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणीमे देखनी चाहिए।

प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोमे प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होने प्रमाणवार्तिकपर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है इनका समय भी ईसाकी ७वी शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवीका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलङ्कारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हीके वार्तिकालङ्कारसे भावना विधि नियोगकी विस्तृत चर्चा विद्यानन्दके ग्रन्थो द्वारा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमे अवतीर्ण हुई है। इतना विशेष है कि—विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तकृत भावना विधि आदिके खडनका भी स्थान-स्थानपर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३८०) मे प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिकालङ्कारमें किया है।[1] भिक्षु राहुल साकृत्यायनके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका खण्डन लिखा है, उसमे शान्तरक्षितके तत्त्वसग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्तके वार्तिकालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है। ये बौद्धाचार्य अपनी सस्कृतिके अनुसार सदैव जातिवादपर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्नलिखित श्लोकमे जातिवादके मदको जडता-का चिह्न बताया है—

> "वेदप्रामाण्य कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेप।
> सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये॥"

उत्तराध्ययनसूत्रमे 'कम्मुणा बम्हणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ' लिखकर कर्मणा जातिका स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जैनाचार्योंमे[2] वराङ्गचरित्रके कर्ता जटासिहनन्दिने वराङ्गचरितके २५वे अध्यायमे ब्राह्मणत्व-जातिका निरास किया है। और भी रविषेण, अमितगति आदिने जातिवादके खिलाफ थोडा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोमे सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोमे जन्मना जातिका सयुक्तिक खण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

१. इसके अवतरण अकलंकग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना, पृ० २७ मे देखना चाहिए।
२. इन आचार्योंके ग्रन्थोके अवतरणके लिए देखो न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७७८, टि० ९।

कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र—प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेदपर धर्मकीर्तिकी स्वोपज्ञवृत्ति भी उपलब्ध है। इस वृत्तिपर कर्णकगोमिकी विस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका 'अलङ्कार' शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका 'आहुर्विधातृ' श्लोक उद्धृत है। अतः इनका समय ई० ८वीं सदीका पूर्वार्ध संभव है। न्यायकुमुदचन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकरणोंपर कर्णकगोमिकी स्ववृत्तिटीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकरणोंके टिप्पणोंमें देखना चाहिये।

शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र—तत्त्वसंग्रहकार[1] शान्तरक्षित तथा तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके आचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है। शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्रावाहिक प्रसादगुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यों तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पञ्जिका अपना उन्मुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए षट्पदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खासतौरसे द्रष्टव्य हैं। तत्त्वसंग्रहकी सर्वज्ञपरीक्षामें कुमारिलकी पचासों कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्वपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेको कारिकाएँ ऐसी हैं जो कुमारिलके श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जाती। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें भी उद्धृत हैं। संभव है कि ये कारिकाएँ कुमारिलके ग्रन्थसे न लेकर तत्त्वसंग्रहसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

अर्चट और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुपर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्यने अपनी सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेकों स्थलोंमें किया है। 'हेतुलक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुके साथही साथ अर्चटकृत विवरणका भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी ९वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुबिन्दुविवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है—१ एकार्थकारित्व, २ परस्परातिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १०) में कारकसाकल्यवादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो विकल्प किये हैं।

धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुपर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। भिक्षु राहुलजी द्वारा लिखित टिबेटियन गुरुपरम्परा[2] के अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) मे सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धत्रयकी चर्चामे, जो उन्मत्तवाक्य, काकदन्तपरीक्षा, मातृविवाहोपदेश तथा सर्वज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायबिन्दुटीका (पृ० २) के प्रभावसे अछूते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीब-करीब एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) मे प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितत्वको प्रत्यक्षशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अक्षाश्रितत्वोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्वको प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायबिन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र—ज्ञानश्रीने क्षणभंगाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे हैं। उदयनाचार्यने

---

१. देखो, तत्त्वसंग्रहकी प्रस्तावना, पृ० Xcvi

२. देखो, वादन्यायका परिशिष्ट।

अपने आत्मतत्त्वविवेकमे ज्ञानश्रीके क्षणभगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक आनुपूर्वीसे खण्डन किया है। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणावली तर्काम्बिराक (९०६) शक, ई० ९८४ मे समाप्त की थी। अत ज्ञानश्रीका समय ई० ९८४ से पहिले तो होना ही चाहिये। भिक्षु राहुल साकृत्यायनजीके नोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि—ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्याय या अपोहसिद्धि(?)के प्रारम्भमे यह कारिका है—

"अपोह· शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।"

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमे भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवादके पूर्वपक्षमे "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्या" कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (ई० ८४१) के ग्रन्थोंमें ज्ञानश्रीकी समालोचना नही हैं पर उदयनाचार्य (ई० ९८४) के ग्रन्थोमे है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १०वीं शताब्दीके बाद तो नही जा सकता।

जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र—भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८वी शताब्दी है। तत्त्वोपप्लवग्रन्थमे प्रमाण-प्रमेय आदि सभी तत्त्वोका बहुविध विकल्पजालसे खण्डन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोमे सर्वप्रथम तत्त्वोपप्लववादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने सशयज्ञानका पूर्वपक्ष तथा बाधकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपप्लव ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पों द्वारा खण्डन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६४८) मे 'तत्त्वोपप्लववादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३९) मे भी तत्त्वोपप्लववादिका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खण्डनमे क्वचित् तत्त्वोपप्लववादिकृत विकल्पोका उपयोग कर लेनेपर भी प्रभाचन्द्रने स्थान-स्थानपर तत्त्वोपप्लववादिके विकल्पोकी भी समीक्षा की है।

कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र—दिगम्बर आचार्योंमे आ० कुन्दकुन्दका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय—प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयसार—के सिवाय बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध है। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामे इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) मे केवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कवलाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत (गा० २३–२६) मे स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्दके इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोमे केवलिकवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्तिवादके रूपमे पाते है। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोमे दिगम्बरोकी मान्यताका विस्तृत खण्डन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनो मान्यताओके समर्थकरूपमे समुपस्थित है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमे प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सस्सदो' गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुवेद वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशभक्तियाँ भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र—आद्यस्तुतिकार स्वामि समन्तभद्राचार्यके बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्ही विद्वानोका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पाँचवी या छठवी शताब्दी होना चाहिये। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमे बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" "मानुषी प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यान्न तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए है।

आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाका उपसंहार करते हुए यह श्लोक लिखा है कि—

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥ १२३ ॥"

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रसे दीप्तरत्नोके उद्भवके प्रोत्थानारम्भकाल–प्रारम्भिक समय-मे, शास्त्रकारने, पापोका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला, तीर्थस्वरूप जो स्तवन किया था और जिस स्तवनकी स्वामीने मीमांसा की है, उसीका विद्यानन्दने अपनी स्वल्पशक्तिके अनुसार सत्यवाक्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए विवेचन किया है। अथवा, जो दीप्तरत्नोके उद्भव–उत्पत्तिका स्थान है उस अद्भुत सलिलनिधिके समान तत्त्वार्थशास्त्रके प्रोत्थानारम्भकाल–उत्पत्तिका निमित्त बताते समय या प्रोत्थान-उत्थानिका भूमिका बाँधनेके प्रारम्भिक समयमे शास्त्रकारने जो मगलस्तोत्र रचा और जिस स्तोत्रमे वर्णित आप्तकी स्वामीने मीमासा की उसीकी मैं (विद्यानन्द) परीक्षा कर रहा हूं।

वे इस श्लोकमे स्पष्ट सूचित करते है कि स्वामी समन्तभद्रने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मगलश्लोकमे वर्णित जिस आप्तकी मीमासा की है उसी आप्तकी मैंने परीक्षा की है। वह मगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त रत्नोके उद्भवके प्रारम्भिक समयमे या तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बताते समय शास्त्रकारने बनाया था। यह तत्त्वार्थशास्त्र यदि तत्त्वार्थसूत्र है तो उसका मथन करके रत्नोके निकालने-वाले या उसकी उत्थानिका बाँधनेवाले–उसकी उत्पत्तिका निमित्त बतानेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं। यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक स्वय सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता, क्योकि पूज्यपाद, भट्टाकलङ्कदेव और विद्यानन्दने सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमे इसका व्याख्यान नही किया है। यदि विद्यानन्द इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अवश्य ही श्लोकवार्तिकमे उसका व्याख्यान करते। परन्तु यहाँ विद्यानन्द आप्तपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते है। यथा—

"किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते–मोक्षमार्गस्य नेतारं ·" इस पक्तिमे यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है। किन्तु विद्यानन्दकी शैलीका ध्यानसे समीक्षण करनेपर यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है कि वे अपने ग्रन्थोमें किसी भी पूर्वाचार्यको सूत्रकार और किसी भी पूर्वग्रंथको सूत्र लिखते है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८४) मे वे अकलकदेवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते है—"तेन इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः, प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्म-वेदनम् ॥ ४ ॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलकावबोधने" इस अवतरणमे 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राज-वार्तिक (पृ० ३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षण' श्लोक न्यायविनिश्चय (श्लो० ३) का है। अत· मात्र सूत्रकारके नामसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारं" श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम 'विद्यानन्दका झुकाव इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है' यह नही समझ सकते। अन्यथा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अवश्य करते। अतः इस पंक्तिमे सूत्रकार शब्दसे भी इद्धरत्नोके उद्भवकर्ता या तत्त्वार्थशास्त्रकी भूमिका बाँधनेवाले आचार्यका ही ग्रहण करना चाहिए। आप्तपरीक्षाके—

"इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं कुविवादनिवृत्तये ॥"

इस अनुष्टुप् श्लोकमें तत्त्वार्थशास्त्रादौ पद 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। ३२ अक्षरवाले इस संक्षिप्त श्लोकमें इससे अधिककी गुंजाइश ही नहीं है। 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक वस्तुतः सर्वार्थसिद्धिका ही मंगलश्लोक है। यदि पूज्यपाद स्वयं भी इसे सूत्रकारकृत मानते होते तो उनके द्वारा उसका व्याख्यान सर्वार्थसिद्धिमें अवश्य किया जाता। और जब समन्तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आप्तमीमांसा बनाई है, जैसा कि विद्यानन्दका उल्लेख[1] है, तो समन्तभद्र कमसे कम पूज्यपादके समकालीन तो सिद्ध होते ही हैं। पं० सुखलालजीका यह तर्क कि—"यदि समन्तभद्र पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्यकी आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख किए बिना नहीं रहते" हृदयको लगता है। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणोंसे किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी विचारकी एक स्पष्ट कोटि तो उपस्थित हो ही जाती है। और जब विद्यानन्दके उल्लेखोंके प्रकाशमें इसका विचार करते हैं तब यह पर्याप्त पुष्ट मालूम होता है। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षोंकी समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने संभवतः दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्धदर्शनकी इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।

हेतुबिन्दुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी "द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः" कारिकाके खंडन करनेवाले ३०-३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक दुर्वेकमिश्रकी हेतुबिन्दुटीकानुटीकाके लेखानुसार स्वयं अर्चटने ही बनाए हैं। अर्चटका समय ९वीं सदी है। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णार्थी" कारिकासे समानता रखनेवाले निम्न श्लोक पाये जाते हैं—

"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥"

—मी० श्लो०, पृ० ६१९

कुमारिलका समय ईसाकी ७वीं सदी है। अतः समन्तभद्रकी उत्तरावधि सातवीं सदी मानी जा सकती है। पूर्वावधिका नियामक प्रमाण दिग्नागका समय होना चाहिए। इस तरह समन्तभद्रका समय ईसाकी ५वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक संभव है। यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो समन्तभद्रकी स्थिति पूज्यपादके बाद या समसमयमें होनी चाहिए।

पूज्यपादके जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत प्राचीनसूत्रपाठमें "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" सूत्र पाया जाता है। इस सूत्रमें यदि इन्हीं समन्तभद्रका निर्देश है तो इसका निर्वाह समन्तभद्रको पूज्यपादका समकालीन-वृद्ध मानकर भी किया जा सकता है।

१. आ० विद्यानन्द अष्टसहस्रीके मंगलश्लोकमें भी लिखते हैं कि—

"शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयाऽस्य॥

अर्थात्—शास्त्र तत्त्वार्थशास्त्रके अवतार—अवतरणिका—भूमिकाके समय रची गई स्तुतिमें वर्णित आप्तकी मीमांसा करनेवाले आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थका व्याख्यान किया जाता है। यहाँ 'शास्त्रावताररचितस्तुति' पद आप्तपरीक्षाके 'प्रोत्थानारम्भकाल' पदका समानार्थक है।

पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र—आ० देवनन्दिका अपर नाम पूज्यपाद था। ये विक्रमकी पाँचवीं और छठी सदीके ख्यात आचार्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिपर 'तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण नाम-की लघुवृत्ति लिखी है। इसके सिवाय इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरणपर शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास लिखा है। पूज्यपादकी संस्कृत सिद्धभक्तिसे 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' पद भी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ कहीं भी व्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहाँ प्रायः जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

धनञ्जय और प्रभाचन्द्र—'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२वें शतकका मध्य निर्धारित किया है (पृ० १७३)। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए के० बी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि—"धनञ्जयने द्विसन्धानमहाकाव्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमें की है।" डॉ० पाठक और उक्त इतिहासके लेखकद्वय अन्य कई जैन कवियोंके समय निर्धारणकी भाँति धनञ्जयके समयमें भी भ्रान्ति कर बैठे हैं। क्योंकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय ईसाकी ८वीं सदीका अन्त और नवीका प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता है—

१–जल्हण (ई० द्वादशशतक) विरचित सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसामें निम्नलिखित पद्य उद्धृत है—

"द्विसन्धाने निपुणतां सतां चक्रे धनञ्जयः।
यया जातं फलं तस्य स तां चक्रे धनञ्जयः॥"

इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका मनोमुग्धकर सरणिसे निर्देश किया है। संस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि—"यह राजशेखर प्रबन्धकोशका कर्ता जैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।" आश्चर्य है कि १२वीं शताब्दीके विद्वान् जल्हणके द्वारा विरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होनेवाले राजशेखरको लेखकद्वय १४वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं। यह तो मोटी बात है कि १२वीं शताब्दीके जल्हणने १४वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १०वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्यमीमांसाकार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय ९वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० ९६० में विरचित सोमदेवके यशस्तिलक चम्पूमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० ९१० ठहरता है।

२–वादिराजसूरि अपने पार्श्वनाथचरित (पृ० ४) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

"अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम्॥"

इस श्लिष्ट श्लोकमें 'अनेकभेदसन्धानाः' पदसे धनञ्जयके 'द्विसन्धानकाव्य' का उल्लेख बड़ी कुश-लतासे किया गया है। वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित ९४७ शक (ई० १०२५) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १०वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३–आ० वीरसेनने अपनी धवलाटीका[२] (अमरावतीकी प्रति, पृ० ३८७) में धनञ्जयकी अनेकार्थ-नाममालाका निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष १, पृ० १९७। प्रेमीजी सूचित करते हैं कि इसकी प्रति बंबईके ऐलक पन्नालाल-सरस्वती भवनमें मौजूद है।

२, देखो, धवलटीका प्रथम भागकी प्रस्तावना, पृ० ६२।

"हेतावेवं प्रकाराद्यौ व्यवच्छेदे विपर्यये।
प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दं विदुर्बुधाः॥"

आ० वीरसेनने धवलाटीकाकी समाप्ति शक ७३८ (ई० ८१६) में की थी। श्रीमान् प्रेमीजीने बनारसीविलासकी उत्थानिकामें लिखा है कि "ध्वन्यालोकके कर्त्ता आनन्दवर्धन, हरचरित्रके कर्त्ता रत्नाकर और जल्हणने धनञ्जयकी स्तुति की है।" संस्कृत साहित्यके संक्षिप्त इतिहासमें आनन्दवर्धनका समय ई० ८४०-७०, एवं रत्नाकरका समय ई० ८५० तक निर्धारित किया है। अतः धनञ्जयका समय ८वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता है। धनञ्जयने अपनी नाममालाके—

"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥"

इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव ईसाकी ८वीं सदीके आचार्य हैं अतः धनञ्जयका समय ८वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसंगत है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४०२) में धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका उल्लेख किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें इसी स्थलपर द्विसन्धानकी जगह त्रिसन्धान नाम लिया गया है।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्याचार्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका समुपलब्ध है। ये अकलङ्कके प्रकरणोंके तलद्रष्टा, विवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोंसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाङ्मयका सुष्ठु अभ्यास और विवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाधिक बार प्रदर्शित करते हैं। इनकी सिद्धिविनिश्चयटीका अकलङ्कवाङ्मयके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करके उनका सविस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोंके मत उनके ग्रन्थोंके लम्बे-लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंपर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शान्तिसूरिने अपनी जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ९८) में 'एके अनन्तवीर्यादयः' पदसे संभवतः इन्हीं अनन्तवीर्यके मतका उल्लेख किया है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र—आ० विद्यानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि तार्किककृतियाँ इनके अतुल तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययनका पदे-पदे अनुभव कराती हैं। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनों ही प्रमुखग्रन्थोंपर विद्यानन्दकी कृतियोंकी सुनिश्चित अमिट छाप है। प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोंका अनूठा अभ्यास था। उनकी शब्दरचना भी विद्यानन्दकी शब्दभंगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें—

"विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्"

इस श्लोकांशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अन्य एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विद्यानन्द अपने आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै' 'सत्यवाक्याधिपाः' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। बाबू कामताप्रसादजी (जैनसिद्धान्तभास्कर

भाग ३, किरण ३, पृ० ८७) लिखते हैं कि—"बहुत संभव है कि उन्होंने गंगवाडि प्रदेशमें बहुवास किया हो, क्योंकि गंगवाडि प्रदेशके राजा राजमल्लने भी गंगवंशमें होनेवाले राजाओंमें सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपरनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह संभव है कि विद्यानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यवाक्याधिप' नामको ध्वनित किया हो। युक्त्यनुशासनालंकारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्ति रूप है और उसमें रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजा-का नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल्ल सत्यवाक्य विजयादित्यका लड़का था और वह सन् ८१६ के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युक्त्यनुशासनालंकारके अन्तिम श्लोकके "प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः श्रीसत्यवाक्याधिपैः" इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनों शब्द हैं, जिनसे गंगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम ध्वनित होता है।" इस अवतरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियाँ राजमल्ल सत्यवाक्य (८१६ ई०) के राज्यकालमें बनाई हैं। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदय, इसके अनन्तर आपने आप्तपरीक्षा आदि परीक्षान्तनामवाले लघु प्रकरण तथा युक्त्य-नुशासनटीका; क्योंकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका तथा आप्तपरीक्षा आदिमें अष्टसहस्री और विद्या-नन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, 'सत्यवाक्य' नाम नहीं लिया है, पर आप्तपरीक्षा आदिमें 'सत्यवाक्य' नाम लिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होंगे। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मंडनमिश्रके मतका खंडन है और अष्टसहस्रीमें सुरेश्वरके सम्बन्ध-वार्तिकसे ३१४ कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं। मंडनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अतः विद्यानन्दका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचन्द्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्वोपप्लववादका खंडन तो विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें ही विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरवगाह चर्चा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रसन्नरूपसे अवतीर्ण हुई है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) में न्यायदर्शनके 'पूर्ववत्' आदि अनुमानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपमें उपस्थित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दका ग्रन्थरचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीका उल्लेख किये बिना न रहते।

अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र—लघीयस्त्रयादि संग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञ-सिद्धि प्रकरण मुद्रित हैं। लघीयस्त्रयादिसंग्रहकी प्रस्तावनामें पं० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उत्तरावधि विक्रम संवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समर्थनमें वादिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है—

"आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता।
अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते॥"

वादिराजने पार्श्वनाथचरितकी रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। संभव तो यह है कि इन्हीं

अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ बनाये हों। सिद्धिविनिश्चय-टीकामें अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पार्श्वनाथचरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति हैं तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थोंका और प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंका आभ्यन्तर परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन ग्रन्थोंमें एक-का दूसरेके ऊपर पूरा-पूरा प्रभाव है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि—(पृ० १८१ से २०४ तक) के अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिकृत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्रपर प्रभाव है। उदाहरणार्थ—

किन्तु अज्ञो जनः दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च—तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८४२।

"किन्त्वतज्ज्ञो जनो दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् संसारान्तःपतितेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहादात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आतुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिकं परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्विदुषः सुभाषितम्—तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥"—बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, पृ० १८१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकटायन और प्रभाचन्द्र—राष्ट्रकूटवंशीय राजा अमोघवर्षके राज्यकाल (ईस्वी ८१४-८७७) में शाकटायन नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हो गए हैं। ये [1]यापनीय संघके आचार्य थे। यापनीयसंघका बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरोंसे मिलता जुलता था। ये नग्न रहते थे। श्वेताम्बर आगमोंको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। आ० शाकटायनने अमोघवर्षके नामसे अपने शाकटायनव्याकरणपर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई० ८०० से ८७५ तक समझना चाहिए। यापनीयसंघके अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी कुछ-कुछ बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह संघ दोनों सम्प्रदायोंके जोड़नेके लिए शृंखलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका (पृ० १५) में शाकटायनको 'यापनीययतिग्रामाग्रणी' लिखा है—"शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ"। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र निर्युक्ति कालिकसूत्र आदि श्वे० ग्रन्थोंका

१ देखो—पं० नाथूरामप्रेमीका 'यापनीय साहित्यकी खोज' (अनेकान्त वर्ष ३, किरण १) तथा प्रो० ए० एन्० उपाध्यायका 'यापनीयसंघ' (जैनदर्शन वर्ष ४, अंक ७) लेख।

बडे आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिकवलाहार तथा स्त्रीमुक्तिके समर्थनके लिए स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामके दो प्रकरण बनाए हैं[1]। दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर बिलगावमें ये दोनों सिद्धान्त ही मुख्य माने जाते हैं। यों तो दिगम्बर ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपाद आदिके ग्रन्थोंमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इन्ही विषयोंके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचन्द्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें किया है। श्वेताम्बरोंके तर्कसाहित्यमे हम सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिकी ललितविस्तरामे स्त्रीमुक्तिका संक्षिप्त समर्थन देखते हैं, परन्तु इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप सन्मतिटीकाकार अभयदेव, उत्तराध्ययन पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरि तथा स्याद्वादरत्नाकरकार वादिदेवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोविजय उपाध्याय तथा मेघविजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन विवादग्रस्त विषयोंपर लिखे गए उभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति विषयोंके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसंघवालोंने ही पहिले तथा दिलचस्पीके साथ किया है। इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचन्द्र, अभयदेव तथा शान्तिसूरि करीब-करीब समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमे एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोंका साक्षात् खंडन नही किया। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयाग्रणी शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंसे ही लिया गया है। इन ग्रन्थोंके उत्तरपक्षमे शाकटायनके उक्त दोनों प्रकरणोंकी एक-एक दलीलका शब्दशः पूर्वपक्ष करके सयुक्तिक निरास किया गया है। इसी तरह अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका और शान्तिसूरिकी उत्तराध्ययन पाइयटीका और जैनतर्कवार्तिकमे शाकटायनके इन्ही प्रकरणोंके आधारसे ही उक्त बातोंका समर्थन किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिके रत्नाकरमे इन मतभेदोमे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सामने-सामने आते है। रत्नाकरमे प्रभाचन्द्रकी दलीलें पूर्वपक्ष रूपमे पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि—प्रभाचन्द्रने स्त्रीमुक्तिवाद तथा केवलिकवलाहारवादमे श्वेताम्बर आचार्योंकी बजाय शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंको ही अपने खंडनका प्रधान लक्ष्य बनाया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६९) के पूर्वपक्षमें शाकटायनके स्त्रीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है—

"गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विख्याताः शीलवत्तया जगति।
सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च॥—स्त्रीमु० श्लो० ३१

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिकृत महावृत्ति उपलब्ध है। इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने 'शब्दाम्भोजभास्कर[2]' नामका जैनेन्द्रव्याकरणका महान्यास बनाया है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' नामक लेखमे[3] जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोंमेसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है। इसी पुरातनसूत्रपाठपर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास बनाया है। प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमे महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु बताया है और उनका समय विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीका पूर्वभाग

१. ये प्रकरण जैनसाहित्यसंशोधक खंड २, अंक ३–४ मे मुद्रित हुए हैं।
२. इसका परिचय 'प्रभाचन्द्रके ग्रंथ' शीर्षक स्तम्भमें देखना चाहिए।
३. जैन साहित्यसंशोधक भाग १, अंक २।

निर्धारित किया है। आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु भी यही अभयनन्दि थे। गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गा० ४३६) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है—

"जस्स य पायपसाएणणंतससारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदवदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरु॥"

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा नं० ७८४, ८९६ तथा लब्धिसार गाथा ६४८से यह सुनिश्चित हो जाता है[1] कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु थे। आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकका गुरुरूपसे स्मरण किया है। इन सब उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन वृद्ध थे।

वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमे चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शकसंवत् ९४७, ई० १०२५ मे पूर्ण हुआ था। अत वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है। नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसार ग्रन्थ चामुण्डरायके सम्बोधनार्थ बनाया था। चामुण्डराय गंगवशीय महाराज मारसिंह द्वितीय (९७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। चामुण्डरायने श्रवणबेलुलस्थ बाहुबलि गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा ई० ९८१ मे कराई थी, तथा अपना चामुण्डपुराण ई० ९७८ में समाप्त किया था। अत आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका समय ई० ९८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है। और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति (लिखित पृ० २२१) मे भर्तृहरि (ई० ६५०) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३९३ मे माघ (ई० ७वी सदी) काव्यसे 'सटाच्छटाभिन्न' श्लोक उद्धृत किया है तथा ३।२।५५ की वृत्तिमे 'तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते' प्रयोगसे अकलंकदेव (ई० ८वी सदी) के तत्त्वार्थराजवार्तिकका उल्लेख किया है। अत इनका समय ९वी शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जैनेन्द्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० ९६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्तिपर ई० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाम्भोजभास्कर न्यास बनाया है, क्योंकि इसकी रचना न्यायकुमुदचन्द्रके बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेव (राज्य १०५६ से) के राज्यके प्रारम्भकालमे बनाया गया है।

मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र—मूलाचार ग्रन्थके कर्त्ताके विषयमे विद्वान् मतभेद रखते हैं। कोई उसे कुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई वट्टकेरिकृत। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्त्ताने नही रची हैं। उसमे अनेको ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमे, भगवती आराधनामे तथा आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और सम्मतितर्क आदिमे भी पाई जाती हैं। सभव है कि गोम्मटसारकी तरह यह भी एक संग्रह ग्रन्थ हो। ऐसे संग्रहग्रन्थोंमे प्राचीन गाथाओंके साथ कुछ सग्रहकार रचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्मटसारमें बहुभाग स्वरचित है जबकि मूलाचारमे स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नही मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८४५) मे "एगो मे सस्सदो" "संजोगमूलं जीवेन" ये दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये गाथाएँ मूलाचारमे (२।४८, ४९) दर्ज हैं। इनमें पहिली गाथा कुन्दकुन्दके भावपाहुड तथा नियमसारमे भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३१) में "आचेलक्कुद्देसिय" आदि गाथांश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करनेके लिए उद्धृत है। यह गाथा मूला-

१. देखो, त्रिलोकसारकी प्रस्तावना।

धार (गाथा नं० ९०९) में तथा भगवतीआराधनामें (गाथा ४२१) विद्यमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलक्यके समर्थनका प्रमाण बतानेके लिए श्वेताम्बर आगमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य (गा० १९७२) में पाई जाती है। गाथाओंकी इस सक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि—कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो आचार्योंने अपने ग्रन्थोमे स्थान दिया है।

नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय गंगवंशीय महाराज मारसिंह द्वितीय (९७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्हीके राज्यकालमे चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा (सन् ९८१) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्ही चामुण्डरायको सिद्धान्त परिज्ञान करानेके लिए गोम्मटसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोका सक्षिप्त संस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २५४) में 'लोयायासपएसे' गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकाड तथा द्रव्यसंग्रहमे पाई जाती है। अत आपातत यही निष्कर्ष निकल सकता है[1] कि यह गाथा प्रभाचन्द्रने जीवकाड या द्रव्यसग्रहसे उद्धृत की होगी; परन्तु अन्वेषण करनेपर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्वार्थसिद्धि (५।३९) तथा श्लोकवार्तिक (पृ० ३९९) मे भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३००) मे 'विग्गहगइमावण्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकाडमे है। परन्तु यह गाथा भी वस्तुत. प्राचीन है और धवला-टीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमे मौजूद है।

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य, अकलंकके प्रकरणोके ख्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति है; क्योकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमे प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है, और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्ही प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं[2] कि प्रभाचन्द्रके वचनोको ही संक्षिप्त करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने[3] प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवी सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योकि आ० हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई०) की प्रमाणमीमासापर शब्द और अर्थ दोनो दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा-पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमालापर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमासाने प्राय प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डको पाया है।

देवसेन और प्रभाचन्द्र—[4]देवसेन श्रीविमलसेन गणीके शिष्य थे। इन्होने धारानगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमे माघ सुदी दशमी विक्रमसंवत् ९९० (ई० ९३३) मे अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शन-

१ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम संस्करणके संपादक प० बंशीधरजी शास्त्री, सोलापुरने प्रमेयक० को प्रस्तावनामे यही निष्कर्ष निकाला भी है।

२ "प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशा. क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिरं सताम्।
चेतोहरं भृतं यद्वन्नद्या नवघटे जलम् ॥"

३. देखो, जैनदर्शन वर्ष ४, अंक ९।

४. नयचक्रकी प्रस्तावना, पृ० ११।

सारके बाद इन्होंने भावसंग्रह ग्रंथकी रचना की थी; क्योंकि उसमें दर्शनसारकी अनेको गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसंग्रह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५६) के कवलाहारवादमें देवसेनके भावसंग्रह (गा० ११०) की यह गाथा उद्धृत की है—

> "णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
> ओज मणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥"

यद्यपि देवसेनसूरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमें लिखा है—

> "पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
> सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण॥
> रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
> सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धं माहसुद्धदसमीए॥"

अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओंका संचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है। तथापि बहुत खोज करनेपर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रंथमें नहीं मिल सकी है। देवसेन धारानगरीमें ही रहते थे, अतः धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भावसंग्रहसे भी उक्त गाथाका उद्धृत किया जाना असंभव नहीं है। चूँकि दर्शनसारके बाद भावसंग्रह बनाया गया है, अतः इसका रचनाकाल संभवतः विक्रम संवत् ९९७ (ई० ९४०) के आसपास ही होगा।

श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रके प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पञ्चवस्तुप्रक्रिया उपलब्ध है।[1] श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें श्रीमद्वृत्तिशब्दसे अभयनन्दिकृत महावृत्ति और न्यासशब्दसे संभवतः प्रभाचन्द्रकृत न्यास, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रन्यासका निर्देशक हो तो 'टीकामाल' शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा—

> "सूत्रस्तम्भसमुद्धृत प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति,
> श्रीमद्वृत्तिकपाटसपुटयुत भाष्यौघशय्यातलम्।
> टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमम्,
> प्रासादं पृथुपञ्चवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्॥"

कनडी भाषाके चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है—

"इति परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथश्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्रीमदग्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते"। यह चरित्र शक संवत् १०११, ई० १०८९ में बनकर समाप्त हुआ था। अतः श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना युक्तिसंगत है। इन श्रुतकीर्तिने न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमि की उपमा दी है। इससे शब्दाम्भोजभास्करका रचना समय लगभग ई० १०६० समर्थित होता है।

श्वे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र—भ० महावीरकी अर्धमागधी दिव्यध्वनिको गणधरोंने द्वादशांगी रूपमें गूँथा था। उस समय उन अर्धमागधी भाषामय द्वादशांग आगमोंकी परम्परा श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिबद्ध नहीं थी। इन आगमोंका आखरी संकलन वीर सं० ९८० (वि० ५१०) में श्वेता-

१. देखो, प्रेमीजीका 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्यदेवनन्दी' लेख जैनसा० सं० भाग १, अंक २।

म्बराचार्य देवद्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। अंगग्रंथोंके सिवाय कुछ अंगबाह्य या अनंगात्मक श्रुत भी हैं। छेदसूत्र अनंगश्रुतमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६८) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र (५।२०) से "नो कप्पइ णिग्गंथीए अचेलाए होत्तए" यह सूत्रवाक्य उद्धृत किया है।

तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो वह, जिसपर स्वयं वाचक उमास्वातिका स्वोपज्ञभाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिसपर पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्यसम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आजकल विवाद चल रहा है। मुख्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिगम्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए हैं। उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५९) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यका सम्बन्धकारिकाओंमेंसे "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रससिद्धाः" कारिकांश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० १०) में भी "अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः" वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाई जानेवाली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमें 'उक्तञ्च' लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ में भाष्यकी 'दग्धे बीजे' कारिका उद्धृत की गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अकलङ्कदेवके सामने भी था। उनने इसके कुछ मन्तव्योंकी समीक्षा भी की है।

सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र—आ० सिद्धसेनके सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके[1] सन्मतितर्कपर अभयदेवसूरिने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ० जैकोबी न्यायावतारके प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समकालीन, अर्थात् ईसाकी ७वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। प० सुखलाल जी इन्हें विक्रमकी पाँचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे। पर अब उनका विश्वास है कि "सिद्धसेन ईसाकी छठी या सातवीं सदीमें हुए हों और उन्होंने संभवतः धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको देखा हो[2]।" न्यायावतारकी रचनामें न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायबिन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) में पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय 'धानुष्क' का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायावतारके श्लोक १४-१६ से भलीभाँति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोक से ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धर्षिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र—श्वे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृतगाथानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है; क्योंकि इन्होंने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए हैं। अस्तु। उपदेशमालापर सिद्धर्षिसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है।[3] सिद्धर्षिने उपमितिभवप्रपञ्चाकथा वि० सं० ९६२ ज्येष्ठ शुद्ध पंचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रमकी ९वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३०) में उपदेशमाला (गा० १५) की 'वरिससयदिक्खयाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू' इत्यादि गाथा प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र—आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेंसे हैं। कहा जाता

---

१. देखो, गुजराती सन्मतितर्क, पृ० ४०।
२. इंग्लिश सन्मतितर्ककी प्रस्तावना।
३. जैनसाहित्यनो इतिहास, पृ० १८६।

है कि इन्होंने १४०० के करीब ग्रन्थोंकी रचना की थी। मुनि श्री जिनविजयजीने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे इनका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना संशोधन है-कि इनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक होनी चाहिए, क्योंकि जयन्त भट्टकी न्यायमंजरीका 'गम्भीरगर्जितारम्भ' श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं विस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मंजरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तरावधि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमें १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्योंकी देखी गई है। हरिभद्रसूरिके दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'षड्दर्शनसमुच्चय' एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका—

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ ७३ ॥"

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५०५) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भावका एक श्लोक—"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधकाः ॥" इस शब्दावलीके साथ कमलशीलकी तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृ० ४५०) में मिलता है और उससे संभावना की जा सकती है कि जैमिनिकी षट्प्रमाणसंख्याका निदर्शक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रन्थसे लिया गया होगा। यह संभावना हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक इसका प्रसाधक कोई समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लाघव है। और बहुत कुछ संभव है कि प्रभाचन्द्रने इसे षड्दर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रन्थोंमें पूर्वपक्षके पल्लवन और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अन्यग्रन्थकारोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, कहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं बिना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओंके विषयमें यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी स्वरचित हैं या अन्यरचित होकर संगृहीत हैं ? इसका एक और उदाहरण यह है कि—

"विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च।
समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ॥
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदायः स सम्मतः।
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ॥
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते।
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ॥
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ..."

ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीमें ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण (पर्व ५, श्लोक ४२-४५) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रन्थसे षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुँचे हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उस समयके असाम्प्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शास्त्रवार्तासमुच्चयमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके श्लोक उद्धृतकर अपनी षड्दर्शनसमुच्चायक बुद्धिके प्रेरणा बीजको ही मूर्तरूपमें अंकुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति (पृ० १३) में पाई जानेवाली पक्षशब्दकी 'पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः सः पक्षः' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३८) में की गई पक्षकी व्युत्पत्तिपर आभासित होती है।

सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र—श्रीसिद्धर्षिगणि श्वे० आचार्य दुर्गस्वामीके शिष्य थे। इन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, विक्रम संवत् ९६२ (१ मई ९०६ ई०) के दिन उपमितिभवप्रपञ्चा कथा की समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायावतार (श्लो० १६) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसंगमें लिखा है कि—"जिस तरह लक्ष्यनिर्देशके विना अपनी धनुर्विद्याका प्रदर्शन करनेवाले धनुर्धारीके गुण-दोषोंका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए बिना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी विपरीत रूपमें प्रतिभासित हो सकते हैं, प्राश्निक तथा प्रतिवादी आदिको उनका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता।" न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) के 'पक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमें धनुर्धारीका दृष्टान्त दिया गया है। उसकी शब्दरचना तथा भावव्यञ्जनामें न्यायावतारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धर्षिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दसादृश्य पाया जाता है। अवतरणोंके लिए देखो—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ४३७, टि० १।

अभयदेव और प्रभाचन्द्र—चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े ख्यात आचार्य थे। अभयदेवसूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायवनसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद थे। सन्मतितर्ककी गुजराती प्रस्तावना (पृ० ८३) में श्रीमान् प० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवीका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराध्ययनकी पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरिने उत्तराध्ययनटीकाकी प्रशस्तिमें एक अभयदेवको प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। प० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्ही अभयदेवसूरिकी सभावना की है। प्रभावकचरित्रके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गवास वि० सं० १०९६मे हुआ था। इन्ही शान्तिसूरिने धनपालकविकी तिलकमञ्जरी आख्यायिकाका संशोधन किया था, और उसपर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोंकी राजसभाओंमे सम्मानित हुए थे। इन सब घटनाओको मद्देनजर रखते हुए अभयदेवसूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके अन्तिम भाग तक मान लेनेमे कोई बाधा प्रतीत नहो होती। अभयदेवसूरिकी प्रामाणिकप्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी सन्मतिटीकामें पद-पदपर मिलता ह। इस सुविस्तृत टीकाको 'वादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीकामें पाया जाता है। अभयदेवसूरिने सन्मतिटीकामें स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहारका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमे तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डनकी युक्तियोमे परस्पर कोई पूर्वोत्तरपक्षता नहीं देखी जाती। अभयदेव, शान्तिसूरि और प्रभाचन्द्र करीब-करीब समकालीन और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक सभव था कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोमे एक दूसरेका खडन करते। पर हम इनके ग्रन्थोमें परस्पर खंडन नही देखते। इसका कारण मेरी समझमे तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोके साथ ही इस विषयकी चर्चा करते होंगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति प्रकरणोका ही शब्दशः खंडन किया है तब श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और शान्तिसूरिने शाकटायनकी दलीलोके आधारसे ही अपने ग्रथोके उक्त प्रकरण पुष्ट किए हैं। वादिदेवसूरिने अवश्य ही प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोके उक्त प्रकरणोको पूर्वपक्षमे प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

सन्मतितर्कके सम्पादक श्रीमान् पं० सुखलालजी और बेचरदासजीने सन्मतितर्क प्रथम भाग (पृ० १३) की [1]गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि—"आ के आ टीकामां सैकड़ो दार्शनिकग्रन्थों नु दोहन जणाय छे,

१. गुजराती सन्मतितर्क, पृ० ८४।

छतां सामान्यरीते मीमासककुमारिलभट्टनु श्लोकवार्तिक, नालन्दाविश्वविद्यालयना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह ऊपरनी कमलशीलकृत पंजिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय विगेरे ग्रन्थोनुं प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामां छे।'' अर्थात् सन्मतितर्कटीकापर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तत्त्वसग्रहपंजिका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोका प्रतिबिम्ब पड़ा है। सन्मतितर्कके विद्वद्वय सम्पादकोंकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मैं उसमे इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हूँ कि—''प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका सन्मतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेके कारण ही नही है, किन्तु तीनों ग्रन्थोके बहुभागमे जो अकल्पित सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। ये तृतीय राशिके ग्रन्थ हैं—भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसग्रह और उसकी पंजिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा आदि प्रकरण। इन्ही तृतीयराशिके ग्रन्थोका प्रतिबिम्ब सन्मतिटीका और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमे आया है।'' सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि सन्मतितर्कका प्रमेयकमलमार्त्तण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमे जहाँ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रयुक्त हो है साक्षात् नही। अर्थात् प्रमेयकमलमार्त्तण्डके जिन प्रकरणोके जिस सन्दर्भसे सन्मतितर्कका सादृश्य है उन्ही प्रकरणोमें न्यायकुमुदचन्द्रसे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणा की जा सकती है कि—सन्मतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहो हो सकी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमे सन् १०५७ के आसपास रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे विदित है। सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोमे दिए गए सन्मतिटीकाके अवतरण।

वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र—देवसूरि श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे। प्रभावकचरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिसूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था। ये प्राग्वाटवंशके रत्न थे। इन्होने वि० सं० ११४३मे गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था। ये भडोच नगरमे ९ वर्षकी अल्पवयमे वि० स० ११५२मे दीक्षित हुए थे तथा वि० स० ११७४मे इन्होने आचार्यपद पाया था। राजर्षि कुमारपालके राज्यकालमे वि० स० १२२६मे इनका स्वर्गवास हुआ। प्रसिद्ध है कि–वि० स० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी सभामे इनका दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमे विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे। इन्होने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढंगसे किया गया दूसरा सस्करण ही है। इन्होने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके आद्य ६ परिच्छेदोमे यत्किञ्चित् शब्दभेद तथा अर्थभेदके साथ ग्रथित किया है। परीक्षामुखके अतिरिक्त इसमें नयपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड़े गए हैं। माणिक्यनन्दिके सूत्रोंके सिवाय अकलंकके स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमें लिया गया है। इस तरह भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमे विशकलित जैन-पदार्थोंका शब्द एवं अर्थदृष्टिसे सुन्दर संकलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अकलंकदेवके लघीयस्त्रयपर इन्ही प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है। प्रभाचन्द्रने इन मूल ग्रंथोकी

१. देखो, जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० २४८।

व्याख्याके साथ ही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयोंपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं। इन लेखोंमें विविध विकल्पजालोंसे परपक्षका खण्डन किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एवं आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिसे देखते हैं तब वादिदेवसूरिकी गुणग्राहिणी संग्रहदृष्टि-की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। इनकी संग्राहक बीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोंको इतने बेतक्ल्लुफ तरीकेसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादरत्नाकरके पढ़ लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका यावद्विषय विशद रीतिसे अवगत हो जाता है। वस्तुतः यह रत्नाकर उक्त दोनों ग्रंथोंके शब्द-अर्थरत्नोंका सुन्दर आकर ही है। यह रत्नाकर मार्त्तण्डकी अपेक्षा चन्द्र (न्यायकुमुदचन्द्र) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणोंके क्रम और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं-कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि दोनों ग्रन्थोंको पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है।

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर (पृ० ८६५) में न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४५५) में निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खंडन करनेका प्रयास किया है। प्रभाचन्द्रका मत है कि—प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि बिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोंका निमित्त पाकर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूरि कहते हैं कि—मुखादिबिम्बोंसे छायापुद्गल निकलते हैं और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोंका मुखादि बिम्बोंसे निकलनेका सिद्धान्त देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके धर्मसारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते हैं कि हम अपने ही ग्रन्थमें नैयायिकोंके चक्षुसे रश्मियोंके निकलनेके सिद्धान्तका खंडन कर चुके हैं। जब हम भासुर-रूपवाली आँखसे भी रश्मियोंका निकलना युक्ति एवं अनुभवसे विरुद्ध बताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बों-से छायापुद्गलोंके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मजेदार बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दशः अनुसरण करते हैं, और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खंडनकी धुनमें स्वयं ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोंको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वे रत्नाकरमें (पृ० ६९८) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दानुसरण करते हुए लिख जाते हैं कि—"स्वच्छताविशेषाद्धि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकार-धारिण सम्पद्यन्ते।"—अर्थात् विशेष स्वच्छताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और सूर्य आदि बिम्बोंके आकारवाली पर्यायों को धारण करते हैं। कवलाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्दके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दलीलोंका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खंडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनकी आँखोंके सामने प्रभाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे हैं।

हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १२वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने व्याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोंपर अपनी प्रौढ़ संग्राहक लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके भंडारको खूब समृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये 'कलिकालसर्वज्ञ' के नामसे भी ख्यात हैं। इनका जन्म-समय कार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसंवत् ११४५ है। वि० सं० ११५४ (ई० सन् १०९७) में ८ वर्षकी लघुवयमें इन्होंने दीक्षा धारण की थी। विक्रम-संवत् ११६६ (ई० सन् १११०) में २१ वर्षकी अवस्थामें सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। ये महाराज जयसिंह

सिद्धराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओंमें सबहुमान लब्धप्रतिष्ठ थे। वि० सं० १२२९ (ई० ११७३) मे ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवंगत हुए। इनकी न्यायविषयक रचना प्रमाणमीमांसा जैनन्यायके ग्रन्थोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणमीमांसाके निग्रहस्थानके निरूपण और खडनके समूचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोके परिहारके प्रसगमे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दश अनुसरण किया गया है। प्रमाणमीमांसाके अन्य स्थलोंमे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पडकर प्रमेयरत्नमालाके द्वारा पडी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही सक्षिप्त-कर प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। अत मध्यकदवाली प्रमाणमीमांसामे बृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सीधा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुसरण होना ही अधिक संगत मालूम होता है। प्रमाणमीमांसाके प्राय प्रत्येक प्रकरणपर प्रमेयरत्नमालाकी शब्दरचनाने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कही साक्षात् और कही परम्परया प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमामा बनाते समय मद्देनजर रखा है। प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमांसाके स्थलोकी तुलना के लिए सिंघी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाणमीमांसाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

मलयगिरि और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १२वी शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवी शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमे आ० हेमचन्द्रके सहविहारी, प्रख्यात टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र आदि अनेको आगमिकग्रन्थोपर सस्कृत टीकाएँ लिखी है। आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७१ A.) में वे अकलकदेवके 'नयवाक्यमे भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे असहमति जाहिर करते है। इसी प्रसगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीय-स्त्रयस्वविवृति (का० ६२) का 'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषय स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६९१) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है—"अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता नयोऽपि नय-प्रतिपादकमपि वाक्यं न केवल प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थ, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषय स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।"—इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि मलयगिरिके सामने लघीयस्त्रयकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अकलकदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं—अनन्तधर्मात्मक वस्तुको अखंडभावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोको गौण करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोका निषेध करता है—उनकी अपेक्षा नही रखता वह दुर्नय कहलाता है। अकलकने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमे भी नयान्तरसापेक्षता दिखाने के लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका विधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि—जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब 'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य अशेषधर्मोको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अवधारणपूर्वक विषय करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होने सभी नयोको मिथ्यावाद कहा है। मलयगिरिके कोषमे सुनय नामका कोई शब्द ही नही है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमे पहुँचेगा तथा जब नया-न्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमे जाकर मिथ्यावाद हो जायगा। इन्होने अकलकदेवके इस तत्त्वको मद्दे-

नजर नही रखा कि—नयवाक्यमे स्यात् शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्मोका मात्र सद्भाव ही जाना जाता है, सो भी इसलिए कि कोई वादी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमे स्यात्शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभावसे विषय नही होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि—जहाँ प्रमाणमें अशेष ही धर्म एकरूपसे—अखण्डभावसे विषय होते हैं वहाँ नयमे एकधर्म मुख्य होकर अन्य अशेषधर्म गौण हो जाते हैं, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमे एकधर्म ही विषय होकर अन्य अशेषधर्मोका तिरस्कार हो जाता है। अत दुर्नयसे सुनयका पार्थक्य करनेके लिए सुनयवाक्यसे स्यात्पदका प्रयोग आवश्यक है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलंककी यह समालोचना उन्ही तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्य अकलकके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए हैं। इतना ही नही, उपाध्याय यशोविजयने मलगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ B) मे दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमे अन्तर्भाव किया जायगा तो व्यवहारनय तथा शब्दनय भी प्रमाण ही हो जायँगे। नयवाक्यमे होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोका मात्र द्योतन करता है, वह उन्हे विवक्षितधर्मकी तरह नयवाक्यका विषय नही बनाता। इसलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाण कोटिमे नही पहुँच सकता।

देवभद्र और प्रभाचन्द्र—देवभद्रसूरि मलधारिगच्छके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होने न्यायावतारटीकापर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० सवत् ११९३ (सन् ११३६) के दिवालीके दिन 'मुनिसुव्रतचरित्र' पूर्ण किया था[1]। अत. इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायावतार टिप्पणमे प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रके निम्नलिखित दो अवतरण लिए हैं—

१—"परिमण्डला. परमाणव. तेषा भाव.…पारिमण्डल्य वर्तुलत्वम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्येवं व्याख्यातत्वात्।" (पृ० २५)

२—"प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे विभाषा सद्धर्मप्रतिपादको ग्रन्थविशेष ता विदन्ति अधीयते वा वैभाषिका. इत्युवाच।" (पृ० ७९)

ये दोनो अवतरण न्यायकुमुदचन्द्रमे क्रमश पृ० ४३८ प० १३ तथा पृ० ३९० प० १ मे पाए जाते हैं। इसके सिवाय न्यायावतारटिप्पणमे अनेक स्थानोपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे झलकता है।

मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र—आ० हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर मल्लिषेणकी स्याद्वादमंजरी नामकी टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागेन्द्रगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमंजरीके अन्तमे दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि—इन्होने शक संवत् १२१४ (ई० १२९३) मे दीपमालिकाका शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमजरीकी शब्दरचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक विलक्षण प्रभाव है। मल्लिषेणने का० १४की व्याख्यामे विधिवादकी चर्चा की है। इसमे उन्होंने विधिवादियोंके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थमर्यादाके विचारसे इन मतोके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोंके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोंमे किया है—"एतेषा निराकरण सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयम्।" इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिषेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके विशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमंजरीमे

१. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २५३।

अचर्चित या अल्पचर्चित विषयोके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकरग्रन्थ मानते थे। न्याय-कुमुदचन्द्रमे विधिवादकी विस्तृत चरचा पृ० ५७३ से ५९८ तक है।

गुणरत्न और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १५वी शताब्दीके उत्तरार्धमे तपागच्छमे देवसुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पट्टशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' पर तर्करहस्य-दीपिका नामकी बृहद्वृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोका लेखनकाल विक्रम सवत् १४६८ दिया है। अत. इनका समय भी विक्रमकी १५वी सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुण-रत्नसूरिने षड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जैनमत निरूपणमें मोक्षतत्त्वका सविस्तर विशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमे इन्होने स्वाभिमत मोक्षस्वरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, साख्य, वेदान्ती तथा बौद्धोके द्वारा माने गए मोक्षस्वरूपका बडे विस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखडनके भागमे न्यायकुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नही, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोके कोटिक्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनु-सरण किया गया है। इस प्रकरणमे न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है[1] कि इससे न्यायकुमुद-चन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमे भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्य स्थलोपर खासकर परपक्ष खंडनके भागोपर न्यायकुमुदचन्द्रकी शुभ्रज्योत्स्ना जहाँ-तहाँ छिटक रही है।

यशोविजय और प्रभाचन्द्र—उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमको १८वी सदीके युगप्रवर्तक विद्वान् थे। इन्होने विक्रम सवत् १६८८ (ईस्वी १६३१) मे प० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होने काशीमे नव्यन्यायका अध्ययनकर वादमे किसी विद्वान्पर विजय पानेसे 'न्यायविशारद' पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० स० १७१८ मे इन्हें 'वाचक-उपाध्याय' का सम्मानित पद दिया था। उपा-ध्याय यशोविजय वि० स० १७४३ (सन् १६८६) मे अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए थे। दशवी शताब्दीसे ही नव्यन्यायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमे एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यद्यपि दसवी सदीके बाद अनेको बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी उस नव्यन्यायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमे नही पडा। उपाध्याय यशोविजय ही एकमात्र जैनाचार्य है जिन्होने नव्यन्यायका समग्र अध्ययनकर उसी नव्यपद्धतिसे जैनपदार्थोका निरूपण किया है। इन्होने सैकडो ग्रन्थ बनाए है। इनका अध्ययन अत्यन्त तलस्पर्शी तथा बहुमुखी था। सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रन्थोका इन्होने विधिवत् पारायण किया। इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषणयतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली न्यायदीपिका भी नही छूटी। जैनतर्कभाषामे अनेक जगह न्यायदीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए है। इनके शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि बृहद्ग्रन्थोके परपक्ष खडनवाले अशोमे प्रभाचन्द्रके विविध विकल्पजाल स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित हैं। इन्होने प्रभाचन्द्रका केवल अनुसरण ही नही किया है किन्तु साम्प्रदायिक स्त्रीमुक्ति और कवलाहार जैसे प्रकरणोमे प्रभाचन्द्रके मन्तव्यो-की समालोचना भी की है।

उपरिलिखित वैदिक-अवैदिकदर्शनोकी तुलनासे प्रभाचन्द्रके अगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्य-यनका यत्किञ्चित् आभास हो जाता है। बिना इस प्रकारके बहुश्रुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रन्थोके प्रणयनका उल्लास ही नही हो सकता था। जैनदर्शनके मध्ययुगीन ग्रन्थोमे प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते है। ये पूर्वयुगीन ग्रन्थोका प्रतिबिम्ब लेकर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उत्तरकालीन ग्रन्थोके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है। बिना इस आदान-प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमे तो हो ही नही सकता।

१. देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८१६ से ८४७ तकके टिप्पण।

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान—प्रभाचन्द्र शुष्क तार्किक ही नही थे, किन्तु उन्हें जीवनोपयोगी आयुर्वेदका भी परिज्ञान था। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४२४) में वे बधिरता तथा अन्य कर्णरोगोंके लिए बलातैलका उल्लेख करते है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६९) में छाया आदिको पौद्गलिक सिद्ध करते समय उनमे गुणोका सद्भाव दिखानेके लिए उनने वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

"आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला।
कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं (करं) तमः॥

यह श्लोक राजनिघण्टु आदिमे कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है। इसी तरह वैशेषिकोके गुण-पदार्थका खडन करते समय (न्यायकु०, पृ० २७५) वैद्यकतन्त्रमे प्रसिद्ध विशद, स्थिर, खर, पिच्छलत्व आदि गुणोके नाम लिए हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८) मे नड्वलोदक-तृणविशेषके जलसे पादरोगकी उत्पत्ति बताई है।

प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति—सामान्यत वस्तुकी अनन्तात्मकता या अनेकधर्माधारताकी सिद्धिके लिए अकलक आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, मेचकज्ञान और नरसिंह आदिके दृष्टान्त दिए हैं। पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३६९) मे 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है। वे लिखते है कि जैसे एक ही शिव वामाङ्गमे उमा-पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमे विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखड बने रहते हैं उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोको धारण कर सकती है। इसमे कोई विरोध नही होना चाहिए।

उदारविचार—आ० प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे। उनकी तर्कणाशक्ति और उदार विचारोंका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमे मिलता है। इस प्रकरणमे उन्होने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एकत्वका खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है। वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध विकल्पोसे करते है और स्पष्ट शब्दोमे उसे गुणकर्मानुसारिणी मानते है। वे ब्राह्मणत्वजातिनिमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नसे उपलक्षित व्यक्ति-विशेषमे ही करनेकी सलाह देते हैं—

"ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवता वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहार स्यात्? इत्यप्यचोद्यम्; क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थाया तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। तन्न भवत्कल्पित नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्य कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्ध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवाय ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्त.।"

—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७७८। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० ४८६

"प्रश्न—यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नही हैं तब जैनमतमे वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसे होगा? उत्तर—जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोको धारण करें तथा ब्राह्मणोके योग्य विशिष्ट क्रियाओका आचरण करें उनमे ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखनेवाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भलीभाँति किये जा सकते है। अत. आपके द्वारा माना गया नित्य आदि स्वभाववाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारोंको क्रियानुसार ही मानना युक्तिसगत है।"

वे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८७) में और भी स्पष्टतासे लिखते हैं कि—"तत' सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था—इसलिये यह समस्त ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया रूप सदृश परिणमन आदिके निमित्तसे ही होती है।"

बौद्धोंके धम्मपद और श्वेताम्बर आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसका जन्मना माननेके सिद्धान्तका खण्डन किया है—

"न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
जम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥
न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिज मत्तिसंभवं।"—धम्मपद गाथा ३९३
"कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"—उत्तरा० २५।३३

दिगम्बर आचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता श्री जटासिंहनन्दि कितने स्पष्ट शब्दोमें जातिको क्रियानिमित्तक लिखते हैं—

"क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टय स्यात्॥"
—वराङ्गचरित २५।११

"शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारो वर्णोंको 'अहिंसा आदि व्रतोका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिल्पवृत्ति' इन चार प्रकारकी क्रियाओंसे ही मानते हैं। यह सब वर्णव्यवस्था व्यवहारमात्र है। क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नही है।"

ऐसे ही विचार तथा उद्गार पद्मपुराणकार रविषेण, आदिपुराणकार जिनसेन, तथा धर्मपरीक्षाकार अमितगति आदि आचार्योंके पाए जाते हैं[1]। आ० प्रभाचन्द्रने, इन्ही वैदिक संस्कृति द्वारा अनभिभूत, परम्परागत जैनसंस्कृतिके विशुद्ध विचारोका, अपनी प्रखर तर्कधारासे परिसिंचनकर पोषण किया है। यद्यपि ब्राह्मणत्वजातिके खण्डन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधानतया उसके नित्यत्व और ब्रह्मप्रभवत्व आदि अशोके खण्डनके लिए इस प्रकरणको लिखा है और इसके लिखनेमें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कार तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहने पर्याप्त प्रेरणा दी है परन्तु इससे प्रभाचन्द्रकी अपनी जातिविषयक स्वतन्त्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नही आती। उन्होने उसके हर एक पहलूपर विचार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए।

प्रभाचन्द्रका समय

कार्यक्षेत्र और गुरुकुल—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिमें 'पद्मनन्दि सिद्धान्त' को अपना गुरु लिखा है। [2]श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख (न० ४०) में गोल्लाचार्यके शिष्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका उल्लेख है। और इसी शिलालेखमें आगे चलकर प्रथिततर्कग्रन्थकार, शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपसे वर्णन किया गया है। प्रभाचन्द्रके प्रथिततर्कग्रन्थकार और शब्दाम्भोरुहभास्कर ये दोनो विशेषण यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड

१. देखो—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७७८, टि० ९।
२. जैनशिलालेखसंग्रह माणिकचन्द्रग्रन्थमाला।

जैसे प्रथित तर्कग्रन्थोंके रचयिता थे तथा शब्दाम्भोजभास्कर नाम, जैनेन्द्रव्याकरणके कर्ता भी थे। इसी शिलालेखमें पद्मनन्दि सैद्धान्तिकको अविद्धकर्णादिक और कौमारदेवव्रती लिखा है। इन विशेषणोंसे ज्ञात होता है कि—पद्मनन्दि सैद्धान्तिकने कर्णवेध होनेके पहिले ही दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेवव्रती कहे जाते थे। ये मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणके प्रभेदरूप देशीगणके श्रीगोल्लाचार्यके शिष्य थे। प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषणमुनि थे। कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्त शास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे। इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमें हुई थी। तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामें हुए थे। इनके गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त थे और सधर्मा थे कुलभूषणमुनि। मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा-दीक्षा लेकर धारानगरीमें चले आए, और यहीं उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की। ये धाराधीश भोजके मान्य विद्वान् थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी "श्रीभोजदेवराज्ये धारानिवासिना" आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि—यह ग्रन्थ धारानगरीमें भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराणटिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तियोंके "श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना" शब्दोंसे इन ग्रन्थोंकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है। इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है। संभव है कि इनकी शिक्षा-दीक्षा दक्षिणमें हुई हो।

श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख नं० ५५ में मूलसंघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है। इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे। इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"अवर सधर्मर-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोदोमणिः,
स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिः श्रीमान् प्रभाचन्द्रमाः॥ १७॥
श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्कुशः॥ १८॥"

इन श्लोकोंमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धाराधीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायरूप कमलसमूह (प्रमेयकमल) के दिनमणि (मार्तण्ड) थे, शब्दरूप अब्ज (शब्दाम्भोज) के विकास करनेको रोदोमणि (भास्कर) के समान थे। पंडित रूपी कमलोंके प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य थे, रुद्रवादि गजोंको वश करनेके लिए अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे। क्या इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सैद्धान्तके शिष्य, प्रथिततर्कग्रन्थकार एवं शब्दाम्भोजभास्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं? इस प्रश्नका उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है, पर इसमें एक ही बात नयी है। वह है—गुरुरूपसे चतुर्मुखदेवके उल्लेख होनेकी। मैं समझता हूँ कि—यदि प्रभाचन्द्र धारामें आनेके बाद अपने ही देशीयगणके श्री चतुर्मुखदेवको आदर और गुरुकी दृष्टिसे देखते हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके आद्य और परमादरणीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त ही थे। चतुर्मुखदेव द्वितीय गुरु या गुरुसम हो सकते हैं। यदि इस शिलालेखके प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमें प्रभाचन्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा

गया है। हुलेबेल्गोलके एक शिलालेख (नं० ४९२, जैनशिलालेखसंग्रह) में होय्सलनरेश एरेयङ्ग द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुद्ध १३, सवत् १०१५ मे दिया गया था। इस तरह सन् १०९४ में प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६५ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

समयविचार—आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमे डॉ० पाठक, प्रेमीजी[1] तथा मुख्तार सा० आदिका प्राय सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी ८वी शताब्दीके उत्तरार्ध एव नवी शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराणका यह श्लोक—

"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥"

अर्थात्—'जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत्को आह्लादित किया था।' इस श्लोकमे चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझा गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयधवला टीकाको शक स० ७५९ (ईसवी ८३७) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नही कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ईसवी ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमे प्रभाचन्द्र तथा उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्विवादरूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८वी शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवीका पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुहृद्वर प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० १२३) मे डॉ० [2]पाठक आदिके मतका निरास करते हुए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० से १०२० तक निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अन्तर है। तथा जिन आधारोसे यह समय

१. श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने "श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र" लेख (अनेकान्त वर्ष ४ अंक, १) मे महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और गद्यकथाकोश आदिके कर्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमे मुझे लिखते हैं कि—हम समझते हैं कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्त्ता हैं। और तत्त्वार्थवृत्तिपद (सर्वार्थसिद्धिके पदोका प्रकटीकरण), समाधितन्त्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारकी टीका) आदिके कर्त्ता, और शायद रत्नकरण्डटीकाके कर्त्ता भी वही हैं।"

२ पं० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके 'चन्द्रांशुशुभ्रयशसं' श्लोकमे चन्द्रोदयकार किसी अन्य प्रभाचन्द्रकविका उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार प्रभाचन्द्रके स्मृत होनेमे बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवत् नही मालूम होते। यत: (१) आदिपुराणकार इसके लिए बाध्य नही माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य और विद्यानन्दका स्मरण करना ही चाहिए। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यका समय ईसाकी नवी शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होते

निश्चित किया गया है वे भी अभ्रान्त नही हैं। पं० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोमें व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका प्रभाव देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ९५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय व्योमशिवका समय ईसाकी सातवी शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० के बाद नही जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि–पुष्पदन्तके महापुराणपर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। बलात्कारगणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्नलिखित है—

"श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरण सागरसेनसैद्धान्तान्

हैं। यदि प्रभाचन्द्र भी ईसाकी नवी शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानन्द आदि आचार्योंका स्मरण करके भी आदिपुराणकार द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय मैं जयन्तका समय ई० ७५० से ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अत समकालीन-वृद्ध जयन्तसे प्रभावित होकर भी प्रभाचन्द्र आदिपुराणमें उल्लेख्य हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासनसे 'अन्धादयं महानन्धः' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात है जो प्रभाचन्द्रका आदिपुराणमे उल्लेख होनेकी बाधक हो सकती है। क्योंकि आत्मानुशासनके "जिनसेनाचार्यपाद-स्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥" इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेन स्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है; क्योकि वही समय जिनसेनके पादोके स्मरणके लिए ठीक जँचता है। अत आत्मानुशासनका रचनाकाल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासनपर प्रभाचन्द्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है–"बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारक सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः" अर्थात्–गुणभद्र स्वामीने विषयोकी ओर चंचल चित्तवृत्तिवाले बडे धर्मभाई (?) लोकसेनको समझानेके बहाने आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमे इन्ही लोकसेनको स्वय गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि अविकलवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नही बनाया गया; क्योकि उस समय लोकसेन मुनि विषयव्यामुग्धबुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एवं अविकलवृत्त हो गए थे। अत लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तरपुराणकी रचनाके पहिले ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक सभव है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्नमाला (पृ० ७५) मे यही सभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेनकी मृत्युके बाद बनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आन्तरिक जाँच करनेसे हम इस परिणामपर पहुँचे हैं कि इसमें अन्य कवियोंके सुभाषितोका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ–आत्मानुशासनका ३२ वाँ पद्य 'नेता यस्य बृहस्पतिः' भर्तृहरिके नीतिशतकका ८८वा श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वाँ पद्य 'यदेतत्स्वच्छन्दं' वैराग्यशतकका ५०वाँ श्लोक है। ऐसी स्थितिमे 'अन्धादयं महानन्धः' सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चयपूर्वक नही कह सकते। तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाणके अभावमें अभी इस विषयमे अधिक कुछ नही कहा जा सकता।

परिज्ञाय मूलटिप्पणिकाञ्चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणम् अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बला (त्कार) गणश्री-संघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य ॥ १०२ ॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्य (?) विरचितं समाप्तम् ।"

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यमे लिखा गया है। इसकी प्रशस्तिके श्लोक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना (पृ० १२०) मे उद्धृत किये गये हैं। श्लोकोंके अनन्तर—"श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाण कृतमिति" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह महापुराणपर दोनो आचार्योंके पृथक्-पृथक् टिप्पण हैं। इसका खुलासा प्रेमीजीके लेख[1] से स्पष्ट हो ही जाता है। पर टिप्पण-लेखकने श्रीचन्द्रकृत टिप्पणके 'श्रीविक्रमादित्य' वाले प्रशस्तिलेखके अन्तमें भ्रमवश 'इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम्' लिख दिया है। इसीलिए डॉ० पी० एल० वैद्य[2], प्रो० हीरालालजी तथा प० कैलाशचन्द्रजीने भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका रचनाकाल संवत् १०८० समझ लिया है। अत इस भ्रान्त आधारसे प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि सन् १०२० नही ठहराई जा सकती। अब हम प्रभाचन्द्रके समयकी निश्चित अवधिके साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं —

१–प्रभाचन्द्रने पहिले प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बनाकर ही न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है। मुद्रित प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अन्तमे "श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतिपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।" यह पुष्पिकालेख पाया जाता है। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोमे उक्त पुष्पिकालेख 'श्रीभोजदेवराज्ये' की जगह 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है। अत इस स्पष्ट लेखसे प्रभाचन्द्रका समय जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्तत सन् १०६५ तक माना जा सकता है। और यदि प्रभाचन्द्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् ९८० मानी जानी चाहिए।

श्रीमान् मुख्तारसा०[3] तथा पं० कैलाशचन्द्रजी[4] प्रमेयकमल० और न्यायकुमुदचन्द्रके अन्तमे पाए जानेवाले उक्त 'श्रीभोजदेवराज्ये और जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखोंको स्वयं प्रभाचन्द्रकृत नही मानते। मुख्तारसा० इस प्रशस्तिवाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचन्द्रका मानते हैं तथा प० कैलाशचन्द्रजी इसे पीछेके किसी व्यक्तिकी करतूत बताते हैं। पर प्रशस्तिवाक्यको प्रभाचन्द्रकृत नही माननेमे दोनोके आधार जुदे-जुदे हैं। मुख्तारसा० प्रभाचन्द्रको जिनसेनके पहिलेका विद्वान् मानते है, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदि-वाक्य वे स्वय उन्ही प्रभाचन्द्रका नही मानते। प० कैलाशचन्द्रजी प्रभाचन्द्रको ईसाकी १०वी और ११वी शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराणके टिप्पणकार श्रीचन्द्रके टिप्पणके अन्तिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका अन्तिमवाक्य समझ लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योको प्रभाचन्द्रकृत नही मानना चाहते। मुख्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है[5] कि—प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी कुछ प्रतियोमे यह अन्तिमवाक्य नही पाया जाता। और इसके लिए भाण्डारकर इन्स्टीट्यटकी प्राचीन प्रतियोका हवाला दिया है। मैंने भी इस

१. देखो प० नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' शीर्षक लेख अनेकान्त वर्ष ४, किरण १।

२ महापुराणकी प्रस्तावना, पृ० XIV।

३ रत्नकरण्ड-प्रस्तावना, पृ० ५९-६०।

४ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना, पृ० १२२।

५. रत्नकरण्ड० प्रस्तावना, पृ० ६०।

ग्रन्थका पुन: सम्पादन करते समय जैनसिद्धान्तभवन, आराकी प्रतिके पाठान्तर लिए हैं। इसमे भी उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नही है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनमें जिन आ०, ब०, श्र०, और भा० [1]प्रतियोंका उपयोग किया है, उनमे आ० और ब० प्रतिमे 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति लेख नही है। हाँ, भा० और श्र० प्रतियाँ, जो ताडपत्रपर लिखी हैं, उनमें 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्तिवाक्य है। इनमें भा० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है। इस तरह [2]प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी किन्ही प्रतियोमे उक्त प्रशस्तिवाक्य नही है, किन्हीमे श्रीपद्मनन्दि' श्लोक नही है तथा कुछ प्रतियोंमे सभी श्लोक और प्रशस्ति वाक्य हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोमे 'जयसिंहदेवराज्ये' प्रशस्तिवाक्य नही है। श्रीमान् मुख्तारसा० प्राय इसीसे उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नही मानते।

इसके विषयमे मेरा यह वक्तव्य है कि—लेखक प्रमादवश प्राय मौजूद पाठ तो छोड देते है पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्यग्रन्थमे लगानेका प्रयत्न कम करते हैं। लेखक आखिर नकल करनेवाले लेखक ही तो हैं, उनमे इतनी बुद्धिमानीकी भी कम सभावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्तिको स्वकपोल-कल्पित करके उसमे जोड दे। जिन प्रतियोमे उक्त प्रशस्ति नही हैं तो समझना चाहिए कि लेखकोके प्रमादसे उनमें वह प्रशस्ति लिखी ही नही गई। जब अन्य अनेक प्रमाणोसे प्रभाचन्द्रका समय करीब-करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नही टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्रीभोजदेवराज्ये' या श्री जयसिंहदेवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई है। और जिन-जिन ग्रन्थोमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती है वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२—यापनीयसघाग्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्यकाल (ई० ८१४से ८७७) मे रची थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमे शाकटायनके इन दोनो प्रकरणोका खडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमे स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अत प्रभाचन्द्रका समय ई० ९००से पहिले नही माना जा सकता।

---

१ देखो, इनका परिचय न्यायकु० प्र० भागके सम्पादकीयमें।

२ प० नाथूरामजी प्रेमी अपनी नोटबुकके आधारसे सूचित करते है कि—"भाण्डारकर इन्स्टीट्यूटकी नं० ८३६ (सन् १८७५-७६) की प्रतिमे प्रशस्तिका 'श्रीपद्मनन्दि' वाला श्लोक और 'भोजदेवराज्ये, वाक्य नही। वहीकी नं० ६३८ (सन् १८७५-७६) वाली प्रतिमे 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक है पर 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नही है। पहिली प्रति सवत् १४८९ तथा दूसरी संवत् १७९५ की लिखी हुई है।" वीरवाणीविलास भवनके अध्यक्ष पं० लोकनाथ पार्श्वनाथशास्त्री अपने यहाँकी ताडपत्रकी दो पूर्ण प्रतियोंको देखकर लिखते हैं कि—"प्रतियोकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रितपुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूरे हैं और 'श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना' आदि वाक्य हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी प्रतियोंमें बहुत शैथिल्य है, परन्तु करीब ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी। उन दोनो प्रतियोमे शकसंवत् नही हैं।" सोलापुरकी प्रतिमें "श्रीभोजदेवराज्ये" प्रशस्ति नही है। दिल्लीकी आधुनिक प्रतिमे भी उक्तवाक्य नही है। अनेक प्रतियोंमें प्रथम अध्यायके अन्तमें पाए जानेवाले "सिद्धं सर्वजनप्रबोध" श्लोककी व्याख्या नही है। इन्दौरकी तुकोगंजवाली प्रतिमे प्रशस्तिवाक्य है और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है। खुरईकी प्रतिमें 'भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नहीं है, पर चारों प्रशस्ति श्लोक हैं।

३–सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र' की तुलनामें बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० ९०६ मे अपनी उपमितिभवप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अत न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ९१० के पहिले नही माना जा सकता।

४–भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रंथ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वपोज्ञ न्यायभूषणा नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमे इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्याय-लीलावतीकारके कथनसे[1] ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको सयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुद-चन्द्र (पृ० २८२) मे भासर्वज्ञके इस मतका खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवे अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोका निरूपण है वे सब न्यायसारसे हो लिए गए है। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र[2] विद्याभूषण इनका समय ई० ९०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० ९०० के बाद ही होना चाहिए।

५–आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रन्थ (रचनासमय ९९० वि० ९३३ ई०) के बाद भावसग्रह ग्रन्थ बनाया है। इसकी रचना सभवतः सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'णोकम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमे उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वय देवसेनकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६–आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजभास्कर नामका जैनेन्द्र-न्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया ह। मै 'अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचनाकाल अनुमानत ९६० ई० होना चाहिए। अत प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६० से पहिले नही माना जा सकता।

७–पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराणपर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा ह। इसकी प्रशस्ति रत्न-करण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना (पृ० ६१) मे दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमे लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् ९६५ ई० में समाप्त किया था[3]। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणकर्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द इसके रचयिता है, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होने न्यायकुमुदचन्द्र-की रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोका एवं पुष्पिकालेखका पूरा-पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्यकाल तक निश्चित करनेमे साधक तो हो ही सकते है।

८–श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोपर श्रीधर-की कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् ९९१ मे समाप्त की थी। अतः

१. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २८२, टि० ५।

२. न्यायसार प्रस्तावना, पृ० ५।

३. देखो, महापुराणकी प्रस्तावना।

प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ९९० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना संगत मालूम होता है ।

९—श्रवणबेल्गोलाके लेख नं० ४० (६४) मे एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है—

"अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लाके ।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥ १५ ॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधि,
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान् ।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुन्दकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥"

उस लेखमे वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोके बलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोके कर्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही है। धवलाटीका, पु० २ की प्रस्तावनामें ताडपत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समयपर सयुक्तिक ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका साराश यह है—"उक्त शिलालेखमे कुलभूषणसे आगेकी शिष्यपरम्परा इस प्रकार है—कुलभूषणके सिद्धान्तवारानिधि सद्वृत्त कुलचन्द्र नामके शिष्य हुए, कुलचन्द्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुरमे तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे—सामन्तकेदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए—गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण बसदिके अधीन केल्लंगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमे एक दानशाला स्थापित की थी। उन्ही अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वाधिकारि हिरिय भडारी, अभिनवगङ्गदंडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्खनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समयपर प्रकाश डालनेवाला शिलालेख नं० ३९ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके स्वर्गवासका समय शक १०८५ सुभानु सवत्सर आषाढ शुक्ल ९ बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्खनन्दि माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्लने गुरुभक्तिसे उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढी बाद हुए हैं। अत इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयसे १००–१२५ वर्ष अर्थात् शक ९५० (ई० १०२८) के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमे सहायक एक और प्रमाण मिलता है—कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहारं गडरादित्यदेवके उल्लेख शक स० १०३० से १०५८ तकके लेखोमे पाए जाते है। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।"

यह विवेचन शक सं० १०८५ मे लिखे गए शिलालेखोके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओंका ध्यानसे समीक्षण करनेपर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके सधर्मा कुलभूषणकी शिष्य-परम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यों नही मिलता ? मुझे तो इसका संभाव्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और

दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रांतमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अकगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयसिंह दोनोके समयमे विद्यमान थे। अत उनकी पूर्वावधि सन् ९९० के आसपास माननेमे कोई बाधक नही है।

१०—वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमे अनेकों पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शक सं० ९४७ (ई० १०२५) मे बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय प्रकरणपर न्यायविनिश्चयविवरण या न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामे पचासों जैन-जैनेतर आचार्योंके ग्रन्थोसे प्रमाण उद्धृत किए गए है। सभव है कि वादिराजके समयमे प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थ-कारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नही होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोके प्रकाशमे इन्हे प्रसङ्गसाधनके रूपमे तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक सभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्व-शाली रहे हैं अत वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नही किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—ईसाकी चौदहवी शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) मे प्रमेय-कमलमार्त्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होने अपनी न्यायदीपिका वि० स० १४४२ (ई० १३८५) मे बनाई थी[1]। ईसाकी १३वी शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२९३) मे न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२वी शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति-टीका (पृ० ३७१ A) ने लघीयस्त्रयकी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्याय-कुमुदचन्द्रमे की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृत की है। ईसाकी १२वी शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायावतारटीकाटिप्पण (पृ० २१, ७६) मे तथा माणिक्यचन्द्रने काव्यप्रकाशकी टीका (पृ० १४) मे प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अत इन १२वी शताब्दी तकके विद्वानोके उल्लेखोके आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२वी शताब्दीके बादके विद्वान् नही हैं।

२—रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्रपर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। प० जुगलकिशोर जी मुख्तार[2] ने इन दोनो टीकाओको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न है। रत्नकरण्डटीकाका उल्लेख प० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत टीका (अ० ८, श्लो० ९३) मे किये जानेके कारण इस टीकाका रचनाकाल वि० सं० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है, क्योकि अनागारधर्मामृत टीका वि० स० १३०० मे बनकर समाप्त हुई थी। अन्तत मुख्तारसा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३वी शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुख्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) ही मानकर प्रस्तुत विचार करते हैं।

---

१. स्वामी, समन्तभद्र, पृ० २२७।

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका, पृ० ६६ से।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (पृ० ६) में केवलिकवलाहारके खंडनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दावलीका पूरा-पूरा अनुसरण करके लिखा है कि—''तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात् ।'' इसी तरह समाधितन्त्र टीका (पृ७ १५) में लिखा है कि—''यै पुनर्योगसांख्यै· मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरत प्रत्याख्याताः ।'' इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं । अत. प्रभाचन्द्र ईसाकी १२वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं ।

३—वादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा स्वर्गवास वि० सं० १२२२ में हुआ था । ये वि० सं० ११७४ मे आचार्यपदपर प्रतिष्ठित हुए थे । संभव है इन्होंने वि० सं० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकरकी रचना की होगी । स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका नामोल्लेख करके खंडन भी किया गया है । अत प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि अन्तत ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है ।

४—जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठपर श्रुतकीर्तिने पञ्चवस्तुप्रक्रिया बनाई है ।[1] श्रुतकीर्ति कनडीचन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविके गुरु थे । अग्गलकविने शक १०११ ई० १०८९ मे चन्द्रप्रभचरित पूर्ण किया था । अत. श्रुतकीर्तिका समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए । इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक न्यास ग्रन्थका उल्लेख किया है । संभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो । यदि ऐसा है तो प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है । शिमोगा जिलेके शिलालेख नं० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्र न्यासकी रचना की थी । यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया हो जा सकता है । इस तरह प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचन्द्रका समय सन् ९८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं । इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचन्द्रके 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखको देखते है तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते है । उन्हें किसी टीका टिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता ।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रभाचन्द्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब-करीब भोजदेव और जयसिंह देवके समय तक ही आती है । अत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें पाए जानेवाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचन्द्रकर्तृतामें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता । इसलिए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है[2] ।

१. देखो, इसी लेखका ''श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र'' अंश ।

२. प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमसंस्करणके सम्पादक पं० बंशीधरजी शास्त्री, सोलापुरने उक्त संस्करणके उपोद्घातमें श्रीभोजदेवराज्ये प्रशस्तिके अनुसार प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सूचित किया है । और आपने इसके समर्थनके लिए 'नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी गाथाओंका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत होना' यह प्रमाण उपस्थित किया है । पर आपका यह प्रमाण अभ्रान्त नहीं है; प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें 'विग्गहगइमावण्णा' और 'लोयायासपएसे' गाथाएँ उद्धृत हैं । पर ये गाथाएँ नेमिचन्द्रकृत नहीं हैं । पहिली गाथा धवलाटीका (रचनाकाल ई० ८१६) में उद्धृत है और उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी

प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक । उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखव्याख्या), न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय व्याख्या), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि व्याख्या), और शाकटायनन्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) इन चार ग्रन्थोका परिचय न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथमभागकी प्रस्तावनामे दिया जा चुका है । यहाँ उनके शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास); प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारटीका) और गद्यकथाकोशका परिचय दिया जाता है । महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हीके ग्रन्थ हैं । इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्वपर विचार करते है—

भाई प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किवदन्तियोंके आधारसे शाकटायनन्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है[1] । शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेके शिलालेख नं० ४६ (एपि० कर्ना० पु० ८, भा० २, पृ० २६६-२७३) मे प्रभाचन्द्रकी प्रशंसापरक ये दो श्लोक हैं–

"माणिक्यनन्दिजिनराजवाणीप्राणाधिनाथः परवादिमर्दी ।
चित्र प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्तण्डवृद्धौ नितरा व्यदीपित ॥
[2]सुखि···न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः ।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥"

जैनसिद्धान्तभवन, आरामे वर्धमानमुनिकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र है । उसमे भी ये श्लोक हैं । उनमे 'सुखि....' की जगह 'सुखीशे' तथा 'व्रतीन्दवे' के स्थानमे 'प्रभेन्दवे' पाठ है । यह शिलालेख १६ वी शताब्दीका

पाई जाती है । दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६वी) कृत सर्वार्थसिद्धिमे उद्धृत है । अत इन प्राचीन गाथाओंको नेमिचन्द्रकृत नही माना जा सकता । अवश्य ही इन्हें नेमिचन्द्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहमे संगृहीत किया है । अत इन गाथाओका उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयको ११वी सदी नही साध सकता ।

१. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना, पृ० १२५ ।

२. इस शिलालेखके अनुवादमे राइस सा० ने आ० पूज्यपादको ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायनन्यासका कर्ता लिख दिया है । यह गलती आपसे इसलिये हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादकी प्रशसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अन्वय आपने भूलसे "सुखि" इत्यादि श्लोकके साथ कर दिया है । वह श्लोक यह है—

"न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहित वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टोकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद,
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥"

थोड़ी-सी सावधानीसे विचार करनेपर यह स्पष्ट मालूम होता है कि 'सुखि' इत्यादि श्लोकके चतुर्थ्यन्त पदोंका 'न्यास' वाले श्लोकसे कोई भी सम्बन्ध नही है । ब्र० शीतलप्रसादजीने 'मद्रास और मैसूरप्रान्तके स्मारक' में तथा प्रो० हीरालालजीने 'जैनशिलालेख सग्रह' की भूमिका (पृ० १४१) मे भी राइस सा० का अनुसरण करके इसी गलतीको दुहराया है ।

है और वर्धमानमुनिका समय भी १६वीं शताब्दी ही है। शाकटायनन्यासके प्रथम दो अध्यायोंकी प्रतिलिपि स्याद्वादविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौरसे पलटनेपर मुझे इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें निम्नलिखित कारणोंसे सन्देह उत्पन्न हुआ है—

१–इस ग्रन्थमें मंगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं[1]।

२–सन्धियोंके अन्तमें तथा ग्रन्थमें कहीं भी प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें 'इति प्रभाचन्द्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रभेन्दुजिन.' आदि रूपसे अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३–प्रभाचन्द्र अपनी टीकाओंके प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर आदि नाम रखते हैं जब कि इस ग्रन्थके इन श्लोकोंमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होता—

"शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः।
प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः॥
सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते च यथामति।
ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) क्रियते नामनामतः॥"

४–शाकटायन यापनीयसंघके आचार्य थे और प्रभाचन्द्र थे कट्टर दिगम्बर। इन्होंने शाकटायनकी स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिप्रकरणोंका खंडन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचन्द्रके द्वारा न्यास लिखा जाना कुछ समझमें नहीं आता।

५–इस न्यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'संघाधिपति, महाश्रमणसंघ' आदि विशेषणोंका समर्थन है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्थनकी आशा प्रभाचन्द्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा—

"एवंभूतमिदं शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, संघाधिपतिः श्रीमानाचार्यः शाकटायन.।
महतारभते तत्र महाश्रमणसंघपः, श्रमेण शब्दतत्त्वं च विशदं च विशेषतः॥

महाश्रमणसंघाधिपतिरित्यनेन मनः समाधानमाख्यायते। विषयैर्विक्षिप्तचेतसो न मनः समाधि - असमाहितचेतसश्च किं नाम शास्त्रकरणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्याया गुरुत्वं शाकटायन इति अन्वयबुद्धि-प्रकर्ष., विशुद्धान्वयी हि शिष्टैरुपलीयते। महाश्रमणसंघाधिपते सन्मार्गानुशासनं युक्तमेव ..."

६–प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है। यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाध स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते।

१. मैसूर यूनि० में न्यासग्रन्थकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तककी कापी है (नं० A 605)। उसमें निम्नलिखित मंगलश्लोक है—

"प्रणम्य जिनः प्राप्तविश्वव्याकरणाधियः। शब्दानुशासनस्येयं वृत्तेर्विवरणोद्यम॥
अस्मिन् कस्यापि शाक्यन्ते वृत्तयो वृत्तिबाधिताः। न्यासा न्यस्ता कृता टीकाः पारं पारायणान्मुः॥
तत्र वृत्ता (त्या) वाक्यं मंगलश्लोक. श्रीवीरममृतमित्यादि।"

परन्तु इन श्लोकोंकी रचनाशैली प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदिके मंगलश्लोकोंसे अत्यन्त विलक्षण है।

७–प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोंका उत्तरग्रन्थोमे प्राय उल्लेख करते है। यथा न्यायकुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्त्तण्डका तथा शब्दाम्भोजभास्करमे न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंका उल्लेख पाया जाता है। यदि शाकटायनन्यास उन्होंने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता। यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमे प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिए था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमे देखा जाता है।

८–शब्दाम्भोजभास्करमे प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्रावाहिकता है वह इस दुरूह न्यासमें नहीं देखी जाती। इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमे सन्देह होता है। प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिए उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है। मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधारसे इन्हे शाकटायनन्यासका कर्ता लिख दिया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वय शाकटायनने ही बनाया होगा। अनेक वैयाकरणोंने अपने ही व्याकरणपर न्यास लिखे हैं।

शब्दाम्भोजभास्कर—श्रवणवेलगोलके शिलालेख न० ४० (६४) में प्रभाचन्द्रके लिये 'शब्दाम्भोजदिवाकर.' विशेषण भी दिया गया है। इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोके कर्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्र ही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता है। ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका टूक परिचय यहाँ दिया जाता है। यह प्रति संवत् १९८० मे देहलीकी प्रतिसे लिखाई गई है। इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ही न्यास है सो भी बीचमे जगह-जगह त्रुटित है। ३९ से ६७ नं० के पत्र इस प्रतिमें नही हैं। प्रारम्भके २८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे है। पत्रसख्या २२८ है। एक पत्रमें १३ से १५ तक पक्तियाँ और एक पक्तिमे ३९ से ४३ तक अक्षर है। पत्र बडी साइजके हैं। मगलाचरण—

"श्रीपूज्यपादमकलङ्कमनन्तबोधम्, शब्दार्थसशयहरं निखिलेषु बोधम्।
सच्छब्दलक्षणमशेषमतः प्रसिद्ध वक्ष्ये परिस्फुटमलं प्रणिपत्य सिद्धम्॥ १॥
सविस्तरं यद् गुरुभिः प्रकाशितं महामतीनामभिधानलक्षणम्।
मनोहरैः स्वल्पपदैः प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्पिमार्गे (?)
...तदुक्त कृतशिक्ष (?) श्लाघ्यते तद्धि तस्य।
किमुक्तमखिलज्ञैर्भाषमाणे गणेन्द्रो विविक्तमखिलार्थं श्लाघ्यतेऽतो मुनीन्द्रैः॥ ३॥
शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताहर्निशम्,
यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणांशो गत.।
तं स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषा चेतश्चमत्कारक.,
सुव्यक्तैरसमै प्रसन्नवचनैर्न्यास. समारभ्यते॥ ४॥

श्रीपूज्यपादस्वामि (मी) विनेयानां शब्दसाधुत्वासाधुत्वविवेकप्रतिपत्त्यर्थं शब्दलक्षणप्रणयनं कुर्वाणो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमात्यादिकमभिलषन्निष्टदेवतास्तुतिविषयं नमस्कुर्वन्नाह–लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य..."

यह न्यास अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है। इसमें महावृत्तिके शब्द आनुपूर्वीसे लिए गए हैं और कहीं उनका व्याख्यान भी किया है। यथा—

"सिद्धिरनेकान्तात्—प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दाना सिद्धिरनेकान्ताद् भवतीत्यर्थाधिकार आशास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः। अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्व-सामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्त. स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थ."—महावृत्ति, पृ० २।

"द्विविधा च शब्दाना सिद्धि व्यवहाररूपा परमार्थरूपा चेति। तत्र प्रकृतीत्य (?) विकारागमादि-विभागेन रूपा तत्सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्। श्रोत्रग्राह्यौ (ह्याः) परमार्थतो ये प्रकृत्यादिविभागा प्रमाणनयादिभिरभिगमोपायै शब्दाना तत्त्वप्रतिपत्ति परमार्थरूपा सिद्धि तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्, सामयि-तेषां सिद्धिरनेकान्ताद्भवतीत्येषोऽधिकार आशास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्य। अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्त स्वभावो यस्यार्थस्या-सावनेकान्तः अनेकान्तात्मक इत्यर्थ—शब्दाम्भोजभास्कर, पृ० २ A।

इस तुलनासे तथा तृतीयाध्यायके अन्तमें लिखे गये इस श्लोकसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है—

"नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने। प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥"

इस श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया गया है। प्रत्येक पादकी समाप्तिमें "इति प्रभाचन्द्रविर-चिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे द्वितीयाध्यायस्य तृतीय पाद." इसी प्रकारके पुष्पिकालेख हैं।

तृतीय अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित पुष्पिका तथा श्लोक है—

"इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्त.॥ श्रीवर्धमानाय नम.॥

सन्मार्गप्रतिबोधको बुधजनैः संस्तूयमानो हठात्।
अज्ञानान्धतमोपहः क्षितितले श्रीपूज्यपादो महान्॥
सार्वः सन्ततसत्रिसन्धिनियतः पूर्वापरानुक्रमः।
शब्दाम्भोजदिवाकरोऽस्तु सहसा न. श्रेयसे यं च वै॥
नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥ छ॥

श्री वासुपूज्याय नम.। श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्येन सवत् १९८० मासोत्तममासे चैत्रशुक्लपक्षे एकादश्या ११ श्री महावीर संवत् २४४९। हस्ताक्षर छाजूराम जैन विजेश्वरी लेखक पालम (सूबा देहली)"

जैनेन्द्रव्याकरणके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं—एक तो वह जिसपर अभयनन्दिने महावृत्ति, तथा श्रुत-कीर्तिने पञ्चवस्तु नामकी प्रक्रिया बनाई है, और दूसरा वह जिसपर सोमदेवसूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिका है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने[1] अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन तथा पूज्यपादकृत मूल-सूत्रपाठ सिद्ध किया है। प्रभाचन्द्रने इसी अभयनन्दिसम्मत प्राचीन सूत्रपाठपर ही अपना यह शब्दाम्भोज-भास्कर[2] नामका महान्यास बनाया है।

१. देखो—'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' लेख, जैनसाहित्य संशोधक भाग १, अंक २।
२. पंडित नाथूलालजी शास्त्री, इन्दौर सूचित करते हैं कि तुकोगंज, इन्दौरके ग्रन्थभण्डारमें श्री शब्दाम्भोज-भास्करके तीन ही अध्याय हैं। उसका मंगलाचरण तथा अन्तिम प्रशस्तिलेख बम्बईकी प्रतिके ही समान

डॉ० प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी रचनाके बाद बनाया है जैसा कि उनके निम्नलिखित वाक्यसे सूचित होता है—

"तथात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्याय-कुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।"

प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३२९) में प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ देखनेका अनुरोध इसी तरहके शब्दोंमें करते हैं—"एतच्च प्रमेयकमलमार्तण्डे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिह द्रष्टव्यम् ।"

व्याकरण जैसे शुष्क शब्दविषयक इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रकी प्रसन्न लेखनीसे प्रसूत दर्शनशास्त्रकी क्वचित् अर्थप्रधान चर्चा इस ग्रन्थके गौरवको असाधारणतया बढ़ा रही है। इसमें विधिविचार, कारक-विचार, लिंगविचार जैसे अनूठे प्रकरण हैं जो इस ग्रन्थको किसी भी दर्शनग्रन्थकी कोटिमें रख सकते हैं। इसमें समन्तभद्रके युक्त्यनुशासन तथा अन्य अनेक आचार्योंके पद्योंको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। पृ० ६१ में 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता' प्रयोगका हृदयग्राही व्याख्यान किया है। इस तरह क्या भाषा, क्या विषय और क्या प्रसन्नशैली, हर एक दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका निर्मल और प्रौढ़ पाण्डित्य इस ग्रन्थमें उदात्तभावसे निहित है।

प्रवचनसारसरोजभास्कर—यह प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलको विकसित करनेके लिए मार्तण्ड बनाने-के पहिले प्रवचनसारसरोजके विकासार्थ भास्करका उदय किया हो तो कोई अनहोनी बात न होकर अधिक संभव और निश्चित बात मालूम होती है। (प्रमेय) कमलमार्त्तण्ड, (न्याय) कुमुदचन्द्र, (शब्द) अम्भोज-भास्कर जैसे सुन्दर नामोंकी कल्पिका प्रभाचन्द्रीय बुद्धिने हो (प्रवचनसार) सरोजभास्करका उदय किया है। इस ग्रन्थकी संवत् १५५५ की लिखी हुई जीर्ण प्रति हमारे सामने है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बईकी है। इसका परिचय संक्षेपमें इस प्रकार है—

पत्रसंख्या ५३, श्लोकसंख्या १७४६, साइज १३ × ६। एक पत्रमें १२ पंक्तियाँ तथा एक पंक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं। लिखावट अच्छी और शुद्धप्राय है। प्रारम्भ—

"ओं नमः सर्वज्ञाय शिष्याशय । ।

वीरं प्रवचनसारं निखिलार्थं निर्मलजनानन्दम् ।

वक्ष्ये सुखावबोधं निर्वाणपदं प्रणम्याप्तम् ॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सकललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयवशेनोपदर्शयितुकामो निर्विघ्न-शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह ॥ छ ॥ एस सुरासुर "।"

अन्त—"इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकारः समाप्तः ॥ छ ॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पून्य(र्णि)माया तिथौ गुरुवासरे गिरिपुरे व्या० पुरुषोत्तम लि० ग्रन्थ-संख्या षट्चत्वारिंशदधिकानि सप्तदशशतानि ॥ १७४६ ॥"

मध्यकी सन्धियोंका पुष्पिकालेख—"इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे..." है।

इस टीकामें जगह-जगह उद्धृत दार्शनिक अवतरण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं सरल प्रसन्नशैली

है। पं० भुजबलीजी शास्त्रीके पत्रसे ज्ञात हुआ है कि कारकलके मठमें भी इसकी प्रति है। इस प्रतिमें भी तीन अध्यायका न्यास है। प्रेमीजी सूचित करते हैं कि बम्बईके भवनमें इसकी एक प्राचीन प्रति है उसमें चतुर्थ अध्यायके तीसरे पादके २११वें सूत्र तकका न्यास है, आगे नहीं है। हो सकता है कि यह प्रभाचन्द्रकी अन्तिम कृति ही हो और इसलिए पूर्ण न हो सकी हो।

इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है। अवतरण--(गा० २।१०) ''नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः'' (गा० २।२८) ''स्वोपात्तकर्मवशात् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः'' इनमें दूसरा अवतरण राजवार्तिकका तथा प्रथम किसी बौद्ध ग्रन्थका है। ये दोनों अवतरण प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद०में भी पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने—

(गा० २।१३) ''यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मकं सत्तातः पृथग्वा ? तत्राद्यः पक्षो न भवति; यदि सत् स्वरूपं द्रव्यं तदा असत्स्वरूपं ध्रुवं निश्चयेन न तं तत् भवति। कथं केन प्रकारेण द्रव्यं खरविषाणवत्। हर्यादिपुण्ये अर्ण्णं वा। अथ सत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूतं द्रव्यं भवति तदा अतः पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्ताकल्पना व्यर्था। सत्तासम्बन्धात्सत्त्वे चान्योन्याश्रयः सिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तासम्बन्धसिद्धिः तत्याश्च सम्बन्धसिद्धौ सत्यां तत्सत्त्वसिद्धिरिति। तत्सत्त्वसिद्धिमन्तरेणापि सत्तासम्बन्धे खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गः। तस्मात् द्रव्यं स्वयं सत्ता स्वयमेव सदभ्युपगन्तव्यम्।'' (गा० २।१६) ''......तथाहि—द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रवत्तांस्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्वा द्रोष्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति। गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुणः। द्रव्यं वा द्रव्यान्तरात् येन विशिष्यते स गुणः। इत्येतस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपे गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवनं एसो एष हि अतद्भावः।'' इन गाथाओंकी अमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओंसे इस टीकाकी तुलना करनेपर इसकी दार्शनिकप्रसूतता अपने आप झलक मारती है। इस टीकाका जयसेनीयटीकापर प्रभाव है और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है।

अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन ३६ गाथाओंकी व्याख्या नहीं की है प्रायः वे गाथाएँ प्रवचनसार-सरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं। जयसेनीय टीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण करते हुए इन गाथाओंकी व्याख्या की गई है। हाँ, जयसेनीयटीकामें दो-तीन गाथाएँ अति रिक्त भी हैं। इस टीकाका लक्ष्य है गाथाओंका संक्षेपसे खुलासा करना। परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे ही दर्शनशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासी रहे हैं इसलिए जहाँ खास अवसर आया वहाँ उन्होंने संक्षेपसे दार्शनिक मुद्दोंका भी निर्देश किया है।

प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिभंगीकार श्रुतमुनिके 'सारत्रयनिपुण प्रभाचन्द्र' के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्ताका समय १४वीं सदीका प्रारम्भिक भाग सूचित किया है। परन्तु यह संभावना किसी पुष्ट आधारसे नहीं की गई है।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राक्कालीन तो है ही। आ० जयसेन अपनी टीकामें (पृ० २९) केवलिकवलाहारके खंडनका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि—''अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषाः ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्ते।'' सम्भव है यहाँ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिकी विवक्षा हो। अस्तु, मुझे तो यह संक्षिप्त पर विशद टीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है।

गद्यकथाकोश—यह ग्रन्थ भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका मालूम होता है। इसकी प्रतिमें ८९वीं कथाके बाद ''श्रीजयसिंहदेवराज्ये''[1] प्रशस्ति है। इसके प्रशस्ति श्लोकोंका प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्ति-श्लोकोंसे पूरा-पूरा सादृश्य है। इसका मंगलश्लोक यह है—

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना, पृ० १२२ —
''प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोषं प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेन्द्रम्।
वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धम्॥''
''दैरराज्य चतुर्विधानुपमानाराधनां निर्मलाम्।
प्राप्तं सर्वसुखास्पदं निरुपमं स्वर्गापवर्गप्रदा (?)।

प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोषं प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेन्द्रम् ।
वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धः ॥"

८९वी कथाके अनन्तर "जयसिंहदेवराज्ये" प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है। इसके अनन्तर भी कुछ कथाएँ लिखी हैं। और अन्तमे "सुकोमलै सर्वसुखावबोधै" श्लोक तथा "इति भट्टारक-प्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमे दो स्थलोपर ग्रन्थसमाप्तिकी सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भकी ८९ कथाएँ ही बनाई हो और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। अथवा लेखकने भूलसे ८९वी कथाके बाद ही ग्रन्थसमाप्ति-सूचक पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नही है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक अवस्थामे बनाए होगे यही कारण है कि उनमे 'भोजदेवराज्ये' या 'जयसिंहदेवराज्ये' कोई प्रशस्ति नही पाई जाती और न उन ग्रन्थोमे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते है—तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसार-सरोजभास्कर, [1]प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यकथा-कोश। श्रीमान् प्रेमीजीने [2]रत्नकरण्डटीका, समाधितन्त्रटीका क्रियाकलापटीका[3], आत्मानुशासनतिलका[4]

तेषां धर्मकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना संस्थिता।
स्थेयात् कर्मविशुद्धिहेतुरमला चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥
सुकोमलै सर्वसुखावबोधै पदै प्रभाचन्द्रकृत प्रबन्धः।
कल्याणकालेऽत्र जिनेश्वराणा सुरेन्द्रदन्तीव विराजतेऽसौ ॥ २ ॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिल-मलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्धः कृतः।"

१. योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमार्त्तण्ड नामक टीका पाई जाती है। सभव है प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और राज-मार्त्तण्ड नाम परस्पर प्रभावित हो।

२. प॰ जुगलकिशोरजी मुख्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका और समाधितन्त्रटीकाको एकही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित सिद्ध किया है; जो ठीक है। पर आपने इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रसे भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुत दृढ प्रमाणोपर अवलम्बित नही है। आपके मुख्यप्रमाण है कि—"प्रभाचन्द्रका आदि-पुराणकारने स्मरण किया है इसलिए ये ईसाकी नवमशताब्दीके विद्वान् हैं, और इस टीकामे यशस्ति-लकचम्पू (ई॰ ९५९), वसुनन्दिश्रावकाचार (अनुमानत वि॰ की १३वी शताब्दीका पूर्व भाग) तथा पद्मनन्दि उपासकाचार (अनुमानत. वि॰ स॰ ११८०) के श्लोक उद्धृत पाए जाते हैं, इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नही हो सकती।" इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—जब प्रभाचन्द्रका समय अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणोसे ईसाकी ग्यारहवी शताब्दी सिद्ध होता है तब यदि ये टीकाएँ भी उन्ही प्रभाचन्द्रकी ही हो तो भी इसमे यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतके वाक्योका उद्धृत होना अस्वाभाविक एव अनैतिहासिक नही है। वसुनन्दि और पद्मनन्दिका समय भी विक्रमकी १२ वी और तेरहवी सदी अनुमानमात्र है, कोई दृढ प्रमाण इसके साधक नही दिए गए हैं। पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य थे यह बात पद्मनन्दिके ग्रन्थसे तो नही मालूम होती। वसुनन्दिकी 'पडिगह-

आदि ग्रन्थोंकी भी प्रभाचन्द्रकृत होनेकी सभावना की है, वह खास तौरसे विचारणीय है।

मुक्चट्ठाणं' गाथा स्वयं उन्हींकी बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निश्चित नहीं है। पद्मनन्दिश्रावकाचारके 'अप्रुवाणं' आदि श्लोक भी रत्नकरण्डटीकामें पद्मनन्दिका नाम लेकर उद्धृत नहीं हैं और न इन श्लोकोंके पहिले 'उक्तं च, तथा चोक्तम्' आदि कोई पद ही दिया गया है जिससे इन्हें उद्धृत ही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुख्तार सा० ने इन टीकाओंके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होने में जो प्रमाण दिए हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्डटोका तथा समाधितन्त्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्टशैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—

"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्"—रत्नक० टी०, पृ० ६।
"यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याता.।"—समाधितन्त्रटी०, पृ० १५।

इन दोनो अवतरणोकी प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करनेपर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्त्ताने ही उक्त टीकाओंको बनाया है—

"तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।"—शब्दाम्भोजभास्कर।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमे पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओंसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओंका अक्षरश: सादृश्य है। इति।

३. क्रियाकलापटीकाकी एक लिखित प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है। उसके मंगल और प्रशस्ति श्लोक निम्नलिखित हैं—

मंगल— "जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम्।
अनन्तबोधादिभव गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥"

प्रशस्ति— "वन्दे मोहतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यदीपप्रभुः,
संसृद्धतिसमन्वितस्य निखिलस्नेहस्य संशोषकः।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरणः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः,
तच्छिष्यात्प्रकटार्थतां स्तुतिपदं प्राप्तं प्रभाचन्द्रतः॥ १॥
यो रात्रौ दिवसे पृथि प्रयतां (?) दोषा यतीनां कुतो प्योपाताः (?)
प्रलयं तु····रमलस्तेषां महादर्शितः।
श्रीमद्गौतमनाभिभिर्गणधरैर्लोकत्रयोद्द्योतकैः, सव्यक्त (?)
सकलोऽप्यसौ यतिपतेर्जात. प्रभाचन्द्रत.॥ २॥
य· (यत्) सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठद्वयम्,
नो वाञ्छाकलितन्न दोषमलिनं न श्वासरुद्ध (रुद्ध) क्रमम्।
शान्तामर्थविषये· (मर्षविषैः) समं पशु (पशु) गणैराकर्णितं कर्णतः,
तद्वत् सर्वविद प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वकः॥ ३॥"

इन प्रशस्तिश्लोकोंसे ज्ञात होता है कि जिन प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापटीका रची है वे पद्मनन्दि-सैद्धान्तिकके शिष्य थे। न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दिसैद्धान्तिकके ही शिष्य थे, अतः

क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रशस्तिश्लोकोंकी रचनाशैली भी प्रमेयकमल० आदिकी प्रशस्तियोंसे मिलती-जुलती है।

४. आत्मानुशासनतिलककी प्रति श्री प्रेमीजीने भेजी है। उसका मंगल और प्रशस्ति इस प्रकार है—

मंगल– "वीरं प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम्।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्धमात्मानुशासनमहं प्रवरं प्रवक्ष्ये॥"

प्रशस्ति– "मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदयं निर्मलम्,
भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तैः प्रसन्नै: पदैः।
व्याख्यानं वरमात्मशासनमिदं व्यामोहविच्छेदतः,।
सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यलं चिन्त्यताम्॥ १॥

इतिश्री आत्मानुशासन (नं) सतिलक (कं प्रभाचन्द्राचार्यविरचित (त) सम्पूर्णम्।"



तत्त्वार्थवृत्ति और श्रुतसागर सूरि

१ ग्रन्थविभाग

तत्त्व और तत्त्वाधिगमके उपाय

आजसे २५००–२६०० वर्ष पूर्व इस भारतभूमिके बिहार प्रदेशमें दो महान् नक्षत्रोंका उदय हुआ था, जिनकी प्रभासे न केवल भारत ही आलोकित हुआ था किन्तु सुदूर एशियाके चीन, जापान, तिब्बत आदि देश भी प्रकाशित हुए थे। आज भी विश्वमें जिनके कारण भारतका मस्तक गर्वोन्नत हैं, वे थे निर्ग्रंठनाथपुत्त वर्धमान और शौद्धोदनि–गौतम बुद्ध। इनके उदयके २५० वर्ष पहले तीर्थंकर पार्श्वनाथने काशी देशमें जन्म लिया था और श्रमणपरंपराके चातुर्याम संवरका जगत्को उपदेश दिया था। बुद्धने बोधिलाभके पहिले पार्श्वनाथकी परंपराके केशलुञ्च, आदि उग्रतपोंको तपा था, पर वे इस मार्गमें सफल न हो सके और उनने मध्यम मार्ग निकाला। निर्ग्रंठनाथपुत्त साधनोंकी पवित्रता और कठोर आत्मानुशासनके पक्षपाती थे। वे नग्न रहते थे, किसी भी प्रकारके परिग्रहका सग्रह उन्हें हिंसाका कारण मालूम होता था। मात्र लोकसंग्रहके लिए आचारके नियमोंको मृदु करना उन्हें इष्ट नहीं था। सक्षेपमें बुद्ध मातृहृदय दयामूर्ति थे और निर्ग्रंठनाथपुत्त पितृचेतस्क साधनामय सशोधक योगी थे। बुद्धके पास जब उनके शिष्य आकर कहते थे—'भन्ते, अल्पाचरकी अनुज्ञा दीजिए, या तीन चीवरकी अनुज्ञा दीजिए' तो दयालु बुद्ध शिष्यसंग्रहके लिए उनकी सुविधाओंका ध्यान रखकर आचारको मृदु कर उन्हें अनुज्ञा देते थे। महावीरकी जीवनचर्या इतनी अनुशासित थी कि उनके सघके शिष्योंके मनमें यह कल्पना ही नहीं आती थी कि आचारके नियमोंको मृदु करानेका प्रस्ताव भी महावीर-से किया जा सकता है। इस तरह महावीरकी सघपरम्परामें चुने हुए अनुशासित दीर्घ तपस्वी थे, जब कि बुद्धका सघ मृदु, मध्यम, सुकुमार सभी प्रकारके भिक्षुओंका संग्राहक था। यद्यपि महावीरकी तपस्याके नियम अत्यन्त अहिंसक, अनुशासनबद्ध और स्वावलंबी थे फिर भी उस समय उनका सघ काफी बडा था। उसकी आचारनिष्ठा दीर्घ तपस्या और अनुशासनकी साक्षी पाली साहित्यमे पग-पगपर मिलती है।

महावीर कालमें ६ प्रमुख संघनायकोंकी चर्चा पिटक साहित्य और आगम साहित्यमे आती है। बौद्धों-के पाली ग्रन्थोंमे उनकी जो चर्चा है उस आधारसे उनका वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—

१–अजितकेशकम्बलि—भौतिकवादी, उच्छेदवादी।

२–मक्खलिगोशाल—नियतिवादी, संसारशुद्धिवादी।

३–पूरण कश्यप—अक्रियावादी।

४–प्रकुध कात्यायन—शाश्वतार्थवादी, अन्योन्यवादी।

५–संजयवेलट्ठिपुत्त—संशयवादी, अनिश्चयवादी या विक्षेपवादी।

६–बुद्ध—अव्याकृतवादी, चतुरार्यसत्यवादी, अभौतिक क्षणिक अनात्मवादी।

७–निर्ग्रंठनाथपुत्त—स्याद्वादी, चातुर्यामसंवरवादी।

अजितकेशकम्बलिका कहना था कि—"दान, यज्ञ तथा होम सब कुछ नहीं है। भले बुरे कर्मोंका फल नहीं मिलता। न इहलोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है, न अयोनिज (औपपातिक देव) सत्व है, और न इहलोकमें वैसे ज्ञानी और समर्थश्रमण या ब्राह्मण हैं जो इहलोक और परलोकको स्वयं जानकर और साक्षात्कारकर कहेंगे। मनुष्य पाँच महाभूतोंसे मिलकर बना है। मनुष्य जब मरता है तब पृथ्वी

महापृथ्वीमें, जल-जलमें, तेज-तेजमें, वायु-वायुमे और इन्द्रियाँ आकाशमें लीन हो जाती हैं। लोग मरे हुए मनुष्यको खाटपर रखकर ले जाते हैं, उसकी निन्दा प्रशंसा करते हैं। हड्डियाँ उजली हो बिखर जाती हैं और सब कुछ भस्म हो जाता है। मूर्ख लोग जो दान देते हैं उसका कोई फल नही होता। आस्तिकवाद झूठा है। मूर्ख और पंडित सभी शरीरके नष्ट होते ही उच्छेदको प्राप्त हो जाते हैं। मरनेके बाद कोई नहीं रहता।"

इस तरह अजितका मत उच्छेद या भौतिकवादका प्रख्यापक था।

२—मक्खलिगोशालका मत—"सत्त्वोके क्लेशका कोई हेतु नही है, प्रत्यय नही है। बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके ही सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वोकी शुद्धिका कोई हेतु नही है, कोई प्रत्यय नही है। बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके सत्त्व शुद्ध होते हैं। अपने कुछ नही कर सकते है, पराये भी कुछ नही कर सकते है, (कोई) पुरुष भी कुछ नही कर सकता है, बल नही है, वीर्य नही है, पुरुषका कोई पराक्रम नही है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अपने वशमे नही है, निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोगके फेरसे छै जातियोंमें उत्पन्न हो सुख और दुःख भोगते हैं। वे प्रमुख योनियाँ चौदह लाख छियासठ सौ हैं। पाँच सौ पाँच कर्म, तीन अर्ध कर्म (केवल मनसे शरीरसे नही), बासठ प्रतिपदाएँ (मार्ग), बासठ अन्तरकल्प, छै अभिजातियाँ, आठ पुरुषभूमियाँ, उन्नीस सौ आजीवक, उनचास सौ परिव्राजक, उनचास सौ नाग-आवास, बीस सौ इंद्रियाँ, तीस सौ नरक, छत्तीस रजोधातु, सात सज्ञी (होशवाले) गर्भ सात, असंज्ञी गर्भ, सात निर्ग्रन्थ गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात स्वर, सात सौ सात गाँठ, सात सौ सात प्रपात, सात सौ सात स्वप्न, और अस्सी लाख छोटे बडे कल्प हैं, जिन्हे मूर्ख और पडित जानकर और अनुगमनकर दुःखोंका अंत कर सकते हैं। वहाँ यह नही है—इस शील या व्रत या तप, ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा। परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूँगा। सुख दुःख द्रोण (—नाप) से तुले हुए हैं, संसारमे घटना-बढ़ना उत्कर्ष, अपकर्ष नही होता। जैसे कि सूतकी गोली फेंकनेपर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पडित दौडकर—आवागमनमे पडकर, दुःखका अन्त करेंगे।"

गोशालक पूर्ण भाग्यवादी था। स्वर्ग, नरक आदि मानकर भी उनकी प्राप्ति नियत समझता था, उसके लिए पुरुषार्थ कोई आवश्यक या कार्यकारी नही था। मनुष्य अपने नियत कार्यक्रमके अनुसार सभी योनियोमे पहुँच जाता है। यह मत पूर्ण नियतिवादका प्रचारक था।

३—पूरण कश्यप—"करते कराते, छेदन करते, छेदन कराते, पकाते पकवाते, शोक करते, परेशान होते, परेशान कराते, चलते चलाते, प्राण मारते, बिना दिये लेते, सेध काटते, गाँव लूटते, चोरी करते, बटमारी करते, परस्त्रीगमन करते, झूठ बोलते भी, पाप नही किया जाता। छुरेसे तेज चक्र द्वारा जो इस पृथ्वीके प्राणियोका (कोई) एक मासका खलियान, एक मासका पुञ्ज बना दे; तो इसके कारण उसको पाप नही, पापका आगम नही होगा। यदि घात करते कराते, काटते, कटाते, पकाते पकवाते, गंगाके दक्षिण तीरपर भी जाये; तो भी इसके कारण उसको पाप नही, पापका आगम नही होगा। दान देते, दान दिलाते, यज्ञ करते, यज्ञ कराते, यदि गगाके उत्तर तीर भी जाये, तो इसके कारण उसको पुण्य नही, पुण्यका आगम नही होगा। दान दम सयमसे, सत्य बोलनेसे न पुण्य है, न पुण्यका आगम है।"

पूरण कश्यप परलोकमे जिनका फल मिलता है ऐसे किसी भी कर्मको पुण्य या पापरूप नही समझता था। इस तरह पूरण कश्यप पूर्ण अक्रियावादी था।

४–प्रक्रुध कात्यायनका मत था—"यह सात काय (समूह) अकृत–अकृतविध–अनिर्मित–निर्माण-रहित, अवध्य–कूटस्थ, स्तम्भवत् (अचल) हैं। यह चल नहीं होते, विकारको प्राप्त नहीं होते; न एक-दूसरेको हानि पहुँचाते हैं; न एक-दूसरेके सुख, दुःख या सुख-दुःखके लिए पर्याप्त हैं। कौनसे सात ? पृथिवी-काय, अपकाय, तेज काय, वायु-काय, सुख, दुःख और जीवन यह सात काय अकृत० सुख-दुःखके योग्य नहीं हैं। यहाँ न हन्ता (–मारनेवाला) है, न घातयिता (–हनन करनेवाला), न सुननेवाला, न सुनानेवाला, न जाननेवाला, न जतलानेवाला। जो तीक्ष्ण शस्त्रसे शीश भी काटे (तो भी) कोई किसीको प्राणसे नहीं मारता। सातों कायोंसे अलग, विवर (–खाली जगह) में शस्त्र (–हथियार) गिरता है।"

यह मत अन्योन्यवाद या शाश्वतवाद कहलाता था।

५–सजय वेलट्ठि पुत्तका मत था—"यदि आप पूछे, क्या परलोक है ? और यदि मैं समझूं कि परलोक है, तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरहसे भी नहीं कहता, मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं है', मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं नहीं है।' परलोक नहीं है०। परलोक है भी और नहीं भी०, परलोक न है और न नहीं है०। अयोनिज (–औपपातिक) प्राणी हैं०। अयोनिज प्राणी नहीं है, है भी और नहीं भी, न है और न नहीं है०। अच्छे बुरे काम के फल हैं, नहीं है, है भी और नहीं भी, न है और न नहीं हैं०। तथागत मरनेके बाद होते हैं, नहीं होते हैं०। यदि मुझे ऐसा पूछे और मैं ऐसा समझूं कि मरनेके बाद तथागत न रहते हैं और न नहीं रहते हैं तो मैं ऐसा आपको कहूँ। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता।"

सजय स्पष्टतः सशयालु क्या घोर अनिश्चयवादी था आज्ञानिक था। उसे तत्त्वकी प्रचलित चतुष्कोटियोंमेंसे एकका भी निर्णय नहीं था। पालीपिटकमें इसे 'अमराविक्षेपवाद' नाम दिया है। भले ही हमलोगोंकी समझमें यह विक्षेपवादी ही हो पर संजय अपने अनिश्चयमें निश्चित था।

६–बुद्ध—अव्याकृतवादी थे। उनने इन दस बातोंको अव्याकृत[1] बतलाया है। १–लोक शाश्वत है ? २–लोक अशाश्वत है ? ३–लोक अन्तवान् है ? ४–लोक अनन्त है ? ५–वही जीव वही शरीर है ? ६–जीव अन्य और शरीर अन्य है ? ७–मरनेके बाद तथागत रहते हैं ? ८–मरनेके बाद तथागत नहीं रहते ? ९–मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते ? १०–मरनेके बाद तथागत नहीं होते, नहीं नहीं होते ?

इन प्रश्नोंमें लोक आत्मा और परलोक या निर्वाण इन तीन मुख्य विवादग्रस्त पदार्थोंको बुद्धने अव्याकृत कहा। दीघनिकायके पोट्ठपादसुत्तमें इन्हीं प्रश्नोंको अव्याकृत कहकर [2]अनेकांशिक कहा है। जो व्याकरणीय हैं उन्हें 'ऐकांशिक' अर्थात् एक सुनिश्चितरूपमें जिनका उत्तर हो सकता है कहा है। जैसे दुःख आर्यसत्य है हो ? उसका उत्तर हो 'है ही' इस एक अंशरूपमें दिया जा सकता है। परन्तु लोक आत्मा और निर्वाण-

---

१. "सस्सतो लोको इतिपि, असस्सतो लोको इतिपि, अन्तवा लोको इतिपि, अनन्तवा लोको इतिपि, तं जीवं तं सरीरं इतिपि, अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं इतिपि, होति तथागतो परम्मरणा इतिपि, होति च न च होति च तथागतो परम्मरणा इतिपि, नेव होति न नहोति तथागतो परम्मरणा इतिपि।"—मज्झिमनि० चूलमालुंक्यसुत्त।

२. "कतमे च ते पोट्ठपाद मया अनेकंसिका धम्मा देसिता पञ्ञत्ता ? सस्सतो लोको ति वा पोट्ठपाद मया अनेकंसिको धम्मो देसितो पञ्ञत्तो। असस्सतो लोको ति खो पोट्ठपाद मया अनेकंसिको. ."—दीघनि० पोट्ठपादसुत्त।

संबंधी प्रश्न अनेकांशिक हैं अर्थात् इनका उत्तर हाँ या न इनमेंसे किसी एकके द्वारा नही दिया जा सकता। कारण बुद्धने स्वयं बताया है कि यदि वही जीव वही शरीर कहते हैं तो उच्छेदवाद अर्थात् भौतिकवादका प्रसंग आता है जो बुद्धको इष्ट नहीं और यदि अन्य जीव और अन्य शरीर कहते हैं तो नित्य आत्मवादका प्रसंग आता है जो भी बुद्धको इष्ट नही था। बुद्धने प्रश्नव्याकरण चार प्रकारका बताया है—(१) एकांश (है या नही एकमे) व्याकरण, प्रतिपृच्छाव्याकरणीय प्रश्न, विभज्य व्याकरणीय प्रश्न और स्थापनीय प्रश्न। जिन प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत कहा है उन्हें अनेकांशिक भी कहा है अर्थात् उनका उत्तर एक हैं या नही मे नहीं दिया जा सकता। फिर इन प्रश्नोके बारेमे कुछ कहना सार्थक नही, भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी नही और न निर्वेद, निरोध, शांति, परमज्ञान या निर्वाणके लिए आवश्यक है।

इस तरह बुद्ध जब आत्मा, लोक और निर्वाणके सम्बन्धमे कुछ भी कहनेको अनुपयोगी बताते हैं तो उसका सीधा अर्थ यही ज्ञात होता है कि वे इन तत्त्वोके सम्बन्धमे अपना निश्चित मत नही बना सके थे। शिष्योंके तत्त्वज्ञानके झगडेमे न डालनेकी बात तो इसलिए समझमे नही आती कि जब उस समयका प्रत्येक मतप्रचारक इनके विषयमे अपने मतका प्रतिपादन करता था, उसका समर्थन करता था, जगह-जगह इन्हीके विषयमे वाद रोपे जाते थे, तब उस हवासे शिष्योकी बुद्धिको अचलित रखना दुःशक ही नही अशक्य ही था। बल्कि इन अव्याकृत कोटिकी सृष्टि ही उन्हे बौद्धिक हीनताका कारण बनती होगी।

बुद्धका इन्हे अनेकांशिक कहना भी अर्थपूर्ण हो सकता है। अर्थात् वे एकान्त न मानकर अनेकांश मानते तो थे पर चूंकि निर्ग्रंठनाथपुत्तने इस अनेकांशताका प्रतिपादन सियावाद अर्थात् स्याद्वादसे करना प्रारम्भ कर दिया था, अत विलक्षणशैली स्थापनके लिए उनने इन्हे अव्याकृत कह दिया हो। अन्यथा अनेकांशिक और अनेकान्तवादमें कोई खास अन्तर नही मालूम होता। यद्यपि सजयवेलट्ठिपुत्त, बुद्ध और निर्ग्रंठनाथपुत्त इन तीनोंका मत अनेकांशको लिए हुए है, पर सजय उन अनेक अशोके सम्बन्धमे स्पष्ट अनिश्चयवादी है। वह साफ-साफ कहता है कि "यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ कि परलोक है या नही है आदि"। बुद्ध कहते हैं यह अव्याकृत है। इस अव्याकृति और सजयकी अनिश्चितिमे क्या सूक्ष्म अन्तर है सो तो बुद्ध ही जानें, पर व्यवहारत शिष्योके पल्ले न तो सजय ही कुछ दे सके और न बुद्ध ही। बल्कि सजयके शिष्य अपना यह मत बना भी सके होगे कि—इन आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका निश्चय नही हो सकता, किन्तु बुद्ध शिष्योका इन पदार्थोंके विषयमे बुद्धिभेद आज तक बना हुआ है। आज श्री राहुल साकृत्यायन बुद्धके मतको अभौतिक अनात्मवाद जैसा उभयप्रतिषेधी नाम देते हैं। इधर आत्मा शब्दसे नित्यत्वका डर है उधर भौतिक कहनेसे उच्छेदवादका भय है। किंतु यदि निर्वाणदशामे दीपनिर्वाणकी तरह चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है तो भौतिकवादसे क्या विशेषता रह जाती है? चार्वाक हर एक जन्ममे आत्माकी भूतोंसे उत्पत्ति मानकर उनका भूतविलय मरणकालमे मान लेता है। बुद्धने इस चित्तसन्ततिको पचस्कधरूप मानकर उसका विलय हर एक मरणके समय न मानकर ससारके अन्तमें माना। जिस प्रकार रूप एक मौलिक तत्त्व अनादि अनन्त धारारूप है उस प्रकार चित्तधारा न रही, अर्थात् चार्वाकका भौतिकत्व एक जन्मका है जब कि बुद्धका भौतिकत्व एक ससारका। इस प्रकार बुद्ध तत्त्वज्ञानकी दिशामे सजय या भौतिकवादी अजितके विचारोमेंही दोलान्दोलित रहे और अपनी इस दशामे भिक्षुओको न डालनेकी शुभेच्छासे उनने इनका अव्याकृत रूपसे उपदेश दिया। उनने शिष्योको समझा दिया कि इस वाद-प्रतिवादसे निर्वाण नही मिलेगा, निर्वाणके लिए चार आर्यसत्योका ज्ञान ही आवश्यक है। बुद्धने कहा कि दुःख, दुःखके कारण, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधका मार्ग इन चार आर्यसत्योंको जानो। इनके यथार्थ ज्ञानसे दुःखनिरोध होकर मुक्ति हो जायगी। अन्य किसी ज्ञानकी आवश्यकता नही है।

निग्गंठनाथपुत्त—निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर स्याद्वादी और सप्ततत्त्वप्रतिपादक थे। उनके विषयमें यह प्रवाद था कि निग्गंठनाथपुत्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, उन्हें सोते जागते हुए समय ज्ञानदर्शन उपस्थित रहता है। ज्ञातपुत्र वर्धमानने उस समयके प्रत्येक तीर्थंकरकी अपेक्षा वस्तुतत्त्वका सर्वांगीण साक्षात्कार किया था। वे न सजयकी तरह अनिश्चयवादी थे और न बुद्धकी तरह अव्याकृतवादी और न गोशालक आदिकी तरह भूतवादी ही। उनने प्रत्येक वस्तुको परिणामीनित्य बताया। आजतक उस समयके प्रचलित मतवादियोंके तत्त्वोंका स्पष्ट पता नही मिलता। बुद्धने स्वयं कितने तत्त्व या पदार्थ माने थे यह आजभी विवादग्रस्त है। पर महावीरके तत्त्व आजतक निर्विवाद चले आए है। महावीरने वस्तुतत्त्वका एक स्पष्टदर्शन प्रस्तुत किया उनने कहा कि—इस जगत्मे कोई द्रव्य या सत् नया उत्पन्न नही होता और जो द्रव्य या सत् विद्यमान हैं उनमे प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपरभी उनका अत्यंत विनाश नही हो सकता। पर कोई भी पदार्थ दो क्षणतक एक पर्यायमे नही रहता, प्रतिक्षण नूतन पर्याय उत्पन्न होती है पूर्व पर्याय विनष्ट होती है पर उस मौलिक तत्त्वका आत्यन्तिक उच्छेद नही होता, उसकी धारा प्रवाहित रहती है। चित्तसन्तति निर्वाणावस्थामे शुद्ध हो जाती है पर दीपककी तरह बुझकर अस्तित्वविहीन नही होती। रूपान्तर तो हो सकता है पदार्थान्तर नही और न अपदार्थ ही या पदार्थविलय ही। इस ससारमे अनन्त चेतन आत्माएँ अनन्त पुद्गल परमाणु, एक आकाश द्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालपरमाणु इतने मौलिक द्रव्य हैं। इनकी सख्यामे कमी नही हो सकती और न एक भी नूतन द्रव्य उत्पन्न होकर इनकी संख्यामे एककी भी वृद्धि कर सकता है। प्रतिक्षण परिवर्तन प्रत्येक द्रव्यका होता रहता है उसे कोई नही रोक सकता, यह उसका स्वभाव है।

महावीरकी जो मातृकात्रिपदी समस्त द्वादशांगका आधार बनी, वह यह है—''उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा'' अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है, और ध्रुव है। उत्पाद और विनाशसे पदार्थ रूपान्तरको प्राप्त होता है पर ध्रुवसे अपना मौलिक अस्तित्व नही खोता। जगत्से किसी भी 'सत्' का समूल विनाश नही होता। इतनी ही ध्रुवता है। इसमे न कूटस्थनित्यत्व जैसे शाश्वतवादका प्रसंग है और न सर्वथा उच्छेदवादका ही। मूलत. प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है। उसमे यही अनेकाशता या अनेकान्तता या अनेकधर्मात्मकता है। इसके प्रतिपादनके लिए महावीरने एक खास प्रकारकी भाषा-शैली बनाई थी। उस भाषाशैलीका नाम स्याद्वाद है। अर्थात् अमुक निश्चित अपेक्षासे वस्तु ध्रुव है और अमुक निश्चित अपेक्षासे उत्पादव्ययवाली। अपने मौलिक सत्त्वसे च्युत न होनेके कारण उसे ध्रुव कहते हैं तथा प्रतिक्षण रूपान्तर होनेके कारण उत्पादव्ययवाली या अध्रुव कहते हैं। ध्रुव कहते समय अध्रुव अशका लोप न हो जाय और अध्रुव कहते समय ध्रुव अशका उच्छेद न समझा जाय इसलिए 'सिया' या 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् 'स्यात् ध्रुव है' इसका अर्थ है कि अपने मौलिक अस्तित्वकी अपेक्षा वस्तु ध्रुव है, पर ध्रुवमात्र ही नही है इसमें ध्रुवत्वके सिवाय अन्य धर्म भी हैं इसकी सूचनाके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग आवश्यक है। इसी तरह रूपान्तरकी दृष्टिसे वस्तुमे अध्रुवत्व ही है पर वस्तु अध्रुवमात्र ही नही है उसमें अध्रुवत्वके सिवाय अन्य धर्म भी विद्यमान है इसकी सूचना 'स्यात्' पद देता है। तात्पर्य यह कि 'स्यात्' शब्द वस्तुमे विद्यमान अविवक्षित शेष धर्मोंकी सूचना देता है। बुद्ध जिस भाषाके सहज प्रकारको नही पा सके या प्रयोगमे नही लाये और जिसके कारण उन्हें अनेकांशिक प्रश्नोको अव्याकृत कहना पड़ा उस भाषाके सहज प्रकारको महावीरने दृढ़ताके साथ व्यवहारमें लिया। पाली साहित्यमे 'स्यात्' 'सिया' शब्द का प्रयोग इसी निश्चित प्रकारकी सूचनाके लिए हुआ है। यथा मज्झिमनिकायके महाराहुलोवादसुत्तमें आपोधातुका वर्णन करते हुए लिखा है कि—''कतमा च राहुल आपोधातु ? आपोधातु सिया अज्झत्तिका

सिया बाहिरा।" अर्थात् आपोधातु कितने प्रकारकी है। एक आभ्यन्तर और दूसरी बाह्य। यहाँ आभ्यन्तर धातुके साथ 'सिया'—स्यात् शब्दका प्रयोग आपोधातुके आभ्यन्तरके सिवाय द्वितीय प्रकारकी सूचनाके लिए है। इसी तरह बाह्यके साथ 'सिया' शब्दका प्रयोग बाह्यके सिवाय आभ्यन्तर भेदकी सूचना देता है। तात्पर्य यह कि न तो तेजोधातु बाह्यरूप ही है और न आभ्यन्तर रूप ही। इस उभयरूपताकी सूचना 'सिया'–स्यात्' शब्द देता है। यहाँ न तो स्यात् शब्दका शायद अर्थ है और न संभवत. और न कदाचित् ही, क्योंकि तेजोधातु शायद आभ्यन्तर और शायद बाह्य नहीं है और न संभवत. आभ्यन्तर और बाह्य और न कदाचित् आभ्यन्तर और कदाचित् बाह्य, किन्तु सुनिश्चित रूपसे आभ्यन्तर और बाह्य उभय अंशवाली है। इसी तरह महावीरने प्रत्येक धर्मके साथ सिया-स्यात्' शब्द जोडकर अविवक्षित शेष धर्मोंकी सूचना दी है। 'स्यात्' शब्दको शायद संभव या कदाचित्का पर्यायवाची कहना सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है।

महावीरने वस्तुतत्त्वको अनन्तधर्मात्मक देखा और जाना। प्रत्येक पदार्थ अनन्त ही गुण पर्यायोंका अखण्ड आधार है। उसका विराट् रूप पूर्णतया ज्ञानका विषय हो भी जाय पर शब्दोंके द्वारा तो नहीं ही कहा जा सकता। कोई ऐसा शब्द नहीं जो उसके पूर्ण रूपको स्पर्श कर सके। शब्द एक निश्चित दृष्टिकोणसे प्रयुक्त होते हैं और वस्तुके एक ही धर्मका कथन करते हैं। इस तरह जब स्वभावत विवक्षानुसार अमुक धर्मका प्रतिपादन करते हैं तब अविवक्षित धर्मोंकी सूचनाके लिए एक ऐसा शब्द अवश्य ही रखना चाहिए जो वक्ता या श्रोताको भूलने न दे। 'स्यात्' शब्दका यही कार्य है, वह श्रोताको वस्तुके अनेकान्त स्वरूप-का द्योतक करा देता है। यद्यपि बुद्धने इस अनेकांशिक सत्यके प्रकाशनकी स्याद्वादवाणीको न अपनाकर उन्हें अव्याकृत कोटिमे डाला है, पर उनका चित्त वस्तुकी अनेकांशिकताको स्वीकार अवश्य करता था।

निग्गठनाथपुत्त महावीर ने वैदिक क्रियाकाण्डको उतना ही निरर्थक और श्रेय प्रतिरोधी मानते थे जितना कि बुद्ध, और आचार अर्थात् चरित्रको वे मोक्षका अन्तिम साधन मानते थे। पर उनने यह साक्षात् अनुभव किया कि जबतक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमे शिष्य निश्चित विचार नहीं बना लेता है जिस आत्माको दु ख होता है और जिसे दु खकी निवृत्ति करके निर्वाण पाना है तबतक वह मानसविचिकित्सासे मुक्त होकर साधना कर ही नहीं सकता। जब बाह्यजगत्के प्रत्येक झोंकेमे यह आवाज गूंज रही हो कि—''आत्मा देहरूप है या देहसे भिन्न ? परलोक क्या है ? निर्वाण क्या है ?'' और अन्यतीर्थिक अपना मत प्रचारित कर रहे हो, इसीको लेकर वाद रोपे जाते हो उस समय शिष्यों-को यह कहकर तत्काल चुप तो किया जा सकता है कि 'क्या रखा है इस विवादसे कि आत्मा है, हमे तो दु.खनिवृत्तिके लिए प्रयास करना चाहिए' परन्तु उनकी मानसशल्य और बुद्धिविचिकित्सा नहीं निकल सकती और वे इस बौद्धिकहीनता और विचारदीनताके हीनतर भावोंसे अपने चित्तकी रक्षा नहीं कर सकते। संघमें इन्हीं अन्यतीर्थिकोंके शिष्य और खासकर वैदिक ब्राह्मण भी दीक्षित होते थे। जब ये सब पचमेल व्यक्ति जो मूल आत्माके विषयमे विभिन्न मत रखते हो और चर्चा भी करते हो तो मानस अहिंसक कैसे रह सकते हैं ? जबतक उनका समाधान वस्तुस्थिति मूलक न हो जाय तब तक वे कैसे परस्पर समता और अहिंसाका वातावरण बना सकते होंगे ?

महावीरने तत्त्वका साक्षात्कार किया और उनने धर्मकी सीधी परिभाषा बताई वस्तुका स्वरूपस्थित होना—''वत्थुसहावो धम्मो''–जिस वस्तुका जो स्वरूप है उसका उस पूर्णस्वरूपमें स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि यदि अपनी उष्णताको लिए हुए है तो वह धर्मस्थित है। यदि वह वायुके झोकोंसे स्पन्दित हो रही है तो कहना होगा कि वह चंचल है अतः अपने निश्चलस्वरूपसे च्युत होनेके कारण उतने अंशमें धर्मस्थित नहीं

है। जल जबतक अपने स्वाभाविक शीतस्पर्शमें है तबतक वह धर्मस्थित है। यदि वह अग्निके संसर्गसे स्वरूप-च्युत हो जाता है तो वह अधर्मरूप हो जाता है और इस परसंयोगजन्य विभावपरिणतिको हटा देना ही जल-की मुक्ति है उसकी धर्मप्राप्ति है। रोगीके यदि अपने आरोग्यस्वरूपका भान न कराया जाय तो वह रोगको विकार क्यों मानेगा और क्यों उसकी निवृत्तिके लिए चिकित्सामें प्रवृत्ति करेगा ? जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा तो स्वरूप आरोग्य है। इस अपथ्य आदिसे मेरा स्वाभाविक आरोग्य विकृत हो गया है, तभी वह उस आरोग्य प्राप्तिके लिए चिकित्सा कराता है। भारतकी राष्ट्रीय कांग्रेसने प्रत्येक भारतवासीको जब यह स्वरूप-बोध कराया कि—''तुम्हें भी अपने देशमें स्वतंत्र रहनेका अधिकार है इन परदेशियोंने तुम्हारी स्वतन्त्रता विकृत कर दी है, तुम्हारा इस प्रकार शोषण करके पददलित कर रहे हैं। भारत सन्तानो, उठो, अपने स्वातन्त्र्य-स्वरूपका भान करो'' तभी भारतने अँगडाई ली और परतंत्रताका बन्धन तोड स्वातन्त्र्य प्राप्त किया। स्वातन्त्र्यस्वरूपका भान किए बिना उसके सुखदरूपकी झाँकी पाए बिना केवल परतन्त्रता तोडनेके लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नही आ सकती थी। अत उस आधारभूत आत्माके मूलस्वरूपका ज्ञान प्रत्येक मुमुक्षको सर्वप्रथम होना ही चाहिए जिसे बन्धनमुक्त होना है।

भगवान् महावीरने मुमुक्षके लिए दु ख अर्थात् बन्ध, दु खके कारण अर्थात् मिथ्यात्व आदि आस्रव, मोक्ष अर्थात् दु खनिवृत्तिपूर्वक स्वरूपप्राप्ति और मोक्षके कारण संवर अर्थात् नूतन बन्धके कारणोका अभाव और निर्जरा अर्थात् पूर्वसचित दु खकारणोका क्रमश विनाश, इस तरहके चतुरार्यसत्यकी तरह बन्ध, मोक्ष, आस्रव, संवर और निर्जरा इन पाँच तत्त्वोके ज्ञानके साथ ही साथ जिस जीवको यह सब बन्ध मोक्ष होता है उस जीवका ज्ञान भी आवश्यक बताया है। शुद्ध जीवको बन्ध नही हो सकता। बन्ध दोमे होता है। अत जिस कर्म-पुद्गलसे यह जीव बँधता है उस अजीव तत्त्वको भी जानना चाहिए जिससे उसमे राग-द्वेष आदिकी धारा आगे न चले। अत मुमुक्षके लिए जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका ज्ञान आवश्यक है।

जीव—आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है। अनन्त है। अमूर्त है। चैतन्यशक्तिवाला है। ज्ञानादि पर्यायोंका कर्त्ता है। कर्मफलका भोक्ता है। स्वयप्रभु है। अपने शरीरके आकारवाला है। मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमनकर लोकान्तमें पहुँच जाता है।

भारतीय दर्शनोंमें प्रत्येकने कोई न कोई पदार्थ अनादि माने हैं। परम नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतोको अनादि मानता है। ऐसे किसी क्षणकी कल्पना नहीं आती जिसके पहले कोई क्षण न रहा हो। समय कबसे प्रारम्भ हुआ इसका निर्देश असंभव है। इसी तरह समय कब तक रहेगा यह उत्तरावधि बताना भी असभव है। जिस प्रकार काल अनादि अनन्त है उसकी पूर्वावधि और उत्तरावधि निश्चित नहीं की जा सकती उसी तरह आकाशकी कोई क्षेत्रकृत मर्यादा नही बताई जा सकती। 'सर्वतो ह्यनन्तं तत्' सभी ओरसे वह अनन्त है। आकाश और कालकी तरह हम प्रत्येक सत्के विषयमें यह कह सकते हैं कि उसका न किसी खास क्षणमें नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा। ''नाऽसतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः'' अर्थात् किसी असत्का सद्रूपसे उत्पाद नही होता और न किसी सत्का समूल विनाश ही हो सकता है। जितने गिने हुए सत् है उनकी संख्यामे वृद्धि नही हो सकती और उनकी संख्यामेंसे किसी एककी भी एक ही हो सकती है। रूपान्तर प्रत्येकका होता रहता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा एक स्वतंत्र सत् है तथा पुद्गल परमाणु स्वतन्त्र सत्। अनादिसे यह आत्मा पुद्गलसे सम्बद्ध ही मिलता आया है।

अनादिबद्ध माननेका कारण—आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध मिलता है। आज इसका ज्ञान और सुख यहाँ तक कि जीवन भी शरीराधीन है। शरीरमें विकार होनेसे ज्ञानतन्तुओंमें क्षीणता आते ही स्मृतिभ्रंश आदि देखे ही जाते हैं। अतः आज संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्धका कोई हेतु ही नहीं था। शरीरसम्बन्ध या पुनर्जन्मके कारण है—राग, द्वेष, मोह और कषायादिभाव। शुद्ध आत्मामें ये विभावभाव हो ही नहीं सकते। चूँकि आज ये विभाव और उनका फल शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभवमें आ रहा है अतः मानना होगा कि आज तक इनकी अशुद्ध परम्परा चली आई है।

भारतीय दर्शनोंमें यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर विधिमुखसे नहीं दिया जा सकता। ब्रह्ममें अविद्याका कब उत्पन्न हुई ? प्रकृति और पुरुषका संयोग कब हुआ ? आत्मासे शरीरसम्बन्ध कब हुआ ? इसका एकमात्र उत्तर है—अनादिसे। दूसरा प्रकार है कि—यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोग हो ही नहीं सकता था। शुद्ध होनेके बाद कोई ऐसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग या अविद्योत्पत्ति होने दे। उसी तरह आत्मा यदि शुद्ध हो जाता है तो कोई कारण उसके अशुद्ध होनेका या पुद्गलसंयोगका नहीं रह जाता। जब दो स्वतंत्र सत्ताक द्रव्य है तब उनका संयोग चाहे जितना भी पुराना क्यों न हो नष्ट किया जा सकता है और दोनोंको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—खानिसे सर्वप्रथम निकाले गये सोनेमें कीट असंख्य कालसे लगी होगी पर प्रयोगसे चूँकि वह पृथक् की जाती है, अतः यह निश्चय किया जाता है कि सुवर्ण अपने शुद्धरूपमें इस प्रकार है तथा कीट इस प्रकार। सारांश यह कि जीव और पुद्गलका बंध अनादि है। चूँकि वह दो द्रव्योंका बन्ध है अतः स्वरूपबोध हो जानेपर वह पृथक् किया जा सकता है।

आज जीवका ज्ञान दर्शन सुख राग द्वेष आदि सभी भाव बहुत कुछ इस जीवन पर्यायके अधीन है। एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञानका उपयोग विज्ञान या धर्मके अध्ययनमें लगाता है। जवानीमें उसके मस्तिष्कमें भौतिक उपादान अच्छे थे, प्रचुर मात्रामें थे, तो वे ज्ञानतन्तु चैतन्यको जगाए रखते थे। बुढ़ापा आनेपर उसका मस्तिष्क शिथिल पड जाता है। विचारशक्ति लुप्त होने लगती है। स्मरण नहीं रहता। वही व्यक्ति अपनी जवानीमें लिखे गये लेखको को बुढ़ापेमें पढता है तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। वह विश्वास नहीं करता कि यह उसीने लिखा होगा। मस्तिष्ककी यदि कोई भौतिक ग्रन्थि बिगड जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमागका यदि कोई पेच कस गया या ढीला हो गया तो उन्माद, सन्देह आदि अनेक प्रकारकी धारायें जीवनको ही बदल देती है। मुझे एक ऐसे योगीका प्रत्यक्ष अनुभव है जिसे शरीरकी नसोंका विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्ककी एक किसी खास नसको दबाता था तो मनुष्यको हिंसा और क्रोधके भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण दूसरी नसके दबाते ही अत्यन्त दया और करुणाके भाव होते थे और वह रोने लगता था। एक तीसरी नसके दबाते ही लोभका तीव्र उदय होता था और यह इच्छा होती थी कि चोरी कर ले। एक नसके दबाते ही परमात्मभक्तिकी ओर मनकी गति होने लगती थी। इन सब घटनाओंसे एक इस निश्चित परिणामपर तो पहुँच ही सकते है कि हमारी सारी शक्तियाँ जिनमें ज्ञान दर्शन सुख राग द्वेष कषाय आदि है, इस शरीर पर्यायके अधीन है। शरीरके नष्ट होते ही जीवन भरमें उपासित ज्ञान आदि पर्यायशक्तियाँ बहुत कुछ नष्ट हो जाती हैं। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार जाते हैं।

आज इस अशुद्ध आत्माकी दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो ज्ञानकी शक्ति बनी रहनेपर भी ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मामें सुननेकी और देखनेकी शक्ति मौजूद है पर यदि आँखें फूट जायें और कान फट जायें तो वह शक्ति रखी रह जायगी और देखना-सुनना नहीं हो सकेगा। विचारशक्ति

विद्यमान है पर मन यदि ठीक नही है तो विचार नही किये जा सकते। पक्षाघात यदि हो जाय तो शरीर देखनेमें वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्माकी दशा और इसका सारा विकास पुद्गलके अधीन हो रहा है। जीवननिमित्त भी खान-पान श्वासोच्छ्वास आदि सभी साधन भौतिक ही अपेक्षित होते हैं। इस समय यह जीव जो भी विचार करता है, देखता है, जानता है या क्रिया करता है उसका एक जातिका सस्कार आत्मापर पडता है और उस सस्कारकी प्रतीक एक भौतिक रेखा मस्तिष्कमें खिच जाती है। दूसरे, तीसरे, चौथे जो भी विचार या क्रियाएँ होती हैं उन सबके सस्कारोंको यह आत्मा धारण करता है और उनकी प्रतीक टेढ़ी-सीधी, गहरी-उथली, छोटी-बडी नाना प्रकारकी रेखाएँ मस्तिष्कमें भरे हुए मक्खन जैसे भौतिक पदार्थपर खिचती चली जाती हैं। जो रेखा जितनी गहरी होगी वह उतने ही अधिक दिनो तक उस विचार या क्रियाको स्मृति करा देती है। तात्पर्य यह कि आजका ज्ञान शक्ति और सुख आदि सभी पर्याय शक्तियाँ हैं जो इस शरीर-पर्याय तक ही रहती हैं।

व्यवहारनयसे जीवको मूर्तिक माननेका अर्थ यही है कि अनादिसे यह जीव शरीरसम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोडनेपर भी सूक्ष्म कर्म शरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्म शरीरके नाशको ही मुक्ति कहते है। जीव पुद्गल दो द्रव्य ही ऐसे हैं जिनमे क्रिया होती है तथा विभाव या अशुद्ध परिणमन होता है। पुद्गलका अशुद्ध परिणमन पुद्गल और जीव दोनोके निमित्तसे होता है जबकि जीवका अशुद्ध परिणमन यदि होगा तो पुद्गलके ही निमित्तसे। शुद्ध जीवमें अशुद्ध परिणमन न तो जीवके निमित्तसे हो सकता है और न पुद्गलके निमित्तसे। अशुद्ध जीवके अशुद्ध परिणमनकी धारामें पुद्गल या पुद्गलसम्बद्ध जीव निमित्त होता है। जैन सिद्धान्तने जीवको देहप्रमाण माना है। यह अनुभवसिद्ध भी है। शरीरके बाहर उस आत्माके अस्तित्व माननेका कोई खास प्रयोजन नही रह जाता और न यह तर्कगम्य ही है। जीव-के ज्ञानदर्शन आदि गुण उसके शरीरमे ही उपलब्ध होते हैं शरीरके बाहर नही। छोटे बडे शरीरके अनुसार असख्यातप्रदेशी आत्मा सकोच-विकोच करता रहता है। चार्वाकका देहात्मवाद तो देहको ही आत्मा मानता है तथा देहकी परिस्थितिके साथ आत्माका भी विनाश आदि स्वीकार करता है। जैनका देहपरिमाण-आत्मवाद पुद्गलदेहसे आत्मद्रव्यकी अपनी स्वतत्र सत्ता स्वीकार करता है। न तो देहकी उत्पत्तिसे आत्माकी उत्पत्ति होती है और न देहके विनाशसे आत्मविनाश। जब कर्मशरीरकी शृंखलासे यह आत्मा मुक्त हो जाता है तब अपनी शुद्ध चैतन्य दशामे अनन्तकाल तक स्थिर रहता है। प्रत्येक द्रव्यमे एक अगुरुलघुगुण होता है जिसके कारण उसमे प्रतिक्षण परिणमन होते रहनेपर भी न तो उसमे गुरुत्व ही आता है और न लघुत्व ही। द्रव्य अपने स्वरूपमे सदा परिवर्तन करते रहते भी अपनी अखण्ड मौलिकताको भी नही खोता।

आजका विज्ञान भी हमे बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढी-सीधी, उथली-गहरी रेखाएँ मस्तिष्कमे भरे हुए मक्खन जैसे श्वेत पदार्थमे खिचती जाती है और उन्हीके अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं। जैन कर्म सिद्धान्त भी यही है कि—रागद्वेष प्रवृत्तिके कारण केवल सस्कार ही आत्मापर नही पड़ता किन्तु उस संस्कारकी यथासमय उद्बुद्ध करानेवाले कर्मद्रव्यका संबध भी होता जाता है। यह कर्मद्रव्य पुद्गल द्रव्य ही है। मन, वचन, कायकी प्रत्येक क्रियाके अनुसार शुक्ल या कृष्ण कर्म पुद्गल आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हो जाते हैं। ये विशेष प्रकारके कर्मपुद्गल बहुत कुछ तो स्थूल शरीरके भीतर ही पडे रहते हैं जो मनोभावोंके अनुसार आत्माके सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते है, कुछ बाहिरसे भी आते हैं। जैसे तपे हुए लोहेके गोलेको पानीसे भरे हुए बर्तनमें छोडिये तो वह गोला जलके भरे हुए बहुतसे परमाणुओको जिस तरह अपने भीतर सोख लेता है उसी तरह अपनी गरमी और भापसे बाहिरके परमाणुओंको भी खीचता है। लोहेका

गोला जब तक गरम रहता है, पानीमें उथल-पुथल पैदा करता रहता है, कुछ परमाणुओंको लेगा, कुछको निकालेगा, कुछको भाप बनाएगा, एक अजीबसी परिस्थिति समस्त वातावरणमें उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब यह आत्मा रागद्वेषादिसे उत्पन्न होता है तब शरीरमें एक अद्भुत हलनचलन उपस्थित करता है। क्रोध आते ही आँखें लाल हो जाती हैं, खूनकी गति बढ़ जाती है, मुँह सूखने लगता है, नथुने फड़कने लगते हैं। कामवासनाका उदय होते ही सारे शरीरमें एक विलक्षण प्रकारका मन्थन शुरू होता है। और जब तक वह कषाय या वासना शांत नहीं हो लेती, यह चहल-पहल-मन्थन आदि नहीं रुकता। आत्माके विचारोंके अनुसार पुद्गल द्रव्योंमें परिणमन होता है और विचारोंके उत्तेजक पुद्गल द्रव्य आत्माके वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं। जब-जब उन कर्मपुद्गलोंपर दबाव पड़ता है तब-तब वे कर्मपुद्गल फिर उन्हीं रागादि भावोंको आत्मामें उत्पन्न कर देते हैं। इसी तरह रागादि भावोंसे नए कर्मपुद्गल कर्मशरीरमें शामिल होते हैं तथा उन कर्मपुद्गलोंके परिपाकके अनुसार नूतन रागादि भावोंकी सृष्टि होती है। फिर नए कर्मपुद्गल बँधते हैं फिर उनके परिपाकके समय रागादिभाव होते हैं। इस तरह रागादिभाव और कर्म पुद्गलबन्धका चक्र बराबर चलता रहता है जबतक कि चरित्रके द्वारा रागादि भावोंको रोक नहीं दिया जाता। इस बन्ध परम्पराका वर्णन आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इस प्रकार किया है—

"जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥"

अर्थात् जीवके द्वारा किये गए राग-द्वेष-मोह आदि परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वतः ही कर्मरूपसे परिणत हो जाते हैं। आत्मा अपने चिदात्मक भावोंसे स्वयं परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। जीव और पुद्गल एक-दूसरेके परिणमनमें परस्पर निमित्त होते हैं।

सारांश यह कि जीवकी वासनाओं राग-द्वेष-मोह आदिकी और पुद्गल कर्मबन्धकी धारा बीजवृक्ष-सन्ततिकी तरह अनादिसे चालू है। पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे इस समय राग-द्वेष आदि उत्पन्न हुए हैं, इनमें जो जीवकी आसक्ति और लगन होती है वह नूतन कर्मबन्ध करती है। उस बद्धकर्मके परिपाकके समय फिर राग-द्वेष होते हैं, फिर उनमें आसक्ति और मोह होनेसे नया कर्म बँधता है। यहाँ इस शंकाको कोई स्थान नहीं है कि—'जब पूर्वकर्मसे रागद्वेषादि तथा रागद्वेषादिसे नूतन कर्मबन्ध होता है तब इस चक्रका उच्छेद ही नहीं हो सकता, क्योंकि हर एक कर्म रागद्वेष आदि उत्पन्न करेगा और हर एक राग-द्वेष कर्मबन्धन करेंगे।' कारण यह है कि पूर्वकर्मके उदयसे होनेवाले कर्मफलभूत रागद्वेष वासना आदिका भोगना कर्मबन्धक नहीं होता किन्तु भोगकालमें जो नूतन राग-द्वेषरूप अध्यवसान भाव होते हैं वे बन्धक होते हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिका कर्मभोग निर्जराका कारण होता है और मिथ्यादृष्टिका बन्धका कारण। सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वकर्मके उदयकालमें होनेवाले राग-द्वेष आदिको विवेकपूर्वक शान्त तो करता है, पर उनमें नूतन अध्यवसान नहीं करता, अतः पुराने कर्म तो अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं और नूतन आसक्ति न होनेके कारण नवीन बन्ध होता नहीं अतः सम्यग्दृष्टि तो दोनों तरफसे हलका हो चलता है जब कि मिथ्यादृष्टि कर्मफलके समय होनेवाले राग, द्वेष, वासना आदिके समय उनमें की गई नित नई आसक्ति और लगनके परिणामस्वरूप नूतन कर्मोंको और भी दृढ़तासे बाँधता है, और इस तरह मिथ्यादृष्टिका

कर्मचक्र और भी तेजीसे चालू रहता है। जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्कपर अनुभवकी असंख्य सीधी-टेढ़ी, गहरी-उथली रेखाएँ पडती रहती हैं, एक प्रबल रेखा आई तो उसने पहिलेकी निर्बल रेखाको साफ कर दिया और अपना गहरा प्रभाव कायम कर दिया, दूसरी रेखा पहिलेकी रेखाको या तो गहरा कर देती है या साफ कर देती है और इस तरह अन्तमे कुछ ही अनुभव रेखाएँ अपना अस्तित्व कायम रखती हैं, उसी तरह आज कुछ राग-द्वेषादि जन्य सस्कार उत्पन्न हुए कर्मबन्धन हुआ, पर दूसरे ही क्षण शील, व्रत, संयम और श्रुत आदिकी पूत भावनाओंका निमित्त मिला तो पुराने संस्कार धुल जायेंगे या क्षीण हो जायेंगे, यदि दुबारा और भी तीव्र रागादि भाव हुए तो प्रथमबद्ध कर्म पुद्गलमें और भी तीव्र फलदात्री अनुभागशक्ति पड जायगी। इस तरह जीवनके अन्तमे कर्मोंका बन्ध, निर्जरा, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि होते-होते जो रोकड बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्मशरीरके रूपमे परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्नि-पर उबलती हुई बटलोईमे दाल, चावल, शाक जो भी डालिए उसका ऊपर-नीचे जाकर उफान लेकर नीचे बैठकर अन्तमे एक पाक बन जाता है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मोंमें शुभभावोंसे शुभकर्मोंमे रसप्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभकर्मोंमे रसापकर्ष और स्थितिहानि होकर अनेक प्रकारके ऊँचनीच परिवर्तन होते-होते अन्तमे एक जातिका पाकयोग्य स्कन्ध बन जाता है, जिसके क्रमोदयसे रागादि सुखदु खादि भाव उत्पन्न होते हैं। अथवा, जैसे उदरमे जाकर आहारका मल-मूत्र, स्वेद आदि रूपसे कुछ भाग बाहर निकल जाता है कुछ वही हजम होकर रक्तादि धातु रूपसे परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादिरूप बन जाता है, बीचमे चूरन-चटनी आदिके योगसे लघुपाक दीर्घपाक आदि अवस्थाएँ भी होती हैं पर अन्तमे होनेवाले परिपाकके अनुसार ही भोजनमे सुपाकी दुष्पाकी आदि व्यवहार होता है, उसी तरह कर्मका भी प्रतिसमय होनेवाले शुभ-अशुभ विचारोके अनुसार तीव्र मन्द मध्यम मृदु मदुतर आदि रूपसे परिवर्तन बराबर होता रहता है। कुछ कर्म सस्कार ऐसे है जिनमे परिवर्तन नही होता और उनका फल भोगना ही पडता है, पर ऐसे कम बहुत कम हैं जिनमें किसी जातिका परिवर्तन न हो। अधिकाश कर्मोंमें अच्छे-बुरे विचारके अनुसार उत्कर्षण (स्थिति और अनुभागकी वृद्धि), अपकर्षण (स्थिति और अनुभागकी हानि), सक्रमण (एकका दूसरे रूपमें परिवर्तन), उदीरणा (नियत समयसे पहिले उदयमे ले आना) आदि होते रहते हैं और अन्तमे शेष कर्मबन्धका एक नियत परिपाकक्रम बनता है। उसमे भी प्रतिसमय परिवर्तनादि होते हैं। तात्पर्य यह कि यह आत्मा अपने भले-बुरे विचारो और आचारोसे स्वयं बन्धनमे पड़ता है और ऐसे संस्कारों-को अपनेमे डाल लेता है जिनसे छुटकारा पाना सहज नही होता। जैन सिद्धान्तने उन विचारोके प्रतिनिधि-भूत कर्मद्रव्यका इस आत्मासे बंध माना है जिससे उस कर्मद्रव्यपर भार पडते ही या उसका उदय आते ह वे भाव आत्मामे उदित होते हैं।

जगत् भौतिक है। वह पुद्गल और आत्मा दोनोसे प्रभावित होता है। कर्मका एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्तिका केन्द्र है, आत्मासे सम्बद्ध हो गया तब उसकी सूक्ष्म पर तीव्र शक्तिके अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते हैं। बाह्य पदार्थोंके समवधानके अनुसार कर्मोंका यथासम्भव प्रदेशोदय या फलोदय रूपसे परिपाक होता रहता है। उदयकालमें होनेवाले तीव्र मन्द मध्यम शुभ-अशुभ भावोंके अनुसार आगे उदय आनेवाले कर्मोंके रसदानमें अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि बहुत कुछ कर्मोंका फल देना या अन्य रूप-में देना या न देना हमारे पुरुषार्थके ऊपर निर्भर है।

इस तरह जैनदर्शनमें यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध माना गया है और प्रयोगसे शुद्ध हो सकता है। शुद्ध होनेके बाद फिर कोई कारण अशुद्ध होनेका नही रह जाता। आत्माके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार भी

कर्मके निमित्तसे भी होता है। अतः कर्म निमित्तके हट जानेपर आत्मा अपने अन्तिम आकारमे रह जाता है और ऊर्ध्व लोकमें लोकाग्रभागमें स्थिर हो अपने अनन्त चैतन्यमे प्रतिष्ठित हो जाता है।

इस आत्माका स्वरूप उपयोग है। आत्माकी चैतन्यशक्तिको उपयोग कहते हैं। यह चिति शक्ति बाह्य अभ्यन्तर कारणोसे यथासंभव ज्ञानाकार पर्यायको और दर्शनाकार पर्यायको धारण करती है। जिस समय यह चैतन्यशक्ति ज्ञेयको जानती है उस समय साकार होकर ज्ञान कहलाती है तथा जिस समय मात्र चैतन्याकार रहकर निराकर रहती है तब दर्शन कहलाती है। ज्ञान और दर्शन क्रमसे होनेवाली पर्याएँ हैं। निरावरण दशामे चैतन्य अपने शुद्ध चैतन्य रूपमे लीन रहता है। इस अनिर्वचनीय स्वरूपमात्र प्रतिष्ठित आत्ममात्र दशाको ही निर्वाण कहते है। निर्वाण अर्थात् वासनाओका निर्वाण। स्वरूपसे अमूर्तिक होकर भी यह आत्मा अनादि कर्मबन्धनबद्ध होनेके कारण मूर्तिक हो रहा है और कर्मबन्धन छूटते ही फिर अपनी शुद्ध अमूर्तिक दशामे पहुँच जाता है। यह आत्मा अपनी शुभ-अशुभ परिणतियोका कर्त्ता है। और उनके फलोका भोक्ता है। उसमे स्वय परिणमन होता है। उपादान रूपसे यही आत्मा रागद्वेष मोह अज्ञान क्रोध आदि विकार परिणामोको धारण करता है और उसके फलोको भोगता है। ससार दशामें कर्मके अनुसार नानाविध योनियोमे शरीरोका धारण करता है पर मुक्त होते ही स्वभावत ऊर्ध्वगमन करता है और लोकाग्रभागमे सिद्धलोकमे स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है।

अत. महावीरने बन्ध मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोके सिवाय इस आत्माका भी ज्ञान आवश्यक बताया जिसे शुद्ध होना है तथा जो अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी अशुद्ध दशा स्वरूपप्रच्युतिरूप है और यह स्वस्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमे ममकार और अहंकार करनेके कारण हुई है। अत इस अशुद्ध दशाका अन्त भी स्वरूपज्ञानसे ही हो सकता है। जब इस आत्माको यह तत्त्वज्ञानहोता है कि—"मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्यमय वीतराग निर्मोह निष्कषाय शान्त निश्चल अप्रमत्त ज्ञानरूप है। इस स्वरूपको भूलकर पर पदार्थों-में ममकार तथा शरीरको अपना माननेके कारण रागद्वेष मोह कषाय प्रमाद मिथ्यात्व आदि विकासरूप मेरा परिणमन हो गया है और इन कषायोकी ज्वालामे मेरा रूप समल और चचल हो रहा है। यदि पर पदार्थों से ममकार और रागादिभावोंसे अहकार हट जाय तथा आत्मपरविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा मे वास-नाएँ अपने आप क्षीण हो जायँगी।।" तो यह विकारोको क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप होता जाता है। इसी शुद्धिकरणको मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जबतक शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध न हो तबतक कैसे हो सकता है?

बुद्धके तत्त्वज्ञानका प्रारम्भ दु खसे होता है और उसकी समाप्ति दु खनिवृत्तिमे होनी है। पर महा-वीर बन्ध और मोक्षके आधारभूत आत्माको ही मूलत तत्त्वज्ञानका आधार बनाते है। बुद्धको आत्मा शब्दसे ही चिढ है। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियोका नित्य आत्मा। और नित्य आत्मामे स्नेह होने-के कारण स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थोंमे परबुद्धि होने लगती है। स्व-पर विभागसे रागद्वेष और रागद्वेषसे यह ससार बन जाता है। अत. सर्वानर्थमूल यह आत्मदृष्टि है। पर वे इस ओर ध्यान नही देते कि 'आत्मा' की नित्यता या अनित्यता राग और विरागका कारण नही है। राग और विराग तो स्वरूपानवबोध और स्वरूपबोधसे होते हैं। रागका कारणपर पदार्थोंमे ममकार करना है। जब इस आत्माको समझाया जायगा कि "मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार अखण्ड चैतन्य है। तेरा इन स्त्री-पुत्र शरीरादिमे ममत्व करना विभाव है, स्वभाव नही।" तब यह सहज ही अपने निर्विकार सहज स्वभावकी ओर दृष्टि डालेगा और इसी विवेक दृष्टि या सम्यग्दर्शनसे पर पदार्थोंसे रागद्वेष हटाकर स्वरूपमे लीन होने लगेगा। इसीके कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होता है।

आत्मदृष्टि ही बन्धोच्छेदिका—विश्वका प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंका स्वामी है। जिस तरह अनन्त चेतन अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं उसी तरह अनन्त पुद्गल परमाणु एक धर्म द्रव्य (गति सहायक), एक अधर्म द्रव्य (स्थिति सहकारी), एक आकाशद्रव्य (क्षेत्र) असंख्य कालाणु अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिवर्तित होता है। परिवर्तनका अर्थ विलक्षण परिणमन ही नही होता। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और कालद्रव्य इनका विभाव परिणमन नही होता, ये सदा सदृश परिणमन ही करते हैं। प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपर भी एक जैसे बने रहते हैं। इनका शुद्ध परिणमन ही रहता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले पुद्गल परमाणु प्रतिक्षण शुद्ध परिणमन भी करते हैं। इनका अशुद्ध परिणमन है स्कन्ध बनना। जिस समय ये शुद्ध परमाणुकी दशामे रहते हैं उस समय इनका शुद्ध परिणमन होता है और जब ये दो या अधिक मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं तब अशुद्ध परिणमन होता है। जीव जबतक संसार दशामे है और अनेकविध सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध होनेके कारण अनेक स्थूल शरीरोको धारण करता है तब तक इसका विभाव या विकारी परिणमन है। जब स्वरूप-बोधके द्वारा पर पदार्थोंसे मोह छुटाकर स्वरूपमात्र-मग्न होता है तब स्थूल शरीरके साथ ही सूक्ष्म कर्मशरीरका भी उच्छेद होनेपर निर्विकार शुद्ध चैतन्य भाव हो जाता है और अनन्त कालतक अपनी शुद्ध चिन्मात्र दशामें बना रहता है। फिर इसका विभाव या अशुद्ध परिणमन नही होता क्योकि विभाव परिणमनकी उपादानभूत रागादि सन्तति उच्छिन्न हो चुकी है। इस प्रकार द्रव्य स्थिति है। जो पर्याय प्रथमक्षणमें है वह दूसरे क्षणमें नही रहती है। कोई भी पर्याय दो क्षण ठहरनेवाली नही है। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका उपादान है। दूसरा द्रव्य चाहे वह सजातीय हो या विजातीय, निमित्त ही हो सकता है, उपादान नही। पुद्गलमे अपनी योग्यता ऐसी है जो दूसरे परमाणुसे सम्बन्ध करके स्वभावत· अशुद्ध बन जाता है पर आत्मा स्वभावसे अशुद्ध नही बनता। एक बार शुद्ध होनेपर वह कभी भी फिर अशुद्ध नही होगा।

इस तरह इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्तद्रव्यमय लोकमे मैं एक आत्मा हूँ। मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गल आदि द्रव्योसे कोई सम्बन्ध नही है। मैं अपने चैतन्यका स्वामी हूँ, मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गल परमाणुओका एक पिण्ड है, इसका मैं स्वामी नही हूँ। यह सब पर द्रव्य है। इसके लिए पर पदार्थोंमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि करना ही ससार है। मैं एक व्यक्ति हूँ। आजतक मैंने पर पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन करानेकी अनधिकार चेष्टा की। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की कि ससारके अधिकसे अधिक पदार्थ मेरे अधीन हो, जैसा मैं चाहूँ वैसा परिणमन करें। उनकी वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। अपने परिणमन पर अर्थात् अपने विचारोंपर और अपनी क्रियापर ही अधिकार रख सकता है, पर पदार्थोंपर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है? यह अनधिकार चेष्टा ही रागद्वेषको उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि—शरीर प्रकृति स्त्री पुत्र परिजन आदि सब तेरे इशारेपर चलें, ससारके समस्त पदार्थ तेरे अधीन हों, तू त्रैलोक्यको इशारेपर नचानेवाला एकमात्र ईश्वर बन जाय। पर यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह ससारके अधिकतम पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ़ चेतन भी यही दुर्वासना लिए है और दूसरे द्रव्योको अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीनाझपटीमे सघर्ष होता है, हिंसा होती है, रागद्वेष होता है और अन्ततः दुःख। सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे' इसे कहते हैं सुख और 'चाहे कुछ और होवे कुछ, या जो चाहे सो न हो' यही है दुःख। मनुष्यकी चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्टका संयोग रहे, अनिष्टका संयोग न हो, चाहके अनुसार समस्त भौतिक जगत् और चेतन परिणत होते रहें,

शरीर चिर यौवन रहे, स्त्री स्थिरयौवना हो, मृत्यु न हो, अमरत्व प्राप्त हो, धन-धान्य हों, प्रकृति अनुकूल रहे, और न जाने कितनी प्रकारकी 'चाह' इस शेखचिल्ली मानवको होती रहती है। उन सबका निचोड़ यह है कि जिन्हें हम चाहें उनका परिणमन हमारे इशारेपर हो, तब इस मूढ मानवको क्षणिक सुखका आभास हो सकता है। बुद्धने जिस दुःख को सर्वानुभूत बताया वह सब अभावकृत ही तो है। महावीरने इस तृष्णाका कारण बताया—स्वरूपरूपकी मर्यादाका अज्ञान। यदि मनुष्यको यह पता हो कि जिनकी मैं चाह करता हूँ, जिनकी तृष्णा करता हूँ वे पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ, तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी।

इस मानवने अपने आत्माके स्वरूप और उसके अधिकारकी सीमाको न जानकर सदा मिथ्या आचरण किया और पर पदार्थोंके निमित्तसे जगत्मे अनेक कल्पित ऊँच-नीच भावोकी सृष्टि कर मिथ्या अहकारका पोषण किया। शरीराश्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णोंको लेकर ऊँच-नीच व्यवहारकी भेदक भित्ति खडीकर मानवको मानवसे इतना जुदा कर दिया जो एक उच्चाभिमानी मासपिड दूसरेकी छायासे या दूसरेको छूनेसे अपनेको अपवित्र मानने लगा। बाह्य परपदार्थोंके सग्रही और परिग्रहीको सम्राट् राजा आदि सज्ञाएँ देकर तृष्णाकी पूजा की। इस जगत्मे जितने सघर्ष और हिंसाएँ हुई हैं वे सब पर पदार्थोंकी छीनाझपटीके कारण ही हुई है। अत जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक रूपको तथा तृष्णाके मूल कारण 'परत्र आत्मबुद्धि'को नही समझ लेता तब तक दुःखनिवृत्तिकी समुचित भूमिका ही तैयार नही हो सकती। बुद्धने सक्षेपमे पच स्कन्धोको दुःख कहा है, पर महावीरने उसके भीतरी तत्त्वज्ञानको बताया—चूँकि ये स्कन्ध आत्मरूप नही है अत इनका ससर्ग ही अनेक रागादिभावोका सर्जक है, अत ये दुःखस्वरूप है। अत निराकुल सुखका उपाय आत्ममात्र-निष्ठा और पर पदार्थोंसे ममत्वका हटाना ही है। इसके लिए आत्मदृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शनका उपर्युक्त प्रकार परपदार्थोंमें द्वेष करना नही सिखाता किन्तु यह बताता है कि इनमे जो तुम्हारी तृष्णा फैल रही है वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा अपने विचार और अपनी प्रवृत्तिपर ही है। इस तरह आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हुए बिना दुःखनिवृत्ति या मुक्तिकी सभावना ही नही की जा सकती। अतः धर्मकीर्तिकी यह आशका भी निर्मूल है कि—

"आत्मनि सति परसज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयो संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥"—प्रमाण वा० १।२२१

अर्थात् आत्माको माननेपर दूसरोको पर मानना होगा। स्व और पर विभाग होते ही स्वका परिग्रह और परसे द्वेष होगा। परिग्रह और द्वेष होनेसे रागद्वेषमूलक सैकडो अन्य दोष उत्पन्न होते हैं।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्माको स्व और आत्मेतरको पर मानेगा। पर स्व-परविभाग-से परिग्रह और द्वेष कैसे होगे? आत्मस्वरूपका परिग्रह कैसा? परिग्रह तो शरीर आदि पर पदार्थोंका और उसके सुखसाधनोका होता है जिन्हें आत्मदर्शी व्यक्ति छोड़ेगा ही, ग्रहण नही करेगा। उसे तो जैसे स्त्री आदि सुखसाधनपर हैं वैसे शरीर भी। राग और द्वेष भी शरीरादिके सुखसाधनो और असाधनोंसे होते हैं सो आत्मदर्शीको क्यो होगे? उलटे आत्मदृष्टा शरीरादिनिमित्तक यावत् रागद्वेष द्वन्द्वोके त्यागका ही स्थिर प्रयत्न करेगा। हाँ, जिसने शरीरस्कन्धको ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्मदर्शनसे शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीरके इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थोंमे परिग्रह और द्वेष हो सकते हैं, किन्तु जो शरीरको भी पर ही मान रहा है तथा दुःखका कारण समझ रहा है वह क्यों उसमें तथा उसके इष्टानिष्ट साधनोंमे रागद्वेष करेगा?

अतः शरीरादिसे भिन्न आत्मस्वरूपका परिज्ञान ही रागद्वेषकी जड़को काट सकता है और वीतरागताको प्राप्त करा सकता है।

आत्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूपको उपादेय समझता है वहाँ यह भी तो समझता है कि शरीरादि पर पदार्थ आत्माके हितकारक नहीं हैं। इनमें रागद्वेष करना ही आत्माको बन्धमें डालनेवाला है। आत्माको स्वरूपमात्रप्रतिष्ठारूप सुखके लिए किसी साधनके ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जिन शरीरादि परपदार्थोंमें सुखसाधनत्वकी मिथ्याबुद्धि कर रखी है वह मिथ्याबुद्धि ही छोड़ना है। आत्मगुणका दर्शन आत्ममात्रमें लीनताका कारण होगा न कि बन्धनकारक पर पदार्थोंके ग्रहणका। शरीरादि पर पदार्थोंमें होनेवाला आत्माभिनिवेश अवश्य रागादिका सर्जक हो सकता है किन्तु शरीरादिसे भिन्न आत्मतत्त्वका दर्शन क्यों शरीरादिमें रागादि उत्पन्न करेगा? यह तो धर्मकीर्ति तथा उनके अनुयायियोंका आत्मतत्त्वके अव्याकृत होनेके कारण दृष्टिव्यामोह है जो वे अँधेरेमें उसका शरीरस्कन्धस्वरूप ही स्वरूप टटोल रहे हैं और आत्म-दृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहनेका दुःसाहस कर रहे हैं। एक ओर वे पृथिवी आदि भूतोंसे आत्माकी उत्पत्तिका खंडन भी करते हैं दूसरी ओर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंसे व्यतिरिक्त किसी आत्माको मानना भी नहीं चाहते। इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर रूपस्कन्धको चेतन कहना चार्वाकके भूतात्मवादसे कोई विशेषता नहीं रखता। जब बुद्ध स्वयं आत्माको अव्याकृतकोटिमें डाल गए तो उनके शिष्योंका युक्तिमूलक दार्शनिक क्षेत्रोंमें भी आत्माके विषयमें परस्पर विरोधी दो विचारोंमें दोलित रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आज राहुल सांकृत्यायन बुद्धके इन विचारोंको 'अभौतिकअनात्मवाद' जैसे उभयप्रतिषेधक नामसे पुकारते हैं। वे यह नहीं बता सकते कि आखिर फिर आत्माका स्वरूप है क्या? क्या उसकी रूपस्कन्धकी तरह स्वतन्त्र सत्ता है? क्या वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये स्कन्ध भी रूपस्कन्धकी तरह स्वतन्त्र सत् हैं? और यदि निर्वाणमें चित्तसन्तति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाकके एकजन्म तक सीमित देहात्मवादसे इस अनेकजन्म-सीमित देहात्मवादमें क्या मौलिक विशेषता रहती है? अन्तमें तो उसका निरोध हुआ ही।

महावीर इस असंगतिजालमें न तो स्वयं पड़े और न शिष्योंको ही उनने इसमें डाला। यही कारण है जो उन्होंने आत्माका पूरा-पूरा निरूपण किया और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना। जैसा कि मैं पहिले लिख आया हूँ कि धर्मका लक्षण है वस्तुका स्व-स्वभावमें स्थिर होना। आत्माका खालिस आत्मरूपमें लीन होना ही धर्म है और मोक्ष है। यह मोक्ष आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके बिना हो ही नहीं सकता।

आत्मा तीन प्रकारके हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो आत्माएँ शरीरादिको ही अपना रूप मानकर उनकी ही प्रिय साधनामें लगे रहते हैं वे बहिर्मुख बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्वपरविवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, शरीरादि बहिःपदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गई है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जो समस्त कर्ममल कलंकोंसे रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमें मग्न हैं वे परमात्मा हैं। एक ही आत्मा अपने स्वरूपका यथार्थ परिज्ञानकर अन्तर्दृष्टि हो क्रमशः परमात्मा बन जाता है। अतः आत्मधर्मकी प्राप्तिके लिए या बन्धमोक्षके लिए आत्मतत्त्वका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

जिस प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार जिन अजीवोंके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होता है, उसमें विभावपरिणति होती है उस अजीवतत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है। जब तक इस अजीवतत्त्वको नहीं जानेंगे तब तक किन दोमें बन्ध हुआ यह मूल बात ही अज्ञात रह जाती है। अतः अजीवतत्त्वका ज्ञान जरूरी है। अजीवतत्त्वमें चाहे धर्म, अधर्म, आकाश और कालका सामान्य ज्ञान ही हो पर पुद्गलका किंचित्

विशेष ज्ञान अपेक्षित है। शरीर स्वयं पुद्गलपिंड है। यह चेतनके संसर्गसे चेतनायमान हो रहा है। जगत्‌में रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्‌गालिक हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु सभी पौद्गलिक हैं। इनमें किसीमें कोई गुण उद्‌भूत रहता है किसीमें कोई गुण। अग्निमे रस अनुद्‌भूत है, वायुमें रूप अनुद्‌भूत है जलमे गन्ध अनुद्‌भूत है। पर, ये सब विभिन्न जातीय द्रव्य नही हैं किन्तु एक पुद्गलद्रव्य ही हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि पुद्‌गल स्कन्धकी पर्यायें हैं। विशेषत मुमुक्षुके लिए यह जानना जरूरी है कि शरीर पुद्‌गल है और आत्मा इससे पृथक् है। यद्यपि आज अशुद्ध दशामे आत्माका ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है। शरीरके पुर्जोके बिगडते ही वर्तमान ज्ञानविकास रुक जाता है और शरीरके नाश होनेपर वर्तमानशक्तियाँ प्राय समाप्त हो जाती है फिर भी आत्मा स्वतन्त्र और शरीरके अतिरिक्त भी उसका अस्तित्व परलोकके कारण सिद्ध है। आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मण शरीरके अनुसार वर्तमान स्थूल शरीरके नष्ट हो जानेपर भी दूसरे स्थूल शरीरको धारण कर लेता है। आज आत्माके सात्त्विक, राजस या तामस सभी प्रकारके विचार या संस्कार शरीरकी स्थितिके अनुसार विकसित होते हैं। अत मुमुक्षुके लिए इस शरीर पुद्‌गलकी प्रकृतिका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है जिससे वह इसका उपयोग आत्मविकासमे कर सके, ह्रासमें नही। यदि उत्तेजक या अपथ्य आहार-विहार होता है तो कितना ही पवित्र विचार करनेका प्रयत्न किया जाय पर सफलता नही मिल सकती। इसलिए बुरे सस्कार और विचारोका शमन करनेके लिए या क्षीण करनेके लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान करना ही होगा। जिन पर पदार्थोंसे आत्माको विरक्त होना है या उन्हें पर समझकर उनके परिणमनपर जो अनधिकृत स्वामित्वके दुर्भाव आरोपित हैं उन्हें नष्ट करना है उस परका कुछ विशेष ज्ञान तो होना ही चाहिए, अन्यथा विरक्ति किससे होगी? साराश यह कि जिसे बधन होता है और जिससे बधता है उन दोनो तत्त्वोंका यथार्थ दर्शन हुए बिना बन्ध परम्परा कट नही सकती। इस तत्त्वज्ञानके बिना चारित्रकी ओर उत्साह ही नही हो सकता। चारित्रकी प्रेरणा विचारोसे ही मिलती है।

बन्ध—बन्ध दो पदार्थोंके विशिष्ट सम्बन्धको कहते हैं। बन्ध दो प्रकारका है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष, मोह आदि विभावोसे कर्मवर्गणाओका बध होता है उन रागादिभावोको भावबंध कहते हैं और कर्मवर्गणाओका आत्मप्रदेशोसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्‌गलका है। यह निश्चित है कि दो द्रव्योका सयोग ही हो सकता है तादात्म्य नही। पुद्‌गलद्रव्य परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हैं तो एक विशेष प्रकारके सयोगको ही प्राप्त करते है। उनमे स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है जिससे उस स्कन्धके अन्तर्गत सभी परमाणुओकी पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थितिमे आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सबकी एक जैसी ही पर्याऍं होती रहती हैं। स्कन्धके रूप रसादिका व्यवहार तदन्तर्गत परमाणुओके रूपरसादिपरिणमनकी औसतसे होता है। कभी-कभी एक ही स्कन्धके अमुक अशमें रूप रसादि अमुक प्रकारके हो जाते है और दूसरी ओर दूसरे प्रकारके। एक ही आम स्कन्ध एक ओर पककर पीला मीठा और सुगन्धित हो जाता हे तो दूसरी ओर हरा खट्टा और विलक्षण गन्धवाला बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्धमे शिथिल या दृढ़ बन्धके अनुसार तदन्तर्गत परमाणुओके परिणमनकी औसतसे रूपरसादि व्यवहार होते हैं। स्कन्ध अपनेमे स्वतन्त्र कोई द्रव्य नही है। किन्तु वह अमुक परमाणुओकी विशेष अवस्था ही है। और अपने आधारभूत परमाणुओंके अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्‌गलोके बन्धमे यही रासायनिकता है कि उस अवस्थामें उनका स्वतन्त्र विलक्षण परिणमन नही हो सकता किन्तु एक जैसा परिणमन होता रहता है। परन्तु आत्मा और कर्मपुद्‌गलोंका ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नही सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्धके आ जानेसे आत्माके परिणमनमें

विलक्षणता आ जाय और आत्माके निमित्तसे कर्मस्कन्धकी परिणति विलक्षण हो जाय पर इससे आत्मा और पुद्गलकर्मके बन्धको रासायनिक मिश्रण नहीं कह सकते। क्योंकि जीव और कर्मके बन्धमें दोनोंकी एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीवकी पर्याय चेतन रूप होगी, पुद्गलकी अचेतनरूप। पुद्गलका परिणमन रूप, रस गन्धादिरूप होगा, जीवका चैतन्यके विकाररूप। हाँ, यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलोंका पुराने बँधे हुए कर्मशरीरके साथ रासायननिक मिश्रण हो और वह उस पुराने कर्मपुद्गलके साथ बँधकर उसी स्कन्धमें शामिल हो जाय। होता भी यही है। पुराने कर्मशरीरसे प्रतिक्षण अमुक परमाणु झरते हैं और दूसरे कुछ नए शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशोंसे उनका बन्ध रासायनिक बिलकुल नहीं है। वह तो मात्र संयोग है। प्रदेशबन्धकी व्याख्या तत्त्वार्थसूत्रकारने यही की है—"नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।" (तत्त्वार्थसूत्र ८।२४) अर्थात् योगके कारण समस्त आत्मप्रदेशोंपर सूक्ष्म पुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं। इसीका नाम प्रदेशबन्ध है। द्रव्यबन्ध भी यही है। अतः आत्मा और कर्मशरीरका एकक्षेत्रावगाहके सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नहीं होता। रासायनिक मिश्रण नवीन कर्मपुगद्लोंका प्राचीन कर्मपुद्गलोंसे ही हो सकता है, आत्मप्रदेशोंसे नहीं।

जीवके रागादिभावोंसे जो योगक्रिया अर्थात् आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता है उससे कर्मवर्गणाएँ खिंचती हैं। वे शरीरके भीतरसे भी खिंचती है बाहिरसे भी। खिंचकर आत्मप्रदेशोंपर या प्राग्बद्ध कर्मशरीरसे बन्धको प्राप्त होती हैं। इस योगसे उन कर्मवर्गणाओंमें प्रकृति अर्थात् स्वभाव पड़ता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसीके ज्ञानमें बाधा डालने रूप क्रियासे खिंचे हैं तो उनमें ज्ञानावरणका स्वभाव पड़ेगा और यदि रागादि कषायसे तो उनमें चारित्रावरणका। आदि। तात्पर्य यह कि आए हुए कर्म पुद्गलोंको आत्मप्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही कर देना और उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावोंका पड़ जाना योगसे होता है। इन्हें प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कषायोंकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार उस कर्मपुद्गलमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति पड़ती है यह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते हैं। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्तिको रागादि कषाय नहीं होती अतः उनके योगके द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं वे द्वितीय समयमें झड़ जाते हैं, उनका स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। बन्ध प्रतिक्षण होता रहता है और जैसा कि मैं पहिले लिख आया हूँ कि उसमें अनेक प्रकारका परिवर्तन प्रतिक्षणभावी कषायादिके अनुसार होता रहता है। अन्तमें कर्मशरीरकी जो स्थिति रहती है उसके अनुसार फल मिलता है। उन कर्मनिषेकोंके उदयसे वातावरणपर वैसा-वैसा असर पड़ता है। अन्तरंगमें वैसे-वैसे भाव होते हैं। आयुर्बन्धके अनुसार स्थूल शरीर छोड़नेपर उन-उन योनियोंमें जीवको नया स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है। इस तरह यह बन्धचक्र जबतक राग-द्वेष, मोह, वासनाएँ आदि विभाव भाव है बराबर चलता रहता है।

बन्धहेतु आस्रव—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं। इन्हें आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावोंके द्वारा कर्मोंका आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्यका आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलोंमें कर्मत्व प्राप्त हो जाना भी द्रव्यास्रव कहलाता है। आत्मप्रदेशतक उनका आना द्रव्यास्रव है। जिन भावोंसे वे कर्म खिंचते हैं उन्हें भावास्रव कहते हैं। प्रथमक्षणभावी भावोंको भावास्रव कहते हैं और अग्रिम क्षणभावी भावोंको भावबन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र मन्द मध्यमात्मक होगा तज्जन्य आत्मप्रदेशपरिस्पन्दसे वैसे कर्म आयेंगे और आत्मप्रदेशोंसे बँधेंगे। भावबन्धके अनुसार उस

स्कन्धमें स्थिति और अनुभाग पड़ेगा। इन आस्रवोंमे मुख्य अनन्तकर्मबन्धक आस्रव है मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्या-दृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूपको भूलकर शरीरादि पर द्रव्योंमें आत्मबुद्धि करता है और इसके समस्त विचार और क्रियाएँ उन्ही शरीराश्रित व्यवहारोंमें उलझी रहती हैं। लौकिक यशोलाभ आदिकी दृष्टिसे ही यह धर्म जैसी क्रियाओंका आचरण करता है। स्व-पर विवेक नही रहता। पदार्थोंके स्वरूपमें भ्रान्ति बनी रहती है। तात्पर्य यह कि लक्ष्यभूत कल्याणमार्गमे ही इसकी सम्यक् श्रद्धा नही होती। वह सहज और गृहीत दोनों प्रकारकी मिथ्यादृष्टियोंके कारण तत्त्वरुचि नही कर पाता। अनेक प्रकारकी देवगुरु तथा लोकमूढ़-ताओंको धर्म समझता है। शरीर और शरीराश्रित स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादिके मोहमे उचित, अनुचितका विवेक किए बिना भीषण अनर्थ परम्पराओंका सृजन करता है। तुच्छ स्वार्थके लिए मनुष्य जीवनको व्यर्थ ही खो देता है। अनेक प्रकारके ऊँच-नीच भेदोंकी सृष्टि करके मिथ्या अहकारका पोषण करता है। जिस किसी भी देवको, जिस किसी भी वेषधारी गुरुको, जिस किसी भी शास्त्रको भय आशा स्नेह और लोभसे माननेको तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त है और न व्यवहार। थोड़ेसे प्रलोभनसे वह सब अनर्थ करनेको प्रस्तुत हो जाता है। जाति, ज्ञान, पूजा, कुल, बल, ऋद्धि, तप और शरीर आदिके कारण मदमत्त होता है और अन्योंको तुच्छ समझकर उनका तिरस्कार करता है। भय, आकाक्षा, घृणा, अन्यदोषप्रकाशन आदि दुर्गुणोंका केन्द्र होता है। इसकी प्रवृत्तिके मूलमे एक ही बात है और वह स्व-स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्व-रूपका कोई श्रद्धान नहीं। अत वह बाह्य पदार्थोंमे लुभाया रहता है। यही मिथ्यादृष्टि सब दोषोंकी जननी है, इसीसे अनन्त ससारका बन्ध होता है। दर्शनमोहनीय नामक कर्मके उदयमे यह दृष्टिमूढ़ता होती है।

अविरति—चारित्रमोह नामक कर्मके उदयसे मनुष्यको चारित्र धारण करनेके परिणाम नही हो पाते। वह चाहता भी है तो भी कषायोका ऐसा तीव्र उदय रहता है जिससे न तो सकलचारित्र धारण कर पाता है और न देशचारित्र। कषाएँ चार प्रकारकी हैं—

१–अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ–अनन्त ससारका बध करानेवाली, स्वरूपाचरणचारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाली, प्राय मिथ्यात्वसहचारिणी कषाय। पत्थरकी रेखाके समान।

२–अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ–देशचारित्र-अणुव्रतोको धारण करनेके भावोंको न होने देनेवाली कषाय। इसके उदयसे जीव श्रावकके व्रतोको भी ग्रहण नही कर पाता। मिट्टीकी रेखाके समान।

३–प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ–सम्पूर्ण चारित्रकी प्रतिबन्धिका कषाय। इसके उदयसे जीव सकल त्याग करके सम्पूर्ण व्रतोको धारण नही कर पाता। धूलि रेखाके समान।

४–संज्वलन क्रोध मान माया लोभ–पूर्ण चारित्रमे किंचिन्मात्र दोष उत्पन्न करनेवाली कषाय। यथा-ख्यातचारित्रकी प्रतिबन्धिका। जलरेखाके समान।

इस तरह इन्द्रियोके विषयोमे तथा प्राणसयममे निरर्गल प्रवृत्ति होनेसे कर्मोंका आस्रव होता है। अविरतिका निरोधकर विरतिभाव आनेपर कर्मोंका आस्रव नही होता।

प्रमाद–असावधानीको प्रमाद कहते हैं। कुशल कर्मोंमे अनादरका भाव होना प्रमाद है। पाँचो इन्द्रियो-के विषयोंमे लीन होनेके कारण, राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा इन चार विकथाओंमें रस लेनेके कारण, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंमें लिप्त रहनेके कारण, निद्रा और प्रणयमग्न होनेके कारण कर्त्तव्यपथमे अनादरका भाव होता है। इस असावधानीसे कुशलकर्मके प्रति अनास्था तो होती

ही है, साथही साथ हिंसाकी भूमिका भी तैयार होने लगती है। हिंसाके मुख्य हेतुओंमें प्रमादका स्थान ही प्रमुख है। बाह्यमें जीवका घात हो या न हो किन्तु असावधान और प्रमादी व्यक्तिको हिंसाका दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधकके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक है। अतः प्रमाद आस्रवका मुख्य द्वार है। इसीलिए भ० महावीरने बारबार गौतम गणधरको चेताया है कि "समयं गोयम मा पमादए।" अर्थात् गौतम, किसी भी समय प्रमाद न करो।

कषाय—आत्माका स्वरूप स्वभावतः शान्त और निर्विकारी है। परन्तु क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएँ आत्माको कस देती हैं और इसे स्वरूपच्युत कर देती हैं। ये चारों आत्माकी विभाव दशाएँ हैं। क्रोधकषाय द्वेष रूप है यह द्वेषका कार्य और द्वेषको उत्पन्न करती है। मान यदि क्रोधको उत्पन्न करता है तो द्वेष रूप है। लोभ रागरूप है। माया यदि लोभको जागृत करती है तो रागरूप है। तात्पर्य यह कि राग, द्वेष, मोहकी दोषत्रिपुटीमें कषायका भाग ही मुख्य है। मोहरूप मिथ्यात्व दूर हो जानेपर भी सम्यग्दृष्टिको राग-द्वेष रूप कषायें बनी रहती हैं। जिसमें लोभ कषाय तो पदप्रतिष्ठा और यशोलिप्साके रूपमें बड़े-बड़े मुनियोंको भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती। यह रागद्वेष रूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थोंका मूल हेतु है। यही प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र, गीता और पालीपिटकोंमें भी इसी द्वन्द्वको ही पापमूल बताया है। जैनशास्त्रोंका प्रत्येक वाक्य कषायशमनका ही उपदेश देता है। इसीलिए जैनमूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनताकी प्रतीक होती हैं। उसमें न द्वेषका साधन आयुध है और न रागका आधार स्त्री आदिका साहचर्य ही। वे तो परम वीतरागता और अकिंचनताका पावन सन्देश देती हैं।

इन कषायोंके सिवाय—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि) स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये ९ नोकषायें हैं। इनके कारण भी आत्मामें विकार परिणति उत्पन्न होती है। अतः ये भी आस्रव हैं।

योग—मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे योग कहते हैं। योगकी साधारण प्रसिद्धि चित्तवृत्तिनिरोध रूप ध्यानके अर्थमें है पर जैन परम्परामें चूँकि मन, वचन और कायसे होनेवाली आत्माकी क्रिया कर्मपरमाणुओंसे योग अर्थात् सम्बन्ध करानेमें कारण होती है अतः इसे योग कहते हैं और योगनिरोधको ध्यान कहते हैं। आत्मा सक्रिय है। उसके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है। मन, वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्तको भी बराबर होती है। परमुक्तिसे कुछ समय पहिले अयोगकेवली अवस्थामें मन, वचन, कायकी क्रियाका निरोध होता है और आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्थामें आत्माके पूर्ण शुद्धरूपका आविर्भाव होता है न उनमें कर्मजन्य मलिनता रहती और न योगजन्य चंचलता ही। प्रधानरूपसे आस्रव तो योग ही है। इसीके द्वारा कर्मोंका आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्मका आस्रव कराता है तथा अशुभ योग पाप-कर्मके आस्रवका कारण होता है। सबका शुभचिन्तन तथा अहिंसक विचारधारा शुभ मनोयोग है। हित मित प्रिय सम्भाषण शुभ वचनयोग है। परको बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभ काययोग है। इस तरह इस आस्रव तत्त्वका ज्ञान मुमुक्षुको अवश्य ही होना चाहिए। साधारण रूपसे यह तो उसे ज्ञात कर ही लेना चाहिए कि हमारी अमुक प्रवृत्तियोंसे शुभास्रव होता है और अमुक प्रवृत्तियोंसे अशुभास्रव, तभी वह अनिष्ट प्रवृत्तियोंसे अपनी रक्षा कर सकेगा।

सामान्यतया आस्रव दो प्रकारका होता है—एक तो कषायानुरञ्जित योगसे होनेवाला साम्परायिक आस्रव जो बन्धका हेतु होकर संसारकी वृद्धि करता है तथा दूसरा केवल योगसे होनेवाला ईर्यापथ आस्रव

जो कषाय न होनेसे आगे बन्धनका कारण नही होता। यह आस्रव जीवन्मुक्त महात्माओंके वर्तमान शरीर-सम्बन्ध तक होता रहता है। यह जीवस्वरूपका विघातक नही होता।

प्रथम साम्परायिक आस्रव कषायानुरंजित योगसे होनेके कारण बन्धक होता है। कषाय और योग प्रवृत्ति शुभरूप भी होती है और अशुभरूप भी। अत शुभ और अशुभयोगके अनुसार आस्रव भी शुभास्रव या पुण्यास्रव और अशुभास्रव अर्थात् पापास्रवके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है। साधारणतया सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य कर्म है और शेष ज्ञानावरण आदि घातिया और अघातियाँ कर्मप्रकृतियाँ पापरूप है। इस आस्रवमे कषायोके तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, आधार और शक्ति आदिकी दृष्टिसे तारतम्य होता है। सरम्भ (सकल्प), सामारम्भ (सामग्री जुटना), आरम्भ (कार्यकी शुरुआत, कृत (स्वय करना), कारित (दूसरोसे कराना), अनुमत (कार्यकी अनुमोदना करना) मन, वचन, काय, योग और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें परस्पर मिलकर ३ × ३ × ३ × ४ × १०८ प्रकारके हो जाते हैं। इनसे आस्रव होता है। आगे ज्ञानावरण आदि कर्मोंमे प्रत्येकके आस्रव कारण बताते हैं—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण—ज्ञानी और दर्शनयुक्त पुरुषकी या ज्ञान और दर्शनकी प्रशसा सुनकर भीतरी द्वेषवश उनकी प्रशंसा नही करना तथा मनमे दुष्टभावोका लाना (प्रदोष) ज्ञानका और ज्ञानके साधनोका अपलाप करना (निह्नव) योग्य पात्रको भी मात्सर्यवश ज्ञान नही देना, ज्ञानमे विघ्न डालना, दूसरेके द्वारा प्रकाशित ज्ञानकी अविनय करना, ज्ञानका गुण कीर्तन न करना, सम्यग्ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहकर ज्ञानके नाशका अभिप्राय रखना आदि यदि ज्ञानके सम्बन्धमे है तो ज्ञानावरणके आस्रवके कारण होते है और यदि दर्शनके सम्बन्धमे हैं तो दर्शनावरणके आस्रवके कारण हो जाते हैं। इसी तरह आचार्य और उपाध्यायसे शत्रुता रखना, अकाल अध्ययन, अरुचिपूर्वक पढना, पढनेमे आलस करना, व्याख्यानको अनादरपूर्वक सुनना, तीर्थोपरोध, बहुश्रुतके समक्ष भी ज्ञानका गर्व करना, मिथ्या उपदेश देकर दूसरेके मिथ्या ज्ञानमे कारण बनना, बहुश्रुतका अपमान करना, लोभादिवश तत्त्वज्ञानके पक्षका त्याग करके अतत्त्वज्ञानीय पक्षको ग्रहण करना, असम्बद्ध प्रलाप, सूत्र विरुद्ध व्याख्यान, कपटसे ज्ञानार्जन करना, शास्त्र विक्रय आदि जितने ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञानके साधनोमे विघ्न और द्वेषोत्पादक भाव और क्रियाएँ होती हैं उन सबसे आत्मापर ऐसा सस्कार पडता है जो ज्ञानावरण कर्मके आस्रवका हेतु होता है।

देव, गुरु आदिके दर्शनमे मात्सर्य करना, दर्शनमे अन्तराय करना, किसीकी आँख फोड देना, इन्द्रियोका अभिमान करना, नेत्रोका अहकार करना, दीर्घ निद्रा, अतिनिद्रा, आलस्य, सम्यग्दृष्टिमे दोषोद्भावन, कुशास्त्र प्रशसा, गुरुजुगुप्सा आदि दर्शनके विघातक भाव और क्रियाएँ दर्शनावरणका आस्रव कराती हैं।

असातावेदनीय—अपनेमे परमे और दोनोमे दुख शोक आदि उत्पन्न करनेसे असातावेदनीयका आस्रव होता है। स्व पर या उभयमे दुख उत्पन्न करना, इष्टवियोगमे अत्यधिक विकलता और शोक करना, निन्दा, मानभग या कर्कशवचन आदिसे भीतर ही भीतर जलना, परितापके कारण अश्रुपातपूर्वक बहु विलाप करना, छाती कूटकर या सिर फोडकर आक्रन्दन करना, दुःखसे आँखें फोड लेना या आत्महत्या कर लेना, इस प्रकार रोना-चिल्लाना कि सुननेवाले भी रो पडे, शोक आदिसे लघन करना, अशुभ प्रयोग, पर-निन्दा, पिशुनता, अदया, अग-उपागोका छेदन भेदन ताडन, त्रास, अँगुली आदिसे तर्जन करना, वचनोंसे भर्त्सना करना, रोधन, बधन, दमन, आत्म प्रशंसा, क्लेशोत्पादन, बहुपरिग्रह, आकुलता, मन, वचन, कायकी कुटिलता, पाप कार्योंसे आजीविका करना, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण, बाण जाल पिंजरा आदिका बनाना इत्यादि

जितने कार्य स्वयंमें परमें या दोनोंमें दुःख आदिके उत्पादक हैं वे सब असातावेदनीय कर्मके आस्रवमें कारण होते हैं।

सातावेदनीय—प्राणिमात्रपर दयाका भाव, मुनि और श्रावकके व्रत धारण करनेवाले व्रतियोंपर अनुकम्पाके भाव, परोपकारार्थ दान देना, प्राणिरक्षा, इन्द्रियजय, क्षान्ति अर्थात् क्रोध, मान, मायाका त्याग, शौच अर्थात् लोभका त्याग, रागपूर्वक संयम धारण करना, अकामनिर्जरा अर्थात् शान्तिसे कर्मोंके फलका भोगना, कायक्लेश रूप कठिन बाह्यतप, अर्हत्पूजा आदि शुभ राग, मुनि आदिकी सेवा आदि स्व पर तथा उभयमें निराकुलता सुखके उत्पादक विचार और क्रियाएँ सातावेदनीयके आस्रवका कारण होती हैं।

दर्शनमोहनीय—जीवन्मुक्त केवली शास्त्र संघ धर्म और देवोंकी निन्दा करना, इनमें अवर्णवाद अर्थात् अविद्यमान दोषोंका कथन करना दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व कर्मका आस्रव करता है। केवली रोगी होते हैं, कवलाहारी होते हैं, नग्न रहते हैं पर वस्त्रयुक्त दिखाई देते हैं, इत्यादि केवलीका अवर्णवाद है। शास्त्रमें मांसाहार आदिका समर्थन करना श्रुतका अवर्णवाद है। शास्त्र मुनि आदि मलिन हैं, स्नान नहीं करते, कलिकालके साधु हैं इत्यादि संघका अवर्णवाद है। धर्म करना व्यर्थ है, अहिंसा कायरता है आदि धर्मका अवर्णवाद है। देव मद्यपायी और मांसभक्षी होते हैं आदि देवोंका अवर्णवाद है। सारांश यह कि देव, गुरु, धर्म, संघ और श्रुतके सम्बन्धमें अन्यथा विचार और मिथ्या धारणाएँ मिथ्यात्वको पोषण करती हैं और इससे दर्शनमोहका आस्रव होता है जिससे यथार्थ तत्त्वरुचि नहीं हो पाती।

चारित्रमोहनीय—स्वयं और परमें कषाय उत्पन्न करना, व्रतशीलवान् पुरुषोंमें दूषण लगाना, धर्मका नाश करना, धर्ममें अन्तराय करना, देश संयमियोंसे व्रत और शीलका त्याग कराना, मात्सर्यादिसे रहित सज्जन पुरुषोंमें मतिविभ्रम उत्पन्न करना, आर्त्त और रौद्र परिणाम आदि कषायकी तीव्रताके साधन कषाय चारित्रमोहनीयके आस्रवके कारण हैं। समीचीन धार्मिकोंकी हँसी करना, दीनजनोंको देखकर हँसना, काम विकारके भावों पूर्वक हँसना, बहु प्रलाप तथा निरन्तर भाँडों जैसी हँसोड़ प्रवृत्तिसे हास्य नोकषायका आस्रव होता है। नाना प्रकार क्रीडा, विचित्र क्रीडा, देशादिके प्रति अनौत्सुक्य, व्रत शील आदिमें अरुचि आदि रति नोकषाय आस्रवके हेतु हैं। दूसरोंमें अरति उत्पन्न करना, रतिका विनाश करना, पापशीलजनोंका संसर्ग, पाप क्रियाओंको प्रोत्साहन देना आदि अरति नोकषायके आस्रवके कारण हैं। अपने और दूसरेमें शोक उत्पन्न करना, शोकयुक्तका अभिनन्दन, शोकके वातावरणमें रुचि आदि शोक नोकषायके कारण हैं। स्व और परको भय उत्पन्न करना, निर्दयता, दूसरोंको त्रास देना, आदि भयके आस्रवके कारण है। पुण्य-क्रियाओंमें जुगुप्सा करना, पर निन्दा आदि जुगुप्साके आस्रवके कारण हैं। परस्त्रीगमन, स्त्रीके स्वरूपको धारण करना, असत्य वचन, परवञ्चना, परदोष दर्शन, वृद्ध होकर भी युवकों जैसी प्रवृत्ति करना आदि स्त्रीवेदके आस्रवके हेतु है। अल्पक्रोध, मायाका अभाव, गर्वका अभाव, स्त्रियोंमें अल्प आसक्ति, ईर्षाका न होना, रागवर्धक वस्तुओंमें अनादर, स्वदारसन्तोष, परस्त्रीत्याग आदि पुंवेदके आस्रवके कारण हैं। प्रचुर कषाय, गुह्येन्द्रियोंका विनाश, परांगनाका अपमान, स्त्री या पुरुषोंमें अनंगक्रीड़ा, व्रतशीलयुक्त पुरुषोंको कष्ट उत्पन्न करना, तीव्रराग आदि नपुंसक वेदनीय नोकषायके आस्रवके हेतु है।

नरकायु—बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुका आस्रव कराते हैं। मिथ्यादर्शन, तीव्रराग, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, निःशीलता, तीव्र वैर, परोपकार न करना, यतिविरोध, शास्त्र विरोध, कृष्णलेश्या रूप अतितामसपरिणाम, विषयोंमें अतितृष्णा, रौद्र ध्यान, हिंसादि क्रूर कार्योंमें प्रवृत्ति, बाल वृद्ध स्त्री हत्या आदि क्रूरकर्म नरकायुके आस्रवके कारण होते हैं।

तिर्यंचायु—छल कपट आदि मायाचार, मिथ्या अभिप्रायसे धर्मोपदेश देना, अधिक आरम्भ, अधिक परिग्रह, निःशीलता, परवञ्चकता, नील लेश्या और कपोत लेश्या रूप तामस परिणाम। मरणकालमें आर्त्तध्यान, क्रूरकर्म, भेद करना, अनर्थोद्भावन, सोना-चाँदी आदिको खोटा करना, कृत्रिम चन्दनादि बनाना, जाति कुल शीलमें दूषण लगाना, सद्गुणोका लोप, दोष दर्शन आदि पाशव भाव तिर्यंचायुके आस्रवके कारण होते है।

मनुष्यायु—अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह, विनय, भद्र स्वभाव, निष्कपट व्यवहार, अल्पकषाय, मरण-कालमें संक्लेश न होना, मिथ्यात्वी व्यक्तिमें भी नम्रभाव, सुखबोध्यता, अहिंसकभाव, अल्पक्रोध, दोषरहितता, क्रूरकर्मोंमे अरुचि, अतिथिस्वागततत्परता, मधुर वचन, जगत्मे अल्प आसक्ति, अनसूया, अल्पसंक्लेश, गुरु आदिकी पूजा, कापोत और पीतलेश्याके राजस और अल्प सात्त्विक भाव, निराकुलता आदि मानवभाव मनुष्यायुके आस्रवके कारण होते हैं। स्वाभाविक मृदुता और निरभिमान वृत्ति मनुष्यायुके आस्रवके असाधारण हेतु हैं।

देवायु—सराग संयम अर्थात् अभ्युदयकी कामना रहते हुए संयम धारण करना, श्रावकके व्रत, समता पूर्वक कर्मोंका फल भोगनारूप अकामनिर्जरा, सन्यासी, एकदण्डी, त्रिदण्डी, परमहंस आदि तापसोका बालतप और सम्यक्त्व आदि सात्त्विक परिणाम देवायुके कारण होते हैं।

नाम कर्म—मन वचन, कायकी कुटिलता, विसंवादन अर्थात् श्रेयोमार्गमे अश्रद्धा उत्पन्न करके उससे च्युत करना, मिथ्यादर्शन, पैशुन्य, अस्थिरचित्तता, झूठे बाँट तराजू गज आदि रखना, मिथ्या साक्षी देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, परद्रव्य ग्रहण, असत्यभाषण, अधिक परिग्रह, सदा विलासीवेश धारण करना, रूपमद, कठोरभाषण, असभ्य भाषण, आक्रोश, जान बूझकर छैल छबीला वेश धारण करना, वशीकरण चूर्ण आदिका प्रयोग, मन्त्र आदिके प्रयोगसे दूसरोमे कुतूहल उत्पन्न करना, देवगुरु पूजाके बहाने गन्ध माला धूप आदि लाकर अपने रागकी पुष्टि करना, पर विडम्बना, परोपहास, ईंटोके भट्टे लगाना, दावानल प्रज्वलित कराना, प्रतिमा तोडना, मन्दिर ध्वंस, उद्यान उजाडना, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, पापजीविका आदि कार्योंसे अशुभ शरीर आदिके उत्पादक अशुभ नामकर्मका आस्रव होता है।

इनसे विपरीत मन, वचन, कायकी सरलता, ऋजु प्रवृत्ति आदिसे सुन्दर शरीरोत्पादक शुभनाम कर्मका आस्रव होता है।

तीर्थंकर नाम—निर्मल सम्यग्दर्शन, जगद्धितैषिता, जगत्के तारनेकी प्रकृष्ट भावना, विनयसम्पन्नता, निरतिचार शीलव्रतपालन, निरन्तर ज्ञानोपयोग, संसार दुःखभीरुता, यथाशक्ति तप, यथाशक्ति त्याग, समाधि, साधु सेवा, अर्हन्त आचार्य बहुश्रुत और प्रवचनमे भक्ति, आवश्यक क्रियाओमे सश्रद्ध निरालस्य प्रवृत्ति, शासन प्रभावना, प्रवचन वात्सल्य आदि सोलह भावनाएँ जगदुद्धारक तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका कारण होती हैं। इनमे सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली जगदुद्धारकी तीव्र भावना ही मुख्य है।

नीचगोत्र—परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, परगुणविलोप, अपनेमें अविद्यमान गुणोका प्रख्यापन, जाति-मद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ज्ञानमद, ऐश्वर्यमद, तपोमद, परापमान, परहास्यकरण, परपरि-वादन, गुरुतिरस्कार, गुरुओसे टकराकर चलना, गुरु दोषोद्भावन, गुरु विभेदन, गुरुओको स्थान न देना, भर्त्सना करना, स्तुति न करना, विनय न करना, उनका अपमान करना, आदि नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

उच्चगोत्र—पर प्रशंसा, आत्मनिन्दा, पर सद्गुणोद्भावन, स्वसद्गुणाच्छादन, नीचैर्वृत्ति—नम्रभाव,

निर्मद भाव रूप अनुत्सेक, परका अपमान, हास परिहास न करना, मृदुभाषण आदि उच्चगोत्रके आस्रवके कारण होते हैं।

अन्तराय—दूसरोंके दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यमें विघ्न करना, दानकी निन्दा करना, देवद्रव्यका भक्षण, परवीर्यापहरण, धर्मोच्छेद, अधर्माचरण, परनिरोध, बन्धन, कर्णछेदन गुह्यछेदन, इन्द्रिय विनाश आदि विघ्नकारक विचार और क्रियाएँ अन्तराय कर्मका आस्रव कराती है।

सारांश यह कि इन भावोंसे उन उन कर्मोंको स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध विशेष रूपसे होता है। वैसे आयुके सिवाय अन्य सात कर्मोंका आस्रव न्यूनाधिक भावसे प्रतिसमय होता रहता है। आयुका आस्रव आयुके त्रिभागमें होता है।

मोक्ष—बन्धनमुक्तिको मोक्ष कहते हैं। बन्धके कारणोंका अभाव होनेपर तथा संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेपर समस्त कर्मोंका समूल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्माकी वैभाविकी शक्तिका संसार अवस्थामें विभाव परिणमन हो रहा था। विभाव परिणमनके निमित्त हट जानेसे मोक्षदशामें उसका स्वभाव परिणमन हो जाता है। जो आत्माके गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशामें आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान और अचारित्र चारित्र। तात्पर्य यह कि आत्माका सारा नक्शा ही बदल जाता है। जो आत्मा मिथ्यादर्शनादि रूपसे अनादिकालसे अशुद्धिका पुंज बना हुआ था वही निर्मल निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह चैतन्य निर्विकल्प है। वह निस्तरंग समुद्रकी तरह निर्विकल्प निश्चल और निर्मल है। न तो निर्वाण दशामें आत्माका अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है तब उसका अभाव हो ही नहीं सकता। उसमें परिवर्तन कितने ही हो जायँ पर अभाव नहीं हो सकता। किसीकी भी यह सामर्थ्य नहीं जो जगत्के किसी भी एक सत्का समूल उच्छेद कर सके।

बुद्धसे जब प्रश्न किया गया कि—'मरनेके बाद तथागत होते हैं या नहीं तो उनने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्धके शिष्योंने निर्वाणके विषयमें दो तरहकी कल्पनाएँ कर डाली। एक निर्वाण वह जिसमें चित्त सन्तति निरास्रव हो जाती है और दूसरा निर्वाण वह जिसमें दीपकके समान चित्त सन्तति भी बुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कन्ध रूप ही आत्माको माननेका यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशामें उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि बुद्ध निर्वाण और आत्माके परलोकगामित्वका निर्णय बताए बिना कहीं दुःख निवृत्तिके उपदेशके सर्वांगीण औचित्यका समर्थन करते रहे। यदि निर्वाणमें चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है, वह दीपककी तरह बुझ जाती है अर्थात् अस्तित्वशून्य हो जाती है तो उच्छेदवादके दोषसे बुद्ध कैसे बचे? आत्माके नास्तित्वसे इनकार तो इसी भयसे करते थे कि यदि आत्माको नास्ति कहते हैं तो उच्छेदवादका प्रसंग आता है और अस्ति कहते हैं तो शाश्वतवादका प्रसंग आता है। निर्वाणावस्थामें उच्छेद मानने और मरणके बाद उच्छेद माननेमें तत्त्वदृष्टिसे कोई विशेष अन्तर नहीं है। बल्कि चार्वाकका सहज उच्छेद सबको सुकर क्या अयत्नसाध्य होनेसे सहजग्राह्य होगा और बुद्धका निर्वाणोत्तर उच्छेद अनेक प्रकारके ब्रह्मचर्यवास ध्यान आदिसे साध्य होनेके कारण दुर्ग्राह्य होगा। अतः मोक्ष अवस्थामें शुद्ध चित्त सन्ततिकी सत्ता मानना ही उचित है।

मोक्षके कारण—१ संवर—संवर रोकनेको कहते हैं। सुरक्षाका नाम संवर है। जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता था उन द्वारोंका, निरोध कर देना संवर कहलाता है। आस्रवका मूल कारण योग है। अतः

योगनिवृत्ति ही मूलतः संवरके पदपर प्रतिष्ठित हो सकती है। पर, मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको सर्वथा रोकना संभव नही है। शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिके लिए आहार करना, मलमूत्रका विसर्जन करना चलना फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। अतः जितने अंशोंमें मन, वचन, कायकी क्रियाओंका निरोध है उतने अंशको गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन, वचन और कायकी अकुशल प्रवृत्तियोसे रक्षा करना। यह गुप्ति ही संवरका प्रमुख कारण है। गुप्तिके अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदिसे सवर होता है। समिति आदिमें जितना निवृत्तिका भाग है उतना संवरका कारण होता है और प्रवृत्तिका अश शुभबन्धका हेतु होता है।

समिति—सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानीसे कार्य करना। ईर्या समिति—देखकर चलना। भाषा समिति—हित मित प्रिय वचन बोलना। एषणा समिति—विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेना। आदान-निक्षेपण समिति—देख शोधकर किसी भी वस्तुका रखना उठाना। उत्सर्ग समिति—निर्जन्तु स्थानपर मलमूत्रका विसर्जन करना।

धर्म—आत्मस्वरूपमे धारण करानेवाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म हैं। उत्तम क्षमा—क्रोधका त्याग करना। क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर भी विवेकवारिसे उन्हें शान्त करना। कायरता दोष है और क्षमा गुण। जो क्षमा आत्मामे दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नही। उत्तम मार्दव—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मानका त्याग। ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर आदिकी किंचित् विशिष्टताके कारण आत्मस्वरूपको न भूलना, इनका अहंकार न करना। अहंकार दोष है, स्वमान गुण है। उत्तम आर्जव—ऋजुता, सरलता, मन वचन कायमे कुटिलता न होकर सरलभाव होना। जो मनमे हो, तदनुसारी ही वचन और जीवन व्यवहारका होना। मायाका त्याग-सरलता गुण है। भोंदूपन दोष है। उत्तम शौच—शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभनमे नही फँसना। लोभ कषायका त्यागकर मनमे पवित्रता लाना। शौच गुण है पर बाह्य सोला और चौकापन्थ आदिके कारण छू-छू करके दूसरोसे घृणा करना दोष है। उत्तम सत्य—प्रामाणिकता, विश्वास परिपालन, तथ्य स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है परन्तु परनिन्दाके लिए दूसरोंके दोषोका ढिंढोरा पीटना दोष है। पर बाधाकारी सत्य भी दोष हो सकता है। उत्तम सयम—इन्द्रिय विजय, प्राणि रक्षण। पाँचो इन्द्रियोकी विषय प्रवृत्तिपर अकुश रखना, निरर्गल प्रवृत्तिको रोकना, वश्येन्द्रिय होना। प्राणियोकी रक्षाका ध्यान रखते हुए खान-पान जीवन व्यवहारको अहिंसाकी भूमिकापर चलाना। संयम गुण है पर भावशून्य बाह्य-क्रियाकाण्डमेका अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप—इच्छानिरोध। मनकी आशा तृष्णाओको रोककर प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य (सेवाभाव) स्वाध्याय और व्युत्सर्ग (परिग्रहत्याग) मे चित्तवृत्ति लगाना। ध्यान—चित्तकी एकाग्रता। उपवास, एकाशन, रसत्याग, एकान्तसेवन, मौन, शरीरको सुकुमार न होने देना आदि बाह्यतप हैं। इच्छानिवृत्ति रूप तप गुण है और मात्र बाह्य कायक्लेश, पंचाग्नि तपना, हठयोगकी कठिन क्रियायें बालतप हैं। उत्तमत्याग—दान देना, त्यागकी भूमिकापर आना। शक्त्यनुसार भूखोको भोजन, रोगीको औषधि, अज्ञाननिवृत्तिके लिए ज्ञानके साधन जुटाना और प्राणिमात्रको अभय देना। समाज और देशके निर्माणके लिए तन धन आदि साधनोका त्याग। लाभ पूजा नाम आदिके लिए किया जानेवाला दान उत्तम दान नही है। उत्तम आकिंचन्य—अकिञ्चनभाव, बाह्यपदार्थोंमे ममत्व भावका त्याग। धन-धान्य आदि बाह्यपरिग्रह तथा शरीरमें 'यह मेरा स्वरूप नही है, आत्माका धन तो उसका शुद्ध चैतन्यरूप है' 'नास्तिमे किञ्चन'—मेरा कुछ नही है आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य हैं। कर्त्तव्यनिष्ठ रहकर भौतिकतासे दृष्टि हटाकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना। उत्तम ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपमें विचरण करना। स्त्रीसुखसे विरक्त होकर समस्त शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्तियोंको

आत्मविकासोन्मुख करना। मनःशुद्धिके बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीरको ही लाभ पहुँचाता है और न मन और आत्मा में ही पवित्रता लाता है।

अनुप्रेक्षा—सद्भावनाएँ आत्मविचार। ऐसी भावनाओंको सदा चित्तमें भाते रहना चाहिये। इन विचारोंसे सुसंस्कृत चित्त समय आनेपर विचलित नहीं हो सकता, सभी द्वन्द्वोंमें समताभाव रख सकता है और कर्मोंके आस्रवको रोककर संवरकी ओर ले जा सकता है।

परीषहजय—साधकको भूख प्यास ठंड गरमी बरसात डांस मच्छर चलने फिरने सोनेमें आनेवाली कंकड आदि बाधाएँ, वध आक्रोश मल रोग आदिकी बाधाओंको शान्तिसे सहना चाहिए। नग्न रहते हुए भी स्त्री आदिको देखकर अविकृत बने रहना चाहिए। चिरतपस्या करनेपर भी यदि कोई ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त न हो तो भी तपस्याके प्रति अनादर नहीं होना चाहिए। कोई सत्कार-पुरस्कार करे तो हर्ष न करे तो खेद नहीं करना चाहिए। यदि तपस्यासे कोई विशेष ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो अहंकार और प्राप्त न हुआ हो तो खेद नहीं करना चाहिए। भिक्षावृत्तिसे भोजन करते हुए भी दीनताका भाव आत्मामें नहीं आने देना चाहिए। इस तरह परीषहजयसे चारित्रमें दृढ़ निष्ठा होती है और इससे आस्रव रुककर संवर होता है।

चारित्र—चारित्र अनेक प्रकारका है। इसमें पूर्ण चारित्र मुनियोंका होता है तथा देशचारित्र श्रावकोंका। मुनि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतोंका पूर्णरूपमें पालन करता है तथा श्रावक इनको एक अंशसे। मुनियोंके महाव्रत होते हैं तथा श्रावकोंके अणुव्रत। इनके सिवाय सामायिक आदि चारित्र भी होते हैं। सामायिक—समस्त पापक्रियाओंका त्याग, समताभावकी आराधना। छेदोपस्थापना—यदि व्रतोंमें दूषण आ गया हो तो फिरसे उसमें स्थिर होना। परिहारविशुद्धि—इस चारित्रवाले व्यक्तिके शरीरमें इतना हलकापन आ जाता है जो सर्वत्र गमन करते हुए भी इसके शरीरसे हिंसा नहीं होती। सूक्ष्मसाम्पराय—अन्य सब कषायोंका उपशम या क्षय होनेपर जिसके मात्र सूक्ष्म लोभकषाय रह जाती है उसके सूक्ष्मसाम्परायचारित्र होता है। यथाख्यातचारित्र—जीवन्मुक्त व्यक्तिके समस्त कषायोंके क्षय होनेपर होता है। जैसा आत्माका स्वरूप है वैसा ही उसका प्राप्त हो जाना यथाख्यात है। इस तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदिकी किलेबन्दी होनेपर कर्मशत्रुके प्रवेशका कोई अवसर नहीं रहता और पूर्णसंवर हो जाता है।

निर्जरा—गुप्ति आदिसे सर्वतः संवृत व्यक्ति आगामी कर्मोंके आस्रवको तो रोक ही देता है साथ ही साथ पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करके क्रमशः मोक्षको प्राप्त करता है। निर्जरा झड़नेको कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—(१) औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा (२) अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि साधनाओंके द्वारा कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर बिना फल दिये ही झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रति समय कर्मोंका फल देकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रतिसमय हर एक प्राणीके होती ही रहती है और नूतन कर्म बँधते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तपरूपी अग्निके द्वारा कर्मोंको उदयकालके पहिले ही भस्म कर देना अविपाक निर्जरा या औपक्रमिक निर्जरा है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशान्तमोह गुणस्थानवाला, क्षपकश्रेणीवाले, क्षीणमोही और जीवन्मुक्त व्यक्ति क्रमशः असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। 'कर्मोंकी गति टल नहीं सकती' यह एकान्त नहीं है। यदि आत्मामें पुरुषार्थ हो और वह साधना करे तो समस्त कर्मोंको अन्तर्मुहूर्तमें ही नष्ट कर सकता है। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।" अर्थात् सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी बिना भोगे कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता—यह मत जैनोंको

साध्य नहीं। जैन तो यह कहते हैं कि "ध्यानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते क्षणात्।" अर्थात् ध्यान-रूपी अग्नि सभी कर्मोंको क्षण भरमें भस्म कर सकती है। ऐसे अनेक दृष्टान्त मौजूद हैं—जिन्होंने अपनी आत्मसाधनाका इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधुदीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्य लाभ हो गया। पुरानी वासनाओंको और राग, द्वेष आदि कुसंस्कारोंको नष्ट करनेका एकमात्र मुख्य साधन है ध्यान अर्थात् चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इस प्रकार भगवान् महावीरने बन्ध (दुःख) बन्धके कारण (आस्रव) मोक्ष और मोक्षके कारण—संवर, निर्जरा इन पाँच तत्त्वोंके साथ ही साथ आत्मतत्त्वके ज्ञानकी भी खास आवश्यकता बताई जिसे बन्धन और मोक्ष होता है तथा उस अजीव तत्त्वके ज्ञानकी जिसके कारण अनादिसे यह जीव बन्धनबद्ध हो रहा है।

मोक्षके साधन—वैदिक संस्कृति विचार या ज्ञानसे मोक्ष मानती है जब कि श्रमण संस्कृति आचार अर्थात् चारित्रको मोक्षका साधन स्वीकार करती है। यद्यपि वैदिक संस्कृतिमें तत्त्वज्ञानके साथ ही साथ वैराग्य और संन्यासको भी मुक्तिका अंग माना है पर वैराग्य आदिका उपयोग तत्त्वज्ञानकी पुष्टिमें होता है अर्थात् वैराग्यसे तत्त्वज्ञान परिपूर्ण होता है और फिर मुक्ति। जैन तीर्थंकरोंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (तत्त्वार्थसूत्र १।१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका मार्ग कहा है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोषक या वर्द्धक नहीं है मोक्षका साधन नहीं हो सकता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्मशोधन करे वही मोक्षका कारण है। अन्ततः सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्रशुद्धि है। ज्ञान थोड़ा भी हो पर यदि उसने जीवनशुद्धिमें प्रेरणा दी है तो वह सम्यग्ज्ञान है। अहिंसा, संयम और तप साधनात्मक वस्तुएँ हैं, ज्ञानात्मक नहीं। अतः जैनसंस्कृतिने कोरे ज्ञानको भार ही बताया है। तत्त्वोंकी सच्ची श्रद्धा खासकर धर्मकी श्रद्धा मोक्ष-प्रासादका प्रथम सोपान है। आत्मधर्म अर्थात् आत्मस्वभावका और आत्मा तथा शरीरादि परपदार्थका स्वरूपज्ञान होना—इनमें भेदविज्ञान होना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्मस्वरूपका स्पष्ट दर्शन, अपने लक्ष्य और कल्याण-मार्गकी दृढ़ प्रतीति। भय, आशा, स्नेह और लोभादि किसी भी कारणसे जो श्रद्धा चल और मलिन न हो सके, कोई साथ दे या न दे पर भीतरसे जिसके प्रति जीवनकी भी बाजी लगानेवाला परमावगाढ़ संकल्प हो वह जीवन्त श्रद्धा सम्यक्दर्शन है। इस ज्योति-के जगते ही साधकको अपने तत्त्वका स्पष्ट दर्शन होने लगता है। उसे स्वानुभूति—अर्थात् आत्मानुभव प्रतिक्षण होता है। वह समझता है कि धर्म आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें है, बाह्य पदार्थाश्रित क्रियाकाण्डमें नहीं। इसी-लिए उसकी परिणति एक विलक्षण प्रकारकी हो जाती है। उसे आत्मकल्याण, मानवजातिका कल्याण, देश और समाजके कल्याणके मार्गका स्पष्ट भान हो जाता है। अपने आत्मासे भिन्न किसी भी परपदार्थकी अपेक्षा ही दुःखका कारण है। सुख स्वाधीन वृत्तिमें है। अहिंसा भी अन्ततः यही है कि हमारा परपदार्थसे स्वार्थ-साधनका भाव कम हो। जैसे स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा है उसी तरह प्राणिमात्रका भी जीवित रहनेका अधिकार स्वीकार करें।

स्वरूपज्ञान और स्वाधिकार मर्यादाका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। उसके प्रति दृढ़ श्रद्धा सम्यग्दर्शन है और तद्रूप होनेके यावत् प्रयत्न सम्यक्चारित्र हैं। यथा—प्रत्येक आत्मा चैतन्यका धनी है। प्रतिक्षण पर्याय बदलते हुए भी उसकी अविच्छिन्न धारा अनन्तकाल तक चलती रहेगी। उसका कभी समूल नाश न होगा। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यपर कोई अधिकार नहीं है। रागादि कषायें और वासनाएँ आत्माका निजरूप नहीं हैं, विकारभाव हैं। शरीर भी पर है। हमारा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है। हमारा अधिकार अपनी गुणपर्यायोंपर है। अपने विचार और अपनी क्रियाओंको हम जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं। दूसरेको बनाना बिगाड़ना

हमारा स्वाभाविक अधिकार नहीं है। यह अवश्य है कि दूसरा हमारे बनने बिगड़नेमें निमित्त होता है पर निमित्त उपादानकी योग्यताका ही विकास करता है। यदि उपादान कमजोर है तो निमित्तके द्वारा अत्यधिक प्रभावित हो सकता। अतः बनना बिगड़ना बहुत कुछ अपनी भीतरी योग्यतापर ही निर्भर है। इस तरह अपने आत्माके स्वरूप और स्वाधिकारपर अटल श्रद्धा होना और आचार व्यवहारमें इसका उल्लंघन न करनेकी दृढ़ प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शनका सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शनका अर्थ मात्र यथार्थ देखना या वास्तविक पहिचान ही नहीं है, किन्तु उस दर्शनके पीछे होनेवाली दृढ़ प्रतीति, जीवन्त श्रद्धा और उसको कायम रखनेके लिए प्राणोंकी भी बाजी लगा देनेका अटूट विश्वास ही वस्तुतः सम्यग्दर्शनका स्वरूपार्थ है।

सम्यग्दर्शनमें दो शब्द हैं सम्यक् और दर्शन। सम्यक् शब्द सापेक्ष है, उसमें विवाद हो सकता है। एक मत जिसे सम्यक् समझता है दूसरा मत उसे सम्यक् नहीं मानकर मिथ्या मानता है। एक ही वस्तु परिस्थिति विशेषमें एकको सम्यक् और दूसरोको मिथ्या हो सकती है। दर्शनका अर्थ देखना या निश्चय करना है। इसमें भी भ्रान्तिकी सम्भावना है। सभी मत अपने-अपने धर्मको दर्शन अर्थात् साक्षात्कार किया हुआ बताते हैं, अतः कौन सम्यक् और कौन असम्यक् तथा कौन दर्शन और कौन अदर्शन ये प्रश्न मानव मस्तिष्कको आन्दोलित करते रहते हैं। इन्ही प्रश्नोंके समाधानमें जीवनका लक्ष्य क्या है? धर्मकी आवश्यकता क्यों है? आदि प्रश्नोका समाधान निहित है।

सम्यक्दर्शन एक क्रियात्मक शब्द है, अर्थात् सम्यक्-अच्छी तरह दर्शन–देखना। प्रश्न यह है कि— 'क्यो देखना, किसको देखना और कैसे देखना।' 'क्यो देखना' तो इसलिए कि मनुष्य स्वभावतः मननशील और दर्शनशील प्राणी होते हैं। उनका मन यह तो विचारता ही है कि—यह जीवन क्या है? क्या जन्मसे मरण तक ही इसकी धारा है या आगे भी? जिन्दगी भर जो अनेक द्वन्दों और संघर्षोंसे जूझना है वह किसलिए? अतः जब इसका स्वभाव ही मननशील है तथा संसारमें सैकड़ों मत प्रचारक मनुष्यको बलात् वस्तुस्वरूप दिखाते हुए चारो ओर घूम रहे हैं, 'धर्म डूबा, संस्कृति डूबी, धर्मकी रक्षा करो, संस्कृतिको बचाओ' आदि धर्म प्रचारकोंके नारे मनुष्यके कानके पर्दे फाड़ रहे हैं तब मनुष्यको न चाहनेपर भी देखना तो पड़ेगा ही। यह तो करीब-करीब निश्चित ही है कि मनुष्य या कोई भी प्राणी अपने लिए ही सब कुछ करता है, उसे सर्वप्रिय वस्तु अपनी ही आत्मा है। उपनिषदोंमें आता है कि "आत्मनो वै कामाय सर्वं प्रियं भवति।" कुटुम्ब स्त्री पुत्र तथा शरीरका भी ग्रहण अपनी आत्माकी तुष्टिके लिए किया जाता है। अतः 'किसको देखना' इस प्रश्नका उत्तर है कि सर्वप्रथम उस आत्माको ही देखना चाहिए जिसके लिए यह सब कुछ किया जा रहा है, और जिसके न रहनेपर यह सब कुछ व्यर्थ है, वही आत्मा द्रष्टव्य है, उसीका सम्यक्दर्शन हमें करना चाहिए। 'कैसे देखना' इस प्रश्नका उत्तर धर्म और सम्यग्दर्शनका निरूपण है।

जैनाचार्योंने 'वत्थुस्वभावो धम्मो' यह धर्मकी अन्तिम परिभाषा की है। प्रत्येक वस्तुका अपना निज स्वभाव ही धर्म है तथा स्वभावसे च्युत होना अधर्म है। मनुष्यका मनुष्य रहना धर्म है पशु बनना अधर्म है। आत्मा जब तक अपने स्वरूपमें है धर्मात्मा है, जहाँ स्वरूपसे च्युत हुआ अधर्मात्मा बना। अतः जब स्वरूपस्थिति ही धर्म है तब धर्मके लिए भी स्वरूपका जानना नितान्त आवश्यक है। यह भी जानना चाहिए कि आत्मा स्वरूपच्युत क्यों होता है? यद्यपि जलका गरम होना उसकी स्वरूपच्युति है, एतावता वह अधर्म है पर जल चूँकि जड़ है, अतः उसे यह भान ही नहीं होता कि मेरा स्वरूप नष्ट हो गया

है। जैन तत्त्वज्ञान तो यह कहता है कि जिस प्रकार अपने स्वरूपसे च्युत होना अधर्म है उसी प्रकार दूसरेको स्वरूपसे च्युत करना भी अधर्म है। स्वयं क्रोध करके शान्तस्वरूपसे च्युत होना जितना अधर्म है उतना ही दूसरेके शान्तस्वरूपमें विघ्न करके उसे स्वरूपच्युत करना भी अधर्म है। अतः ऐसी प्रत्येक विचारधारा, वचनप्रयोग और शारीरिक प्रवृत्ति अधर्म है जो अपनेको स्वरूपच्युत करती हो या दूसरेकी स्वरूपच्युतिका कारण होती हो।

आत्माके स्वरूपच्युत होनेका मुख्य कारण है—स्वरूप और स्वाधिकारकी मर्यादाका अज्ञान। संसारमें अनन्त अचेतन और अनन्त चेतन द्रव्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक अपने स्वरूपमें परिपूर्ण है। इन सबका परिणमन मूलतः अपने उपादानके अनुसार होकर भी दूसरेके निमित्तसे प्रभावित होता है। अनन्त अचेतन द्रव्योंका यद्यपि संयोगोंके आधारसे स्वरसतः परिणमन होता रहता है। पर जड होनेके कारण उनमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। जैसी-जैसी सामग्री जुटती जाती है वैसा-वैसा उनका परिणमन होता रहता है। मिट्टीमें यदि विष पड जाय तो उसका विषरूप परिणमन हो जायगा यदि क्षार पड जाय तो क्षारा परिणमन हो जायगा। चेतन द्रव्य ही ऐसे हैं जिनमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है। ये अपनी प्रवृत्ति तो बुद्धिपूर्वक करते ही हैं साथ ही साथ अपनी बुद्धिके अनधिकार उपयोगके कारण दूसरे द्रव्योंको अपने अधीन करनेकी कुचेष्टा भी करते हैं। यह सही है कि जबतक आत्मा अशुद्ध या शरीर परतन्त्र है तब तक उसे परपदार्थोंकी आवश्यकता होगी और वह परपदार्थोंके बिना जीवित भी नहीं रह सकता। पर इस अनिवार्य स्थितिमें भी उसे यह सम्यक्‌दर्शन तो होना ही चाहिए कि—'यद्यपि आज मेरी अशुद्ध दशामें शरीरादिके परतन्त्र होनेके कारण नितान्त परवश स्थिति है और इसके लिए यत्किंचित् परसंग्रह आवश्यक है पर मेरा निसर्गतः परद्रव्योंपर कोई अधिकार नहीं है, प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना स्वामी है।" इस परम व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी उद्‌घोषणा जैनतत्त्वज्ञानियोंने अत्यन्त निर्भयतासे की है। और इसके पीछे हजारों राजकुमार राजपाट छोडकर इस व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी उपासनामें लगते आए हैं। यही सम्यग्दर्शनकी ज्योति है।

प्रत्येक आत्मा अपनी तरह जगत्‌में विद्यमान अनन्त आत्माओंका भी यदि समान-आत्माधिकार स्वीकार कर ले और अचेतन द्रव्योंके संग्रह या परिग्रहको पाप और अनधिकार चेष्टा मान ले तो जगत्‌में युद्ध संघर्ष हिंसा द्वेष आदि क्यों हो? आत्माके स्वरूपच्युत होनेका मुख्य कारण है परसंग्रहाभिलाषा और परपरिग्रहेच्छा। प्रत्येक मिथ्यादर्शी आत्मा यह चाहता है कि संसारके समस्त जीवधारी उसके इशारेपर चलें, उसके अधीन रहे, उसकी उच्चता स्वीकार करें। इसी व्यक्तिगत अनधिकार चेष्टाके फलस्वरूप जगत्‌में जाति वर्ण रंग आदिप्रयुक्त वैषम्यकी सृष्टि हुई है। एक जातिमें उच्चत्वका अभिमान होनेपर उसने दूसरी जातियोंको नीचा रखनेका प्रयत्न किया। मानवजातिके काफी बडे भागको अस्पृश्य घोषित किया गया। गोरेरंगवालोंकी शासक जाति बनी। इस जाति वर्ण और रंगके आधारसे गुट बने और इन गिरोहोंने अपने वर्गकी उच्चता और लिप्साकी पुष्टिके लिए दूसरे मनुष्योंपर अवर्णनीय अत्याचार किए। स्त्रीमात्र भोगकी वस्तु रही। स्त्री और शूद्रका दर्जा अत्यन्त पतित समझा गया। जैन तीर्थंकरोंने इन अनधिकार चेष्टाओंको मिथ्यादर्शन कहा और बताया कि इस अनधिकार चेष्टाको समाप्त किये बिना सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः मूलतः सम्यग्दर्शन-आत्मस्वरूपदर्शन और आत्माधिकारके ज्ञानमें ही परिसमाप्त है। शास्त्रोंमें इसका ही स्वानुभव, स्वानुभूति, स्वरूपानुभव जैसे शब्दोंसे वर्णन किया गया है। जैन परम्परामें सम्यक्‌दर्शनके विविधरूप पाए जाते हैं। १–तत्त्वार्थश्रद्धान २–जिनदेव शास्त्र गुरुका श्रद्धान ३–आत्मा और परका भेदज्ञान आदि।

जैनदेव, जैनशास्त्र और जैनगुरुकी श्रद्धाके पीछे भी वही आत्मसमानाधिकारकी बात है। जैनदेव परम वीतरागताके प्रतीक हैं। उस वीतरागता और आत्ममात्रत्वके प्रति सम्पूर्ण निष्ठा रखे बिना शास्त्र और गुरुभक्ति भी अधूरी है। अतः जैनदेव शास्त्र और गुरुकी श्रद्धाका वास्तविक अर्थ किसी व्यक्तिविशेषकी श्रद्धा न होकर उन गुणोंके प्रति अटूट श्रद्धा है जिन गुणोंके वे प्रतीक हैं।

आत्मा और पदार्थोंका विवेकज्ञान भी उसी आत्मदर्शनकी ओर इशारा करता है। इसी तरह तत्त्वार्थ-श्रद्धानमें उन्हीं आत्माको बन्ध करनेवाले और आत्माकी मुक्तिमें कारणभूत तत्त्वोंकी श्रद्धा ही अपेक्षित है। इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन आत्मस्वरूपदर्शन और आत्माधिकारका परिज्ञान तथा उसके प्रति अटूट जीवन्त श्रद्धारूप ही है। सम्यग्दृष्टाके जीवनमें परिग्रहसंग्रह और हिंसाका कोई स्थान नहीं रह सकता। वह तो मात्र अपनी आत्मापर ही अपना अधिकार समझकर जितनी दूसरी आत्माओंको या अन्य जड़द्रव्योंको अधीन करनेकी चेष्टाएँ हैं उन सभीको अधर्म ही मानता है। इस तरह यदि प्रत्येक मानवको यह आत्मस्वरूप और आत्माधिकारका परिज्ञान हो जाय और वह जीवनमें इसके प्रति निष्ठावान हो जाय तो संसारमें परम शान्ति और सहयोगका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके इस अन्तरस्वरूपकी जगह आज बाहरी पूजा-पाठने ले ली है। अमुक पद्धतिसे पूजन और अमुक प्रकारकी द्रव्यसे पूजा आज सम्यक्त्व समझी जाती है। जो महावीर और पद्मप्रभु वीतरागताके प्रतीक थे, आज उनकी पूजा व्यापारलाभ, पुत्रप्राप्ति, भूतबाधाशान्ति जैसी क्षुद्र कामनाओंकी पूर्तिके लिए ही की जाने लगी है। इतना ही नहीं, इन तीर्थंकरोंका 'सच्चा दरबार' कहलाता है। इनके मन्दिरोंमें शासन-देवता स्थापित हुए हैं और उनकी पूजा और भक्तिने हो मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है। और यह सब हो रहा है सम्यग्दर्शनके पवित्र नामपर।

जिस सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डालको स्वामी समन्तभद्रने देवके समान बताया उसी सम्यग्दर्शनकी ओटमें और शास्त्रोंकी ओटमें जातिगत उच्चत्व नीचत्वके भावका प्रचार किया जा रहा है। जिस बाह्य-पदार्थाश्रित या शरीराश्रित भावोंके विनाशके लिए आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शनका उपदेश दिया गया था उन्हीं शरीराश्रित पिण्डशुद्धि आदिके नामपर ब्राह्मणधर्मकी वर्णाश्रमव्यवस्थाको चिपटाया जा रहा है। इस तरह जबतक हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होगा तबतक न जाने क्या-क्या अलाय-बलाय उसके पवित्र नामसे मानव-जातिका पतन करती रहेगी। अतः आत्मस्वरूप और आत्माधिकारको मर्यादाको पोषण करनेवाली धारा ही सम्यग्दर्शन है अन्य नहीं। यही धर्म है।

जिस प्रकार मिथ्यादर्शन दो प्रकारका उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भी निसर्गज-अर्थात् बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके बिना अनायास प्राप्त होनेवाला और अधिगमज अर्थात् बुद्धिपूर्वक-परोपदेशसे सीखा हुआ, इस प्रकार दो भेद हैं। जन्मान्तरसे आये हुए सम्यग्दर्शन संस्कारका निसर्गजमें ही समावेश है। अतः जबतक माँ बाप, शिक्षक, समाजके नेता, धर्मगुरु और धर्मप्रचारक आदिको सम्यग्दर्शनका सम्यग्दर्शन न होगा तबतक ये अनेक निरर्थक क्रियाकाण्डों और विचारशून्य रूढ़ियोंकी शराब धर्म और सम्यग्दर्शनके नामपर नूतनपीढ़ी-को पिलाते जायेंगे और निसर्गमिथ्यादृष्टियोंकी सृष्टि करते जायेंगे। अतः नई पीढ़ीके सुधारके लिए व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त करना होगा। हमें उस मूलभूत तत्त्व-आत्मस्वरूप और आत्माधिकारको इन नेताओंको समझाना होगा और इनसे करबद्ध प्रार्थना करनी होगी कि इन कच्चे बच्चोंपर दया करो, इन्हें सम्यग्दर्शन और धर्मके नामपर बाह्यगत उच्चत्वनीचत्व शरीराश्रित पिण्डशुद्धि आदिमें न उलझाओ, थोड़ा-थोड़ा आत्म-दर्शन करने दो। परम्परागत रूढ़ियोंको धर्मका जामा मत पहिनाओ। बुद्धि और विवेकको जाग्रत् होने दो।

श्रद्धाके नामपर बुद्धि और विवेककी ज्योतिको मत बुझावो। अपनी प्रतिष्ठा स्थिर रखनेके लिए पीढ़ीके विकासको मत रोको। स्वयं समझो जिससे तुम्हारे संपर्कमें आनेवाले लोगोंमें समझदारी आवे। रूढ़िचक्रका आम्नाय परम्परा आदिके नामपर आँख मूँदकर अनुसरण न करो। तुम्हारा यह पाप नई पीढ़ीको भोगना पड़ेगा। भारतकी परतन्त्रता हमारे पूर्वजोंकी ही गल्ती या सकुचित दृष्टिका परिणाम थी, और आज जो स्वतन्त्रता मिली वह गान्धीयुगके सम्यग्द्रष्टाओंके पुरुषार्थका फल है। इस विचारधाराको प्राचीनता, हिन्दुत्व, धर्म और संस्कृतिके नामपर फिर तमःछन्न मत करो।

सारांश यह कि आत्मस्वरूप और आत्माधिकारके पोषक उपबृंहक परिवर्धक और संशोधक कर्त्तव्यों-का प्रचार करो जिससे सम्यग्दर्शनकी परम्परा चले। व्यक्तिका पाप व्यक्तिको भोगना ही साधनो की सत्ता है।

अध्यात्म और नियतिवादका सम्यग्दर्शन

पदार्थस्थिति—"नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः"—जगतमें जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता और सर्वथा नए किसी असत्का सद्रूपमें उत्पाद नहीं हो सकता। जितने मौलिक द्रव्य इस जगतमें अनादिसे विद्यमान हैं अपनी अवस्थाओंमें परिवर्तित होते रहते हैं। अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल अणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु इनसे यह लोक व्याप्त है। ये छह जातिके द्रव्य मौलिक हैं, इनमेंसे न तो एक भी द्रव्य कम हो सकता है और न कोई नया उत्पन्न होकर इनकी संख्यामें वृद्धि ही कर सकता है। कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्यरूपमें परिणमन नहीं कर सकता। जीव जीव ही रहेगा पुद्गल नहीं हो सकता। जिस तरह विजातीय द्रव्यरूपमें किसी भी द्रव्यका परिणमन नहीं होता उसी तरह एक जीव दूसरे सजातीय जीवद्रव्यरूप या एक पुद्गल दूसरे सजातीय पुद्गलद्रव्यरूपमें परिणमन भी नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों-अवस्थाओंकी धारामें प्रवाहित है। वह किसी भी विजातीय या सजातीय द्रव्यान्तरकी धारामें नहीं मिल सकता। यह सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तरमें असंक्रान्ति ही प्रत्येक द्रव्यकी मौलिकता है। इन द्रव्योंमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्योंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है, इनमें विकार नहीं होता, एक जैसा परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें शुद्धपरिणमन भी होता है तथा अशुद्ध परिणमन भी। इन दो द्रव्योंमें क्रियाशक्ति भी है जिससे इनमें हलन-चलन, आना-जाना आदि क्रियाएँ होती हैं। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं, वे जहाँ हैं वहीं रहते हैं। आकाश सर्वव्यापी है। धर्म और अधर्म लोकाकाशके बराबर हैं। पुद्गल और काल अणुरूप हैं। जीव असंख्यातप्रदेशी हैं और अपने शरीरप्रमाण विविध आकारोंमें मिलता है। एक पुद्गलद्रव्य ही ऐसा है जो सजातीय अन्य पुद्गलद्रव्योंसे मिलकर स्कन्ध बन जाता है और कभी-कभी इनमें इतना रासायनिक मिश्रण हो जाता है कि उसके अणुओंकी पृथक् सत्ताका भान करना भी कठिन होता है। तात्पर्य यह कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यमें अशुद्ध परिणमन होता है और वह एक दूसरेके निमित्तसे। पुद्गलमें इतनी विशेषता है कि उसकी अन्य सजातीय पुद्गलोंसे मिलकर स्कन्ध-पर्याय भी होती है पर जीवकी दूसरे जीवसे मिलकर स्कन्ध पर्याय नहीं होती। दो विजातीय द्रव्य बँधकर एक पर्याय प्राप्त नहीं कर सकते। इन दो द्रव्योंके विविध परिणमनोंका स्थूलरूप यह दृश्य जगत् है।

द्रव्य-परिणमन—प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है। पूर्वपर्याय नष्ट होती है उत्तर उत्पन्न होती है पर मूलद्रव्यकी धारा अविच्छिन्न चलती है। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता प्रत्येक द्रव्यका निजी स्वरूप है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंका सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। जीवद्रव्यमें जो मुक्त जीव हैं उनका

परिणमन शुद्ध ही होता है कभी भी अशुद्ध नहीं होता। संसारी जीव और अनन्त पुद्गलद्रव्यका शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकारका परिणमन होता है। इतनी विशेषता है कि जो संसारी जीव एकबार मुक्त होकर शुद्ध परिणमनका अधिकारी हुआ वह फिर कभी भी अशुद्ध नहीं होगा, पर पुद्गलद्रव्यका कोई नियम नहीं है। वे कभी स्कन्ध बनकर अशुद्ध परिणमन करते हैं तो परिमाणुरूप होकर अपनी शुद्ध अवस्थामें आ जाते हैं फिर स्कन्ध बन जाते हैं। इस तरह उनका विविध परिणमन होता रहता है। जीव और पुद्गलमे वैभाविकी शक्ति है, उसके कारण विभाव परिणमनको भी प्राप्त होते हैं।

द्रव्यगतशक्ति—धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक एक एक हैं। कालाणु असंख्यात है। प्रत्येक कालाणुमे एक-जैसी शक्तियाँ हैं। वर्तना करनेकी जितने अविभागप्रतिच्छेदवाली शक्ति एक कालाणुमें है वैसी ही दूसरे कालाणुमें। इस तरह कालाणुओंमें परस्पर शक्ति-विभिन्नता या परिणमनविभिन्नता नहीं है। पुद्गलद्रव्यके एक अणुमे जितनी शक्तियाँ हैं उतनी ही और वैसी ही शक्तियाँ परिणमनयोग्यताएँ अन्य पुद्गलाणुओमें हैं। मूलत पुद्गल-अणुद्रव्योंमे शक्तिभेद, योग्यताभेद या स्वभावभेद नहीं है। यह तो सम्भव है कि कुछ पुद्गलाणु मूलत स्निग्ध स्पर्शवाले हों और दूसरे मूलत' रूक्ष, कुछ शीत और कुछ उष्ण, पर उनके ये गुण भी नियत नहीं हैं, रूक्षगुणवाला भी अणु स्निग्धगुणवाला बन सकता है तथा स्निग्धगुणवाला भी रूक्ष, शीत भी उष्ण बन सकता है उष्ण भी शीत। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओंमे ऐसा कोई जातिभेद नहीं है जिससे किसी भी पुद्गलाणुका पुद्गलसम्बन्धी कोई परिणमन न हो सकता हो। पुद्गल-द्रव्यके जितने भी परिणमन हो सकते हैं उन सबकी योग्यता और शक्ति प्रत्येक पुद्गलाणुमें स्वभावत. है। यही द्रव्यशक्ति कहलाती है। स्कन्ध अवस्थामें पर्यायशक्तियाँ विभिन्न हो सकती हैं। जैसे किसी अग्निस्कन्धमें सम्मिलित परमाणुका उष्णस्पर्श तेजोरूप था, पर यदि वह अग्निस्कन्धसे जुदा हो जाय तो उसका शीतस्पर्श तथा कृष्णरूप हो सकता है, और यदि वह स्कन्ध ही भस्म बन जाय तो सभी परमाणुओंका रूप और स्पर्श आदि बदल सकते हैं।

सभी जीवद्रव्योंकी मूल स्वभावशक्तियाँ एक जैसी हैं, ज्ञानादि अनन्तगुण और अनन्त चैतन्यपरिणमनकी शक्ति मूलत प्रत्येक जीवद्रव्यमे है। हाँ, अनादिकालीन अशुद्धताके कारण उनका विकास विभिन्न प्रकारसे होता है। चाहे भव्य हो या अभव्य दोनो ही प्रकारके प्रत्येक जीव एक-जैसी शक्तियोंके आधार हैं। शुद्ध दशामे सभी एक जैसी शक्तियोंके स्वामी बन जाते हैं और प्रतिसमय अखण्ड शुद्ध परिणमनमें लीन रहते हैं। ससारी जीवोंमे भी मूलत सभी शक्तियाँ हैं। इतना विशेष है कि अभव्यजीवोंमें केवलज्ञानादि शक्तियोंके आविर्भावकी शक्ति नहीं मानी जाती। उपर्युक्त विवेचनसे एक बात निर्विवादरूपसे स्पष्ट हो जाती है कि चाहे द्रव्य चेतन हो या अचेतन, प्रत्येक मूलत अपनी-अपनी चेतन-अचेतन शक्तियोंका धनी है उनमें कहीं कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं है। अशुद्ध दशामें अन्य पर्यायशक्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं और विलीन होती रहती हैं।

परिणमनके नियतत्वकी सीमा—उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि द्रव्योंमें परिणमन होनेपर भी कोई भी द्रव्य सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपमें परिणमन नहीं कर सकता। अपनी धारामें सदा उसका परिणमन होता रहता है। द्रव्यगत मूल स्वभावकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके अपने परिणमन नियत हैं। किसी भी पुद्गलाणुके वे सभी पुद्गलसम्बन्धी परिणमन यथासमय हो सकते हैं और किसी भी जीवके जीव-सम्बन्धी अनन्त परिणमन। यह तो सम्भव है कि कुछ पर्यायशक्तियोंसे सीधा सम्बन्ध रखनेवाले परिणमन कारणभूत पर्यायशक्तिके न होनेपर न हों। जैसे प्रत्येक पुद्गलपरमाणु यद्यपि घट बन सकता है फिर भी

जबतक अमुक परमाणु मिट्टी स्कन्धरूप पर्यायको प्राप्त न होंगे तब तक उनमें मिट्टीरूप पर्यायशक्तिके विकाससे होनेवाली घटपर्याय नहीं हो सकती। परन्तु मिट्टी पर्यायसे होनेवाली घट, सकोरा आदि जितनी पर्यायें सम्भवित हैं वे निमित्तके अनुसार कोई भी हो सकती हैं। जैसे जीवमें मनुष्यपर्यायमें आँखसे देखनेकी योग्यता विकसित है तो वह अमुक समयमें जो भी सामने आयेगा उसे देखेगा। यह कदापि नियत नहीं है कि अमुक समयमें अमुक पदार्थको ही देखनेकी उसमें योग्यता है शेषकी नहीं, या अमुक पदार्थमें उस समय उसके द्वारा ही देखे जानेकी योग्यता है अन्यके द्वारा नहीं। मतलब यह कि परिस्थितिवश जिस पर्यायशक्तिका द्रव्यमें विकास हुआ है उस शक्तिसे होनेवाले यावत्कार्योंमेंसे जिस कार्यकी सामग्री या बलवान् निमित्त मिलेंगे उसके अनुसार उसका वैसा परिणमन होता जायगा। एक मनुष्य गद्दीपर बैठा है उस समय उसमें हँसना-रोना, आश्चर्य करना, गम्भीरतासे सोचना आदि अनेक कार्योंकी योग्यता है। यदि बहुरूपिया सामने आजाय और उसकी उसमे दिलचस्पी हो तो हँसनेरूप पर्याय हो जायगी। कोई शोकका निमित्त मिल जाय तो रो भी सकता है। अकस्मात् बात सुनकर आश्चर्यमें डूब सकता है और तत्त्वचर्चा सुनकर गम्भीरतापूर्वक सोच भी सकता है। इसलिए यह समझना कि 'प्रत्येक द्रव्यका प्रतिसमयका परिणमन नियत है उसमें कुछ भी हेर-फेर नहीं हो सकता और न कोई हेर-फेर कर सकता है' द्रव्यके परिणमनस्वभावको गम्भीरतासे न सोचनेके कारण भ्रमात्मक है। द्रव्यगत परिणमन नियत हैं। अमुक स्थूलपर्यायगत शक्तियोंके परिणमन भी नियत हो सकते हैं, जो उस पर्यायशक्तिके सम्भावनीय परिणमनोंमेंसे किसी एकरूपमें निमित्तानुसार सामने आते हैं। जैसे एक अंगुली अगले समय टेढ़ी हो सकती है, सीधी रह सकती है, टूट सकती है, घूम सकती है, जैसी सामग्री और कारण-कलाप मिलेंगे उसमें विद्यमान इन सभी योग्यताओंमेंसे अनुकूल योग्यताका विकास हो जायगा। उस कारणशक्तिसे वह अमुक परिणमन भी नियत कराया जा सकता है जिसकी पूरी सामग्री अविकल हो और प्रतिबन्धक कारणकी सम्भावना न हो, ऐसी अन्तिमक्षणप्राप्त शक्तिसे वह कार्य नियत ही होगा, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिक्षणका परिणमन सुनिश्चित है उसमें जिसे जो निमित्त होता है नियतिचक्रके पेटमें पड़कर ही वह उसका निमित्त बनेगा ही। यह अति-सुनिश्चित है कि हरएक द्रव्यका प्रतिसमय कोई न कोई परिणमन होना ही चाहिए। पुराने संस्कारोंके परिणामस्वरूप कुछ ऐसे निश्चित कार्यकारणभाव बनाए जा सकते हैं जिनसे यह नियत किया जा सकता है कि अमुक समयमें इस द्रव्यका ऐसा परिणमन होना ही, पर इस कारणताकी अवश्यंभाविता सामग्रीकी अविकलता तथा प्रतिबन्धक-कारणकी शून्यतापर ही निर्भर है। जैसे हल्दी और चूना दोनों एक जलपात्रमें डाले गये तो यह अवश्यभावी है कि उनका लालरंगका परिणमन हो। एक बात यहाँ यह खासतौरसे ध्यानमें रखने की है कि अचेतन परमाणुओंमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। उनमें अपने संयोगोंके आधारसे ही क्रिया होती है, भले ही वे संयोग चेतन द्वारा मिलाए गए हों या प्राकृतिक कारणोंसे मिले हों। जैसे पृथिवी-में कोई बीज पड़ा हो तो सरदी गरमीका निमित्त पाकर उसमें अंकुर आ जायगा और वह पल्लवित पुष्पित होकर पुनः बीजको उत्पन्न कर देगा। गरमीका निमित्त पाकर जल भाप बन जायगा। पुनः सरदीका निमित्त पाकर भाप जलके रूपमें बरसकर पृथिवीको शस्यश्यामल बना देगा। कुछ ऐसे भी अचेतन द्रव्योंके परिणमन हैं जो चेतन निमित्तसे होते हैं जैसे मिट्टीका घड़ा बनना या रुईका कपड़ा बनना। तात्पर्य यह कि अतीतके संस्कारवश वर्तमान क्षणमें जितनी और जैसी योग्यताएँ विकसित होंगी और जिनके विकासके अनुकूल निमित्त मिलेंगे द्रव्योंका वैसा-वैसा परिणमन होता जायगा। भविष्यका कोई निश्चित कार्यक्रम द्रव्योंका बना हुआ हो और उसी सुनिश्चित अनन्त क्रमपर यह जगत चल रहा हो यह धारणा ही भ्रम-पूर्ण है।

नियतानियतत्ववाद—जैनदृष्टिसे द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके प्रतिक्षणके परिणमन अनिवार्य होकर भी अनियत हैं। एक द्रव्यकी उस समयकी योग्यतासे जितने प्रकारके परिणमन हो सकते हैं उनमेंसे कोई भी परिणमन जिसके निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायगी हो जायगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्यकी शक्तियाँ तथा उनसे होनेवाले परिणमनोंकी जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गलके परिणमन जीवमें तथा जीवके परिणमन पुद्गलमें नहीं हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी तथा अनुकूल निमित्त मिल जायगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायगा। अतः नियतत्व और अनियतत्व दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अपेक्षा भेदसे सम्भव हैं।

जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्यका ही खेल यह जगत है। इनकी अपनी द्रव्यशक्तियाँ नियत हैं। संसारमें किसीकी शक्ति नहीं जो द्रव्यशक्तियोंमेंसे एकको भी कम कर सके या एकको बढ़ा सके। इनका आविर्भाव और तिरोभाव पर्यायके कारण होता रहता है। जैसे मिट्टी पर्यायको प्राप्त पुद्गलसे तेल नहीं निकल सकता, वह सोना नहीं बन सकती, यद्यपि तेल और सोना भी पुद्गल ही बनता है, क्योंकि मिट्टी पर्यायवाले पुद्गलोंकी वह योग्यता तिरोभूत है, उसमें घट आदि बननेकी, अंकुरको उत्पन्न करनेकी, बर्तनोंके शुद्ध करनेकी, प्राकृतिक चिकित्सामें उपयोग आनेकी आदि पचासों पर्याय योग्यताएँ विद्यमान हैं। जिसकी सामग्री मिलेगी अगले क्षणमें वही पर्याय उत्पन्न होगी। रेत भी पुद्गल है पर इस पर्यायमें घड़ा बननेकी योग्यता तिरोभूत है, अप्रकट है, उसमें सीमेंटके साथ मिलकर दीवालपर पुष्ट लेप करनेकी योग्यता प्रकट है, वह काँच बन सकती है या वहीं पर लिखी जानेवाली काली स्याहीका शोषण कर सकती है। मिट्टी पर्यायमें ये योग्यताएँ अप्रकट हैं। तात्पर्य यह कि :—

(१) प्रत्येक द्रव्यकी मूलद्रव्यशक्तियाँ नियत हैं उनकी संख्यामें न्यूनाधिकता कोई नहीं कर सकता। पर्यायके अनुसार कुछ शक्तियाँ प्रकट रहती हैं और कुछ अप्रकट। इन्हें पर्याय योग्यता कहते हैं। (२) यह नियत है कि चेतन का अचेतनरूपसे तथा अचेतनका चेतनरूपसे परिणमन नहीं हो सकता। (३) यह भी नियत है कि एक चेतन या अचेतन द्रव्यका दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूपसे परिणमन नहीं हो सकता। (४) यह भी नियत है कि दो चेतन मिलकर एक संयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते जैसे कि अनेक अचेतन परमाणु मिलकर अपनी संयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं। (५) यह भी नियत है कि द्रव्यमें उस समय जितनी पर्याय योग्यताएँ हैं उनमें जिसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे वही परिणमन आगे होगा, शेष योग्यताएँ केवल सद्भावमें रहेंगी। (६) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्यका कोई न कोई परिणमन अगले क्षणमें अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल योग्यताओं और पर्यायगत प्रकट योग्यताओंकी सीमाके भीतर ही होगा, बाहर कदापि नहीं। (७) यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्यकी योग्यताका ही विकास करता है, उसमें नूतन सर्वथा असद्भूत परिणमन उपस्थित नहीं कर सकता। (८) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणमनका उपादान होता है। उस समयकी पर्याययोग्यतारूप उपादानशक्तिकी सीमाके बाहिरका कोई परिणमन निमित्त नहीं ला सकता। परन्तु—

(१) यही एक बात अनियत है कि 'अमुक समयमें अमुक परिणमन ही होगा।' मिट्टीकी पिंडपर्यायमें घड़ा, सकोरा, सुराई, दिया आदि अनेक पर्यायोंके प्रकटानेकी योग्यता है। कुम्हारकी इच्छा और क्रिया आदि का निमित्त मिलनेपर उनमेंसे जिसकी अनकूलता होगी वह पर्याय अगले क्षणमें उत्पन्न हो जायगी। यह कहना कि 'उस समय मिट्टीकी यही पर्याय होनी थी, उनका मेल भी सद्भाव रूपसे होना था, पानीकी यही पर्याय होनी थी' द्रव्य और पर्यायगत योग्यताके अज्ञानका फल है।

नियतिवाद नहीं—जो होना होगा वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुषार्थ नही है, इस प्रकारके निष्क्रिय नियतिवादके विचार जैनतत्त्वस्थितिके प्रतिकूल हैं। जो द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नही, हमारा पुरुषार्थ तो कोयलेको हीरापर्यायके विकास करानेमें है। यदि कोयलेके लिए उसकी हीरापर्यायके विकासके लिए आवश्यक सामग्री न मिले तो या तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खानिमें ही पड़े-पड़े समाप्त हो जायगा। इसका यह अर्थ नही है कि जिसमें उपादान शक्ति नही है उसका परिणमन भी निमित्तसे हो सकता है या निमित्तमें यह शक्ति है जो निरुपादानको परिणमन करा सके।

नियतिवाद-दृष्टिविष—एकबार 'ईश्वरवाद'के विरुद्ध छात्रोंने एक प्रहसन खेला था। उसमें एक ईश्वरवादी राजा था, जिसे यह विश्वास था कि ईश्वरने समस्त दुनियाके पदार्थोंका कार्यक्रम निश्चित कर दिया है। प्रत्येक पदार्थकी अमुक समयमें यह दशा होगी इसके बाद यह इस प्रकार सब सुनिश्चित है। कोई अकार्य होता तो राजा सदा यह कहता था कि—'हम क्या कर सकते हैं? ईश्वरने ऐसा ही नियत किया था। ईश्वरके नियतिचक्रमें हमारा हस्तक्षेप उचित नही 'ईश्वरकी मर्जी'। एकबार कुछ गुण्डोने राजाके सामने ही रानीका अपहरण किया। जब रानीने रक्षार्थ चिल्लाहट शुरू की और राजाको क्रोध आया तब गुण्डोंके सरदारने जोरसे कहा—'ईश्वरकी मर्जी'। राजाके हाथ ढीले पड़ते हैं और वे गुण्डे रानीको उसके सामने ही उठा ले जाते हैं। गुण्डे रानीको भी समझाते हैं कि 'ईश्वरकी मर्जी यही थी' रानी भी 'विधिविधान' में अटल विश्वास रखती थी और उन्हें आत्म समर्पण कर देती है। राज्यमें अव्यवस्था फैलती है और परचक्रका आक्रमण होता है और राजाकी छातीमें दुश्मनकी जो तलवार घुसती है वह भी 'ईश्वरकी मर्जी' इस जहरीले विश्वासविषसे बुझी हुई थी और जिसे राजाने विधिविधान मानकर ही स्वीकार किया था। राजा और रानी, गुण्डो और शत्रुओके आक्रमणके समय 'ईश्वरकी मर्जी' 'विधिकाविधान' इन्ही ईश्वरास्त्रोंका प्रयोग करते थे और ईश्वरसे ही रक्षाकी प्रार्थना करते थे। पर न मालूम उस समय ईश्वर क्या कर रहा था? ईश्वर भी क्या करता? गुण्डे और शत्रुओका कार्यक्रम भी उसीने बनाया था और वे भी 'ईश्वरकी मर्जी' और 'विधिविधान'की दुहाई दे रहे थे। इस ईश्वरवादमें इतनी गुजाइश थी कि यदि ईश्वर चाहता तो अपने विधानमें कुछ परिवर्तन कर देता। आज श्री कानजी स्वामीकी वस्तुविज्ञानसार' पुस्तकको पलटते समय उस प्रहसनकी याद आ गई और ज्ञात हुआ कि यह नियतिवादका कालकूट 'ईश्वरवाद'से भी भयकर है। ईश्वरवादमें इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्तिकी जाय या सत्कार्य किया जाय तो ईश्वरके विधानमें हेर-फेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मोंके अनुसार ही फलका विधान करता है। पर यह नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे 'अनन्त पुरुषार्थ'का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्मकी शक्करमें लपेट कर दिया जा रहा है। ईश्वरवादी साँपके जहरका एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवादी कालकूटका, इस भीषण दृष्टिविषका कोई उपाय नही; क्योकि हर एक द्रव्यकी हर समयकी पर्याय नियत है।

मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकात विषको अनेकान्त अमृतके नामसे कोमलमति नई पीढ़ीको पिलाकर उन्हें अनन्त पुरुषार्थी कहकर सदाके लिए पुरुषार्थमे विमुख किया जा रहा है।

पुण्य और पाप क्यो?—जब प्रत्येक जीवका प्रतिसमयका कार्यक्रम निश्चित है, अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नही, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नही है, तब क्या पुण्य और क्या पाप? किसी मुसलमानने जैनप्रतिमा तोडी, तो जब मुसलमानको उस समय प्रतिमाको तोडना ही था, प्रतिमाको उस समय टूटना ही था, सब कुछ नियत था तो बिचारे मुसलमान का क्या अपराध? वह तो नियतिचक्रका दास था। एक याज्ञिक ब्राह्मण

बकरेकी बलि चढ़ाना है तो क्यों उसे हिंसक कहा जाय—'देवीकी ऐसी ही पर्याय होनी थी,' बकरेके गलेको कटना ही था, छुरेको उसको गर्दनके भीतर घुसना ही था, ब्राह्मणके मुँहमें मांस आना ही था, वेदमें ऐसा लिखा ही जाना था।' इस तरह पूर्वनिश्चित योजनानुसार जब घटनाएँ घट रही हैं तब उस विचारेको क्यों हत्यारा कहा जाय ? हत्याकाण्डरूपी घटना अनेक द्रव्योंके सुनिश्चित परिणमनका फल है। जिस प्रकार ब्राह्मणके छुरेका परिणमन बकरेके गलेके भीतर घुसनेका नियत था उसी प्रकार बकरेके गलेका परिणमन भी अपने भीतर छुरा घुमवानेका निश्चित था। जब इन दोनो नियत घटनाओंका परिणाम बकरेका बलिदान है तो इसमें क्यों ब्राह्मणको हत्यारा कहा जाय ? किसी स्त्रीका शील भ्रष्ट करनेवाला व्यक्ति क्यो दुराचारी गुण्डा कहा जाय ? स्त्रीका परिणमन ऐसा ही होना था और पुरुषका भी ऐसा ही, दोनों के नियत परिणमनों-का नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था फिर उसे गुण्डा और दुराचारी क्यो कहा जाय ? इस तरह इस श्रोत्र विषरूप जिसके सुननेसे ही हम तो एक महानियति चक्रके अंग हैं और उसके परिचलनके अनुसार प्रतिक्षण चल रहे है। यदि हिंसा करते है तो नियत है, व्यभिचार करते हैं तो नियत है, चोरी करते हैं तो नियत है, पापचिन्ता करते है तो नियत है। हमारा पुरुषार्थ कहाँ होगा ? कोई भी क्षण इस नियतिभूतकी मौजूदगीसे रहित नही है, जब हम साँस लेकर कुछ अपना भविष्य निर्माण कर सके।

भविष्य निर्माण कहाँ ? इस नियतिवादमे भविष्य निर्माणकी सारी योजनाएँ हवा हैं। जिसे हम भविष्य कहते हैं वह भी नियतिचक्रमें सुनिश्चित है और होगा ही। जैन दृष्टि तो यह कहती है कि—तुममें उपादान योग्यता प्रति समय अच्छे और बुरे बनने की, सत् और असत् होने की है, जैसा पुरुषार्थ करोगे, जैसी सामग्री जुटाओगे अच्छे बुरे भविष्यका निर्माण स्वय कर सकोगे।'' पर जब नियतिचक्र निर्माण करनेकी बातपर ही कुठाराघात करके उसे नियत या सुनिश्चित कहता है तब हम क्या पुरुषार्थ करे ? हमारा हमारे ही परिणमनपर अधिकार नही है क्योंकि वह नियत है। पुरुषार्थभ्रष्टताका इससे व्यापक उपदेश दूसरा नही हो सकता। इस नियतिचक्रमे सबका सब कुछ नियत है उसमे अच्छा क्या ? बुरा क्या ? हिंसा और अहिंसा क्या ?

सबसे बडा अस्त्र सर्वज्ञत्व—नियतिवादी या तथोक्त अध्यात्मवादियोका सबसे बड़ा तर्क है कि—'सर्वज्ञ है या नही ? यदि सर्वज्ञ है तो वह त्रिकालज्ञ होगा अर्थात् भविष्यज्ञ भी होगा। फलत. वह प्रत्येक पदार्थका अनन्तकाल तक प्रतिक्षण जो होना है उसे ठीक रूपमें जानता है। इस तरह प्रत्येक परमाणुकी प्रति-समयकी पर्याय सुनिश्चित है उनका परस्पर जो निमित्तनैमित्तिकजाल है वह भी उसके ज्ञानके बाहिर नही है।' सर्वज्ञ माननेका दूसरा अर्थ है नियतिवादी होना। पर, आज जो सर्वज्ञ नही मानते उनके सामने हम नियतितन्त्रको कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? जिस अध्यात्मवादके मूलमे हम नियतिवादको पनपाते हैं उस अध्या-त्मदृष्टिसे सर्वज्ञता व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। निश्चयनयसे तो आत्मज्ञतामे ही उसका पर्यवसान होता है, जैसा कि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसार (गा. १५८) मे लिखा है—

> ''जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहारणएण केवली भगवं।
> केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥''

अर्थात्—केवली भगवान् व्यवहारनयसे सब पदार्थोंको जानते देखते हैं। निश्चयसे केवलज्ञानी अपनी आत्माको ही जानता देखता है।

अध्यात्मशास्त्रगत निश्चयनयकी भूतार्थता और परमार्थता तथा व्यवहारनयकी अभूतार्थता और

अपरमार्थता पर विचार करनेसे तो अध्यात्मशास्त्रमें पूर्णज्ञानका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञानमें ही होता है। अतः सर्वज्ञत्वकी दलीलका अध्यात्मचिन्तनमूलक पदार्थव्यवस्थामें उपयोग करना उचित नहीं है।

समग्र और अप्रतिबद्ध कारण ही हेतु—अकलंकदेवने उस कारण को हेतु स्वीकार किया है जिसके द्वितीयक्षणमें नियमसे कार्य उत्पन्न हो जाय। उसमें भी यह शर्त है कि जब उसकी शक्ति में कोई प्रतिबन्ध उपस्थित न हो तथा सामग्र्यान्तर्गत अन्य कारणोंकी विकलता न हो। जैसे अग्नि धूमकी उत्पत्तिमें अनुकूल कारण है पर यह तभी कारण हो सकती है जब इसकी शक्ति किसी मन्त्र आदि प्रतिबन्धकने न रोकी हो तथा धूमोत्पादक सामग्री-गीला ईंधन आदि पूरे रूपसे विद्यमान हो। यदि कारणका अमुक कार्यरूपमें परिणमन नियत हो तो प्रत्येक कारण को हेतु बनाया जा सकता था। पर कारण तबतक कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता जब तक उसकी सामग्री पूर्ण न हो और शक्ति अप्रतिबद्ध न हो। इसका स्पष्ट अर्थ है कि शक्तिकी अप्रतिबद्धता और सामग्री की पूर्णता जबतक नहीं होगी तबतक अमुक अनुकूल भी कारण अपना अमुक परिणमन नहीं कर सकता। अग्निमें यदि गीला ईंधन डाला जाय तो ही धूम उत्पन्न होगा अन्यथा वह धीरे-धीरे राख बन जायगी। यह बिल्कुल निश्चित नहीं है कि उसे उस समय राख बनना ही है या धूम पैदा करना ही है। यह तो अनुकूल सामग्री जुटाने की बात है। जिस परिणमनकी सामग्री जुटेगी वही परिणमन उसका होगा।

निश्चय और व्यवहार का सम्यग्दर्शन

"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः" अर्थात् भावशून्य क्रियाएँ सफल नहीं होती। यह भाव क्या है जिसके बिना समस्त क्रियाएँ निष्फल हो जाती है? यह भाव है निश्चयदृष्टि। निश्चयनय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूपको कहता है। परमवीतरागता पर उसकी दृष्टि रहती है। जो क्रियाएँ इस परम-वीतरागताकी साधक और पोषक हो वे ही सफल है। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें बताया है कि "निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम्।" अर्थात् निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ। इस भूतार्थता और अभूतार्थताका क्या अर्थ है? 'जब आत्मामें इस समय राग, द्वेष, मोह आदि भाव उत्पन्न हो रहे हैं, आत्मा इन भावों रूपमें परिणमन कर रहा है, तब परनिरपेक्ष सिद्धवत् स्वरूपके दर्शन उसमें कैसे किए जा सकते है?' यह शंका व्यवहार्य है, और इसका समाधान भी सीधा और स्पष्ट है कि—प्रत्येक आत्मामें सिद्धके समान अनन्त चैतन्य है, एक भी अविभाग प्रतिच्छेदकी न्यूनता किसी आत्माके चैतन्यमें नहीं है। सबकी आत्मा असंख्यातप्रदेशवाली है, अखण्ड द्रव्य है। मूल द्रव्यदृष्टिसे सभी आत्माओंकी स्थिति एक प्रकार-की है। विभाव परिणमनके कारण गुणोंके विकासमें न्यूनाधिकता आ गई है। संसारी आत्माएँ विभाव पर्यायोंको धारण कर नानारूपमें परिणत हो रही हैं। इस परिणमनमें मूल द्रव्यकी स्थिति जितनी सत्य और भूतार्थ है उतनी ही उसकी विभावपरिणतिरूप व्यवहार स्थिति भी सत्य और भूतार्थ है। पदार्थपरिणमनकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार दोनों भूतार्थ और सत्य है। निश्चय जहाँ मूल द्रव्यस्वभावको विषय करता है, वहाँ व्यवहार परसापेक्ष पर्यायको विषय करता है, निर्विषय कोई नहीं है। व्यवहारकी अभूतार्थता इतनी ही है कि वह जिन विभाव पर्यायोंको विषय करता है वे विभाव पर्याएँ हेय हैं, उपादेय नहीं, शुद्ध द्रव्य-स्वरूप उपादेय है, यही निश्चयकी भूतार्थता है। जिस प्रकार निश्चय द्रव्यके मूल स्वभावको विषय करता है उसी प्रकार शुद्ध सिद्ध पर्याय भी निश्चय का विषय है। तात्पर्य यह कि परनिरपेक्ष द्रव्य स्वरूप और परनिरपेक्ष पर्याएँ निश्चयका विषय है और परसापेक्ष परिणमन व्यवहारके विषय हैं। व्यवहारकी अभूतार्थता वहाँ है जहाँ आत्मा कहता है कि "मैं राजा हूँ, मैं विद्वान् हूं, मैं स्वस्थ हूं, मैं ऊँच हूँ, यह नीच है, मेरा

धर्माधिकार है, इसका धर्माधिकार नहीं है आदि" । तब अन्तर्दृष्टि कहता है कि राजा, विद्वान्, स्वस्थ, ऊँच, नीच आदि बाह्यापेक्ष होनेसे हेय हैं, इन रूप तुम्हारा मूलस्वरूप नहीं है, वह तो सिद्धके समान शुद्ध है उसमें न कोई राजा है न रंक, न कोई ऊँच न नीच, न कोई रूपवान् न कुरूपी । उसकी दृष्टिमें सब अखण्ड चैतन्यमय समस्वरूप समानाधिकार हैं । इस व्यवहारमें अहंकारको उत्पन्न करनेका जो जहर है, भेद खड़ा करनेकी जो कुटेव है, निश्चय उसीको नष्ट करता है और अभेद अर्थात् समत्वकी ओर दृष्टिको ले जाता है और कहता है कि—मूर्ख, क्या सोच रहा है, जिसे तू नीच और तुच्छ समझ रहा है वह भी अनन्त चैतन्यका अखण्ड मौलिक द्रव्य है, परकृत भेदसे तू अहंकारकी सृष्टि कर रहा है और भेदका पोषण कर रहा है, शरीराश्रित ऊँच-नीचभावकी कल्पनासे धर्माधिकार जैसे भीषण अहंकारकी बात बोलता है ? इस अनन्त विभिन्नतामय अहंकारपूर्ण व्यवहारसंसारमें निश्चय ही एक अमृतशलाका है जो दृष्टिमें व्यवहारका भेदविष नहीं चढ़ने देती ।

पर ये निश्चयकी चर्चा करने वाले ही जीवनमें अनन्त भेदोंको कायम रखना चाहते हैं । व्यवहार-लोपका भय पग-पगपर दिखाते हैं । यदि दस्सा मंदिरमें आकर पूजा कर लेता है तो इन्हें व्यवहारलोपका भय व्याप्त हो जाता है । भाई, व्यवहारका विष दूर करना ही तो निश्चयका कार्य है । जब निश्चयके प्रसारका अवसर आता है तो क्यों व्यवहारलोपसे डरते हो ? कबतक इस हेय व्यवहारसे चिपटे रहोगे और धर्मके नामपर भी अहंकारका पोषण करते रहोगे ? अहंकारके लिए और क्षेत्र पड़े हुए हैं, उन कुक्षेत्रोंमें तो अहंकार कर ही रहे हो ? बाह्य विभूतिके प्रदर्शनसे अन्य व्यवहारोंमें दूसरोंसे श्रेष्ठ बनने का अभिमान पुष्ट कर ही लेते हो, इस धर्मक्षेत्रको तो समताकी भूमि बनने दो । धर्मके क्षेत्रको तो धनके प्रभुत्वसे अछूता रहने दो । आखिर यह अहंकारकी विषबेल कहाँ तक फैलाओगे ? आज विश्व इस अहंकारकी भीषण ज्वालाओंमें भस्मसात् हुआ जा रहा है । गोरे कालेका अहंकार, हिन्दू मुसलमानका अहंकार, धनी निर्धनका अहंकार, सत्ताका अहंकार, ऊँच-नीचका अहंकार, छूत-अछूतका अहंकार आदि इस सहस्रजिह्व अहंकारनागकी नागदमनी औषधि निश्चय दृष्टि ही है । यह आत्मसमत्वको समभूमिपर लाकर उसकी आँखें खोलती है कि—देखो, मूलमें तुम सब कहाँ भिन्न हो ? और अन्तिम लक्ष्य भी तुम्हारा वही समस्वरूपस्थिति प्राप्त करना है । तब क्यों बीचके पड़ावोंमें अहंकारका सर्जन करके उच्चत्वकी मिथ्या प्रतिष्ठाके लिए एक दूसरेके खूनके प्यासे हो रहे हो ? धर्मका क्षेत्र तो कमसे कम ऐसा रहने दो जहाँ तुम्हें स्वयं अपनी मूलदशाका भान हो और दूसरे भी उसी समदशाका भान कर सकें । "सम्मीलने नयनयोः न हि किंचिदस्ति"—आँख मुँदजाने पर यह सब भेद तुम्हारे लिए कुछ नहीं है । परलोकमें तुम्हारे साथ वह अहंकारविष तो चला जायगा पर यह जो भेदसृष्टि कर जाओगे उसका पाप मानवसमाजको भोगना पड़ेगा । यह मूढ़ मानव अपने पुराने पुरुखों द्वारा किये गये पापको भी बापके नामपर पोसता रहना चाहता है । अतः मानवसमाजकी हितकामनासे भी निश्चय-दृष्टि—आत्मसमत्वकी दृष्टि को ग्रहण करो और पराश्रित व्यवहारको नष्ट करके स्वयं शान्तिलाभ करो और दूसरोंको उसका मार्ग निष्कंटक कर दो ।

समयसारका सार यही है । कुन्दकुन्दकी आत्मा समयसारके गुणगानसे, उसके ऊपर अर्घ चढ़ानेसे, उसे चाँदी सोनेमें मढ़ानेसे सन्तुष्ट नहीं हो सकती । वह तो समयसारको जीवनमें उतारनेसे ही प्रसन्न हो सकती है । यह जातिगत ऊँचनीच भाव, यह धर्मस्थानोंमें किसीका अधिकार किसीका अनधिकार इन सब विषोंका समयसारके अमृतके साथ क्या मेल ? यह निश्चयमिथ्यात्वी निश्चयको उपादेय और भूतार्थ तो कहेगा पर जीवनमें निश्चयकी उपेक्षाके ही कार्य करेगा, उसकी जड़ खोदने का ही प्रयास करेगा ।

निश्चयनयका वर्णन तो कागजपर लिखकर सामने टाँग लो। जिससे सदा तुम्हें अपने ध्येयका भान रहे। सच पूछो तो भगवान् जिनेन्द्रकी प्रतिमा उसी निश्चयनयकी प्रतिकृति है। जो निपट वीतराग होकर हमें आत्ममात्रसत्यता, सर्वात्मसमत्व और परमवीतरागताका पावन सन्देश देती है। पर व्यवहारमूढ मानव उसका मात्र अभिषेक कर बाह्यपूजा करके ही कर्त्तव्यकी इतिश्री समझ लेता है। उलटे अपनेमें मिथ्या धर्मात्मत्वके अहंकारका पोषण कर मंदिरमें भी चौका लगानेका दुष्प्रयत्न करता है। 'अमुक मन्दिरमें आ सकता है अमुक नहीं' इन विधिनिषेधोंकी कल्पित अहंकारपोषक दीवारें खड़ी करके धर्म, शास्त्र और परम्पराके नामपर तथा संस्कृतिरक्षाके नामपर सिरफुड़ौवल और मुकदमेबाजीकी स्थिति उत्पन्न की जाती है और इस तरह रौद्रानन्दी रूपका नग्न प्रदर्शन इन धर्मस्थानोंमें आये दिन होता रहता है।

इसी धारणावश निश्चयमूढ़ 'मैं सिद्ध हूँ निर्विकार हूँ, कर्मबन्धनमुक्त हूँ' आदि वर्तमानकालीन प्रयोग करने लगते हैं। और उसका समर्थन उपर्युक्त भ्रान्तधारणाके कारण करने लगते हैं। पर कोई भी समझदार आजकी नितान्त अशुद्ध दशामें अपनेको शुद्ध माननेका भ्रान्त साहस भी नहीं कर सकता। यह कहना तो उचित है कि मुझमें सिद्ध होनेकी योग्यता है, मैं सिद्ध हो सकता हूँ, या सिद्धका मूल द्रव्य जितने प्रदेशवाला, जितने गुणधर्मवाला है, उतने ही प्रदेशवाला, उतने ही गुणधर्मवाला मेरा भी है। अन्तर इतना ही है कि सिद्धके सब गुण निरावरण है और मेरे सावरण। इस तरह शक्ति प्रदेश और अविभाग प्रतिच्छेदोंकी दृष्टिसे समत्व कहना जुदी बात है। वह समानता तो सिद्धके समान निगोदियामें भी है। पर इससे मात्र द्रव्योंकी मौलिक एकजातीयताका निरूपण होता है न कि वर्तमान कालीन पर्यायका। वर्तमान पर्यायोंमें तो अन्तरं महदन्तरम् है।

इसीतरह निश्चयनय केवल द्रव्यको विषय करता है यह धारणा भी मिथ्या है। वह तो पर निरपेक्ष स्वभावको विषय करनेवाला है चाहे वह द्रव्य हो या पर्याय। सिद्ध पर्याय परनिरपेक्ष स्वभावभूत है, उसे निश्चयनय अवश्य विषय करेगा। जिस प्रकार द्रव्यके मूलस्वरूप पर दृष्टि रखनेसे आत्मस्वरूपकी प्रेरणा मिलती है उसी तरह सिद्ध पर्यायपर भी दृष्टि रखनेसे आत्मोन्मुखता होती है। अतः निश्चय और व्यवहारका सम्यग्दर्शन करके हमें निश्चयनयके लक्ष्य-आत्मसमत्वको जीवनव्यवहारमें उतारनेका प्रयत्न करना चाहिए। धर्म-अधर्मकी भी यही कसौटी हो सकती है। जो क्रियाएँ आत्मस्वभावकी साधक हो परमवीतरागता और आत्मसमताकी ओर ले जाँय वे धर्म है, शेष अधर्म।

परलोक का सम्यग्दर्शन

धर्मक्षेत्रमें सब ओरसे 'परलोक सुधारो' की आवाज सुनाई देती है। परलोकका अर्थ है मरणोत्तर जीवन। हरएक धर्म यह दावा करता है कि उसके बताए हुए मार्गपर चलनेसे परलोक सुखी और समृद्ध होगा। जैनधर्ममें भी परलोकके सुखोंका मोहक वर्णन मिलता है। स्वर्ग और नरकका सांगोपांग विवेचन सर्वत्र पाया जाता है। संसारमें चार गतियाँ हैं—मनुष्यगति तिर्यञ्चगति, नरकगति और देवगति। नरक अत्यन्त दुःखके स्थान है और स्वर्ग सांसारिक अभ्युदयके स्थान। इनमें सुधार करना मानवशक्तिके बाहर-की बात है। इनकी जो रचना जहाँ है सदा वैसी रहनेवाली है। स्वर्गमें एक देवको कमसे कम सदायौवना बत्तीस देवियाँ अवश्य मिलती है। शरीर कभी रोगी नहीं होता। खाने-पीनेकी चिन्ता नहीं। सब मन:-कामना होते ही समुपस्थित हो जाता है। नरकमें सब दुःख ही दुःखकी सामग्री है।

यह निश्चित है कि एक स्थूल शरीरको छोड़कर आत्मा अन्य स्थूल शरीरको धारण करता है। यही परलोक कहलाता है। मैं यह पहिले विस्तारसे बता आया हूँ कि आत्मा अपने पूर्वशरीरके साथ ही साथ

उस पर्यायमें उपार्जित किये गए ज्ञान विज्ञान शक्ति आदिको यही छोड़ देता है, मात्र कुछ सूक्ष्म संस्कारोंके साथ परलोकमें प्रवेश करता है। जिस योनिमें जाता है वहाँके वातावरणके अनुसार विकसित होकर बढ़ता है। अब यह विचारनेकी बात है कि मनुष्यके लिए मरकर उत्पन्न होनेके दो स्थान तो ऐसे है जिन्हें मनुष्य इसी जन्ममें सुधार सकता है, अर्थात् मनुष्य योनि और पशु योनि इन दो जन्मस्थानोंके संस्कार और वातावरणको सुधारना तो मनुष्यके हाथमें है ही। अपने स्वार्थकी दृष्टिसे भी आधे परलोकका सुधारना हमारी रचनात्मक प्रवृत्तिकी मर्यादामें है। बीज कितना ही परिपुष्ट क्यों न हो यदि खेत ऊबड़-खाबड़ है, उसमें कास आदि है, साप, चूहे, छछूंदर आदि रहते है तो उस बीजकी आधी अच्छाई तो खेतकी खराबी और गन्दे वातावरणसे समाप्त हो जाता है। अतः जिस प्रकार चतुर किसान बीजकी उत्तमत्ताकी चिन्ता करता है उसी प्रकार खेतको जोतने बखरने, उसे जीवजन्तुरहित करने, घास फूस उखाड़ने आदिकी भी पूरी-पूरी कोशिश करता ही है, तभी उसकी खेती समृद्ध और आशातीत फलप्रसूत होती है। इसी तरह हमें भी अपने परलोकके मनुष्यसमाज और पशुसमाज रूप दो खेतोको इस योग्य बना लेना चाहिए कि कदाचित् इनमें पुनः शरीर धारण करना पड़ा तो अनुकूल सामग्री और सुन्दर वातावरण तो मिल जाय। यदि प्रत्येक मनुष्यको यह दृढ़ प्रतीति हो जाय कि हमारा परलोक यही मनुष्य समाज है और परलोक सुधारनेका अर्थ इसी मानव समाजको सुधारना है तो इस मानवसमाजका नक्शा ही बदल जाय। इसी तरह पशुसमाजके प्रति भी सद्भावना उत्पन्न हो सकती है और उनके खानेपीने रहने आदिका समुचित प्रबन्ध हो सकता है। अमेरिकाकी गाएँ रेडियो सुनती है। और सिनेमा देखती हैं। वहाँकी गोशालाएँ यहाँके मानव घोंसलोंसे अधिक स्वच्छ और व्यवस्थित हैं।

परलोक अर्थात् दूसरे लोग, परलोकका सुधार अर्थात् दूसरे लोगोका—मानवसमाजका सुधार। जब यह निश्चित है कि मरकर इन्ही पशुओ और मनुष्योमे भी जन्म लेनेकी सम्भावना है तो समझदारी और सम्यग्दर्शनकी बात तो यह है कि इस मानव और पशु समाजमें आए हुए दोषोको निकालकर इन्हें निर्दोष बनाया जाय। यदि मनुष्य अपने कुकृत्योसे मानवजातिमे क्षय, सुजाक, कोढ़, मृगी आदि रोगोकी सृष्टि करता है, इसे नीतिभ्रष्ट, आचारविहीन, कलह केन्द्र और शराबखोर आदि बना देता है तो वह कैसे अपने मानव परलोकको सुखी कर सकेगा। आखिर उसे भी इसी नरकभूत समाजमे जन्म लेना पड़ेगा। इसी तरह गाय, भैंस आदि पशुओकी दशा यदि मात्र मनुष्यके ऐहिक स्वार्थके ही आधारपर चली तो उनका कोई सुधार नहीं हो सकता। उनके प्रति सद्भाव हो। यह समझे कि कदाचित् हमे इन योनियोमे जन्म लेना पड़ा तो यही भोग हमे भोगना पड़ेगे। जो परम्पराएँ हम इनमें डाल रहे हैं उन्हीके चक्रमें हमें भी पिसना पड़ेगा। जैसा करोगे वैसा भरोगे, इसका वास्तविक अर्थ यही है कि यदि अपने कुकृत्योसे इस मानव समाज और पशु समाजको कलंकित करोगे तो परलोकमे कदाचित् इन्ही समाजोमे आना पड़ा तो उन अपने कुकृत्योका भोग भोगना ही पड़ेगा।

मानव समाजका सुख दुःख तत्कालीन समाज व्यवस्थाका परिणाम है। अतः परलोकका सम्यग्दर्शन यही है कि जिस आधे परलोकका सुधार हमारे हाथमे है उसका सुधार ऐसी सर्वोदयकारिणी व्यवस्था करके करें जिससे स्वर्गमे उत्पन्न होनेकी इच्छा ही न हो। यही मानवलोकसे भी अधिक सर्वाभ्युदय कारक बन जाय। हमारे जीवनके असदाचार असयम कुटेव बीमारी आदि सीधे हमारे वीर्यकणको प्रभावित करते हैं और उससे जन्म लेनेवाली सन्ततिके द्वारा मानवसमाजमे वे सब बीमारियाँ और चरित्रभ्रष्टताएँ फैल जाती है अतः इनसे परलोक बिगड़ता है। इसका तात्पर्य यही है कि खोटे संस्कार सन्तति द्वारा उस मानवजातिमें घर कर

लेते हैं जो मानवजाति कभी हमारा पुनः परलोक बन सकती है। हमारे कुकृत्योंसे नरक बना हुआ यही मानवसमाज हमारे पुनर्जन्मका स्थान हो सकता है। यदि हमारा जीवन मानव-समाज और पशुजातिके सुधार और उद्धारमें लग जाता है तो नरकमें जन्म लेनेका मौका ही नहीं आ सकता। कदाचित् नरकमे पहुँच भी गए तो अपने पूर्व संस्कारवश नारकियोको भी सुधारनेका प्रयत्न किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि हमारा परलोक यही हमसे भिन्न अखिल मनुष्य समाज और पशुजाति हैं जिनका सुधार हमारे परलोकका आधा सुधार है।

दूसरा परलोक है—हमारी सन्तति। हमारे इस शरीरसे होनेवाले यावत् सत्कर्म और दुष्कर्मोंके रक्तद्वारा जीवित संस्कार हमारी सन्ततिमे आते हैं। यदि हममें कोढ, क्षय या सुजाक जैसी संक्रामक बीमारियाँ हैं तो इसका फल हमारी सन्ततिको भोगना पडेगा। असदाचार और शराबखोरी आदिसे होनेवाले पापसंस्कार रक्तद्वारा हमारी सन्ततिमे अंकुरित होगे तथा बालकके जन्म लेनेके बाद वे पल्लवित पुष्पित और फलित होकर मानवजातिको नरक बनायेंगे। अत परलोकको सुधारनेका अर्थ है सन्ततिको सुधारना और सन्ततिको सुधारनेका अर्थ है अपनेको सुधारना। जब तक हमारी इस प्रकारकी अन्तर्मुखी दृष्टि न होगी तब तक हम मानव जातिके भावी प्रतिनिधियोके जीवनमे उन असख्य काली रेखाओको अंकित करते जायेंगे जो सीधे हमारे असंयम और पापाचारका फल है।

एक परलोक है—शिष्यपरम्परा। जिस प्रकार मनुष्यका पुनर्जन्म रक्तद्वारा अपनी सन्ततिमे होता है उसी तरह विचारो द्वारा मनुष्यका पुनर्जन्म अपने शिष्योमे या आसपासके लोगोमे होता है। हमारे जैसे आचार-विचार होगे, स्वभावत. शिष्योके जीवनमें उनका असर होगा ही। मनुष्य इतना सामाजिक प्राणी है कि वह जान या अनजानमें अपने आसपासके लोगोको अवश्य ही प्रभावित करता है। बापको बीडी पीता देखकर छोटे बच्चोंको झूठे ही लकडीकी बीडी पीनेका शौक होना है और यह खेल आगे जाकर व्यसनका रूप ले लेता है। शिष्य परिवार मोमका पिंड है। उसे जैसे साँचेमे ढाला जायगा ढल जायगा। अत. मनुष्यके ऊपर अपने सुधार-बिगाडकी जबाबदारी तो है ही साथ ही साथ मानव समाजके उत्थान और पतनमे भी उसका साक्षात् और परम्परया खास हाथ है। रक्तजन्य सन्तति तो अपने पुरुषार्थद्वारा कदाचित् पितृजन्य कुसंस्कारोसे मुक्त भी हो सकती है पर यह विचारसन्तति यदि जहरीली विचारधारासे बेहोश हुई तो इसे होशमे लाना बडा दुष्कर कार्य है। आजका प्रत्येक व्यक्ति इस नूतनपीढ़ी पर ही आँख गडाए हुए है। कोई उसे मजहबकी शराब पिलाना चाहता है तो कोई हिन्दुत्वकी, तो कोई जाति की तो कोई अपनी कुल परम्परा की। न जाने कितने प्रकारकी विचारधाराओंकी रग बिरगी शराबे मनुष्यकी दुर्बुद्धिने तैयार की है और अपने वर्गका उच्चत्व, स्वसत्ता स्थायित्व और स्थिर स्वार्थोंकी सरक्षाके लिए विविध प्रकारके धार्मिक सास्कृतिक सामाजिक और राष्ट्रीय आदि सुन्दर मोहक पात्रोमे ढाल-ढालकर भोली नूतन पीढीको पिलाकर उन्हे स्वरूपच्युत किया जा रहा है। वे इसके नशेमे उस मानवसमत्वाधिकारको भूलकर अपने भाइयोका खून बहानेमे भी नही हिचकिचाते। इस मानवसहारयुगमें पशुओके सुधार और उनकी सुरक्षाकी बात तो सुनता ही कौन है? अत. परलोक सुधारके लिए हमे परलोकके सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता है। हमे समझना होगा कि हमारा पुरुषार्थ किस प्रकार उस परलोकको सुधार सकता है।

परलोकमें स्वर्गके सुखादिके लोभसे इस जन्ममें कुछ चारित्र या तपश्चरणको करना तो लम्बा व्यापार है। यदि ३२ देवियोंके महासुखकी तीव्रकामनासे इस जन्ममें एक बूढ़ी स्त्रीको छोडकर ब्रह्मचर्य धारण किया जाता है तो यह केवल प्रवञ्चना है। न यह चारित्रका सम्यग्दर्शन है और न परलोकका। यह तो कामना-

का अनुचित पोषण है, कषायकी पूर्तिका दुष्प्रयत्न है। अतः परलोक सम्बन्धी सम्यग्दर्शन साधकके लिए अत्यावश्यक है।

कर्मसिद्धान्तका सम्यग्दर्शन

जैन सिद्धान्तने सर्वग्रासी ईश्वरसे जिस किसी तरह मुक्ति दिलाकर यह घोषणा की थी कि प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है। वह स्वयं अपने भाग्यका विधाता है। अपने कर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता है। परन्तु जिस पक्षीको चिरकालसे पिंजरेमें परतन्त्र रहनेके कारण सहज उड़नेकी शक्ति कुण्ठित हो गई है उसे पिंजड़ेसे बाहर भी निकाल दीजिए तो वह पिंजड़ेकी ओर ही झपटता है। इसी तरह यह जीव अनादिसे परतन्त्र होनेके कारण अपने मूल स्वातन्त्र्य-आत्मस्वयानाधिकारको भूला हुआ है। उसे इसकी याद दिलाते हैं तो कभी वह भगवान्‌का नाम लेता है, तो कभी किसी देवी देवताका। और कुछ नहीं तो 'करमगति टालो नाहिं टलै' का नारा किसीने छीन ही नहीं लिया। 'विधिका विधान' 'भवितव्यता अमिट है' आदि नारे बच्चेसे बड़े तक सभीकी जबानपर चढ़े हुए हैं। ईश्वरकी गुलामीसे हटे तो यह कर्मकी गुलामी गले आ पड़ी।

मैंने बन्धतत्त्वके विवेचनमें कर्मका स्वरूप विस्तारसे लिखा है। हमारे विचार, वचन व्यवहार और शारीरिक क्रियाओंके संस्कार हमारी आत्मापर प्रतिक्षण पड़ते हैं और उन संस्कारोंको प्रबोध देनेवाले पुद्‌गल स्कन्ध आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हो जाते हैं। आजका किया हुआ हमारा कर्म कल दैव बन जाता है। पुराकृत कर्मको ही दैव विधि भाग्य आदि शब्दोंसे कहते हैं। जो कर्म हमने किया है, जिसे हमने बोया है उसे चाहें तो दूसरे क्षण ही उखाड़कर फेंक सकते हैं। हमारे हाथमें कर्मोंकी सत्ता है। उनकी उदीरणा–समयसे पहिले उदयमें लाकर झड़ा देना, संक्रमण-साताको असाता और असाताको साता बना देना, उत्कर्षण–स्थिति और फल देनेकी शक्तिमें वृद्धि कर देना, अपकर्षण–स्थिति और फलदानशक्ति ह्रास कर देना, उपशम–उदयमें न आने देना, क्षय–नाश करना, उद्वेलन–क्षयोपशम आदि विविध दशायें हमारे पुरुषार्थके अधीन हैं। अमुक कोई कर्म बँधा इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह वज्रलेप हो गया। बँधनेके बाद भी हमारे अच्छे-बुरे विचार और प्रवृत्तियोंसे उसकी अवस्थामें सैकड़ों प्रकारके परिवर्तन होते रहते हैं। हाँ, कुछ कर्म ऐसे जरूर बँध जाते हैं जिन्हें टालना कठिन होता है उनका फल उसी रूपमें भोगना पड़ता है। पर ऐसा कर्म सौ में एक ही शायद होता है।

सीधीसी बात है—पुराना संस्कार और पुरानी वासना हमारे द्वारा ही उत्पन्न की गई थी। यदि आज हमारे आचार-व्यवहारमें शुद्धि आती है तो पुराने संस्कार धीरे-धीरे या एक हो झटकेमें समाप्त हो ही जायेंगे। यह तो बलाबलकी बात है। यदि आजकी तैयारी अच्छी है तो प्राचीनको नष्ट किया जा सकता है, यदि कमजोरी है तो पुराने संस्कार अपना प्रभाव दिखायेंगे ही। ऐसी स्वतन्त्र स्थितिमें 'कर्मगति टाली नाहीं टलै" जैसे क्लीबविचारोंका क्या स्थान है? ये विचार तो उस समय शान्ति देनेके लिए हैं जब पुरुषार्थ करनेपर भी कोई प्रबल आघात आ जावे, उस समय सान्त्वना और सांस लेनेके लिए इनका उपयोग है। कर्म बलवान् था, पुरुषार्थ उतना प्रबल नहीं हो सका अतः फिर पुरुषार्थ कीजिए। जो अवश्यंभावी बातें हैं उनके द्वारा कर्मकी गतिको अटल बताना उचित नहीं है। एक शरीर धारण किया है, समयानुसार वह जीर्ण शीर्ण होगा ही। अब यहाँ यह कहना कि 'कितना भी पुरुषार्थ कर लो मृत्युसे बच नहीं सकते और इसलिए कर्म-गति अटल है' वस्तुस्वरूपके अज्ञानका फल है। जब वह किंचित्काल स्थायी पर्याय है तो आगे पीछे उसे जीर्ण शीर्ण होना ही पड़ेगा। इसमें पुरुषार्थ इतना ही है कि यदि युक्त आहार-विहार और संयमपूर्वक चला जायगा तो जिन्दगी लम्बी और सुखपूर्वक चलेगी। यदि असदाचार और असंयम करोगे तो शरीर क्षय आदि रोगों-

का घर होकर जल्दी क्षीण हो जायगा। इसमें कर्मकी क्या अटलता है? यदि कर्म वस्तुतः अटल होता तो ज्ञानी जीव त्रिगुप्ति आदि साधनाओं द्वारा उसे क्षणभरमे काटकर सिद्ध नही हो सकेंगे। पर इस आशयकी पुरुषार्थप्रवण घोषणाएँ मूलतः शास्त्रोमे मिलती ही हैं।

स्पष्ट बात है कि कर्म हमारी क्रियाओ और विचारोके परिणाम हे। प्रतिकूल विचारोके द्वारा पूर्व-संस्कार हटाए जा सकते हैं। कर्मकी दशाओमे विविध परिवर्तन जीवके भावोके अनुसार प्रतिक्षण होते ही रहते हैं। इसमे अटलपना क्या है। कमजोरके लिए कर्मही क्या, कुत्ता भी अटल है, पर सबलके लिए कोई भी अटल नही है। परन्तु कर्मको टालनेके लिए शारीरिक बलकी आवश्यकता नही है, इसके लिये चाहिए आत्मबल। चूँकि कर्मोंके बन्धन आत्माके ही विकारी भावोसे, आत्माकी ही कमजोरीसे हुए थे अत उनकी निवृत्ति भी आत्माके ही स्वभावोसे, स्वसंशोधनसे ही हो सकती है। यही आत्मबल यदि है तो फिर किसी कर्मकी ताकत नही जो तुम्हें प्रभावित कर सके।

श्री पडित टोडरमलजीने मोक्षमार्गप्रकाशमे काललब्धि और भवितव्यके सम्बन्धमे स्पष्ट लिखा है कि—"काललब्धि और होनहार तो किछू वस्तु नाही। जिस काल विषै कार्य बनै सोई काललब्धि और जो कार्य भया सो होनहार।" मैं अध्यात्मके विवेचनमे बता आया हूँ कि प्रतिक्षण वस्तुमे अनेक परिणमनोंकी तरतमभूत योग्यताएँ रहती हैं। जैसे निमित्त और जैसी सामग्री जुट जायगी तदनुकूल योग्यताका परिणमन होकर उसका विकास हो जायगा। इसमे स्वपुरुषार्थ और स्वशक्तिको पहिचानेकी आवश्यकता है। जिस जैनधर्मने ईश्वर जैसी दृढमूल समर्थ और बहुप्रचलित कल्पनाका उच्छेद करके जीवस्वातन्त्र्यका स्वावलम्बी उपदेश दिया उसमे कर्म अमिट और विधिविधान अटल कैसे हो सकता है? जो हमारी गलती है उसे हम कभी भी सुधार सकते है। यह अवश्य है कि जितनी पुरानी भूलें और आदतें होगी उन्हें हटानेके लिए उतना ही प्रबल पुरुषार्थ करना होगा। इसके लिए समय भी अपेक्षित हो सकता है। इसका अर्थ पुरुषार्थमें अविश्वास कदापि नही करना चाहिए।

कर्मके सम्बन्धमे एक भ्रम यह भी है कि कर्मके बिना पत्ता भी नही हिलता। ससारके अनेको कार्य अपने-अपने अनुकूल-प्रतिकूल संयोगोसे होते रहते है। उन-उन पदार्थोंके सन्निधानमे जीवके साता और असाता का परिपाक होता है। जैसे ठडी हवा अपने कारणोसे चल रही है। स्वस्थ पुरुषको सातामे वह नोकर्म हो जाती है और निमोनियाँ रोगीके असातामे नोकर्म बन जाती है। यह कहना कि 'हमारे साताके उदयने हवा-को चला दिया और रोगीके असाताके उदयने, भूल है। ये तो नोकर्म हैं। इनकी समुत्पत्ति अपने कारणोंसे होती है। और ये उन कर्मोंके उदयकी सामग्री बन जाते है। यह भी ठीक है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्रीके अनुसार कर्मोंके उदयमे—उसकी फलदान शक्तिमे तारतम्य हो जाता है। 'लाभान्तरायका उदय लाभको रोकता है और उसका क्षयोपशम लाभका कारण है' इसका आन्तरिक अर्थ तो यही है कि जीवमे उसके क्षयोपशमसे उस लाभको अनुभवनकी योग्यता होती है। बाह्य पदार्थोंका मिलना आदि उस योग्यता-जन्य पुरुषार्थ आदिके फल है।

यह भी निश्चित है कि आत्मा भौतिक जगत्को प्रभावित करता है। आत्माके प्रभावके साक्षी मैस्म-रेजिम, हिप्नाटिज्म आदि है। अत आत्मपरिणामोके अनुसार भौतिक जगत्मे भी परिवर्तन प्रायः हुआ करते हैं। पर नैयायिकोंकी तरह जैनकर्म अमेरिकामे उत्पन्न होनेवाली हमारी भोग्य साबुनमें कारण नहीं हो सकता। कर्म अपनी आसपासकी सामग्रीको प्रभावित करता है। अमेरिकामे उत्पन्न साबुन अपने कारणोंसे उत्पन्न हुई है। हाँ, जिससमय वह हमारे सपर्कमे आ जाती है तबसे हमारी सातामें नोकर्म हो जाती है।

रास्तेमें पड़ा हुआ एक पत्थर सैकड़ो जीवोंके सैकड़ों प्रकारके परिणमनमें तत्काल निमित्त बन जाता है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस पत्थर को उत्पन्न करनेमें उन सैकड़ों जीवोंके पुण्य-पापने कोई कार्य किया है। संसारके पदार्थोंकी उत्पत्ति अपने-अपने कारणोंसे होती है। उत्पन्न पदार्थ एक दूसरेकी साता असाताके लिए कारण हो जाते हैं। एक ही पदार्थ समयभेदसे एकजीव या नानाजीवोंके राग-द्वेष और उपेक्षाका निमित्त होता रहता है। किसीका त्रैकालिक रूप सदा एकसा नही रहता। अतः कर्मका सम्यग्दर्शन करके हमे अपने पुरुषार्थको पहिचान कर स्वात्मदृष्टि हो तदनुकूल सत्पुरुषार्थमें लगना चाहिए। वही पुरुषार्थ सत् है जो आत्मस्वरूप का साधक हो और आत्माधिकारकी मर्यादाको न लाँघता हो।

संसारके अनन्त अचेतन पदार्थोंका परिणमन यद्यपि उनकी उपादान योग्यताके अनुसार होता है पर उनका विकास पुरुष निमित्तसे अत्यधिक प्रभावित होता है। प्रत्येक परमाणुमे पुद्गलकी वे सब शक्तियाँ हैं जो किसी भी एक पुद्गलाणु द्रव्यमे हो सकती हैं अत. उपादान योग्यताकी कमी तो किसीमें भी नही है। रह जाती है पर्याययोग्यता, सो पर्याययोग्यता, परिणमनोके अनुसार बदल जायगी। रेत पर्यायसे मामूली कुम्हार आदि निमित्तोसे घटरूप परिणमनका विकास नही हो सकता जैसे कि मिट्टीका हो जाता है पर काँचकी भट्टीमे या चीनी मिट्टीके कारखानेमें उसी रेत पर्यायका काचके घडे रूपसे और चीनी मिट्टीके घडे रूपसे स्थिरतर सुन्दर परिणमन विकसित हो जाता है। अचेतन पदार्थोंके परिणमन जैसे स्वत. बुद्धिशून्य होनेके कारण सयोगाधीन हैं वैसे चेतन पदार्थोंके परिणमन मात्र सयोगाधीन ही नही है। जबतक यह आत्मा परतन्त्र है तबतक उसे कुछ सयोगाधीन परिणमन करना भी पडते हो फिर भी वह उन संयोगोंसे मुक्त होकर उन परिणमनोंसे मुक्ति पा सकते है। चेतन अपनी स्वशक्तिकी तरतमताके अनुसार अपने परिणमनोमे स्वाधीन बन सकता है। उसमे कर्म अर्थात् हमारे पुराने संस्कार तभी तक बाधक हो सकते हैं जबतक हम अपने प्रयोगो द्वारा उनपर विजय नही पा लेते। उन पुराने सस्कार और विकारोसे जो पुद्गलद्रव्य हमारी आत्मासे बँधा था, उसकी अपनी स्वत. सामर्थ्य कुछ नहीं है उसे बल तो हमारे संस्कार और हमारी वासनाओसे ही प्राप्त होता है।

इसके सम्बन्धमे साख्यकारिकामे बहुत उपयुक्त दृष्टान्त वेश्या का दिया है। जिस प्रकार वेश्या हमारी वासनाओंका बल पाकर ही हमे नानाप्रकारसे नचाती है, हम उसके इशारेपर चलते हैं, उसे ही अपना सर्वस्व मानते हैं, चूमते है, चाटते है, जैसा वह कहती है वैसा करते हैं। पर जिस समय हम स्वयं वासनानिर्मुक्त होकर स्वरूपदर्शी होते है उस समय वेश्या का बल समाप्त हो जाता है और वह हमारी गुलाम होकर हमे रिझानेकी चेष्टा करती है, पुन: वासना जाग्रत करनेका प्रयत्न करती है। यदि हम पक्के रहे तो वह स्वय असफल प्रयत्न होकर हमे छोड देती है, और समझती है कि अब इनपर रग नही जम सकता। यही हालत कर्मपुद्गलकी है। वह तो हमारी वासनाओका बल पाकर ही सस्पन्द होता है। बंधा भी हमारी वासनाओंके कारण ही था और छूटेगा या नि.सार होगा तो हमारी वासनानिर्मुक्त परिणतिसे ही। कर्मका बल हमारी वासना है और वह यदि निर्बल होगा तो हमारी वीतरागतासे ही। शास्त्रोमे मोहनीयको कर्मोंका राजा कहा है और ममकार तथा अहंकारको मोहराजका मन्त्री। मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन, राग और द्वेष। बाह्य पदार्थोंमे ये 'मेरे हैं' इस ममकारसे तथा 'मैं ज्ञानी हूँ' 'रूपवान्' हूँ इत्यादि अहंकारसे राग द्वेषकी सृष्टि होती है और मोहराज की सेना तैयार हो जाती है। जिस समय इस मोहराजका पतन हो जाता है उस समय सेना अपने आप निर्वीर्य होकर तितर-बितर हो जाती है। साथ रह गया इन कुभावोंके साथ बँधने वाला पुद्गल। सो वह तो विचारा पर द्रव्य है। वह यदि आत्मामें पड़ा भी रहा तो भी हानिकारक नहीं। सिद्धशिलापर भी सिद्धोंके पास अनन्त पुद्गलाणु पड़े होंगे पर वे उनमे रागादि उत्पन्न नही कर सकते

क्योंकि उनमें भीतरसे वे कुभाव नहीं है। अतः मोहनीयके नष्ट होते ही, वीतरागता आते ही वह बँधा हुआ द्रव्य भी झड जायगा, या न भी झडा वहीं ही बना रहा तो भी उसमें जो कर्मपना आया है वह समाप्त हो जायगा, वह मात्र पुद्गलपिंड रह जायगा। कर्मपना तो हमारी ही वासनासे उसमें आया था सो समाप्त हो जायगा। "करम विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई। अग्नि सहे घनघात लोहकी संगति पाई।" यह स्तुति हम रोज पढते हैं। इसमें कर्मशास्त्रका सारा तत्त्व भरा हुआ है। तात्पर्य यह कि—कर्म हमारी कमाई हुई खेती है उसे हमी सींचते हैं। चाहे तो उसे निर्जीव कर दें, चाहे तो सजीव। पर पुरानी परतन्त्रता के कारण आत्मा इतना निर्बल हो गया है कि उसकी अपनी कोई आवाज ही नहीं रह गई है। आत्मामें जितना सम्यग्दर्शन और स्वरूप-स्थितिका बल आयगा उतना ही वह सबल होगा और पुरानी वासनाएँ समाप्त होती जायगी। इस तरह कर्मके यथार्थ रूपको समझ कर हमें अपनी शक्तिको पहिचान करनी चाहिए और उन सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियोंका संवर्धन तथा पोषण करना चाहिए जिससे पुरानी कुवासनाएँ नष्ट होकर वीतराग चिन्मय स्वरूपको पुनः प्रतिष्ठा हो।

शास्त्रका सम्यग्दर्शन

वैदिक परम्परा और जैनपरम्परामें महत्त्वका मौलिक भेद यह है कि वैदिक परम्परा धर्म-अधर्म-व्यवस्थाके लिए वेदोंको प्रमाण मानती है जब कि जैन परम्पराने वेद या किसी शास्त्रकी केवल शास्त्र होनेके ही कारण प्रमाणता स्वीकार नहीं की है। धर्म-अधर्मकी व्यवस्थाके लिए पुरुषके तत्त्वज्ञानमूलक अनुभवको प्रमाण माना है। वैदिक परम्परामें स्पष्ट घोषणा कि—'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' अर्थात् धर्मव्यवस्थामें अन्तिम प्रमाण वेद है। इसीलिए वेदपक्षवादी मीमांसकने पुरुषकी सर्वज्ञतासे ही इनकार कर दिया है। वह धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके सिवाय अन्य पदार्थोंका यथासंभव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ज्ञान मानता है, पर धर्मका ज्ञान वेदके ही द्वारा मानता है। जब कि जैन परम्परा प्रारम्भसे ही वीतरागी पुरुषके तत्त्वज्ञानमूलक वचनोंको धर्मादिमें प्रमाण मानती आई है। इसीलिए इस परम्परामें पुरुषकी सर्वज्ञता स्वीकृत हुई है। इस विवेचनसे इतना स्पष्ट है कि कोई भी शास्त्र मात्र शास्त्र होनेके कारण ही जैन परम्पराको स्वीकार्य नहीं हो सकता जब तक कि उसके वीतराग—यथार्थवेदिप्रणीतत्वका निश्चय न हो जाय। साक्षात् सर्वज्ञकृतत्वके निश्चय या सर्वज्ञप्रणीत मूल-परम्परागतत्वके निश्चयके बिना कोई भी शास्त्र धर्मके विषयमें प्रमाणकोटिमें उपस्थित नहीं किया जा सकता।

वेदकी गुलामीको जैन तत्त्वज्ञानियोंने हमारे ऊपरसे उतारकर हमें पुरुषानुभवमूलक पौरुषेय वचनोंको परीक्षापूर्वक माननेकी राय दी है। पर शास्त्रोंके नामपर अनेक मत परम्परामें अनिर्दिष्ट विषयोंके संग्राहक भी शास्त्र तैयार हो गये हैं। अतः हमें यह विवेक तो करना ही होगा कि इस शास्त्रके द्वारा प्रतिपाद्य विषय मूल अहिंसापरम्परासे मेल खाते हैं या नहीं? अथवा तत्कालीन ब्राह्मणधर्मके प्रभावसे प्रभावित हुए हैं। श्री पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारने ग्रन्थपरीक्षाके तीन भागोंमें अनेक ऐसे ही ग्रन्थोंकी आलोचना की है जो उमास्वामी और पूज्यपाद जैसे युगनिर्माता आचार्योंके नामपर बनाए गए हैं। जिस जन्मना जातिव्यवस्थाका जैन संस्कृतिने अस्वीकार किया था कुछ पुराणग्रन्थोंमें वही अनेक संस्कार और परिकरोंके साथ विराजमान है। जैनसंस्कृति बाह्य आडम्बरोंसे शून्य अध्यात्म-अहिंसक संस्कृति है। उसमें प्राणिमात्रका अधिकार है। ब्राह्मणधर्ममें धर्मका उच्चाधिकारी ब्राह्मण है जब कि जैन संस्कृतिने धर्मका प्रत्येक द्वार मानवमात्रके लिए उन्मुक्त रखा है। किसी भी जातिका किसी भी वर्णका मानव धर्मके उच्च स्तर तक बिना किसी रुकावटके पहुँच सकता है। पर कालक्रमसे यह संस्कृति ब्राह्मणधर्मसे पराभूत हो गई है और इसमें ही वर्णव्यवस्था और

जातिगत उच्चनीच भाव आदि शामिल हो गये हैं। तर्पण श्राद्ध उपाध्यायप्रथा आदि इसमें भी प्रचलित हुए हैं। यज्ञोपवीतादि संस्कारोंने जोर पकड़ा है। दक्षिणमें तो जैन और ब्राह्मणमें फर्क करना भी कठिन हो गया है। तदनुसार ही अनेक ग्रन्थोंकी रचनाएँ हुई और सभी शास्त्रके नामपर प्रचलित हैं। त्रिवर्णाचार और चर्चासागर जैसे ग्रन्थ भी शास्त्रके खातेमें खतयाए हुए हैं। शासन देवताओंकी पूजा प्रतिष्ठा दायभाग आदिके शास्त्र भी बने हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि मात्र शास्त्र होनेके कारण ही हर एक पुस्तक प्रमाण और ग्राह्य नहीं कही जा सकती। अनेक टीकाकारोंने भी मूलग्रन्थका अभिप्राय समझनेमें भूलें की हैं। अस्तु।

हमें यह तो मानना ही होगा कि शास्त्र पुरुषकृत हैं। यद्यपि वे महापुरुष विशिष्ट ज्ञानी और लोक कल्याणकी सद्भावनावाले थे पर क्षायोपशमिकज्ञानवश या परम्परावश मतभेदकी गुंजायश तो हो ही सकती है। ऐसे अनेक मतभेद गोम्मटसार आदिमें स्वयं उल्लिखित हैं। अतः शास्त्र विषयक सम्यग्दर्शन भी प्राप्त करना होगा कि शास्त्रमें किस युगमें किस पात्रके लिए किस विवक्षासे क्या बात लिखी गई है? उनका ऐतिहासिक पर्यवेक्षण भी करना होगा। दर्शनशास्त्रके ग्रन्थोंमें खण्डन मण्डनके प्रसंगमें तत्कालीन या पूर्वकालीन ग्रन्थोंका परस्परमें आदान-प्रदान पर्याप्त रूपसे हुआ है। अतः आत्म-संशोधकको जैन संस्कृतिकी शास्त्र विषयक दृष्टि भी प्राप्त करनी होगी। हमारे यहाँ गुणकृत प्रमाणता है। गुणवान् वक्ताके द्वारा कहा गया वह शास्त्र जिसमें हमारी मूलधारासे विरोध न आता हो, प्रमाण है।

इसीतरह हमें मन्दिर, संस्था, समाज, शरीर, जीवन, विवाह आदिका सम्यग्दर्शन करके सभी प्रवृत्तियोंकी पुनः रचना आत्मसमत्वके आधारसे करनी चाहिए तभी मानव जातिका कल्याण और व्यक्तिकी मुक्ति हो सकेगी।

तत्त्वाधिगम के उपाय

"ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः॥" —लघीय॰

अकलंकदेवने लघीयस्त्रय स्ववृत्तिमें बताया है कि जीवादि तत्त्वोंका सर्वप्रथम निक्षेपोंके द्वारा न्यास करना चाहिए, तभी प्रमाण और नयसे उनका यथावत् सम्यग्ज्ञान होता है। ज्ञान प्रमाण होता है। आत्मादिको रखनेका उपाय न्यास है। ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। प्रमाण और नय ज्ञानात्मक उपाय हैं और निक्षेप वस्तुरूप है। इसीलिए निक्षेपोंमें नययोजना कषायपाहुडचूर्णि आदिमें की गई है कि अमुक नय अमुक निक्षेपको विषय करता है।

निक्षेप—निक्षेपका अर्थ है रखना अर्थात् वस्तुका विश्लेषण कर उसकी स्थितिकी जितने प्रकारकी संभावनाएँ हो सकती हैं उनको सामने रखना। जैसे 'राजाको बुलाओ' यहाँ राजा और बुलाना इन दो पदोंका अर्थबोध करना है। राजा अनेक प्रकारके होते हैं यथा 'राजा' इस शब्दको भी राजा कहते हैं, पट्टीपर लिखे हुए 'राजा' इन अक्षरोंको भी राजा कहते हैं, जिस व्यक्तिका नाम राजा है उसे भी राजा कहते हैं, राजाके चित्रको या मूर्तिको भी राजा कहते हैं, शतरंजके मुहरोंमें भी एक राजा होता है, जो आगे राजा होनेवाला है उसे भी लोग आजसे ही राजा कहने लगते हैं, राजाके ज्ञानको भी राजा कहते हैं, जो वर्तमानमें शासनाधिकारी है उसे भी राजा कहते हैं। अतः हमें कौन राजा विवक्षित है? बच्चा यदि राजा माँगता है तो उस समय किस राजाकी आवश्यकता होगी, शतरंजके समय कौन राजा अपेक्षित होता है। अनेक प्रकारके राजाओंसे अप्रस्तुतका निराकरण करके विवक्षित राजाका ज्ञान करा देना निक्षेपका प्रयोजन

है। राजाविषयक संशयका निराकरण कर विवक्षित राजाविषयक यथार्थबोध करा देना ही निक्षेपका कार्य है। इसी तरह बुलाना भी अनेक प्रकारका होता है। तो 'राजाको बुलाओ' इस वाक्यमे जो वर्तमान शासनाधिकारी है वह भावराजा विवक्षित है, न शब्दराजा, न ज्ञानराजा, न लिपिराजा, न मूर्तिराजा, न भावीराजा आदि। पुरानी परम्परामे अपने विवक्षित अर्थका सटीक ज्ञान करानेके लिए प्रत्येक शब्दके संभावित वाच्यार्थोंको सामने रखकर उनका विश्लेषण करनेकी परिपाटी थी। आगमोंमे प्रत्येक शब्दका निक्षेप किया गया है। यहाँ तक कि 'शेष' शब्द और 'च' शब्द भी निक्षेप विधिमे भुलाये नही गये है। शब्द, ज्ञान और अर्थ तीन प्रकारसे व्यवहार चलते हैं। कही शब्दव्यवहारसे कार्य चलता है तो कही ज्ञानसे, तो कही अर्थसे। बच्चेको डरानेके लिए शेर शब्द पर्याप्त है। शेरका ध्यान करनेके लिए शेरका ज्ञान भी पर्याप्त है। पर सरकसमे तो शेर पदार्थ ही चिंघाड सकता है।

विवेचनीय पदार्थ जितने प्रकारका हो सकता है उतने सब सभावित प्रकार सामने रखकर अप्रस्तुतका निराकरण करके विवक्षित पदार्थको पकडना निक्षेप है। तत्त्वार्थसूत्रकारने इस निक्षेपको चार भागोमे बाँटा है—शब्दात्मक व्यवहारका प्रयोजक नामनिक्षेप है, इसमे वस्तुमे उस प्रकारके गुण, जाति, क्रिया आदिका होना आवश्यक नही है जैसा उसे नाम दिया जा रहा है। किसी अन्धेका नाम भी नयनसुख हो सकता है और किसी सूखकर काँटा हुए दुर्बल व्यक्तिको भी महावीर कहा जा सकता है। ज्ञानात्मक व्यवहारका प्रयोजक स्थापना निक्षेप है। इस निक्षेपमे ज्ञानके द्वारा तदाकार या अतदाकारमे विवक्षित वस्तुकी स्थापना कर ली जाती है और सकेत ज्ञानके द्वारा उसका बोध करा दिया जाता है। अर्थात्मक निक्षेप द्रव्य और भावरूप होता है। जो पर्याय आगे होनेवाली है उसमे योग्यताके बलपर आज भी वह व्यवहार करना अथवा जो पर्याय हो चुकी है उसका व्यवहार वर्तमानमे भी करना द्रव्यनिक्षेप है जैसे युवराजको राजा कहना और राजपदका जिसने त्याग कर दिया है उसको भी राजा कहना। वर्तमानमे उस पर्यायवाले व्यक्तिमे ही वह व्यवहार करना भावनिक्षेप है, जैसे सिंहासन स्थित शासनाधिकारीको राजा कहना। आगमामे द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिको मिलाकर यथासभव पाँच, छह और सात निक्षेप भी उपलब्ध होते है परन्तु इस निक्षेपका प्रयोजन इतना ही है कि शिष्यको अपने विवक्षित पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय। धवला टीकामे (पृ० ३१) निक्षेपके प्रयोजनोका सग्रह करनेवाली यह प्राचीन गाथा उद्धृत है—

"अवगयनिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥"

अर्थात्—अप्रकृतका निराकरण करनेके लिए, प्रकृतका निरूपण करनेके लिए, सशयका विनाश करनेके लिए और तत्त्वार्थका निर्णय करनेके लिए निक्षेपकी उपयोगिता है।

प्रमाण, नय और स्याद्वाद—निक्षेप विधिसे वस्तुको फैलाकर अर्थात् उसका विश्लेषण कर प्रमाण और नयके द्वारा उसका अधिगम करनेका क्रम शास्त्रसम्मत और व्यवहारोपयोगी है। ज्ञानकी गति दो प्रकारसे वस्तुको जाननेकी होती है। एक तो अमुक अशके द्वारा पूरी वस्तुको जाननेकी और दूसरी उसी अमुक अंशको जाननेकी। जब ज्ञान पूरी वस्तुको ग्रहण करता है तब वह प्रमाण कहा जाता है तथा जब वह एक अंशको जानता है तब नय। पर्वतके एक भागके द्वारा पूरे पर्वतका अखण्ड भावसे ज्ञान प्रमाण है और उसी अंशका ज्ञान नय है। सिद्धान्तमे प्रमाणको सकलादेशी तथा नयको विकलादेशी कहा है उसका यही तात्पर्य है कि प्रमाण ज्ञात वस्तुभागके द्वारा सकल वस्तुका ही ग्रहण करता है जब कि नय उसी विकल अर्थात् एक अंशको

ही ग्रहण करता है। जैसे आँखसे घटके रूपको देखकर रूपमुखेन पूर्ण घटका ग्रहण करना सकलादेश है और घटमें रूप है इस रूपांशको जानना विकलादेश अर्थात् नय है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुका यावत् विशेषोंके साथ सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण करना तो अल्पज्ञानियोंके वशकी बात नहीं है वह तो पूर्ण ज्ञानका कार्य हो सकता है। पर प्रमाणज्ञान तो अल्पज्ञानियोंका भी कहा जाता है। अतः प्रमाण और नयकी भेदक रेखा यही है कि जब ज्ञान अखंड वस्तु पर दृष्टि रखे तब प्रमाण तथा जब अंशपर दृष्टि रखे तब नय। वस्तुमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके धर्म पाए जाते हैं। प्रमाण ज्ञान सामान्यविशेषात्मक पूर्ण वस्तुको ग्रहण करता है जब कि नय केवल सामान्य अंशको या विशेष अंशको। यद्यपि केवल सामान्य और केवल विशेषरूप वस्तु नहीं है पर नय वस्तुको अंशभेद करके ग्रहण करता है। वक्ताके अभिप्रायविशेषको ही नय कहते हैं। नय जब विवक्षित अंशको ग्रहण करके भी इतर अंशोंका निराकरण नहीं करता उनके प्रति तटस्थ रहता है तब सुनय कहलाता है और जब वही एक अंशका आग्रह करके दूसरे अंशोंका निराकरण करने लगता है तब दुर्नय कहलाता है।

नय—विचार व्यवहार साधारणतया तीन भागोंमें बाँटे जा सकते हैं—१–ज्ञानाश्रयी, २–अर्थाश्रयी ३–शब्दाश्रयी। अनेक ग्राम्य व्यवहार या लौकिक व्यवहार संकल्पके आधारसे ही चलते हैं। जैसे रोटी बनाने या कपडा बुननेकी तैयारीके समय रोटी बनाता हूँ, कपड़ा बुनता हूँ, इत्यादि व्यवहारोंमें संकल्पमात्रमें ही रोटी या कपड़ा व्यवहार किया गया है। इसी प्रकार अनेक प्रकारके औपचारिक व्यवहार अपने ज्ञान या संकल्पके अनुसार हुआ करते हैं। दूसरे प्रकारके व्यवहार अर्थाश्रयी होते हैं—अर्थमें एक ओर एक नित्य व्यापी और सन्मात्ररूपसे चरम अभेद की कल्पना की जा सकती है तो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेद की। इन दोनों अन्तोंके बीच अनेक अवान्तर भेद और अभेदोंका स्थान है। अभेद कोटि औपनिषद अद्वैतवादियों की है। दूसरी कोटि वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिकनिरंश-परमाणुवादी बौद्धों की है। तीसरी कोटिमें पदार्थको अनेक प्रकारसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक वैशेषिक आदि दर्शन हैं। तीसरे प्रकारके शब्दाश्रित व्यवहारोंमें भिन्न कालवाचक, भिन्न कारकोंमें निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्न पर्यायवाले और विभिन्न क्रियावाचक शब्द एक अर्थको या अर्थकी एक पर्यायको नहीं कह सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए। इस तरह इन ज्ञान, अर्थ और शब्दका आश्रय लेकर होनेवाले विचारोंके समन्वयके लिए नयदृष्टियोंका उपयोग है।

इसमें संकल्पाधीन यावत् ज्ञानाश्रित व्यवहारोंके ग्राहक नैगमनयको संकल्पमात्रग्राही बताया है। तत्त्वार्थभाष्यमें अनेक ग्राम्य व्यवहारोंका तथा औपचारिक लोकव्यवहारोंका स्थान इसी नयकी विषयमर्यादा में निश्चित किया है।

आ० सिद्धसेनने अभेदग्राही नैगमका संग्रहनयमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहार नयमें अन्तर्भाव किया है। इससे ज्ञात होता है कि वे नैगमको संकल्पमात्रग्राही मानकर अर्थग्राही स्वीकार करते हैं। अकलंकदेवने यद्यपि राजवार्तिकमें पूज्यपादका अनुसरण करके नैगमनयको संकल्पमात्रग्राही लिखा है फिर भी लघीयस्त्रय (का० ३९) में उन्होंने नैगमनयको अर्थके भेदको या अभेदको ग्रहण करनेवाला भी बताया है। इसीलिए इन्होंने स्पष्ट रूपसे नैगम आदि ऋजुसूत्रान्त चार नयोंको अर्थनय माना है।

अर्थाश्रित अभेदव्यवहारका, जो "आत्मैवेदं सर्वम्" आदि उपनिषद्वाक्योंसे व्यक्त होता है, परसंग्रहनयमें अन्तर्भाव होता है। यहाँ एक बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि जैनदर्शनमें दो या अधिक द्रव्योंमें अनुस्यूत सत्ता रखनेवाला कोई सत् नामका सामान्यपदार्थ नहीं है। अनेक द्रव्योंका सद्रूपसे जो संग्रह किया जाता है वह सत्सादृश्यके निमित्तसे ही किया जाता है न कि सदेकत्वकी दृष्टिसे। हाँ, सदेकत्वकी दृष्टि-

से प्रत्येक सत्‌की अपनी क्रमवर्ती पर्यायोका और सहभावी गुणोंका अवश्य संग्रह हो सकता है, पर दो सत्‌में अनुस्यूत कोई एक सत्त्व नहीं है। इस परसंग्रहके आगे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहिले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंका व्यवहारनयमें समावेश होता है। इन अवान्तर भेदोंको न्यायवैशेषिक आदि दर्शन ग्रहण करते हैं। अर्थकी अन्तिम देशकोटि परमाणुरूपता तथा चरमकालकोटि क्षणमात्रस्थायिता-को ग्रहण करनेवाली बौद्ध दृष्टि ऋजुसूत्रकी परिधिमे आती है। यहाँतक अर्थको सामने रखकर भेद तथा अभेद ग्रहण करनेवाले अभिप्राय बताये गये हैं। इसके आगे शब्दाश्रित विचारोका निरूपण किया जाता है।

काल, कारक, संख्या धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिकी दृष्टिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं, इस कालादिभेदसे शब्दभेद मानकर अर्थभेद माननेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश होता है। एक ही साधनसे निष्पन्न तथा एक कालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं; इन पर्यायवाची शब्दोके भेदसे अर्थभेद माननेवाला समभिरूढनय है। एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रियामें परिणत हो उसी समय उसमे तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियावाची हैं। गुणवाचक शुक्लशब्द भी शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक चलति शब्द चलनेरूप क्रियासे, नामवाचक यदृच्छाशब्द देवदत्त आदि भी 'देवने इसको दिया' इस क्रियासे निष्पन्न हुए हैं। इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दको आश्रय लेकर होनेवाले ज्ञाताके अभिप्रायोका समन्वय इन नयोमें किया गया है। यह समन्वय एक खास शर्तपर हुआ है। वह शर्त यह है कि कोई भी दृष्टि या अभिप्राय अपने प्रतिपक्षी अभिप्रायका निराकरण नही कर सकेगा। इतना हो सकता है कि जहाँ एक अभिप्रायकी मुख्यता रहे वहाँ दूसरा अभिप्राय गौण हो जाय। यही सापेक्ष-भाव नयका प्राण है, इसीसे नय सुनय कहलाता है। आ० समन्तभद्र आदिने सापेक्षको सुनय तथा निरपेक्ष-को दुर्नय बतलाया है।

इस संक्षिप्त कथनमे सूक्ष्मतासे देखा जाय तो दो प्रकारकी दृष्टियाँ ही मुख्यरूपमे कार्य करती है एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियोका अवलम्बन चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर कल्पना भेद या अभेद दो ही रूपसे की जा सकती है। उस कल्पनाका प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यो न हो। इन दो मूल आधारभूत दृष्टियोको द्रव्यनय और पर्यायनय कहते है। अभेद-को ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है तथा भेदग्राही पर्यायार्थिकनय है। इन्हे मूलनय कहते है, क्योंकि समस्त नयोके मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादिनय तो इन्हीकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक, मातृका-पदास्तिक, निश्चयनय, शुद्धनय आदि शब्द द्रव्यार्थिकके अर्थमे तथा उत्पन्नास्तिक, पर्यायास्तिक, व्यवहारनय, अशुद्धनय आदि पर्यायार्थिकके अर्थमे व्यवहृत होते हैं।

इन नयोमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एव अल्पविषयता है। नैगमनय सकल्पग्राही होनेसे सत् असत् दोनोको विषय करता था इसलिए सन्मात्रग्राही सग्रहनय उससे सूक्ष्म एवं अल्पविषयक होता है। सन्मात्रग्राही सग्रह-नयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक एव सूक्ष्म हुआ। त्रिकालवर्ती सद्विशेषग्राही व्यवहारनयसे वर्तमान-कालीन सद्विशेष-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है। शब्दभेद होनेपर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्रसे कालादि भेदसे शब्दभेद मानकर भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायभेद होनेपर भी अभिन्न अर्थ-को ग्रहण करनेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दोके भेदसे अर्थभेदग्राही समभिरूढ अल्पविषयक एवं सूक्ष्मतर हुआ। क्रियाभेदसे अर्थभेद नही माननेवाले समभिरूढसे क्रियाभेद होनेपर भी अर्थभेदग्राही एवम्भूतनय परम-सूक्ष्म एवं अत्यल्पविषयक है।

नय-दुर्नय—नय वस्तुके एक अंशको ग्रहण करके भी अन्य धर्मोंका निराकरण नहीं करता उन्हें गौण करता है। दुर्नय अन्यधर्मोंका निराकरण करता है। नय सापेक्ष होता है दुर्नय निरपेक्ष। प्रमाण उभयधर्म-ग्राही हैं। अकलङ्कदेवने बहुत सुन्दर लिखा है—"धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात् तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च" (अष्टश० अष्टसह० पृ० २९०) अर्थात् प्रमाण तत् और अतत् सभी अंशोंसे पूर्ण वस्तुको जानता है नयसे केवल तत्-विवक्षित अंशकी प्रतिपत्ति होती है और दुर्नय अपने अविषय अंशोंका निराकरण करता है। नय धर्मान्तरोंकी उपेक्षा करता है जबकि दुर्नय धर्मान्तरोंकी हानि अर्थात् निराकरण करनेकी दुष्टता करता है। प्रमाण सकलादेशी और नय विकलादेशी होता है। यद्यपि दोनोंका कथन शब्दमें होता है फिर भी दृष्टिभेद होनेमें यह अन्तर हो जाता है। यथा, 'स्यादस्ति घट' यह वाक्य जब सकलादेशी होगा तब अस्तिके द्वारा पूर्ण वस्तुको ग्रहण कर लेगा। जब यह विकालदेशी होगा तब अस्तिको मुख्यतया शेषधर्मोंको गौण करेगा। विकला-देशी नय विवक्षित एक धर्मको मुख्यरूपसे तथा शेषको गौणरूपसे ग्रहण करते हैं जबकि सकलादेशी प्रमाणका प्रत्येक वाक्य पूर्ण वस्तुको समानभावसे ग्रहण करता है। सकलादेशी वाक्योंमें भिन्नताका कारण है—शब्दो-च्चारणकी मुख्यता। जिस प्रकार एक पूरे चौकोण कागजको क्रमशः चारों कोने पकड़कर पूराका पूरा उठाया जा सकता है उसी प्रकार अनन्तधर्मा वस्तुके किसी भी धर्मके द्वारा पूरीकी पूरी वस्तु ग्रहण की जा सकती है। इसमें वाक्योंमें परस्पर भिन्नता इतनी ही है कि उस धर्मके द्वारा या तद्वाचक शब्दप्रयोग करके वस्तुको ग्रहण कर रहे है। इसी शब्दप्रयोगकी मुख्यता से प्रमाणसप्तभंगीका प्रत्येक वाक्य भिन्न हो जाता है। नयसप्तभंगी-मे एक धर्मप्रधान होता है तथा अन्यधर्म गौण। इसमें मुख्यधर्म ही गृहीत होता है, शेषका निराकरण तो नहीं होता पर ग्रहण भी नहीं होता। यही सकलादेश और विकलादेशका पार्थक्य है। 'स्यात्' शब्दका प्रयोग दोनो-मे होता है। सकलादेशमे प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द यह बताता है कि जैसे अस्तिमुखेन सकल वस्तुका ग्रहण किया गया है वैसे 'नास्ति' आदि अनन्त मुखोंसे भी ग्रहण हो सकता है। विकलादेशका स्यात् शब्द विवक्षित धर्मके अतिरिक्त अन्य शेष धर्मोंका वस्तुमें अस्तित्व सूचित करता है।

स्याद्वाद का कथन प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ के खण्ड ४ मे पृष्ठ ८२, ८३ ८४ मे दिया चुका है।

संजयने जब लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमें स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्धने कह दिया कि इनके चक्करमे न पडो, इसका जानना उपयोगी नही है, तब महावीरने उन प्रश्नोका वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योंकी जिज्ञासा का समाधान कर उनकी बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोंका विस्तृत स्वरूप विवेचन प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थके इसी खण्ड के पृष्ठ ९० से ९६ पर दिया जा चुका है।

सदादि अनुयोग—प्रमाण और नयके द्वारा जाने गए तथा निक्षेपके द्वारा अनेक संभवित रूपोंमें सामने रखे गए पदार्थोंसे ही तत्त्वज्ञानोपयोगी प्रकृत अर्थका यथार्थ बोध हो सकता है। उन निक्षेपके विषय-भूत पदार्थोंमें दृढ़ताकी परीक्षाके लिए या पदार्थके अन्य विविध रूपोंके परिज्ञानके लिए अनुयोग अर्थात् अनु-कूल प्रश्न या पश्चाद्भावी प्रश्न होते हैं। जिनसे प्रकृत पदार्थकी वास्तविक अवस्थाका पता लग जाता है। प्रमाण और नय सामान्यतया तत्त्वका ज्ञान कराते हैं। निक्षेप विधिसे अप्रकृतका निराकरण कर प्रस्तुतको छाँट लिया जाता है। फिर छंटी हुई प्रस्तुत वस्तुका निर्देशादि और सदादि द्वारा सविवरण पूरी अवस्थाओं-का ज्ञान किया जाता है। निक्षेपसे छंटी हुई वस्तुका क्या नाम है? (निर्देश) कौन उसका स्वामी है? (स्वामित्व) कैसे उत्पन्न होती है? (साधन) कहाँ रहती है? (अधिकरण), कितने काल तक रहती है?

(स्थिति) कितने प्रकारकी है ? (विधान), उसकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिसे क्या स्थिति है । अस्तित्वका ज्ञान 'सत्' है । उसके भेदोकी गिनती सख्या है । वर्तमान निवास क्षेत्र है । त्रैकालिक निवासपरिधि स्पर्शन है । ठहरनेकी मर्यादा काल है । अमुक अवस्थाको छोडकर पुन उस अवस्थामे प्राप्त होने तकके विरहकालको अन्तर कहते हैं । औपशमिक आदि भाव हैं । परस्पर सख्याकृत तारतम्यका विचार अल्पबहुत्व है । साराश यह कि निक्षिप्त पदार्थका निर्देशादि और सदादि अनुयोगोके द्वारा यथावत् सविवरण ज्ञान प्राप्त करना मुमुक्षुकी अहिंसा आदि साधनाओंके लिए आवश्यक है । जीवरक्षा करनेके लिए जीवकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिकी दृष्टिसे परिपूर्ण स्थितिका ज्ञान अहिंसकको जरूरी ही है ।

इस तरह प्रमाण नय निक्षेप और अनुयोगोके द्वारा तत्त्वोका यथार्थ अधिगम करके उनकी दृढ प्रतीति और अहिंसादि चारित्रको परिपूर्णता होनेपर यह आत्मा बन्धनमुक्त होकर स्वस्वरूपमे प्रतिष्ठित हो जाता है । यही मुक्ति है ।

"श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।
परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥ ७३ ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥ ५४ ॥
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदा गतैः ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशन. ॥ ७५ ॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपोनिर्जीर्णकर्मायं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥ ७६ ॥

अर्थात्—अनेकान्तरूप जीवादि पदार्थोको श्रुत-शास्त्रोसे सुनकर प्रमाण और अनेक नयोके द्वारा उनका यथार्थ परिज्ञान करना चाहिए । उन पदार्थोंके अनेक व्यावहारिक और पारमार्थिक गुण-धर्मोंकी परीक्षा नय दृष्टियोंसे की जाती है । नयदृष्टियोके विषयभूत निक्षेपोके द्वारा वस्तुका अर्थ ज्ञान और शब्द आदि रूपसे विश्लेषण कर उसे फैलाकर उनमेंसे अप्रकृतको छोड प्रकृतको ग्रहण कर लेना चाहिए । उस छँटे हुए प्रकृत अंशका निर्देश आदि अनुयोगोसे अच्छी तरह बारबार पूछकर सविवरण पूर्णज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए । इस तरह जीवादि पदार्थोका खासकर आत्मतत्त्वका जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा स्थानोमे दृढतर ज्ञान करके उनपर गाढ विश्वास रूप सम्यग्दर्शनकी वृद्धि करनी चाहिए । इस तत्त्वश्रद्धा और तत्त्वज्ञानके होनेपर परपदार्थोंसे विरक्ति इच्छानिरोधरूप तप और चारित्र आदिसे समस्त कुसस्कारोका विनाश कर पूर्व कर्मोंकी निर्जरा कर, यह आत्मा विमुक्त होकर अनन्त चैतन्यमय स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है ।

ग्रन्थका बाह्य स्वरूप

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र जैनपरम्परा की गीता, बाइबिल, कुरान या जो कहिए एक पवित्र ग्रन्थ है । इसमें बन्धनमुक्तिके कारणोका सागोपाग विवेचन है । जैनधर्म और जैनदर्शनके समस्त मूल आधारोंकी संक्षिप्त सूचना इस सूत्र ग्रन्थसे मिल जाती है । भ० महावीरके उपदेश अर्धमागधी भाषामें होते थे जो उस समय मगध और विहारकी जनबोली थी । शास्त्रोमे बताया है कि यह अर्धमागधी भाषा अठारह महाभाषा और सातसौ लघुभाषाओंके शब्दोंसे समृद्ध थी । एक कहावत है—"कोस-कोस पर पानी बदले चारकोस पर पर बानी ।" सो यदि मगध देश काशीदेश और विहार देशमें चार-चार कोसपर बदलनेवाली बोलियोकी वास्तविक गणना की जाय तो वे ७१८ से कही अधिक हो सकती होगी । अठारह महाभाषाएँ मुख्य-मुख्य अठारह जन-

पदोंकी राजभाषाएँ कही जाती थी। इनमें नाममात्रका ही अन्तर था। क्षुल्लकभाषाओंका अन्तर तो उच्चारण की टोनका ही समझना चाहिए। जो हो, पर महावीरका उपदेश उस समयकी लोकभाषामें होता था जिसमें संस्कृत जैसी वर्गभाषाका कोई स्थान नहीं था। बुद्धकी पालीभाषा और महावीरकी अर्धमागधी भाषा करीब-करीब एक जैसी भाषाएँ हैं। इनमें वही चारकोसकी बानी वाला भेद है। अर्धमागधीको सर्वार्धमागधी भाषा भी कहते हैं और इसका विवेचन करते हुए लिखा है—

"अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकम् अर्धं च सर्वदेशभाषात्मकम्" अर्थात्—भगवान्‌की भाषामें आधे शब्द तो मगध देशकी भाषा मागधीके थे और आधे शब्द सभी देशोंकी भाषाओंके थे। तात्पर्य यह कि अर्धमागधी भाषा वह लोकभाषा थी जिसे प्रायः सभी देशके लोग समझ सकते थे। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि महावीरकी जन्मभूमि मगध देश थी, अतः मागधी उनकी मातृभाषा थी और उन्हें अपना विश्वशान्तिका अहिंसा सन्देश सब देशोंकी कोटि-कोटि उपेक्षित और पतित जनता तक भेजना था अतः उनकी बोलीमें सभी देशोंकी बोलीके शब्द शामिल थे और यह भाषा उस समयकी सर्वाधिक जनताकी अपनी बोली थी अर्थात् सबकी बोली थी।

जनबोलीमें उपदेश देनेका कारण बतानेवाला एक प्राचीन श्लोक मिलता है—

"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्र्यकांक्षिणाम्।
प्रतिबोधनाय तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥"

अर्थात्—बालक, स्त्री या मूर्खसे मूर्ख लोगोंको, जो अपने चारित्र्यको समुन्नत करना चाहते हैं, प्रतिबोध देनेके लिए भगवान्‌का उपदेश प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक जनबोलीमें होता था न कि संस्कृत अर्थात् बनी हुई बोली—कृत्रिम वर्गभाषामें। इन जनबोलीके उपदेशोंका सकलन 'आगम' कहा जाता है। इसका बड़ा विस्तार था। उस समय लेखनका प्रचार नहीं हुआ था। सब उपदेश कण्ठपरम्परा से सुरक्षित रहते थे। एक दूसरेसे सुनकर इनकी धारा चलती थी अतः ये 'श्रुत' कहे जाते थे। महावीरके निर्वाणके बाद यह श्रुत परम्परा लुप्त होने लगी और ६८३ वर्ष बाद एक अंगका पूर्ण ज्ञान भी शेष न रहा। अगके एक देशका ज्ञान रहा। श्वेताम्बर परम्परामें बौद्ध संगीतियोंकी तरह वाचनाएँ हुईं और अन्तिम वाचना देवर्धिगणि क्षमाश्रमणके तत्त्वावधानमें वीर संवत् ९८० वि० सं० ५१० में वलभीमें हुई। इसमें आगमोंका त्रुटित-अत्रुटित जो रूप उपलब्ध था संकलित हुआ। दिगम्बर परम्परामें ऐसा कोई प्रयत्न हुआ या नहीं इसकी कुछ भी जानकारी नहीं है। दिगम्बर परम्परामें विक्रमकी द्वितीय-तृतीय शताब्दीमें आचार्य भूतबलि, पुष्पदन्त और गुणधरने षट्खण्डागम और कसायपाहुडकी रचना आगमाश्रित साहित्यके आधारसे की। पीछे कुन्दकुन्द आदि आचार्योंने आगम परम्पराको केन्द्रमें रखकर तदनुसार स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना की।

अनुमान है कि विक्रमकी तीसरी-चौथी शताब्दीमें उमास्वामी भट्टारकने इस तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की थी। इसीसे जैन परम्परामें संस्कृतग्रन्थनिर्माणयुग प्रारम्भ होता है। इस तत्त्वार्थसूत्रकी रचना इतने मूलभूत तत्त्वोंको संग्रह करनेकी असाम्प्रदायिक दृष्टिसे हुई है कि इसे दोनों जैन सम्प्रदाय थोड़े बहुत पाठभेदसे प्रमाण मानते आए हैं। श्वे० परम्परामें जो पाठ प्रचलित है उसमें और दिगम्बर पाठमें कोई विशिष्ट साम्प्रदायिक मतभेद नहीं है। दोनों परम्पराओंके आचार्योंने इसपर दसों टीका ग्रन्थ लिखे हैं। इस सूत्र ग्रन्थको दोनों परम्पराओंमें एकता स्थापना का मूल आधार बनाया जा सकता है।

इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं क्योंकि इसमें मोक्षके मार्ग और तदुपयोगी जीवादि तत्त्वोंका ही सविस्तार निरूपण है। इसमें दश अध्याय हैं। प्रथमके चार अध्यायोंमें जीवका, पाँचवेंमें अजीव का, छठवें और

सातवें अध्यायमे आस्रवका, आठवें अध्यायमे बन्धका, नौवें मे संवरका तथा दशवें अध्यायमें मोक्षका वर्णन है। प्रथम अध्यायमें मोक्षकामार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको बताकर जीवादि सात तत्त्वोके अधिगमके उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप और निर्देशादि सदादि अनुयोगोंका वर्णन है। पाँच ज्ञान उनका विषय आदिका निरूपण करके उनमे प्रत्यक्ष, परोक्ष विभाग उनका सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और नयोंका विवेचन, किया गया है। द्वितीय अध्यायमे जीवके औपशमिक आदि भाव, जीवका लक्षण, शरीर, इन्द्रियाँ, योनि, जन्म आदिका सविस्तार निरूपण है। तृतीय अध्यायमे जीवके निवासभूत-अधोलोक और मध्यलोक गत भूगोलका उसके निवासियोकी आयु कायस्थिति आदिका पूरा-पूरा वर्णन है। चौथे अध्यायमे ऊर्ध्वलोकका, देवोके भेद, लेश्याएँ, आयु, काय, परिवार आदिका वर्णन है। पाचवे अध्यायमे अजीवतत्त्व अर्थात् पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, और काल द्रव्योका समग्र वर्णन है। द्रव्योकी प्रदेश सख्या, उनके उपकार, शब्दादिका पुद्गल पर्यायत्व, स्कन्ध बननेकी प्रक्रिया आदि पुद्गल द्रव्यका सर्वांगीण विवेचन है। छठवें अध्यायमे ज्ञानावरणादि कर्मोके आस्रवका सविस्तार निरूपण है। किन-किन वृत्तियो और प्रवृत्तियोसे किस-किस कर्मका आस्रव होता है, कैसे आस्रवमे विशेषता होती है, कौन कर्म पुण्य है, और कौन पाप आदिका विशद विवेचन है। सातवे अध्यायमें शुभ आस्रवके कारण, पुण्यरूप अहिंसादि व्रतोका वर्णन है। इसमे व्रतोकी भावनाएँ उनके लक्षण, अतिचार आदिका स्वरूप बताया गया है। आठवे अध्यायमें प्रकृतिबन्ध आदि चारो बन्धोका, कर्म-प्रकृतियोका उनकी स्थिति आदिका निरूपण है। नौवे अध्यायमे सवर तत्त्वका पूरा-पूरा निरूपण है। इसमे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परिषहजय, चारित्र, तप, ध्यान आदिका सभेदप्रभेद निरूपण है। दशवे अध्यायमे मोक्षका वर्णन है। सिद्धोंमे भेद किन निमित्तोसे हो सकता है। जीव ऊर्ध्वगमन क्यो करता है? सिद्ध अवस्था मे कौन-कौन भाव अवशिष्ट रह जाते है आदिका निरूपण है।

यह अकेला तत्त्वार्थसूत्र जैन ज्ञान, जैन भूगोल, खगोल, जैनतत्त्व, कर्मसिद्धान्त, जैन चारित्र आदि समस्त मुख्य-मुख्य विषयोका अपूर्व आकर है।

मंगल श्लोक—'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मगल श्लोक है या नही यह विषय विवादमे पडा हुआ है। यह श्लोक उमास्वामि कर्तृक है इसका स्पष्ट उल्लेख श्रुतसागरसूरिने तत्त्वार्थ-वृत्तिमे किया है। वे इसकी उत्थानिकामे लिखते है कि-द्वैयाक नामक भव्यके प्रश्नका उत्तर देनेके लिए उमास्वामि भट्टारकने यह मगल श्लोक बनाया। द्वैयाकका प्रश्न है-'भगवन्, आत्माका हित क्या है?' उमास्वामी उसका उत्तर 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्रमे देते है। पर उन्हे उत्तर देनेके पहिले मगलाचरण करनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। श्रुतसागरके पहिले विद्यानन्दि आचार्यने आप्त-परीक्षा (पृ० ३) मे भी इस श्लोकको सूत्रकारके नामसे उद्धृत किया है। पर यहो विद्यानन्द 'तत्त्वार्थ-सूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभि' जैसे वाक्य भी आप्त परीक्षा (पृ० ५४) में लिखते हैं जो उमास्वामिके साथ ही साथ प्रभृति शब्दसे सूचित होनेवाले आचार्योको भी तत्त्वार्थसूत्रकार माननेका या सूत्र शब्दको गौणार्थता-का प्रसग उपस्थित करते है। यद्यपि अभयनन्दि श्रुतसागर जैसे पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारोने इस श्लोकको तत्त्वार्थ-सूत्रका मंगल लिख दिया है पर इनके इस लेखमे निम्नलिखित अनुपपत्तियाँ हैं जो इस श्लोकको पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धिका मगल श्लोक माननेको बाध्य करती हैं—

१-पूज्यपादने इस मंगलश्लोककी न तो उत्थानिका लिखी और न व्याख्या की। इस मंगलश्लोक-के बाद ही प्रथमसूत्रकी उत्थानिका शुरू होती है।

२—अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिकमें न इस श्लोककी व्याख्या करते हैं और न इसके पर्वापर कुछ ऊहा-पोह ही करते हैं।

३—विद्यानन्द स्वयं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इसकी व्याख्या नहीं करते। इनने प्रसंगत. इस श्लोकके प्रतिपाद्य अर्थका समर्थन अवश्य किया है। यदि विद्यानन्द स्वयं ऐतिहासिक दृष्टिसे इसके कर्तृत्वके सम्बन्धमें असंदिग्ध होते तो वे इसकी यथावद् व्याख्या भी करते।

४ तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार समस्त श्वेताम्बरीय आचार्योंने इस श्लोककी व्याख्या नहीं की और न तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमे इस श्लोककी चर्चा ही की है।

यह श्लोक इतना असाम्प्रदायिक और जैन आप्त स्वरूपका प्रतिनिधित्व करनेवाला है कि इसे सूत्रकारकृत होनेपर कोई भी कितना भी कट्टर श्वे॰ आचार्य छोड नहीं सकता था।

अनेकान्त पत्रके पाचवें वर्षके अंकोमें इस श्लोकके ऊपर अनुकूल-प्रतिकूल चरचा चल चुकी है। फिर भी मेरा मत उपर्युक्त कारणोके आधारसे इस श्लोकको मूलसूत्रकारकृत माननेका नहीं है। यह श्लोक पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि टीकाके प्रारम्भमें बनाया है इस निश्चयको बदलनेका कोई प्रबल हेतु अभीतक मेरी समझमे नहीं आया।

लोकवर्णन और भूगोल—जैनधर्म और जैनदर्शन जिस प्रकार अपने सिद्धान्तोंके स्वतन्त्र प्रतिपादक होनेसे अपना मौलिक और स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं उस प्रकार जैन गणित या जैन भूगोल आदिका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। कोई भी गणित हो, वह दो और दो चार ही कहेगा। आजके भूगोलको चाहे जैन लिखे या अजैन जैसा देखेगा या सुनेगा वैसा ही लिखेगा। उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें कन्याकुमारी ही जैन भूगोल में रहेगी। तथ्य यह है कि धर्म और दर्शन जहाँ अनुभवके आधारपर परिवर्तित और संशोधित होते रहते हैं वहाँ भूगोल अनुभवके अनुसार नहीं किन्तु वस्तुगत परिवर्तनके अनुसार बदलता है। एक नदी जो पहिले अमुक गाँवसे बहती थी कालक्रमसे उसकी धारा मीलो दूर चली जाती है। भूकम्प, ज्वालामुखी और बाढ़ आदि प्राकृतिक परिवर्तनकारणोंसे भूगोलमे इतने बडे परिवर्तन हो जाते हैं जिसकी कल्पना भी मनुष्यको नहीं हो सकती। हिमालयके अमुक भागोंमें मगर और बड़ी-बडी मछलियोंके अस्थि-पंजरोका मिलना इस बातका अनुमापक है कि वहाँ कभी जलीय भाग था। पुरातत्त्वके अन्वेषणोने ध्वसावशेषोसे यह सिद्ध कर दिया है कि भूगोल कभी स्थिर नहीं रहता वह कालक्रमसे बदलता जाता है। राज्य परिवर्तन भी अन्त-भौगिलिक सीमाओको बदलनेमें कारण होते हैं। पर समग्र भूगोलका परिवर्तन मुख्यतया जलका स्थल और स्थलका जलभाग होनेके कारण ही होता है। गाँवों और नदियोंके नाम भी उत्तरोत्तर अपभ्रष्ट होते जाते हैं और कुछके कुछ बन जाते हैं। इस तरह कालचक्रका ध्रुवभावी प्रभाव भूगोलका परिवर्तन बराबर करता रहता है। जैन शास्त्रोंमें जो भूगोल और खगोलका वर्णन मिलता है उसकी परम्परा करीब तीन हजार वर्ष पुरानी है। आजके भूगोलसे उसका मेल भले ही न बैठे पर इतने मात्रसे उस परम्पराकी स्थिति सर्वथा सन्दिग्ध नहीं कही जा सकती। आजसे २॥-३ हजार वर्ष पहिले सभी सम्प्रदायोंमें भूगोल और खगोलके विषयमें प्रायः यही परम्परा प्रचलित थी जो जैन परम्परामें प्रचलित थी जो जैन परम्परामें निबद्ध है। बौद्ध, वैदिक और जैन तीनों परम्पराके भूगोल और खगोल सम्बन्धी वर्णन करीब-करीब एक जैसे हैं। वही जम्बूद्वीप, विदेह, सुमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, हिमवान् आदि नाम और वैसीही लाखों योजनकी गिनती। इनका तुलनात्मक अध्ययन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचाता है कि उस समय भूगोल और खगोलकी जो परम्परा श्रुतानुश्रुत परिपाटीसे जैनाचार्योंको मिली उसे उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया है। उस समय भूगोलका यही रूप रहा

होगा चीज कि हमें प्रायः भारतीय परम्पराओंमें मिलता है। आज हमें जिस रूपमें मिलता है उसे उसी रूपमें माननेमें क्या आपत्ति है ? भूगोलका रूप सदा शाश्वत तो रहता नहीं। जैन परम्परा इस ग्रन्थके तीसरे और चौथे अध्यायके पढ़नेसे ज्ञात हो सकती है। बौद्ध और वैदिक परम्पराके भूगोल और खगोलका वर्णन इस प्रकार है—

बौद्ध परम्परा अभिधर्मकोशके आधारसे

असंख्यात वायुमण्डल हैं जो कि नीचेंके भागमें सोलह लाख योजन गम्भीर है। जयमण्डल ११२०००० योजन गहरा है। जयमण्डलमें ऊपर ८००००० योजन भागको छोडकर नीचेका भाग ३२०००० योजन भाग सुवर्णमय है। जलमण्डल और काञ्चनमण्डलका व्यास १२०२३४० योजन है और परिधि ३६४०३५० योजन है।

काञ्चनमण्डलमें मेरु, युगन्धर, ईषाधर, खदिरक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक और निमिन्धर ये ८ पर्वत हैं। ये पर्वत एक दूसरेको घेरे हुए हैं। निमिन्धर पर्वतको घेरकर जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु ये चार द्वीप हैं। सबसे बाहर चक्रवाल पर्वत हैं। सात पर्वत सुवर्णमय हैं। चक्रवाल लोहमय है। मेरुके ४ रंग हैं। उत्तरमे सुवर्णमय, पूर्वमे रजतमय, दक्षिणमे नीलमणिमय और पश्चिममें वैडूर्यमय है। मेरु पर्वत ८०००० योजन जलके नीचे है और इतना ही जलके ऊपर है। मेरु पर्वतकी ऊँचाईसे अन्य पर्वतोंकी ऊँचाई क्रमशः आधी-आधी होती गई है। इस प्रकार चक्रवाल पर्वतकी ऊँचाई ३१२॥ योजन है। अन्य पर्वतोका आधा भाग जलके ऊपर है। इन पर्वतोके बीचमें सात सीता (समुद्र) हैं। प्रथम समुद्रका विस्तार ८०००० योजन है। अन्य समुद्रोंका विस्तार क्रमश आधा-आधा होता गया है। अन्तिम समुद्रका विस्तार ३२२००० योजन है।

मेरु दक्षिण भागमें जम्बूद्वीप शकटके समान अवस्थित है। मेरुके पूर्व भागमे पूर्वविदेह अर्धचन्द्राकार है। मेरुके पश्चिम भागमें अवरगोदानीय मण्डलाकार है। इसकी परिधि ७५०० योजन है। और व्यास २५०० योजन है। मेरुके उत्तरभागमे उत्तर कुरुद्वीप चतुष्कोण है। इसकी सीमाका मान ८००० योजन है। चारो द्वीपोंके मध्यमे आठ अन्तर द्वीप हैं। उनके नाम ये हैं—देह, विदेह, पूर्वविदेह, कुरु कौरव, चामर अवर चामर, शाठ और उत्तरमंत्री। मार द्वीपमे राक्षस रहते हैं। अन्य द्वीपोंमें मनुष्य रहते हैं।

जम्बूद्वीपके उत्तर भागमें पहले तीन फिर तीन और फिर तीन इस प्रकार ९ कीटाद्रि है। इसके बाद हिमालय है। हिमालयके उत्तरमें पचास योजन विस्तृत अनवतप्त नामका सरोवर है। इसके बाद गन्धमादन पर्वत है। अनवतप्त सरोवरमे गगा, सिंधु, वक्षु और सीता ये चार नदियाँ निकली हैं। अनवतप्तके समीपमे जम्बूवृक्ष है जिससे इस द्वीपका नाम जम्बूद्वीप पड़ा।

जम्बूद्वीपके नीचे बीस योजन परिमाण अवीचि नरक है। इसके बाद प्रतापन, तपन, महारौरव रौरव, संघात, कालसूत्र और संजीवक—ये सात नरक हैं। इस प्रकार कुल आठ नरक हैं। नरकोंमें चारो पार्श्वोंमें असिपत्रवन, श्यामशबलश्वस्थान, अय शाल्मलीवन और वैतरणी नदी ये चार उत्सद (अधिक पीडाके स्थान) हैं। जम्बूद्वीपके अधोभागमे तथा महानरकोंके धरातलमें आठ शीतलनरक भी हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—अर्बुद, निरर्बुद, अटट, हहव, उत्पलपद्म और महापद्म।

मेरु पर्वतके अर्धोभागमें (अर्थात् युगन्धर पर्वतके समतलमे) चन्द्रमा और सूर्य भ्रमण करते हैं। चन्द्रमण्डलका विस्तार ५० योजन है तथा सूर्यमण्डलका विस्तार ५१ योजन है। चारो द्वीपोमें एक साथ ही

अर्धरात्रि, सूर्यास्त, मध्याह्न और सूर्योदय होते हैं, अर्थात् जिस समय जम्बूद्वीपमें मध्याह्न होता है उसी समय उत्तरकुरुमें अर्धरात्रि, पूर्वविदेहमें सूर्यास्त और अवरगोदानीयमें सूर्योदय होता है। चन्द्रमाकी विकलावस्थाका दर्शन सूर्यके समीप होनेसे तथा अपनी छायासे आवृत होनेके कारण होता है।

मेरुके चार विभाग हैं। ये चारों विभाग क्रमशः दस हजार योजनके अन्तरालसे ऊपर हैं। पूर्वमें पहिले विभागमे करोटपाणि यक्ष रहते हैं। इनका राजा धृतराष्ट्र है। दक्षिणमें द्वितीय भागमें मालाधर यक्ष रहते हैं। इनका राजा विरूढक है। पश्चिममें तीसरे भागमें सदामद देव रहते हैं। इनका राजा विरूपाक्ष है। उत्तरमें चौथे भागमें चातुर्महाराजिक देव रहते हैं। इनका राजा वैश्रवण है। मेरुके समान अन्य सात पर्वतोंमे भी देव रहते हैं।

त्रायस्त्रिंश स्वर्गलोकका विस्तार ८०००० योजन है। यहाँ चारो विभागोंके बीचमें वज्रपाणिदेव रहते हैं। त्रायस्त्रिंशलोकके मध्यभागमें सुदर्शन नामका सुवर्णमय नगर है। इस नगरके मध्यमें वैजयन्त नामका इन्द्रका प्रासाद है। यह नगर बाह्य भागमें चार उद्यानोसे सुशोभित है। इन उद्यानोंकी चारों दिशाओंमें बीस योजनके अन्तरालसे देवोंके क्रीडास्थल हैं। पूर्वोत्तर दिग्भागमें पारिजात देवद्रुम है। दक्षिण-पश्चिम भागमे सुधर्मा नामकी देव सभा है। त्रायस्त्रिंश लोकसे ऊपर याम, तुषित, निर्माणरति, और परनिर्मितवशवर्ती देव विमानोमे रहते हैं। महाराजिक और त्रायस्त्रिंशदेव मनुष्योंके समान कामसेवन करते हैं। याम आलिंगनसे, तुषित पाणिसंयोगसे, निर्माणरति हास्यसे और परनिर्मितवशवर्ती देव अवलोकनसे कामसुखका अनुभव करते हैं। कामधातुमें देव पाँच या दस वर्षके बालक जैसे उत्पन्न होते हैं। रूपधातुमे पूर्ण शरीरधारी और वस्त्र सहित उत्पन्न होते हैं। ऋद्धिबल अथवा अन्य देवोंकी सहायताके बिना देव अपने ऊपर देवलोकको नही देख सकते।

जम्बूद्वीपवासी मनुष्योंका परिमाण (शरीरकी ऊँचाई) ३॥ या ४ हाथ है। पूर्वविदेहवासी मनुष्यो का परिणाम ७ या ८ हाथ है। गोदानीयवासियोंका परिमाण १४ या १६ हाथ है। और उत्तर कुरुवासी मनुष्योंका परिमाण २८ या ३२ हाथ है। चातुर्महाराजिक देवोंका परिमाण पावकोश, त्रायस्त्रिंशदेवोंका आधाकोश, यामोका पौनकोश, तुषितोंका एक कोश, निर्माणरतियोका सवाकोश और परनिर्मितवशवर्ती देवोंका परिमाण डेढ कोश है।

उत्तरकुरुमें मनुष्योंकी आयु एक हजार वर्ष है। पूर्व विदेहमें ५०० वर्ष आयु है। गौदानीयमें २५० वर्ष आयु है। लेकिन जम्बू-द्वीपमे मनुष्योंकी आयु निश्चित नहीं है। कल्पके अन्तमें दस वर्षकी आयु रह जाती है। उत्तरकुरुमें आयुके बीच मृत्यु नही होती है। अन्य पूर्वविदेह आदि द्वीपोंमें तथा देवलोकमें बीचमें मृत्यु होती है।

वैदिक परम्परा योगदर्शन-व्यासभाष्यके आधारसे

भुवन विन्यास—लोक सात होते हैं। प्रथम लोकका नाम भूलोक है। अन्तिम अवीचि नरकसे लेकर मेरुपृष्ठ तक भूलोक है। द्वितीय लोकका नाम अन्तरिक्ष लोक है। मेरुपृष्ठसे लेकर ध्रुव तक अन्तरिक्ष लोक है। अन्तरिक्षलोकमें ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं। इसके ऊपर स्वर्लोक है। स्वर्लोकके भेद हैं—माहेन्द्रलोक, प्राजापत्यमहर्लोक और ब्रह्मलोक आदि। ब्रह्मलोकके तीन भेद हैं—जनलोक, तपलोक और सत्यलोक। इस प्रकार स्वर्लोकके पाँच भेद होते हैं।

अवीचिनरकसे ऊपर छह महानरक हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—महाकाल, अम्बरी, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र। ये नरक क्रमशः घन (शिलाशकल आदि पार्थिव पदार्थ), सलिल,

अनल, अनिल, आकाश और तमके आधार (आश्रय) हैं। महानरकोंके अतिरिक्त कुम्भीपाक आदि अनन्त उपनरक भी हैं। इन नरकोमे अपने-अपने कर्मोंके अनुसार दीर्घायुवाले प्राणी उत्पन्न होकर दु:ख भोगते हैं। अवीचिनरकसे नीचे सात पाताललोक हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल।

भूलोकका विस्तार—इस पृथ्वीपर सात द्वीप हैं। भूलोकके मध्यमें सुमेरु नामक स्वर्णमय पर्वतराज है जिसके शिखर रजत, वैडूर्य, स्फटिक, हेम और मणिमय हैं। सुमेरु पर्वतके दक्षिणपूर्वमें जम्बू नामका वृक्ष है जिसके कारण लवणोदधिसे वेष्टित द्वीपका नाम जम्बूद्वीप है। सूर्य निरन्तर मेरुकी प्रदक्षिणा करता रहता है। मेरुसे उत्तरदिशामे नील, श्वेत और शृंगवान् ये तीन पर्वत हैं। प्रत्येक पर्वतका विस्तार दो हजार योजन है। इन पर्वतोके बीचमे रमणक, हिरण्मय और उत्तरकुरु ये तीन क्षेत्र है। प्रत्येक क्षेत्रका विस्तार नौ योजन है। नीलगिरि मेरुसे लगा हुआ है। नीलगिरिके उत्तरमे रमणक क्षेत्र है। श्वेतपर्वतके उत्तरमे हिरण्मय क्षेत्र है। शृंगवान् पर्वतके उत्तरमें उत्तरकुरु है। मेरुसे दक्षिण दिशामे भी निषध, हेमकूट और हिम नामक दो-दो हजार योजन विस्तारवाले तीन पर्वत हैं। इन पर्वतोंके बीचमें हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत ये तीन क्षेत्र है। प्रत्येक क्षेत्रका विस्तार नौ हजार योजन है।

मेरुसे पूर्वमे माल्यवान् पर्वत है। माल्यवान् पर्वतसे समुद्रपर्यन्त भद्राश्व नामक देश है—इस देशमे भद्राश्वनामक क्षेत्र है। मेरुसे पश्चिममे गन्धमादन पर्वत है। गन्धमादन पर्वतसे समुद्रपर्यन्त केतुमाल नामक देश है—क्षेत्रका नाम भी केतुमाल है। मेरुके अधोभागमे इलावृत नामक क्षेत्र है। इसका विस्तार पचास हजार योजन है। इस प्रकार जम्बूद्वीपमे नौ क्षेत्र हैं। एक लाख योजन विस्तारवाला यह जम्बूद्वीप दो लाख योजन विस्तारवाले लवण समुद्रसे घिरा हुआ है। जम्बूद्वीपके विस्तारसे क्रमश: दूने-दूने विस्तार वाले छह द्वीप और हैं—शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मल, मगध और पुष्करद्वीप। सातो द्वीपोको घेरे हुए सात समुद्र हैं। जिनके पानीका स्वाद क्रमश इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, माड, दूध और मीठा जैसा है। सातो द्वीप तथा सातो समुद्रों का परिमाण पचास करोड योजन है।

पातालोमे, समुद्रोमे और पर्वतोपर असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि देव रहते है। सम्पूर्ण द्वीपोमे पुण्यात्मा देव और मनुष्य रहते है। मेरु पर्वत देवोकी उद्यानभूमि है। वहाँ मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ, सुमानस इत्यादि उद्यान है। सुधर्मा नामकी देवसभा है। सुदर्शन नगर है तथा इस नगरमे वैजयन्त प्रासाद है। ग्रह, नक्षत्र और तारा ध्रुव (ज्योतिर्विशेष) मेरुके ऊपर स्थित हैं। इनका भ्रमण वायुके विक्षेपसे होता है।

स्वर्लोकका वर्णन—माहेन्द्रलोकमे छह देवनिकाय हैं—त्रिदश, अग्निष्वात्तायाम्य, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्ति और परिनिर्मितवशवर्ति। ये देव सकल्पसिद्ध (संकल्पमात्रसे सब कुछ करनेवाले) अणिमा आदि ऋद्धि तथा ऐश्वर्यसे सम्पन्न, एक कल्पकी आयु वाले, औपपादिक (माता-पिताके संयोगके बिना लक्षणमात्रमे जिनका शरीर उत्पन्न हो जाता है) तथा उत्तमोत्तम अप्सराओसे युक्त होते हैं। महर्लोकमे पाँच देवनिकाय हैं—कुमुद, ऋभव, प्रतर्दन, अञ्जनाभ और प्रचिताभ। ये देव महाभूतोको वशमे रखनेमें स्वतन्त्र होते हैं तथा ध्यानमात्रसे तृप्त हो जाते हैं। इनकी आयु एक हजार कल्पकी है। प्रथम ब्रह्मलोक (जनलोक में) चार देवनिकाय है—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर। ये देव भूत और इन्द्रियो को वशमे रखनेवाले होते हैं। ब्रह्मपुरस्थित देवोंकी आयु दो हजार कल्पकी है। अन्य देवनिकायोंमें आयु क्रमश दूनी-दूनी है। द्वितीय ब्रह्मलोकमें (तपोलोकमे) तीन देवनिकाय हैं—आभास्वर, महाभास्वर और

सत्यमहाभास्वर। ये देव भूत और इन्द्रिय और अन्तःकरणको वशमें रखनेवाले होते हैं। इनकी आयु पहले निकायकी अपेक्षा क्रमशः दूनी है। ये देव ऊर्ध्वरेतस् होने हैं तथा ध्यानमात्रसे तृप्त हो जाते हैं। इनका ज्ञान ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोकमें अप्रतिहत होता है। तृतीय ब्रह्मलोक (सत्यलोक) में चार देवनिकाय हैं—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञि। इन देवोंके घर नहीं होते। इनका निवास अपनी आत्मामें ही होता है। क्रमशः ये ऊपर स्थित हैं। प्रधान (प्रकृति) को वशमें रखनेवाले तथा एक सर्गकी आयुवाले हैं। अच्युतदेव सवितर्क ध्यानसे सुखी रहते हैं। शुद्धनिवासदेव सविचार ध्यानसे सुखी रहते हैं। सत्याभदेव आनन्दमात्र ध्यानसे सुखी रहते हैं। संज्ञासंज्ञि देव अस्मितामात्र ध्यानसे सुखी रहते हैं। ये सात लोक तथा अवान्तर सात लोक सब ब्रह्मलोक (ब्रह्माण्ड) के अन्तर्गत् हैं।

वैदिक परम्परा श्रीमद्भागवतके आधारसे

भूलोकका वर्णन—यह भूलोक सात द्वीपोंमें विभाजित है। जिनमें प्रथम जम्बूद्वीप है। इसका विस्तार एक लाख योजन है तथा यह कमलपत्रके समान गोलाकार है।

इस द्वीपमें आठ पर्वतोंसे विभक्त नौ क्षेत्र हैं। प्रत्येक क्षेत्रका विस्तार नौ हजार योजन है। मध्यमें इलावृत नामका क्षेत्र है। इस क्षेत्रके मध्यमें सुवर्णमय मेरु पर्वत है। मेरुकी ऊँचाई नियुतयोजन प्रमाण है। मूलमें मेरु पर्वत सोलह हजार योजन पृथ्वीके अन्दर है तथा शिखर पर बत्तीस हजार योजन फैला हुआ है। मेरुके उत्तरमें नील, श्वेत तथा शृंगवान् ये तीन मर्यादागिरि हैं जिनके कारण रम्यक, हिरण्मय और कुरुक्षेत्रोंका विभाग होता है। इसी प्रकार मेरुसे दक्षिणमें निषध, हेमकूट, हिमालय ये तीन पर्वत हैं जिनके द्वारा हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत इन तीन क्षेत्रोंका विभाग होता है। इलावृत क्षेत्रसे पश्चिममें माल्यवान् पर्वत है जो केतुमाल देशकी सीमाका कारण है। इलावृतसे पूर्वमें गन्धमादन पर्वत है जिससे भद्राश्व देशका विभाग होता है। मेरुके चारों दिशाओंमें मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व और कुमुद ये चार अवष्टम्भ पर्वत हैं। चारों पर्वतोंपर आम्र, जम्बू, कदम्ब और न्यग्रोध ये चार विशालवृक्ष हैं। चारों पर्वतोंपर चार तालाब हैं जिनका जल दूध, मधु, इक्षुरस तथा मिठाई जैसे स्वादका है। नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र ये चार देवोद्यान हैं। इन उद्यानोंमें देव देवांगनाओं सहित विहार करते हैं। मन्दर पर्वतके ऊपर ११ सौ योजन ऊँचे आम्र वृक्षसे पर्वतके शिखर जैसे स्थूल और अमृतके समान रसवाले फल गिरते हैं। मन्दर पर्वतसे अरुणोदा नदी निकलकर पूर्वमें इलावृत क्षेत्रमें बहती है। अरुणोदा नदीका जल आम्र वृक्षके फलोंके कारण अरुण रहता है। इसी प्रकार मेरुमन्दर पर्वतके ऊपर जम्बूद्वीप वृक्षके फल गिरते हैं मेरुमन्दरपर्वतसे जम्बू नामकी नदी निकलकर दक्षिणमें इलावृत क्षेत्रमें बहती है। जम्बूवृक्षके फलोंके रससे युक्त होनेके कारण इस नदीका नाम जम्बू नदी है। सुपार्श्व पर्वतपर कदम्ब वृक्ष है। सुपार्श्व पर्वतसे पाँच नदियाँ निकलकर पश्चिम में इलावृत क्षेत्रमें बहती हैं। कुमुद पर्वतपर शतवल्श नामका वट वृक्ष है। कुमुद पर्वतसे पयोनदी, दधिनदी, मधुनदी, घृतनदी, गुडनदी, अन्ननदी, अम्बरनदी, शय्यासननदी, आभरणनदी आदि सब कामोंको तृप्त करने वाली नदियाँ निकलकर उत्तरमें इलावृत क्षेत्रमें बहती हैं। इन नदियोंके जलके सेवन करनेसे कभी भी जरा, रोग, मृत्यु, उपसर्ग आदि नहीं होते हैं। मेरुके मूलमें कुरंग, कुरर, कुसुम्भ आदि बीस पर्वत हैं। मेरुसे पूर्वमें जठर और देवकूट, पश्चिममें पवन और परिपात्र, दक्षिणमें कैलाश और करवीर, उत्तरमें त्रिशृंग और मकर इस प्रकार आठ पर्वत हैं। मेरुके शिखरपर भगवानकी शातकौम्भी नामकी चतुष्कोण नदी है। इस नगरीके चारों ओर आठ लोकपालोंके आठ नगर हैं।

सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा इस प्रकार चार नदियाँ चारों दिशाओंमें बहती हुई समुद्रमें

प्रवेश करती हैं। सीता नदी ब्रह्मसदनकेसर, अचल आदि पर्वतोंके शिखरोंसे नीचे-नीचे होकर गन्धमादन पर्वतके शिखरपर गिरकर भद्राश्व क्षेत्रमें बहती हुई पूर्वमें क्षार समुद्रमें मिलती है। इसी प्रकार चक्षु नदी माल्यवान् पर्वतके शिखरसे निकलकर केतुमाल क्षेत्रमें बहती हुई समुद्रमें मिलती है। भद्रा नदी मेरुके शिखरसे निकलकर शृंगवान् पर्वतके शिखरसे होकर उत्तरकुरुमें बहती हुई उत्तरके समुद्रमें मिलती है। अलकनन्दा नदी ब्रह्मसदन पर्वतसे निकलकर भारतक्षेत्रमें बहती हुई दक्षिणके समुद्रमें मिलती है। इसी प्रकार अनेक नद और नदियाँ प्रत्येक क्षेत्रमें बहती हैं। भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है। शेष आठ क्षेत्र स्वर्गवासी पुरुषोंके स्वर्गभोगसे बचे हुए पुण्योंके भोगनेके स्थान हैं।

अन्य द्वीपोंका वर्णन—जिस प्रकार मेरु पर्वत जम्बूद्वीपसे घिरा हुआ है उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी अपने ही समान परिमाण और विस्तारवाले खारे जलके समुद्रसे परिवेष्टित है। क्षार समुद्र भी अपनेसे दूने प्लक्षद्वीपसे घिरा हुआ है। जम्बूद्वीपमें जितना बड़ा जामुनका पेड़ है उतने ही विस्तारवाला यहाँ प्लक्ष, (पाकर) का वृक्ष है। इसीके कारण इसका नाम प्लक्षद्वीप हुआ। इस द्वीपमें शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय ये सात क्षेत्र हैं। मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल ये सात पर्वत हैं। अरुण, नृम्ण, आंगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा और सत्यम्भरा ये सात नदियाँ हैं।

प्लक्षद्वीप अपने ही समान विस्तारवाले इक्षुरसके समुद्रसे घिरा हुआ है। उससे आगे उससे दुगुने परिमाणवाला शाल्मली द्वीप है जो उतने ही परिमाणवाले मदिराके सागरसे घिरा हुआ है। इस द्वीपमें शाल्मली (सेमर) का वृक्ष है जिसके कारण इस द्वीपका नाम शाल्मलीद्वीप हुआ। इस द्वीपमें सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र और अविज्ञात ये सात क्षेत्र हैं। स्वरस, शतशृंग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष और सहस्रश्रुति ये सात पर्वत हैं। अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहु, रजनी, नन्दा और राका ये नदियाँ हैं।

मदिराके समुद्रसे आगे उसके दूने विस्तारवाला कुशद्वीप है। यह द्वीप अपने ही परिमाणवाले घृतके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें एक कुशोंका झाड़ है इसीसे इस द्वीपका नाम कुशद्वीप है। इस द्वीपमें भी सात क्षेत्र हैं, चक्र, चतुःशृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा और द्रविण ये सात पर्वत हैं। रसकुल्या, मधुकुल्या, मित्रवृन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता, और मन्त्रमाला ये सात नदियाँ हैं।

घृत समुद्रसे आगे उससे द्विगुण परिमाणवाला क्रौञ्चद्वीप है। यह द्वीप भी अपने समान विस्तारवाले दूधके समुद्रसे घिरा हुआ है। यहाँ क्रौञ्च नामका एक बहुत बड़ा पर्वत है उसीके कारण इसका नाम क्रौञ्चद्वीप हुआ। इस द्वीपमें भी सात क्षेत्र हैं। शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र ये सात पर्वत हैं। तथा अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, वृत्तिरूपवती, पवित्रवती और शुक्ला ये सात नदियाँ हैं।

इसी प्रकार क्षीरसमुद्रसे आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तारवाला शाकद्वीप है जो अपने ही समान परिमाणवाले मठेके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें शाक नामका एक बहुत बड़ा वृक्ष है वही इस द्वीपके नामका कारण है। इस द्वीपमें भी सात क्षेत्र, सात पर्वत तथा सात नदियाँ हैं।

इसी प्रकार मठेके समुद्रसे आगे उससे दूने विस्तारवाला पुष्कर द्वीप है। वह चारों ओर अपने समान विस्तारवाले मीठे जलके समुद्रसे घिरा हुआ है। वहाँ एक बहुत बड़ा पुष्कर (कमल) है जो इस द्वीपके नामका कारण है। इस द्वीपके बीचोंबीच इसके पूर्वीय और पश्चिमीय विभागोंकी मर्यादा निश्चित करने-

वाला मानसोत्तर नामका एक पर्वत है। यह दस हजार योजन ऊँचा और इतना ही लम्बा है।

इस द्वीपके आगे लोकालोक नामका एक पर्वत है। लोकालोक पर्वत सूर्यसे प्रकाशित और अप्रकाशित भूभागोंके बीचमें स्थित है इसीसे इसका यह नाम पड़ा। यह इतना ऊँचा और इतना लम्बा है कि इसके एक ओरसे तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यसे लेकर ध्रुव पर्यंत समस्त ज्योतिमण्डलकी किरणें दूसरी ओर नहीं जा सकती।

समस्त भूगोल पचास करोड़ योजन है। इसका चौथाई भाग (१२॥ करोड़ योजन) यह लोकालोक पर्वत है।

इस प्रकार भूलोकका परिमाण समझना चाहिए। भूलोकके परिमाणके समान ही द्युलोकका भी परिमाण है। इन दोनों लोकोंके बीचमें अन्तरिक्ष लोक है, जिसमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और ताराओंका निवास है। सूर्यमण्डलका विस्तार दस हजार योजन है और चन्द्रमण्डलका विस्तार बारह हजार योजन है।

अतल आदि नीचेके लोकोंका वर्णन—भूलोकके नीचे अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पातालके नामके सात भू-विवर (बिल) हैं। ये क्रमश नीचे-नीचे दस दस हजार योजनकी दूरी पर स्थित हैं। प्रत्येक बिलकी लम्बाई चौड़ाई भी दस दस हजार योजन की है। ये भूमिके बिल भी एक प्रकारके स्वर्ग हैं। इनमे स्वर्गसे भी अधिक विषयभोग, ऐश्वर्य, आनन्द, सन्तानसुख और धन-संपत्ति है।

नरकोंका वर्णन—समस्त नरक अट्ठाइस है। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अय पान, क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख।

जो पुरुष दूसरोंके धन, सन्तान अथवा स्त्रियोका हरण करता है उसे अत्यन्त भयानक यमदूत कालपाशमे बाँधकर बलात्कारसे तामिस्र नरकमें गिरा देता है। इसी प्रकार जो पुरुष किसी दूसरेको धोखा देकर उसकी स्त्री आदिको भोगता है वह अन्धतामिस्र नरकमें पड़ता है। जो पुरुष इस लोकमे यह शरीर ही मैं हूँ और ये स्त्री, धनादि मेरे हैं ऐसी बुद्धिसे दूसरे प्राणियोंसे द्रोह करके अपने कुटुम्बके पालन-पोषणमें ही लगा रहता है वह रौरव नरकमे गिरता है। जो क्रूर मनुष्य इस लोकमें अपना पेट पालनेके लिए जीवित पशु या पक्षियोंको राँधता है उसे यमदूत कुम्भीपाक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तेलमें राँधते हैं। जो पुरुष इस लोकमें खटमल आदि जीवोंकी हिंसा करता है वह अन्धकूप नरकमे गिरता है। इस लोकमें यदि कोई पुरुष अगम्या स्त्रीके साथ सम्भोग करता है अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुषसे व्यभिचार करती है तो यमदूत उसे तप्तसूर्मि नरकमे ले जाकर कोड़ोसे पीटते हैं। तथा पुरुषको तपाए हुए लोहेकी स्त्री-मूर्तिसे और स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-प्रतिमासे आलिंगन कराते हैं। जो पुरुष इस लोकमें पशु आदि सभीके साथ व्यभिचार करता है उसे यमदूत वज्रकण्टकशाल्मली नरकमें ले जाकर वज्रके समान कठोर काँटोवाली सेमरके वृक्षपर चढ़ाकर फिर नीचेकी ओर खींचते हैं। जो राजा या राजपुरुष इस लोकमें श्रेष्ठकुलमें जन्म पाकर भी धर्मकी मर्यादाका उच्छेद करते हैं वे उस मर्यादातिक्रमके कारण मरने पर वैतरणी नदीमें पटके जाते हैं। यह नदी नरकोंकी खाईके समान है। यह नदी मल, मूत्र, पीब, रक्त, केश, नख, हड्डी, चर्बी, मांस, मज्जा आदि अपवित्र पदार्थोंसे भरी हुई है। जो पुरुष इस लोकमें नरमेधादिके द्वारा भैरव, यक्ष, राक्षस, आदिका यजन करते हैं उन्हें वे पशुओंकी तरह मारे गये पुरुष यमलोकमें राक्षस होकर तरह-तरहकी यातनाएँ देते हैं तथा रक्षोगणभोजन नामक नरकमें कसाइयोंके समान कुल्हाड़ीसे काट काटकर उसका लोहू पीते हैं तथा जिस प्रकार वे

मासभोजी पुरुष इस लोकमे उनका मास भक्षण करके आनन्दित होते थे उसी प्रकार वे भी उनका रक्तपान करते और आनन्दित होकर नाचते-गाते हैं।

इसी प्रकार अन्य नरकोमे भी प्राणी अपने-अपने क्रमके अनुसार दु:ख भोगते हैं।

वैदिक परम्परा (विष्णुपुराणके आधारसे)

भूलोकका वर्णन—इस पृथ्वीपर सात द्वीप है जिनके नाम ये हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। ये द्वीप लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल इन सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं।

सब द्वीपोके मध्यमे जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपके मध्यमें सुवर्णमय मेरु पर्वत है जो ८४ हजार योजन ऊँचा है। मेरुके दक्षिणमे हिमवान्, हेमकूट और निषध पर्वत हैं तथा उत्तरमे नील, श्वेत और शृगी पर्वत हैं। मेरुके दक्षिणमे भारत, किम्पुरुष और हरिवर्ष ये तीन क्षेत्र हैं तथा उत्तरमे रम्यक, हिरण्मय और उत्तरकुरु ये तीन क्षेत्र हैं। मेरुके पूर्वमे भद्रापूर्व क्षेत्र है तथा पश्चिममे केतुमाल क्षेत्र है। इन दोनो क्षेत्रोके बीचमें इलावृत क्षेत्र है। इलावृत क्षेत्रके पूर्वमे मन्दर, दक्षिणमे गन्धमादन, पश्चिममे विपुल, उत्तरमे सुपार्श्व पर्वत हैं। मेरुके पूर्वमे शीतान्त, चक्रमुञ्ज, कुररी, माल्यवान् वैकङ्क आदि पर्वत हैं। दक्षिणमे त्रिकूट, शिशिर, पतङ्ग, रुचक, निषध आदि पर्वत है, पश्चिममे शिखिवास, वैदूर्य, कपिल, गन्धमादन आदि पर्वत है और उत्तरमे शखकूट, ऋषभ, हंस, नाग आदि पर्वत हैं।

मेरुके पूर्वमें चैत्ररथ, दक्षिणमे गन्धमादन, पश्चिममे वैभ्राज और उत्तरमे नन्दनवन हैं। अरुणोद, महाभद्र, असितोद और मानस ये सरोवर है।

मेरुके ऊपर जो ब्रह्मपुरी है उसके पाससे गगानदी चारो दिशाओमे बहती है। सीता नदी भद्रापूर्व-क्षेत्रसे होकर पूर्व समुद्रमे मिलती है। अलकनन्दा नदी भरतक्षेत्रसे होकर समुद्रमे प्रवेश करती है। चक्षु-नदी केतुमाल क्षेत्रमे बहती हुई समुद्रमे मिलती है और भद्रानदी उत्तरकुरुमे बहती हुई समुद्रमे प्रवेश करती है।

इलावृतक्षेत्रके पूर्वमे जठर और देवकूट, दक्षिणमे गन्धमादन और कैलाश और पश्चिममें निषध और पारिपात्र और उत्तरमे त्रिशृग और जारुधि पर्वत है। पर्वतोके बीचमे सिद्धचारण देवोसे सेवित खाई है और उनमें मनोहर नगर तथा वन है।

समुद्रके उत्तरमे तथा हिमालयके दक्षिणमें भारत क्षेत्र है। इसमे भरतकी सन्तति रहती है। इसका विस्तार नौ हजार योजन है। इस क्षेत्रमे महेद्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विंध्य और पारिपात्र ये सात क्षेत्र हैं।

इस क्षेत्रमे इन्द्रद्वीप, कशेरुमान, ताम्रवर्ण, गंधहस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वारुण और सागर-सवृत ये नव द्वीप हैं। हिमवान् पर्वतमे शतद्रु, चन्द्रभागा आदि नदियाँ निकली है। पारिपात्र पर्वतसे वेदमुख, स्मृतिमुख आदि नदियाँ निकली हैं। विंध्य पर्वतसे नर्मदा, सुरसा आदि नदियाँ निकली हैं। ऋषि पर्वतसे तापी, पयोष्णि, निर्विन्ध्या आदि नदियाँ निकली हैं। सह्य पर्वतसे गोदावरी, भीमरथी, कृष्णवेणी आदि नदियाँ निकली हैं। मलय पर्वतसे कृतमाल, ताम्रपर्णी आदि नदियाँ निकली हैं। महेन्द्र पर्वतसे त्रिसामा, आयकुल्या, आदि नदियाँ निकली हैं। शुक्तिमान् पर्वतसे त्रिकुल्या, कुमारी आदि नदियाँ निकली हैं।

प्लक्षद्वीप—इस द्वीपमे शान्तिमय, शिशिर, सुखद, आनन्द, शिव, क्षेमक और ध्रुव ये सात क्षेत्र हैं। तथा गोमेद्र, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि, सामक, सुमन और वैभ्राज ये सात पर्वत हैं। अनुतप्ता, शिखी, विपाशा, त्रिदिवा, क्रमु, अमृता और सुकृता ये सात नदियाँ हैं।

शाल्मलिद्वीप—इस द्वीपमें श्वेत, हरित, जीमूत, रोहित, वैद्युत, मानस और सुप्रभ ये सात क्षेत्र हैं। कुमुद, उन्नत, बलाहक, द्रोण, कङ्क, महिष और ककुद्म ये सात पर्वत हैं। योनि, तोया, वितृष्णा, चन्द्रा, शुक्ला, विमोचनी और निवृत्ति ये सात नदियाँ हैं।

कुशद्वीप—इस द्वीपमें उद्भिद्, वेणुमत्, वैरथ, लम्बन, धृति, प्रभाकर और कपिल ये सात क्षेत्र हैं, विद्रुम, हेमशैल, द्युतिमान्, पुष्पवान्, कुशेशय, हरि और मन्दराचल ये सात पर्वत हैं। धूतपापा, शिवा, पवित्रा, संमति, विद्युदंभा, मही आदि सात नदियाँ हैं।

क्रौञ्च द्वीप—इस द्वीपमें कुशल, मन्दक, उष्ण, पीवर, अन्धकारक, मुनि और दुन्दुभि ये सात क्षेत्र हैं। क्रौञ्च, वामन, अन्धकारक, देवावृत, पुण्डरीकवान्, दुन्दुभि और महाशैल ये सात पर्वत हैं। गौरी, कुमुद्वती, सन्ध्या, रात्रि, मनोजवा, क्षान्ति और पुण्डरीका ये सात नदियाँ हैं।

शाक द्वीप—इस द्वीपमें जलद, कुमार, सुकुमार, मनीचक, कुसुमोद, मौदाकि और महाद्रुम ये सात क्षेत्र हैं। उदयगिरि, जलाधर, वतक, श्याम, अस्तगिरि, आम्बिकेय और केसरी ये सात पर्वत हैं। सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, धेनुका, इक्षु, वेणुका और गभस्ती ये सात नदियाँ हैं।

पुष्कर द्वीप—इस द्वीपमें महावीर और धातकीखण्ड ये दो क्षेत्र हैं। मानुषोत्तर पर्वत पुष्करद्वीपके बीचमें स्थित है। अन्य पर्वत तथा नदियाँ इस द्वीपमें नहीं हैं।

भूगोलकी इन परम्पराओंका तुलनात्मक अध्ययन हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि आजसे दो ढाई हजार वर्ष पहिले भूगोल और लोक वर्णनकी करीब-करीब एक जैसी अनुश्रुतियाँ प्रचलित थी। जैन अनुश्रुतिको प्रकृत तत्त्वार्थसूत्रके तृतीय और चतुर्थ अध्यायमें निबद्ध किया गया है। लोकका पुरुषाकार वर्णन भी योगभाष्यमें पाया जाता है। इन ऐतिहासिक और उस समयकी साधनसामग्रीकी दृष्टिसे भारतीय परम्पराओंका लोकवर्णन अपनी खास विशेषता रखता है। आजके उपलब्ध भूगोलमें प्राचीन स्थानोंकी खोज करनेपर बहुत कुछ तथ्य सामने आ सकता है।

प्रस्तुतवृत्ति—इस वृत्तिका नाम तत्त्वार्थवृत्ति है जैसा कि स्वयं श्रुतिसागरसूरिने ही प्रारम्भमें लिखा है—"वक्ष्ये तत्त्वार्थवृत्तिं निजविभवतयाऽहं श्रुतोदन्वदाख्य ।" अर्थात् मैं श्रुतसागर अपनी शक्तिके अनुसार तत्त्वार्थवृत्तिको कहूँगा। अध्यायोंके अन्तमें आनेवाली पुष्पिकाओंमें इसके 'तत्त्वार्थटीकायाम्', 'तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ' ये दो प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि द्वितीय उल्लेखमें इसका 'तात्पर्य' यह नाम सूचित किया गया है, परन्तु स्वयं श्रुतसागरसूरिको तत्त्वार्थवृत्ति यही नाम प्रचारित करना इष्ट था। वे इस ग्रन्थके अन्तमें इसे तत्त्वार्थवृत्ति ही लिखते हैं। यथा—"एषा तत्त्वार्थवृत्तिः यैर्विचार्यते" आदि। तत्त्वार्थटीका यह एक साधारण नाम है, जो कदाचित् पुष्पिकामें लिखा भी गया हो, पर प्रारम्भ श्लोक और अन्तिम उपसंहारवाक्यमें 'तत्त्वार्थवृत्ति' इन समुल्लेखोंके बलसे इसका 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम ही फलित होता है।

इस तत्त्वार्थवृत्तिको श्रुतसागरसूरिने स्वतन्त्रवृत्तिके रूपमें बनाया है। परन्तु ग्रन्थके पढ़ते ही यह भान होता है कि यह पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिकी ही व्याख्या है। इसमें सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ तो प्रायः पूराका पूरा ही समा गया है। कहीं सर्वार्थसिद्धिकी पंक्तियोंको दो चार शब्द नए जोड़कर अपना लिया है, कहीं उनकी व्याख्या की है, कहीं विशेषार्थ दिया है और कहीं उसके पदोंको सार्थकता दिखाई है। अतः प्रस्तुतवृत्तिको सर्वार्थसिद्धिकी अविकल व्याख्या तो नहीं कह सकते। हाँ, सर्वार्थसिद्धि को लगानेमें इससे सहायता पूरी-पूरी मिल जाती है।

श्रुतसागरसूरि अनेक शास्त्रोंके पण्डित थे। उनने स्वयं ही अपना परिचय प्रथम अध्याय की पुष्पिका में दिया है। उसका भाव यह है—'अनवद्य गद्य पद्य विद्याके विनोदसे जिनकी मति पवित्र है, उन मतिसागर यतिराजकी प्रार्थनाको पूरा करनेमे समर्थ, तर्क, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार साहित्यादिशास्त्रमे जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण है, देवेन्द्रकीर्ति भट्टारकके प्रशिष्य और विद्यानन्दिदेवके शिष्य श्रुतसागरसूरिके द्वारा रचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, प्रचण्ड-अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंके पाण्डित्यका प्रदर्शन करानेवाली तत्त्वार्थटीकाका प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।"

इन्होंने अपनेको स्वयं कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, तार्किका शिरोमणि, परमागमप्रवीण आदि विशेषणोंसे भी अलंकृत किया है।

इन्होंने सर्वार्थसिद्धिके अभिप्रायके उद्घाटनका पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। सत्संख्यासूत्रमें सर्वार्थसिद्धि-के सूत्रात्मक वाक्योंकी उपपत्तियाँ इसका अच्छा उदाहरण है। जैसे—

१—सर्वार्थसिद्धिमे क्षेत्रप्ररूपणामे सयोगकेवलीका क्षेत्र लोकका असंख्येय भाग, असंख्येय बहुभाग और सर्वलोक बताया है। इसका अभिप्राय इस प्रकार बताया है—"लोकका असंख्येय भाग दण्ड, कपाट, समुद्घात-की अपेक्षा है। सो कैसे ? यदि केवली कायोत्सर्गसे स्थित है तो दण्ड समुद्घातको प्रथम समयमे बारह अंगुल प्रमाण समवृत्त या मूलशरीर प्रमाण समवृत्त रूपसे करते है। यदि बैठे हुए है तो शरीरसे तिगुना या वात-वलयसे कम पूर्ण लोक प्रमाण दण्ड समुद्घात करते हैं। यदि पूर्वाभिमुख है तो कपाट समुद्घातको उत्तर-दक्षिण एक धनुषप्रमाण प्रथम समयमे करते हैं। यदि उत्तराभिमुख है तो पूर्व-पश्चिम करते हैं। इस प्रकार लोकका असंख्यातैकभाग होता है। प्रतर अवस्थामे केवली तीन वातवलयकम पूर्णलोकको निरन्तर आत्म-प्रदेशोंसे व्याप्त करते है। अतः लोकका असंख्यात बहुभाग क्षेत्र हो जाता है। पूरण अवस्थामे सर्वलोक क्षेत्र हो जाता है।

२—वेदकसम्यक्त्वकी छयासठ सागर स्थिति—सौधर्मस्वर्गमे २ सागर, शुक्रस्वर्गमे १६ सागर, शतारमें १८ सागर, अष्टम ग्रैवेयकमे ३० सागर, इस प्रकार छयासठ सागर हो जाते हैं। अथवा सौधर्ममे दो बार उत्पन्न होनेपर ४ सागर, सनत्कुमारमे ७ सागर, ब्रह्म स्वर्गमे १० सागर, लान्तवमे १४ सागर, नवम ग्रैवेयकमे ३१ सागर, इस प्रकार ६६ सागर स्थिति होती है। अन्तिम ग्रैवेयककी स्थितिमे मनुष्यायुओं-का जितना काल होगा उतना कम समझना चाहिये।

३—सासादन सम्यग्दृष्टिका लोकका देशोन ८ भाग या १२ भाग स्पर्शन—परस्थान विहारकी अपेक्षा सासादन सम्यग्दृष्टि देव नीचे तीसरे नरक तक जाते हैं तथा ऊपर अच्युत स्वर्ग तक। सो नीचे दो राजू और ऊपर ६ राजू, इस प्रकार आठ राजू हो जाते है। छठवें नरकका सासादन मारणान्तिक समुद्घात मध्यलोक तक ५ राजू और लोकान्तवर्ती बादरजलकाय या वनस्पतिकायमे उत्पन्न होनेके कारण ७ राजू, इस प्रकार १२ राजू हो जाते है। कुछ प्रदेश सासादनके स्पर्शयोग्य नहीं होते अतः देशोन समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार समस्त सूत्रमे सर्वार्थसिद्धिके अभिप्रायको खोलनेका पूर्ण प्रयत्न किया गया है। न केवल इसी सूत्रको ही, किन्तु समग्र ग्रन्थको ही लगानेका विद्वत्तापूर्ण प्रयास किया गया है।

परन्तु शास्त्रसमुद्र इतना अगाध और विविध भग तरंगोसे युक्त है कि उसमे कितना भी कुशल अवगाहक क्यो न हो चक्करमे आ ही जाता है। इसीलिए बड़े-बड़े आचार्योंने अपने छद्मस्थज्ञान और चंचल

क्षायोपशमिक उपयोगपर विश्वास न करके स्वयं लिख दिया है कि—"को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे" श्रुतसागरसूरि भी इसके अपवाद नहीं हैं। यथा—

१—सर्वार्थसिद्धिमें "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" (५।४१) सूत्रकी व्याख्यामें 'निर्गुण' इस विशेषणकी सार्थकता बताते हुए लिखा है कि—"निर्गुण इति विशेषणं द्व्यणुकादिनिवृत्त्यर्थम्, तान्यपि हि कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयाणि गुणवन्ति तु तस्मात् 'निर्गुणाः' इति विशेषणात्तानि निवर्तितानि भवन्ति।" अर्थात् द्व्यणुकादि स्कन्ध नैयायिकोंकी दृष्टिसे परमाणुरूप कारणद्रव्यमें आश्रित होनेसे द्रव्याश्रित हैं और रूपादि गुणवाले होनेसे गुणवाले भी हैं अतः इनमें भी उक्त गुणका लक्षण अतिव्याप्त हो जायगा। इसलिए इनकी निवृत्तिके लिए 'निर्गुणाः' यह विशेषण दिया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागरसूरि लिखते हैं कि—

"निर्गुणा इति विशेषणं द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धनिषेधार्थम्, तेन स्कन्धाश्रया गुणा गुणा नोच्यन्ते। कस्मात्? कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयत्वात्, तस्मात् कारणात् निर्गुणा इति विशेषणात् स्कन्धगुणा गुणा न भवन्ति पर्यायाश्रयत्वात्।" अर्थात्—'निर्गुणाः' यह विशेषण द्व्यणुक, त्र्यणुकादि स्कन्धके निषेधके लिए है। इससे स्कन्धमें रहनेवाले गुण गुण नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे कारणभूत परमाणुद्रव्यमें रहते हैं। इसलिए स्कन्धके गुण गुण नहीं हो सकते क्योंकि वे पर्यायमें रहते हैं। यह हेतुवाद बड़ा विचित्र है और जैन सिद्धान्तके प्रतिकूल भी। जैनसिद्धान्तमें रूपादि चाहे घटादिस्कन्धोंमें रहनेवाले हों या परमाणुमें, सभी गुण कहे जाते हैं। ये स्कन्धके गुणोंको गुण ही नहीं कहना चाहते क्योंकि वे पर्यायाश्रित हैं। यदि वे यह कहते कि कारणपरमाणुओंको छोड़कर स्कन्धकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है और इसलिए स्कन्धाश्रित गुण स्वतंत्र नहीं है तो कदाचित् संगत भी था। पर इस कथनका प्रकृत 'निर्गुण' पदकी सार्थकतासे कोई मेल नहीं बैठता। इस असंगतिके कारण आगेके शंकासमाधानमें भी असंगति हो गई है। यथा—सर्वार्थसिद्धिमें है कि—घटकी संस्थान-आकार आदि पर्याएँ भी द्रव्याश्रित हैं और स्वयं गुणरहित हैं अतः उन्हें भी गुण कहना चाहिए। इसका समाधान यह कर दिया गया है कि जो हमेशा द्रव्याश्रित हों, रूपादि गुण सदा द्रव्याश्रित रहते हैं, जब कि घटके संस्थानादि सदा द्रव्याश्रित नहीं हैं। इस शंका-समाधानका सर्वार्थसिद्धिका पाठ यह है—

"ननु पर्याया अपि घटसंस्थानादयो द्रव्याश्रया निर्गुणाश्च, तेषामपि गुणत्वं प्राप्नोति। द्रव्याश्रया इति वचनान्नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते, गुणा इति विशेषणात् पर्यायाश्च निवर्तिता भवन्ति, ते हि कादाचित्का इति।"

इस शंकासमाधानको श्रुतसागर सूरि इस रूपमें उपस्थित करते हैं—

"ननु घटादिपर्यायाश्रिता संस्थानादयो ये गुणा वर्तन्ते, तेषामपि संस्थानादीनां गुणत्वमास्कन्धादि द्रव्याश्रयत्वात्, ततो घटपटादयोऽपि द्रव्याणीत्युच्यन्ते। सत्यमाणि भवता। ये नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते त एव गुणा भवन्ति न तु पर्यायाश्रया गुणा भवन्ति, पर्यायाश्रिता गुणाः कदाचित्का कदाचिद्भवा वर्तन्ते इति।"

इस अवतरणमें श्रुतसागरसूरि संस्थानादिको घटादिका गुण कह रहे हैं, और उनका कादाचित्क होनेका उल्लेख है फिर भी उसका अन्यथा अर्थ किया गया है।

२—सर्वार्थसिद्धि (८।२) में जीव शब्दकी सार्थकता बताते हुए लिखा है कि "अमूर्तिरहस्त आत्मा कथं कर्मादत्ते? इति चोदितः सन् जीव इत्याह। जीवनाज्जीवः प्राणधारणामायुःसम्बन्धात् नायुर्विरहा-

दिति।" अर्थात्–'हाथरहित अमूर्त आत्मा कैसे कर्म ग्रहण करता है' इस शंकाका उत्तर है 'जीव' पदका ग्रहण। प्राणधारण और आयुसंबधके कारण जीव बना हुआ आत्मा कर्म ग्रहण करता है, आयुसम्बन्धसे रहित होकर सिद्ध अवस्थामें नहीं। यहाँ श्रुतसागरसूरि 'नायुर्विरहात्' वाले अंशको इस रूपमें लिखते हैं—"आयुःसम्बन्धविरहे जीवस्यानाहारकत्वात् एकद्वित्रिसमयपर्यन्त कर्म नादत्ते जीव एक द्वौ त्रीन् वाऽनाहारक इति वचनात्।" अर्थात् आयुसम्बन्धके बिना जीव अनाहारक रहता है और वह एक दो तीन समय तक कर्मको ग्रहण नही करता क्योकि एक दो तीन समय तक अनाहारक रहता है ऐसा कथन है। यहाँ कर्मग्रहणकी बात है, पर श्रुतसागरसूरि उसे नोकर्म ग्रहणरूप आहारमे लगा रहे हैं, जिसका कि आयुसम्बन्धविरहसे कोई मेल नही है। ससार अवस्थामे कभी भी जीव आयुसबधसे शून्य नही होता। विग्रहगतिमे उसके आयुसम्बन्ध होता ही है।

३—सर्वार्थसिद्धि (८।२) मे ही 'स.' शब्दकी सार्थकता इसलिए बताई गई है कि इससे गुणगुणिबन्धकी निवृत्ति हो जाती है। नैयायिकादि शुभ-अशुभ क्रियाओसे आत्मामे ही 'अदृष्ट' नामके गुणकी उत्पत्ति मानते हैं उसीसे आगे फल मिलता है। इसे ही बन्ध कहते हैं। दूसरे शब्दोमे यही गुणगुणिबन्ध कहलाता है। आत्मा गुणीमे अदृष्ट नामके उसीके गुणका सम्बन्ध हो गया। इसका व्याख्यान श्रुतसागरसूरि इस प्रकार करते हैं—

"तेन गुणगुणिबन्धो न भवति। यस्मिन्नेव प्रदेशे जीवस्तिष्ठति तस्मिन्नेव प्रदेशे केवलज्ञानादिकं न भवति किंतु अपरत्रापि प्रसरति।" अर्थात्–इसलिए गुणगुणिबन्ध–गुणका गुणिके प्रदेशो तक सीमित रहना नही होता। जिस प्रदेशमे जीव है उसी प्रदेशमें ही केवलज्ञानादि नही रहते किन्तु वह अन्यत्र भी फैलता है। यहाँ, गुणगुणिबन्धका अनोखा ही अर्थ किया है, और यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि गुणी चाहे अल्पदेशोंमे रहे पर गुण उसके साथ बद्ध नही है वह अन्यत्र भी जा सकता है। जो स्पष्टत सिद्धान्तसमर्थित नही है।

४—पृ० २७० पृ० ११ मे एकेन्द्रियके भी असप्राप्तासृपाटिका सहननका विधान किया है।

५—२७५ मे सर्व मूलप्रकृतियोके अनुभागको स्वमुखसे विपाक मानकर भी 'मतिज्ञानावरणका मतिज्ञानावरणरूपसे ही विपाक होता है' यह उत्तरप्रकृतिका दृष्टान्त उपस्थित किया गया है।

६—पृ० २८१ मे गुणस्थानोका वर्णन करते समय लिखा है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पहुँचनेवाला जीव प्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्वमे ही दर्शनमोहनीयकी तीन, अनन्तानुबन्धी चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम करता है। जो सिद्धान्तविरुद्ध है क्योकि प्रथमोशमसम्यक्त्वमे दर्शनमोहनीयकी केवल एक प्रकृति मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी चार इस तरह पाँच प्रकृतियोके उपशमसे ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व बताया गया है। सातका उपशम तो जिनके एकवार सम्यक्त्व हो चुकता है उन जीवोंके दुबारा प्रथमोशमके समय होता है।

७—आदाननिक्षेपसमितिमें—मयूरपिच्छके अभावमें वस्त्रादिके द्वारा प्रतिलेखनका विधान किया गया है, यह दिगम्बर परम्पराके अनुकूल नही है।

८—सूत्र ८।४७ मे द्रव्यलिंगकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागरसूरिने असमर्थ मुनियोंको अपवादरूपसे वस्त्रादिग्रहण इन शब्दोमें स्वीकार किया है—

"केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलशब्दवाच्य कौशेयादिकं गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति, न तत् सीव्यन्ति, न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वात् तथा

कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेण अपवादरूपं ज्ञातव्यम् । 'उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलवान्' इत्युत्सर्गेण तावद् यथोक्तमाचेलक्यं प्रोक्तमस्ति, आर्यासमर्थदोषवच्छरीराद्यपेक्षया अपवादव्याख्याने न दोषः ।''

अर्थात् भगवती आराधनाके अभिप्रायानुसार असमर्थ या दोषयुक्त शरीरवाले साधु शीतकालमें वस्त्र ले लेते हैं, पर वे न तो उसे धोते हैं न सीते हैं और न उसके लिए प्रयत्न ही करते हैं, दूसरे समयमें उसे छोड़ देते हैं। उत्सर्गलिंग तो अचेलकता है पर आर्या असमर्थ और दोषयुक्त शरीरवालोंकी अपेक्षा अपवादलिंगमें भी दोष नहीं है।

भगवती आराधना (गा० ४२१) की अपराजितसूरिकृत विजयोदया टीकामें कारणापेक्ष यह अपवादमार्ग स्वीकार किया गया है। इसका कारण स्पष्ट है कि अपराजितसूरि यापनीयसंघके आचार्य थे और यापनीय आगमवाचनाओंको प्रमाण मानते थे। उन आगमोंमें आए हुए उल्लेखोंके समन्वयके लिए अपराजितसूरिने यह व्यवस्था स्वीकार की है। परन्तु श्रुतसागरसूरि तो कट्टर दिगम्बर थे, वे कैसे इस चक्करमें आ गये ?

भाषा और शैली—तत्त्वार्थवृत्तिकी शैली सरल और सुबोध है। प्रत्येक स्थानमें नूतन पर सुमिल शब्दोंका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सैद्धान्तिक बातोंका खुलासा और दर्शनगुत्थियोंके सुलझानेका प्रयत्न स्थान-स्थानपर किया गया है। भाषाके ऊपर तो श्रुतसागरसूरिका अद्भुत अधिकार है। जो क्रिया एक जगह प्रयुक्त है वही दूसरे वाक्यमें नहीं मिल सकती। प्रमाणोंको उद्धृत करनेमें तो इनके श्रुतसागरत्वका पूरा पूरा परिचय मिल जाता है। इस वृत्तिमें निम्नलिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका उल्लेख नाम लेकर किया गया है। अनिर्दिष्टकर्तृक गाथाएँ और श्लोक भी इस वृत्तिमें पर्याप्त रूपमें संगृहीत हैं। इस वृत्तिमें उमास्वामी (उमास्वाति भी) समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्रदेव, योगीन्द्रदेव, मतिसागर, देवेन्द्रकीर्तिभट्टारक आदि ग्रन्थकारोंके तथा सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, अष्टसहस्री, भगवतीआराधना, संस्कृतमहापुराणपंजिका, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके नामोल्लेख हैं। इनके अतिरिक्त सोमदेवके यशस्तिलकचम्पू, आशाधरके प्रतिष्ठापाठ, वसुनन्दिश्रावकाचार, आत्मानुशासन, आदिपुराण, त्रिलोकसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, पंचसंग्रह, प्रमेयकमलमार्तण्ड, बारसअणुवेक्खा, परमात्मप्रकाश, आराधनासार, गोम्मटसार, बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्रुतभक्ति, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, नीतिसार, द्रव्यसंग्रह, कातन्त्रसूत्र, सिद्धभक्ति, हरिवंशपुराण, षड्दर्शनसमुच्चय, पाणिनिसूत्र, इष्टोपदेश, न्यायसंग्रह ज्ञानार्णव, अष्टांगहृदय, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतिका, शाकटायनव्याकरण, तत्त्वसार, सागारधर्मामृत आदि ग्रन्थोंके श्लोक गाथा आदि उद्धृत किये गये हैं।

इस प्रकार यह वृत्ति अतिशयपाण्डित्यपूर्ण और प्रमाणसंग्रहा है। श्रुतसागरसूरिने इसे सर्वोपयोगी बनानेका पूरा प्रयत्न किया है।

इस विभागमें सूत्रकार उमास्वामी और वृत्तिकारके समय आदिका परिचय कराना अवसर प्राप्त है। सूत्रकार उमास्वामीके संबंधमें अनेक विवाद हैं—वे किस आम्नायके थे ? क्या तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाई जानेवाली प्रशस्ति उन्हीं लिखी है ? क्या तत्त्वार्थभाष्य स्वोपज्ञ नहीं है ? मूल सूत्रपाठ कौन है ? वे कब हुए थे ? आदि। इन संबंधमें श्रीमान् पं० सुखलालजीने अपने तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें पर्याप्त विवेचन किया है और उमास्वामीको श्वे० परम्पराका बताया है, तत्त्वार्थभाष्य स्वोपज्ञ है और उसकी प्रशस्तिमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। इनने उमास्वामीके समयकी अवधि विक्रमकी दूसरीसे पाँचवीं सदी तक निर्धारित की है।

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने भारतीय विद्याके सिंघी स्मृति अंकमें "उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र और उनका सम्प्रदाय" शीर्षक लेखमें उमास्वातिको यापनीय संघका आचार्य सिद्ध किया है। इसके प्रमाणमें उनने मैसूरके नगरतालुके ४६ नं० के शिलालेखमें आया हुआ यह श्लोक उद्धृत किया है—

"तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारम् उमास्वामिमुनीश्वरम्।
श्रुतिकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥"

इस श्लोकमें उमास्वामीको 'श्रुतकेवलिदेशीय' विशेषण दिया है और यही विशेषण यापनीय-संघाग्रणी शाकटायन आचार्यको भी लगाया जाता है। अतः उमास्वामी यापनीयसंघकी परम्परामें हुए हैं। इधर पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार उमास्वामीको दिगम्बर परम्पराका स्वीकार करते हैं तथा भाष्यको स्वोपज्ञ नहीं मानते। यद्यपि यह भाष्य अकलंकदेवसे पुराना है क्योंकि इनने राजवार्तिकमें भाष्यगत कारिकाएँ उद्धृत की है और भाष्यमान्य सूत्रपाठकी आलोचना की है तथा भाष्यकी पंक्तियोंको वार्तिक भी बनाया है।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्र, भाष्य और उमास्वामीके सम्बन्धके अनेक विवाद हैं जो गहरी छानबीन और स्थिर गवेषणाकी अपेक्षा रखते हैं।

वृत्तिकर्ता श्रुतसागरसूरि वि० १६वीं शताब्दीके विद्वान् हैं। इनके समय आदिके सम्बन्धमें श्रीमान् प्रेमीजीने 'जैन साहित्य और इतिहास' में सांगोपांग विवेचन किया है। उनका वह लेख यहाँ साभार उद्धृत किया जाता है।

श्रुतसागरसूरि

ये मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगणमें हुए हैं और इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दि-देवेन्द्रकीर्तिके और देवेन्द्रकीर्ति पद्मनन्दिके[1] शिष्य और उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दिके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक-पदपर आसीन हुए थे। श्रुतसागर शायद गद्दीपर बैठे ही नहीं, फिर भी वे भारी विद्वान् थे। मल्लिभूषणको उन्होंने अपना गुरुभाई लिखा है।

विद्यानन्दिका भट्टारक-पट्ट गुजरातमें ही किसी स्थानपर था, परन्तु कहाँ पर था, इसका उल्लेख नहीं मिला।[2]

श्रुतसागरके भी अनेक शिष्य होंगे, जिनमें एक शिष्य श्रीचन्द्र थे जिनकी बनाई हुई वैराग्यमणिमाला उपलब्ध है। आराधनाकथाकोश, नेमिपुराण आदि ग्रन्थोंके कर्ता ब्रह्म नेमिदत्तने भी जो मल्लिभूषणके शिष्य थे—श्रुतसागरको गुरुभावसे स्मरण किया है और मल्लिभूषणकी वही गुरुपरम्परा दी है जो श्रुतसागरके ग्रन्थोंमें मिलती है। उन्होंने सिंहनन्दिका भी उल्लेख किया है जो मालवाकी गद्दीके भट्टारक थे और जिनकी प्रार्थनासे श्रुतसागरने यशस्तिलककी टीका लिखी थी।

श्रुतसागरने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, व्याकरणकमलमार्तण्ड,

---

१. ये पद्मनन्दि वही मालूम होते हैं जिनके विषयमें कहा जाता है कि गिरिनार पर सरस्वती देवीसे उन्होंने कहला दिया था कि दिगम्बर पन्थ ही सच्चा है। इन्हींकी एक शिष्य शाखामें सकलकीर्ति, विजयकीर्ति और शुभचन्द्र भट्टारक हुए हैं।

२. इनकी गद्दी सूरतमें थी। देखो 'दानवीर माणिकचन्द्र' पृ० ३७।

तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण, नवनवतिमहामहावादिविजेता आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है। ये विशेषण उनकी अहम्मन्यताको खूब अच्छी तरह प्रकट करते हैं।

वे कट्टर तो थे ही, असहिष्णु भी बहुत ज्यादा थे। अन्य मतोंका खण्डन और विरोध तो औरोंने भी किया है, परन्तु इन्होंने तो खण्डनके साथ बुरी तरह गालियाँ भी दी हैं। सबसे ज्यादा आक्रमण इन्होंने मूर्ति-पूजा न करनेवाले लौंकागच्छ (ढूँढियों) पर किया है।·· ····

अधिकतर टीकाग्रन्थ ही श्रुतसागरने रचे हैं, परन्तु उन टीकाओंमें मूल ग्रन्थकर्ताके अभिप्रायोंकी अपेक्षा उन्होंने अपने अभिप्रायोंको ही प्रधानता दी है। दर्शनपाहुडकी २४वीं गाथाकी टीकामें उन्होंने जो अपवाद वेषकी व्याख्या की है, वह यही बतलाती है। वे कहते हैं कि दिगम्बर मुनि चर्याके समय चटाई आदिसे अपने नग्नत्वको ढाँक लेता है। परन्तु यह उनका खुदका ही अभिप्राय है, मूलका नहीं। इसी तरह तत्त्वार्थटीका (संयमश्रुतप्रतिसेवनादि सूत्रकी टीका) में जो द्रव्यलिंगी मुनिको कम्बलादि ग्रहणका विधान किया है वह भी उन्हींका अभिप्राय है, मूल ग्रन्थकर्ताका नहीं।

श्रुतसागरके ग्रन्थ

१–यशस्तिलकचन्द्रिका—आचार्य सोमदेवके प्रसिद्ध यशस्तिलक चम्पूकी यह टीका है और निर्णय-सागर प्रेसकी काव्यमालामें प्रकाशित हो चुकी है। यह अपूर्ण है। पाचवें आश्वासके थोड़ेसे अंशकी टीका नहीं है। जान पड़ता है, यही उनकी अन्तिम रचना है। इसकी प्रतियाँ अन्य अनेक भण्डारोंमें उपलब्ध हैं, परन्तु सभी अपूर्ण हैं।

२–तत्त्वार्थवृत्ति—यह श्रुतसागरटीकाके नामसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी एक प्रति बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वती भवनमें मौजूद है जो वि० सं० १८४२ की लिखी हुई है। श्लोकसंख्या नौ हजार है। इसकी एक भाषावचनिका भी हो चुकी है।

३–तत्त्वत्रयप्रकाशिका—श्री शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णव या योगप्रदीपके अन्तर्गत जो गद्यभाग है, यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके ग्रन्थसंग्रहमें है।

४–जिनसहस्रनामटीका—यह पं० आशाधरकृत सहस्रनामकी विस्तृत टीका है। इसकी भी एक प्रति उक्त सेठजीके ग्रन्थसंग्रहमें है। पं० आशाधरने अपने सहस्रनामकी स्वयं भी एक टीका लिखी है जो उपलब्ध है।

५–औदार्य चिन्तामणि—यह प्राकृतव्याकरण है और हेमचन्द्र तथा त्रिविक्रमके व्याकरणोंसे बड़ा है। इसकी प्रति बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वतीभवनमें है (४६८ क), जिसकी पत्रसंख्या ५६ है। यह स्वोपज्ञवृत्तियुक्त है।

६–महाभिषेक टीका—पं० आशाधरके नित्यमहोद्योतकी यह टीका है। यह उस समय बनाई गई है जबकि श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे।

७–व्रतकथाकोश—इसमें आकाशपञ्चमी, मुकुटसप्तमी, चन्दनषष्ठी, अष्टाह्निका आदि व्रतोंकी कथायें हैं। इसकी भी एक प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है और यह भी उनकी देशव्रती या ब्रह्मचारी अवस्थाकी रचना है।

८–श्रुतस्कन्धपूजा—यह छोटी-सी नौ पत्रोंकी पुस्तक है। इसकी भी एक प्रति बंबईके सरस्वती-भवनमें है।

इसके सिवाय श्रुतसागरके और भी कई ग्रन्थोंके[1] नाम ग्रन्थसूचियोंमें मिलते हैं। परन्तु उनके विषयमें जबतक वे देख न लिये जायँ, निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

समय विचार

इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें रचनाका समय नहीं दिया है परन्तु यह प्राय. निश्चित है कि ये विक्रमकी १३वीं शताब्दीमें हुए हैं। क्योंकि—

१-महाभिषेककी टीकाकी जिस प्रतिकी प्रशस्ति आगे दी गई है वह विक्रम संवत् १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषणके उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागरके पढ़नेके लिये दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्रका उल्लेख श्रुतसागरने स्वयं अपने टीका ग्रन्थोंमें कई जगह किया है।

२-ब्र॰ नेमिदत्तने श्रीपालचरित्रकी रचना वि॰ सं॰ १५८५में की थी और वे मल्लिभूषणके शिष्य थे। आराधनाकथाकोशकी प्रशस्तिमें उन्होंने मल्लिभूषणका [2]गुरु रूपमें उल्लेख किया है और साथ ही श्रुतसागरका भी जयकार[3] किया है, अर्थात् कथाकोशकी रचनाके समय श्रुतसागर मौजूद थे।

३-स्व॰ बाबा दुलीचन्दजीकी स॰ १९५४में लिखी गई ग्रन्थसूचीमें श्रुतसागरका समय वि॰ स॰ १५५० लिखा हुआ है।

४-षट्प्राभृतटीकामें लोकागच्छपर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और यह गच्छ वि॰ स॰ १५३०के लगभग स्थापित हुआ था। अतएव उससे ये कुछ समय पीछे ही हुए होंगे। सम्भव है, ये लोकाशाहके समकालीन ही हों।[4]

---

१ प॰ परमानन्दजीने अपने लेखमें सिद्धभक्ति टीका, सिद्धचक्राष्टक पूजा टीका, श्रीपालचरित, यशोधरचरित ग्रन्थोंके भी नाम दिए हैं। इन्होंने व्रतकथाकोशके अन्तर्गत २४ कथाओंको स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर ग्रन्थ सख्या ३६ कर दी है। इसका कारण बताया है कि—चूँकि भिन्न-भिन्न कथाएं भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिए विभिन्न व्यक्तियोंके अनुरोधसे बनाई हैं अत वे सब स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। यथा पल्यविधान व्रतकथा ईडरके राठौर वंशी राजा भानुभूपति (समय वि॰ स॰ १५५२ के बाद) के राज्यकालमें मल्लिभूषण गुरुके उपदेशसे रची गई है।

२. श्री भट्टारक मल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सता शर्मणे ॥ ६ ॥

३. जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्य: श्रुताब्धिः ॥ ७१ ॥

४. पं॰ परमानन्दजी सरसावाने अपने ब्रह्मश्रुतसागर और उनका साहित्य लेखमें लिखा है कि—भट्टारक विद्यानन्दिके वि॰ स॰ १४९९ से वि॰ १५२३ तकके ऐसे मूर्ति लेख पाए जाते हैं जिनकी प्रतिष्ठाएँ विद्यानन्दिने स्वयं की हैं अथवा जिनमें आ॰ विद्यानन्दिके उपदेशसे प्रतिष्ठित होनेका समुल्लेख पाया जाता है आदि। श्रीमान् प्रेमीजीकी सूचनानुसार मैंने मूर्ति लेखोंकी खोज की तो नाहरजी कृत जैनलेख-संग्रह लेख न॰ १८० में संवत् १५३३ मे विद्यानन्दि भट्टारकका उल्लेख है तथा लेख नं॰ २८६ मे संवत् १५३५ मे विद्यानन्दि गुरुका उल्लेख है। इसी तरह 'दानवीर माणिकचन्द' पुस्तक पृ॰ ४ पर एक धातुकी प्रतिमाका लेख सं॰ १४२९ का है जिसमें विद्यानन्दि गुरुका उल्लेख है। यदि यह संवत् ठीक है तो भट्टारक विद्यानन्दिका समय १४२९ से १५३४ तक मानना होगा और इनके शिष्य श्रुतसागरका समय भी १६वीं सदी।

ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ

१— श्री विद्यानन्दिगुरोर्बुद्धिगुरोः पादपङ्कजभ्रमरः ।
श्री श्रुतसागर इति देशव्रती तिलकष्टीकते स्मेदम् ॥

इति ब्रह्मश्रीश्रुतसागर कृता महाभिषेक टीका समाप्ता ।

२— संवत् १५५२ वर्षे चैत्रमासे शुक्लपक्षे पञ्चम्यां तिथौ रवौ श्रीआदिजिनचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्ति-देवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीविद्यानन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्र-देवास्तेषां शिष्यवरब्रह्मश्रीज्ञानसागरपठनार्थं आर्याश्रीविमलश्रेली भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रदीक्षिता विनयश्रिया स्वयं लिखित्वा प्रदत्तं महाभिषेकभाष्यम् । शुभं भवतु । कल्याणं भूयात् श्रीरस्तु ॥

—आशाधरकृतमहाभिषेककी टीका[1]

३— इति श्रीपद्मनन्दि-देवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दि-मल्लिभूषणाम्नायेन भट्टारकश्रीमल्लिभूषणगुरुपरमा-भीष्टगुरुभ्रात्रा गुर्जरदेशसिंहासनस्थभट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रकाभिमतेन मालवदेशभट्टारकश्रीसिंहनन्दिप्रार्थनया यतिश्रीसिद्धान्तसागरव्याख्याकृतिनिमित्तं नवनवतिमहावादिस्याद्वादलब्धविजयेन तर्क-व्याकरणछन्दोलंकार-सिद्धान्तसाहित्यादिशास्त्रनिपुणमतिना व्याकरणाद्यनेकशास्त्रचुञ्चुना सूरिश्रीश्रुतसागरेण विरचितायां यशस्ति-लकचन्द्रिकाभिधानायां यशोधरमहाराजचरितचम्पूमहाकाव्यटीकायां यशोधरमहाराजराजलक्ष्मीविनोदवर्णनं नाम तृतीयाश्वासचन्द्रिका परिसमाप्ता ।

—यशस्तिलकटीका

४— श्रीपद्मनन्दिपरमात्मपरः पवित्रो देवेन्द्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवन्द्यः ।
विद्यादिनन्दिवरसूरिरनल्पबोधः श्रीमल्लिभूषण इतोऽस्तु च मङ्गलं मे ॥
अदः पट्टे भट्टादिकमतघटापट्टनपटु-
घटद्धर्मध्याप्तः स्फुटपरमभट्टारकपदः ।
प्रभापुञ्जः सयद्विजितवरवीरस्मरनर
सुधीर्लक्ष्मीचन्द्रश्चरणचतुरोऽसौ विजयते ॥ ३ ॥
आलम्बनं सुविदुषां हृदयाम्बुजानामानन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिसेतोः ।
सट्टीकनं विविधशास्त्रविचारचारुचेतश्चमत्कृतकृतं श्रुतसागरेण ॥ ४ ॥
श्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्र यैर्विहितम् ।
जन्मजरामरणहरं निरन्तरं तैः शिवं लब्धम् ॥ ५ ॥
अस्ति स्वस्ति समस्तसङ्घतिलकं श्रीमूलसङ्घोऽनघं,
वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिवदं संसेवितं साधुभिः ।
विद्यानन्दिगुरुस्त्विहास्ति गुणवद्गच्छे गिरः साम्प्रतं,
तच्छिष्यश्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नन्दतु ॥ ६ ॥

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिननामसहस्रटीकायाम् तकृच्छतविवरणो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥ श्रीविद्यानन्दिगुरुभ्यो नमः ।

—जिनसहस्रनामटीका

---

१. स्व० सेठ माणिकचन्द्रजी जौहरीके भण्डारकी प्रति ।

५— आचार्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभि श्रीसिंहनन्द्याह्वयै-
सम्प्रार्थ्य श्रुतसागर कृतिवर भाष्य शुभ कारितम् ।
गद्याना गुणवत्प्रिय विनयतो ज्ञानार्णवस्यान्तरे
विद्यानन्दिगुरुप्रसादजनितं देयादमेय सुखम् ॥
इति श्री ज्ञानार्णवस्थितगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिका समाप्ता ।

—तत्त्वत्रयप्रकाशिका

६— इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिव्याकरणकमलमार्तण्डतार्किकशिरोमणि-परमागमप्रवीण-सूरिश्रीदेवेन्द्रकीर्ति-प्रशिष्यमुमुक्षुविद्यानन्दिभट्टारकान्तेवासिश्रीमूलसंघपरमात्मविदुष (?) सूरिश्रीश्रुतसागरविरचिते औदार्य-चिन्तामणिनाम्नि स्वोपज्ञवृत्तिनि प्राकृतव्याकरणे सयुक्ताव्ययनिरूपणो नाम द्वितीयोऽध्याय ।

—औदार्य चिन्तामणि

७— सुदेवेन्द्रकीर्तिश्च विद्यादिन्दी गरीयान् गुरुर्मेऽर्हदादिप्रनन्दी ।
तयोर्विद्धि मा मूलसङ्घे कुमार श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥
सम्यक्त्वसुरत्न सकलजन्तुकरुणाकरणम् ।
श्रुतसागरमेतं भजत समेत निखिलजने परित शरणम् ॥

—इति श्रुतस्कन्धपूजाविधि ।



जैनदर्शन और विश्वशान्ति

विश्वशान्तिके लिए जिन विचारसहिष्णुता, समझौतेकी भावना, वर्ण, जाति, रंग और देश आदिके भेदके बिना सबके समानाधिकारकी स्वीकृति, व्यक्तिस्वातन्त्र्य और दूसरेके आन्तरिक मामलोंमें हस्तक्षेप न करना आदि मूलभूत आधारोंकी अपेक्षा है उन्हें दार्शनिक भूमिकापर प्रस्तुत करनेका कार्य जैनदर्शनने बहुत पहलेसे किया है। उसने अपनी अनेकान्तदृष्टिसे विचारनेकी दिशामें उदारता, व्यापकता और सहिष्णुताका ऐसा पल्लवन किया है, जिससे व्यक्ति दूसरेके दृष्टिकोणको भी वास्तविक और तथ्यपूर्ण मान सकता है। इसका स्वाभाविक फल है कि समझौतेकी भावना उत्पन्न होती है। जब तक हम अपने ही विचार और दृष्टिकोणको वास्तविक और तथ्य मानते हैं तब तक दूसरेके प्रति आदर और प्रामाणिकताका भाव ही नहीं हो पाता। अतः अनेकान्तदृष्टि दूसरोंके दृष्टिकोणके प्रति सहिष्णुता, वास्तविकता और समादरका भाव उत्पन्न करती है।

जैनदर्शन अनन्त आत्मवादी है। वह प्रत्येक आत्माको मूलमें समानस्वभाव और समानधर्मवाला मानता है। उनमें जन्मना किसी जातिभेद या अधिकारभेदको नहीं मानता। वह अनन्त जड़पदार्थोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इस दर्शनने वास्तव बहुत्वको मानकर व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी साधार स्वीकृति दी है। वह एक द्रव्यके परिणमनपर दूसरे द्रव्यका अधिकार नहीं मानता। अतः किसी भी प्राणीके द्वारा दूसरे प्राणीका शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण ही अन्याय है। किसी चेतनका अन्य जड पदार्थोंको अपने अधीन करनेकी चेष्टा करना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्रका दूसरे देश या राष्ट्रको अपने अधीन करना, उसे अपना उपनिवेश बनाना ही मूलतः अनधिकार चेष्टा है, अतएव हिंसा और अन्याय है।

वास्तविक स्थिति ऐसी होनेपर भी जब आत्माका शरीरसधारण और समाजनिर्माण जड़पदार्थोंके बिना संभव नहीं है; तब यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि आखिर शरीरयात्रा, समाजनिर्माण और राष्ट्रसंरक्षा आदि कैसे किए जाँय? जब अनिवार्य स्थितिमें जड़पदार्थोंका संग्रह और उनका यथोचित विनियोग आवश्यक हो गया, तब यह उन सभी आत्माओंको ही समान भूमिका और समान अधिकारसे चादरपर बैठकर सोचना चाहिये कि 'जगत्के उपलब्ध साधनोंका कैसे विनियोग हो?'' जिससे प्रत्येक आत्माका अधिकार सुरक्षित रहे और ऐसी समाजका निर्माण संभव हो सके, जिसमें सबको समान अवसर और सबकी समानरूपसे प्रारम्भिक आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके। यह व्यवस्था ईश्वरनिर्मित होकर या जन्मजात वर्गसंरक्षणके आधारसे कभी नहीं जम सकती, किन्तु उन सभी समाजके घटक अंगोंकी जाति, वर्ण, रंग और देश आदिके भेदके बिना निरुपाधि समानस्थितिके आधारसे ही बन सकती है। समाजव्यवस्था ऊपरसे लदनी नहीं चाहिये, किन्तु उसका विकास सहयोगपद्धतिसे सामाजिक भावनाकी भूमिपर होना चाहिये, तभी सर्वोदयी समाज-रचना हो सकती है। जैनदर्शनने व्यक्तिस्वातन्त्र्यको मूलरूपमें मानकर सहयोगमूलक समाजरचनाका दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया है। इसमें जब प्रत्येक व्यक्ति परिग्रहके संग्रहको अनधिकारवृत्ति मानकर ही अनिवार्य या अत्यावश्यक साधनोंके संग्रहमें प्रवृत्ति करेगा, सो भी समाजके घटक अन्य व्यक्तियोंको समानाधिकारी समझकर उनको भी सुविधाका विचार करके हो; तभी सर्वोदयी समाजका स्वस्थ निर्माण संभव हो सकेगा।

निहित स्वार्थवाले व्यक्तियोंने जाति, वंश और रंग आदिके नामपर जो अधिकारोंका संरक्षण ले रखा है तथा जिन व्यवस्थाओंने वर्गविशेषको संरक्षण दिये हैं, वे मूलतः अनधिकार चेष्टाएँ हैं। उन्हें मानव-

हित और नवसमाजरचनाके लिए स्वयं समाप्त होना ही चाहिए और समान अवसरवाली परम्पराका सर्वाभ्युदयकी दृष्टिसे विकास होना चाहिए।

इस तरह अनेकान्तदृष्टिसे विचारसहिष्णुता और परसन्मानकी वृत्ति जग जानेपर मन दूसरेके स्वार्थको अपना स्वार्थ माननेकी ओर प्रवृत्त होकर समझौतेकी ओर सदा झुकने लगता है। जब उसके स्वाधिकारके साथ ही-साथ स्वकर्त्तव्यका भी भाव उदित होता है; तब वह दूसरेके आन्तरिक मामलोंमें जबरदस्ती टाँग नहीं अड़ाता। इस तरह विश्वशान्तिके लिए अपेक्षित विचारसहिष्णुता, समानाधिकारकी स्वीकृति और आन्तरिक मामलोंमें अहस्तक्षेप आदि सभी आधार एक व्यक्तिस्वातन्त्र्यके मान लेनेसे ही प्रस्तुत हो जाते हैं। और जब तक इन सर्वसमतामूलक अहिंसक आधारोंपर समाजरचनाका प्रयत्न न होगा, तब तक विश्वशान्ति स्थापित नहीं हो सकती। आज मानवका दृष्टिकोण इतना विस्तृत उदार और व्यापक हो गया है जो वह विश्वशान्तिकी बात सोचने लगा है। जिस दिन व्यक्तिस्वातन्त्र्य और समानाधिकारकी बिना किसी विशेषसंरक्षणके सर्वसामान्यप्रतिष्ठा होगी, वह दिन मानवताके मंगलप्रभातका पुण्यक्षण होगा। जैनदर्शनने इन आधारोंको सैद्धान्तिक रूप देकर मानवकल्याण और जीवनकी मंगलमय निर्वाहपद्धतिके विकासमें अपना पूरा भाग अर्पित किया है। और कभी भी स्थायी विश्वशान्ति यदि संभव होगी, तो इन्हीं मूल आधारोंपर ही वह प्रतिष्ठित हो सकती है।

भारत राष्ट्रके प्राण प० जवाहरलाल नेहरूने विश्वशान्तिके लिए जिन पंचशील या पंचशिलाओंका उद्घोष किया था और बाडुङ्ग सम्मेलनमें जिन्हें सर्वमतिसे स्वीकृति मिली, उन पंचशीलोंकी बुनियाद अनेकान्तदृष्टि—समझौतेकी वृत्ति, सहअस्तित्वकी भावना, समन्वयके प्रति निष्ठा और वर्ण, जाति, रंग आदिके भेदोंसे ऊपर उठकर मानवमात्रके सम-अभ्युदयकी कामनापर ही तो रखी गई है। और इन सबके पीछे है मानवका सम्मान और अहिंसामूलक आत्मौपम्यकी हार्दिक श्रद्धा। आज नवोदित भारतकी इस सर्वोदयी परराष्ट्रनीतिने विश्वको हिंसा, संघर्ष और युद्धके दावानलसे मोड़कर सहअस्तित्व, भाईचारा और समझौतेकी सद्भावनारूप अहिंसाकी शीतल छायामें लाकर खड़ा कर दिया है। वह सोचने लगा है कि प्रत्येक राष्ट्रको अपनी जगह जीवित रहनेका अधिकार है, उसका आस्तित्व है, परके शोषणका उसे गुलाम बनानेका कोई अधिकार नहीं है, परमें उसका अस्तित्व नहीं है। यह परके मामलोंमें अहस्तक्षेप और स्वास्तित्वकी स्वीकृति ही विश्वशान्तिका मूलमन्त्र है। यह सिद्ध हो सकती है—अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और जीवनमें भौतिक साधनोंकी अपेक्षा मानवके सम्मानके प्रति निष्ठा होनेसे। भारत राष्ट्रने तीर्थंकर महावीर और बोधिसत्त्व गौतमबुद्ध आदि सन्तोंकी अहिंसाको अपने संविधान और परराष्ट्रनीतिका आधार बनाकर विश्वको एक बार फिर भारतकी आध्यात्मिकताकी झाँकी दिखा दी है। आज उन तीर्थंकरोंकी साधना और तपस्या सफल हुई है कि समस्त विश्व सह-अस्तित्व और समझौतेकी वृत्तिकी ओर झुककर अहिंसकभावनासे मानवताकी रक्षाके लिए सन्नद्ध हो गया है।

व्यक्तिकी मुक्ति, सर्वोदयी समाजका निर्माण और विश्वकी शान्तिके लिए जैनदर्शनके पुरस्कर्ताओंने यही निधियाँ भारतीय संस्कृतिके आध्यात्मिक कोषागारमें आत्मोत्सर्ग और निर्ग्रन्थताकी तिल-तिल साधना करके संजोई है। आज वह धन्य हो गया कि उसकी उस अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और अपरिग्रहभावनाकी ज्योतिसे विश्वका हिंसान्धकार समाप्त होता जा रहा है और सब सबके उदयमें अपना उदय मानने लगे हैं।

राष्ट्रपिता पूज्य बापूकी आत्मा इस अंशमें सन्तोषकी साँस ले रही होगी कि उनने अहिंसा संजीवन

का व्यक्ति और समाजसे आगे राजनैतिक क्षेत्रमें उपयोग करनेका जो प्रशस्त मार्ग सुझाया था और जिसकी अटूट श्रद्धामें उनने अपने प्राणोंका उत्सर्ग किया, आज जवाहरने दृढ़तासे उसपर अपनी निष्ठा ही व्यक्त नहीं की, किन्तु उसका प्रयोग नव एशियाके जागरण और विश्वशान्तिके क्षेत्रमें भी किया है। और भारतकी 'भा' इसीमें है कि वह अकेला भी इस आध्यात्मिक दीपको सजोता चले, उसे स्नेह दान देता हुआ उसीमें जलता चले और प्रकाशकी किरणें बखेरता चले। जीवनका सामंजस्य, नवसमाजनिर्माण और विश्वशान्तिके यही मूलमन्त्र हैं। इनका नाम लिये बिना कोई विश्वशान्तिकी बात भी नहीं कर सकता।



तत्त्व-निरूपण

तत्त्वव्यवस्थाका प्रयोजन

पदार्थव्यवस्थाकी दृष्टिसे यह विश्व षट्द्रव्यमय है, परन्तु मुमुक्षुको जिनके तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता मुक्तिके लिए है, वे तत्त्व सात हैं। जिस प्रकार रोगीको रोग-मुक्तिके लिए रोग, रोगके कारण, रोगमुक्ति और रोगमुक्तिका उपाय इन चार बातोंका जानना चिकित्साशास्त्रमे आवश्यक बताया है, उसी तरह मोक्ष-की प्राप्तिके लिए संसार, संसारके कारण, मोक्ष और मोक्षके उपाय इस मूलभूत चतुर्व्यूहका जानना नितान्त आवश्यक है। विश्वव्यवस्था और तत्त्वनिरूपणके जुदे-जुदे प्रयोजन हैं। विश्वव्यवस्थाका ज्ञान न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी साधना की जा सकती है, पर तत्त्वज्ञान न होनेपर विश्वव्यवस्थाका समग्र ज्ञान भी निरर्थक और अनर्थक हो सकता है।

रोगीके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह अपनेको रोगी समझे। जब तक उसे अपने रोगका भान नही होता, तब तक वह चिकित्साके लिए प्रवृत्त ही नही हो सकता। रोगके ज्ञानके बाद रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि उसका रोग नष्ट हो सकता है। रोगको साध्यताका ज्ञान ही उसे चिकित्सामे प्रवृत्ति कराता है। रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि यह रोग अमुक कारणोसे उत्पन्न हुआ है, जिससे वह भविष्यमे उन अपथ्य आहार-विहारोसे बचा रहकर अपनेको नीरोग रख सके। रोगको नष्ट करनेके उपायभूत औषधोपचारका ज्ञान तो आवश्यक है ही; तभी तो मौजूदा रोगका औषधोपचारसे समूल नाश करके वह स्थिर आरोग्यको पा सकता है। इसी तरह 'आत्मा बँधा है, इन कारणोसे बँधा है, वह बन्धन टूट सकता है और इन उपायोसे टूट सकता है।' इन मूलभूत चार मुद्दोमे तत्त्वज्ञानकी परिसमाप्ति भारतीय दर्शनोने की है।

बौद्धोंके चार आर्यसत्य

म० बुद्धने भी निर्वाणके लिए चिकित्साशास्त्रकी तरह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंका[1] उपदेश दिया है। वे कभी भी 'आत्मा क्या है, परलोक क्या है' आदिके दार्शनिक विवादोमें न तो स्वय गये और न शिष्योको ही जाने दिया। इस सम्बन्धका बहुत उपयुक्त उदाहरण मिलिन्द प्रश्नमे दिया गया है कि 'जैसे किसी व्यक्तिको विषसे बुझा हुआ तीर लगा हो और जब बन्धुजन उस तीरको निकालनेके लिए विषवैद्यको बुलाते हैं, तो उस समय उसको यह मीमासा करना जिस प्रकार निरर्थक है कि 'यह तीर किस लोहेसे बना है? किसने इसे बनाया? कब बनाया यह कबतक स्थिर रहेगा? यह विषवैद्य किस गोत्रका है?' उसी तरह आत्माकी नित्यता और परलोक आदिका विचार निरर्थक है, वह न तो बोधिके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है।

इन आर्यसत्योका वर्णन इस प्रकार है। दुःख-सत्य—जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, परिवेदन, विकलता, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, इष्टाप्राप्ति आदि सभी दुःख हैं। संक्षेपमें पाँचो उपादान स्कन्ध ही दुःखरूप हैं। समुदय-सत्य—कामकी तृष्णा, भवकी तृष्णा और विभवकी तृष्णा दुःखको उत्पन्न करनेके कारण समुदय कही जाती है। जितने इन्द्रियोंके प्रिय विषय हैं, इष्ट रूपादि हैं, इनका

---

१ "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा।
निरोधो मार्ग एतेषा यथाभिसमयं क्रमः॥"—अभिध० को० ६।२

वियोग न हो, वे सदा बने रहें, इस तरह उनसे संयोगके लिए चित्तकी अभिनन्दिनी वृत्तिको तृष्णा कहते हैं। यही तृष्णा समस्त दुःखोका कारण है। निरोध-सत्य—तृष्णाके अत्यन्त निरोध या विनाशको निरोध-आर्यसत्य कहते है। दुःख-निरोधका मार्ग है—आष्टांगिक मार्ग। सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्म, सम्यक् आजीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। नैरात्म्य-भावना ही मुख्य-रूपसे मार्ग है। बुद्धने आत्मदृष्टि या सत्त्वदृष्टिको ही मिथ्यादर्शन कहा है। उनका कहना[१] है कि एक आत्माको शाश्वत या स्थायी समझकर ही व्यक्ति स्नेहवश उसके सुखमे तृष्णा करता है। तृष्णाके कारण उसे दोष नही दिखाई देते और गुणदर्शन कर पुनः तृष्णावश सुखसाधनोंमें ममत्व करता है। उन्हें ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि जब तक 'आत्माभिनिवेश' है तब तक वह संसारमें रुलता है। इस एक आत्माके माननेसे वह अपनेको स्व और अन्यको पर समझता है। स्व-परविभागसे राग और द्वेष होते है, और ये राग-द्वेष ही समस्त संसार परम्पराके मूल स्रोत हैं। अतः इस सर्वानर्थमूल[२] आत्मदृष्टिका नाश कर नैरात्म्य-भावनासे दुःख-निरोध होता है।

बुद्धका दृष्टिकोण

उपनिषद्का तत्त्वज्ञान जहाँ आत्मदर्शनपर जोर देता है और आत्मदर्शनको ही मोक्षका परम साधन मानता है और मुमुक्षके लिए आत्मज्ञानको ही जीवनका सर्वोच्च साध्य समझता है, वहाँ बुद्धने इस आत्म-दर्शनको ही संसारका मूल कारण माना है। आत्मदृष्टि, सत्त्वदृष्टि, सत्कायदृष्टि, ये सब मिथ्यादृष्टियाँ है। औपनिषद तत्त्वज्ञानकी ओटमें, याज्ञिक क्रियाकाण्डको जो प्रश्रय मिल रहा था उसीकी यह प्रतिक्रिया थी कि बुद्धको 'आत्मा' शब्दसे ही घृणा हो गई थी। आत्माको स्थिर मानकर उसे स्वर्गप्राप्ति आदिके प्रलोभन से अनेक क्रूर यज्ञोमे होनेवाली हिंसाके लिए उकसाया जाता था। इस शाश्वत आत्मवादसे ही राग और द्वेषकी अमरबेलें फैलती हैं। मजा तो यह है कि बुद्ध और उपनिषद्वादी दोनो ही राग, द्वेष और मोहका अभाव कर वीतरागता और वासनानिर्मुक्तिको अपना चरम लक्ष्य मानते थे, पर साधन दोनोके इतने जुदे थे कि एक जिस आत्मदर्शनको मोक्षका कारण मानता था, दूसरा उसे संसारका मूलबीज। इसका एक कारण और भी था कि बुद्धका मानस दार्शनिककी अपेक्षा सन्त ही अधिक था। वे ऐसे गोलगोल शब्दोंको बिलकुल हटा देना चाहते थे, जिनका निर्णय न हो सके या जिनकी ओटमें मिथ्या धारणाओ और अन्धविश्वासोकी सृष्टि होती हो। 'आत्मा' शब्द उन्हें ऐसा ही लगा। बुद्धकी नैरात्म्य-भावनाका उद्देश्य 'बोधिचर्यावतार' (पृ० ४४९) मे इस प्रकार बताया है—

'यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किंचन।
अहमेव न किञ्चिच्चेत् कस्य भीतिर्भविष्यति।''

---

१. ''यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत्स संसारे॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥'' —प्र० वा० १।२१९-२१

२. ''तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम्।
उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः॥'' —प्रमाणवा० १।२५८

अर्थात्—यदि 'मैं' नामका कोई पदार्थ होता तो उसे इससे या उससे भय हो सकता था, परन्तु जब 'मैं' ही नही है, तब भय किसे होगा ?

बुद्ध जिस प्रकार इस 'शाश्वत आत्मवाद' रूपी एक अन्तको खतरा मानते थे, उसी तरह वे भौतिकवादको भी दूसरा अन्त समझकर उसे खतरा ही मानते थे। उन्होंने न तो भौतिकवादियोंके उच्छेदवादको ही माना और न उपनिषद्वादियोंके शाश्वतवादको ही। इसीलिए उनका मत 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के रूपमें व्यवहृत होता है। उन्होंने आत्मासम्बन्धी प्रश्नोंको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था और भिक्षुओंको स्पष्ट रूपसे कह दिया था कि 'आत्माके सम्बन्धमे कुछ भी कहना या सुनना न बोधिके लिए, न ब्रह्मचर्यके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है।' इस तरह बुद्धने उस आत्माके ही सम्बन्धमें कोई भी निश्चित बात नही कही, जिसे दुःख होता है और जो दुःख-निवृत्तिकी साधना करना चाहता है।

१. आत्मतत्त्व :

जैनोंके सात तत्त्वोंका मूल आत्मा

निगंठ नाथपुत्त महाश्रमण महावीर भी वैदिक क्रियाकाण्डको निरर्थक और श्रेयःप्रतिरोधी मानते थे, जितना कि बुद्ध। वे आचार अर्थात् चारित्रको ही मोक्षका अन्तिम साधन मानते थे। परन्तु उनने यह साक्षात्कार किया कि जब तक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्माके विषयमें शिष्य निश्चित विचार नही बना लेते, जिस आत्माको दुःख होता है और जिसे निर्वाण पाना है, तब तक वे मानससंशयसे मुक्त होकर साधना कर ही नही सकते। जब मगध और विदेहके कोनेमे ये प्रश्न गूंज रहे हो कि—'आत्मा देहरूप है या देहसे भिन्न ? परलोक क्या है ? निर्वाण क्या है ?' और अन्य तीर्थिक इन सबके सम्बन्धमे अपने मतोका प्रचार कर रहे हो, और इन्ही प्रश्नोपर वाद रोपे जाते हो, तब शिष्योको यह कहकर तत्काल भले ही चुप कर दिया जाय कि "क्या रखा है इस विवादमे कि आत्मा क्या है और कैसी है ? हमें तो दुःख-निवृत्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिये।" परन्तु इससे उनके मनकी शल्य और बुद्धिकी विचिकित्सा नही निकल सकती थी, और वे इस बौद्धिक हीनता और विचार-दीनताके हीनतर भावोसे अपने चित्तकी रक्षा नही कर सकते थे। सघमे तो विभिन्न मतवादियोके शिष्य, विशेषकर वैदिक ब्राह्मण विद्वान् भी दीक्षित होते थे। जब तक इन सब पचमेल व्यक्तियोंके, जो आत्माके विषयमे विभिन्न मत रखते थे और उसकी चर्चा भी करते थे; सशयका वस्तुस्थितिमूलक समाधान न हो जाता, तब तक वे परस्पर समता और मानस अहिंसाका वातावरण नही बना सकते थे। कोई भी धर्म अपने सुस्थिर और सुदृढ़ दर्शनके बिना परीक्षक-शिष्योको अपना अनुयायी नही बना सकता। श्रद्धामूलक भावना तत्काल कितना ही समर्पण क्यो न करा ले पर उसका स्थायित्व विचारशुद्धिके बिना कथमपि सभव नही है।

यही कारण है कि भगवान् महावीरने उस मूलभूत आत्मतत्त्वके स्वरूपके विषयमें मौन नहीं रखा और अपने शिष्योको यह बताया कि धर्म वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति ही है। जिस वस्तुका जो स्वरूप है, उसका उस पूर्ण स्वरूपमे स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि जब तक अपनी उष्णताको कायम रखती है, तबतक वह धर्मस्थित है। यदि दीपशिखा वायुके झोकोसे स्पन्दित हो रही है और चंचल होनेके कारण अपने निश्चल स्वरूपसे च्युत हो रही है, तो कहना होगा कि वह उतने अंशमे धर्मस्थित नही है। जल जब तक स्वाभाविक शीतल है, तभी तक धर्म-स्थित है। यदि वह अग्निके संसर्गसे स्वरूपच्युत होकर गर्म हो जाता है, तो वह धर्म-स्थित नहीं है। इस परसयोगजन्य विकार-परिणतिको हटा देना ही जलकी धर्म-प्राप्ति है। उसी तरह आत्माका वीतरागत्व, अनन्तचैतन्य, अनन्तसुख आदि स्वरूप परसंयोगसे राग, द्वेष, तृष्णा, दुःख

आदि विकाररूपसे परिणत होकर अधर्म बन रहा है। जबतक आत्माके यथार्थ स्वरूपका निश्चय और वर्णन न किया जाय तब तक यह विकारी आत्मा कैसे अपने स्वतन्त्र स्वरूपको पानेके लिए उच्छ्वास भी ले सकता है ? रोगीको जब तक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूपका ज्ञान न हो तब तक उसे यही निश्चय नहीं हो सकता कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है। वह उस रोगको विकार तो तभी मानेगा जब उसे अपनी आरोग्य अवस्थाका यथार्थ दर्शन हो, और जब तक वह रोगको विकार नहीं मानता तब तक वह रोग-निवृत्तिके लिए चिकित्सामें क्यों प्रवृत्ति करेगा ? जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा स्वरूप तो आरोग्य है, अपथ्यसेवन आदि कारणोंसे मेरा मूल स्वरूप विकृत हो गया है, तभी वह उस स्वरूपभूत आरोग्यकी प्राप्तिके लिए चिकित्सा कराता है। रोगनिवृत्ति स्वयं साध्य नहीं है, साध्य है स्वरूपभूत आरोग्यकी प्राप्ति। उसी तरह जब तक उस मूल-भूत आत्माके स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान नहीं होगा और परसंयोगसे होनेवाले विकारोंको आगन्तुक होनेसे विनाशी न माना जायगा, तब तक दुःखनिवृत्तिके लिए प्रयत्न ही नहीं बन सकता।

यह ठीक है कि जिसे बाण लगा है, उसे तत्काल प्राथमिक सहायता (First aid) के रूपमें आवश्यक है कि वह पहले तीरको निकलवा ले; किन्तु इतनेमें ही उसके कर्तव्यकी समाप्ति नहीं हो जाती। वैद्यको यह अवश्य देखना होगा कि वह तीर किस विषसे बुझा हुआ है और किस वस्तुका बना हुआ है। यह इसलिए कि शरीरमें उसने कितना विकार पैदा किया होगा और उस घावको भरनेके लिए कौन-सी मल्हम आवश्यक होगी। फिर यह जानना भी आवश्यक है कि वह तीर अचानक लग गया या किसीने दुश्मनीसे मारा है और ऐसे कौन उपाय हो सकते हैं, जिनसे आगे तीर लगनेका अवसर न आवे। यही कारण है कि तीरकी भी परीक्षाकी जाती है, तीर मारनेवालेकी भी तलाशकी जाती है और घावकी गहराई आदि भी देखी जाती है। इसीलिये यह जानना और समझना मुमुक्षुके लिए नितान्त आवश्यक है कि आखिर मोक्ष है क्या वस्तु ? जिसकी प्राप्तिके लिए मैं प्राप्त सुखका परित्याग करके स्वेच्छासे साधनाके कष्ट झेलनेके लिए तैयार होऊँ ? अपने स्वातन्त्र्य स्वरूपका भान किये बिना और उसके सुखद रूपकी झाँकी पाये बिना केवल परतन्त्रता तोड़नेके लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नहीं आ सकती, जिसके बलपर मुमुक्षु तपस्या और साधनाके घोर कष्टोंको स्वेच्छासे झेलता है। अतः उस आधारभूत आत्माके मूल स्वरूपका ज्ञान मुमुक्षुको सर्वप्रथम होना ही चाहिए, जो कि बँधा है और जिसे छूटना है। इसीलिए भगवान् महावीरने बंध (दुःख), आस्रव (दुःखके कारण), मोक्ष (निरोध), संवर और निर्जरा (निरोध-मार्ग) इन पाँच तत्त्वोंके साथ ही साथ उस जीव तत्त्वका ज्ञान करना भी आवश्यक बताया, जिस जीवको यह संसार होता है और जो बन्धन काटकर मोक्ष पाना चाहता है।

बंध दो वस्तुओंका होता है। अतः जिस अजीवके सम्पर्कसे इसकी विभावपरिणति हो रही है और जिसमें राग-द्वेष करनेके कारण उसकी धारा चल रही है और जिन कर्मपुद्गलोंसे बद्ध होनेके कारण यह जीव स्वस्वरूपसे च्युत है उस अजीवतत्त्वका ज्ञान भी आवश्यक है। तात्पर्य यह कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व मुमुक्षुके लिए सर्वप्रथम ज्ञातव्य हैं।

तत्त्वोंके दो रूप

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व दो-दो प्रकारके होते हैं। एक द्रव्यरूप और दूसरे भावरूप। जिन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आत्मपरिणामोंसे कर्मपुद्गलोंका आना होता है, वे भाव भावास्रव कहे जाते हैं और पुद्गलोंमें कर्मत्वका आ जाना द्रव्यास्रव है; अर्थात् भावास्रव जीवगत

पर्याय है और द्रव्यास्रव पुद्गलगत। जिन कषायोंसे कर्म बँधते हैं वे जीवगत कषायादि भाव भावबंध हैं और पुद्गलकर्मका आत्मासे सम्बन्ध हो जाना द्रव्यबन्ध है। भावबन्ध जीवरूप है और द्रव्यबन्ध पुद्गलरूप। जिन क्षमा आदि धर्म, समिति, गुप्ति और चारित्रोंसे नये कर्मोंका आना रुकता है वे भाव भावसंवर हैं और कर्मोंका रुक जाना द्रव्यसंवर है। इसी तरह पूर्वसंचित कर्मोंका निर्जरण जिन तप आदि भावोंसे होता है वे भाव भावनिर्जरा हैं और कर्मोंका झड़ना द्रव्यनिर्जरा है। जिन ध्यान आदि साधनोंसे मुक्ति प्राप्त होती है वे भाव भावमोक्ष हैं और कर्मपुद्गलोंका आत्मासे सम्बन्ध टूट जाना द्रव्यमोक्ष है।

तात्पर्य यह कि आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूपमें जीवकी पर्याय हैं और द्रव्यरूपमें पुद्गल की। जिस भेदविज्ञानसे—आत्मा और परके विवेकज्ञानसे—कैवल्यकी प्राप्ति होती है उस आत्मा और परमें ये सातों तत्त्व समा जाते हैं। वस्तुतः जिस परकी परतन्त्रताको हटाना है और जिस स्वको स्वतन्त्र होना है उन स्व और परके ज्ञानमें ही तत्त्वज्ञानकी पूर्णता हो जाती है। इसीलिए संक्षेपमें मुक्तिका मूल साधन 'स्वपर-विवेकज्ञान' को बताया गया है।

तत्त्वोंकी अनादिता

भारतीय दर्शनोंमें सबने कोई-न-कोई पदार्थ अनादि माने ही हैं। नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतोंको अनादि मानता है। ऐसे किसी क्षणकी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसके पहले कोई अन्य क्षण न रहा हो। समय कबसे प्रारम्भ हुआ और कब तक रहेगा, यह बतलाना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार काल अनादि और अनन्त है और उसकी पूर्वावधि निश्चित नहीं की जा सकती, उसी तरह आकाशकी भी कोई क्षेत्रगत मर्यादा नहीं बताई जा सकती—"सर्वतो हि अनन्त तत्" आदि अन्त सभी ओरसे आकाश अनन्त है। आकाश और कालकी तरह हम प्रत्येक सत्के विषयमें यह कह सकते हैं कि उसका न किसी खास क्षणमें नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा।

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।"

—पंचास्तिकाय गा० १५

"नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

—भगवद्गीता २।१६

अर्थात्—किसी असत्का सत् रूपसे उत्पाद नहीं होता और न किसी सत्का अत्यन्त विनाश ही होता है। जितने गिने हुए सत् हैं, उनकी संख्यामें न एककी वृद्धि हो सकती है और न एककी हानि। हाँ, रूपान्तर प्रत्येकका होता रहता है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र सत् है और पुद्गलपरमाणु भी स्वतन्त्र सत्। अनादिकालसे यह आत्मा पुद्गलसे उसी तरह सम्बद्ध मिलता है जैसे कि खानिसे निकाला गया सोना मैलसे संयुक्त मिलता है।

आत्माको अनादिबद्ध माननेका कारण

आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध मिलता है। इसका ज्ञान संवेदन, सुख, दुःख और यहाँ तक कि जीवन-शक्ति भी शरीराधीन है। शरीरमें विकार होनेसे ज्ञानतंतुओंमें क्षीणता आ जाती है और स्मृतिभ्रंश तथा पागलपन आदि देखे जाते हैं। संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्धका कोई कारण नहीं था। शरीरसम्बन्ध या पुनर्जन्मके कारण हैं—राग, द्वेष, मोह और कषायादिभाव। शुद्ध आत्मामें ये विभाव परिणाम हो ही नहीं सकते।

चूँकि आज ये विभाव और उनका फल—शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्षसे अनुभवमें आ रहा है, अतः मानना होगा कि आज तक इनकी अशुद्ध परम्परा ही चली आई है।

भारतीय दर्शनोंमें यही एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर विधिमुखसे नहीं दिया जा सकता। ब्रह्ममें अविद्या कब उत्पन्न हुई ? प्रकृति और पुरुषका संयोग कब हुआ ? आत्मासे शरीरसम्बन्ध कब हुआ ? इन सब प्रश्नोंका एक मात्र उत्तर है—'अनादि' से। किसी भी दर्शनने ऐसे समयकी कल्पना नहीं की है जिस समय समग्र भावसे ये समस्त संयोग नष्ट होंगे और संसार समाप्त हो जायगा। व्यक्तिशः अमुक आत्माओंसे पुद्गलसंसर्ग या प्रकृतिसंसर्गका वह रूप समाप्त हो जाता है, जिसके कारण उसे संसरण करना पड़ता है। इस प्रश्नका दूसरा उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोग ही नहीं हो सकता था। शुद्ध होनेके बाद कोई ऐसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग, पुद्गलसम्बन्ध या अविद्योत्पत्ति होने दे। इसीके अनुसार यदि आत्मा शुद्ध होता तो कोई कारण उसके अशुद्ध होनेका या शरीरसम्बन्धका नहीं था। जब ये दो स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्य हैं तब उनका संयोग चाहे वह जितना ही पुराना क्यों न हो; नष्ट किया जा सकता है और दोनोंको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—खदानसे सर्वप्रथम निकाले गये सोनेमें कीट आदि मैल कितना ही पुराना या असंख्य कालसे लगा हुआ क्यों न हो, शोधक प्रयोगोंसे अवश्य पृथक् किया जा सकता है और सुवर्ण अपने शुद्ध रूपमें लाया जा सकता है। तब यह निश्चय हो जाता है कि सोनेका शुद्ध रूप यह है तथा मैल यह है। सारांश यह कि जीव और पुद्गलका बंध अनादिसे है और वह बन्ध जीवके अपने राग-द्वेष आदि भावोंके कारण उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते है, तब वह बंध आत्मामें नये विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और धीरे-धीरे या एक झटकेमें ही समाप्त हो सकता है। चूँकि यह बन्ध दो स्वतन्त्र द्रव्योंका है, अत: टूट सकता है या उस अवस्थामें तो अवश्य पहुँच सकता है जब साधारण संयोग बना रहनेपर भी आत्मा उससे निस्संग और निर्लेप बन जाता है।

आज इस अशुद्ध आत्माकी दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो सुनने और देखने आदिकी शक्ति रहनेपर भी वह शक्ति जैसी-की-तैसी रह जाती है और देखना और सुनना नहीं होता। विचारशक्ति होनेपर भी यदि मस्तिष्क ठीक नहीं है तो विचार और चिन्तन नहीं किये जा सकते। यदि पक्षाघात हो जाय तो शरीर देखनेमें वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य हो जाता है। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्माकी दशा और इसका सारा विकास बहुत कुछ पुद्गलके अधीन हो रहा है। और तो जाने दीजिए, जीभके अमुक-अमुक हिस्सोंमें अमुक-अमुक रसोंके चखनेकी निमित्तता देखी जाती है। यदि जीभके आधे हिस्सेमें लकवा मार जाय तो शेष हिस्सेसे कुछ रसोंका ज्ञान हो पाता है, कुछका नहीं। इस जीवनके ज्ञान, दर्शन, सुख, राग, द्वेष, कलाविज्ञान आदि सभी भाव बहुत कुछ इसी जीवनपर्यायके अधीन हैं।

एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञानका उपयोग विज्ञान या धर्मके अध्ययनमें लगाता है, जवानीमें उसके मस्तिष्कमें भौतिक उपादान अच्छे और प्रचुर मात्रामें थे, तो उसके तन्तु चैतन्यको जगाये रखते थे। बुढ़ापा आनेपर जब उसका मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है तो विचारशक्ति लुप्त होने लगती है और स्मरण मन्द पड़ जाता है। वही व्यक्ति अपनी जवानीमें लिखे गए लेखको यदि बुढ़ापेमें पढ़ता है तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। कभी-कभी तो उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि वह उसीने लिखा होगा। मस्तिष्ककी यदि कोई ग्रन्थि बिगड़ जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमागका यदि कोई पुरजा कस गया, ढीला हो गया

तो उन्माद, सन्देह, विक्षेप और उद्वेग आदि अनेक प्रकारकी धाराएँ जीवनको ही बदल देती हैं। मस्तिष्कके विभिन्न भागोंमें विभिन्न प्रकारके चेतनभावोंको जागृत करनेके विशेष उपादान रहते हैं।

मुझे एक ऐसे योगीका अनुभव है जिसे शरीरके नसोंका विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्ककी किसी खास नसको दबाता था तो मनुष्यको हिंसा और क्रोधके भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण किसी अन्य नसके दबाते ही दया और करुणाके भाव जागृत होते थे और वह व्यक्ति रोने लगता था, तीसरी नसके दबाते ही लोभका तीव्र उदय होता था और यह इच्छा होती थी कि चोरी कर ले। इन सब घटनाओंसे हम एक इस निश्चित परिणामपर तो पहुँच ही सकते हैं कि हमारी सारी पर्यायशक्तियाँ, जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, धैर्य, राग, द्वेष और कषाय आदि शामिल हैं, इस शरीरपर्यायके निमित्तसे विकसित होती हैं। शरीरके नष्ट होते ही समस्त जीवन भरमें उपार्जित ज्ञानादि पर्यायशक्तियाँ प्रायः बहुत कुछ नष्ट हो जाती है। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार ही जाते हैं।

व्यवहारसे जीव मूर्तिक भी है

जैनदर्शनमें व्यवहारसे जीवको मूर्तिक माननेका अर्थ है कि अनादिसे यह जीव शरीरसम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोडनेपर भी सूक्ष्म कर्मशरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्मशरीरके नाशको ही मुक्ति कहते हैं। चार्वाकका देहात्मवाद देहके साथ ही आत्माकी समाप्ति मानता है जब कि जैनके देहपरिमाण-आत्मवादमें आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता होकर भी उसका विकास अशुद्ध दशामें देहाश्रित यानी देहनिमित्तक माना गया है।

आत्माकी दशा

आजका विज्ञान हमे बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढी-सीधी; और उथली-गहरी रेखायें मस्तिष्कमें भरे हुए मक्खन जैसे श्वेत पदार्थमें खिंचती जाती हैं, और उन्हीके अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती है। जैसे अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेको पानीमें छोडनेपर वह गोला जलके बहुतसे परमाणुओंको अपने भीतर सोख लेता है और भाप बनाकर कुछ परमाणुओंको बाहर निकालता है। जब तक वह गर्म रहता है, पानीमें उथल-पुथल पैदा करता है। कुछ परमाणुओंको लेता है, कुछको निकालता है, कुछको भाफ बनाता, याना एक अजीब ही परिस्थिति आस-पासके वातावरणमें उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब यह आत्मा राग-द्वेष आदिसे उत्तप्त होता है; तब शरीरमें एक अद्भुत हलन-चलन उत्पन्न करता है। क्रोध आते ही आँखें लाल हो जाती हैं, खूनकी गति बढ जाती है, मुँह सूखने लगता है, और नथने फडकने लगते हैं। जब कामवासना जागृत होती है तो सारे शरीरमें एक विशेष प्रकारका मन्थन शुरू होता है, और जब तक वह कषाय या वासना शान्त नही हो लेती; तब तक यह चहल-पहल और मन्थन आदि नही रुकता। आत्माके विचारोंके अनुसार पुद्गलद्रव्योंमें भी परिणमन होता है और उन विचारोंके उत्तेजक पुद्गल आत्माके वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं। जब-जब उन कर्मपुद्गलोंपर दबाव पडता है तब-तब वे फिर रागादि भावोंको जगाते हैं। फिर नये कर्मपुद्गल आते हैं और उन कर्म-पुद्गलोंके परिपाकके अनुसार नूतन रागादि भावोंकी सृष्टि होती है। इस तरह रागादि भाव और कर्म-पुद्गलोंके सम्बन्धका चक्र तब तक बराबर चालू रहता है, जब तक कि अपने विवेक और चारित्रसे रागादि भावोंको नष्ट नही कर दिया जाता।

सारांश यह कि जीवकी ये राग-द्वेषादि वासनाएँ और पुद्गलकर्मबन्धकी धारा बीज-वृक्षसन्ततिकी तरह अनादिसे चालू है। पूर्व संचित कर्मके उदयसे इस समय राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं और तत्कालमें

जो जीवकी आसक्ति या लगन होती है, वही नूतन कर्मबन्ध कराती है। यह आशंका करना कि 'जब पूर्वकर्मसे रागादि और रागादिसे नये कर्मका बन्ध होता है तब इस चक्रका उच्छेद कैसे हो सकता है?' उचित नहीं है; कारण यह है कि केवल पूर्वकर्मके फलका भोगना ही नये कर्मका बन्धक नहीं होता, किन्तु उस भोगकालमें जो नूतन रागादि भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे बन्ध होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिके पूर्वकर्मके भोग नूतन रागादिभावोंको नहीं करनेकी वजहसे निर्जराके कारण होते हैं जबकि मिथ्यादृष्टि नूतन रागादिसे बंध ही बंध करता है। सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्मके उदयसे होनेवाले रागादिभावोंको अपने विवेकसे शान्त करता है और उनमें नई आसक्ति नहीं होने देता। यही कारण है कि उसके पुराने कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं और किसी नये कर्मका उनकी जगह बन्ध नहीं होता। अतः सम्यग्दृष्टि तो हर तरफसे हलका हो चलता है; जब कि मिथ्यादृष्टि नित नयी वासना और आसक्तिके कारण तेजीसे कर्मबन्धनोंमें जकड़ता जाता है।

जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्कपर अनुभवोंकी सीधी, टेढ़ी, गहरी, उथली आदि असंख्य रेखाएँ पड़ती रहती हैं, जब एक प्रबल रेखा आती है तो वह पहलेकी निर्बल रेखाको साफकर उस जगह अपना गहरा प्रभाव कायम कर देती है। यानी यदि वह रेखा सजातीय संस्कारकी है तो उसे और गहरा कर देती है और यदि विजातीय संस्कारकी है तो उसे पोंछ देती है। अन्तमें कुछ ही अनुभव-रेखाएँ अपना गहरा या उथला अस्तित्व कायम रखती हैं। इसी तरह आज जो रागद्वेषादिजन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं और कर्मबन्धन करते हैं; वे दूसरे ही क्षण शील, व्रत और संयम आदिकी पवित्र भावनाओंसे धुल जाते हैं या क्षीण हो जाते हैं। यदि दूसरे ही क्षण अन्य रागादिभावोंका निमित्त मिलता है, तो प्रथमबद्ध पुद्गलोंमें और भी काले पुद्गलोंका संयोग तीव्रतासे होता जाता है। इस तरह जीवनके अन्तमें कर्मोंका बन्ध, निर्जरा, अपकर्षण (घटती), उत्कर्षण (बढ़ती), संक्रमण (एक दूसरेके रूपमें बदलना) आदि होते-होते जो रोकड़ बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्म-शरीरके रूपमें परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्निपर उबलती हुई बटलोईमें दाल, चावल, शाक आदि जो भी डाला जाता है उसकी ऊपर-नीचे अगल-बगलमें उफान लेकर अन्तमें एक खिचड़ी-सी बन जाती है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मोंमें, शुभभावोंसे शुभकर्मोंमें रस-प्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभ कर्मोंमें रसहीनता और स्थितिच्छेद हो जाता है। अन्तमें एक पाकयोग्य स्कन्ध बच रहता है, जिसके क्रमिक उदयसे रागादि भाव और सुखादि उत्पन्न होते हैं।

अथवा जैसे पेटमें जठराग्निसे आहारका मल, मूत्र, स्वेद आदिके रूपसे कुछ भाग बाहर निकल जाता है, कुछ वहीं हजम होकर रक्तादि रूपसे परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादिरूप बन जाता है। बीचमें चूरण-चटनी आदिके संयोगसे उसकी लघुपाक, दीर्घपाक आदि अवस्थाएँ भी होती हैं, पर अन्तमें होनेवाले परिपाकके अनुसार ही भोजनको सुपच या दुष्पच कहा जाता है उसी तरह कर्मका भी प्रतिसमय होनेवाले अच्छे और बुरे भावोंके अनुसार तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मध्यम, मृदुतर और मृदुतम आदि रूपसे परिवर्तन बराबर होता रहता है और अन्तमें जो स्थिति होती है, उसके अनुसार उन कर्मोंको शुभ या अशुभ कहा जाता है।

यह भौतिक जगत् पुद्गल और आत्मा दोनोंसे प्रभावित होता है। जब कर्मका एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्तिका स्रोत है, आत्मासे सम्बद्ध होता है, तो उसकी सूक्ष्म और तीव्रशक्तिके अनुसार बाह्य

पदार्थ भी प्रभावित होते हैं और प्राप्तसामग्रीके अनुसार उस संचित कर्मका तीव्र, मन्द और मध्यम आदि फल मिलता है। इस तरह यह कर्मचक्र अनादिकालसे चल रहा है और तब तक चालू रहेगा जब तक कि बन्धकारक मूलरागादिवासनाओंका नाश नहीं कर दिया जाता।

बाह्य पदार्थोंके—नोकर्मोंके समवधानके अनुसार कर्मोंका यथासम्भव प्रदेशोदय या फलोदय रूपसे परिपाक होता रहता है। उदयकालमे होनेवाले तीव्र, मध्यम और मन्द शुभाशुभ भावोके अनुसार आगे उदयमें आनेवाले कर्मोंके रसदानमे भी अन्तर पड जाता है। तात्पर्य यह कि कर्मोंका फल देना, अन्य रूपमें देना या न देना, बहुत कुछ हमारे पुरुषार्थके ऊपर निर्भर करता है।

इस तरह जैन दर्शनमें यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध माना गया है और प्रयोगसे यह शुद्ध हो सकता है। एक बार शुद्ध होनेके बाद फिर अशुद्ध होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। आत्माके प्रदेशोमे सकोच और विस्तार भी कर्मके निमित्तसे ही होता है। अत कर्मनिमित्तके छूट जानेपर आत्मा अपने अन्तिम आकारमे रह जाता है और ऊर्ध्वलोकके अग्र भागमे स्थिर हो अपने चैतन्यमे प्रतिष्ठित हो जाता है।

अत भ० महावीरने बन्ध-मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोके सिवाय उस आत्माका ज्ञान भी आवश्यक बताया जिसे शुद्ध होना है और जो वर्तमानमे अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी अशुद्ध दशा स्वरूप-प्रच्युतिरूप है। चूँकि यह दशा स्वस्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमे ममकार और अहङ्कार करनेके कारण हुई है, अत. इस अशुद्ध दशाका अन्त भी स्वरूपके ज्ञानसे ही हो सकता है। इस आत्माको यह तत्त्वज्ञान होता है कि मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्य, वीतराग, निर्मोह, निष्कषाय, शान्त, निश्चल, अप्रमत्त और ज्ञानरूप है। इस स्वरूपको भुलाकर परपदार्थोंमे ममकार और शरीरको अपना माननेके कारण, राग, द्वेष, मोह, कषाय, प्रमाद और मिथ्यात्व आदि विकाररूप मेरी दशा हो गयी है। इन कषायोको ज्वालासे मेरा स्वरूप समल और योगके कारण चञ्चल हो गया है। यदि परपदार्थोंसे ममकार और रागादि भावोसे अहङ्कार छूट जाय तथा आत्मपरविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा और ये रागादि वासनाएँ अपने आप क्षीण हो जाँयगी। इस तत्त्वज्ञानसे आत्मा विकारोको क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप हो जाता है। इसी शुद्धिको मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जब तक शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध न हो, तब तक कैसे हो सकता है?

आत्मदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि

बुद्धके तत्त्वज्ञानका प्रारम्भ दुःखसे होता है और उसकी समाप्ति होती है दुःखनिवृत्तिमें। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियोका नित्य आत्मा और नित्य आत्मामे स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थोंमें परबुद्धि होने लगती है। स्वपर विभागसे राग-द्वेषसे यह ससार बन जाता है। अत समस्त अनर्थोंकी जड़ आत्मदृष्टि है। वे इस ओर ध्यान नही देते कि आत्माकी नित्यता और अनित्यता राग और विरागका कारण नही है। राग और विराग तो स्वरूपके अज्ञान और स्वरूपके सम्यग्ज्ञानसे होते है। रागका कारण है परपदार्थोंमे ममकार करना। जब इस आत्माको समझाया जाता है कि मूर्ख तेरा स्वरूप तो निर्विकार, अखण्ड चैतन्य है, तेरा इन स्त्री-पुत्रादि तथा शरीरमें ममत्व करना विभाव है, स्वभाव नही, तब यह सहज ही अपने निर्विकार स्वभावकी ओर दृष्टि डालने लगता है और इसी विवेकदृष्टि या सम्यग्दर्शनसे परपदार्थोंसे रागद्वेष छूट कर स्वरूपमें लीन होने लगता है। इसीके कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होने लगता है। इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्त द्रव्यमय लोकमें मैं एक आत्मा हूँ, मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गलद्रव्योंसे कोई सम्बन्ध नही है। मैं अपने चैतन्यका स्वामी हूँ। मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त *पुद्गलपरमाणुओंका एक पिण्ड है। इसका मैं स्वामी नही हूँ। यह सब पर द्रव्य हैं। परपदार्थोंमे इष्टानिष्ट* बुद्धि करना ही ससार है। आजतक मैंने परपदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन करानेकी अनधिकार चेष्टा

ही की है। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की है कि संसारके अधिक-से-अधिक पदार्थ मेरे अधीन हो, जैसा मैं चाहूँ, वैसा वे परिणमन करें। उनकी वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। तू तो केवल अपने परिणमनपर अर्थात् अपने विचारों और क्रियापर ही अधिकार रख सकता है। परपदार्थोंपर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है ? तेरी यह अनधिकार चेष्टा ही राग और द्वेषको उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि शरीर, स्त्री, पुत्र, परिजन आदि सब तेरे इशारेपर चलें। संसारके समस्त पदार्थ तेरे अधीन हो, तू त्रैलोक्यको अपने इशारेपर नचानेवाला एकमात्र ईश्वर बन जाय। यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह ससारके अधिकतम पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ चेतन भी यही दुर्वासना लिये हुए हैं और दूसरे द्रव्योको अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीना-झपटीमें संघर्ष होता है, हिंसा होती है, राग-द्वेष होते हैं और होता है अन्ततः दुःख ही दुःख।

सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे, इसे कहते हैं सुख और चाहे कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते है दुःख।' मनुष्यकी चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्टका सयोग रहे और अनिष्टका संयोग न हो। समस्त भौतिक जगत् और अन्य चेतन मेरे अनुकूल परिणति करते रहें, शरीर नीरोग हो, मृत्यु न हो, धनधान्य हो, प्रकृति अनुकूल रहे आदि न जाने कितने प्रकारकी चाह इस शेखचिल्ली मानवको होती रहती है। बुद्धने जिस दुःखको सर्वानुभूत बताया है, वह सब अभावकृत ही तो है। महावीरने इस तृष्णाका कारण बताया है 'स्वरूपकी मर्यादाका अज्ञान', यदि मनुष्यको यह पता हो कि—'जिनकी मैं चाह करता हूँ, और जिनकी तृष्णा करता हूँ, वे पदार्थ मेरे नही है, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ' तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी। साराश यह कि दुःखका कारण तृष्णा है, और तृष्णाकी उद्भूति स्वाधिकार एवं स्वरूपके अज्ञान या मिथ्याज्ञानके कारण होती है, परपदार्थोंको अपना माननेके कारण होती है। अतः उसका उच्छेद भी स्वस्वरूपके सम्यग्ज्ञान यानी स्वपरविवेकसे ही हो सकता है। इस मानवने अपने स्वरूप और अधिकारकी सीमाको न जानकर सदा मिथ्याज्ञान किया है और पर-पदार्थोंके निमित्तसे जगत्मे अनेक कल्पित ऊँच-नीच भावोकी सृष्टि कर मिथ्या अहकारका पोषण किया है। शरीराश्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णोंको लेकर ऊँच-नीच व्यवहारकी भेदक भित्ति खड़ी कर, मानवको मानवसे इतना जुदा कर दिया, जो एक उच्चाभिमानी मासपिण्ड दूसरेकी छायासे या दूसरेको छूनेसे अपनेको अपवित्र मानने लगा। बाह्य परपदार्थोंके सग्रही और परिग्रहीको महत्त्व देकर इसने तृष्णाकी पूजा की। जगत्मे जितने सघर्ष और हिंसाएँ हुई है वे सब परपदार्थोंको छीना-झपटीके कारण हुई हैं। अतः जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक स्वरूपको तथा तृष्णाके मूल कारण 'परमे आत्मबुद्धि'को नही समझ लेता तब तक दुःख-निवृत्तिकी समुचित भूमिका ही तैयार नही हो सकती।

बुद्धने सक्षेपमे पाँच स्कन्धोंको दुःख कहा है। पर महावीरने उसके भीतरी तत्त्वज्ञानको भी बताया। चूंकि ये स्कन्ध आत्मस्वरूप नही हैं, अतः इनका संसर्ग ही अनेक रागादिभावोका सर्जक है और दुःखस्वरूप है। निराकुल सुखका उपाय आत्ममात्रनिष्ठा और परपदार्थोंसे ममत्वका हटाना ही है। इसके लिए आत्माकी यथार्थदृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शनका यह रूप परपदार्थोंमें द्वेष करना नही सिखाता, किन्तु यह बताता है कि इनमें जो तुम्हारी यह तृष्णा फैल रही है, वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा मात्र अपने विचार अपने व्यवहारपर ही है। अतः आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हुए बिना दुःखनिवृत्ति या मुक्तिकी सम्भावना ही नही की जा सकती है।

नैरात्म्यवादकी असारता

अत आ० धर्मकीर्तिकी यह आशका भी निर्मूल है कि—

"आत्मनि सति परसज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयो सप्रतिबद्धाः सर्वे दोषा प्रजायन्ते ॥"

—प्रमाणवा० १।२२१

अर्थात्—आत्माको 'स्व' माननेमे दूसरोको 'पर' मानना होगा । स्व और पर विभाग होते ही स्वका परिग्रह और परसे द्वेष होगा । परिग्रह और द्वेष होनेसे रागद्वेषमूलक सैकडो अन्य दोष उत्पन्न होते है ।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्माको स्व माननेसे आत्मेतरकोपर मानेगा । पर स्वपर-विभागसे परिग्रह और द्वेष कैसे होगे ? आत्मस्वरूपका परिग्रह कैसा ? परिग्रह तो शरीर आदि परपदार्थोका और उसके सुखसाधनोका होता है, जिन्हे आत्मदर्शी व्यक्ति छोडेगा ही, ग्रहण नही करेगा । उसे तो जैसे स्त्री आदि सुख-साधन 'पर' है वैसे शरीर भी । राग और द्वेष भी शरीरादिके सुख-साधनो और असाधनोमे होते है, सो आत्मदर्शीको क्यो होगे ? उलटे आत्मद्रष्टा शरीरादिनिमित्तक रागद्वेष आदि द्वन्द्वोके त्यागका ही स्थिर प्रयत्न करेगा । हाँ, जिसने शरीरस्कन्धको ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्मदर्शनसे शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीरके इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थोमे परिग्रह और द्वेष हो सकते है, किन्तु जो शरीरको भी 'पर' ही मान रहा है तथा दु खका कारण समझ रहा है वह क्यो उसमे तथा उसके इष्टानिष्ट साधनोमे रागद्वेष करेगा ? अत शरीरादिसे भिन्न आत्मस्वरूपका परिज्ञान ही रागद्वेषकी जडको काट सकता है और वीतरागताको प्राप्त करा सकता है । अत धर्मकीर्तिका आत्मदर्शनकी बुराइयोका यह वर्णन भी नितान्त भ्रमपूर्ण है—

"यः पश्यत्यात्मान तत्रास्याहमिति शाश्वत स्नेह ।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषास्तिरस्कुरुते ॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स ससारे ॥"

—प्रमाणवार्तिक १।२१९-२०

अर्थात्—जो आत्माको देखता है, उसे यह मेरा आत्मा है ऐसा नित्य स्नेह होता है । स्नेहसे आत्म-सुखमे तृष्णा होती है । तृष्णासे आत्माके अन्य दोषोपर दृष्टि नही जाती, गुण-ही-गुण दिखाई देते है । आत्म-सुखमे गुण देखनेसे उसके साधनोमे ममकार उत्पन्न होता है, उन्हे वह ग्रहण करता है । इस तरह जब तक आत्माका अभिनिवेश है तब तक ससार ही है ।

क्योकि आत्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूपको उपादेय समझता है वहाँ यह भी समझता है कि शरीरादि परपदार्थ आत्माके हितकारक नही है । इनमें रागद्वेष करना ही आत्माको बधमे डालनेवाला है । आत्माके स्वरूपभूत सुखके लिए किसी अन्य साधनके ग्रहणकी आवश्यकता नही है किन्तु जिन शरीरादि पर-पदार्थोमे मिथ्याबुद्धि कर रखी है । उस मिथ्याबुद्धिका ही छोडना और आत्मगुणका दर्शन, आत्ममात्रमें लीनता-का कारण होगा न कि बन्धनकारक परपदार्थोके ग्रहणका । शरीरादि परपदार्थोमें होनेवाला आत्माभिनिवेश अवश्य रागादिका सर्जक होता है, किन्तु शरीरादिसे भिन्न आत्म-तत्त्वका दर्शन शरीरादिमें रागादि क्यों उत्पन्न करेगा ?

पञ्चस्कन्ध रूप आत्मा नही

यह तो धर्मकीर्ति तथा उनके अनुयायियोका आत्मतत्त्वके अव्याकृत होनेका कारण दृष्टिव्यामोह ही है, जो वे उसका मात्र शरीरस्कन्ध ही स्वरूप मान रहे है और आत्मदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कह रहे है । एक

ओर वे पृथिव्यादि महाभूतोंसे आत्माकी उत्पत्तिका खण्डन भी करते हैं और दूसरी ओर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंसे भिन्न किसी आत्माको मानना भी नहीं चाहते। इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर, रूपस्कन्धको चेतन कहना चार्वाकके भूतात्मवादसे कोई विशेषता नहीं रखता है। जब बुद्ध स्वयं आत्माको अव्याकृत कोटिमें डाल गए हैं तो उनके शिष्योंका दार्शनिक क्षेत्रमें भी आत्माके विषयमें परस्परविरोधी दो विचारोंमें दोलित रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आज महापंडित राहुल सांकृत्यायन बुद्धके इन विचारोंको 'अभौतिक अनात्मवाद' जैसे उभय प्रतिषेधक' नामसे पुकारते हैं। वे यह नहीं बता सकते कि आखिर आत्माका स्वरूप है क्या? क्या वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध भी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत् हैं? क्या आत्माकी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत्ता है? और यदि निर्वाणमें चित्तसन्तति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाकके एक जन्म तक सीमित देहात्मवादसे इस अनेकजन्म-सीमित पर निर्वाणमें विनष्ट होनेवाले अभौतिक अनात्मवादमें क्या मौलिक विशेषता रह जाती है? अन्तमें तो उसका निरोध हो ही जाता है।

महावीर इस अमंगतिके जालमें न तो स्वयं पड़े और न शिष्योंको ही उनने इसमें डाला। यही कारण है जो उन्होंने आत्माका समग्रभावमें निरूपण किया है और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि धर्मका लक्षण है स्वभावमें स्थिर होना। आत्माका अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होना ही धर्म है और इसकी निर्मल और निश्चल शुद्ध परिणति ही मोक्ष है। यह मोक्ष आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके बिना हो ही नहीं सकता। परतन्त्रताके बन्धनको तोड़ना स्वातन्त्र्य सुखके लिए होता है। कोई वैद्य रोगीसे यह कहे कि 'तुम्हें इससे क्या मतलब कि आगे क्या होगा, दवा खाये जाओ; तो रोगी तत्काल वैद्य पर विश्वास करके दवा भले ही खाता जाय, परन्तु आयुर्वेदकी कक्षामें विद्यार्थियोंकी जिज्ञासाका समाधान इतने मात्रसे नहीं किया जा सकता। रोगकी पहचान भी स्वास्थ्यके स्वरूपको जाने बिना नहीं हो सकती। जिन जन्मरोगियोंको स्वास्थ्यके स्वरूपकी झाँकी ही नहीं मिली वे तो उस रोगको रोग ही नहीं मानते और न उसकी निवृत्तिकी चेष्टा ही करते हैं। अतः हर तरह मुमुक्षुके लिए आत्मतत्त्वका समग्र ज्ञान आवश्यक है।

आत्माके तीन प्रकार

आत्मा तीन प्रकारके है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर आदि परपदार्थोंको अपना रूप मानकर उनकी ही प्रियभोगसामग्रीमें आसक्त हैं वे बहिर्मुख जीव बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्वपर-विवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिनकी शरीर आदि बाह्यपदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गई है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जो समस्त कर्ममल-कलंकोंसे रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमें मग्न हैं वे परमात्मा हैं। यही संसारी आत्मा अपने स्वरूपका यथार्थ परिज्ञानकर अन्तर्दृष्टि हो क्रमशः परमात्मा बन जाता है। अतः आत्मधर्मकी प्राप्ति या बन्धन-मुक्तिके लिये आत्मतत्त्वका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

चारित्रका आधार

चारित्र अर्थात् अहिंसाकी साधनाका मुख्य आधार जीवतत्त्वके स्वरूप और उसके समान अधिकारकी मर्यादाका तत्त्वज्ञान ही बन सकता है। जब हम यह जानते और मानते हैं कि जगत्‌में वर्तमान सभी आत्माएँ अखंड और मूलतः एक-एक स्वतन्त्र समानशक्ति वाले द्रव्य हैं। जिस प्रकार हमें अपनी हिंसा रुचिकर नहीं है, हम उससे विकल होते हैं और अपने जीवनको प्रिय समझते हैं, सुख चाहते हैं, दुःखसे घबड़ाते हैं उसी तरह अन्य आत्माएँ भी यही चाहती हैं। यही हमारी आत्मा अनादिकालसे सूक्ष्म निगोद, वृक्ष, वनस्पति,

कीड़ा, मकोड़ा, पशु, पक्षी आदि अनेक शरीरोको धारण करती है और न जाने इसे कौन-कौन शरीर धारण करना पड़ेंगे। मनुष्योमे जिन्हें हम नीच, अछूत आदि कहकर दुरदुराते हैं और अपनी स्वार्थपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं और बन्धनोसे उन समानाधिकारी मनुष्योके अधिकारोंका निर्दलन करके उनके विकासको रोकते हैं, उन नीच और अछूतोमे भी हम उत्पन्न हुए होगे। आज मनमें दूसरोंके प्रति उन्ही कुत्सित भावोको जाग्रत करके उस परिस्थितिका निर्माण अवश्य ही कर रहे हैं जिससे हमारी उन्हीमे उत्पन्न होनेकी अधिक सम्भावना है। उन सूक्ष्म निगोदसे लेकर मनुष्यों तकके हमारे सीधे सम्पर्कमें आनेवाले प्राणियोके मूलभूत स्वरूप और अधिकारको समझे बिना हम उनपर करुणा, दया आदिके भाव ही नहीं ला सकते, और न समानाधिकारमूलक परम अहिंसाके भाव ही जाग्रत कर सकते हैं। चित्तमें जब उन समस्त प्राणियोमे आत्मौपम्यकी पुण्य भावना लहर मारती है तभी हमारा प्रत्येक उच्छ्वास उनकी मंगलकामनासे भरा हुआ निकलता है और इस पवित्र धर्मको नही समझनेवाले संघर्षशील हिंसकोंके शोषण और निर्दलनमे पिसती हुई आत्माके उद्धारकी छटपटाहट उत्पन्न हो सकती है। इस तत्त्वज्ञानकी सुवाससे ही हमारी परिणति परपदार्थोंके संग्रह और परिग्रहकी दुष्प्रवृत्तिसे हटकर लोककल्याण और जीवसेवा की ओर झुकती है। अत अहिंसाकी सर्वभूतमैत्रीकी उत्कृष्ट साधनाके लिए सर्वभूतोके स्वरूप और अधिकारका ज्ञान तो पहले चाहिये ही। न केवल ज्ञान ही, किन्तु चाहिये उसके प्रति दृढ़ निष्ठा।

इसी सर्वात्मसमत्वकी मूलज्योति महावीर बननेवाले क्षत्रिय राजकुमार वर्धमानके मनमे जगी थी और तभी वे प्राप्तराजविभूतिको बन्धन मानकर बाहर भीतरकी सभी गाँठे खोलकर परमनिर्ग्रन्थ बने और जगत्में मानवताको वर्णभेदकी चक्कीमे पीसनेवाले तथोक्त उच्चाभिमानियोको झकझोरकर एक बार रुककर सोचनेका शीतल वातावरण उपस्थित कर सके। उनने अपने त्याग और तपस्याके साधक जीवनसे महत्ताका मापदण्ड ही बदल दिया और उन समस्त त्रासित, शोषित, अभिद्रावित और पीड़ित मनुष्यतनधारियोको आत्मवत् समझ धर्मके क्षेत्रमे समानरूपसे अवसर देनेवाले समवसरणकी रचना की। तात्पर्य यह कि अहिंसाकी विविध प्रकारकी साधनाओके लिए आत्माके स्वरूप और उसके मूल अधिकार-मर्यादाका ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि परपदार्थोंसे विवेक प्राप्त करनेके लिए 'पर' पुद्गलका ज्ञान। बिना इन दोनोंका वास्तविक ज्ञान हुए सम्यग्दर्शनकी वह अमरज्योति नही जल सकती, जिसके प्रकाशमे मानवता मुसकुराती है और सर्वात्मसमताका उदय होता है।

इस आत्मसमानाधिकारका ज्ञान और उसको जीवनमे उतारनेकी दृढनिष्ठा ही सर्वोदयकी भूमिका हो सकती है। अत वैयक्तिक दुःखकी निवृत्ति तथा जगत्मे शान्ति स्थापित करनेके लिए जिन व्यक्तियोंसे यह जगत् बना है उन व्यक्तियोके स्वरूप और अधिकारकी सीमाको हमे समझना ही होगा। हम उसकी तरफसे आँख मूँदकर तात्कालिक करुणा या दयाके आँसू बहा भी लें, पर उसका स्थायी इलाज नहीं कर सकते। अतः भगवान् महावीरने बन्धनमुक्तिके लिये जो 'बँधा है तथा जिससे बँधा है' इन दोनो तत्त्वोंका परिज्ञान आवश्यक बताया। बिना इसके बन्धपरम्पराके समूलोच्छेद करनेका सङ्कल्प ही नहीं हो सकता और चारित्रके प्रति उत्साह ही हो सकता है। चारित्रकी प्रेरणा तो विचारोसे ही मिलती है।

२. अजीवतत्त्व

जिस प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जिस अजीवके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होता है, उसमे विभावपरिणति होती है उस अजीवतत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है। जब तक हम इस अजीवतत्त्वको नही जानेंगे तब तक 'किन दोमे बन्ध हुआ है' यह मूल बात ही अज्ञात रह जाती है। अजीव-तत्त्वमे धर्म, अधर्म, आकाश और कालका भले ही सामान्यज्ञान हो; क्योंकि इनसे आत्माका कोई भला बुरा

नहीं होता, परन्तु पुद्गल द्रव्यका किंचित् विशेषज्ञान अपेक्षित है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्‌वास और वचन आदि सब पुद्गलका ही है। जिसमें शरीर तो चेतनके संसर्गसे चेतनायमान हो रहा है। जगत्‌में रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्गलिक है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि सभी पौद्गलिक हैं। इनमें किसीमे कोई गुण प्रकट रहता है और कोई अनुद्‌भूत। यद्यपि अग्निमे रस, वायुमे रूप और जलमे गन्ध अनुद्‌भूत है फिर भी ये सब पुद्गलजातीय ही पदार्थ हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार, सर्दी, गर्मी सभी पुद्गल स्कन्धोंकी अवस्थाएँ हैं। मुमुक्षुके लिए शरीरकी पौद्गलिकताका ज्ञान तो इसलिए अत्यन्त जरूरी है कि उसके जीवनकी आसक्तिका मुख्य केन्द्र वही है। यद्यपि आज आत्माका ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है, शरीरके पुर्जोंके बिगडते ही वर्तमान ज्ञान-विकास रुक जाता है और शरीरके नाश होनेपर वर्तमान शक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, फिर भी आत्माका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व तेल-बत्तीसे भिन्न ज्योतिकी तरह है ही। शरीरका अणु-अणु जिसकी शक्तिसे संचालित और चेतनायमान हो रहा है वह अन्त-ज्योति दूसरी ही है। यह आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मणशरीरके अनुसार वर्तमान स्थूल शरीरके नष्ट हो जानेपर दूसरे स्थूल शरीरको धारण करता है। आज तो आत्माके सात्त्विक, राजस और तामस सभी प्रकारके विचार और संस्कार कार्मणशरीर और प्राप्त स्थूल शरीरके अनुसार ही विकसित हो रहे है। अतः मुमुक्षु के लिए इस शरीर—पुद्गलकी प्रकृतिका परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वह इसका उपयोग आत्माके विकासमें कर सके, ह्रासमे नहो। यदि आहार-विहार उत्तेजक होता है तो कितना हो पवित्र विचार करनेका प्रयास किया जाय, पर सफलता नही मिल सकती। इसलिये बुरे संस्कार और विचारोका शमन करनेके लिए या क्षीण करनेके लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान करना हो होगा। जिन परपदार्थोंसे आत्माको विरक्त होना है और जिन्हें 'पर' समझकर उनकी छीना-झपटीकी द्वन्द्वदशासे ऊपर उठना है और उनके परिग्रह और संग्रहमे ही जीवनका बहुभाग नही नष्ट करना है तो उस परको 'पर' समझना ही होगा।

३. बन्धतत्त्व

दो पदार्थोंके विशिष्ट सम्बन्धको बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकारका है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष और मोह आदि विकारी भावोंसे कर्मका बन्धन होता है उन भावोंको भावबन्ध कहते हैं। कर्मपुद्गलोंका आत्मप्रदेशोसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध है। यह तो निश्चित है कि दो द्रव्योंका संयोग ही हो सकता है, तादात्म्य अर्थात् एकत्व नही। दो मिलकर एक देखें, पर, एककी सत्ता मिटकर एक शेष नही रह सकता। जब पुद्गलाणु परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हैं तो भी वे एक विशेष प्रकारके संयोगको ही प्राप्त करते हैं। उनमें स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है, जिसमें उस स्कन्धके अन्तर्गत सभी परमाणुओंकी पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थितिमें आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सबकी एक जैसी पर्याय होती रहती है। स्कन्ध अपनेमें कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है किन्तु वह अमुक परमाणुओंकी विशेष अवस्था ही है और अपने आधारभूत परमाणुओंके अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलोंके बन्धमे यही रासायनिकता है कि उस अवस्थामे उनका स्वतंत्र विलक्षण परिणमन नही होकर प्रायः एक जैसा परिणमन होता है परन्तु आत्मा और कर्म-पुद्गलोंका ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नही सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्धके आ जानेसे आत्माके परिणमनमे विलक्षणता आ जाती है और आत्माके निमित्तसे कर्मस्कन्धकी परिणति विलक्षण हो जाती है; पर इतने मात्रसे इन दोनोंके सम्बन्धको रासायनिकमिश्रण संज्ञा नही दी जा सकती; क्योंकि जीव और कर्मके

बन्धमें दोनोंकी एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीवकी पर्याय चेतनरूप होती है और पुद्गलकी अचेतनरूप। पुद्गलका परिणमन रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिरूपसे होता है और जीव चैतन्यके विकासरूपसे।

चार बन्ध

यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलोंका पुराने बँधे हुए कर्मशरीरके साथ रासायनिक मिश्रण हो जाय और वह नूतन कर्म उस पुराने कर्मपुद्गलके साथ बँधकर उसी स्कन्धमें शामिल हो जाय और होता भी यही है। पुराने कर्मशरीरसे प्रतिक्षण अमुक परमाणु खिरते हैं और उसमें कुछ दूसरे नये शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशोंसे उनका बन्ध रासायनिक हर्गिज नहीं है। वह तो मात्र संयोग है। यही प्रदेशबन्ध कहलाता है। प्रदेशबन्धकी व्याख्या तत्त्वार्थसूत्र (८।२४) में इस प्रकारकी है—"नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।" अर्थात् योगके कारण समस्त आत्मप्रदेशोंपर सभी ओरसे सूक्ष्म कर्मपुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं—जिस क्षेत्रमें आत्मप्रदेश हैं उसी क्षेत्रमें वे पुद्गल ठहर जाते हैं। इसीका नाम प्रदेशबन्ध है और द्रव्यबन्ध भी यही है। अतः आत्मा और कर्मशरीरका एकक्षेत्रावगाहके सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नहीं हो सकता। रासायनिक मिश्रण यदि होता है तो प्राचीन कर्मपुद्गलोंसे ही नवीन कर्मपुद्गलोंका, आत्मप्रदेशोंसे नहीं।

जीवके रागादिभावोंसे जो योग अर्थात् आत्मप्रदेशोंमें हलन-चलन होता है उससे कर्मके योग्य पुद्गल खिंचते हैं। वे स्थूल शरीरके भीतरसे भी खिंचते हैं और बाहरसे भी। इस योगसे उन कर्मवर्गणाओंमें प्रकृति अर्थात् स्वभाव पड़ता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसीके ज्ञानमें बाधा डालनेवाली क्रियासे खिंचे हैं तो उनमें ज्ञानके आवरण करनेका स्वभाव पड़ेगा और यदि रागादि कषायोंसे खिंचे हैं, तो चारित्रके नष्ट करनेका। तात्पर्य यह कि आए हुए कर्मपुद्गलोंको आत्मप्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही कर देना तथा उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावोंका पड़ जाना योगसे होता है। इन्हें प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कषायोंकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार उस कर्मपुद्गलमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति पड़ती है, यह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते हैं। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्तिको रागादि कषाय नहीं होती, अतः उनके योगके द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं वे द्वितीय समयमें झड़ जाते हैं। उनका स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। यह बन्धचक्र, जबतक राग, द्वेष, मोह और वासनाएँ आदि विभाव भाव हैं, तब तक बराबर चलता रहता है।

४. आस्रव-तत्त्व

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं। इन्हें आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्यका आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलोंमें कर्मत्वपर्यायका विकास होना भी द्रव्यास्रव कहा जाता है। आत्मप्रदेशों तक उनका आना भी द्रव्यास्रव है। यद्यपि इन्हीं मिथ्यात्व आदि भावोंको भावबन्ध कहा है, परन्तु प्रथमक्षणभावी ये भाव चूँकि कर्मोंको खींचनेकी साक्षात् कारणभूत योगक्रियामें निमित्त होते हैं अतः भावास्रव कहे जाते हैं और अग्रिमक्षणभावी भाव भावबन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र, मन्द और मध्यम होता है, तज्जन्य आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द अर्थात् योग क्रियासे कर्म भी वैसे ही आते हैं और आत्मप्रदेशोंसे बँधते हैं।

मिथ्यात्व

इन आस्रवोंमें मुख्य अनन्तकर्मबन्धक है मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूपको भूलकर शरीरादि परद्रव्यमें आत्मबुद्धि करता है। इसके समस्त विचार और क्रियाएँ शरीराश्रित व्यवहारोंमें

उलझी रहती हैं। लौकिक यश, लाभ आदिकी दृष्टिसे यह धर्मका आचरण करता है। इसे स्वपरविवेक नहीं रहता। पदार्थोंके स्वरूपमें भ्रान्ति बनी रहती है। तात्पर्य यह कि कल्याणमार्गमें इसकी सम्यक् श्रद्धा नहीं होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दो प्रकारका होता है। इन दोनों मिथ्यादृष्टियोंसे इसे तत्त्वरुचि जागृत नहीं होती। यह अनेक प्रकारकी देव, गुरु तथा लोकमूढ़ताओंको धर्म मानता है। अनेक प्रकारके ऊँच-नीच भेदोंकी सृष्टि करके मिथ्या अहंकारका पोषण करता है। जिस किसी देवको, जिस किसी भी वेषधारी गुरुको, जिस किसी भी शास्त्रको भय, आशा, स्नेह और लोभसे माननेको तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त होता है और न व्यवहार। थोड़ेसे प्रलोभनसे वह सभी अनर्थ करनेको प्रस्तुत हो जाता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीरके मदसे मत्त होता है और दूसरोंको तुच्छ समझ उनका तिरस्कार करता है। भय, स्वार्थ, घृणा, परनिन्दा आदि दुर्गुणोंका केन्द्र होता है। इसकी समस्त प्रवृत्तियोंके मूलमें एक ही कुटेव रहती है और वह है स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्वरूपका कोई श्रद्धान नहीं होता, अतः वह बाह्यपदार्थोंमें लुभाया रहता है। यही मिथ्यादृष्टि समस्त दोषोंकी जननी है, इसीसे अनन्त संसारका बन्ध होता है।

अविरति

सदाचार या चारित्र धारण करनेकी ओर रुचि या प्रवृत्ति नहीं होना अविरति है। मनुष्य कदाचित् चाहे भी, पर कषायोंका ऐसा तीव्र उदय होता है जिससे न तो वह सकलचारित्र धारण कर पाता है और न देशचारित्र ही।

क्रोधादि कषायोंके चार भेद चारित्रको रोकनेकी शक्तिकी अपेक्षासे भी होते हैं—

१ अनन्तानुबन्धी—अनन्त संसारका बन्ध करानेवाली, स्वरूपाचरणचारित्र न होने देनेवाली, पत्थरकी रेखाके समान कषाय। यह मिथ्यात्वके साथ रहती है।

२. अप्रत्याख्यानावरण—देशचारित्र अर्थात् श्रावकके अणुव्रतोंको रोकनेवाली, मिट्टीकी रेखाके समान कषाय।

३ प्रत्याख्यानावरण—सकलचारित्रको न होने देनेवाली, धूलिकी रेखाके समान कषाय।

४. संज्वलन कषाय—पूर्ण चारित्रमें किंचित् दोष उत्पन्न करनेवाली, जलरेखाके समान कषाय। इसके उदयसे यथाख्यातचारित्र नहीं हो पाता।

इस तरह इन्द्रियोंके विषयोंमें तथा प्राणिविषयक असंयममें निरर्गल प्रवृत्ति होनेसे कर्मोंका आस्रव होता है।

प्रमाद

असावधानीको प्रमाद कहते हैं। कुशल कर्मोंमें अनादर होना प्रमाद है। पाँचों इन्द्रियोंके विषयमें लीन होनेके कारण; राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा आदि विकथाओंमें रस लेनेके कारण; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे कलुषित होनेके कारण; तथा निद्रा और प्रणयमें मग्न होनेके कारण कुशल कर्तव्य मार्गमें अनादरका भाव उत्पन्न होता है। इस असावधानीसे कुशलकर्मके प्रति अनास्था तो होती ही है साथ-ही-साथ हिंसाकी भूमिका भी तैयार होने लगती है। हिंसाके मुख्य हेतुओंमें प्रमादका प्रमुख स्थान है। दूसरे प्राणीका घात हो या न हो, प्रमादी व्यक्तिको हिंसाका दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधकके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक ही है। अतः प्रमाद हिंसाका मुख्य द्वार है। इसीलिए भगवान् महावीरने बार-बार गौतम गणधरको चेताया था कि "समयं गोयम मा पमायए" अर्थात् गौतम, क्षणभर भी प्रमाद न कर।

आत्माका स्वरूप स्वभावत: शान्त और निर्विकारी है। पर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें उसे कस देती हैं और स्वरूपसे च्युत कर देती हैं। ये चारों आत्माकी विभाव दशाएँ हैं। क्रोध कषाय द्वेषरूप है। यह द्वेषका कारण और द्वेषका कार्य है। मान यदि क्रोधको उत्पन्न करता है तो द्वेषरूप है। लोभ रागरूप है। माया यदि लोभको जागृत करती है तो रागरूप है। तात्पर्य यह कि राग, द्वेष और मोहकी दोष-त्रिपुटीमें कषायका भाग ही मुख्य है। मोहरूपी मिथ्यात्वके दूर हो जानेपर सम्यग्दृष्टिको राग और द्वेष बने रहते हैं। इनमे लोभ कषाय तो पद, प्रतिष्ठा, यशकी लिप्सा और संघवृद्धि आदिके रूपमें बड़े-बड़े मुनियोंको भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती। यह राग-द्वेषरूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थोंका मूल है। यही प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र, गीता और पाली पिटकोमें भी इस द्वन्द्वको पापका मूल बताया है। जैनागमोंका प्रत्येक वाक्य कषाय-शमनका ही उपदेश देता है। जैन उपासनाका आदर्श परम निर्ग्रन्थ दशा है। यही कारण है कि जैन मूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनताकी प्रतीक होती हैं। न उनमें द्वेषका साधन आयुध है और न रागका आधार स्त्री आदिका साहचर्य ही। वे सर्वथा निर्विकार होकर परमवीतरागता और अकिञ्चनताका पावन संदेश देती हैं।

इन कषायोंके सिवाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नव नोकषायें हैं। इनके कारण भी आत्मामें विकारपरिणति उत्पन्न होती है। अत: ये भी आस्रव हैं।

योग

मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे 'योग' कहते हैं। योगकी साधारण प्रसिद्धि योगभाष्य आदिमें यद्यपि चित्तवृत्तिके निरोधरूप ध्यानके अर्थमें है, परन्तु जैन परम्परामें चूँकि मन, वचन और कायसे होनेवाली क्रिया कर्मपरमाणुओंसे आत्माका योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है, इसलिए इसे ही योग कहते हैं और इसके निरोधको ध्यान कहते हैं। आत्मा सक्रिय है, उसके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है। मन, वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्तके बराबर होती है। परममुक्तिसे कुछ समय पहले अयोगकेवली अवस्थामें मन, वचन और कायकी क्रियाका निरोध होता है, और तब आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्थामें आत्माके पूर्ण शुद्ध रूपका आविर्भाव होता है। न तो उसमें कर्मजन्य मलिनता ही रहती है और न योगकी चंचलता ही। सच पूछा जाय तो योग ही आस्रव है। इसीके द्वारा कर्मोंका आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्मका आस्रव कराता है और अशुभयोग पापकर्मका। सबका शुभ चिन्तन यानी अहिंसक विचारधारा शुभ मनोयोग है। हित, मित, प्रिय वचन बोलना शुभ वचनयोग है और परको बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभ-काय होता है। और इनसे विपरीत चिन्तन, वचन तथा काय-प्रवृत्ति अशुभ मन-वचन-काययोग है।

दो आस्रव

सामान्यतया आस्रव दो प्रकारका होता है। एक तो कषायानुरंजित योगसे होनेवाला साम्परायिक आस्रव—जो बन्धका हेतु होकर संसारकी वृद्धि करता है। दूसरा मात्र योगके होनेवाला ईर्यापथ आस्रव—जो कषायका चेंप न होनेके कारण आगे बन्धन नहीं कराता। यह आस्रव जीवन्मुक्त महात्माओंके जब तक शरीरका सम्बन्ध है, तब तक होता है। इस तरह योग और कषाय, दूसरेके ज्ञानमें बाधा पहुँचाना, दूसरेको

कष्ट पहुँचाना, दूसरेकी निन्दा करना आदि जिस-जिस प्रकारके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि क्रियाओंमें संलग्न होते हैं, उस-उस प्रकारसे उन-उन कर्मोंका आस्रव और बन्ध कराते हैं। जो क्रिया प्रधान होती है उससे उस कर्मका बन्ध विशेष रूपसे होता है, शेष कर्मोंका गौण। परभवमें शरीरादिकी प्राप्तिके लिए आयु कर्मका आस्रव वर्तमान आयुके त्रिभागमें होता है। शेष सात कर्मोंका आस्रव प्रतिसमय होता रहता है।

५. मोक्षतत्त्व

बन्धन-मुक्तिको मोक्ष कहते हैं। बन्धके कारणोंका अभाव होनेपर तथा संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेसे समस्त कर्मोंका समूल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्माकी वैभाविकी शक्तिका संसार अवस्थामें विभाव परिणमन होता है। विभाव परिणमनके निमित्त हट जानेसे मोक्ष दशामें उसका स्वाभाविक परिणमन हो जाता है। जो आत्माके गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशामें आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान बन जाता है और अचारित्र चारित्र। इस दशामें आत्माका सारा नकशा ही बदल जाता है। जो आत्मा अनादिकालसे मिथ्यादर्शन आदि अशुद्धियों और कलुषताओंका पुञ्ज बना हुआ था, वही निर्मल, निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह निस्तरंग समुद्रकी तरह निर्विकल्प, निश्चल और निर्मल हो जाता है। न तो निर्वाण दशामें आत्माका अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है, तब उसके अभावकी या उसके गुणोंके उच्छेदकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रतिक्षण कितने ही परिवर्तन होते जायँ, पर विश्वके रंगमञ्चसे उसका समूल उच्छेद नहीं हो सकता।

दीपनिर्वाणकी तरह आत्मनिर्वाण नहीं होता

बुद्धसे जब प्रश्न किया गया कि 'मरनेके बाद तथागत होते हैं या नहीं ?' तो उन्होंने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्धके शिष्योंने निर्वाणके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ कीं। एक निर्वाण वह जिसमें चित्तसन्तति निरास्रव हो जाती है, यानी चित्तका मैल धुल जाता है। इसे 'सोपधिशेष' निर्वाण कहते हैं। दूसरा निर्वाण वह, जिसमें दीपकके समान चित्तसंतति भी बुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यह 'निरुपधिशेष' निर्वाण कहलाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पंच स्कन्धरूप आत्मा माननेका यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशामें उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि बुद्ध निर्वाण और आत्माके परलोकगामित्वका निर्णय बताये बिना ही मात्र दुःखनिवृत्तिके सर्वाङ्गीण औचित्यका समर्थन करते रहे।

यदि निर्वाणमें चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है, वह दीपककी लौ की तरह बुझ जाती है, तो बुद्ध उच्छेदवादके दोषसे कैसे बच सके ? आत्माके नास्तित्वसे इनकार तो वे इसी भयसे करते थे कि आत्माको नास्ति माना जाता है तो चार्वाककी तरह उच्छेदवादका प्रसंग आता है। निर्वाण अवस्थामें उच्छेद मानने और मरणके बाद उच्छेद माननेमें तात्त्विक दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। बल्कि चार्वाकका सहज उच्छेद सबको सुकर तथा अनायाससाध्य होनेसे सुग्राह्य होगा और बुद्धका निर्वाणोत्तर उच्छेद अनेक प्रकारके ब्रह्मचर्यवास और ध्यान आदिके कष्टसे साध्य होनेके कारण दुर्ग्राह्य होगा। जब चित्तसन्तति भौतिक नहीं है और उसकी संसार-कालमें प्रतिसंधि (परलोकगमन) होती है, तब निर्वाण अवस्थामें उसके समूलोच्छेदका कोई औचित्य समझमें नहीं आता। अतः मोक्ष अवस्थामें उस चित्तसंततिकी सत्ता मानना ही चाहिए, जो कि अनादिकालसे आस्रवमलोंसे मलिन हो रही थी और जिसे साधनाके द्वारा निरास्रव अवस्थामें पहुँचाया

गया है। तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृष्ठ १०४) में आचार्य कमलशीलने संसार और निर्वाणके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला यह प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात्—रागादि क्लेश और वासनामय चित्तको संसार कहते हैं और जब वही चित्त रागादि क्लेश और वासनाओंसे मुक्त हो जाता है, तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। इस श्लोकमें प्रतिपादित संसार और मोक्षका स्वरूप ही युक्तिसिद्ध और अनुभवगम्य है। चित्तकी रागादि अवस्था संसार है और उसीकी रागादिरहितता मोक्ष[1] है। अतः समस्त कर्मोंके क्षयसे होनेवाला स्वरूपलाभ ही मोक्ष[2] है। आत्माके अभाव या चैतन्यके उच्छेदको मोक्ष नहीं कह सकते। रोगकी निवृत्तिका नाम आरोग्य है, न कि रोगीकी निवृत्ति या समाप्ति। दूसरे शब्दोंमें स्वास्थ्यलाभको आरोग्य कहते हैं, न कि रोगके साथ-साथ रोगीकी मृत्यु या समाप्तिको।

निर्वाणमें ज्ञानादि गुणोंका सर्वथा उच्छेद नहीं होता

वैशेषिक बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेषगुणोंके उच्छेदको मोक्ष कहते हैं। इनका मानना है कि इन विशेष गुणोंकी उत्पत्ति आत्मा और मनके संयोगसे होती है। मनके संयोगके छूट जानेसे ये गुण मोक्ष अवस्थामें उत्पन्न नहीं होते और आत्मा उस दशामें निर्गुण हो जाता है। जहाँ तक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और सांसारिक दुःख-सुखका प्रश्न है, ये सब कर्मजन्य अवस्थायें हैं, अतः मुक्तिमें इनकी सत्ता नहीं रहती। पर बुद्धिका अर्थात् ज्ञानका, जो कि आत्माका निज गुण है, उच्छेद सर्वथा नहीं माना जा सकता। हाँ, संसार अवस्थामें जो खण्डज्ञान मन और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न होता था, वह अवश्य ही मोक्ष अवस्थामें नहीं रहता, पर जो इसका स्वरूपभूत चैतन्य है, जो इन्द्रिय और मनसे परे है, उसका उच्छेद किसी भी तरह नहीं हो सकता। आखिर निर्वाण अवस्थामें जब आत्माकी स्वरूपस्थिति वैशेषिकको स्वीकृत ही है तब यह स्वरूप यदि कोई हो सकता है तो वह उसका इन्द्रियातीत चैतन्य ही हो सकता है। संसार अवस्थामें यही चैतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदिके निमित्तसे नानाविध विषयाकार बुद्धियोंके रूपमें परिणति करता था। इन उपाधियोंके छूट जानेपर उसका स्वस्वरूपमग्न होना स्वाभाविक ही है। कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान तथा कर्मजन्य सुखदुःखादिका विनाश तो जैन भी मोक्ष अवस्थामें मानते हैं, पर उसके निज चैतन्यका विनाश तो स्वरूपोच्छेदक होनेसे कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मिलिन्द-प्रश्नके निर्वाण वर्णनका तात्पर्य

मिलिन्द-प्रश्नमें निर्वाणका जो वर्णन है उसके निम्नलिखित वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। "तृष्णाके निरोध हो जानेसे उपादानका निरोध हो जाता है, उपादानके निरोधसे भवका निरोध हो जाता है, भवका निरोध होनेसे जन्म लेना बन्द हो जाता है, पुनर्जन्मके बन्द होनेसे बूढ़ा होना, मरना, शोक, रोना,

---

१. 'मुक्तिर्निर्मलता धियः।'—तत्त्वसंग्रह पृष्ठ १८४

२. "आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥" —सिद्धिवि० पृ० ३८४

पीटना, दुःख, बेचैनी और परेशानी सभी दुःख रुक जाते हैं। महाराज, इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।" (पृ० ८५)

"निर्वाण न कर्मके कारण, न हेतुके कारण और न ऋतुके कारण उत्पन्न होता है।" (पृ० ३२९)

"हाँ महाराज, निर्वाण निर्गुण है, किसीने इसे बनाया नहीं है। निर्वाणके साथ उत्पन्न होने और न उत्पन्न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। उत्पन्न किया जा सकता है अथवा नहीं, इसका भी प्रश्न नहीं आता। निर्वाण वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालोंके परे है। निर्वाण न आँखसे देखा जा सकता है, न कानसे सुना जा सकता है, न नाकसे सूघा जा सकता है, न जीभसे चखा जा सकता है और न शरीरसे छुआ जा सकता है। निर्वाण मनसे जाना जा सकता है। अर्हत् पदको पाकर भिक्षु विशुद्ध, प्रणीत, ऋजु तथा आवरणों और सांसारिक कामोंसे रहित मनसे निर्वाणको देखता है।" (पृ० ३३२)

"निर्वाणमें सुख ही सुख है, दुःखका लेश भी नहीं रहता" (पृ० ३८६)

"महाराज, निर्वाणमें ऐसी कोई भी बात नहीं है, उपमाएँ दिखा, व्याख्या कर, तर्क और कारणके साथ निर्वाणके रूप, स्थान, काल या डीलडौल नहीं दिखाये जा सकते।" (पृ० ३८८)

"महाराज, जिस तरह कमल पानीसे सर्वथा अलिप्त रहता है उसी तरह निर्वाण सभी क्लेशोंसे अलिप्त रहता है। निर्वाण भी लोगोंकी कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णाकी प्यासको दूर कर देता है।" (पृ० ३९१)

"निर्वाण दवाकी तरह क्लेशरूपी विषको शान्त करता है, दुःखरूपी रोगोंका अन्त करता है और अमृतरूप है। वह महासमुद्रकी तरह अपरम्पार है। वह आकाशकी तरह न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है, न आवागमन करता है, दुर्जेय है, चोरोंसे नहीं चुराया जा सकता, किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहता, स्वच्छन्द खुला और अनन्त है। वह मणिरत्नकी तरह सारी इच्छाओंको पूरा कर देता है, मनोहर है, प्रकाशमान है और बड़े कामका होता है। वह लाल चन्दनकी तरह दुर्लभ, निराली गंधवाला और सज्जनों द्वारा प्रशंसित है। वह पहाड़की चोटीकी तरह अत्यन्त ही ऊँचा, अचल, अगम्य, राग-द्वेषरहित और क्लेश बीजोंके उपजनेके अयोग्य है। वह जगह न तो पूर्व दिशाकी ओर है, न पश्चिम दिशाकी ओर, न उत्तर दिशाकी ओर और न दक्षिण दिशाकी ओर, न ऊपर, न नीचे और न टेढे। जहाँ कि निर्वाण छिपा है। निर्वाणके पास जानेकी कोई जगह नहीं है, फिर भी निर्वाण है। सच्ची राह पर चल, मनको ठीक ओर लगा निर्वाणका साक्षात्कार किया जा सकता है।" (पृ० ३९२-४०३ तक हिन्दी अनुवाद का सार)

इन अवतरणोंसे यह मालूम होता है कि बुद्ध निर्वाणका कोई स्थान विशेष नहीं मानते थे और न किसी कालविशेषमें उत्पन्न या अनुत्पन्नकी चर्चा इसके सम्बन्धमें की जा सकती है। वैसे उसका जो स्वरूप "इन्द्रियातीत सुखमय, जन्म, जरा, मृत्यु आदिके क्लेशोंसे शून्य" इत्यादि शब्दोंके द्वारा वर्णित होता है, वह शून्य या अभावात्मक निर्वाणका न होकर सुखरूप निर्वाण का है।

निर्वाणको बुद्धने आकाशकी तरह असंस्कृत कहा है। असंस्कृतका अर्थ है जिसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न हों। जिसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति आदिका कोई विवेचन नहीं हो सकता हो, वह असंस्कृत पदार्थ है। माध्यमिक कारिकाकी संस्कृत-परीक्षामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको संस्कृतका लक्षण बताया है। सो यदि असंस्कृतता निर्वाणके स्थानके सम्बन्धमें है तो उचित ही है, क्योंकि यदि निर्वाण किसी स्थानविशेषपर है, तो वह जगत्‌की तरह सन्ततिकी दृष्टिसे अनादि अनन्त ही होगा; उसके उत्पाद-अनुत्पादकी चर्चा ही व्यर्थ है। किन्तु उसका स्वरूप जन्म, जरा, मृत्यु आदि समस्त क्लेशोंसे रहित सुखमय ही हो सकता है।

अश्वघोषने सौन्दरनन्दमे (१६ । २८, २९) निर्वाण प्राप्त आत्माके सम्बन्धमे जो यह लिखा है[1] कि तेलके चुक जानेपर दीपक जिस तरह न किसी दिशाको, न किसी विदिशाको, न आकाशको और न पृथ्वी को जाता है किन्तु केवल बुझ जाता है, उसी तरह कृती क्लेशोका क्षय होनेपर किसी दिशा-विदिशा, आकाश या पातालको नही जाकर शान्त हो जाता है। यह वर्णन निर्वाणके स्थानविशेषकी तरफ ही लगता है न कि स्वरूपकी तरफ। जिस तरह ससारी आत्माका नाम, रूप और आकारादि बताया जा सकता है, उस तरह निर्वाण अवस्थाको प्राप्त व्यक्तिका स्वरूप नही समझाया जा सकता।

वस्तुत बुद्धने आत्माके स्वरूपके प्रश्नको ही जब अव्याकृत करार दिया, तब उसकी अवस्थाविशेष—निर्वाणके सम्बन्धमे विवाद होना स्वाभाविक ही था। भगवान् महावीरने मोक्षके स्वरूप और स्थान दोनोके सम्बन्धमे सयुक्तिक विवचन किया है। समस्त कर्मोके विनाशके बाद आत्माके निर्मल और निश्चल चैतन्य-स्वरूपकी प्राप्ति ही मोक्ष है और मोक्ष अवस्थामे यह जीव समस्त स्थूल और सूक्ष्म शारीरिक बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होकर लोकके अग्रभागमे अन्तिम शरीरके आकार होकर ठहरता है। आगे गतिके सहायक धर्म-द्रव्यके न होनेसे गति नही होती।

मोक्ष न कि निर्वाण

जैन परम्परामे मोक्ष शब्द विशेष रूपसे व्यवहृत होता है उसका सीधा अर्थ है छूटना अर्थात् अनादि-कालसे जिन कर्मबन्धनोमे यह आत्मा जकडा हुआ था, उन बन्धनोकी परतन्त्रताको काट देना। बन्धन कट जानेपर जो बँधा था, वह स्वतन्त्र हो जाता है। यही उसकी मुक्ति है किन्तु बौद्ध परम्परामे 'निर्वाण' अर्थात् दीपककी तरह बुझ जाना, इस शब्दका प्रयोग होनेसे उसके स्वरूपमे ही घुटाला हो गया है। क्लेशोके बुझने की जगह आत्माका बुझना ही निर्वाण समझ लिया गया है। कर्मोंके नाश करनेका अर्थ भी इतना ही है कि कर्मपुद्गल जीवसे भिन्न हो जाते हैं उनका अत्यन्त विनाश नही होता[2]। किसी भी सत्का अत्यन्त विनाश न कभी हुआ है और न होगा। पर्यायान्तर होना ही 'नाश' कहा जाता है। जो कर्मपुद्गल अमुक आत्माके साथ संयुक्त होनेके कारण उस आत्माके गुणोका घात करनेकी वजहसे उसके लिए कर्मत्व पर्यायको धारण किये थे, मोक्षमे उसकी कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है। यानी जिस प्रकार आत्मा कर्मबन्धनसे छूटकर शुद्ध सिद्ध हो जाता है उसी तरह कर्मपुद्गल भी अपनी पर्यायसे उस समय मुक्त हो जाते हैं। यों तो सिद्ध स्थान पर रहनेवाली आत्माओके साथ पुद्गलो या स्कन्धोका संयोग सम्बन्ध होता रहता है, पर उन पुद्गलोकी उनके प्रति कर्मत्व पर्याय नही होती, अत वह बन्ध नही कहा जा सकता। अत जैन परम्परामे आत्मा और कर्मपुद्गलका सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है। इस मोक्षमे दोनो द्रव्य अपने निज स्वरूपमे बने रहते हैं, न तो आत्मा दीपककी तरह बुझ जाता है और न कर्मपुद्गलका ही सर्वथा समूल नाश होता है। दोनोंकी पर्यायान्तर हो जाती है। जीवकी शुद्ध दशा और पुद्गलकी यथासभव शुद्ध या अशुद्ध कोई भी अवस्था हो जाती है।

५ संवर-तत्त्व

सवर रोकनेको कहते हैं। सुरक्षाका नाम संवर है। जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता था, उन द्वारों का निरोध कर देना सवर कहलाता है। आस्रव योगसे होता है, अत योगकी निवृत्ति ही मूलतः संवरके

१. श्लोक पृ॰ १३९ पर देखो।
२. जीवाद् विश्लेषणं भेद. सतो नात्यन्तसंक्षय." —आप्तप॰ श्लोक ११५।

पदपर प्रतिष्ठित हो सकती है। किन्तु मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको सर्वथा रोकना संभव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए आहार करना, मलमूत्रका विसर्जन करना, चलना-फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। अन जितने अंशोंमें मन, वचन और कायकी क्रियाओंका निरोध है, उतने अंशको गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन वचन और कायकी अकुशल प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना। यह गुप्ति ही संवरणका साक्षात् कारण है। गुप्तिके अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदिसे भी संवर होता है। समिति आदिमें जितना निवृत्तिका अंश है उतना संवरका कारण होता है और प्रवृत्तिका अंश शुभ बन्धका हेतु होता है।

समिति

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानीसे कार्य करना। समिति पाँच प्रकार की है। ईर्या समिति-चार हाथ आगे देखकर चलना। भाषा समिति—हित-मित-प्रिय वचन बोलना। एषणा समिति—विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेना। आदान-निक्षेपण समिति—देख-शोधकर किसी वस्तुका रखना, उठाना। उत्सर्ग समिति—देख-शोधकर निर्जन्तु स्थानपर मलमूत्रादिका विसर्जन करना।

धर्म

आत्मस्वरूपकी ओर ले जानेवाले और समाजको संधारण करनेवाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म हैं। धर्म दश हैं। उत्तम क्षमा—क्रोधका त्याग करना। क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर वस्तुस्वरूपका विचारकर विवेकजलसे उसे शान्त करना। जो क्षमा कायरताके कारण हो और आत्मामें दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नहीं है, वह क्षमाभास है, दूषण है। उत्तम मार्दव—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मानका त्याग। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर आदिकी किंचित् विशिष्टताके कारण आत्मस्वरूपको न भूलना, इनका मद न चढ़ने देना। अहंकार दोष है और स्वाभिमान गुण। अहंकारमें दूसरेका तिरस्कार छिपा है और स्वाभिमानमें दूसरेके मानका सम्मान है। उत्तम आर्जव—ऋजुता, सरलता, मायाचारका त्याग। मन, वचन और कायकी कुटिलताको छोड़ना। जो मनमें हो, वही वचनमें और तदनुसार ही कायकी चेष्टा हो, जीवन-व्यवहारमें एकरूपता हो। सरलता गुण है और भोंदूपन दोष। उत्तम शौच—शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभनमें नहीं फँसना। लोभ कषायका त्यागकर मनमें पवित्रता लाना। शौच गुण है, परन्तु बाह्य सोला और चौकापथ आदिके कारण छू-छू करके दूसरोंमें घृणा करना दोष है। उत्तम सत्य—प्रामाणिकता, विश्वास-परिपालन, तथ्य और स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है, परन्तु परनिन्दाके अभिप्रायसे दूसरोंके दोषोंका ढिंढोरा पीटना दोष है। परको बाधा पहुँचानेवाला सत्य भी कभी दोष हो सकता है। उत्तम संयम—इन्द्रिय-विजय और प्राणि-रक्षा। पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिपर अंकुश रखना, उनकी निरर्गल प्रवृत्तिको रोकना, इन्द्रियोंको वशमें करना। प्राणियोंकी रक्षाका ध्यान रखते हुए, खान-पान और जीवन-व्यवहारको अहिंसाकी भूमिकापर चलाना। संयम गुण है, पर भाव-शून्य बाह्य क्रियाकाण्डका अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप—इच्छानिरोध। मनकी आशा और तृष्णाओं को रोककर प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय और व्युत्सर्ग (परिग्रहत्याग) की ओर चित्तवृत्तिका मोड़ना। ध्यान करना भी तप है। उपवास, एकाशन, रसत्यग, एकान्तवास, मौन, कायक्लेश शरीरको सुकुमार न होने देना आदि बाह्य तप हैं। इच्छानिवृत्ति करके अकिंचन बननारूप तप गुण है और मात्र कायक्लेश करना, पंचाग्नि तपना, हठयोगकी कठिन क्रियाएँ आदि बालतप हैं। उत्तम त्याग—दान देना, त्यागकी भूमिकापर आना। शक्त्यनुसार भूखोंको भोजन, रोगीको औषध, अज्ञाननिवृत्तिके लिए ज्ञानके साधन जुटाना और

प्राणिमात्रको अभय देना। देश और समाजके निर्माणके लिए, तन, धन आदिका त्याग। लाभ, पूजा और ख्याति आदिके उद्देश्यसे किया जानेवाला त्याग या दान उत्तम त्याग नहीं है। उत्तम आकिञ्चन्य—अकिञ्च नभाव, बाह्य पदार्थोंमें ममत्वका त्याग। धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह तथा शरीरमें यह मेरा नहीं है, आत्माका धन तो उसके चैतन्य आदि गुण है, 'नास्ति मे किंचन'—मेरा कुछ नहीं, आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य हैं। भौतिकतासे हटकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना। उत्तम ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपमें विचरण करना। स्त्री-सुखसे विरक्त होकर समस्त शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंको आत्मविकासोन्मुख करना। मनकी शुद्धिके बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीरको ही लाभ पहुँचाता है और न मन तथा आत्मामें ही पवित्रता लाता है।

अनुप्रेक्षा

सद्विचार, उत्तम भावनाएँ और आत्मचिन्तन अनुप्रेक्षा है। जगत्की अनित्यता, अशरणता, संसारका स्वरूप, आत्माका अकेला ही फल भोगना, देहकी भिन्नता और उसकी अपवित्रता, रागादि भावोंकी हेयता, सदाचारकी उपादेयता, लोकस्वरूपका चिन्तन और बोधिकी दुर्लभता आदिका बार-बार विचार करके चित्तको सुसंस्कारी बनाना, जिससे वह द्वन्द्व दशामें समताभाव रख सके। ये भावनाएँ चित्तको आस्रवकी ओरसे हटाकर संवरकी तरफ झुकाती हैं।

परीषहजय

साधकको भूख, प्यास, ठंडी, गरमी, डाँस-मच्छर, चलने-फिरने-सोने आदिमें कंकड, काँटे आदिकी बाधाएँ, वध, आक्रोश और मल आदिकी बाधाओंको शान्तिसे सहना चाहिए। नग्न रहकर भी स्त्री आदिको देखकर प्रकृतिस्थ बने रहना, चिरतपस्या करनेपर भी यदि ऋद्धि-सिद्धि नहीं होती तो तपस्याके प्रति अनादर नहीं होना और यदि कोई ऋद्धि प्राप्त हो जाय तो उसका गर्व नहीं करना, किसीके सत्कार या पुरस्कारमें हर्ष और अपमानमें खेद नहीं करना, भिक्षा-भोजन करते हुए भी आत्मामें दीनता नहीं आने दे इत्यादि परीषहोंके जयसे चारित्रमें दृढ़निष्ठा होती है और कर्मोंका आस्रव रुक कर संवर होता है।

चारित्र

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका सम्पूर्ण परिपालन करना पूर्ण चारित्र है। चारित्रके सामायिक आदि अनेक भेद हैं। सामायिक—समस्त पापक्रियाओंका त्याग और समताभावकी आराधना। छेदोपस्थापना—व्रतोंमें दूषण लग जानेपर दोषका परिहार कर पुनः व्रतोंमें स्थिर होना। परिहारविशुद्धि—इस चारित्रके धारक व्यक्तिके शरीरमें इतना हलकापन आ जाता है कि सर्वत्र गमन आदि प्रवृत्तियाँ करनेपर भी उसके शरीरसे जीवोंकी विराधना—हिंसा नहीं होती। सूक्ष्मसाम्पराय—समस्त क्रोधादिकषायोंका नाश होनेपर बचे हुए सूक्ष्म लोभके नाशकी भी तैयारी करना। यथाख्यात—समस्त कषायोंके क्षय होनेपर जीवन्मुक्त व्यक्तिका पूर्ण आत्मस्वरूपमें विचरण करना। इस तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रसे कर्मशत्रुके आनेके द्वार बन्द हो जाते हैं। यही संवर है।

६. निर्जरा तत्त्व

गुप्ति आदिसे सर्वतः संवृत—सुरक्षित व्यक्ति आगे आनेवाले कर्मोंको तो रोक ही देता है, साथ ही पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करके क्रमशः मोक्षको प्राप्त करता है। निर्जरा झड़नेको कहते हैं। यह दो प्रकार की है—एक औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और दूसरी अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि

साधनाओंके द्वारा कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रतिसमय कर्मोंका फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रतिसमय हर एक प्राणीके होती ही रहती है। इसमें पुराने कर्मोंकी जगह नूतन कर्म लेते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तपरूपी अग्निसे कर्मोंको फल देनेके पहले ही भस्म कर देना अविपाक या औपक्रमिक निर्जरा है। 'कर्मोंकी गति टल ही नहीं सकती' यह एकान्त नियम नहीं है। आखिर कर्म है क्या ? अपने पुराने संस्कार ही वस्तुत कर्म हैं। यदि आत्मामें पुरुषार्थ है और वह साधना करे, तो क्षणमात्रमें पुरानी वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।"

अर्थात् 'सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी बिना भोगे कर्मोंका नाश नहीं हो सकता।' यह मत प्रवाहपतित साधारण प्राणियोंको लागू होता है। पर जो आत्मपुरुषार्थी साधक हैं उनकी ध्यानरूपी अग्नि तो क्षणमात्रमें समस्त कर्मोंको भस्म कर सकती है—

"ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्।"

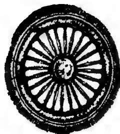
ऐसे अनेक महात्मा हुए हैं जिन्होंने अपनी साधनाका इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधु दीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्यकी प्राप्ति हो गई थी। पुरानी वासनाओं और राग द्वेष तथा मोहके कुसंस्कारोंको नष्ट करनेका एकमात्र मुख्य साधन है—'ध्यान'—अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इस प्रकार भगवान् महावीरने बन्ध (दुःख) बन्धके कारण (आस्रव) मोक्ष और मोक्षके कारण (संवर और निर्जरा) इन पाँच तत्त्वोंके साथ-ही-साथ उस आत्मतत्त्वके ज्ञानकी खास आवश्यकता बताई जिसे बन्धन और मोक्ष होना है। इसी तरह उस अजीव तत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है जिससे बँधकर यह जीव अनादिकालसे स्वरूपच्युत हो रहा है।

मोक्षके साधन

वैदिक संस्कृतिमें विचार या तत्त्वज्ञानको मोक्षका साधन माना है जब कि श्रमणसंस्कृति चारित्र अर्थात् आचारको मोक्षका साधन स्वीकार करती है। यद्यपि वैदिक संस्कृतिने तत्त्वज्ञानके साथ-ही-साथ वैराग्य और संन्यासको भी मुक्तिका अङ्ग माना है पर वैराग्यका उपयोग तत्त्वज्ञानकी पुष्टिमें किया है अर्थात् वैराग्यसे तत्त्वज्ञान पुष्ट होता है और फिर उससे मुक्ति मिलती है। पर जैन तीर्थंकरोंने 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' (त० सू० १।१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका मार्ग बताया है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोषक या वर्धक नहीं है, मोक्षका साधन नहीं होता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्मशोधन करे, वही मोक्षका साधन है। इसलिए सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्र-शुद्धि ही है। ज्ञान थोड़ा भी हो पर यदि वह जीवनशुद्धिमें प्रेरणा देता है तो साधक है। अहिंसा संयम और तप साधनाएँ हैं मात्र ज्ञानरूप नहीं हैं। कोरा ज्ञान भार है यदि वह आत्मशोधन नहीं करता। तत्त्वोंकी दृढ़ श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षमहलकी पहिली सीढ़ी है। भय, आशा स्नेह और लोभसे जो श्रद्धा चल और मलिन हो जाती है वह श्रद्धा अन्धविश्वासकी सीमामें ही है। जीवन्त श्रद्धा वह है जिसमें प्राणों तककी बाजी लगाकर तत्त्वको कायम रखा जाता है। उस परम अवगाढ़ दृढ़ निष्ठाको दुनियाका कोई भी प्रलोभन विचलित नहीं कर सकता उसे हिला नहीं सकता। इस ज्योतिके जगते ही साधकको अपने लक्ष्यका स्पष्ट दर्शन होने लगता है। उसे प्रतिक्षण भेदविज्ञान और स्वानुभूति होती है। वह समझता है कि धर्म आत्म-

स्वरूपकी प्राप्तिमें है, न कि शुष्क बाह्य क्रियाकाण्डमें। इसलिये उसकी परिणति एक विलक्षण प्रकार की हो जाती है। आत्मकल्याण, समाजहित, देशनिर्माण और मानवताके उद्धारका स्पष्ट मार्ग उसकी आँखोंमें झूलता है और वह उसके लिये प्राणोंकी बाजी तक लगा देता है। स्वरूपज्ञान और स्वाधिकारकी मर्यादाका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और अपने अधिकार और स्वरूपकी सुरक्षाके अनुकू' जीवनव्यवहार बनाना सम्यक्-चारित्र है। तात्पर्य यह कि आत्माकी वह परिणति सम्यक्चारित्र है जिसमें केवल अपने गुण और पर्यायों तक ही अपना अधिकार माना जाता है और जीवन-व्यवहारमें तदनुकूल ही प्रवृत्ति होती है, दूसरेके अधिकारोंको हड़पनेकी भावना भी नहीं होती। यह व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी स्वावलम्बी चर्या ही परम सम्यक्चारित्र है। अत: श्रमणसंस्कृतिने जीवनसाधना अहिंसाके मौलिक समत्वपर प्रतिष्ठित की है, और प्राणिमात्रके अभय और जीवित रहनेका सतत विचार किया है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे परिपुष्ट सम्यक्चारित्र ही मोक्षका साक्षात् साधन होता है।



षट्द्रव्य विवेचन

छह द्रव्य[1]

द्रव्यका सामान्य लक्षण यह है—जो मौलिक पदार्थ अपनी पर्यायोंको क्रमशः प्राप्त हो वह द्रव्य है। द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त[1] होता है। उसके मूल छह भेद हैं—१. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश और ६. काल। ये छहों द्रव्य प्रमेय होते हैं।

१. जीव द्रव्य

जीव द्रव्यको, जिसे आत्मा भी कहते हैं, जैनदर्शनमें एक स्वतन्त्र मौलिक माना है। उसका सामान्य-लक्षण उपयोग[2] है। उपयोग अर्थात् चैतन्यपरिणति। चैतन्य ही जीवका असाधारण गुण है जिससे वह समस्त जड़द्रव्योंसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे इस चैतन्यके ज्ञान और दर्शन रूपमें दो परिणमन होते हैं। जिस समय चैतन्य 'स्व' से भिन्न किसी ज्ञेयको जानता है उस समय वह 'ज्ञान' कहलाता है और जब चैतन्यमात्र चैतन्याकार रहता है, तब वह 'दर्शन' कहलाता है। जीव असंख्यात प्रदेशवाला है। चूंकि उसका अनादिकालसे सूक्ष्म कार्मण शरीरसे सम्बन्ध है, अतः वह कर्मोदयसे प्राप्त शरीरके आकारके अनुसार छोटे-बड़े आकारको धारण करता है। इसका स्वरूप निम्नलिखित गाथामें बहुत स्पष्ट बताया गया है—

"जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥"

—द्रव्यसंग्रह गाथा २

अर्थात्—जीव उपयोगरूप है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है।

यद्यपि जीवमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार पुद्गलके धर्म नहीं पाये जाते, इसलिए वह स्वभावसे अमूर्तिक है। फिर भी प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार होनेसे वह अपने छोटे-बड़े शरीरके परिमाण हो जाता है। आत्माके आकारके विषयमें भारतीय दर्शनोंमें मुख्यतया तीन मत पाये जाते हैं।[3] उपनिषद्में आत्माके सर्वगत और व्यापक होनेका जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ उसके [4]अंगुष्ठमात्र तथा अणुरूप होनेका भी कथन है।

१. "अपरिचत्तसहावेणुप्पायव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥३॥"—प्रवचनसार।
"दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं।"—पंचा० गा० ९।

२. "उपयोगो लक्षणम्"—तत्त्वार्थसूत्र २।८।

३. "सर्वव्यापिनमात्मानम्।"—श्वे० १।१६।

४. "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः"—श्वे० ३।१३। कठो० ४।१२।
"अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा......"—छान्दो० ३।१४।३।

व्यापक आत्मवाद

वैदिक दर्शनोंमें प्राय आत्माको अमूर्त और व्यापी स्वीकार किया है। व्यापक होनेपर भी शरीर और मनके सम्बन्धसे शरीरावच्छिन्न (शरीरके भीतरके) आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि विशेष गुणोंकी उत्पत्ति होती है। अमूर्त होनेके कारण आत्मा निष्क्रिय भी है। उसमें गति नहीं होती। शरीर और मन चलता है, और जिनसे सम्बद्ध आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादिकी अनुभूतिका साधन बनता जाता है।

इस व्यापक आत्मवादमें सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि—एक अखण्ड द्रव्य कुछ भागोंमें सगुण और कुछ भागोंमें निर्गुण कैसे रह सकता है ? फिर जब सब आत्माओंका सम्बन्ध सबके शरीरोंके साथ है, तब अपने-अपने सुख, दुःख और भोगका नियम बनना कठिन है। अदृष्ट भी नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येकके अदृष्टका सम्बन्ध उसकी आत्माकी तरह अन्य शेष आत्माओंके साथ भी है। शरीरसे बाहर अपनी आत्माकी सत्ता सिद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। व्यापक-पक्षमें एकके भोजन करनेपर दूसरेको तृप्ति होनी चाहिए, और इस तरह समस्त व्यवहारोंका साङ्कर्य हो जायगा। मन और शरीरके सम्बन्धकी विभिन्नतासे व्यवस्था बैठाना भी कठिन है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें संसार और मोक्षकी व्यवस्थाएँ ही चौपट हो जाती हैं। यह सर्वसम्मत नियम है कि जहाँ गुण पाये जाते हैं, वहीं उसके आधारभूत द्रव्यका सद्भाव माना जाता है। गुणोंके क्षेत्रसे गुणीका क्षेत्र न तो बड़ा होता है, और न छोटा हो। सर्वत्र आकृतिमें गुणीके बराबर ही गुण होते हैं। अब यदि हम विचार करते हैं तो जब ज्ञानदर्शनादि आत्माके गुण हमें शरीरके बाहर उपलब्ध नहीं होते तब गुणोंके बिना गुणीका सद्भाव शरीरके बाहर कैसे माना जा सकता है ?

अणु आत्मवाद

इसी तरह आत्माको अणुरूप माननेपर, अँगूठेमें काँटा चुभनेसे सारे शरीरके आत्मप्रदेशोंमें कम्पन और दुःखका अनुभव होना असम्भव हो जाता है। अणुरूप आत्माकी सारे शरीरमें अतिशीघ्र गति माननेपर भी इस शंकाका उचित समाधान नहीं होता, क्योंकि क्रम अनुभवमें नहीं आता। जिस समय अणु आत्माका चक्षुके साथ सम्बन्ध होता है, उस समय भिन्नक्षेत्रवर्ती रसना आदि इन्द्रियोंके साथ युगपत् सम्बन्ध होना असंभव है। किन्तु नीबूको आँखसे देखते ही जिह्वा इन्द्रियमें पानीका आना यह सिद्ध करता है कि दोनों इन्द्रियोंके प्रदेशोंसे आत्मा युगपत् सम्बन्ध रखता है। सिरसे लेकर पैर तक अणुरूप आत्माके चक्कर लगानेमें कालभेद होना स्वाभाविक है जो कि सर्वांगीण रोमाञ्चादि कार्यसे ज्ञात होनेवाली युगपत् सुखानुभूतिके विरुद्ध है। यही कारण है कि जैनदर्शनमें आत्माके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारकी शक्ति मानकर उसे शरीरपरिमाणवाला स्वीकार किया है। एक ही प्रश्न इस सम्बन्धमें उठता है कि—'अमूर्तिक आत्मा कैसे छोटे-बड़े शरीरमें भरा रह सकता है, उसे तो व्यापक ही होना चाहिए या फिर अणुरूप ?' किन्तु जब अनादिकालसे इस आत्मामें पौद्गलिक कर्मोंका सम्बन्ध है, तब उसके शुद्ध स्वभावका आश्रय लेकर किये जानेवाले तर्क कहाँ तक संगत है ? 'इस प्रकारका एक अमूर्तिक द्रव्य है जिसमें कि स्वभावसे संकोच और विस्तार होता है।' यह माननेमें युक्तिका बल अधिक है; क्योंकि हमें अपने ज्ञान और सुखादि गुणोंका अनुभव अपने शरीरके भीतर ही होता है।

भूत-चैतन्यवाद

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टयके विशिष्ट रासायनिक मिश्रणसे शरीरकी उत्पत्तिकी तरह आत्माकी भी उत्पत्ति मानते हैं। जिस प्रकार महुआ आदि पदार्थोंके सड़ानेसे शराब बनती है और उसमें मादक शक्ति स्वयं आ जाती है उसी तरह भूतचतुष्टयके विशिष्ट संयोगसे चैतन्य शक्ति भी

उत्पन्न हो जाती है। अतः चैतन्य आत्माका धर्म न होकर शरीरका ही धर्म है और इसलिए जीवनकी धारा गर्भसे लेकर मरणपर्यन्त ही चलती है। मरण-कालमें शरीरयन्त्रमें विकृति आ जानेसे जीवन-शक्ति समाप्त हो जाती है। यह देहात्मवाद बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित है और इसका उल्लेख उपनिषदोंमें भी देखा जाता है।

देहसे भिन्न आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए 'अहम्' प्रत्यय ही सबसे बड़ा प्रमाण है, जो 'अहं सुखी, अहं दुःखी' आदिके रूपमें प्रत्येक प्राणीके अनुभवमें आता है। मनुष्योंके अपने-अपने जन्मान्तरीय संस्कार होते हैं, जिनके अनुसार वे इस जन्ममें अपना विकास करते हैं। जन्मान्तरस्मरणकी अनेकों घटनाएँ सुनी गई हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस वर्तमान शरीरको छोड़कर आत्मा नये शरीरको धारण करता है। यह ठीक है कि—इस कर्मपरतंत्र आत्माकी स्थिति बहुत कुछ शरीर और शरीरके अवयवोंके अधीन हो रही है। मस्तिष्कके किसी रोगसे विकृत हो जानेपर समस्त अर्जित ज्ञान विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है। रक्तचापकी कमी-बेशी होनेपर उसका हृदयकी गति और मनोभावोंके ऊपर प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक भूतवादियोंने भी थाइराइड और पिचुयेटरी (Thyroyd and Pituatury) ग्रन्थियोंमेंसे उत्पन्न होनेवाले हॉरमोन (Hormone) नामक द्रव्यके कम हो जानेपर ज्ञानादिगुणोंमें कमी आ जाती है, यह सिद्ध किया है। किन्तु यह सब देहपरिमाणवाले स्वतन्त्र आत्मतत्त्वके माननेपर ही संभव हो सकता है; क्योंकि संसारी दशामें आत्मा इतना परतन्त्र है कि उसके अपने निजी गुणोंका विकास भी बिना इन्द्रियादिके सहारे नहीं हो पाता। ये भौतिक द्रव्य उसके गुणविकासमें उसी तरह सहारा देते हैं, जैसे कि झरोखेसे देखनेवाले पुरुषको देखनेमें झरोखा सहारा देता है। [1]कहीं-कहीं जैन ग्रन्थोंमें जीवके स्वरूपका वर्णन करते समय पुद्गल विशेषण भी दिया है, यह एक नई बात है। वस्तुतः वहाँ उसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवका वर्तमान विकास और जीवन जिन आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा और मन पर्याप्तियोंके सहारे होता है वे सब पौद्गलिक हैं। इस तरह निमित्तकी दृष्टिसे उसमें 'पुद्गल' विशेषण दिया गया है, स्वरूपकी दृष्टिसे नहीं। आत्मवादके प्रसंगमें जैनदर्शनका उसे शरीररूप न मानकर पृथक् द्रव्य स्वीकार करके भी शरीरपरिमाण मानना अपनी अनोखी सूझ है और इससे भौतिकवादियोंके द्वारा दिये जानेवाले आक्षेपोंका निराकरण हो जाता है।

इच्छा आदि स्वतन्त्र आत्माके धर्म हैं

इच्छा, संकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्ककी उपज नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि किसी भी भौतिक यन्त्रमें स्वयं चलने, अपने आपको टूटनेपर सुधारने और अपने सजातीयको उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं देखी जाती। अवस्थाके अनुसार बढ़ना, घावका अपने आप भर जाना, जीर्ण हो जाना इत्यादि ऐसे धर्म हैं, जिनका समाधान केवल भौतिकतासे नहीं हो सकता। हजारों प्रकारके छोटे-बड़े यन्त्रोंका आविष्कार, जगत्के विभिन्न कार्य-कारणभावोंका स्थिर करना, गणितके आधारपर ज्योतिर्विद्याका विकास, मनोरम कल्पनाओंसे साहित्याकाशको रंग-बिरंगा करना आदि बातें, एक स्वयं समर्थ, स्वयं चैतन्यशाली द्रव्यका ही कार्य हो सकती हैं। प्रश्न उसके व्यापक, अणु-परिमाण या मध्यम परिमाणका हमारे सामने है। अनुभव-सिद्ध कार्यकारणभाव हमें उसे संकोच और विस्तार-स्वभाववाला स्वभावतः अमूर्तिक द्रव्य माननेको प्रेरित करता है। किसी असंयुक्त अखण्ड द्रव्यके गुणोंका विकास नियत प्रदेशोंमें नहीं हो सकता।

१. "जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।"

—उद्धृत, धवला टी० प्र० पु०, पृष्ठ, ११८।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस प्रकार आत्माको शरीरपरिमाण माननेपर भी देखनेकी शक्ति आँखमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें ही मानी जाती है और सूँघनेकी शक्ति नाकमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोमे ही, उसी तरह आत्माको व्यापक मान करके शरीरान्तर्गत आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि गुणोका विकास माना जा सकता है ? परन्तु शरीरप्रमाण आत्मामें देखने और सूँघनेकी शक्ति केवल उन-उन आत्मप्रदेशोमे ही नहीं मानी गई है, अपितु सम्पूर्ण आत्मामें। वह आत्मा अपने पूर्ण शरीरमें सक्रिय रहता है, अतः वह उन-उन चक्षु, नाक आदि उपकरणोंके झरोखोसे रूप और गंध आदिका परिज्ञान करता है। अपनी वासनाओं और कर्म-संस्कारोंके कारण उसकी अनन्त शक्ति इसी प्रकार छिन्न-विच्छिन्न रूपसे प्रकट होती है। जब कर्मवासनाओं और सूक्ष्म कर्मशरीरका सपर्क छूट जाता है, तब यह अपने अनन्त चैतन्य स्वरूपमें लीन हो जाता है। उस समय इसके आत्मप्रदेश अन्तिम समयके आकार रह जाते हैं; क्योंकि उनके फैलने और सिकुड़नेका कारण जो कर्म था, वह नष्ट हो चुका है; इसलिए उनका अन्तिम शरीरके आकार रह जाना स्वाभाविक ही है।

संसार अवस्थामें उसकी इतनी परतन्त्र दशा हो गई है कि वह अपनी किसी भी शक्तिका विकास बिना शरीर और इन्द्रियोंके सहारे नहीं कर सकता है। और तो जाने दीजिए, यदि उपकरण नष्ट हो जाता है, तो वह अपनी जाग्रत् शक्तिको भी उपयोगमें नहीं ला सकता। देखना, सूँघना, चखना, सुनना और स्पर्श करना ये क्रियायें जैसे इन्द्रियोके बिना नहीं हो सकती, उसी प्रकार विचारना, संकल्प और इच्छा आदि भी बिना मनके नहीं हो पाते; और मनकी गति विधि समग्र शरीर-यन्त्रके चालू रहनेपर निर्भर करती है। इसी अत्यन्त परनिर्भरताके कारण जगत्के अनेक विचारक इसकी स्वतन्त्र सत्ता माननेको भी प्रस्तुत नहीं हैं। वर्तमान शरीरके नष्ट होते ही जीवनभरका उपार्जित ज्ञान, कला-कौशल और चिरभावित भावनाएँ सब अपने स्थूलरूपमें समाप्त हो जाती है। इनके अतिसूक्ष्म संस्कार-बीज ही शेष रह जाते हैं। अतः प्रतीति, अनुभव और युक्ति हमें सहज ही इस नतीजेपर पहुँचा देती है, कि आत्मा केवल भूतचतुष्टयरूप नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न, पर उनके सहारे अपनी शक्तिको विकसित करनेवाला, स्वतंत्र, अखण्ड और अमूर्तिक पदार्थ है। इसकी आनन्द और सौन्दर्यानुभूति स्वयं इसके स्वतन्त्र अस्तित्वके खासे प्रमाण हैं। राग और द्वेषका होना तथा उनके कारण हिंसा आदिके आरम्भमे जुट जाना भौतिकयत्रका काम नहीं हो सकता। कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वयं बिगड़ जाय और बिगड़ने पर अपनी मरम्मत भी स्वयं कर ले, स्वयं प्रेरणा ले, और समझ-बूझकर चले, यह असंभव है।

कर्ता और भोक्ता

आत्मा स्वयं कर्मोंका कर्ता है और उनके फलोका भोक्ता है। सांख्यकी तरह वह अकर्ता और अपरिणामी नहीं है और न प्रकृतिके द्वारा किये गए कर्मोंका भोक्ता ही। इस सर्वदा परिणामी जगत्में प्रत्येक पदार्थका परिणमन-चक्र प्राप्त सामग्रीसे प्रभावित होकर और अन्यको प्रभावित करके प्रतिक्षण चल रहा है। आत्माकी कोई भी क्रिया, चाहे वह मनसे विचारात्मक हो, या वचनव्यवहाररूप हो, या शरीरकी प्रवृत्तिरूप हो, अपने कार्मण शरीरमें और आसपासके वातावरणमे निश्चित असर डालती है। आज यह वस्तु सूक्ष्म कैमरा यन्त्रसे प्रमाणित की जा चुकी है। जिस कुर्सीपर एक व्यक्ति बैठता है, उस व्यक्तिके उठ जानेके बाद अमुक समय तक वहाँके वातावरणमे उस व्यक्तिका प्रतिबिम्ब कैमरेसे लिया गया है। विभिन्न प्रकारके विचारो और भावनाओंकी प्रतिनिधिभूत रेखाएँ मस्तिष्कमें पड़ती हैं। यह भी प्रयोगोसे सिद्ध किया जा चुका है।

चैतन्य इन्द्रियोंका धर्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियोंके बने रहनेपर चैतन्य नष्ट हो जाता है। यदि प्रत्येक इन्द्रियका धर्म चैतन्य माना जाता है; तो एक इन्द्रियके द्वारा जाने गये पदार्थका इन्द्रियान्तरसे

अनुसन्धान नहीं होना चाहिए। पर इमलीको या आमकी फाँकको देखते ही जीभमें पानी आ जाता है। अतः ज्ञात होता है कि आँख और जीभ आदि इन्द्रियोंका प्रयोक्ता कोई पृथक् सूत्र-संचालक है। जिस प्रकार शरीर अचेतन है उसी तरह इन्द्रियाँ भी अचेतन हैं, अतः अचेतनसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हो; तो उसके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदिका अन्वय चैतन्यमें उसी तरह होना चाहिए, जैसे कि मिट्टीके रूपादि-का अन्वय मिट्टीसे उत्पन्न घड़ेमें होता है।

तुरन्त उत्पन्न हुए बालकमें दूध पीने आदिकी चेष्टाएँ उसके पूर्वभवके संस्कारों को सूचित करती हैं। कहा भी है—

"तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेः भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥"

—उद्धृत, प्रमेयरत्नमाला ४/८।

अर्थात्—तत्काल उत्पन्न हुए बालककी स्तनपानकी चेष्टासे, भूत, राक्षस आदिके सद्भावसे, परलोक-के स्मरणसे और भौतिक रूपादि गुणोंका चैतन्यमें अन्वय न होनेसे एक अनादि अनन्त आत्मा पृथक् द्रव्य सिद्ध होता है, जो सबका ज्ञाता है।

रागादि वातपित्तादिके धर्म नहीं

राग, द्वेष, क्रोध आदि विकार भी चैतन्यके ही होते हैं। वे वात, पित्त और कफ आदि भौतिक द्रव्योंके धर्म नहीं हैं, क्योंकि[1] वातप्रकृतिवालेके भी पित्तजन्य द्वेष और पित्तप्रकृतिवालेके भी कफजन्य राग और कफ-प्रकृतिवालेके भी वातजन्य मोह आदि देखे जाते हैं। वातादिकी वृद्धिमें रागादिकी वृद्धि नहीं देखी जाती, अतः इन्हें वात, पित्त आदिका धर्म नहीं माना जा सकता। यदि ये रागादि वातादिजन्य हों तो सभी वातादि-प्रकृतिवालोंके समान रागादि होने चाहिये। पर ऐसा नहीं देखा जाता। फिर वैराग्य, क्षमा और शान्ति आदि प्रतिपक्षी भावनाओंसे रागादिका क्षय नहीं होना चाहिये।

विचार वातावरण बनाते हैं

इस तरह जब आत्मा और भौतिक पदार्थोंका स्वभाव ही प्रतिक्षण परिणमन करनेका है और वाता-वरणके अनुसार प्रभावित होनेका तथा वातावरणको भी प्रभावित करनेका है; तब इस बातके सिद्ध करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती कि हमारे अमूर्त व्यापारोंका भौतिक जगत्पर क्या असर पड़ता है? हमारा छोटे-से छोटा शब्द ईथरकी तरंगोंमें अपने वेगके अनुसार, गहरा या उथला कम्पन पैदा करता है। यह झनझनाहट रेडियो-यन्त्रोंके द्वारा कानोंसे सुनी जा सकती है। और जहाँ प्रेषक रेडियो-यन्त्र मौजूद हैं, वहाँसे तो यथेच्छ शब्दोंको निश्चित स्थानोंपर भेजा जा सकता है। ये संस्कार वातावरणपर सूक्ष्म और स्थूल रूपमें बहुत कालतक बने रहते हैं। कालकी गति उन्हें धुंधला और नष्ट करती है। इसी तरह जब आत्मा कोई अच्छा या बुरा विचार करता है, तो उसकी इस क्रियासे आस-पासके वातावरणमें एक प्रकारकी खलबली मच जाती है, और उस विचारकी शक्तिके अनुसार वातावरणमें क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। जगत्के कल्याण और मंगल-कामनाके विचार चित्तको हलका और प्रसन्न रखते हैं। वे प्रकाशरूप होते हैं और उनके संस्कार वातावरणपर एक रोशनी डालते हैं, तथा अपने अनुरूप पुद्गल परमाणुओंको अपने शरीरके भीतरसे ही, या शरीरके बाहरसे खींच लेते हैं। उन विचारोंके संस्कारोंसे प्रभावित उन पुद्गल द्रव्योंका सम्बन्ध अमुक काल-

१. 'व्यभिचारान्न वातादिधर्मः, प्रकृतिसंकरात्।'—प्रमाणवा० १।१५०।

तक उस आत्माके साथ बना रहता है। इसीके परिपाकसे आत्मा कालान्तरमें अच्छे और बुरे अनुभव और प्रेरणाओंको पाता है। जो पुद्गल द्रव्य एक बार किन्हीं विचारोंसे प्रभावित होकर खिंचा या बँधा है, उसमें भी कालान्तरमें दूसरे-दूसरे विचारोंसे बराबर हेरफेर होता रहता है। अन्तमें जिस-जिस प्रकारके जितने संस्कार बचे रहते हैं; उस-उस प्रकारका वातावरण उस व्यक्तिको उपस्थित हो जाता है।

वातावरण और आत्मा इतने सूक्ष्म प्रतिबिम्बग्राही होते हैं कि ज्ञात या अज्ञात भावसे होनेवाले प्रत्येक स्पन्दनके संस्कारोंको वे प्रतिक्षण ग्रहण करते रहते हैं। इस परस्पर प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी क्रियाको हम 'प्रभाव' शब्दसे कहते हैं। हमें अपने समान स्वभाववाले व्यक्तिको देखते ही क्यों प्रसन्नता होती है ? और क्यों अचानक किसी व्यक्तिको देखकर जी घृणा और क्रोधके भावोंसे भर जाता है ? इसका कारण चित्तकी वह प्रतिबिम्बग्राहिणी सूक्ष्म शक्ति है, जो आँखोंकी दूरबीनसे शरीरकी स्थूल दीवारको पार करके सामने-वालेके मनोभावोंका बहुत कुछ आभास पा लेती है। इसीलिए तो एक प्रेमीने अपने मित्रके इस प्रश्नके उत्तरमें कि "तुम मुझे कितना चाहते हो ?" कहा था कि "अपने हृदयमें देख लो।" कविश्रेष्ठ कालिदास तथा विश्वकवि टैगोरने प्रेमकी व्याख्या इन शब्दोंमें की है कि जिसको देखते ही हृदय किसी अनिर्वचनीय भावोंमें बहने लगे वही प्रेम है और सौंदर्य वह है जिसको देखते ही आँखें और हृदय कहने लगें कि 'न जाने तुम क्यों मुझे अच्छे लगते हो ?" इसीलिए प्रेम और सौंदर्यकी भावनाओंके कम्पन एकाकार होकर भी उनके बाह्य आधार परस्पर इतने भिन्न होते हैं कि स्थूल विचारमें उनका विश्लेषण कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रभावका परस्पर आदान-प्रदान प्रतिक्षण चालू है। इसमें देश, काल और आकारका भेद भी व्यवधान नहीं दे सकता। परदेशमें गये पतिके ऊपर आपत्ति आनेपर पतिपरायणा नारीका सहसा अनमना हो जाना इसी प्रभावसूत्रके कारण होता है।

इसीलिए जगत्के महापुरुषोंने प्रत्येक भव्यको एक ही बात कही है कि 'अच्छा वातावरण बनाओ, मंगलमय भावोंको चारों ओर बिखेरो।' किसी प्रभावशाली योगीके अचिन्त्य प्रेम और अहिंसाकी विश्वमैत्री रूप सजीवन धारासे आसपासकी वनस्पतियोंका असमयमें पुष्पित हो जाना और जातिविरोधी साँप-नेवला आदि प्राणियोंका अपना साधारण वैर भूलकर उनके अमृतपूत वातावरणमें परस्पर मैत्रीके क्षणोंका अनुभव करना कोई बहुत अनहोनी बात नहीं है, यह तो प्रभावकी अचिन्त्य शक्तिका साधारण स्फुरण है।

जैसी करनी वैसी भरनी

निष्कर्ष यह है कि आत्मा अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंके द्वारा वातावरणसे उन पुद्गल परमाणुओंको खींच लेता है, या प्रभावित करके कर्मरूप बना देता है, जिनके सम्पर्कमें आते ही वह फिर उसी प्रकारके भावोंको प्राप्त होता है। कल्पना कीजिए कि एक निर्जन स्थानमें किसी हत्यारेने दुष्टबुद्धिसे किसी निर्दोष व्यक्तिकी हत्या की। मरते समय उसने जो शब्द कहे और चेष्टाएँ कीं वे यद्यपि किसी दूसरेने नहीं देखीं, फिर भी हत्यारेके मन और उस स्थानके वातावरणमें उनके फोटो बराबर अंकित हुए हैं। जब कभी भी वह हत्यारा शान्तिके क्षणोंमें बैठता है, तो उसके चित्तपर पड़ा हुआ वह प्रतिबिम्ब उसकी आँखोंके सामने झूलता है, और वे शब्द उसके कानोंसे टकराते हैं। वह उस स्थानमें जानेसे घबड़ाता है और स्वयं अपनेमें परेशान होता है। इसीको कहते हैं कि 'पाप सिरपर चढ़कर बोलता है।' इससे यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है कि हर पदार्थ एक कैमरा है, जो दूसरेके प्रभावको स्थूल या सूक्ष्म रूपसे ग्रहण करता रहता है; और उन्हीं प्रभावोंकी औसतसे चित्र-विचित्र वातावरण और अनेक प्रकारके अच्छे-बुरे मनोभावोंका सर्जन होता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि हर पदार्थ अपने सजातीयमें घुल-मिल जाता है, और विजातीयसे संघर्ष

करता है। जहाँ हमारे विचारोंके अनुकूल वातावरण होता है, यानी दूसरे लोग भी करीब-करीब हमारी विचार-धाराके होते हैं वहाँ हमारा चित्त उनमें रच-पच जाता है, किन्तु प्रतिकूल वातावरणमें चित्तको आकुलता-व्याकुलता होती है। हर चित्त इतनी पहचान रखता है। उसे भुलावेमें नहीं डाला जा सकता। यदि तुम्हारे चित्तमें दूसरेके प्रति घृणा है, तो तुम्हारा चेहरा, तुम्हारे शब्द और तुम्हारी चेष्टाएँ सामनेवाले व्यक्तिमें सद्भावका संचार नहीं कर सकतीं और वातावरणको निर्मल नहीं बना सकतीं। इसके फलस्वरूप तुम्हें भी घृणा और तिरस्कार ही प्राप्त होता है। इसे कहते हैं—'जैसी करनी तैसी भरनी।'

हृदयसे अहिंसा और सद्भावनाका समुद्र कोई महात्मा अहिंसाका अमृत लिये क्यों खूँखार और बर्बरोंके बीच छाती खोलकर चला जाता है? उसे इस सिद्धान्तपर विश्वास रहता है कि जब हमारे मनमें इनके प्रति लेशमात्र दुर्भाव नहीं है और हम इन्हें प्रेमका अमृत पिलाना चाहते हैं तो ये कब तक हमारे सद्भावको ठुकरायेंगे। उसका महात्मत्व यही है कि वह सामनेवाले व्यक्तिके लगातार अनादर करनेपर भी सच्चे हृदयसे सदा उसकी हित-चिन्तना ही करता है। हम सब ऐसी जगह खड़े हुए हैं जहाँ चारों ओर हमारे भीतर-बाहरके प्रभावको ग्रहण करनेवाले कैमरे लगे हैं, और हमारी प्रत्येक क्रियाका लेखा-जोखा प्रकृतिकी उस महाबहीमें अंकित होता जाता है, जिसका हिसाब-किताब हमें हर समय भुगतना पड़ता है। वह भुगतान कभी तत्काल हो जाता है और कभी कालान्तरमें। पापकर्मा व्यक्ति स्वयं अपनेमें शंकित रहता है, और अपने ही मनोभावोंसे परेशान रहता है। उसकी यह परेशानी ही बाहरी वातावरणसे उसकी इष्टसिद्धि नहीं करा पाती।

चार व्यक्ति एक ही प्रकारके व्यापारमें जुटते हैं, पर चारोंको अलग-अलग प्रकारका जो नफा-नुकसान होता है, वह अकारण ही नहीं है। कुछ पुराने और कुछ तत्कालीन भाव वातावरणोंका निचोड़ उन-उन व्यक्तियोंके सफल, असफल या अर्धसफल होनेमें कारण पड़ जाते हैं। पुरुषकी बुद्धिमानी और पुरुषार्थ यही है कि वह सद्भाव और प्रशस्त वातावरणका निर्माण करे। इसीके कारण वह जिनके सम्पर्कमें आता है उनकी सद्बुद्धि और हृदयकी रुझानको अपनी ओर खींच लेता है, जिसका परिणाम होता है—उसकी लौकिक कार्योंकी सिद्धिमें अनुकूलता मिलना। एक व्यक्तिके सदाचरण और सद्विचारोंकी शोहरत जब चारों और फैलती है, तो वह जहाँ जाता है, आदर पाता है, उसे सन्मान मिलता और ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है, जिससे उसे अनुकूलता ही अनुकूलता प्राप्त होती जाती है। इस वातावरणसे जो बाह्य विभूति या अन्य सामग्रीका लाभ हुआ है उसमें यद्यपि परम्परासे व्यक्तिके पुराने संस्कारोंने काम लिया है; पर सीधे उन संस्कारोंने उन पदार्थोंको नहीं खींचा है। हाँ, उन पदार्थोंके जुटने और जुटानेमें पुराने संस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल द्रव्यके विपाकने वातावरण अवश्य बनाया है। उससे उन-उन पदार्थोंका संयोग और वियोग रहता है। यह तो बलाबलकी बात है। मनुष्य अपनी क्रियाओंसे जितने गहरे या उथले संस्कार और प्रभाव, वातावरण और अपनी आत्मापर डालता है उसीके तारतम्यसे मनुष्योंके इष्टानिष्टका चक्र चलता है। तत्काल किसी कार्यका ठीक कार्यकारणभाव हमारी समझमें न भी आये, पर कोई भी कार्य अकारण नहीं हो सकता, यह एक अटल सिद्धान्त है। इसी तरह जीवन और मरणके क्रममें भी कुछ हमारे पुराने संस्कार और कुछ संस्कारप्रेरित प्रवृत्तियाँ तथा इहलोकका जीवन-व्यापार सब मिलाकर कारण बनते हैं।

नूतन शरीर धारणकी प्रक्रिया

जब कोई भी प्राणी अपने पूर्व शरीरको छोड़ता है, तो उसके जीवन भरके विचारों, वचन-व्यवहारों और शरीरकी क्रियाओंसे जिस-जिस प्रकारके संस्कार आत्मापर और आत्मासे चिरसंयुक्त कार्मण-शरीरपर

पड़े हैं, अर्थात् कार्मण-शरीरके साथ उन संस्कारोके प्रतिनिधिभूत पुद्गल द्रव्योका जिस प्रकारके रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि परिणमनोसे युक्त होकर सम्बन्ध हुआ है, कुछ उसी प्रकारके अनुकूल परिणमनवाली परिस्थितिमे यह आत्मा नूतन जन्म ग्रहण करनेका अवसर खोज लेता है और वह पुराने शरीरके नष्ट होते ही अपने सूक्ष्म कार्मण शरीरके साथ उस स्थान तक पहुँच जाता है। इस क्रियामे प्राणीके शरीर छोडनेके समयके भाव और प्रेरणाएँ बहुत कुछ काम करती है। इसीलिए जैन परम्परामे समाधिमरणको जीवनकी अन्तिम परीक्षाका समय कहा है; क्योकि एक बार नया शरीर धारण करनेके बाद उस शरीरकी स्थिति तक लगभग एक जैसी परिस्थितियाँ बनी रहनेकी सम्भावना रहती है। मरणकालकी इस उत्क्रान्तिको सम्हाल लेनेपर प्राप्त परिस्थितियोके अनुसार बहुत कुछ पुराने संस्कार और बँधे हुए कर्मोंमे हीनाधिकता होनेकी सम्भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

जैन शास्त्रोमें एक मारणान्तिक समुद्घात नामकी क्रियाका वर्णन आता है। इस क्रियामे मरणकालके पहले इस आत्माके कुछ प्रदेश अपने वर्तमान शरीरको छोडकर भी बाहर निकलते है और अपने अगले जन्मके योग्य क्षेत्रको स्पर्शकर वापिस आ जाते है। इन प्रदेशके साथ कार्मण शरीर भी जाता है और उसमें जिस प्रकारके रूप, रस, गंध और स्पर्श आदिके परिणमनोका तारतम्य है, उस प्रकारके अनुकूल क्षेत्रकी ओर ही उसका झुकाव होता है। जिसके जीवनमे सदा धर्म और सदाचारकी परम्परा रही है, उसके कार्मण शरीरमें प्रकाशमय, लघु और स्वच्छ परमाणुओकी बहुलता होती है। इसलिए उसका गमन लघु होनेके कारण स्वभावत प्रकाशमय लोककी ओर होता है। और जिसके जीवनमे हत्या, पाप, छल, प्रपञ्च, माया, मूर्च्छा आदिके काले, गुरु और मैले परमाणुओका सम्बन्ध विशेषरूपसे हुआ है, वह स्वभावतः अन्धकार-लोककी ओर नीचेकी तरफ जाता है। यही बात साख्य शास्त्रोमे—

"धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण।"

—साख्यका० ४४।

इस वाक्यके द्वारा कही गई है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परिणामी होनेके कारण प्रतिसमय अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओसे उन-उन प्रकारके शुभ और अशुभ संस्कारोमे स्वय परिणत होता जाता है, और वातावरणको भी उसी प्रकारसे प्रभावित करता है। ये आत्मसंस्कार अपने पूर्वबद्ध कार्मण शरीरमे कुछ नये कर्मपरमाणुओका सम्बन्ध करा देते है, जिनके परिपाकसे वे संस्कार आत्मामे अच्छे या बुरे भाव पैदा करते हैं। आत्मा स्वयं उन संस्कारोका कर्ता है और स्वय ही उनके फलोका भोक्ता है। जब यह अपने मूल स्वरूपकी ओर दृष्टि फेरता है, तब इस स्वरूपदर्शनके द्वारा धीरे-धीरे पुराने कुसंस्कारोको काटकर स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति पा लेता है। कभी-कभी किन्ही विशेष आत्माओमे स्वरूपज्ञानकी इतनी तीव्र ज्योति जग जाती है, कि उसके महाप्रकाशमे कुसंस्कारोका पिण्ड क्षणभरमे ही विलीन हो जाता है और वह आत्मा इस शरीरको धारण किये हुए भी पूर्ण वीतराग और पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। यह जीवन्मुक्त अवस्था है। इस अवस्थामें आत्मगुणोके घातक संस्कारोका समूल नाश हो जाता है। मात्र शरीरको धारण करनेमें कारणभूत कुछ अघातिया संस्कार शेष रहते हैं, जो शरीरके साथ समाप्त हो जाते है; तब यह आत्मा पूर्णरूपसे सिद्ध होकर अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करके लोकके ऊपरी छोरमें जा पहुँचता है। इस तरह यह आत्मा स्वयं कर्ता और स्वयं भोक्ता है, स्वयं अपने संस्कारो और बद्धकर्मोंके अनुसार असंख्य जीव-योनियोमें जन्म-मरणके भारको ढोता रहता है। यह सर्वथा अपरिणामी और निर्लिप्त नही है, किन्तु प्रतिक्षण परिणामी है और वैभाविक या स्वाभाविक किसी भी अवस्थामें स्वयं बदलनेवाला है। यह निश्चित है कि एक बार

स्वाभाविक अवस्थामें पहुँचनेपर फिर वैभाविक परिणमन नहीं होता, सदा शुद्ध परिणमन ही होता रहता है। ये सिद्ध कृतकृत्य होते हैं। उन्हे सृष्टि-कर्तृत्व आदिका कोई कार्य शेष नही रहता।

सृष्टिचक्र स्वयं चालित है

ससारी जीव और पुद्गलोंके परस्पर प्रभावित करनेवाले संयोग-वियोगोंसे इस सृष्टिका महाचक्र स्वय चल रहा है। इसके लिए किसी नियंत्रक, व्यवस्थापक, सुयोजक और निर्देशककी आवश्यकता नही है। भौतिक जगत्का चेतन जगत् स्वयं अपने बलाबलके अनुसार निर्देशक और प्रभावक बन जाता है। फिर यह आवश्यक भी नहीं है कि प्रत्येक भौतिक परिणमनके लिए किसी चेतन अधिष्ठाताकी नितान्त आवश्यकता हो। चेतन अधिष्ठाताके बिना भी असंख्य भौतिक परिवर्तन स्वयमेव अपनी कारण-सामग्रीके अनुसार होते रहते है। इस स्वभावत परिणामी द्रव्योंके महासमुदायरूप जगत्को किसीने सर्व-प्रथम किसी समय चलाया हो, ऐसे कालकी कल्पना नही की जा सकती। इसीलिए उस जगत्को स्वयंसिद्ध और अनादि कहा जाता है। अत न तो सर्वप्रथम इस जगत्-यन्त्रको चलानेके लिए किसी चालककी आवश्यकता है और न इसके अन्तर्गत जीवोंके पुण्य-पापका लेखा-जोखा रखनेवाले किसी महालेखककी, और अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देनेवाले और स्वर्ग या नरक भेजनेवाले किसी महाप्रभुकी ही। जो व्यक्ति शराब पियेगा उसका नशा तीव्र या मन्द रूपमे उस व्यक्तिको अपने आप आयगा ही।

एक ईश्वर ससारके प्रत्येक अणु-परमाणुकी क्रियाका सचालक बने और प्रत्येक जीवके अच्छे बुरे कार्योंका भी स्वय वही प्रेरक हो और फिर वही बैठकर संसारी जीवोंके अच्छे-बुरे कर्मोंका न्याय करके उन्हें सुगति और दुर्गतिमे भेजे, उन्हें सुख-दुःख भोगनेको विवश करे यह कैसी क्रीडा है! दुराचारके लिए प्रेरणा भी वही दे, और दण्ड भी वही। यदि सचमुच कोई एक ऐसा नियन्ता है तो जगत्की विषमस्थितिके लिए मूलत वही जवाबदेह है। अत इस भूल-भुलैयाके चक्रसे निकलकर हमे वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे ही जगत्का विवेचन करना होगा और उस आधारसे ही जब तक हम अपने ज्ञानको सच्चे दर्शनकी भूमिपर नहीं पहुँचायेंगे, तब तक तत्त्वज्ञानकी दिशामे नही बढ सकते। यह कैसा अन्धेर है कि ईश्वर हत्या करनेवालेको भी प्रेरणा देता है, और जिसकी हत्या होती है उसे भी, और जब हत्या हो जाती है, तो वही एकको हत्यारा ठहराकर दण्ड भी दिलाता है। उसकी यह कैसी विचित्र लीला है। जब व्यक्ति अपने कार्यमें स्वतन्त्र ही नहीं है, तब वह हत्याका कर्त्ता कैसे? अत प्रत्यक जीव अपने कार्योंका स्वय प्रभु है, स्वय कर्त्ता है और स्वयं भोक्ता है।

अत. जगत्-कल्याणकी दृष्टिसे और वस्तुके स्वाभाविक परिणमनकी स्थितिपर गहरा विचार करनेसे यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि यह जगत् स्वयं अपने परिणामी स्वभावके कारण प्राप्त सामग्रीके अनुसार परिवर्तमान है। उसमे विभिन्न व्यक्तियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलतासे अच्छेपन और बुरेपनकी कल्पना होती रहती है। जगत् तो अपनी गतिसे चला जा रहा है। 'जो करेगा, वही भोगेगा। जो बोयेगा, वही काटेगा।' यह एक स्वाभाविक व्यवस्था है। द्रव्योंके परिणमन कही चेतनसे प्रभावित होते हैं, कही अचेतनसे प्रभावित और कहीं परस्पर प्रभावित। इनका कोई निश्चित नियम नही है, जब जैसी सामग्री प्रस्तुत हो जाती है, तब वैसा परिणमन बन जाता है।

जीवोंके भेद संसारी और मुक्त

जैसा कि ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट होता है, कि यह जीव अपने संस्कारोंके कारण स्वयं बँधा है और अपने पुरुषार्थसे स्वयं छूटकर मुक्त हो सकता है, उसीके अनुसार जीव दो श्रेणियोंमें विभाजित हो

जाते हैं। एक संसारी—जो अपने संस्कारोके कारण नाना योनियोमे शरीरोको धारणकर जन्म-मरण रूपसे संसरण कर रहे हैं। (२) दूसरे मुक्त—जो समस्त कर्मसंस्कारोसे छूटकर अपने शुद्ध चैतन्यमे सदा परिवर्द्धमान हैं। जब जीव मुक्त होता है, तब वह दीपशिखाकी तरह अपने ऊर्ध्व-गमन स्वभावके कारण शरीरके बन्धनोंको तोडकर लोकाग्रमे जा पहुँचता है, और वही अनन्तकाल तक शुद्धचैतन्यस्वरूपमे लीन रहता है। उसके आत्मप्रदेशोंका आकार अन्तिम शरीरके आकारके समान बना रहता है; क्योकि आगे उसके विस्तारका कारण नामकर्म नही रहता। जीवोके प्रदेशोका संकोच और विस्तार दोनो ही कर्मनिमित्तसे होने है। निमित्तके हट जानेपर जो अन्तिम स्थिति है वही रह जाती है। यद्यपि जीवका स्वभाव ऊपरको गति करनेका है, किन्तु गति करनेमे सहायक धर्मद्रव्य चूँकि लोकके अन्तिम भाग तक ही है, अत मुक्त जीवकी गति लोकाग्र तक ही होती है, आगे नही। इसीलिए सिद्धोको 'लोकाग्रनिवासी' कहते है।

सिद्धात्माएँ चूँकि शुद्ध हो गई हैं, अतः उनपर किसी दूसरे द्रव्यका कोई प्रभाव नही पड़ता, और न वे परस्पर ही प्रभावित होती है। जिनका ससारचक्र एक बार रुक गया, फिर उन्हें ससारमे रुलनेका कोई कारण शेष नही रहता। इसलिए इन्हें अनन्तसिद्ध कहते हैं। जीवकी 'ससार-यात्रा कबसे शुरू' हुई, यह नही बताया जा सकता, पर 'कब समाप्त होगी' यह निश्चित बताया जा सकता है। असख्य जीवोने अपनी संसारयात्रा समाप्त करके मुक्ति पाई भी है। इन सिद्धोके सभी गुणोका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है। ये कृतकृत्य है, निरजन हैं और केवल अपने शुद्धचित्परिणमनके स्वामी है। इनकी यह सिद्धावस्था नित्य इस अर्थमे है कि वह स्वाभाविक परिणमन करते रहनेपर भी कभी विकृत या नष्ट नही होती।

यह प्रश्न प्राय उठता है कि 'यदि सिद्ध सदा एकसे रहते है, तो उनमे परिणमन माननेकी क्या आवश्यकता है?' परन्तु इसका उत्तर अत्यन्त सहज है। और वह यह है कि जब द्रव्यकी मूलस्थिति ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है, तब किसी भी द्रव्यको चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस मूल स्वभावका अपवाद कैसे माना जा सकता है? उसे तो अपने मूल स्वभावके अनुसार परिणमन करना ही होगा। चूँकि उनके विभाव परिणमनका कोई हेतु नही है, अत उनका सदा स्वभावरूपसे ही परिणमन होता रहता है। कोई भी द्रव्य कभी भी परिणमनचक्रसे बाहर नही जा सकता। 'तब परिणमनका क्या प्रयोजन?' इसका सीधा उत्तर है—'स्वभाव'। चूँकि प्रत्येक द्रव्यका यह निज स्वभाव है, अत उसे अनन्तकाल तक अपने स्वभावमे रहना ही होगा। द्रव्य अपने अगुरुलघुगुणके कारण न कम होता है और न बढ़ता है। वह परिणमनकी तीक्ष्ण धारपर चढा रहनेपर भी अपना द्रव्यत्व नष्ट नही होने देता। यही अनादि अनन्त अविच्छिन्नता द्रव्यत्व है, और यही उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। अगुरुलघुगुणके कारण उसके न तो प्रदेशोमे ही न्यूनाधिकता होती है, और न गुणोमे ही। उसके आकार और प्रकार भी सन्तुलित रहते हैं।

सिद्धका स्वरूप निम्नलिखित गाथामे बहुत स्पष्ट रूपसे कहा गया है—

"णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता॥"

—नियमसार गा० ७२

अर्थात्—सिद्ध ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे रहित हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध इन आठ गुणोंसे युक्त हैं। अपने पूर्व अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून आकारवाले हैं। नित्य हैं और उत्पाद-व्ययसे युक्त हैं, तथा लोकके अग्रभागमें स्थित हैं।

इस तरह जीवद्रव्य संसारी और मुक्त दो प्रकारोंमें विभाजित होकर भी मूल स्वभावसे समान गुण और समानशक्तिवाला है।

पुद्गल द्रव्य

'पुद्गल' द्रव्यका सामान्य लक्षण[1] है—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे युक्त होना। जो द्रव्य स्कन्ध अवस्थामें पूरण अर्थात् अन्य-अन्य परमाणुओंसे मिलना और गलन अर्थात् कुछ परमाणुओंका बिछुड़ना, इस तरह उपचय और अपचयको प्राप्त होता है, वह 'पुद्गल' कहलाता है। समस्त दृश्य जगत् इस 'पुद्गल' का ही विस्तार है। मूल दृष्टिसे पुद्गलद्रव्य परमाणुरूप ही है। अनेक परमाणुओंसे मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्तद्रव्य (अनेकद्रव्य) है। स्कन्धपर्याय स्कन्धान्तर्गत सभी पुद्गल-परमाणुओंकी संयुक्त पर्याय है। वे पुद्गल-परमाणु जब तक अपनी बंधशक्तिसे शिथिल या निबिडरूपमें एक-दूसरेसे जुटे रहते हैं, तब तक स्कन्ध कहे जाते हैं। इन स्कन्धोंका बनाव और बिगाड परमाणुओंकी बंधशक्ति और भेदशक्तिके कारण होता है।

प्रत्येक[2] परमाणुमें स्वभावसे एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं। लाल, पीला, नीला, सफेद और काला इन पाँच रूपोंमेंसे कोई एक रूप परमाणुमें होता है जो बदलता भी रहता है। तीता, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसोंमेंसे कोई एक रस परमाणुमें होता है, जो परिवर्तित भी होता रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धोंमेंसे कोई एक गन्ध परमाणुमें अवश्य होती है। शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, इन दो युगलोंमेंसे कोई एक-एक स्पर्श अर्थात् शीत और उष्णमेंसे एक और स्निग्ध तथा रूक्षमेंसे एक, इस तरह दो स्पर्श प्रत्येक परमाणुमें अवश्य होते हैं। बाकी मृदु, कर्कश, गुरु और लघु ये चार स्पर्श स्कन्ध-अवस्थाके हैं। परमाणु-अवस्थामें ये नहीं होते। यह एकप्रदेशी होता है। यह स्कन्धोंका कारण भी है और स्कन्धोंके भेदसे उत्पन्न होनेके कारण उनका कार्य भी है। पुद्गलकी परमाणु-अवस्था स्वाभाविक पर्याय है, और स्कन्ध-अवस्था विभाव-पर्याय है।

स्कन्धोंके भेद

स्कन्ध अपने परिणमनोंकी अपेक्षा छह प्रकारके होते हैं[3] —

(१) अतिस्थूल-स्थूल (बादर-बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं न मिल सकें, वे लकडी, पत्थर, पर्वत, पृथ्वी आदि अतिस्थूल-स्थूल हैं।

(२) स्थूल (बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं आपसमें मिल जायें, वे स्थूल स्कन्ध हैं। जैसे कि दूध, घी, तेल, पानी आदि।

(३) स्थूल-सूक्ष्म (बादर-सूक्ष्म)—जो स्कन्ध दिखनेमें तो स्थूल हों, लेकिन छेदने-भेदने और ग्रहण करनेमें न आवें, वे छाया, प्रकाश, अन्धकार, चाँदनी आदि स्थूल-सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

(४) सूक्ष्म-स्थूल (सूक्ष्म-बादर)—जो सूक्ष्म होकरके भी स्थूल रूपमें दिखें, वे पाँचों इन्द्रियोंके विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध हैं।

---

१ "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"—तत्त्वार्थसू० ५।२३।

२. "एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।" —पंचास्तिकाय गा० ८१।

३. "अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इति धरादियं होइ छब्भेयं॥"

—नियमसार गा० २१-२४।

(५) सूक्ष्म—जो सूक्ष्म होनेके कारण इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न किये जा सकते हों, वे कर्मवर्गणा आदि सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

(६) अतिसूक्ष्म—कर्मवर्गणासे भी छोटे द्व्यणुक स्कन्ध तक सूक्ष्मसूक्ष्म हैं।

परमाणु परमातिसूक्ष्म है। वह अविभागी है। शब्दका कारण होकर भी स्वयं अशब्द है, शाश्वत होकर भी उत्पाद और व्ययवाला है—यानी त्रयात्मक परिणमन करनेवाला है।

स्कन्ध आदि चार भेद

पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु ये चार विभाग भी होते हैं[1]। अनन्तानन्त परमाणुओंसे स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कन्धदेश और स्कन्धदेशका आधा स्कन्धप्रदेश होता है। परमाणु सर्वतः अविभागी होता है। इन्द्रियाँ, शरीर, मन, इन्द्रियोंके विषय और श्वासोच्छ्वास आदि सब कुछ पुद्गल द्रव्यके ही विविध परिणमन[2] हैं।

बन्धकी प्रक्रिया

इन परमाणुओंमें स्वाभाविक स्निग्धता और रूक्षता होनेके कारण परस्पर बन्ध[3] होता है, जिससे स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके शक्त्यंशकी अपेक्षा असंख्य भेद होते हैं, और उनमें तारतम्य भी होता रहता है। एक शक्त्यंश (जघन्यगुण) वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओंका परस्पर बन्ध (रासायनिक मिश्रण) नहीं होता। स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष, स्निग्ध और रूक्ष, तथा रूक्ष और स्निग्ध परमाणुओंमें बन्ध तभी होगा, जब इनमें परस्पर गुणोंके शक्त्यंश दो अधिक हों, अर्थात् दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका बन्ध चार गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुसे होगा। बन्धकालमें जो अधिक गुणवाला परमाणु है, वह कम गुणवाले परमाणुका अपने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूपसे परिणमन करा लेता है। इस तरह दो परमाणुओंसे द्व्यणुक, तीन परमाणुओंसे त्र्यणुक और चार, पाँच आदि परमाणुओंसे चतुरणुक, पञ्चाणुक आदि स्कन्ध उत्पन्न होते रहते हैं। महास्कन्धोंके भेदसे भी दो अल्पस्कन्ध हो सकते हैं। यानी स्कन्ध, संघात और भेद दोनोंसे बनते हैं। स्कन्ध अवस्थामें परमाणुओंका परस्पर इतना सूक्ष्म परिणमन हो जाता है कि थोड़ी-सी जगहमें असंख्य परमाणु समा जाते हैं। एक सेर रूई और एक सेर लोहेमें साधारणतया परमाणुओंकी संख्या बराबर होनेपर भी उनके निविड और शिथिल बन्धके कारण रूई पुलपुली है और लोहा ठोस। रूई अधिक स्थानको रोकती है और लोहा कम स्थानको। इन पुद्गलोंके इसी सूक्ष्म परिणमनके कारण असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनन्तानन्त परमाणु समाए हुए हैं। जैसा कि पहले

---

१. 'खंधा या खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥'

—पञ्चास्तिकाय गा० ७४–७५।

२. "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्।"

—तत्त्वार्थसूत्र ५/१९।

३. "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। न जघन्यगुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानाम्। द्व्यधिकादिगुणानां तु। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।"

—तत्त्वार्थसूत्र ५।३३–३७।

लिखा जा चुका है कि प्रत्येक द्रव्य परिणामी है। उसी तरह ये पुद्गल द्रव्य भी उस परिणमनके अपवाद नहीं हैं और प्रतिक्षण उपयुक्त स्थूल-बादरादि स्कन्धोंके रूपमें बनते-बिगड़ते रहते हैं।

शब्द आदि पुद्गलकी पर्याय हैं

[1]शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत और गर्मी आदि पुद्गल द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। शब्दको वैशेषिक आदि आकाशका गुण मानते हैं, किन्तु आजके विज्ञानने अपने रेडियो और ग्रामोफोन आदि विविध यन्त्रोंसे शब्दको पकड़कर और उसे इष्ट स्थानमें भेजकर उसकी पौद्गलिकता प्रयोगसे सिद्ध कर दी है। यह शब्द पुद्गलके द्वारा ग्रहण किया जाता है, पुद्गलसे धारण किया जाता है, पुद्गलोंसे रुकता है, पुद्गलोंको रोकता है, पुद्गल कान आदिके पर्दोको फाड़ देता है और पौद्गलिक वातावरणमें अनुकम्पन पैदा करता है, अतः पौद्गलिक है। स्कन्धोंके परस्पर संयोग, संघर्षण और विभागसे शब्द उत्पन्न होता है। जिह्वा और तालु आदिके संयोगसे नाना प्रकारके भाषात्मक प्रायोगिक शब्द उत्पन्न होते हैं। इसके उत्पादक उपादान कारण तथा स्थूल निमित्त कारण दोनों ही पौद्गलिक हैं।

जब दो स्कन्धोंके संघर्षसे कोई एक शब्द उत्पन्न होता है, तो वह आस-पासके स्कन्धोंको अपनी शक्तिके अनुसार शब्दायमान कर देता है, अर्थात् उसके निमित्तसे उन स्कन्धोंमें भी शब्दपर्याय उत्पन्न हो जाती है। जैसे जलाशयमें एक कंकड़ डालने पर जो प्रथम लहर उत्पन्न होती है, वह अपनी गतिशक्तिसे पासके जलको क्रमशः तरंगित करती जाती है और यह 'वीचीतरंगन्याय' किसी-न-किसी रूपमें अपने वेगके अनुसार काफी दूर तक चालू रहता है।

शब्द शक्तिरूप नहीं है

शब्द केवल शक्ति नहीं है, किन्तु शक्तिमान् पुद्गलद्रव्य-स्कन्ध है, जो वायु स्कन्धके द्वारा देशान्तरको जाता हुआ आसपासके वातावरणको झनझनाता जाता है। यन्त्रोंसे उसकी गति बढ़ाई जा सकती है और उसकी सूक्ष्म लहरको सुदूर देशसे पकड़ा जा सकता है। वक्ताके तालु आदिके संयोगसे उत्पन्न हुआ एक शब्द मुखसे बाहर निकलते ही चारों तरफके वातावरणको उसी शब्दरूप कर देता है। वह स्वयं भी नियत दिशामें जाता है और जाते-जाते, शब्दसे शब्द पैदा करता जाता है। शब्दके जानेका अर्थ पर्यायवाले स्कन्धका जाना है और शब्दकी उत्पत्तिका भी अर्थ है आसपासके स्कन्धोंमें शब्दपर्यायका उत्पन्न होना। तात्पर्य यह कि शब्द स्वयं द्रव्यकी पर्याय है, और इस पर्यायके आधार हैं पुद्गल स्कन्ध। अमूर्तिक आकाशके गुणमें ये सब नाटक नहीं हो सकते। अमूर्त द्रव्यका गुण तो अमूर्त ही होगा, वह मूर्तके द्वारा गृहीत नहीं हो सकता।

विश्वका समस्त वातावरण गतिशील पुद्गलपरमाणु और स्कन्धोंसे निर्मित है। उसीमें परस्पर संयोग आदि निमित्तोंसे गर्मी, सर्दी, प्रकाश, अन्धकार, छाया आदि पर्यायें उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती हैं। गर्मी, प्रकाश और शब्द ये केवल शक्तियाँ नहीं हैं, क्योंकि शक्तियाँ निराश्रय नहीं रह सकतीं। वे तो किसी-न-किसी आधारमें रहेंगी और उनका आधार है—यह पुद्गल द्रव्य। परमाणुकी गति एक समयमें लोकान्त तक (चौदह राजु) हो सकती है, और वह गतिकालमें आसपासके वातावरणको प्रभावित करता है। प्रकाश और शब्दकी गतिका जो लेखा-जोखा आजके विज्ञानने लगाया है, वह परमाणुकी इस स्वाभाविक गतिका एक अल्प अंश है। प्रकाश और गर्मीके स्कन्ध एकदेशसे सुदूर देश तक जाते हुए अपने वेग (force)

---

१. "शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।"

—तत्त्वार्थसूत्र ५।२४

के अनुसार वातावरणको प्रकाशमय और गर्मी पर्यायसे युक्त बनाते हुए जाते हैं। यह भी संभव है कि जो प्रकाश आदि स्कन्ध बिजलीके टार्च आदिसे निकलते है, वे बहुत दूर तक स्वयं चले जाते हैं और अन्य गतिशील पुद्गल स्कन्धोंको प्रकाश, गर्मी या शब्दरूप पर्याय धारण कराके उन्हें आगे चला देते हैं। आजके वैज्ञानिकोंने बेतारका तार और बिना तारके टेलीफोनका भी आविष्कार कर लिया है। जिस तरह हम अमेरिकामें बोले गये शब्दोंको यहाँ सुन लेते हैं, उसी तरह अब बोलनेवालेके फोटोको भी सुनते समय देख सकेंगे।

पुद्गलके खेल

यह सब शब्द, आकृति, प्रकाश, गर्मी, छाया, अन्धकार आदिका परिवहन तीव्र गतिशील पुद्गल-स्कन्धोंके द्वारा ही हो रहा है। परमाणु-बमकी विनाशक शक्ति और हॉइड्रोजन बमकी महाप्रलय शक्तिसे हम पुद्गलपरमाणुकी अनन्त शक्तियोंका कुछ अन्दाज लगा सकते हैं।

एक दूसरेके साथ बँधना, सूक्ष्मता, स्थूलता, चौकोण, षट्कोण आदि विविध आकृतियाँ, सुहावनी चाँदनी, मंगलमय उषाकी लाली आदि सभी कुछ पुद्गल स्कन्धोकी पर्यायें हैं। निरन्तर गतिशील और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमनवाले अनन्तानन्त परमाणुओके परस्पर संयोग और विभागसे कुछ नैसर्गिक और कुछ प्रायोगिक परिणमन इस विश्वके रंगमञ्चपर प्रतिक्षण हो रहे हैं। ये सब माया या अविद्या नहीं हैं, ठोस सत्य है। स्वप्नकी तरह काल्पनिक नहीं है, किन्तु अपनेमे वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ हैं। विज्ञानने एटममे जिन इलेक्ट्रोन और प्रोटोनको अविराम गतिसे चक्कर लगाते हुए देखा है, वह सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्धमे बँधे हुए परमाणुओका ही गतिचक्र है। सब अपने-अपने क्रमसे जब जैसी कारण-सामग्री पा लेते है, वैसा परिणमन करते हुए अपनी अनन्त यात्रा कर रहे हैं। पुरुषकी कितनी-सी शक्ति! वह कहाँ तक इन द्रव्योके परिणमनोंको प्रभावित कर सकता है? हाँ, जहाँ तक अपनी सूझ-बूझ और शक्तिके अनुसार वह यन्त्रोके द्वारा इन्हें प्रभावित और नियन्त्रित कर सकता था, वहाँ तक उसने किया भी है। पुद्गलका नियन्त्रण पौद्गलिक साधनोसे ही हो सकता है और वे साधन भी परिणमनशील है। अतः हमें द्रव्यकी मूल स्थितिके आधारसे ही तत्त्वविचार करना चाहिये और विश्वव्यवस्थाका आधार ढूँढ़ना चाहिए।

छाया पुद्गलकी ही पर्याय है

सूर्य आदि प्रकाशयुक्त द्रव्यके निमित्तसे आस-पास पुद्गलस्कन्ध भासुररूपको धारणकर प्रकाशस्कन्ध बन जाते है। इसी प्रकाशको जितनी जगह कोई स्थूल स्कन्ध यदि रोक लेता है तो उतनी जगहके स्कन्ध काले रूपको धारण कर लेते है, यही छाया या अन्धकार है। ये सभी पुद्गल द्रव्यके खेल है। केवल मायाकी आँखमिचौनी नहीं है और न 'एकोऽहं बहु स्याम्' की लीला। ये तो ठोस वजनदार परमार्थसत् पुद्गल परमाणुओकी अविराम गति और परिणतिके वास्तविक दृश्य हैं। यह आँख मूँदकर की जानेवाली भावना नहीं है, किन्तु प्रयोगशालामे रासायनिक प्रक्रियामे किये जानेवाले प्रयोगसिद्ध पदार्थ हैं। यद्यपि पुद्गलाणुओमे समान अनन्त शक्ति है, फिर भी विभिन्न स्कन्धोमे जाकर उनकी शक्तियोंके भी जुदे-जुदे अनन्त भेद हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक परमाणुमे सामान्यतः मादकशक्ति होनेपर भी उसकी प्रकटताकी योग्यता महुवा, दाख और कोदों आदिके स्कन्धोमें ही साक्षात् है, सो भी अमुक जलादिके रासायनिक मिश्रणसे। ये पर्याययोग्यताएँ कहलाती हैं, जो उन-उन स्थूल पर्यायोमे प्रकट होती हैं। और इन स्थूल पर्यायोंके घटक सूक्ष्म स्कन्ध भी अपनी उस अवस्थामें विशिष्ट शक्तिको धारण करते है।

एक ही पुद्गल मौलिक है

आधुनिक विज्ञानने पहले ९२ मौलिक तत्त्व (Elements) खोजे थे। उन्होंने इनके वजन और शक्तिके अंश निश्चित किये थे। मौलिक तत्त्वका अर्थ होता है—'एक तत्त्वका दूसरे रूप न होना।' परन्तु अब एक एटम (Atom) ही मूल तत्त्व बच गया है। यही एटम अपनेमें चारों ओर गतिशील इलेक्ट्रोन और प्रोटोनकी संख्याके भेदसे ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, चाँदी, सोना, लोहा, ताँबा, यूरेनियम, रेडियम आदि अवस्थाओंको धारण कर लेता है। ऑक्सीजनके अमुक इलेक्ट्रोन या प्रोटोनको तोड़ने या मिलानेपर वही हाइड्रोजन बन जाता है। इस तरह ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो मौलिक न होकर एक तत्त्वकी अवस्था-विशेष ही सिद्ध होते हैं। मूलतत्त्व केवल अणु (Atom) है।

पृथिवी आदि स्वतन्त्र द्रव्य नहीं

नैयायिक-वैशेषिक पृथ्वीके परमाणुओंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि चारों गुण, जलके परमाणुओंमें रूप, रस और स्पर्श ये तीन गुण; अग्निके परमाणुओंमें रूप और स्पर्श ये दो गुण और वायुमें केवल स्पर्श, इस तरह गुणभेद मानकर चारोंको स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। किन्तु जब प्रत्यक्षसे सीपमें पड़ा हुआ जल, पार्थिव मोती बन जाता है, पार्थिव लकड़ी अग्नि बन जाती है, अग्नि भस्म बन जाती है, पार्थिव हिम पिघलकर जल हो जाता है और ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दोनों वायु मिलकर जल बन जाती हैं, तब इनमें परस्पर गुणभेदकृत जातिभेद मानकर पृथक् द्रव्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? जैनदर्शनने पहलेसे ही समस्त पुद्गलपरमाणुओंका परस्पर परिणमन देखकर एक ही पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया है। यह तो हो सकता है कि अवस्थाविशेषमें कोई गुण प्रकट हों और कोई अप्रकट। अग्निमें रस अप्रकट रह सकता है, वायुमें रूप और जलमें गन्ध, किन्तु उक्त द्रव्योंमें उन गुणोंका अभाव नहीं माना जा सकता। यह एक सामान्य नियम है कि 'जहाँ स्पर्श होगा वहाँ रूप, रस और गन्ध अवश्य ही होंगे।' इसी तरह जिन दो पदार्थोंका एक-दूसरेके रूपसे परिणमन हो जाता है वे दोनों पृथक्-जातीय द्रव्य नहीं हो सकते। इसीलिए आजके विज्ञानको अपने प्रयोगोंसे उसी एकजातिक अणुवादपर आना पड़ा है।

प्रकाश और गर्मी भी शक्तियाँ नहीं

यद्यपि विज्ञान प्रकाश, गर्मी और शब्दको अभी केवल (Energy) शक्ति मानता है। पर, वह शक्ति निराधार न होकर किसी-न-किसी ठोस आधारमें रहनेवाली ही सिद्ध होगी; क्योंकि शक्ति या गुण निराश्रय नहीं रह सकते। उन्हें किसी-न-किसी मौलिक द्रव्यके आश्रयमें रहना ही होगा। ये शक्तियाँ जिन माध्यमोंसे गति करती हैं, उन माध्यमोंको स्वयं उस रूपसे परिणत कराती हुई ही जाती हैं। अतः यह प्रश्न मनमें उठता है कि जिसे हम शक्तिकी गति कहते हैं वह आकाशमें निरन्तर प्रचित परमाणुओंमें अविराम गतिसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिपरंपरा ही तो नहीं है ? हम पहले बता आये हैं कि शब्द, गर्मी और प्रकाश किसी निश्चित दिशाको गति भी कर सकते हैं और समीपके वातावरणको शब्दायमान, प्रकाशमान और गरम भी कर देते हैं। यों तो जब प्रत्येक परमाणु गतिशील है और उत्पाद-व्ययस्वभावके कारण प्रतिक्षण नूतन पर्यायोंको धारण कर रहा है, तब शब्द, प्रकाश और गर्मीको इन्हीं परमाणुओंकी पर्याय माननेमें ही वस्तुस्वरूपका संरक्षण रह पाता है।

जैन ग्रन्थोंमें पुद्गल द्रव्योंकी जिन—कर्मवर्गणा, नोकर्मवर्गणा, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, आदि रूपसे—२३ प्रकारकी वर्गणाओंका वर्णन मिलता है,[1] वे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। एक ही पुद्गलजातीय

१. देखो, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५९३-९४।

स्कन्धोंमें ये विभिन्न प्रकारके परिणमन, विभिन्न सामग्रीके अनुसार विभिन्न परिस्थितियोंमें बन जाते हैं। यह नहीं है कि जो परमाणु एक बार कर्मवर्गणारूप हुए हैं; वे सदा कर्मवर्गणारूप ही रहेंगे, अन्यरूप नहीं होंगे, या अन्य-परमाणु कर्मवर्गणारूप न हो सकेंगे। ये भेद तो विभिन्न स्कन्ध-अवस्थामें विकसित शक्तिभेदके कारण हैं। प्रत्येक द्रव्यमें अपनी-अपनी द्रव्यगत मूल योग्यताओंके अनुसार, जैसी-जैसी सामग्रीका जुटाव हो जाता है, वैसा-वैसा प्रत्येक परिणमन सम्भव है। जो परमाणु शरीर-अवस्थाके नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वही परमाणु मृत्युके बाद शरीरके खाक हो जानेपर अन्य विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त हो जाते हैं। एकजातीय द्रव्योंमें किसी भी द्रव्यशक्तिके परिणमनोंका बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

यह ठीक है कि कुछ परिणमन किसी स्थूलपर्यायको प्राप्त पुद्गलोंसे साक्षात् हो सकते हैं, किसीसे नहीं। जैसे मिट्टी-अवस्थाको प्राप्त पुद्गल परमाणु ही घट-अवस्थाको धारण कर सकते हैं, अग्नि-अवस्थाको प्राप्त पुद्गल परमाणु नहीं, यद्यपि अग्नि और घट दोनों ही पुद्गलकी ही पर्यायें हैं। यह तो सम्भव है कि अग्निके परमाणु कालान्तरमें मिट्टी बन जायँ और फिर घड़ा बनें; पर सीधे अग्निसे घड़ा नहीं बनाया जा सकता। मूलत: पुद्गलपरमाणुओंमें न तो किसी प्रकारका जातिभेद है, न शक्तिभेद है और न आकारभेद ही। ये सब भेद तो बीचकी स्कन्ध पर्यायोंमें होते हैं।

गतिशीलता

पुद्गल परमाणु स्वभावत: क्रियाशील है। उसकी गति तीव्र, मन्द और मध्यम अनेक प्रकारकी होती है। उसमें वजन भी होता है, किन्तु उसकी प्रकटता स्कन्ध अवस्थामें होती है। इन स्कन्धोंमें अनेक प्रकारके स्थूल, सूक्ष्म, प्रतिघाती और अप्रतिघाती परिणमन अवस्थाभेदके कारण सम्भव होते हैं। इस तरह यह अणु-जगत् अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार दृश्य और अदृश्य अनेक प्रकारकी अवस्थाओंको स्वयमेव धारण करता रहता है। उसमें जो कुछ भी नियतता या अनियतता, व्यवस्था या अव्यवस्था है, वह स्वयमेव है। बीचके पड़ावमें पुरुषका प्रयत्न इनके परिणमनोंको कुछ कालतक किसी विशेष रूपमें प्रभावित और नियन्त्रित भी करता है। बीचमें होनेवाली अनेक अवस्थाओंका अध्ययन और दर्शन करके जो स्थूल कार्यकारणभाव नियत किये जाते हैं, वे भी इन द्रव्योंकी मूल-योग्यताओंके ही आधारसे किये जाते हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य

अनन्त आकाशमें लोकके अमुक आकारको निश्चित करनेके लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा किसी वास्तविक आधारपर निश्चित हो, जिसके कारण जीव और पुद्गलोंका गमन वहीं तक हो सके; बाहर नहीं। आकाश एक अमूर्त, अखण्ड और अनन्तप्रदेशी द्रव्य है। उसकी अपनी सब जगह एक सामान्य सत्ता है। अत: उसके अमुक प्रदेशों तक पुद्गल और जीवोंका गमन हो और आगे नहीं, यह नियन्त्रण स्वयं अखण्ड आकाशद्रव्य नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें प्रदेशभेद होकर भी स्वभावभेद नहीं है। जीव और पुद्गल स्वयं गतिस्वभाववाले हैं, अत यदि वे गति करते हैं तो स्वयं रुकनेका प्रश्न ही नहीं है; इसलिए जैन आचार्योंने लोक और अलोकके विभागके लिए लोकवर्ती आकाशके बराबर एक अमूर्तिक, निष्क्रिय और अखण्ड धर्मद्रव्य माना है, जो गतिशील जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें साधारण कारण होता है। यह किसी भी द्रव्यको प्रेरणा करके नहीं चलाता; किन्तु जो स्वयं गति करते हैं, उनको माध्यम बनकर सहारा देता है। इसका अस्तित्व लोकके भीतर तो साधारण है पर लोककी सीमाओंपर नियन्त्रणके रूपमें है। सीमाओंपर पता चलता है कि धर्मद्रव्य भी कोई अस्तित्वशाली द्रव्य है; जिसके कारण समस्त जीव और पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक समाप्त करनेको विवश हैं, उसके आगे नहीं जा सकते।

जिस प्रकार गतिके लिए एक साधारण कारण धर्मद्रव्य अपेक्षित है; उसी तरह जीव और पुद्गलोंकी स्थितिके लिए भी एक साधारण कारण होना चाहिए और वह है—अधर्म द्रव्य। यह भी लोकाकाशके बराबर है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दसे रहित—अमूर्तिक है; निष्क्रिय है और उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमन करते हुए भी नित्य है। अपने स्वाभाविक सन्तुलन रखनेवाले अनन्त अगुरुलघुगुणोंसे उत्पाद-व्यय करता हुआ, ठहरनेवाले जीव-पुद्गलोंकी स्थितिमें साधारण कारण होता है। इसके अस्तित्वका पता भी लोककी सीमाओंपर ही चलता है। जब आगे धर्मद्रव्य न होनेके कारण जीव और पुद्गल द्रव्य गति नहीं कर सकते तब स्थितिके लिए इसकी सहकारिता अपेक्षित होती है। ये दोनों द्रव्य स्वयं गति नहीं करते; किन्तु गमन करनेवाले और ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें साधारण निमित्त होते हैं। लोक और अलोकका विभाग ही इनके सद्भावका अचूक प्रमाण है।

यदि आकाशको ही स्थितिका कारण मानते हैं, तो आकाश तो अलोकमें भी मौजूद है। वह चूँकि अखण्ड द्रव्य है, अतः यदि वह लोकके बाहरके पदार्थोंकी स्थितिमें कारण नहीं हो सकता; तो लोकके भीतर भी उसकी कारणता नहीं बन सकती। इसलिए स्थितिके साधारण कारणके रूपमें अधर्मद्रव्यका पृथक् अस्तित्व है।

ये धर्म और अधर्म द्रव्य, पुण्य और पापके पर्यायवाची नहीं हैं—स्वतंत्र द्रव्य हैं। इनके असख्यात प्रदेश हैं, अतः बहुप्रदेशी होनेके कारण इन्हें 'अस्तिकाय' कहते हैं और इसलिए इनका 'धर्मास्तिकाय' और 'अधर्मास्तिकाय' के रूपमें भी निर्देश होता है। इनका सदा शुद्ध परिणमन होता है। द्रव्यके मूल परिणामी-स्वभावके अनुसार पूर्व पर्यायको छोड़ने और उत्तर पर्यायको धारण करनेका क्रम अपने प्रवाही अस्तित्वको बनाये रखते हुए अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्त काल तक चालू रहेगा।

आकाश द्रव्य

समस्त जीव-अजीवादि द्रव्योंको जो जगह देता है अर्थात् जिसमें ये समस्त जीव-पुद्गलादि द्रव्य युगपत् अवकाश पाये हुए हैं, वह आकाश द्रव्य है। यद्यपि पुद्गलादि द्रव्योंमें भी परस्पर हीनाधिक रूपमें एक दूसरेको अवकाश देना देखा जाता है, जैसे कि टेबिल पर किताब या बर्तनमें पानी आदिका, फिर भी समस्त द्रव्योंको एक साथ अवकाश देनेवाला आकाश ही हो सकता है। इसके अनन्त प्रदेश हैं। इसके मध्य भागमें चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार लोक है, जिसके कारण आकाश लोकाकाश और अलोकाकाशके रूपमें विभाजित हो जाता है। लोकाकाश असख्यात प्रदेशोंमें है, शेष अनन्त अलोक है, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है। यह निष्क्रिय है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। 'अवकाश दान' ही इसका एक असाधारण गुण है, जिस प्रकार कि धर्मद्रव्यका गमनकारणत्व और अधर्मद्रव्यका स्थितिकारणत्व। यह सर्वव्यापक है और अखण्ड है।

दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नहीं

इसी आकाशके प्रदेशोंमें सूर्योदयकी अपेक्षा पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओंकी कल्पना की जाती है। दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तियाँ सब तरफ कपड़ेमें तन्तुकी तरह श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाशको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस नापसे आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। यदि पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार होनेके कारण दिशाको एक स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है, तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश आदि व्यवहारोंसे 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना पड़ेगा। फिर प्रान्त, जिला, तहसील आदि बहुतसे स्वतन्त्र द्रव्योंकी कल्पना करनी पड़ेगी।

शब्द आकाशका गुण नहीं

आकाशमें शब्द गुणकी कल्पना भी आजके वैज्ञानिक प्रयोगोंने असत्य सिद्ध कर दी है। हम पुद्गल द्रव्यके वर्णनमें उसे पौद्गलिक सिद्ध कर आये हैं। यह तो मोटी-सी बात है कि जो शब्द पौद्गलिक इन्द्रियोंसे गृहीत होता है पुद्गलोंसे टकराता है, पुद्गलोंसे रोका जाता है, पुद्गलोंको रोकता है, पुद्गलोंमें भरा जाता है, वह पौद्गलिक ही हो सकता है। अतः शब्द गुणके आधारके रूपमें आकाशका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। न 'पुद्गल द्रव्य' का ही परिणमन आकाश हो सकता है; क्योंकि एक ही द्रव्यके मूर्त और अमूर्त, व्यापक और अव्यापक आदि दो विरुद्ध परिणमन नहीं हो सकते।

आकाश प्रकृतिका विकार नहीं

सांख्य एक प्रकृति तत्त्व मानकर उसीके पृथिवी आदि भूत तथा आकाश ये दोनों परिणमन मानते हैं। परन्तु विचारणीय बात यह है कि—एक प्रकृतिका घट, पट, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि अनेक रूपी भौतिक कार्योंके आकारमें ही परिणमन करना युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है, क्योंकि संसारके अनन्त रूपी भौतिक कार्योंकी अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता देखी जाती है। सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंका सादृश्य देखकर इन सबको एकजातीय या समानजातीय तो कहा जा सकता है, पर एक नहीं। किञ्चित् समानता होनेके कारण कार्योंका एक कारणसे उत्पन्न होना भी आवश्यक नहीं है। भिन्न-भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले सैकड़ों घट-पटादि कार्य कुछ-न-कुछ जडत्व आदिके रूपसे समानता रखते ही हैं। फिर मूर्तिक और अमूर्तिक, रूपी और अरूपी, व्यापक और अव्यापक, सक्रिय और निष्क्रिय आदि रूपसे विरुद्ध धर्मवाले पृथिवी आदि और आकाशको एक प्रकृतिका परिणमन मानना ब्रह्मवादकी मायामें ही एक अंशसे समा जाना है। ब्रह्मवाद कुछ आगे बढ़कर चेतन और अचेतन सभी पदार्थोंको एक ब्रह्मका विवर्त मानता है, और ये सांख्य समस्त जडोंको एक जड प्रकृतिकी पर्याय।

यदि त्रिगुणात्मकत्वका अन्वय होनेसे सब एक त्रिगुणात्मक कारणसे समुत्पन्न हैं, तो आत्मत्वका अन्वय सभी आत्माओंमें पाया जाता है, और सत्ताका अन्वय सभी चेतन और अचेतन पदार्थोंमें पाया जाता है; तो इन सबको भी एक 'अद्वैतसत्' कारणसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, जो कि प्रतीति और वैज्ञानिक प्रयोग दोनोंसे विरुद्ध है। अपने-अपने विभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले स्वतन्त्र जड़चेतन और मूर्त-अमूर्त आदि विविध पदार्थोंमें अनेक प्रकारके पर-अपर सामान्योंका सादृश्य देखा जाता है, पर इतनेमात्रसे सब एक नहीं हो सकते। अतः आकाश प्रकृतिकी पर्याय न होकर एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो अमूर्त, निष्क्रिय, सर्वव्यापक और अनन्त है।

जल आदि पुद्गल द्रव्य अपनेमें जो अन्य पुद्गलादि द्रव्योंको अवकाश या स्थान देते हैं, वह उनके तरल परिणमन और शिथिल बन्धके कारण बनता है। अन्ततः जलादिके भीतर रहनेवाला आकाश ही अवकाश देनेवाला सिद्ध होता है।

इस आकाशसे ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका गति और स्थितिरूप काम नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि यदि आकाश ही पुद्गलादि द्रव्योंकी गति और स्थितिमें निमित्त हो जाय तो लोक और अलोकका विभाग ही नहीं बन सकेगा, और मुक्त जीव, जो लोकान्तमें ठहरते हैं, वे सदा अनन्त आकाशमें ऊपरकी ओर उड़ते रहेंगे। अतः आकाशको गमन और स्थितिमें साधारण कारण नहीं माना जा सकता।

यह आकाश भी अन्य द्रव्योंकी भाँति 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस सामान्य द्रव्यलक्षणसे युक्त

है, और इसमें प्रतिक्षण अपने अगुरु-लघु गुणके कारण पूर्व पर्यायका विनाश और उत्तर पर्यायका उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अत: यह भी परिणामीनित्य है।

आजका विज्ञान प्रकाश और शब्दकी गतिके लिए जिस ईथररूप माध्यमकी कल्पना करता है, वह आकाश नहीं है। वह तो एक सूक्ष्म परिणमन करनेवाला लोकव्यापी पुद्गल-स्कन्ध ही है; क्योंकि मूर्त-द्रव्योंकी गतिका अन्तरंग आधार अमूर्त पदार्थ नहीं हो सकता। आकाशके अनन्त प्रदेश इसलिए माने जाते हैं कि जो आकाशका भाग काशीमें है, वही पटना आदिमें नहीं है, अन्यथा काशी और पटना एक ही क्षेत्रमें आ जायेंगे।

बौद्ध-परम्परामें आकाशका स्वरूप

बौद्ध-परम्परामें आकाशको असंस्कृत धर्मोंमें गिनाया है और उसका 'वर्णन'[1] 'अनावृति' (आवरणाभाव) रूपसे किया है। यह किसीको आवरण नहीं करता और न किसीसे आवृत होता है। संस्कृतका अर्थ है, जिसमें उत्पादादि धर्म पाये जायँ। किन्तु सर्वक्षणिकवादी बौद्धका, आकाशको असंस्कृत अर्थात् उत्पादादि धर्मसे रहित मानना कुछ समझमें नहीं आता। इसका वर्णन भले ही अनावृति रूपसे किया जाय, पर वह भावात्मक पदार्थ है, यह वैभाषिकोंके[2] विवेचनसे सिद्ध होता है। कोई भी भावात्मक पदार्थ बौद्धके मतसे उत्पादादिशून्य कैसे हो सकता है? यह तो हो सकता है कि उसमें होनेवाले उत्पादादिका हम वर्णन न कर सकें, पर स्वरूपभूत उत्पादादिसे इनकार नहीं किया जा सकता और न केवल वह आवरणाभावरूप ही माना जा सकता है। 'अभिधम्मत्थसंगह' में आकाशधातुको परिच्छेदरूप माना है। वह चार महाभूतोंकी तरह निप्पन्न नहीं होता, किन्तु अन्य पृथ्वी आदि धातुओंके परिच्छेद-दर्शनमात्रसे इसका ज्ञान होता है, इसलिए इसे परिच्छेदरूप कहते हैं; पर आकाश केवल परिच्छेदरूप नहीं हो सकता; क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है। अत: वह उत्पादादि लक्षणोंसे युक्त एक संस्कृत पदार्थ है।

कालद्रव्य

समस्त द्रव्योंके उत्पादादिरूप परिणमनमें सहकारी 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण है वर्तना। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्योंके परिवर्तनमें सहकारी होता है और समस्त लोकाकाशमें घड़ी, घंटा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारोंमें निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्योंकी तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेश-पर एक-एक काल-द्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्यकी तरह वह लोकाकाशव्यापी एकद्रव्य नहीं है; क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेशपर समयभेद इसे अनेकद्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। लंका और कुरुक्षेत्रमें दिन, रात आदिका पृथक्-पृथक् व्यवहार तत्तत्स्थानोंके कालभेदके कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य माननेपर कालभेद नहीं हो सकता। द्रव्योंमें परत्व-अपरत्व (लहुरा-जेठ) आदि व्यवहार कालसे ही होते हैं। पुरानापन-नयापन भी कालकृत ही है। अतीत, वर्तमान और भविष्य ये व्यवहार भी कालकी क्रमिक पर्यायोंसे होते हैं। किसी भी पदार्थके परिणमनको अतीत, वर्तमान या भविष्य कहना कालकी अपेक्षा-से ही हो सकता है।

१. "तत्राकाशमनावृतिः"—अभिधर्मकोश १।५।

२. "छिद्रमाकाशधात्वाख्यम् आलोकतमसी किल।" —अभिधर्मकोश १।२८।

वैशेषिककी मान्यता

वैशेषिक कालको एक और व्यापक द्रव्य मानते हैं, परन्तु नित्य और एक द्रव्यमें जब स्वयं अतीतादि भेद नहीं हैं, तब उसके निमित्तसे अन्य पदार्थोंमें अतीतादि भेद कैसे नापे जा सकते हैं ? किसी भी द्रव्यका परिणमन किसी समयमें हो तो होता है। बिना समयके उस परिणमनको अतीत, अनागत या वर्तमान कैसे कहा जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आकाश-प्रदेशपर विभिन्न द्रव्योंके जो विलक्षण परिणमन हो रहे हैं, उनमें एक साधारण निमित्त काल है, जो अणुरूप है और जिसकी समयपर्यायोंके समुदायमें हम घड़ी, घंटा आदि स्थूल कालका नाप बनाते हैं। अलोकाकाशमें जो अतीतादि व्यवहार होता है, वह लोकाकाशवर्ती कालके कारण ही। चूँकि लोक और अलोकवर्ती आकाश, एक अखण्ड द्रव्य है, अत. लोकाकाशमें होनेवाला कोई भी परिणमन समूचे आकाशमें ही होता है। काल एकप्रदेशी होनेके कारण द्रव्य होकर भी 'अस्तिकाय' नहीं कहा जाता; क्योंकि बहुप्रदेशी द्रव्योंकी ही 'अस्तिकाय' संज्ञा है।

श्वेताम्बर जैन परम्परामें कुछ आचार्य कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।

बौद्ध-परम्परामें काल

बौद्ध-परम्परामें काल केवल व्यवहारके लिए कल्पित होता है। वह कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्तिमात्र है। (अट्ठशालिनी १।३।१६)। किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य कालके बिना नहीं हो सकते। जैसे कि बालकमें शेरका उपचार मुख्य शेरके सद्भावमें ही होता है, उसी तरह समस्त कालिक व्यवहार मुख्य कालद्रव्यके बिना नहीं बन सकते।

इस तरह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य अनादि-सिद्ध मौलिक हैं। सबका एक ही सामान्य लक्षण है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता। इस लक्षणका अपवाद कोई भी द्रव्य कभी भी नहीं हो सकता। द्रव्य चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, वे इस सामान्य लक्षणसे हर समय संयुक्त रहते हैं।

वैशेषिककी द्रव्यमान्यताका विचार

वैशेषिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य मानते हैं। इनमें पृथ्वी आदिक चार द्रव्य तो 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-वत्त्व' इस सामान्य लक्षणसे युक्त होनेके कारण पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भूत हैं। दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव होता है। मन स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, वह यथासम्भव जीव और पुद्गलकी ही पर्याय है। मन दो प्रकारका होता है—एक द्रव्यमन और दूसरा भावमन। द्रव्यमन आत्माको विचार करनेमें सहायता देनेवाले पुद्गल-परमाणुओंका स्कन्ध है। [1]शरीरके जिस-जिस भागमें आत्माका उपयोग जाता है; वहाँ-वहाँके शरीरके परमाणु भी तत्काल मनरूपसे परिणत हो जाते हैं। अथवा, हृदय-प्रदेशमें अष्टदल कमलके आकारका द्रव्यमन होता है, जो हिताहितके विचारमें आत्माका उपकरण बनता है। विचार-शक्ति आत्माकी है। अतः भावमन आत्मरूप ही होता है। जिस प्रकार भावेन्द्रियाँ आत्माकी ही विशेष शक्तियाँ हैं, उसी तरह भावमन भी नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाली आत्माकी एक विशेष शक्ति है; अतिरिक्त द्रव्य नहीं।

णवीर्यं
त्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गलाः वीर्यविशेषावर्जनसमर्थाः मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्गलिकम्'''''मनस्त्वेन हि परिणताः पुद्गलाः गुणदोषविचारस्मरणादिकार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते।"

—तत्त्वार्थवा० ५। १९।

बौद्ध-परंपरामें हृदय-वस्तुको एक पृथक् धातु माना है[१], जो कि द्रव्यमनका स्थानीय हो सकता है। 'अभिधर्मकोश' में[२] छह ज्ञानोंके समानान्तर कारणभूत पूर्वज्ञानको मन कहा है। यह भावमनका स्थान ग्रहण कर सकता है, क्योंकि चेतनात्मक है। इन्द्रियाँ मनकी सहायताके बिना अपने विषयोंका ज्ञान नहीं कर सकतीं, परन्तु मन अकेला ही गुणदोषविचार आदि व्यापार कर सकता है। मनका कोई निश्चित विषय नहीं है, अतः वह सर्वविषयक होता है।

गुण आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं

वैशेषिकने द्रव्यके सिवाय गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये छह पदार्थ और माने हैं। वैशेषिककी मान्यता प्रत्ययके आधारसे चलती है। चूंकि 'गुणः गुण.' इस प्रकारका प्रत्यय होता है, अतः गुण एक पदार्थ होना चाहिए। 'कर्म कर्म' इस प्रत्ययके कारण कर्म एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। 'अनुगताकार, प्रत्ययसे पर और अपर रूपसे अनेक प्रकारके सामान्य माने गये हैं। 'अपृथक्सिद्ध' पदार्थोंके सम्बन्ध स्थापनके लिए 'समवाय' की आवश्यकता हुई। नित्य परमाणुओंमें, शुद्ध आत्माओंमें, तथा मुक्त आत्माओंके मनोंमें परस्पर विलक्षणताका बोध करानेके लिए प्रत्येक नित्य द्रव्यपर एक विशेष पदार्थ माना गया है। कार्योत्पत्तिके पहले वस्तुके अभावका नाम प्रागभाव है। उत्पत्तिके बाद होनेवाला विनाश प्रध्वंस-भाव है। परस्पर पदार्थोंके स्वरूपका अभाव अन्योन्याभाव और त्रैकालिक संसर्गका निषेध करनेवाला अत्यन्ता-भाव होता है। इस तरह जितने प्रकारके प्रत्यय पदार्थोंमें होते हैं, उतने प्रकारके पदार्थ वैशेषिकने माने हैं। वैशेषिकको 'सम्प्रत्ययोपाध्याय' कहा गया है। उसका यही अर्थ है कि वैशेषिक प्रत्ययके आधारसे पदार्थकी कल्पना करनेवाला उपाध्याय है।

परन्तु विचारकर देखा जाय तो गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सब द्रव्यकी पर्यायें ही हैं। द्रव्यके स्वरूपसे बाहर गुणादिकी कोई सत्ता नहीं है। द्रव्यका लक्षण है[३] गुणपर्यायवाला होना। ज्ञानादिगुणोंका आत्मासे तथा रूपादि गुणोंका पुद्गलसे पृथक् अस्तित्व न तो देखा ही जाता है, और न युक्तिसिद्ध ही है। गुण और गुणीको, क्रिया और क्रियावान्‌को, सामान्य और सामान्यवान्‌को, विशेष और नित्य द्रव्योंको स्वयं वैशेषिक अयुतसिद्ध मानते हैं, अर्थात् उक्त पदार्थ परस्पर पृथक् नहीं किये जा सकते। गुण आदिको छोड़कर द्रव्यकी अपनी पृथक् सत्ता क्या है? इसी तरह द्रव्यके बिना गुणादि निराधार कहाँ रहेंगे? इनका द्रव्यके साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसीलिए कहीं "गुणसन्द्रावो द्रव्यम्" यह भी द्रव्यका लक्षण मिलता है[४]।

एक ही द्रव्य जिस प्रकार अनेक गुणोंका अखण्ड पिण्ड है, उसी तरह जो द्रव्य सक्रिय हैं उनमें होनेवाली क्रिया भी उसी द्रव्यकी पर्याय है, स्वतंत्र नहीं है। क्रिया या कर्म क्रियावान्‌से भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखते।

इसी तरह पृथ्वीत्वादि भिन्न द्रव्यवर्ती सामान्य सदृशपरिणामरूप ही हैं। कोई एक, नित्य और

---

१. "ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रयं कल्पयन्ति।"

—स्फुटार्थ अभि०, पृ० ४९।

२. "षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः।"—अभिधर्मकोश १।१७।

३. "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।"—तत्त्वार्थसूत्र ५।३८।

४. "अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।"—पात० महाभाष्य ५।१।११९।

व्यापक सामान्य अनेक द्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया हुआ नहीं है। जिन द्रव्योंमें जिस रूपसे सादृश्य प्रतीत होता है, उन द्रव्योंका वह सामान्य मान लिया जाता है। वह केवल बुद्धिकल्पित भी नहीं है, किन्तु सादृश्य रूपसे वस्तुनिष्ठ है; और वस्तुकी तरह ही उत्पादविनाशध्रौव्यशाली है।

समवाय सम्बन्ध है। यह जिनमें होता है उन दोनों पदार्थोंकी ही पर्याय है। ज्ञानका सम्बन्ध आत्मामें माननेका यही अर्थ है कि ज्ञान और उसका सम्बन्ध आत्माकी ही सम्पत्ति है, आत्मासे भिन्न उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंकी अवस्थारूप ही हो सकता है। दो स्वतन्त्र पदार्थोंमें होनेवाला संयोग भी दोमें न रहकर प्रत्येकमें रहता है, इसका संयोग उसमें और उसका संयोग इसमें। याने संयोग प्रत्येकनिष्ठ होकर भी दोके द्वारा अभिव्यक्त होता है।

विशेष पदार्थको स्वतन्त्र माननेकी आवश्यकता इसलिए नहीं है कि जब सभी द्रव्योंका अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, तब उनमें विलक्षणप्रत्यय भी अपने निजी व्यक्तित्वके कारण ही हो सकता है। जिस प्रकार विशेष पदार्थोंमें विलक्षण प्रत्यय उत्पन्न करनेके लिए अन्य विशेष पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं उनके स्वरूपसे ही हो जाता है, उसी तरह द्रव्योंके निजरूपसे ही विलक्षणप्रत्यय माननेमें कोई बाधा नहीं है।

इसी तरह प्रत्येक द्रव्यकी पूर्वपर्याय उसका प्रागभाव है, उत्तरपर्याय प्रध्वंसाभाव है, प्रतिनियत निज-स्वरूप अन्योन्याभाव है और असंसर्गीयरूप अत्यन्ताभाव है। अभाव भावान्तररूप होता है, वह अपनेमें कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। एक द्रव्यका अपने स्वरूपमें स्थिर होना ही उसमें पररूपका अभाव है। एक ही द्रव्यकी दो भिन्न पर्यायोंमें परस्पर अभाव-व्यवहार कराना इतरेतराभावका कार्य है और दो द्रव्योंमें परस्पर अभाव अत्यन्ताभावसे होता है। अतः गुणादि पृथक् सत्ता रखनेवाले स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, किन्तु द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। भिन्न प्रत्ययके आधारसे ही यदि पदार्थोंकी व्यवस्था की जाय; तो पदार्थोंकी गिनती करना ही कठिन है।

इसी तरह अवयवी द्रव्यको अवयवोंसे जुदा मानना भी प्रतीतिविरुद्ध है। तन्तु आदि अवयव ही अमुक आकारमें परिणत होकर पटसंज्ञा पा लेते हैं। कोई अलग पट नामका अवयवी तन्तु नामक अवयवोंमें समवाय-सम्बन्धसे रहता हो, यह अनुभवगम्य नहीं है; क्योंकि पट नामके अवयवीकी सत्ता तन्तुरूप अवयवोंसे भिन्न कहीं भी और कभी भी नहीं मालूम होती। स्कन्ध अवस्था पर्याय है, द्रव्य नहीं। जिन मिट्टीके परमाणुओंसे घड़ा बनता है, वे परमाणु स्वयं घड़ेके आकारको ग्रहण कर लेते हैं। घड़ा उन परमाणुओंकी सामुदायिक अभिव्यक्ति है। ऐसा नहीं है कि घड़ा पृथक् अवयवी बनकर कहींसे आ जाता हो, किन्तु मिट्टी-के परमाणुओंका अमुक आकार, अमुक पर्याय और अमुक प्रकारमें क्रमबद्ध परिणमनोंकी औसतसे ही घटके रूपमें हो जाता है और घटव्यवहारकी संगति बैठ जाती है। घट-अवस्थाको प्राप्त परमाणुद्रव्योंका अपना निजी स्वतन्त्र परिणमन भी उस अवस्थामें बराबर चालू रहता है। यही कारण है कि घटके अमुक-अमुक हिस्सोंमें रूप, स्पर्श और टिकाऊपन आदिका अन्तर देखा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक परमाणु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र परिणमन रखनेपर भी सामुदायिक समान परिणमनकी धारामें अपने व्यक्ति-गत परिणमनको विलीन-सा कर देता है और जब तक यह समान परिणमनकी धारा अवयवभूत परमाणुओंमें चालू रहती है, तब तक उस पदार्थकी एक-जैसी स्थिति बनी रहती है। जैसे-जैसे उन परमाणुओंमें सामुदायिक धारासे असहयोग प्रारम्भ होता है, वैसे-वैसे उस सामुदायिक अभिव्यक्तिमें न्यूनता, शिथिलता और जीर्णता आदि रूपसे विविधता आ चलती है। तात्पर्य यह कि मूलतः गुण और पर्यायोंका आधार जो होता है वही

द्रव्य कहलाता और उसीकी सत्ता द्रव्यरूपमें गिनी जाती है। अनेक द्रव्योंके समान या असमान परिणमनोंकी औसतसे जो विभिन्न व्यवहार होते हैं, वे स्वतन्त्र द्रव्यकी संज्ञा नहीं पा सकते।

जिन परमाणुओंसे घट बनता है उन परमाणुओंमें घट नामके निरंश अवयवीको स्वीकार करनेमें अनेकों दूषण आते हैं। यथा—निरंश अवयवी अपने अवयवोंमें एकदेशसे रहता है, या सर्वात्मना? यदि एकदेशसे रहता है; तो जितने अवयव हैं, उतने ही देश अवयवीके मानना होंगे। यदि सर्वात्मना प्रत्येक अवयवमें रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जायेंगे। यदि अवयवी निरंश है; तो वस्त्रादिके एक हिस्सेको ढँकनेपर सम्पूर्ण वस्त्र ढँका जाना चाहिये और एक अवयवमें क्रिया होनेपर पूरे अवयवोंमें क्रिया होनी चाहिए, क्योंकि अवयवी निरंश है। यदि अवयवी अतिरिक्त है; तो चार छटाँक सूतसे तैयार हुए वस्त्रका वजन बढ़ जाना चाहिये, पर ऐसा देखा नहीं जाता। वस्त्रके एक अंशके फट जानेपर फिर उतने परमाणुओंसे नये अवयवीकी उत्पत्ति माननेमें कल्पनागौरव और प्रतीतिबाधा है क्योंकि जब प्रतिसमय कपड़ेका उपचय और अपचय होता है तब प्रतिक्षण नये अवयवीकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी।

वैशेषिकका आठ, नव, दस आदि क्षणोंमें परमाणुकी क्रिया, संयोग आदि क्रमसे अवयवीकी उत्पत्ति और विनाशका वर्णन एक प्रक्रियामात्र है। वस्तुतः जैसे-जैसे कारणकलाप मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे उन परमाणुओंके संयोग और वियोगसे उस-उस प्रकारके आकार और प्रकार बनते और बिगड़ते रहते हैं। परमाणुओंसे लेकर घट तक अनेक स्वतंत्र अवयवियोंकी उत्पत्ति और विनाशकी प्रक्रियासे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जो द्रव्य पहले नहीं हैं, वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, जबकि किसी नये द्रव्यका उत्पाद और उसका सदाके लिए विनाश वस्तुसिद्धान्तके प्रतिकूल है। यह तो संभव है और प्रतीतिसिद्ध है कि उन-उन परमाणुओंकी विभिन्न अवस्थाओंमें पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि व्यवहार होते हुए पूर्ण कलश-अवस्थामें घटव्यवहार हो। इसमें किसी नये द्रव्यके उत्पाद बात नहीं है, और न वजन बढ़नेकी बात है।

यह ठीक है कि प्रत्येक परमाणु जलधारण नहीं कर सकता और घटमें जल भरा जा सकता है, पर इतने मात्रासे उसे पृथक् द्रव्य नहीं माना जा सकता। ये तो परमाणुओंके विशिष्ट संगठनके कार्य हैं; जो उस प्रकारके संगठन होनेपर स्वतः होते हैं। एक परमाणु आँखसे नहीं दिखाई देता, पर अमुक परमाणुका समुदाय जब विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, तो वह दिखाई देने लगता है। स्निग्धता और रूक्षताके कारण परमाणुओंके अनेक प्रकारके सम्बन्ध होते रहते हैं, जो अपनी दृढ़ता और शिथिलताके अनुसार अधिक टिकाऊ या कम टिकाऊ होते हैं। स्कन्ध-अवस्थामें चूँकि परमाणुओंका स्वतन्त्र द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता, अतः उन-उन हिस्सोंके परमाणुओंमें पृथक् रूप और रसादिका परिणमन भी होता जाता है। यही कारण है कि एक कपड़ा किसी हिस्सेमें अधिक मैला, किसीमें कम मैला और किसीमें उजला बना रहता है।

यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जो परमाणु किसी स्थूल घट आदि कार्य रूपसे परिणत हुए हैं, वे अपनी परमाणु-अवस्थाको छोड़कर स्कन्ध-अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। यह स्कन्ध-अवस्था किसी नये द्रव्यकी नहीं, किन्तु उन सभी परमाणुओंकी अवस्थाओंका योग है। यदि परमाणुओंको सर्वथा पृथक् और सदा परमाणुरूप ही स्वीकार किया जाता है, तो जिस प्रकार एक परमाणु आँखोंसे नहीं दिखाई देता उसी तरह सैकड़ों परमाणुओंके अति-समीप रखे रहनेपर भी, वे इन्द्रियोंके गोचर नहीं हो सकेंगे। अमुक स्कन्ध-अवस्थामें आनेपर उन्हें अपनी अदृश्यताको त्यागकर दृश्यता स्वीकार करनी ही चाहिए। किसी भी वस्तुकी मजबूती या कमजोरी उसके घटक अवयवोंके दृढ़ और शिथिल बंधके ऊपर निर्भर करती है। वे ही परमाणु लोहेके स्कन्धकी अवस्थाको प्राप्तकर कठोर और चिरस्थायी बनते हैं, जबकि कई अवस्थामें मृदु और अचिर-

स्थायी रहती हैं। यह सब तो उनके बन्धके प्रकारोंसे होता रहता है। यह तो समझमें आता है कि प्रत्येक पुद्गल परमाणु-द्रव्यमें पुद्गलकी सभी शक्तियाँ हों, और विभिन्न स्कन्धोंमें उनका न्यूनाधिकरूपमें अनेक तरहका विकास हो। घटमें ही जल भरा जाता है कपड़ेमें नहीं, यद्यपि परमाणु दोनोंमें ही हैं और परमाणुओंसे दोनों ही बने हैं। वही परमाणु चन्दन-अवस्थामें शीतल होते हैं और वे ही जब अग्निका निमित्त पाकर आग बन जाते हैं, तब अन्य लकड़ियोंकी आगकी तरह दाहक होते हैं। पुद्गलद्रव्योंके परस्पर न्यूनाधिक सम्बन्धसे होनेवाले परिणमनोंकी न कोई गिनती निर्धारित है और न आकार और प्रकार ही। किसी भी पर्यायकी एकरूपता और चिरस्थायिता उसके प्रतिसमयभावी समानपरिणमनोंपर निर्भर करती है। जब तक उसके घटक परमाणुओंमें समानपर्याय होती रहेगी, तब तक वह वस्तु एक-सी रहेगी और ज्यों ही कुछ परमाणुओंमें परिस्थितिके अनुसार असमान परिणमन शुरू होगा; तैसे ही वस्तुके आकार-प्रकारमें विलक्षणता आती जायगी। आजके विज्ञानसे जल्दी सड़नेवाले आलूको बरफमें या वद्धवायु (Airtite) में रखकर जल्दी सड़नेसे बचा लिया है।

तात्पर्य यह कि सतत गतिशील पुद्गल-परमाणुओंके आकार और प्रकारकी स्थिरता या अस्थिरताकी कोई निश्चित जवाबदारी नहीं ली जा सकती। यह तो परिस्थिति और वातावरणपर निर्भर है कि वे कब, कहाँ और कैसे रहें। किसी लम्बे-चौड़े स्कन्धके अमुक भागके कुछ परमाणु यदि विद्रोह करके स्कन्धत्वको कायम रखनेवाली परिणतिको स्वीकार नहीं करते हैं तो उस भागमें तुरन्त विलक्षणता आ जाती है। इसीलिए स्थायी स्कन्ध तैयार करनेके समय इस बातका विशेष ध्यान रखा जाता है कि उन परमाणुओंका परस्पर एकरस मिलाव हुआ है या नहीं। जैसा मावा तैयार होगा वैसा ही तो कागज बनेगा। अतः न तो परमाणुओंको सर्वथा नित्य यानी अपरिवर्तनशील माना जा सकता है और न इतना स्वतन्त्र परिणमन करनेवाले कि जिससे एक समान पर्यायका विकास ही न हो सके।

अवयवीका स्वरूप

यदि बौद्धोंकी तरह अत्यन्त समीप रखे हुए किन्तु परस्पर असम्बद्ध परमाणुओंका पुञ्ज ही स्थूल घटादि रूपसे प्रतिभासित होता है, यह माना जाय, तो बिना सम्बन्धके तथा स्थूल आकारकी प्राप्तिके बिना ही वह अणुपुञ्ज स्कन्ध रूपसे कैसे प्रतिभासित हो सकता है? यह केवल भ्रम नहीं है किन्तु प्रकृतिकी प्रयोगशालामें होनेवाला वास्तविक रासायनिक मिश्रण है, जिसमें सभी परमाणु बदलकर एक नई ही अवस्थाको धारण कर रहे हैं। यद्यपि 'तत्त्वसंग्रह' (पृ० १९५) में यह स्वीकार किया है कि परमाणुओंमें विशिष्ट अवस्थाकी प्राप्ति हो जानेसे वे स्थूलरूपमें इन्द्रियग्राह्य होते हैं, तो भी जब सम्बन्धका निषेध किया जाता है, तब इस 'विशिष्ट अवस्थाप्राप्ति' का क्या अर्थ हो सकता है? अन्ततः उसका यही अर्थ सम्भव है कि जो परमाणु परस्पर विलग और अतीन्द्रिय थे वे ही परस्परबद्ध और इन्द्रियग्राह्य बन जाते हैं। इस प्रकारकी परिणतिके माने बिना बालूके पुञ्जसे घटके परमाणुओंके सम्बन्धमें कोई विशेषता नहीं बताई जा सकती। परमाणुओंमें जब स्निग्धता और रूक्षताके कारण अमुक प्रकारके रासायनिक बन्धके रूपमें सम्बन्ध होता है, तभी वे परमाणु स्कन्ध-अवस्थाको धारण कर सकते हैं; केवल परस्पर निरन्तर अवस्थित होनेके कारण ही नहीं। यह ठीक है कि उस प्रकारका बन्ध होनेपर भी कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, पर नई अवस्था तो उत्पन्न होती ही है, और वह ऐसी अवस्था है, जो केवल साधारण संयोगसे जन्य नहीं है, किन्तु विशेष प्रकारके उभयपारिणामिक रासायनिक बन्धसे उत्पन्न होती है। परमाणुओंके संयोग-सम्बन्ध अनेक प्रकारके होते हैं—कहीं मात्र प्रदेशसंयोग होता है, कहीं निबिड, कहीं शिथिल और कहीं रासायनिक बन्धरूप।

बन्ध-अवस्थामें ही स्कन्धकी उत्पत्ति होती है और अचाक्षुष स्कन्धको चाक्षुष बननेके लिए दूसरे स्कन्धके विशिष्ट संयोगकी उस रूपमें आवश्यकता है, जिस रूपसे वह उसकी सूक्ष्मताका विनाशकर स्थूलता ला सके; यानी जो स्कन्ध या परमाणु अपनी सूक्ष्म अवस्थाका त्यागकर स्थूल अवस्थाको धारण करता है, वह इन्द्रियगम्य हो सकता है। प्रत्येक परमाणुमें अखण्डता और अविभागिता होनेपर भी यह खूबी तो अवश्य है कि अपनी स्वाभाविक लचकके कारण वे एक दूसरेको स्थान दे देते हैं, और असंख्य परमाणु मिलकर अपने सूक्ष्म परिणमनरूप स्वभावके कारण थोड़ी-सी जगहमें समा जाते हैं। परमाणुओंकी संख्याका अधिक होना ही स्थूलताका कारण नहीं। बहुतसे कमसंख्यावाले परमाणु भी अपने स्थूल परिणमनके द्वारा स्थूल स्कन्ध बन जाते हैं, जब कि उनसे कई गुने परमाणु कार्मण शरीर आदिमें सूक्ष्म परिणमनके द्वारा इन्द्रिय-अग्राह्य स्कन्धके रूपमें ही रह जाते हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियग्राह्यताके लिए परमाणुओंकी संख्या अपेक्षित नहीं है, किन्तु उनका अमुक रूपमें स्थूल परिणमन ही विशेषरूपसे अपेक्षणीय होता है। ये अनेक प्रकारके बन्ध परमाणुओंके अपने स्निग्ध और रूक्ष स्वभावके कारण प्रतिक्षण होते रहते हैं, और परमाणुओंके अपने निजी परिणमनोंके योगसे उस स्कन्धमें रूपादिका तारतम्य घटित हो जाता है।

एक स्थूल स्कन्धमें सैकड़ों प्रकारके बन्धवाले छोटे-छोटे अवयव-स्कन्ध शामिल रहते हैं; और उनमें प्रतिसमय किसी अवयवका टूटना, नयेका जुड़ना तथा अनेक प्रकारके उपचय-अपचयरूप परिवर्तन होते हैं। यह निश्चित है कि स्कन्ध-अवस्था बिना रासायनिक बन्धके नहीं होती। यों साधारण संयोगके आधारसे भी एक स्थूल प्रतीति होती है और उसमें व्यवहारके लिए नई संज्ञा भी कर ली जाती है, पर इतनेमात्रसे स्कन्ध अवस्था नहीं बनती। इस रासायनिक बन्धके लिए पुरुषका प्रयत्न भी क्वचित् काम करता है और बिना प्रयत्नके भी अनेकों बन्ध प्राप्त सामग्रीके अनुसार होते हैं। पुरुषका प्रयत्न उनमें स्थायिता और सुन्दरता तथा विशेष आकार उत्पन्न करता है। सैकड़ों प्रकारके भौतिक आविष्कार इसी प्रकारकी प्रक्रियाके फल हैं।

असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनन्त पुद्गल परमाणुओंका समा जाना आकाशकी अवगाहशक्ति और पुद्गलाणुओंके सूक्ष्मपरिणमनके कारण सम्भव हो जाता है। कितनी भी सुसम्बद्ध लकड़ीमें कील ठोकी जा सकती है। पानीमें हाथीका डूब जाना हमारी प्रतीतिका विषय होता ही है। परमाणुओंकी अनन्त शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। आजके एटम बमने उसकी भीषण संहारक शक्तिका कुछ अनुभव तो हम लोगोंको करा ही दिया है।

गुण आदि द्रव्यरूप ही हैं

प्रत्येक द्रव्य सामान्यतया यद्यपि अखण्ड है, परन्तु वह अनेक सहभावी गुणोंका अभिन्न आधार होता है। अतः उसमें गुणकृत विभाग किया जा सकता है। एक पुद्गलपरमाणु युगपत् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुणोंका आधार होता है। प्रत्येक गुणका भी प्रतिसमय परिणमन होता है। गुण और द्रव्यका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यसे गुण पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वह अभिन्न है; और संज्ञा, संख्या, प्रयोजन आदिके भेदसे उसका विभिन्नरूपसे निरूपण किया जाता है; अतः वह भिन्न है। इस दृष्टिसे द्रव्यमें जितने गुण हैं, उतने उत्पाद और व्यय प्रतिसमय होते हैं। हर गुण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको धारण करता है, पर वे सब हैं अपृथक्सत्ताक ही, उनकी द्रव्यसत्ता एक है। बारीकीसे देखा जाय तो पर्याय और गुणको छोड़कर द्रव्यका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, यानी गुण और पर्याय ही द्रव्य है और पर्यायोंमें परिवर्तन होनेपर भी जो एक अविच्छिन्नताका नियामक अंश है, वही तो गुण

है। हाँ, गुण अपनी पर्यायोंमें सामान्य एकरूपताके प्रयोजक होते हैं। जिस समय पुद्गलाणुमें रूप अपनी किसी नई पर्यायको लेता है, उसी समय रस, गन्ध और स्पर्श आदि भी बदलते हैं। इस तरह प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिसमय गुणकृत अनेक उत्पाद और व्यय होते हैं। ये सब उस गुणकी सम्पत्ति (Property) या स्वरूप हैं।

रूपादि गुण प्रातिभासिक नहीं हैं

एक पक्ष यह भी है कि परमाणुमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणोंकी सत्ता नहीं है। वह तो एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो आँखोंसे रूप, जीभसे रस, नाकसे गन्ध और हाथ आदिसे स्पर्शके रूपमें जाना जाता है, यानी विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा उसमें रूपादि गुणोंकी प्रतीति होती है, वस्तुतः उसमें इन गुणोंकी सत्ता नहीं है। किन्तु यह एक मोटा सिद्धान्त है कि इन्द्रियाँ जाननेवाली हैं, गुणोंकी उत्पादक नहीं। जिस समय हम किसी आमको देख रहे हैं, उस समय उसमें रस, गन्ध या स्पर्श है ही नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। हमारे न सूँघनेपर भी उसमें गन्ध है और न चखने और न छूनेपर भी उसमें रस और स्पर्श है यह बात प्रतिदिनके अनुभव की है इसे समझानेकी आवश्यकता नहीं है। इस तरह चेतन आत्मामें एक साथ ज्ञान, सुख, शक्ति, विश्वास, धैर्य और साहस आदि अनेकों गुणोंका युगपत् सद्भाव पाया जाता है, और इनका प्रतिक्षण परिवर्तन होते हुए भी उसमें एक अविच्छिन्नता बनी रहती है। चैतन्य इन्हीं अनेक रूपोंमें विकसित होता है। इसीलिये गुणोंको सहभावी और अन्वयी बताया है, पर्यायें व्यतिरेकी और क्रमभावी होती हैं। वे इन्हीं गुणोंके विकार या परिणाम होती हैं। एक चेतन द्रव्यमें जिस क्षण ज्ञानकी अमुक पर्याय हो रही है, उसी क्षण दर्शन, सुख और शक्ति आदि अनेक गुण अपनी-अपनी पर्यायोंके रूपसे बराबर परिणत हो रहे हैं। यद्यपि इन समस्त गुणोंमें एक चैतन्य अनुस्यूत है; फिर भी यह नहीं है कि एक ही चैतन्य स्वयं निर्गुण होकर विविध गुणोंके रूपमें केवल प्रतिभासित हो जाता हो। गुणोंकी अपनी स्थिति स्वयं है और यही एकसत्ताक गुण और पर्याय द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इनसे जुदा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, किन्तु इन्हीं सबका तादात्म्य है।

गुण केवल दृष्टि-सृष्टि नहीं हैं कि अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उस द्रव्यमें कभी प्रतिभासित हो जाते हों और प्रतिभासके बाद या पहले अस्तित्व-विहीन हो। इस तरह प्रत्येक चेतन-अचेतन द्रव्यमें अपने सहभावी गुणोंके परिणमनके रूपमें अनेकों उत्पाद और व्यय स्वभावसे होते हैं और द्रव्य उन्हींमें अपनी अखण्ड अनुस्यूत सत्ता रखता है, यानी अखण्ड-सत्तावाले गुण-पर्याय ही द्रव्य हैं। गुण प्रतिसमय किसी-न-किसी पर्याय रूपसे परिणत होगा ही और ऐसे अनेक गुण अनन्तकाल तक जिस एक अखण्ड सत्तासे अनुस्यूत रहते हैं, वह द्रव्य है। द्रव्यका अर्थ है, उन-उन क्रमभावी पर्यायोंको प्राप्त होना। और इस तरह प्रत्येक गुण भी द्रव्य कहा जा सकता है, क्योंकि वह अपनी क्रमभावी पर्यायोंमें अनुस्यूत रहता ही है, किन्तु इस प्रकार गुणमें औपचारिक द्रव्यता ही बनती है, मुख्य नहीं। एक द्रव्यसे तादात्म्य रखनेके कारण सभी गुण एक तरहसे द्रव्य ही हैं, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक गुण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप सत् होनेके कारण स्वयं एक परिपूर्ण द्रव्य होता है। अर्थात् गुण वस्तुतः द्रव्यांश कहे जा सकते हैं, द्रव्य नहीं। यह अंशकल्पना भी वस्तुस्थितिपर प्रतिष्ठित है, केवल समझानेके लिए ही नहीं है। इस तरह द्रव्य गुण-पर्यायोंका एक अखण्ड, तादात्म्य रखनेवाला और अपने हरएक प्रदेशमें सम्पूर्ण गुणोंकी सत्ताका आधार होता है।

इस विवेचनका यह फलितार्थ है कि एक द्रव्य अनेक उत्पाद और व्ययोंका और गुणरूपसे ध्रौव्यका युगपत् आधार होता है। यह अपने विभिन्न गुण और पर्यायोंमें जिस प्रकारका वास्तविक तादात्म्य रखता है,

उस प्रकारका तादात्म्य दो द्रव्योंमें नहीं हो सकता। अतः अनेक विभिन्न सत्ताके परमाणुओंके बन्ध-कालमें जो स्कन्ध-अवस्था होती है, वह उन्हीं परमाणुओंके सदृश परिणमनका योग है, उनमें कोई एक नया द्रव्य नहीं आता, अपितु विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त वे परमाणु ही विभिन्न स्कन्धोंके रूपमें व्यवहृत होते हैं। यह विशिष्ट अवस्था उनकी कथञ्चित् एकत्व-परिणतिरूप है।

कार्योत्पत्ति विचार

सांख्यका सत्कार्यवाद

कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें मुख्यतया तीन वाद हैं। पहला सत्कार्यवाद, दूसरा असत्कार्यवाद और तीसरा सत्-असत्कार्यवाद। सांख्य सत्कार्यवादी हैं। उनका यह आशय है[1] कि प्रत्येक कारणमें उससे उत्पन्न होनेवाले कार्योंकी सत्ता है क्योंकि सर्वथा असत् कार्यकी खरविषाणकी तरह उत्पत्ति नहीं हो सकती। गेहूँके अंकुरके लिए गेहूँके बीजको ही ग्रहण किया जाता है, यवादिके बीजको नहीं। अतः ज्ञात होता है कि उपादानमें कार्यका सद्भाव है। जगत्में सब कारणोंसे सब कार्य पैदा नहीं होते, किन्तु प्रतिनियत कारणोंसे प्रतिनियत कार्य होते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि जिन कारणोंमें जिन कार्योंका सद्भाव है, वे ही उनसे पैदा होते हैं, अन्य नहीं। इसी तरह समर्थ भी कारण शक्य ही कार्यको पैदा करता है, अशक्यको नहीं। यह शक्यता कारणमें कार्यके सद्भावके सिवाय और क्या हो सकती है? और यदि कारणमें कार्यका तादात्म्य स्वीकार न किया जाय तो संसारमें कोई किसीका कारण नहीं हो सकता। कार्यकारणभाव स्वयं ही कारणमें किसी रूपमें कार्यका सद्भाव सिद्ध कर देता है। सभी कार्य प्रलयकालमें किसी एक कारणमें लीन हो जाते हैं। वे जिसमें लीन होते हैं, उसमें उनका सद्भाव किसी रूपसे रहा आता है। ये कारणोंमें कार्यकी सत्ता शक्तिरूपसे मानते हैं, अभिव्यक्तिरूपसे नहीं। इनका कारणतत्त्व एक प्रधान—प्रकृति है उसीसे संसारके समस्त कार्यभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

नैयायिकका असत्कार्यवाद

नैयायिकादि असत्कार्यवादी हैं। इनका यह मतलब है कि जो स्कन्ध परमाणुओंके संयोगसे उत्पन्न होता है वह एक नया ही अवयवी द्रव्य है। उन परमाणुओंके संयोगके बिखर जानेपर वह नष्ट हो जाता है। उत्पत्तिके पहले उस अवयवी द्रव्यकी कोई सत्ता नहीं थी। यदि कार्यकी सत्ता कारणमें स्वीकृत हो तो कार्यको अपने आकार-प्रकारमें उसी समय मिलना चाहिए था, पर ऐसा देखा नहीं जाता। अवयव द्रव्य और अवयवी द्रव्य यद्यपि भिन्न द्रव्य हैं, किन्तु उनका क्षेत्र पृथक् नहीं है, वे अयुतसिद्ध हैं। कहीं भी अवयवीकी उपलब्धि यदि होती है, तो वह केवल अवयवोंमें ही। अवयवोंसे भिन्न अर्थात् अवयवोंसे पृथक् अवयवीको जुदा निकालकर नहीं दिखाया जा सकता।

बौद्धोंका असत्कार्यवाद

बौद्ध प्रतिक्षण नया उत्पाद मानते हैं। उनकी दृष्टिमें पूर्व और उत्तरके साथ वर्तमानका कोई सम्बन्ध नहीं। जिस कालमें जहाँ जो है, वह वहीं और उसी कालमें नष्ट हो जाता है। सदृशता ही कार्य-कारणभाव आदि व्यवहारोंकी नियामिका है। वस्तुतः दो क्षणोंका परस्पर कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

---

१. "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूप्यस्य।"
—सांख्यका० ९।

जैनदर्शनका सदसत्कार्यवाद

जैनदर्शन 'सदसत्कार्यवादी' है। उसका सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थमें मूलभूत द्रव्ययोग्यताएँ होनेपर भी कुछ तत्पर्याययोग्यताएँ भी होती हैं। ये पर्याययोग्यताएँ मूल द्रव्ययोग्यताओंसे बाहरकी नहीं हैं, किन्तु उन्हींमेंसे विशेष अवस्थाओंमें साक्षात् विकासको प्राप्त होनेवाली हैं। जैसे मिट्टीरूप पुद्गलके परमाणुओंमें पुद्गलकी घट-पट आदिरूपसे परिणमन करनेकी सभी द्रव्ययोग्यताएँ हैं, पर मिट्टीकी तत्पर्याययोग्यता घटको ही साक्षात् उत्पन्न कर सकती है, पट आदिको नहीं। तात्पर्य यह है कि कार्य अपने कारणद्रव्यमें द्रव्ययोग्यताके साथ ही तत्पर्याययोग्यता या शक्तिके रूपमें रहता है। यानी उसका अस्तित्व योग्यता अर्थात् द्रव्यरूपसे ही है, पर्यायरूपसे नहीं है।

सांख्यके यहाँ कारणद्रव्य तो केवल एक 'प्रधान' ही है, जिसमें जगत्के समस्त कार्योंके उत्पादनकी शक्ति है। ऐसी दशामें जबकि उसमें शक्तिरूपसे सब कार्य मौजूद हैं, तब अमुक समयमें अमुक ही कार्य उत्पन्न हो यह व्यवस्था नहीं बन सकती। कारणके एक होनेपर परस्परविरोधी अनेक कार्योंकी युगपत् उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। अतः सांख्यके यह कहनेका कोई विशेष अर्थ नहीं रहता कि 'कारणमें कार्य शक्तिरूपसे है, व्यक्तिरूपसे नहीं', क्योंकि शक्तिरूपसे तो सब सब जगह मौजूद है। 'प्रधान' चूँकि व्यापक और निरंश है, अतः उसमें एक साथ विभिन्न देशोंमें परस्पर विरोधी अनेक कार्योंका आविर्भाव होना प्रतीतिविरुद्ध है। सीधा प्रश्न तो यह है कि जब सर्वशक्तिमान् 'प्रधान' नामका कारण सर्वत्र मौजूद है, तो मिट्टीके पिण्डसे घटकी तरह कपड़ा और पुस्तक क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

जैनदर्शनका उत्तर तो स्पष्ट है कि मिट्टीके परमाणुओंमें यद्यपि पुस्तक और पटरूपसे परिणमन करनेकी मूल द्रव्ययोग्यता है, किन्तु मिट्टीकी पिण्डरूप पर्यायमें साक्षात् कपड़ा और पुस्तक बनानेकी तत्पर्याययोग्यता नहीं है, इसलिए मिट्टीका पिण्ड पुस्तक या कपड़ा नहीं बन पाता। फिर कारण द्रव्य भी एक नहीं, अनेक हैं; अतः सामग्रीके अनुसार परस्पर विरुद्ध अनेक कार्योंका युगपत् उत्पाद बन जाता है। महत्ता तत्पर्याययोग्यता की है। जिस क्षणमें कारणद्रव्योंमें जितनी तत्पर्याययोग्यताएँ होंगी उनमेंसे किसी एकका विकास प्राप्त कारणसामग्रीके अनुसार हो जाता है। पुरुषका प्रयत्न उसे इष्ट आकार और प्रकारमें परिणत करानेके लिए विशेष साधक होता है। उपादानव्यवस्था इसी तत्पर्याययोग्यताके आधारपर होती है, मात्र द्रव्ययोग्यताके आधारसे नहीं; क्योंकि द्रव्ययोग्यता तो गेहूँ और कोदो दोनों बीजोंके परमाणुओंमें सभी अंकुरोंको पैदा करनेकी समानरूपसे है परन्तु तत्पर्याययोग्यता कोदोके बीजमें कोदोके अंकुरको ही उत्पन्न करने की है। तथा गेहूँके बीजमें गेहूँके अंकुरको ही उत्पन्न करने की है। इसीलिए भिन्न-भिन्न कार्योंकी उत्पत्तिके लिए भिन्न-भिन्न उपादानोंका ग्रहण होता है।

धर्मकीर्तिके आक्षेपका समाधान

अतः बौद्धका[1] यह दूषण कि "दहीको खाओ, यह कहनेपर व्यक्ति ऊँटको क्यों नहीं खाने दौड़ता ? जबकि दही और ऊँटके पुद्गलोंमें पुद्गलद्रव्यरूपसे कोई भेद नहीं है।" उचित मालूम नहीं होता; क्योंकि जगत्का व्यवहारमात्र द्रव्य-योग्यतासे नहीं चलता, किन्तु तत्पर्याययोग्यतासे चलता है। ऊँटके शरीरके पुद्गल और

---

१. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृते. ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥"

—प्रमाणवा० ३।१८१

दहीके पुद्गल, द्रव्यरूपसे समान होनेपर भी 'एक' नहीं हैं और चूँकि वे स्थूल पर्यायरूपसे भी अपना परस्पर भेद रखते हैं तथा उनकी तत्पर्याययोग्यताएँ भी जुदी-जुदी हैं, अतः दही हो खाया जाता है, ऊँटका शरीर नहीं। सांख्यके मतसे यह समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि जब एक ही प्रधान दही और ऊँट दोनों रूपसे विकसित हुआ है, तब उनमें भेदका नियामक क्या है ? एक तत्त्वमें एक ही समय विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारके परिणमन नहीं हो सकते। इसी तरह यदि घट अवयवी और उसके उत्पादक मिट्टीके परमाणु परस्पर सर्वथा विभिन्न हैं; तो क्या नियामक है जो घड़ा वहीं उत्पन्न हो अन्यत्र नहीं ? प्रतिनियत कार्य-कारणकी व्यवस्थाके लिए कारणमें योग्यता या शक्तिरूपसे कार्यका सद्भाव मानना आवश्यक है। यानी कारणमें कार्योत्पादानकी योग्यता या शक्ति रहनी ही चाहिए। योग्यता, शक्ति और सामर्थ्य आदि एकजातीय मूलद्रव्योंमें समान होनेपर भी विभिन्न अवस्थाओंमें उनकी सीमा नियत हो जाती है और इसी नियतताके कारण जगत्में अनेक प्रकारके कार्यकारणभाव बनते हैं। यह तो हुई अनेक पुद्गलद्रव्योंके संयुक्त स्कन्ध की बात।

एक द्रव्यकी अपनी क्रमिक अवस्थाओंमें अमुक उत्तर पर्यायका उत्पन्न होना केवल द्रव्ययोग्यतापर ही निर्भर नहीं करता, किन्तु कारणभूत पर्यायकी तत्पर्याय-योग्यतापर भी। प्रत्येक द्रव्यके प्रतिसमय स्वभावतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपसे परिणामी होनेके कारण सारी व्यवस्थाएँ सदसत्कार्यवादके आधारसे जम जाती हैं। विवक्षित कार्य अपने कारणमें कार्याकारसे असत् होकर भी योग्यता या शक्तिके रूपमें सत् है। यदि कारण-द्रव्यमें वह शक्ति न होती तो उससे वह कार्य उत्पन्न हो नहीं हो सकता था। एक अविच्छिन्न प्रवाहमें चलनेवाली धारावद्ध पर्यायोंका परस्पर ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध तो होना ही चाहिए, जिसके कारण अपनी पूर्व पर्याय ही अपनी उत्तर पर्यायमें उपादान कारण हो सके, दूसरेकी उत्तर पर्यायमें नहीं। यह अनुभवसिद्ध व्यवस्था न तो सांख्यके सत्कार्यवादमें सम्भव है, और न बौद्ध तथा नैयायिक आदिके असत्कार्यवादमें ही। सांख्यके पक्षमें कारणके एक होनेसे इतनी अभिन्नता है कि कार्यभेदको सिद्ध करना असम्भव है, और बौद्धोंके यहाँ इतनी भिन्नता है कि अमुक क्षणके साथ अमुक क्षणका उपादान-उपादेयभाव बनना कठिन है।

इसी तरह नैयायिकोंके अवयवी द्रव्यका अमुक अवयवोंके ही साथ समवायसम्बन्ध सिद्ध करना इसलिए कठिन है कि उनमें परस्पर अत्यन्त भेद माना गया है।

इस तरह जैनदर्शनमें ये जीवादि छह द्रव्य प्रमाणके प्रमेय माने गये हैं। ये सामान्य-विशेषात्मक और गुणपर्यायात्मक हैं। गुण और पर्याय द्रव्यसे कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध रखनेके कारण सत् तो हैं, पर वे द्रव्यकी तरह मौलिक नहीं हैं, किन्तु द्रव्यांश हैं। ये ही अनेकान्तात्मक पदार्थ प्रमेय हैं और इन्हीके एक-एक धर्मोंमें नयोंकी प्रवृत्ति होती है। जैनदर्शनकी दृष्टिमें द्रव्य ही एकमात्र मौलिक पदार्थ है, शेष गुण, कर्म, सामान्य, समवाय आदि उसी द्रव्यकी पर्यायें हैं, स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं।

●

नय-विचार

नयका लक्षण

अधिगमके उपायोंमें प्रमाणके साथ नयका भी निर्देश किया गया है। प्रमाण वस्तुके पूर्णरूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशको जानता है। ज्ञाताका वह अभिप्रायविशेष नय[1] है जो प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एकदेशको स्पर्श करता है। वस्तु अनन्तधर्मवाली है। प्रमाणज्ञान उसे समग्रभावसे ग्रहण करता है, उसमें अंशविभाजन करनेकी ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे 'यह घड़ा है' इस ज्ञानमें प्रमाण घडेको अखंड भावसे उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनन्त गुणधर्मोंका विभाग न करके पूर्णरूपमें जानता है, जब कि कोई भी नय उसका विभाजन करके 'रूपवान् घटः', 'रसवान् घटः' आदि रूपमें उसे अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार जानता है। एक बात ध्यानमें रखने की है कि प्रमाण और नय ज्ञानकी ही वृत्तियाँ हैं, दोनों ज्ञानात्मक पर्यायें हैं। जब ज्ञाताकी सकलके ग्रहणकी दृष्टि होती है तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाणसे गृहीत वस्तुको खंडश ग्रहण करनेका अभिप्राय होता है तब वह अंशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। प्रमाणज्ञान नयकी उत्पत्तिके लिये भूमि तैयार करता है।

यद्यपि छद्मस्थोंके सभी ज्ञान वस्तुके पूर्णरूपको नहीं जान पाते, फिर भी जितनेको वह जानते हैं उनमें भी उनकी यदि समग्रके ग्रहणकी दृष्टि है तो वे सकलग्राही ज्ञान प्रमाण हैं और अंशग्राही विकल्पज्ञान नय। 'रूपवान् घट' यह ज्ञान भी यदि रूपमुखेन समस्त घटका ज्ञान अखंडभावसे करता है तो प्रमाणकी ही सीमामें पहुँचता है और घटके रूप, रस आदिका विभाजन कर यदि घडेके रूपको मुख्यतया जानता है तो वह नय कहलाता है। प्रमाणके जाननेका क्रम एकदेशके द्वारा भी समग्रकी तरफ ही है, जब कि नय समग्र-वस्तुको विभाजित कर उसके अंशविशेषकी ओर ही झुकता है। प्रमाण चक्षुके द्वारा रूपको देखकर भी उस द्वारसे पूरे घडेको आत्मसात् करता है और नय उस घडेका विश्लेषणकर उसके रूप आदि अंशोंके जाननेकी ओर प्रवृत्त होता है? इसीलिये प्रमाणको सकलादेशी और नयको विकलादेशी कहा है। प्रमाणके द्वारा जानी गई वस्तुको शब्दकी तरंगोंसे अभिव्यक्त करनेके लिये जो ज्ञानकी रुझान होती है वह नय है।

नय प्रमाणका एकदेश है

'नय प्रमाण है या अप्रमाण?' इस प्रश्नका समाधान 'हाँ' और 'नहीं' में नहीं किया जा सकता है? जैसे कि घडेमें भरे हुए समुद्रके जलको न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही[2]। नय प्रमाणसे उत्पन्न होता है, अतः प्रमाणात्मक होकर भी अंशग्राही होनेके कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता, और अप्रमाण तो वह हो ही नहीं सकता। अतः जैसे घडेका जल समुद्रैकदेश है असमुद्र नहीं, उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है, अप्रमाण नहीं। नयके द्वारा ग्रहण की जानेवाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु; किन्तु वह 'वस्त्वेकदेश' ही हो सकती है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसागरका वह अंश नय है जिसे

१. 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः।'—लघी० श्लो० ५५।
'ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयाः।'—सिद्धिवि०, टी०, पृ० ५१७।

२. 'नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥'—त० श्लो० १।६। नयविवरण श्लो० ६।

ज्ञाताने अपने अभिप्रायके पात्रमें भर लिया है। उसका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही है पर उसमें वह विशालता और समग्रता नहीं है जिससे उसमें सब समा सकें। छोटे-बड़े पात्र अपनी मर्यादाके अनुसार ही तो जल ग्रहण करते है। प्रमाणकी रंगशालामें नय अनेक रूपों और वेशोंमें अपना नाटक रचता है।

सुनय, दुर्नय

यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तुके एक-एक अन्त अर्थात् धर्मोंको विषय करनेवाले अभिप्रायविशेष प्रमाणकी ही सन्तान हैं, पर इनमें यदि सुमेल, परस्पर प्रीति और अपेक्षा है तो ही वे सुनय हैं, अन्यथा दुर्नय। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तुके अमुक अंशको मुख्यभावसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करता; उनकी ओर तटस्थभाव रखता है। जैसे बापकी जायदादमें सभी सन्तानोंका समान हक होता है और सपूत वही कहा जाता है जो अपने अन्य भाइयोंके हकको ईमानदारीसे स्वीकार करता है, उनके हड़पनेकी चेष्टा कभी भी नहीं करता, किन्तु सद्भाव ही उत्पन्न करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा वस्तुमें सभी नयोंका समान अधिकार है और सुनय वही कहा जायगा जो अपने अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्यके अंशोंको गौण तो करे पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा करे अर्थात् उनके अस्तित्वको स्वीकार करे। जो दूसरेका निराकरण करता है और अपना ही अधिकार जमाता है वह कलहकारी कपूतकी तरह दुर्नय कहलाता है।

प्रमाणमे पूर्ण वस्तु समाती है। नय एक अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोको गौण करता है, पर उनकी अपेक्षा रखता है, तिरस्कार तो कभी भी नहीं करता। किन्तु दुर्नय अन्यनिरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण[1] 'तत् और अतत्' सभीको जानता है, नयमें 'अतत्' या 'तत्' गौण रहता है और केवल 'तत्' या 'अतत्' की प्रतिपत्ति होती है, पर दुर्नय अन्यका निराकरण करता है। [2]प्रमाण 'सत्' को ग्रहण करता है, और नय 'स्यात् सत्' इस तरह सापेक्ष रूपसे जानता है जब कि दुर्नय 'सदेव' ऐसा अवधारणकर अन्यका तिरस्कार करता है। निष्कर्ष यह कि सापेक्षता ही नयका[3] प्राण है।

आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मतिसूत्र (१।२१-२५) में कहा है कि—

> "तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
> अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा॥"
>
> —सन्मति० १।२२

वे सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने ही पक्षका आग्रह करते हैं—परका निषेध करते हैं, किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्वके सद्भाववाले होते है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं। जैसे अनेक प्रकारके गुणवाली वैडूर्य आदि मणियाँ महामूल्यवाली होकर भी यदि एक सूत्रमें पिरोई हुई न हों, परस्पर घटक न हों, तो 'रत्नावली' संज्ञा नहीं पा सकतीं, उसी तरह अपने नियत वादोंका आग्रह रखनेवाले परस्पर-निरपेक्ष नय सम्यक्त्वपनेको नहीं पा सकते, भले ही वे अपने-अपने पक्षके लिये कितने ही महत्त्वके क्यों न हो। जिस प्रकार वे ही मणियाँ एक सूतमे पिरोई जाकर 'रत्नावली या रत्नाहार'

१. 'धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनय-दुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च। प्रमाणात्तदतत्स्वभाव-प्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।'—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०।

२. 'सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।'—अन्ययोगव्य० श्लो० २८।

३. 'निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।'—आप्तमी० श्लो० १०८।

बन जाती हैं उसी तरह सभी नय परस्परसापेक्ष होकर सम्यक्पनेको प्राप्त हो जाते हैं, वे सुनय बन जाते हैं। अन्तमें वे कहते हैं—

"जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्णा॥" —सन्मति० १।५३

जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषयका प्रतिपादन करते है, वह उनकी स्वसमय-प्रज्ञापना है तथा अन्य—निरपेक्षवृत्ति तीर्थङ्करकी आसादना है।

आचार्य कुन्दकुन्द इसी तत्त्वको बडी मार्मिक रीतिसे समझाते हैं—

"दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किञ्चिवि णयपक्खपरिहीणो॥"
—समयसार गाथा १४३

स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयोंके वक्तव्यको जानता तो है, पर किसी एक नयका तिरस्कार करके दूसरे नयके पक्षको ग्रहण नही करता। वह एक नयको द्वितीयसापेक्षरूपसे ही ग्रहण करता है।

वस्तु जब अनन्तधर्मात्मक है तब स्वभावत एक-एक धर्मको ग्रहण करनेवाले अभिप्राय भी अनन्त ही होंगे; भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें, पर जितने शब्द हैं उनके वाच्य धर्मोंको जाननेवाले उतने अभिप्राय तो अवश्य ही होते हैं। यानी अभिप्रायोकी संख्याकी अपेक्षा हम नयोकी सीमा न बाँध सकें, पर यह तो सुनिश्चितरूपसे कह ही सकते हैं कि जितने शब्द हैं उतने तो नय अवश्य हो सकते हैं; क्योकि कोई भी वचनमार्ग अभिप्रायके बिना हो ही नही सकता। ऐसे अनेक अभिप्राय तो सभव हैं जिनके वाचक शब्द न मिलें, पर ऐसा एक भी सार्थक शब्द नही हो सकता, जो बिना अभिप्रायके प्रयुक्त होता हो। अत सामान्यतया जितने शब्द हैं उतने[१] नय हैं।

यह विधान यह मानकर किया जाता है कि प्रत्येक शब्द वस्तुके किसी-न-किसी धर्मका वाचक होता है। इसीलिए तत्त्वार्थभाष्य (१।३४) मे 'ये नय क्या एक वस्तुके विषयमें परस्पर विरोधी तन्त्रोके मतवाद हैं या जैनाचार्योंके ही परस्पर मतभेद हैं?' इस प्रश्नका समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद हैं और न आचार्योंके ही पारस्परिक मतभेद हैं?' किन्तु ज्ञेय अर्थको जाननेवाले नाना अध्यवसाय हैं।' एक ही वस्तुको अपेक्षाभेदसे या अनेक दृष्टिकोणोसे ग्रहण करनेवाले विकल्प हैं। वे हवाई कल्पनाएँ नही हैं। और न शेखचिल्लीके विचार ही है, किन्तु अर्थको नाना प्रकारसे जाननेवाले अभिप्राय-विशेष हैं।

ये निर्विषय न होकर ज्ञान, शब्द या अर्थ किसी-न-किसीको विषय अवश्य करते हैं। इसका विवेक करना ज्ञाताका कार्य है। जैसे एक ही लोक सत्की अपेक्षा एक है, जीव और अजीवके भेदसे दो, ऊर्ध्व, मध्य और अध के भेदसे तीन, चार प्रकारके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होनेसे चार; पाँच अस्तिकायों-की अपेक्षा पाँच और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह प्रकारका कहा जा सकता है। ये अपेक्षाभेदसे होनेवाले विकल्प हैं, मात्र मतभेद या विवाद नही हैं। उसी तरह नयवाद भी अपेक्षाभेदसे होनेवाले वस्तुके विभिन्न अध्यवसाय हैं।

१ "जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया।" —सन्मति० ३।४७।

दो नय–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

इस तरह सामान्यतया अभिप्रायोंकी अनन्तता होनेपर भी उन्हें दो विभागोंमें बाँटा जा सकता है—एक अभेदको ग्रहण करनेवाले और दूसरे भेदको ग्रहण करनेवाले। वस्तुमें स्वरूपतः अभेद है, वह अखंड है और अपनेमें एक मौलिक है। उसे अनेक गुण, पर्याय और धर्मोंके द्वारा अनेकरूपमें ग्रहण किया जाता है। अभेदग्राहिणी दृष्टि द्रव्यदृष्टि कही जाती है और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायदृष्टि। द्रव्यको मुख्यरूपसे ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यास्तिक या अव्युच्छित्ति नय कहलाता है और पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायास्तिक या व्युच्छित्ति नय। अभेद अर्थात् सामान्य और भेद यानी विशेष। वस्तुओंमें अभेद और भेदकी कल्पनाके दो-दो प्रकार हैं। अभेदकी एक कल्पना तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्यमें अपनी द्रव्यशक्तिके कारण विवक्षित अभेद है, जो द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है। यह अपनी कालक्रमसे होनेवाली क्रमिक पर्यायोंमें ऊपरसे नीचे तक व्याप्त रहनेके कारण ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायोंको व्याप्त करता है उसी तरह अपने सहभावी गुण और धर्मोंको भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद-कल्पना विभिन्नसत्ताक अनेक द्रव्योंमें संग्रहकी दृष्टिसे की जाती है। यह कल्पना शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए सादृश्यकी अपेक्षासे की जाती है। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मनुष्योंमें सादृश्यमूलक मनुष्यत्व जातिकी अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्यकी कल्पना तिर्यक्सामान्य कहलाती है। यह अनेक द्रव्योंमें तिरछी चलती है। एक द्रव्यकी पर्यायोंमें होनेवाली एक भेदकल्पना पर्यायविशेष कहलाती है तथा विभिन्न द्रव्योंमें प्रतीत होनेवाली दूसरी भेद कल्पना व्यतिरेकविशेष कही जाती है। इस प्रकार दोनों प्रकारके अभेदोंको विषय करनेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और दोनों भेदोंको विषय करनेवाली दृष्टि पर्यायदृष्टि है।

परमार्थ और व्यवहार

परमार्थतः प्रत्येक द्रव्यगत अभेदको ग्रहण करनेवाली दृष्टि ही द्रव्यार्थिक और प्रत्येक द्रव्यगत पर्याय-भेदको जाननेवाली दृष्टि ही पर्यायार्थिक होती है। अनेक द्रव्यगत अभेद औपचारिक और व्यावहारिक है, अतः उनमें सादृश्यमूलक अभेद भी व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। अनेक द्रव्योंका भेद पारमार्थिक ही है। 'मनुष्यत्व' मात्र सादृश्यमूलक कल्पना है। कोई एक ऐसा मनुष्यत्व नामका पदार्थ नहीं है, जो अनेक मनुष्यद्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। सादृश्य भी अनेकनिष्ठ धर्म नहीं है, किन्तु प्रत्येक व्यक्तिमें रहता है। उसका व्यवहार अवश्य परसापेक्ष है, पर स्वरूप तो प्रत्येकनिष्ठ ही है। अतः किन्हीं भी सजातीय या विजातीय अनेक द्रव्योंका सादृश्यमूलक अभेदसे संग्रह केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। अनन्त पुद्गलपरमाणुद्रव्योंको पुद्गलत्वेन एक कहना व्यवहारके लिए है। दो पृथक् परमाणुओंकी सत्ता कभी भी एक नहीं हो सकती। एक द्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्यको छोड़कर जितनी भी अभेद-कल्पनाएँ अवान्तरसामान्य या महासामान्यके नामसे की जाती हैं, वे सब व्यावहारिक हैं। उनका वस्तुस्थितिसे इतना ही सम्बन्ध है कि वे शब्दोंके द्वारा उन पृथक् वस्तुओंका संग्रह कर रही हैं। जिस प्रकार अनेकद्रव्यगत अभेद व्यावहारिक है उसी तरह एक द्रव्यमें कालिक पर्यायभेद वास्तविक होकर भी उसमें गुणभेद और धर्मभेद उस अखंड अनिर्वच-नीय वस्तुको समझने-समझाने और कहनेके लिए किया जाता है। जिस प्रकार पृथक् सिद्ध द्रव्योंको हम विश्लेषणकर अलग स्वतन्त्रभावसे गिना सकते हैं उस तरह किसी एक द्रव्यके गुण और धर्मोंको नहीं बता सकते। अतः परमार्थद्रव्यार्थिकनय एकद्रव्यगत अभेदको विषय करता है, और व्यवहार पर्यायार्थिक एकद्रव्य-की क्रमिक पर्यायोंके कल्पित भेदको। व्यवहारद्रव्यार्थिक अनेकद्रव्यगत कल्पित अभेदको जानता है और पर-

मार्थ पर्यायार्थिक दो द्रव्योंके वास्तविक परस्पर भेदको जानता है। वस्तुतः व्यवहारपर्यायार्थिककी सीमा एक द्रव्यगत गुणभेद और धर्मभेद तक ही है।

द्रव्यास्तिक और द्रव्यार्थिक

तत्त्वार्थवार्तिक (१।३३) में द्रव्यार्थिकके स्थानमें आनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायार्थिकके स्थानमें आनेवाला पर्यायास्तिक शब्द इसी सूक्ष्मभेदको सूचित करता है। द्रव्यास्तिकका तात्पर्य है कि जो एकद्रव्यके परमार्थ अस्तित्वको विषय करे और तन्मूलक ही अभेदका प्रख्यापन करे। पर्यायास्तिक एकद्रव्यकी वास्तविक क्रमिक पर्यायोंके अस्तित्वको मानकर उन्हींके आधारसे भेदव्यवहार करता है। इस दृष्टिसे अनेकद्रव्यगत परमार्थ भेदको पर्यायार्थिक विषय करके भी उनके भेदको किसी द्रव्यकी पर्याय नहीं मानता। यहाँ पर्यायशब्दका प्रयोग व्यवहारार्थ है। तात्पर्य यह है कि एकद्रव्यगत अभेदको द्रव्यास्तिक और परमार्थ द्रव्यार्थिक, एकद्रव्यगत पर्यायभेदको पर्यायास्तिक और व्यवहार पर्यायार्थिक, अनेक-द्रव्योंके सादृश्यमूलक अभेदको व्यवहार द्रव्यार्थिक तथा अनेकद्रव्यगत भेदको परमार्थ पर्यायार्थिक जानता है। अनेकद्रव्यगत भेदको हम 'पर्याय' शब्दसे व्यवहारके लिए ही कहते हैं। इस तरह भेदाभेदात्मक या अनन्तधर्मात्मक ज्ञेयमें ज्ञाताके अभिप्रायानुसार भेद या अभेदको मुख्य और इतरको गौण करके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी प्रवृत्ति होती है। कहाँ, कौन-सा भेद या अभेद विवक्षित है, यह समझना वक्ता और श्रोताको कुशलतापर निर्भर करता है।

यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि परमार्थ अभेद एकद्रव्यमें ही होता है और परमार्थ भेद दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें। इसी तरह व्यावहारिक अभेद दो पृथक् द्रव्योंमें सादृश्यमूलक होता है और व्यावहारिक भेद एकद्रव्यके दो गुणों, धर्मों या पर्यायोंमें परस्पर होता है। द्रव्यका अपने गुण, धर्म और पर्यायोंसे व्यावहारिक भेद ही होता है, परमार्थतः तो उनकी सत्ता अभिन्न ही है।

तीन प्रकारके पदार्थ और निक्षेप

तीर्थंकरोंके द्वारा उपदिष्ट समस्त अर्थका संग्रह इन्हीं दो नयोंमें हो जाता है। उनका कथन या तो अभेदप्रधान होता है या भेदप्रधान। जगत्में ठोस और मौलिक अस्तित्व यद्यपि द्रव्यका है और परमार्थ अर्थसंज्ञा भी इसी गुण-पर्यायवाले द्रव्यको दी जाती है। परन्तु व्यवहार केवल परमार्थ अर्थसे ही नहीं चलता। अतः व्यवहारके लिए पदार्थोंका निक्षेप शब्द, ज्ञान और अर्थ तीन प्रकारसे किया जाता है। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा किये बिना ही इच्छानुसार संज्ञा रखना 'नाम' कहलाता है। जैसे—किसी लड़केका 'गजराज' यह नाम शब्दात्मक अर्थका आधार होता है। जिसका नामकरण हो चुका है उस पदार्थका उसीके आकारवाली वस्तुमें या अतदाकार वस्तुमें स्थापना करना 'स्थापना' निक्षेप है। जैसे—हाथीकी मूर्तिमें हाथीकी स्थापना या शतरंजके मुहरेको हाथी कहना। यह ज्ञानात्मक अर्थका आश्रय होता है। अतीत और अनागत पर्यायकी योग्यताकी दृष्टिसे पदार्थमें वह व्यवहार करना 'द्रव्य' निक्षेप है। जैसे—युवराजको राजा कहना या जिसने राजपद छोड़ दिया है उसे भी वर्तमानमें राजा कहना। वर्तमान पर्यायकी दृष्टिसे होनेवाला व्यवहार 'भाव' निक्षेप है जैसे—राज्य करनेवालेको राजा कहना।

इसमें परमार्थ अर्थ—द्रव्य और भाव है। ज्ञानात्मक अर्थ स्थापना निक्षेप और शब्दात्मक अर्थ नामनिक्षेपमें गर्भित है। यदि बच्चा शेरके लिये रोता है तो उसे शेरका तदाकार खिलौना देकर ही व्यवहार निभाया जा सकता है। जगत्के समस्त शाब्दिक व्यवहार शब्दसे ही चल रहे हैं। द्रव्य और भाव पदार्थको

त्रैकालिक पर्यायोंमें होनेवाले व्यवहारके आधार बनते हैं। 'गजराजको बुला लाओ' यह कहनेपर इस नामक व्यक्ति ही बुलाया जाता है, न कि गजराज-हाथी। राज्याभिषेकके समय युवराज ही 'राजा साहिब' कहे जाते हैं और राज-सभामें वर्तमान राजा ही 'राजा' कहा जाता है। इत्यादि समस्त व्यवहार कहीं शब्द, कहीं अर्थ और कहीं स्थापना अर्थात् ज्ञानसे चलते हुए देखे जाते हैं।

अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका बोध कराना, संशयको दूर करना और तत्त्वार्थका अवधारण करना निक्षेप-प्रक्रियाका प्रयोजन है[१]। प्राचीन शैलीमें प्रत्येक शब्दके प्रयोगके समय निक्षेप करके समझानेकी प्रक्रिया देखी जाती है। जैसे—'घड़ा लाओ' इस वाक्यमें समझायेंगे कि 'घड़ा' शब्दसे नामघट, स्थापनाघट और द्रव्यघट विवक्षित नहीं, किन्तु 'भावघट' विवक्षित है। शेरके लिये रोनेवाले बालकको चुप करनेके लिये नामशेर, द्रव्यशेर और भावशेर नहीं चाहिये; किन्तु स्थापनाशेर चाहिये। 'गजराजको बुलाओ' यहाँ स्थापनागजराज, द्रव्यगजराज या भावगजराज नहीं बुलाया जाता किन्तु 'नाम गजराज' ही बुलाया जाता है। अतः अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका ज्ञान करना निक्षेपका मुख्य प्रयोजन है।

तीन और सात नय

इस तरह जब हम प्रत्येक पदार्थको अर्थ, शब्द और ज्ञानके आकारोंमें बाँटते हैं तो इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावतः तीन श्रेणियोंमें बँट जाते हैं—ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। कुछ व्यवहार केवल ज्ञानाश्रयी होते हैं, उनमें अर्थके तथाभूत होनेकी चिन्ता नहीं होती, वे केवल संकल्पसे चलते हैं। जैसे—आज 'महावीर जयन्ती' है। अर्थके आधारसे चलनेवाले व्यवहारमें एक ओर नित्य, एक ओर व्यापी रूपमें चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है, तो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियोंके मध्य की है। पहली कोटिमें सर्वथा अभेद—एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटिमें पदार्थको नानारूपसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं। चौथे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री। ये एक ही अर्थमें विभिन्न शब्दोंके प्रयोगको मानते हैं, परन्तु शब्दनय शब्दभेदसे अर्थभेदको अनिवार्य समझता है। इन सभी प्रकारके व्यवहारोंके समन्वयके लिये जैन परम्पराने 'नय-पद्धति' स्वीकार की है। नयका अर्थ है—अभिप्राय, दृष्टि, विवक्षा या अपेक्षा।

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहारका संकल्पमात्रग्राही नैगमनयमें समावेश होता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहार-का, जो "आत्मैवेदं सर्वम्" "एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" आदि उपनिषद्-वाक्योंसे प्रकट होता है, संग्रहनयमें अन्तर्भाव किया गया है। इससे नीचे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंको, जिनमें नैयायिक, वैशेषिकादि दर्शन हैं, व्यवहारनयमें शामिल किया गया है। अर्थकी आखिरी देश-कोटि परमाणुरूपता तथा अन्तिम काल-कोटिमें क्षणिकताको ग्रहण करनेवाली बौद्ध-दृष्टि ऋजुसूत्रनयमें स्थान पाती है। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेद और अभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियोंका नम्बर आता है। काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। इस काल-कारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद

१. "उक्तं हि—अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥" —धवला टी० सत्प्र०

ग्रहण करनेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश होता है। एक ही साधनसे निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। अत इन पर्यायवाची शब्दोंसे भी अर्थभेद माननेवाली दृष्टि समभिरूढमे स्थान पाती है। एवम्भूत नय कहता है कि जिस समय, जो अर्थ, जिस क्रियामें परिणत हो, उसी समय, उसमे तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिये। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न हैं। गुणवाचक 'शुक्ल' शब्द शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक 'अश्व' शब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक 'चलति' शब्द चलनेरूप क्रियासे और नामवाचक यदृच्छाशब्द 'देवदत्त' आदि भी 'देवने इसको दिया' आदि क्रियाओसे निष्पन्न होते हैं। इस तरह ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी समस्त व्यवहारोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है।

मूल नय सात

नयोके मूल भेद सात हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। आचार्य सिद्धसेन (सन्मति० १।४–५) अभेदग्राही नैगमका संग्रहमे तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहारनयमे अन्तर्भाव करके नयोके छह भेद ही मानते हैं। तत्त्वार्थभाष्यमें नयोके मूल भेद पाँच मानकर फिर शब्दनयके तीन भेद करके नयोंके सात भेद गिनाये हैं। नैगमनयके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी भेद भी तत्त्वार्थभाष्य (१।३४-३५) में पाये जाते हैं। षट्खंडागममें नयोंके नैगमादि शब्दान्त पाँच भेद गिनाये हैं, पर कसायपाहुडमे मूल पाँच भेद गिनाकर शब्दनयके तीन भेद कर दिये हैं और नैगमनयके सग्रहिक और असग्रहिक दो भेद भी किये हैं। इस तरह सात नय मानना प्राय सर्वसम्मत है।

नैगमनय[1]

संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय होता है। जैसे कोई पुरुष दरवाजा बनानेके लिये लकडी काटने जंगल जा रहा है। पूछनेपर वह कहता है कि 'दरवाजा लेने जा रहा हूँ।' यहाँ दरवाजा बनानेके सकल्पमें ही 'दरवाजा' व्यवहार किया गया है। सकल्प सत्मे भी होता है और असत्मे भी। इसी नैगमनय-की मर्यादामे अनेको औपचारिक व्यवहार भी आते हैं। 'आज महावीर जयन्ती है' इत्यादि व्यवहार इसी नयकी दृष्टिसे किये जाते हैं। निगम गाँवोंको कहते हैं, अत. गाँवमे जिस प्रकारके ग्रामीण व्यवहार चलते हैं वे सब इसी नयकी दृष्टिसे होते हैं।

[2]अकलकदेवने धर्म और धर्मी दोनोको गौण-मुख्यभावसे ग्रहण करना नैगमनयका कार्य बताया है। जैसे—'जीवः' कहनेसे ज्ञानादि गुण गौण होकर 'जीव द्रव्य' ही मुख्यरूपसे विवक्षित होता है और 'ज्ञानवान् जीव' कहनेमे ज्ञान-गुण मुख्य हो जाता है और जीव-द्रव्य गौण। यह न केवल धर्मको ही ग्रहण करता है और न केवल धर्मीको ही। विवक्षानुसार दोनो ही इसके विषय होते हैं। भेद और अभेद दोनों ही इसके कार्य-क्षेत्रमें आते है। दो [3]धर्मोमे, दो धर्मियोमे तथा धर्म और धर्मीमे एकको प्रधान तथा अन्यको गौण करके ग्रहण करना नैगमनयका ही कार्य है, जबकि संग्रहनय केवल अभेदको ही विषय करता है और व्यवहारनय मात्र भेदको ही। यह किसी एकपर नियत नही रहता। अत इसे ([4]नैकं गमः) नैगम कहते हैं। कार्य-कारण और आधार-आधेय आदिकी दृष्टिसे होनेवाले सभी प्रकारके उपचारोंको भी यही विषय करता है।

१. "अनभिनिर्वृत्तार्थसकल्पमात्रग्राही नैगम.।" —सर्वार्थसि० १।३३।

२. लघी० स्ववृ० श्लोक ३९।

३. त० श्लोकवा० श्लो० २६९।

४. धवलाटी० सत्प्ररू०।

नैगमाभास

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, सामान्य और सामान्यवान् आदिमें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि गुण गुणीसे पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणोंकी उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथंचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमें भी कथंचित्तादात्म्य सम्बन्धको छोड़कर दूसरा सम्बन्ध नहीं है। यदि गुण आदि गुणी आदिसे सर्वथा भिन्न, स्वतन्त्र पदार्थ हों; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण-गुणीभाव आदि नहीं बन सकेंगे। कथंचित्तादात्म्यका अर्थ है कि गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं—उनसे भिन्न नहीं हैं। जो स्वयं ज्ञानरूप नहीं है वह ज्ञानके समवायसे भी 'ज्ञ' कैसे बन सकता है? अतः वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे सर्वथा निरपेक्ष भेद मानना नैगमाभास है।[1]

सांख्यका ज्ञान और सुख आदिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। सांख्यका कहना है कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिके सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसीमें आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृतिके संसर्गसे पुरुषमें ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप 'व्यक्तकार्यकी' दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप 'अव्यक्त' स्वरूपसे अदृश्य है। चेतन पुरुष कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। चैतन्य बुद्धिसे भिन्न है। अतः चेतन पुरुषका धर्म बुद्धि नहीं है। इस तरह सांख्यका ज्ञान और आत्मामें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है, क्योंकि चैतन्य और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। बुद्धि उपलब्धि चैतन्य और ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची हैं। सुख और ज्ञानादिको सर्वथा अनित्य और पुरुषको सर्वथा नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि कूटस्थ नित्य पुरुषमें प्रकृतिके संसर्गसे भी बन्ध, मोक्ष और भोग आदि नहीं बन सकते। अतः पुरुषको परिणामी-नित्य ही मानना चाहिये, तभी उसमें बन्ध-मोक्षादि व्यवहार घट सकते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद-निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

संग्रह और संग्रहाभास

अनेक पर्यायोंको एकद्रव्यरूपसे या अनेक द्रव्योंको सादृश्य-मूलक एकत्वरूपसे अभेदग्राही संग्रह[2] नय होता है। इसकी दृष्टिमें विधि ही मुख्य है। द्रव्यको छोड़कर पर्यायें हैं ही नहीं। यह दो प्रकारका होता है—एक परसंग्रह और दूसरा अपरसंग्रह। परसंग्रहमें सत्‌रूपसे समस्त पदार्थोंका संग्रह किया जाता है तथा अपरसंग्रहमें एक द्रव्यरूपसे समस्त पर्यायोंका तथा द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका, गोत्वरूपसे समस्त गौओंका, मनुष्यत्वरूपसे समस्त मनुष्योंका इत्यादि संग्रह किया जाता है।

यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरमकोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्रनयकी विषयभूत एक वर्तमानकालीन क्षणवर्ती अर्थ-पर्याय तक पहुँचता है यानी संग्रह करनेके लिये दो रह ही नहीं जाते, तब अपरसंग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है। परसंग्रहके बाद और ऋजुसूत्रनयसे पहले अपरसंग्रह और व्यवहारनयका समान क्षेत्र है, पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसंग्रहमें सादृश्यमूलक या द्रव्यमूलक अभेददृष्टि मुख्य है और इसीलिये वह एकत्व लाकर संग्रह करता है तब व्यवहारनयमें भेदकी ही प्रधानता है, वह पर्याय-पर्यायमें भी भेद डालता है। परसंग्रहनयकी दृष्टिमें सद्‌रूपसे सभी पदार्थ एक हैं, उनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जीव, अजीव आदि सभी सद्‌रूपसे अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने अनेक नीलादि आकारोंमें व्याप्त है उसी तरह सन्मात्र

---

१. लघी० स्व० श्लो० ३९।

२. 'शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।'—लघी० श्लो० ३२।

तत्त्व सभी पदार्थोंमें व्याप्त है। जीव, अजीव आदि सभी उसीके भेद हैं। कोई भी ज्ञान सन्मात्रतत्त्वको जाने बिना भेदोंको नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादिमें प्रवृत्ति करे, या बाह्य अचेतन नीलादि पदार्थोंको जाने, वह सद्रूपसे अभेदांशको विषय करता ही है। इतना ध्यान रखनेकी बात है कि एक-द्रव्यमूलक पर्यायोंके संग्रहके सिवाय अन्य सभी प्रकारके संग्रह सादृश्यमूलक एकत्वका आरोप करके ही होते हैं और वे केवल संक्षिप्त शब्दव्यवहारकी सुविधाके लिये हैं। दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें चाहे वे सजातीय हों या विजातीय, वास्तविक एकत्व आ ही नहीं सकता।

संग्रहनयकी इस अभेददृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेददृष्टि है, जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर उसका वस्तुमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया है। इस आत्यन्तिक भेदके कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेददृष्टिके विषयभूत पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक अभेदके आधारपर स्थिर है, क्योंकि जब वही एक द्रव्य त्रिकालानुयायी होता है तभी वह नित्य कहा जा सकता है। अवयवी और स्थूलता दैशिक अभेदके आधारसे माने जाते हैं। जब एक वस्तु अनेक अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे, तभी वह अवयवीव्यपदेश पा सकती है। स्थूलतामें भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

इस नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं विश्व सन्मात्ररूप[1] है, एक है, अद्वैत है; क्योंकि सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है।

अद्वयब्रह्मवाद संग्रहाभास है, क्योंकि इसमें भेदका "नेह नानास्ति किञ्चन" (कठोप० ४।११) कहकर सर्वथा निराकरण कर दिया है। संग्रहनयमें अभेद मुख्य होनेपर भी भेदका निराकरण नहीं किया जाता, वह गौण अवश्य हो जाता है, पर उसके अस्तित्वसे इनकार नहीं किया जा सकता। अद्वयब्रह्मवादमें कारक और क्रियाओंके प्रत्यक्षसिद्ध भेदका निराकरण हो जाता है। कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, विद्या-अविद्याद्वैत आदि सभीका लोप इस मतमें प्राप्त होता है। अतः साग्रहिक व्यवहारके लिये भले ही परसंग्रहनय जगत्के समस्त पदार्थोंको 'सत्' कह ले, पर इससे प्रत्येक द्रव्यके मौलिक अस्तित्वका लोप नहीं हो सकता। विज्ञानकी प्रयोगशाला प्रत्येक अणुका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करती है। अतः संग्रहनयकी उपयोगिता अभेदव्यवहारके लिये ही है, वस्तुस्थितिका लोप करनेके लिये नहीं।

इसी तरह शब्दाद्वैत भी संग्रहाभास है। यह इसलिये कि इसमें भेदका और द्रव्योंके उस मौलिक अस्तित्वका निराकरण कर दिया जाता है, जो, प्रमाणसे प्रसिद्ध तो है ही, विज्ञानने भी जिसे प्रत्यक्ष कर दिखाया है।

व्यवहार और व्यवहाराभास

संग्रहनयके द्वारा संगृहीत अर्थमें विधिपूर्वक, अविसंवादी और वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय[2] है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, विसंवादी और वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेवाली भेदकल्पना [3]व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान

१. 'सर्वमेकं सदविशेषात्'–तत्त्वार्थभा० १।३५।

२. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।' —सर्वार्थसि० १।३३।

३. 'कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥'—त० श्लो० पृ० २७१।

तीनोंसे चलता है। जीवव्यवहार जीव-अर्थ जीव-विषयक ज्ञान और जीव-शब्द तीनोंसे सधता है। 'वस्तु उत्पादव्यय-ध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुण-पर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि भेदक-वाक्य प्रमाणाविरोधी हैं तथा लोकव्यवहारमें अविसंवादी होनेसे प्रमाण हैं। ये वस्तुगत अभेदका निराकरण न करनेके कारण तथा पूर्वापराविरोधी होनेसे सत्व्यवहारके विषय हैं। सौत्रान्तिकका जड या चेतन सभी पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक निरंश और परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, माध्यमिकका निरावलम्बन ज्ञान या सर्वशून्यता स्वीकार करना प्रमाणविरोधी और लोकव्यवहारमें विसंवादक होनेसे व्यवहाराभास है।

जो भेद वस्तुके अपने निजी मौलिक एकत्वकी अपेक्षा रखता है, वह व्यवहार है और अभेदका सर्वथा निराकरण करनेवाला व्यवहाराभास है। दो स्वतंत्र द्रव्योंमें वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्यके कारण अभेद आरोपित होता है, जब कि एकद्रव्यके गुण और पर्यायोंमें वास्तविक अभेद है, उनमें भेद उस अखण्ड वस्तुका विश्लेषणकर समझनेके लिए कल्पित होता है। इस मूल वस्तुस्थितिको लाँघकर भेदकल्पना या अभेदकल्पना तदाभास होती है, पारमार्थिक नहीं। विश्वके अनन्त द्रव्योंका अपना व्यक्तित्व मौलिक भेदपर ही टिका हुआ है। एक द्रव्यके गुणादिका भेद वस्तुतः मिथ्या कहा जा सकता है और उसे अविद्याकल्पित कहकर प्रत्येक द्रव्यके अद्वैत तक पहुँच सकते हैं, पर अनन्त अद्वैतोंमें तो क्या, दो अद्वैतोंमें भी अभेदकी कल्पना उसी तरह औपचारिक है, जैसे सेना, वन, प्रान्त और देश आदि की कल्पना। वैशेषिककी प्रतीतिविरुद्ध द्रव्यादिभेदकल्पना भी व्यवहाराभासमें आती है।

ऋजुसूत्र और तदाभास

व्यवहारनय तक भेद और अभेदकी कल्पना मुख्यतया अनेक द्रव्योंको सामने रखकर चलती है। 'एक द्रव्यमें भी कालक्रमसे पर्यायभेद होता है और वर्तमान क्षणका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध नहीं है' यह विचार ऋजुसूत्रनय प्रस्तुत करता है। यह नय[1] वर्तमानक्षणवर्ती शुद्ध अर्थपर्यायको ही विषय करता है। अतीत चूँकि विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अतः उसमें पर्याय व्यवहार ही नहीं हो सकता। इसकी दृष्टिसे नित्य कोई वस्तु नहीं है और स्थूल भी कोई चीज नहीं है। सरल सूतकी तरह यह[2] केवल वर्तमान पर्यायको स्पर्श करता है।

यह नय पच्यमान वस्तुको भी अंशतः पक्व कहता है। क्रियमाणको भी अंशतः कृत, भुज्यमानको भी भुक्त और बद्ध्यमानको भी बद्ध कहना इसकी सूक्ष्मदृष्टिमें शामिल है।

इस नयकी दृष्टिसे 'कुम्भकार' व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि जब तक कुम्हार शिविक, छत्रक आदि पर्यायोंको कर रहा है, तब तक तो कुम्भकार कहा नहीं जा सकता, और जब कुम्भ पर्यायका समय आता है, तब वह स्वयं अपने उपादानसे निष्पन्न हो जाती है। अब किसे करनेके कारण वह 'कुम्भकार' कहा जाय?

जिस समय जो आकरके बैठा है, वह यह नहीं कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ' इस नयकी दृष्टिमें 'ग्रामनिवास', 'गृहनिवास' आदि व्यवहार नहीं हो सकते, क्योंकि हर व्यक्ति स्वात्मस्थित होता है, वह न तो ग्राममें रहता है और न घरमें ही।

१. 'पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो।'—अनुयोग० द्वा० ४।
अकलंकग्रन्थत्रय टि० पृ० १४६।

२. 'सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः।'—तत्त्वार्थवा० १।३३

'कौआ काला है' यह नहीं हो सकता; क्योंकि कौआ कौआ है और काला काला। यदि काला कौआ हो; तो समस्त भौंरा आदि काले पदार्थ कौआ हो जाएँगे। यदि कौआ काला हो, तो सफेद कौआ नहीं हो सकेगा। फिर कौआके रक्त, मांस, पित्त, हड्डी, चमडी आदि मिलकर पंचरंगी वस्तु होते हैं, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते हैं ?

इस नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता; क्योकि आगीका सुलगाना, धौंकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षणमें नहीं हो सकती। जिस समय दाह है उस समय पलाल नहीं और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं, तब पलालदाह कैसा ? 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बहुत-सा पलाल बिना जला हुआ पड़ा है।

इस नयकी सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टिमें पान, भोजन आदि अनेक-समय-साध्य कोई भी क्रियाएँ नहीं बन सकती; क्योंकि एक क्षणमें तो क्रिया होती नहीं और वर्तमानका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध इसे स्वीकार नहीं है। जिस द्रव्यरूपी माध्यमसे पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें सम्बन्ध जुटता है उस माध्यमका अस्तित्व ही इसे स्वीकार्य नहीं है।

इस नयको लोकव्यवहारके विरोधकी कोई चिन्ता नहीं है।[1] लोक व्यवहार तो यथायोग्य व्यवहार, नैगम आदि अन्य नयोंसे चलेगा ही। इतना सब क्षणपर्यायकी दृष्टिसे विश्लेषण करनेपर भी यह नय द्रव्यका लोप नहीं करता। वह पर्यायकी मुख्यता भले ही कर ले, पर द्रव्यकी परमार्थसत्ता उसे क्षणकी तरह ही स्वीकृत है। उसकी दृष्टिमें द्रव्यका अस्तित्व गौणरूपमे विद्यमान रहता ही है।

बौद्धका सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्रनयाभास है, क्योंकि उसमे द्रव्यका विलोप हो जाता है और जब निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्तति दीपककी तरह बुझ जाती है, यानी अस्तित्वशून्य हो जाती है, तब उनके मतमें द्रव्यका सर्वथा लोप स्पष्ट हो जाता है।

क्षणिक पक्षका समन्वय ऋजुसूत्रनय तभी कर सकता है, जब उसमे द्रव्यका पारमार्थिक अस्तित्व विद्यमान रहे, भले ही वह गौण हो। परन्तु व्यवहार और स्वरूपभूत अर्थक्रियाके लिये उसकी नितान्त आवश्यकता है।

शब्दनय और तदाभास

काल, कारक, लिंग तथा संख्याके भेदसे शब्दभेद होनेपर उनके भिन्न-भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवाला शब्दनय[2] है। शब्दनयके अभिप्रायमे अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन क्रियाओंके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि भिन्न साधनोंके साथ प्रयुक्त देवदत्त भी भिन्न है। 'देवदत्त, देवदत्ता' इस लिंगभेदमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन और बहुवचनमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी भिन्न-भिन्न है। इसकी दृष्टिमे भिन्नकालीन, भिन्नकारक-निष्पन्न, भिन्नलिंगक और भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थके वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिये। शब्दनय उन वैयाकरणोंके तरीकेको अन्याय्य समझता है जो शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना चाहते, अर्थात् जो एकान्तनित्य आदि रूप पदार्थ मानते हैं, उसमें पर्यायभेद स्वीकार नहीं करते।

---

१. "ननु संव्यवहारलोपप्रसङ्ग इति चेत्; न; अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते। सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहार.।" —सर्वार्थसि० १।३३।

२. "कालकारकलिङ्गादिभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्।"—लघी० श्लो० ४४। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि० पृ० १४६।

उनके मतमें कालकारकादिभेद होनेपर भी अर्थ एकरूप बना रहता है। तब यह नय कहता है कि तुम्हारी मान्यता उचित नहीं है। एक ही देवदत्त कैसे विभिन्न लिंगक, भिन्नसंख्याक और भिन्नकालीन शब्दोंका वाच्य हो सकेगा? उसमें भिन्न शब्दोंकी वाच्यभूत पर्यायें भिन्न-भिन्न स्वीकार करनी ही चाहिये, अन्यथा लिंगव्यभिचार, साधनव्यभिचार और कालव्यभिचार आदि बने रहेंगे। व्यभिचारका यहाँ अर्थ है शब्दभेद होनेपर अर्थभेद नहीं मानना, यानी एक ही अर्थका विभिन्न शब्दोंसे अनुचित सम्बन्ध। अनुचित इसलिये कि हर शब्दकी वाचकशक्ति जुदा-जुदा होती है; यदि पदार्थमें तदनुकूल वाचकशक्ति नहीं मानी जाती है तो अनौचित्य तो स्पष्ट ही है, उनका मेल कैसे बैठ सकता है?

काल स्वयं परिणमन करनेवाले वर्तनाशील पदार्थोंके परिणमनमें साधारण निमित्त होता है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद हैं। केवल शक्ति तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नहीं कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते हैं। जो गर्भधारण करे वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष और जिसमें दोनों ही सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहलाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्त अर्थमें ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलनेपर षट्कारकी रूपसे परिणति कर सकती है। कालादिके भेदसे एक ही द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती हैं। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य वस्तुमें ऐसे परिणमनकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि सर्वथा नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य—ध्रौव्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न षट्कारकी, स्त्रीलिंगादि लिंग और वचनभेद आदिकी व्यवस्था एकान्तपक्षमें सम्भव नहीं है।

यह शब्दनय वैयाकरणोंको शब्दशास्त्रकी सिद्धिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, और बताता है कि सिद्धि अनेकान्तसे ही हो सकती है। जब तक वस्तुको अनेकान्तात्मक नहीं मानोगे, तब तक एक ही वर्तमान पर्यायमें विभिन्नलिंगक, विभिन्नसंख्याक शब्दोंका प्रयोग नहीं कर सकोगे, अन्यथा व्यभिचार दोष होगा। अतः उस एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेद मानना ही होगा। जो वैयाकरण ऐसा नहीं मानते उनका शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद न मानना शब्दनयाभास है। उनके मतमें उपसर्गभेद, अन्यपुरुषकी जगह मध्यमपुरुष आदि पुरुषभेद, भावि और वर्तमानक्रियाका एक कारकसे सम्बन्ध आदि समस्त व्याकरणकी प्रक्रियाएँ निराधार एवं निर्विषयक हो जायँगी। इसीलिये जैनेन्द्रव्याकरणके रचयिता आचार्यवर्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणका प्रारम्भ "सिद्धिरनेकान्तात्" सूत्रसे और आचार्य हेमचन्द्रने हेमशब्दानुशासनका प्रारम्भ "सिद्धि स्याद्वादात्" सूत्रसे किया है। अतः अन्य वैयाकरणोंका प्रचलित क्रम शब्दनयाभास है।

समभिरूढ और तदाभास

एककालवाचक, एकलिंगक तथा एकसंख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढनय[1] उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोंका भी अर्थभेद मानता है। इस नयके अभिप्रायसे एकलिंगवाले इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी भिन्नता होनेसे भिन्नार्थवाचकता है। शक्र शब्द शासनक्रियाकी अपेक्षासे, इन्द्र शब्द इन्दन—ऐश्वर्यक्रियाकी अपेक्षासे और पुरन्दर शब्द पूर्दारण क्रियाकी अपेक्षासे, प्रवृत्त हुआ है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक हैं। शब्दनयमें एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दोंमें अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढनय प्रवृत्तिनिमित्तोंकी विभिन्नता होनेसे पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद मानता है। यह नय उन कोशकारोंको दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, जिनने एक ही राजा या पृथ्वीके अनेक नाम–

१ 'अभिरूढस्तु पर्यायैः'—लघी० श्लो० ४४। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि पृ० १४७।

पर्यायवाची शब्द तो प्रस्तुत कर दिये हैं, पर उस पदार्थमे उन पर्यायशब्दोंकी वाच्यशक्ति जुदा-जुदा स्वीकार नही की। जिस प्रकार एक अर्थ अनेक शब्दोका वाच्य नही हो सकता, उसी प्रकार एक शब्द अनेक अर्थोंका वाचक भी नही हो सकता। एक गोशब्दके ग्यारह अर्थ नही हो सकते; उस शब्दमें ग्यारह प्रकारकी वाचक-शक्ति माननी ही होगी। अन्यथा यदि वह जिस शक्तिसे पृथिवीका वाचक है उसी शक्तिसे गायका भी वाचक हो; तो एकशक्तिक शब्दसे वाच्य होनेके कारण पृथिवी और गाय दोनो एक हो जायेंगे। अत शब्दमे वाच्यभेदके हिसाबसे अनेक वाचकशक्तियोकी तरह पदार्थमे भी वाचकभेदकी अपेक्षा अनेक वाचकशक्तियाँ माननी ही चाहिए। प्रत्येक शब्दके व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त जुदे-जुदे होते हैं, उनके अनुसार वाच्य-भूत अर्थमे पर्यायभेद या शक्तिभेद मानना ही चाहिये। यदि एकरूप ही पदार्थ हो; तो उसमे विभिन्न क्रियाओसे निष्पन्न अनेक शब्दोका प्रयोग ही नही हो सकेगा। इस तरह समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दोकी अपेक्षा भी अर्थभेद स्वीकार करता है।

पर्यायवाची शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नही मानना समभिरूढनयाभास है। जो मत पदार्थको एकान्तरूप मानकर भी अनेक शब्दोका प्रयोग करते है उनकी यह मान्यता तदाभास है।

एवम्भूत और तदाभास

एवम्भूतनय[१], पदार्थ जिस समय जिस क्रियामे परिणत हो उस समय उसी क्रियासे निष्पन्न शब्दकी प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय शासन कर रहा हो उसी समय उसे शक्र कहेंगे, इन्दन-क्रियाके समय नही। जिस समय घटन-क्रिया हो रही हो, उसी समय उसे घट कहना चाहिये, अन्य समयमें नही। समभि-रूढनय उस समय क्रिया हो या न हो, पर शक्तिकी अपेक्षा अन्य शब्दोंका प्रयोग भी स्वीकार कर लेता है, परन्तु एवम्भूतनय ऐसा नही करता। क्रियाक्षणमे ही कारक कहा जाय, अन्य क्षणमें नही। पूजा करते समय ही पुजारी कहा जाय, अन्य समयमे नही; और पूजा करते समय उसे अन्य शब्दसे भी नही कहा जाय। इस तरह समभिरूढनयके द्वारा वर्तमान पर्यायमे शक्तिभेद मानकर जो अनेक पर्यायशब्दोके प्रयोगकी स्वीकृति थी, वह इसकी दृष्टिमे नही है। यह तो क्रियाका धनी है। वर्तमानमे शक्तिकी अभिव्यक्ति देखता है। तत्क्रियाकालमें अन्य शब्दका प्रयोग करना या उस शब्दका प्रयोग नही करना एवम्भूताभास है। इस नयको व्यवहारकी कोई चिन्ता नही है। हाँ, कभी-कभी इससे भी व्यवहारकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। न्यायाधीश जब न्यायकी कुरसीपर बैठता है तभी न्यायाधीश है। अन्य कालमे भी यदि उसके सिरपर न्यायाधीशत्व सवार हो, तो गृहस्थी चलना कठिन हो जाय। अत. व्यवहारको जो सर्वनयसाध्य कहा है, वह ठीक ही कहा है।

नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषयक हैं

इन नयोमें[२] उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे सत् और असत् दोनोको विषय करता है, जबकि संग्रहनय 'सत्' तक ही सीमित है। नैगमनय भेद और अभेद दोनोको गौण-मुख्यभावसे विषय करता है, जबकि संग्रहनयकी दृष्टि केवल अभेदपर है, अत. नैगमनय महाविषयक और स्थूल है, परन्तु संग्रहनय अल्पविषयक और सूक्ष्म है। सन्मात्रग्राही संग्रहनयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्प-विषयक है। संग्रहके द्वारा संगृहीत अर्थमे व्यवहार भेद करता है, अत. वह अल्पविषयक ही हो जाता है।

---

१. 'येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूत ।'

—सर्वार्थसिद्धि १।३३। अकलंकग्रन्थत्रयटि० पृ० १४७।

२. 'एवमेते नया पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषयाः ।'

—तत्त्वार्थवा० १।३३।

व्यवहारनय द्रव्यग्राही और त्रिकालवर्ती सद्विशेषको विषय करता है, अत वर्तमानकालीन पर्यायको ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्र उससे सूक्ष्म हो ही जाता है। शब्दभेदकी चिन्ता नहीं करनेवाले ऋजुसूत्रनयसे वर्तमान-कालीन एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेदकी चिन्ता करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायवाची शब्दोंमें भेद होनेपर भी अर्थभेद न माननेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दों द्वारा पदार्थमें शक्तिभेद कल्पना करनेवाला समभिरूढनय सूक्ष्म है। शब्दप्रयोगमें क्रियाकी चिन्ता नहीं करनेवाले समभिरूढसे क्रियाकालमें ही उस शब्द-का प्रयोग माननेवाला एवम्भूत सूक्ष्मतम और अल्पविषयक है।

अर्थनय, शब्दनय

इन सात नयोंमें ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नय अर्थग्राही होनेसे अर्थनय[1] है। यद्यपि नैगमनय, संकल्प-ग्राही होनेसे अर्थकी सीमासे बाहिर हो जाता था, पर नैगमका विषय भेद और अभेद दोनोको ही मानकर उसे अर्थग्राही कहा गया है। शब्द आदि तीन नय पदविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र—शब्दशास्त्रकी सीमा और भूमिका वर्णन करते है, अत ये शब्दनय हैं।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक विभाग

नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं और ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायार्थिक हैं। प्रथमके तीन नयोकी द्रव्यपर दृष्टि रहती है, जबकि शेष चार नयोका वर्तमानकालीन पर्यायपर ही विचार चालू होता है। यद्यपि व्यवहारनयमें भेद प्रधान है और भेदको भी कहीं-कहीं पर्याय कहा है, परन्तु व्यवहार-नय एकद्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्यमें कालिक पर्यायोका अन्तिम भेद नहीं करता, उसका क्षेत्र अनेकद्रव्यमें भेद करनेका मुख्यरूपसे है। वह एकद्रव्यकी पर्यायोमें भेद करके भी अन्तिम एकक्षणवर्ती पर्याय तक नहीं पहुँच पाता, अत इसे शुद्ध पर्यायार्थिकमें शामिल नहीं किया है। जैसे कि नैगमनय कभी पर्यायको और कभी द्रव्य को विषय करनेके कारण उभयावलम्बी होनेसे द्रव्यार्थिकमें ही अन्तर्भूत है उसी तरह व्यवहारनय भी भेदप्रधान होकर भी द्रव्यको विषय करता है, अत वह भी द्रव्यार्थिककी ही सीमामें है। ऋजुसूत्रादि चार नय तो स्पष्ट ही एकसमयवर्ती पर्यायको सामने रखकर विचार चलाते है, अत. पर्यायार्थिक है। आ० जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमण ऋजुसूत्रको भी द्रव्यार्थिक मानते है[2]।

निश्चय और व्यवहार

अध्यात्मशास्त्रमें नयोके निश्चय और व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध है। निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ भी वहीं[3] बताया है। जिस प्रकार अद्वैतवादमें पारमार्थिक और व्यावहारिक दो रूप-में और शून्यवाद या विज्ञानवादमे परमार्थ और सावृत दो रूपमे या उपनिषदोमे सूक्ष्म और स्थूल दो रूपोंमे तत्त्वके वर्णनकी पद्धति देखी जाती है उसी तरह जैन अध्यात्ममे भी निश्चय और व्यवहार इन दो प्रकारोंको अपनाया है। अन्तर इतना है कि जैन अध्यात्मका निश्चयनय वास्तविक स्थितिको उपादानके आधारसे पकड़ता है; वह अन्य पदार्थोंके अस्तित्वका निषेध नही करता; जब कि वेदान्त या विज्ञानाद्वैतका परमार्थ अन्य

१. 'चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषास्त्रयं शब्दतः। —सिद्धिवि०। लघी० श्लो० ७२।

२. विशेषा० गा० ७५,७७,२२६२।

३. समयसार गा० ११।

पदार्थोंके अस्तित्वको ही समाप्त कर देता है। बुद्धकी धर्मदेशनाको परमार्थसत्य और लोकसंवृतिसत्य इन दो रूपसे[1] घटानेका भी प्रयत्न हुआ है।

निश्चयनय परनिरपेक्ष स्वभावका वर्णन करता है। जिन पर्यायोमे 'पर' निमित्त पड जाता है उन्हें वह शुद्ध स्वकीय नही कहता। परजन्य पर्यायोको 'पर' मानता है। जैसे—जीवके रागादि भावोमे यद्यपि आत्मा स्वयं उपादान होता है, वही रागरूपसे परिणति करता है, परन्तु चूँकि ये भाव कर्मनिमित्तक हैं, अत इन्हें वह अपने आत्माके निजरूप नही मानता। अन्य आत्माओ और जगत्के समस्त अजीवोको तो वह अपना मान ही नही सकता, किन्तु जिन आत्मविकासके स्थानोमें परका थोडा भी निमित्तत्व होता है उन्हें वह 'पर' के खातेमें ही खतया देता है। इसीलिये समयसारमे जब आत्माके वर्ण, रस, स्पर्श आदि प्रसिद्ध पररूपोंका निषेध किया है तो उसी झोंकमे गुणस्थान आदि परनिमित्तक स्वधर्मोंका भी निषेध कर दिया गया हैं।[2] दूसरे शब्दोंमे निश्चयनय अपने मूल लक्ष्य या आदर्शका खालिस वर्णन करना चाहता है, जिससे साधकको भ्रम न हो और वह भटक न जाय। इसलिये आत्माका नैश्चयिक वर्णन करते समय शुद्ध ज्ञायक रूप ही आत्माका स्वरूप प्रकाशित किया गया है। बन्ध और रागादिको भी उसी एक 'पर' कोटिमे डाल दिया है जिसमें पुद्गल आदि प्रकट परपदार्थ पडे हुए हैं। व्यवहारनय परसापेक्ष पर्यायोको ग्रहण करनेवाला होता है। परद्रव्य तो स्वतन्त्र है, अत उन्हें तो अपना कहनेका प्रश्न ही नही उठता।

अध्यात्मशास्त्रका उद्देश्य है कि वह साधकको यह स्पष्ट बता दे कि तुम्हारा गन्तव्य स्थान क्या है? तुम्हारा परम ध्येय और चरम लक्ष्य क्या हो सकता है? बीचके पडाव तुम्हारे साध्य नही हैं। तुम्हे तो उनसे बहुत ऊँचे उठकर परम स्वावलम्बी बनना है। लक्ष्यका दो टूक वर्णन किये बिना मोही जीव भटक ही जाता है। साधकको उन स्वोपादानक, किन्तु परनिमित्तक विभूति या विकारोसे उसी तरह अलिप्त रहना है, उनसे ऊपर उठना है, जिस तरह कि वह स्त्री, पुत्रादि परचेतन तथा धन-धान्यादि पर अचेतन पदार्थोंसे नाता तोडकर स्वावलम्बी मार्ग पकडता है। यद्यपि यह साधककी भावना मात्र है, पर इसे आ० कुन्दकुन्दने दार्शनिक आधार पकडाया है। वे उस लोकव्यवहारको हेय मानते हैं, जिसमे अशत. भी परावलम्बन हो। किन्तु यह ध्यानमे रखनेकी बात है कि ये सत्यस्थितिका अपलाप नही करना चाहते। वे लिखते हैं[3] कि 'जीवके परिणामोको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको प्राप्त होते है और उन कर्मोंके निमित्तसे जीवमे रागादि परिणाम होते हैं, यद्यपि दोनो अपने-अपने परिणामोमे उपादान होते है, पर वे परिणमन परस्पर-हेतुक—अन्योन्यनिमित्तक है।' उन्होने "अण्णोण्णणिमित्तेण" पदसे इसी भावका समर्थन किया है। यानी कार्य उपादान और निमित्त दोनो सामग्रीसे होता है।

इस तथ्यका वे अपलाप नही करके उसका विवेचन करते है और जगत्के उस अहंकारमूलक नैमित्तिक

---

१ 'द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्य च परमार्थत.॥' —माध्यमिककारिका, आर्यसत्यपरीक्षा, श्लो०।

२. 'णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥ ५५॥ —समयसार।

३. 'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि॥८१॥' —समयसार

कर्तृत्वका खरा विश्लेषण करके कहते हैं[1] कि बताओ 'कुम्हारने घड़ा बनाया' इसमें कुम्हारने आखिर क्या किया ? यह सही है कि कुम्हारको घड़ा बनानेकी इच्छा हुई, उसने उपयोग लगाया और योग—अर्थात् हाथ-पैर हिलाये, किन्तु 'घट' पर्याय तो आखिर मिट्टीमे ही उत्पन्न हुई। यदि कुम्हारकी इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न ही घटके अन्तिम उत्पादक होते तो उनसे रेत या पत्थरमें भी घड़ा उत्पन्न हो जाना चाहिये था। आखिर वह मिट्टीकी उपादानयोग्यतापर ही निर्भर करता है, वही योग्यता घटाकार बन जाती है। यह ठीक है कि कुम्हारके ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नके निमित्त बने बिना मिट्टीकी योग्यता विकसित नही हो सकती थी, पर इतने निमित्तमात्रसे हम उपादानकी निजयोग्यताकी विभूतिकी उपेक्षा नही कर सकते। इस निमित्तका अहंकार तो देखिए कि जिसमे रंचमात्र भी इसका अंश नही जाता, अर्थात् न तो कुम्हारका ज्ञान मिट्टीमे घुसता है, न इच्छा और न प्रयत्न, फिर भी वह 'कुम्भकार' कहलाता है ! कुम्भके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि मिट्टीसे ही उत्पन्न होते हैं, उसका एक भी गुण कुम्हारने उपजाया नही है। कुम्हारका एक भी गुण मिट्टीमें पहुँचा नही है, फिर भी वह सर्वाधिकारी बनकर 'कुम्भकार' होनेका दुरभिमान करता है !

राग, द्वेष आदिकी स्थिति यद्यपि विभिन्न प्रकारकी है; क्योकि इसमे आत्मा स्वय राग और द्वेष आदि पर्यायों रूपसे परिणत होता है; फिर भी यहाँ वे विश्लेषण करते हैं कि बताओ तो सही—क्या शुद्ध आत्मा इनमे उपादान बनता है ? यदि सिद्ध और शुद्ध आत्मा रागादिमे उपादान बनने लगे; तो मुक्तिका क्या स्वरूप रह जाता है ? अत. इनमे उपादान रागादिपर्यायसे विशिष्ट आत्मा ही बनता है, दूसरे शब्दोंमें रागादिसे ही रागादि होते हैं। निश्चयनय जीव और कर्मके अनादि बन्धनसे इनकार नही करता। पर उस बंधनका विश्लेषण करता है कि जब दो स्वतंत्र द्रव्य हैं तो इनका सयोग ही तो हो सकता है, तादात्म्य नही। केवल संयोग तो अनेक द्रव्योसे इस आत्माका सदा ही रहनेवाला है, केवल वह हानिकारक नहीं होता। धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा अन्य अनेक आत्माओसे इसका सम्बन्ध बराबर मौजूद है, पर उससे इसके स्वरूपमें कोई विकार नही होता। सिद्धिशिलापर विद्यमान सिद्धात्माओके साथ वहाँके पुद्गल परमाणुओका सयोग है ही, पर इतने मात्रसे उनमें बन्धन नही कहा जा सकता और न उस संयोगसे सिद्धोंमें रागादि ही उत्पन्न होते हैं। अत. यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा परसंयोगरूप निमित्तके रहनेपर भी रागादिमें उपादान नही होता और न पर निमित्त उसमें बलात् रागादि उत्पन्न ही कर सकते हैं। हमें सोचना ऊपरकी तरफसे है कि जो हमारा वास्तविक स्वरूप बन सकता है, जो हम हो सकते हैं, वह स्वरूप क्या रागादिमें उपादान होता है ? नीचेकी ओरसे नही सोचना है; क्योकि अनादिकालसे तो अशुद्ध आत्मा रागादिमें उपादान बन ही रहा है और उसमे रागादिकी परम्परा बराबर चालू है।

अतः निश्चयनयको यह कहनेके स्थानमे कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पृष्ट हूँ; यह कहना चाहिये कि 'मैं शुद्ध, अबद्ध और अस्पृष्ट हो सकता हूँ।' क्योकि आज तक तो उसने आत्माकी इस शुद्ध आदर्श दशाका अनुभव किया ही नही है। बल्कि अनादिकालसे रागादिपंकमें ही वह लिप्त रहा है ! यह निश्चित तो इस आधारपर किया जा रहा है कि जब दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तब उनका संयोग भले ही अनादि हो, पर वह टूट सकता है, और वह टूटेगा तो अपने परमार्थ स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य करनेसे। इस शक्तिका निश्चय भी द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर ही तो किया जा सकता है। अनादि अशुद्ध आत्मामे शुद्ध होनेकी शक्ति है, वह शुद्ध हो सकता है। यह शक्यता—भविष्यत्का ही तो विचार है। हमारा भूत और वर्तमान अशुद्ध

१. जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥' —समयसार।

है, फिर भी निश्चयनय हमारे उज्ज्वल भविष्यकी ओर, कल्पनासे नही, वस्तुके आधारसे ध्यान दिलाता है। उसी तत्त्वको आचार्य कुन्द-कुन्द[1] बडी सुन्दरतासे कहते हैं कि 'काम, भोग और बन्धकी कथा सभीको श्रुत, परिचित और अनुभूत है, पर विभक्त—शुद्ध आत्माके एकत्वकी उपलब्धि सुलभ नही है।' कारण यह है कि शुद्ध आत्माका स्वरूप संसारी जीवोको केवल श्रुतपूर्व है अर्थात् उसके सुननेमे ही कदाचित् आया हो, पर न तो उसने कभी इसका परिचय पाया है और न कभी इमने उसका अनुभव ही किया है। आ० कुन्द-कुन्द (समयसार गा० ५) अपने आत्मविश्वाससे भरोसा दिलाते हैं कि 'मैं अपनी समस्त सामर्थ्य और बुद्धिका विभव लगाकर उसे दिखाता हूँ।' फिर भी वे थोडी कचाईका अनुभव करके यह भी कह देते हैं कि 'यदि चूक जाऊँ, तो छल नही मानना।'

द्रव्य का शुद्ध लक्षण

उनका एक ही दृष्टिकोण है कि द्रव्यका स्वरूप वही हो सकता है जो द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायमें व्याप्त होता है। यद्यपि द्रव्य किसी-न-किसी पर्यायको प्राप्त होता है और होगा, पर एक पर्याय दूसरी पर्यायमे तो नही पाई जा सकती और इसलिये द्रव्यकी कोई भी पर्याय द्रव्यसे अभिन्न होकर भी द्रव्यका शुद्धरूप नही कही जा सकती। अब आप आत्माके स्वरूपपर क्रमशः विचार कीजिए। वर्ण, रस आदि तो स्पष्ट पुद्‌गलके गुण हैं वे पुद्‌गलकी ही पर्यायें है और उनमे पुद्‌गल ही उपादान होता है, अत वे आत्माके स्वरूप नही हो सकते, यह बात निर्विवाद है। रागादि समस्त विकारोमें यद्यपि अपने परिणामीस्वभावके कारण आत्मा ही उपादान होता है, उसकी विरागता ही बिगडकर राग बनती है, उसीका सम्यक्त्व बिगडकर मिथ्यात्वरूप हो जाता है, पर वे विरागता और सम्यक्त्व भी आत्माके त्रिकालानुयायी शुद्ध रूप नही हो सकते; क्योंकि वे निगोद आदि अवस्थामे तथा सिद्ध अवस्था में नही पाये जाते। सम्यग्दर्शन आदि गुणस्थान भी उन-उन पर्यायों के नाम है जो कि त्रिकालानुयायी नही हैं, उनकी सत्ता मिथ्यात्व आदि अवस्थाओमे तथा सिद्ध अवस्था में नही रहती। इनमे परपदार्थ निमित्त पडता है। किसी-न-किसी पर कर्मका उपशम, क्षय या क्षयोपशम उसमे निमित्त होना ही है। केवली अवस्थामे जो अनन्तज्ञानादि गुण प्रकट हुए हैं वे घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए हैं और अघातिया कर्मोंका उदय उनके जीवनपर्यन्त बना ही रहता है। योगजन्य चंचलता उनके आत्मप्रदेशोमे है ही। अत परनिमित्तक होनेसे ये भी शुद्ध द्रव्यका स्वरूप नही कहे जा सकते। चौदहवे गुणस्थानको पार करके जो सिद्ध अवस्था है वह शुद्ध द्रव्यका ऐसा स्वरूप तो है जो प्रथम-क्षणभावी सिद्ध अवस्थासे लेकर आगेके अनन्तकाल तकके समस्त भविष्यमे अनुयायी है, उसमें कोई भी पर-निमित्तक विकार नही आ सकता, किन्तु वह संसारी दशामें नही पाया जाता। एक त्रिकालानुयायी स्वरूप ही लक्षण हो सकता है, और वह है—शुद्ध ज्ञायक रूप, चैतन्य रूप। इनमे ज्ञायक रूप भी परपदार्थके जानने-रूप उपाधिकी अपेक्षा रखता है।

त्रिकालव्यापी 'चित्' ही लक्षण हो सकती है

अत केवल 'चित्' रूप ही ऐसा बचता है जो भविष्यत्मे तो प्रकटरूपसे व्याप्त होता ही है, साथ ही अतीतकी प्रत्येक पर्यायमे, चाहे वह निगोद जैसी अत्यल्पज्ञानवाली अवस्था हो और केवलज्ञान जैसी समग्र विकसित अवस्था हो, सबमे निर्विवादरूपसे पाया जाता है। 'चित्' रूपका अभाव कभी भी आत्मद्रव्यमें न रहा है, न है और न होगा। वही अंश द्रवणशील होनेसे द्रव्य कहा जा सकता है और अलक्ष्यसे व्यावर्तक

१. सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स॥ —समयसार गा० ४।

होनेके कारण लक्ष्यव्यापी लक्षण हो सकता है। यह शंका नहीं की जा सकती कि 'सिद्ध अवस्था भी अपनी पूर्वकी संसारी निगोद आदि अवस्थाओंमें नहीं पाई जाती, अतः वह शुद्धद्रव्यका लक्षण नहीं हो सकती', क्योंकि यहाँ सिद्धपर्यायको लक्षण नहीं बनाया जा रहा है, लक्षण तो वह द्रव्य है जो सिद्धपर्यायमें पहली बार विकसित हुआ है और चूँकि उस अवस्थासे लेकर आगेकी अनन्तकालभावी समस्त अवस्थाओंमें कभी भी परनिमित्तक किसी भी अन्य परिणमनकी संभावना नहीं है, अतः वह 'चित्' अंश ही द्रव्यका यथार्थ परिचायक होता है। शुद्ध और अशुद्ध विशेषण भी उसमें नहीं लगते, क्योंकि वे उस अखण्ड चित्का विभाग कर देते हैं। इसलिये कहा[1] है कि मैं अर्थात् 'चित्' न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त, न तो अशुद्ध है और न शुद्ध, वह तो केवल 'ज्ञायक' है। हाँ, उस शुद्ध और व्यापक 'चित्' का प्रथम विकास मुक्त अवस्थामें ही होता है। इसीलिये आत्माके विकारी रागादिभावोंकी तरह कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षयसे होनेवाले भावोको भी अनादि-अनन्त सम्पूर्ण द्रव्यव्यापी न होनेसे आत्माका स्वरूप या लक्षण नहीं माना गया और उन्हें भी वर्णादिकी तरह परभाव कह दिया गया है। न केवल उन अव्यापक परनिमित्तक रागादि विकारी भावोंको 'पर भाव' ही कहा गया है, किन्तु पुद्गलनिमित्तक होनेसे 'पुद्गलकी पर्याय' तक कह दिया गया है।

तात्पर्य इतना ही है कि—ये सब बीचकी मंजिलें हैं। आत्मा अपने अज्ञानके कारण उन-उन पर्यायोंको धारण अवश्य करता है, पर ये सब शुद्ध और मूलभूत द्रव्य नहीं हैं। आत्माके इस त्रिकालव्यापी स्वरूपको आचार्यने इसीलिये अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त विशेषणोंसे व्यक्त किया है[2]। यानी एक ऐसी 'चित्' है जो अनादिकालसे अनन्तकाल तक अपनी प्रवहमान मौलिक सत्ता रखती है। उस अखंड 'चित्' को हम न निगोदरूपमें, न नारकादि पर्यायोंमें, न प्रमत्त, अप्रमत्त आदि गुणस्थानोंमें, न केवलज्ञानादि क्षायिक भावोमें और न अयोगकेवली अवस्थामें ही सीमित कर सकते हैं। उसका यदि दर्शन कर सकते हैं तो निरुपाधि, शुद्ध, सिद्ध अवस्थामें। वह मूलभूत 'चित्' अनादिकालसे अपने परिणामी स्वभावके कारण विकारी परिणमनमें पड़ी हुई है। यदि विकारका कारण परभावसंसर्ग हट जाय, तो वही निखरकर निर्मल, निर्लेप और खालिस शुद्ध बन सकती है।

तात्पर्य यह कि हम शुद्धनिश्चयनयसे उस 'चित्' का यदि रागादि अशुद्ध अवस्थामें या गुणस्थानोंकी शुद्धाशुद्ध अवस्थाओंमें वर्णन करना चाहते हैं तो इन सबसे दृष्टि हटाकर हमें उस महाव्यापक मूलद्रव्यपर दृष्टि ले जानी होगी और उस समय कहना ही होगा कि 'ये रागादि भाव आत्माके यानी शुद्ध आत्माके नहीं हैं, ये तो विनाशी हैं, वह अविनाशी अनाद्यनन्त तत्त्व तो जुदा ही है।

समयसारका शुद्धनय इसी मूलतत्त्वपर दृष्टि रखता है। वह वस्तुके परिणमनका निषेध नहीं करता और न उस चित्के रागादि पर्यायोंमें रुलनेका प्रतिषेधक ही है। किन्तु वह कहना चाहता है कि 'अनादिकालीन अशुद्ध किट्ट-कालिमा आदिसे विकृत बने हुए इस सोनेमें भी उस १०० टंचके सोनेकी शक्तिरूपसे विद्यमान आभापर एकबार दृष्टि तो दो, तुम्हें इस किट्ट-कालिमा आदिमें जो पूर्ण सुवर्णत्वकी बुद्धि हो रही है, वह अपने-आप हट जायगी। इस शुद्ध स्वरूपपर लक्ष्य दिये बिना कभी उसकी प्राप्तिकी दिशामें प्रयत्न

१. "ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥" —समयसार।

२. "जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥" —समयसार।

नहीं किया जा सकता । मे अबद्ध और अस्पृष्ट या असंयुक्त विशेषणसे यही बिताना चाहते हैं कि आत्माकी बद्ध, स्पृष्ट और संयुक्त अवस्थाएँ बीच की हैं, ये उनका त्रिकालव्यापी मूल स्वरूप नहीं है ।

उस एक 'चित्' का ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपसे विभाजन या उसका विशेषरूपसे कथन करना भी एक प्रकारका व्यवहार है, वह केवल समझने-समझानेके लिये है[1] । आप ज्ञानको या दर्शनको या चारित्रको भी शुद्ध आत्माका असाधारण लक्षण नहीं कह सकते, क्योंकि ये सब उस 'चित्' के अंश हैं और उस अखंड तत्त्वको खंड-खंड करनेवाले विशेष हैं । वह 'चित्' तो इन विशेषोंसे परे 'अविशेष' है, 'अनन्य' है और 'नियत' है । आचार्य आत्मविश्वाससे कहते हैं कि 'जिसने इसको जान लिया उसने समस्त जिनशासनको जान लिया ।'

निश्चयका वर्णन असाधारण लक्षणका कथन है

लक्षण उस असाधारण धर्मको कहते हैं जो समस्त लक्ष्योंमें व्याप्त हो तथा अलक्ष्यमें बिल्कुल न पाया जाय । जो लक्षण लक्ष्यमें नहीं पाया जाता वह असम्भवि लक्षणाभास कहलाता है, जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें पाया जाता है वह अतिव्याप्त लक्षणाभास है और जो लक्ष्यके एक देशमें रहता है वह अव्याप्त लक्षणाभास कहा जाता है । आत्मद्रव्यका आत्मभूत लक्षण करते समय हम इन तीनों दोषों का परिहार करके जब निर्दोष लक्षण खोजते हैं तो केवल 'चित्' के सिवाय दूसरा कोई पकड़में नहीं आता । वर्णादि तो स्पष्टतया पुद्गलके धर्म हैं, अतः वर्णादि तो जीवमें असम्भव हैं । रागादि विभावपर्यायें तथा केवलज्ञानादि स्वभावपर्यायें, जिनमें आत्मा स्वयं उपादान होता है समस्त आत्माओंमें व्यापक नहीं होनेसे अव्याप्त हैं । अतः केवल 'चित्' ही ऐसा स्वरूप है जो पुद्गलादि अलक्ष्योंमें नहीं पाया जाता और लक्ष्यभूत सभी आत्माओंमें अनाद्यनन्त व्याप्त रहता है । इसलिये 'चित्' ही आत्म द्रव्यका स्वरूपभूत लक्षण हो सकता है ।

यद्यपि यही 'चित्' प्रमत्त, अप्रमत्त, नर, नारकादि सभी अवस्थाओंको प्राप्त होती है, पर निश्चयसे वे पर्यायें आत्माका व्यापक लक्षण नहीं बन सकतीं । इसी व्याप्यव्यापकभावको लक्ष्यमें रखकर अनेक अशुद्ध अवस्थाओंमें भी शुद्ध आत्मद्रव्यकी पहिचान करानेके लिये आचार्यने शुद्ध नयका अवलम्बन किया है । इसीलिये 'शुद्ध चित्' का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि रूपसे विभाग भी उन्हें इष्ट नहीं है । वे एक अनिर्वचनीय अखण्ड चित्को ही आत्मद्रव्यके स्थानमें रखते हैं । आचार्यने इस लक्षणभूत 'चित्' के सिवाय जितने भी वर्णादि और रागादि लक्षणाभास हैं, उनका परभाव कहकर निषेध कर दिया है । इसी दृष्टिसे निश्चयनयको परमार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ भी कहा है । अभूतार्थका यह अर्थ नहीं है कि आत्मामें रागादि हैं ही नहीं, किन्तु जिस त्रिकालव्यापी द्रव्यरूप चित्को हम लक्षण बना रहे हैं उसमें इन्हें शामिल नहीं किया जा सकता ।

वर्णादि और रागादिको व्यवहारनयका विषय कहकर एक ही झोंकमें निषेध कर देनेसे यह भ्रम सहजमें ही हो सकता है कि 'जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध आदि पुद्गलके धर्म हैं उसी तरह रागादि भी पुद्गलके ही धर्म होंगे, और पुद्गलनिमित्तक होनेसे इन्हें पुद्गलकी पर्याय कहा भी है ।' इस भ्रमके निवारण-

१. 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥'—समयसार ।

के लिये निश्चयनयके दो भेद भी शास्त्रोंमें देखे जाते हैं[1]—एक शुद्धनिश्चयनय और दूसरा अशुद्धनिश्चयनय। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें 'शुद्ध चित्' ही जीवका स्वरूप है। अशुद्ध निश्चयनय आत्माके अशुद्ध रागादि-भावोंको भी जीवके ही कहता है, पुद्गलके नहीं। व्यवहारनय सद्भूत और असद्भूत दोनोंमें उपचरित और अनुपचरित अनेक प्रकारसे प्रवृत्ति करता है। समयसारके टीकाकारोंने अपनी टीकाओंमें वर्णादि और रागादिको व्यवहार और अशुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे ही विचारनेका संकेत किया है[2]।

पंचाध्यायीका नय-विभाग

पचाध्यायीकार अभेदग्राहीको द्रव्यार्थिक और निश्चयनय कहते हैं तथा किसी भी प्रकारके भेदको ग्रहण करनेवाले नयको पर्यायार्थिक और व्यवहारनय कहते हैं। इनके मतसे [3]निश्चयनयके शुद्ध और अशुद्ध भेद करना ही गलत है। ये वस्तुके सद्भूत भेदको व्यवहारनयका ही विषय मानते हैं। अखण्ड वस्तुमें किसी भी प्रकारका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिकी दृष्टिसे होनेवाला भेद पर्यायार्थिक या व्यवहारनयका विषय होता है। इनकी दृष्टिमे समयसारगत परनिमित्तक—व्यवहार ही नही; किन्तु स्वगत भेद भी व्यवहार-नयकी सीमामें ही होता है। [4]व्यवहारनयके दो भेद है—एक सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय। वस्तुमें अपने गुणोकी दृष्टिसे भेद करना सद्भूत व्यवहार है। अन्य द्रव्यके गुणोकी बलपूर्वक अन्यत्र योजना करना असद्भूत व्यवहार है। जैसे वर्णादिवाले मूर्त पुद्गलकर्मद्रव्यके सयोगसे होनेवाले क्रोधादि मूर्तभावोंको जीवके कहना। यहाँ क्रोधादिमें जो पुद्गलद्रव्यके मूर्तत्वका आरोप किया गया है—यह असद्भूत है और गुण-गुणीका जो भेद विवक्षित है वह व्यवहार है। सद्भूत और असद्भूत व्यवहार दोनो ही उपचरित और अनुपचरितके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। 'ज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है तथा 'अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है और वही जीवका गुण है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। इसमें ज्ञानमे अर्थविकल्पात्मकता उपचरित है और गुण-गुणीका भेद व्यवहार है।

अनगारधर्मामृत (अध्याय १ श्लो० १०४''''') आदिमें जो 'केवलज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार तथा 'मतिज्ञान जीवका है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारका उदाहरण दिया है; उसमे यह दृष्टि है कि शुद्ध गुणका कथन अनुपचरित तथा अशुद्ध गुणका कथन उपचरित है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय 'अबुद्धिपूर्वक' होनेवाले क्रोधादि भावोंको जीवका कहता है और उपचरित सद्भूत व्यवहारनय उदयमें आये हुए अर्थात् प्रकट अनुभवमें आनेवाले क्रोधादिभावोको जीवके कहता है। पहलेमे वैभाविकी शक्तिका आत्मासे अभेद माना है। अनगारधर्मामृतमें 'शरीर मेरा है' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारका तथा 'देश मेरा है' यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण माना गया है।

पंचाध्यायीकार किसी दूसरे द्रव्यके गुणका दूसरे द्रव्यमें आरोप करना नयाभास मानते हैं। जैसे—वर्णादिको जीवके कहना, शरीरको जीवका कहना, मूर्तकर्मोंका कर्त्ता और भोक्ता जीवको मानना, धन-

१. देखो,—द्रव्यसंग्रह गा० ४।
२. 'अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षया आभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञा लभते तथापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहार एव इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम्।'—समयसार तात्पर्यवृत्ति गा० ७३।
३. पंचाध्यायी १।६५९-६१। ४. पंचाध्यायी १।५२५ से।

धान्य, स्त्री आदिका भोक्ता और कर्त्ता जीवको मानना, ज्ञान और ज्ञेयमें बोध्यबोधक सम्बन्ध होनेसे ज्ञानको ज्ञेयगत मानना आदि ये सब नयाभास हैं।

समयसारमें तो एक शुद्धद्रव्यको निश्चयनयका विषय मानकर बाकी परनिमित्तक स्वभाव या परभाव सभीको व्यवहारके गड्ढेमें डालकर उन्हें हेय और अभूतार्थ कहा है। एक बात ध्यानमें रखने की है कि नैगमादिनयोंका विवेचन वस्तुस्वरूपकी मीमांसा करनेकी दृष्टिसे है जब कि समयसारगत नयोंका वर्णन अध्यात्मभावनाको परिपुष्टकर हेय और उपादेयके विचारसे मोक्षमार्गमें लगानेके लक्ष्यसे है।



अनेकान्त दर्शन की पृष्ठभूमि

ज्ञान सदाचारको जन्म दे सकता है यदि उसका उचित दिशामें उपयोग हो, अतः ज्ञान मात्र ज्ञान होनेसे ही सदाचार और शान्तिवाहकके पदपर नहीं पहुँच सकता। हाँ, जो ज्ञान-जीवन साधनासे फलित होता है उस स्वानुभवका तत्त्वज्ञानत्व और जीवनोन्नायक सर्वोदयी स्वरूप निर्विवाद रूपसे स्वतःसिद्ध है। पर प्रश्न यह है कि—तत्त्वज्ञानके बिना क्या केवल आचरणमात्रसे जीवनशुद्धि हो सकती है ? क्या कोई भी धर्म या पन्थ समाज या संघमें बिना तत्त्वज्ञानके सदाचारमात्रसे, जो कि प्रायः सामान्य रूपसे सभी धर्मोंमें स्वीकृत है, अपनी उपयोगिता और विशेषता बता सकता है और अपने अनुयायियोंकी श्रद्धाको जीवित रख सकता है ?

बुद्धका अव्याकृतवाद

बुद्ध और महावीर समकालीन समदेश और सम संस्कृतिके प्रतिनिधि थे। दार्शनिक प्रश्नोंके सम्बन्धमें बुद्धका दृष्टिकोण था कि आत्मा लोक-परलोक आदिके शाश्वत-अशाश्वत आदि विवाद निरर्थक हैं। वे न तो ब्रह्मचर्यके लिए उपयोगी हैं और न निर्वेद उपशम अभिज्ञा सम्बोध या निर्वाणके लिए हो।

मज्झिमनिकाय (२।२।३) के चूलमालुक्य सूत्रका संवाद इस प्रकार है—

"एक बार मालुक्यपुत्तके चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि भगवान्ने इन दृष्टियोंको अव्याकृत (अकथनीय) स्थापित (जिनका उत्तर रोक दिया जाय) प्रतिक्षिप्त (जिनका उत्तर देना अस्वीकृत हो गया) कर दिया है—१–लोक शाश्वत है ? २–लोक अशाश्वत है ? ३–लोक अन्तवान् है ? ४–लोक अनन्त है ? ५–जीव और शरीर एक है ? ६–जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ? ७–मरनेके बाद तथागत होते हैं ? ८–मरनेके बाद तथागत नहीं होते ? ९–मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते हैं ? १०–मरनेके बाद तथागत न होते है और न नहीं होते ? इन दृष्टियोंको भगवान् मुझे नहीं बतलाते, यह मुझे नहीं रुचता–मुझे नहीं खमता। सो मैं भगवान्के पास जाकर इस बातको पूछूं। यदि मुझे भगवान् कहेंगे तो मैं भगवान्के पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा। यदि मुझे भगवान् न बतलाएँगे तो मैं भिक्षुशिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन (गृहस्थाश्रम) में लौट जाऊँगा।

मालुक्यपुत्तने बुद्धसे कहा कि यदि भगवान् उक्त दृष्टियोंको जानते हैं तो मुझे बताएँ। यदि नहीं जानते तो न जानने समझनेके लिए यही सीधी (बात) है कि यह (साफ कह दे) मैं नहीं जानता। मुझे नहीं मालूम।

बुद्धने कहा—

"क्या मालुंक्यपुत्त, मैंने तुझसे यह कहा था कि—आ मालुंक्यपुत्त, मेरे पास ब्रह्मचर्यवास कर, मैं तुझे बतलाऊँगा लोक शाश्वत है आदि।"

"नहीं भन्ते" मालुंक्यपुत्तने कहा।

"क्या तूने मुझसे यह कहा था—मैं भन्ते, भगवान्के पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा, भगवान् मुझे बतलायें लोक शाश्वत है आदि" "नहीं भन्ते"।

"इस प्रकार मालुंक्यपुत्त, न मैंने तुझसे कहा था कि आ''''''''न तूने मुझसे कहा था कि भंते''''। फिर मोघ पुरुष (फजूलके आदमी) तू क्या होकर किसका प्रत्याख्यान करेगा ?

मालुंक्यपुत्त, जो ऐसा कहे—मैं तब तक भगवान्के पास ब्रह्मचर्यवास न करूँगा जबतक भगवान्

मुझे यह न बतलावे—लोक शाश्वत है आदि, फिर तथागतने तो उन्हें अव्याकृत किया है, और वह (बीचमें ही) मर जायगा। जैसा मालुक्यपुत्त कोई पुरुष गाढ़े लेपवाले विषसे युक्त बाणसे बिधा हो उसके हित-मित्र भाई-बन्द चिकित्सकको ले आवे और वह (घायल) यह कहे कि मैं तबतक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा जबतक अपने बेधनेवाले उस पुरुषको न जान लूँ कि वह ब्राह्मण है? क्षत्रिय है? वैश्य है? शूद्र है? अमुक नामका, अमुक गोत्रका है? लम्बा है, नाटा है, मँझोला है? आदि। जबतक कि उस बेधनेवाले धनुषको न जान लूँ कि चाप है या कोदण्ड। ज्याको न जान लूँ कि वह अर्ककी है या सठेकी?……तो मालुक्यपुत्त, वह तो अज्ञात ही रह जायेंगे और यह पुरुष मर जायगा। ऐसे ही मालुक्यपुत्त, जो ऐसा कहे मैं तब तक और वह मर जायगा। मालुक्यपुत्त, लोक शाश्वत है। इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा? ऐसा नहीं। लोक अशाश्वत है, इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा? ऐसा भी नहीं। मालुंक्यपुत्त, चाहे लोक शाश्वत है यह दृष्टि रहे, चाहे लोक अशाश्वत है यह दृष्टि रहे, जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक रोना कादना दुःख दौर्मनस्य परेशानी हैं ही, जिनके इसी जन्ममे विघातको मैं बतलाता हूँ।………

इसलिये मालुक्यपुत्त, मेरे अव्याकृतको अव्याकृतके तौरपर धारणकर और मेरे व्याकृतको व्याकृतके तौरपर धारण करें।'[1]

इस संवादसे निम्नलिखित बातें फलित होती हैं—

१—बुद्धने आत्मा लोक परलोक आदि तत्त्वोंकी चरचामें न अपनेको उलझाया और न शिष्यों को।

२—लोकको चाहे शाश्वत माना जाय या अशाश्वत; उससे ब्रह्मचर्य धारण करनेमें कोई बाधा नहीं है।

३—बुद्धके उपदेशको धारण करनेकी यह शर्त भी नहीं है कि शिष्यको उक्त तत्त्वोंका ज्ञान कराया ही जाय।

४—बुद्धने जिन्हें व्याकृत कहा उन्हें व्याकृत रूपसे और जिन्हें अव्याकृत कहा उन्हें अव्याकृत रूपसे ही धारण करना चाहिए।

उस समयका वातावरण

आजसे २५००-२६०० वर्ष पहिलेके धार्मिक वातावरणपर निगाह फेकें तो मालूम होगा कि उस समय लोक परलोक आत्मा आदिके विषयमें मनुष्यकी जिज्ञासा जग चुकी थी। वह अपनी जिज्ञासाको अनुपयोगिताके आवरणमें भीतर ही भीतर मानसिक हीनताका रूप नहीं लेने देना चाहता था। जिन दस प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा, उनका बताना अनुपयोगी कहा, सच पूछा जाय तो धर्म धारण करनेकी आधारभूत बातें वे ही हैं। यदि आत्माके स्वतन्त्र द्रव्य और परलोकगामित्वका विश्वास न हो तो धर्मका आधार ही बदल जाता है। प्रज्ञा पारमिताओंकी परिपूर्णताका क्या अर्थ रह जाता है। 'विश्वके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? वह कैसा है? यह बोध हुए बिना हमारी चर्य्याका संयत रूप ही क्या हो सकता है। यह ठीक है कि इनके वाद-विवादमें मनुष्य न पड़े पर यदि जरा, मरण, वेदना, रोग आदिके आधारभूत आत्माकी ही प्रतीति न हो तो दुष्कर ब्रह्मचर्यवास कौन धारण करे? बुद्धके समयमें ६ परिव्राजक थे जिनके संघ थे और जिनकी तीर्थंकरके रूपमें प्रसिद्धि थी। सबका अपना तत्त्वज्ञान था। पूर्णकश्यप अक्रियावादी, मक्खलि

१. मज्झिमनिकाय हिन्दी अनुवाद।

गोसाल दैववादी, अजितकेश कम्बल जडवादी, प्रकुध कात्यायन अकृततावादी और संजयबेलट्ठिपुत्त अनिश्चयवादी थे।

वेद और उपनिषद्के भी आत्मा परलोक आदिके सम्बन्धमें अपने विविध मतभेद थे। फिर श्रमण-संघमें दीक्षित होनेवाले अनेक भिक्षु उसी औपनिषद् तत्त्वज्ञानके प्रतिनिधि वैदिक वर्गसे भी आए थे। अतः जबतक उनकी जिज्ञासा तृप्त नहीं होगी तबतक वे कैसे अपने पुराने साथियोंके सन्मुख उन्नतशिर होकर अपने नये धर्म धारणकी उपयोगिता सिद्ध कर सकेंगे? अतः व्यावहारिक दृष्टिसे भी इनके स्वरूपका निरूपण करना उचित ही था। तीरसे घायल व्यक्तिका तत्काल तीर निकालना इसलिये प्रथम कर्तव्य है कि उसका असर सीधा शरीर और मनपर हो रहा था। यदि वह विषैला तीर तत्काल नहीं निकाला जाता तो उसकी मृत्यु हो सकती है। पर दीक्षा लेनेके समय तो प्राणोंका अटकाव नहीं है। जब एक तरफ यह घोषणा की है– "परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्य मद्वचो न त्वादरात्" अर्थात् भिक्षुओ, मेरे वचनोंको अच्छी तरह परीक्षा करके ही ग्रहण करना, मात्र मुझमें आदर होनेके कारण नहीं" तो दूसरी ओर बुद्धके प्रश्नोंको अव्याकृत रखकर और उन्हें मात्र श्रद्धासे अव्याकृत रूपमें ही ग्रहण करनेकी बात कहना सुसंगत तो नहीं मालूम होता।

भगवान् महावीरकी मानस अहिंसा

भगवान् महावीरने यह अच्छी तरह समझा कि जब तक बुनियादी तत्त्वोंका वस्तु स्थितिके आधारसे यथार्थ निरूपण नहीं होगा तब तक संघके पंचमेल व्यक्तियोंका मानस रागद्वेष आदि पक्ष भूमिकासे उठकर तटस्थ अहिंसाकी भूमिपर आ ही नहीं सकता और मानस संतुलनके बिना वचनोंमें तटस्थता और निर्दोषता आना सम्भव ही नहीं। कायिक आचार भले ही हमारा संयत और अहिंसक बन जाय पर इससे आत्मशुद्धि तो हो नहीं सकती, उसके लिए तो मनके विचारोंको और वाणीकी वितण्डा प्रवृत्तिको रास्तेपर लाना ही होगा। इसी विचारसे अनेकान्तदर्शन तथा स्याद्वादका आविर्भाव हुआ। महावीर पूर्ण अहिंसक योगी थे। उनको परिपूर्ण तत्त्वज्ञान था। वे इस बातकी गंभीर आवश्यकता समझते थे कि तत्त्वज्ञानके पायेपर ही अहिंसक आचारका भव्य प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। दृष्टान्तके लिये हम यज्ञहिंसा सम्बन्धी विचारको ही लें। याज्ञिकोंका यह दर्शन था कि–पशुओंकी सृष्टि स्वयम्भूने यज्ञके लिये ही की है, अतः यज्ञमें किया जानेवाला वध वध नहीं है, अवध है। इसमें दो बातें हैं—१–ईश्वरने सृष्टि बनाई है और २–पशु सृष्टियज्ञके लिये ही है। अतः यज्ञमें किया जानेवाला पशुवध विहित है।

इस विचारके सामने जबतक यह सिद्ध नहीं किया जायगा कि सृष्टिकी रचना ईश्वरने नहीं की है किन्तु यह अनादि है। जैसा हमारी आत्मा स्वयंसिद्ध है वैसी ही पशुकी आत्मा भी। जैसे हम जीना चाहते हैं, हमें अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही पशुको भी। इस लोकमें किये गये हिंसा कर्मसे परलोकमें आत्माको नरकादि गतियोंमें दुःख भोगने पड़ते हैं। हिंसासे आत्मा मलिन होती है। यह विश्व अनन्त जीवोंका आवास है। प्रत्येकका अपना स्वतःसिद्ध स्वातन्त्र्य है अतः मन, वचन, कायगत अहिंसक आचार ही विश्वमें शान्ति ला सकता है' तब तक किसी समझदारको यज्ञवधकी निस्सारता, अस्वाभाविकता और पापरूपता कैसे समझमें आ सकती है।

जब शाश्वत–आत्मवादी अपनी सभामें यह उपदेश देता हो कि आत्मा कूटस्थ नित्य है, निर्लेप है, अवध्य है, कोई हिंसक नहीं, हिंसा नहीं। और उच्छेदवादी यह कहता हो कि मरनेपर यह जीव पृथिवी आदि भूतोंसे मिल जाता है, उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। न परलोक है, न मुक्ति ही। तब आत्मा और परलोकके सम्बन्धमें मौन रखना तथा अहिंसा और दुःख निवृत्तिका उपदेश देना सचमुच बिना नींवके मकान

बनानेके समान ही है। जिज्ञासु पहिले यह जानना चाहेगा कि वह आत्मा क्या है जिसे जन्म, जरा, मरण आदि दुःख हैं और जिसे ब्रह्मचर्यवासके द्वारा दुःखोंका नाश करना है? यदि आत्माकी जन्मसे मरण तक ही सत्ता है तो इस जन्मकी चिन्ता ही मुख्य करनी है और यदि आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है तो उसे निर्लिप्त माननेपर ये अज्ञात दुःख आदि कैसे आए?

यही वह पृष्ठभूमि है जिसने भ० महावीरको सर्वाङ्गीण अहिंसाकी साधनाके लिए मानस अहिंसाके जीवन्तरूप अनेकान्त दर्शन और वाचनिक अहिंसाके निर्दुष्ट रूप स्याद्वादकी विवेचनाके लिए प्रेरित किया।

अनेकान्त दर्शन

अनन्त स्वतन्त्र आत्माएँ, अनन्त पुद्गल परमाणु एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्य कालाणु द्रव्यके समूहको ही लोक या विश्व कहते हैं। इनमें धर्म-अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंका विभाव परिणमन नहीं होता। वे अपने स्वाभाविक परिणमनमें लीन रहते हैं। आत्मा और पुद्गल द्रव्योंके परस्पर संयोग विभागसे ये पर्वत, नदी, पृथिवी आदि उत्पन्न होते रहते हैं। इनका नियन्ता कोई ईश्वर नहीं है। सब अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परिणमनमें अपने-अपने संयोग-वियोगोंके आधारसे नाना आकारोंको धारण करते रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मोंका अविरोधी अखण्ड आधार है। उसके विराट रूपको शब्दोंसे कहना असम्भव है। उस अनन्तधर्मा या अनेकान्त वस्तुके एक-एक धर्मको जानकर और उस अंशग्रहमें पूर्णताका भान करनेवाले ये मतग्रह हैं जो पक्षभेदकी सृष्टि करके राग-द्वेष, संघर्ष, हिंसाको बढ़ा रहे हैं। अतः मानस अहिंसाके लिये वस्तुके 'अनेकान्त' स्वरूप दर्शनकी आवश्यकता है। जब मनुष्य वस्तुके विराट्रूप तथा अपने ज्ञानकी आंशिक गतिको निष्पक्ष भावसे देखेगा तो उसे सहज ही यह भान हुए बगैर नहीं रह सकता कि दूसरोंके ज्ञान भी वस्तुके किसी एक अंशको देख रहे हैं अतः उनकी सहानुभूतिपूर्वक समीक्षा होनी चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र काल, भावकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुके विचार करनेकी पद्धति अनेकान्त दर्शनका ही फल है।

तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने गुण और पर्याय रूपसे परिणमन करता हुआ अनन्त धर्मोंका युगपत् आधार है। हमारा ज्ञान स्वल्प है। हम उसके एक-एक अंशको छूकर उसमें पूर्णताका अहंकार—'ऐसा ही है' न करें, उसमें दूसरे धर्मोंके 'भी' अस्तित्वको स्वीकार करें। यह है वह मानस उच्च भूमिका जिसपर आनेसे मानस राग-द्वेष, अहंकार, पक्षाभिनिवेश, साम्प्रदायिक मताग्रह, हठवाद वितण्डा, संघर्ष, हिंसा, युद्ध आदि नष्ट होकर परसमादर तटस्थता, सहानुभूति, मध्यस्थ भाव, मैत्री-भावना, सहिष्णुता, वीतरागकथा, अन्ततः विनय कृतज्ञता, दया आदि सात्त्विक मानस अहिंसाका उदय होता है। यही अहिंसक तत्त्वज्ञानका फल है। आचार्योंने ज्ञानका उत्कृष्ट फल उपेक्षा-रागद्वेष न होकर मध्यस्थ अनासक्त भावका उदय ही बताया है।

स्याद्वाद-अमृत भाषा

इस तरह जब मानस अहिंसाकी सात्त्विक भूमिकापर यह मानव आ जाता है तब पशुताका नाश हो जाता है, दानव मानवमें बदल जाता है। तब इसकी वाणीमें तरलता, स्नेह, समादर, नम्रता और निरहंकारता आदि आ जाते हैं। स्पष्ट होकर भी विनम्र और हृदयग्राही होता है। इसी निर्दोष भाषाको स्याद्वाद कहते हैं। स्यात् वाद अर्थात् यह बात स्यात् अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे वाद—कही जा रही है। यह 'स्यात्' शब्द हुलमुलयकीनी शायद संभवतः कदाचित् जैसे संशयके परिवारसे अत्यन्त दूर है। यह अंश निश्चयका प्रतीक है और भाषाके उस डंकको नष्ट करता है जिसके द्वारा अंशमें पूर्णताका दुराग्रह,

कदाग्रह और हठाग्रह किया जाता है। यह उस सर्वहारा प्रवृत्तिको समाप्त करता है जो अपने हकके सिवाय दूसरोंके श्रम और अस्तित्वको समाप्त करके संघर्ष और हिंसाको जन्म देती है। यह स्याद्वाद अमृत उस महान् अहंकार विषय ज्वरकी परमौषधि है जिसके आवेशमें मानव तनधारी तूफानके बबूलेकी तरह जमीनपर पैर ही नही टिकाता और जगत्में शास्त्रार्थवाद विवाद धर्मदिग्विजय मतविस्तार जैसे आवरण लेता है। दूसरोको बिना समझे ही नास्तिक पशु मिथ्यात्वी अपसद प्राकृत ग्राम्य धृष्ट आदि सभ्य गालियोंसे सम्मानित (?) करता है। 'स्याद्वाद' का 'स्यात्' अपनेमें सुनिश्चित है और महावीरने अपने संघके प्रत्येक सदस्यकी भाषाशुद्धि इसीके द्वारा की। इस तरह अनेकान्त दर्शनके द्वारा मानस शुद्धि और स्याद्वादके द्वारा वचन शुद्धि होनेपर ही अहिंसाके बाह्याचार, ब्रह्मचर्य आदि सजीव हुए, इनमे प्राण आए और मन, वचन और कायके यत्नाचारसे इनकी अप्रमाद परिणतिसे अहिंसा-मन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठा हुई। महावीरने बार-बार चेतावनी दी कि–'समयं गोयम मा पमायए'–गौतम, इस आत्ममन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठामें क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

आचारकी परम्पराका मूल्य पाया तत्त्वज्ञान

इस तरह जब तक बुनियादी बातोंका तत्त्वज्ञान न हो तबतक तो केवल सदाचार और नैतिकताका उपदेश सुननेमें सुन्दर लगता है पर वह बुद्धि तर्क जिज्ञासा, मीमांसा समीक्षा और समालोचनाकी तृप्ति नही कर सकता। जब तक संघके मानस विकल्प नही हटेंगे तब तक वे बौद्धिकहीनता, मानसदीनताके तामस भावोसे त्राण नही पा सकते और चित्तमे यथार्थ निर्वैर वृत्तिका उदय नही कर सकते। जिस आत्माके यह सब होता है यदि उसके ही स्वरूपका भान न हो तो मात्र अनुपयोगिताका सामयिक समाधान शिष्योंके मुँहको बन्द नही रख सकता। आखिर मालुक्यपुत्तने बुद्धको साफ-साफ कह दिया कि आप यदि नही जानते तो साफ-साफ क्यो नही कहते कि मैं नही जानता, मुझे नही मालूम।

जिन प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा उनका महावीरने अनेकान्तदृष्टिसे स्याद्वाद भाषामें निरूपण किया[1]। उनने आत्माको द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत, पर्यायदृष्टिसे अशाश्वत बताया। यदि आत्मा कूटस्थ नित्य सदा अपरिवर्तनशील माना जाता तो पुण्य-पाप सब व्यर्थ हो जाते हैं क्योकि उनका असर आत्मापर तो पडेगा नहीं। यदि आत्मा क्षण विनश्वर और धाराविहीन निःसन्तान सर्वथा नवोत्पादवाला है तो भी कृत-कर्मकी निष्फलता होती है, परलोक नही बनता। अत द्रव्य-दृष्टिसे धारा-प्रवाही प्रतिक्षण परिवर्तित संस्कार-ग्राही आत्मामें ही पुण्य-पाप कर्तृत्व सदाचार ब्रह्मचर्यवास आदि सार्थक होते हैं। इसमें न औपनिषदोंकी तरह शाश्वतवादका प्रसंग है और न जडवादियोंकी तरह उच्छेदवादका डर है और न उसे उभयनिषेधक 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' जैसे विधि-विहीन शब्दसे निर्देश करनेकी ही आवश्यकता है।

यही सब विचारकर भगवान् महावीरने लोक-परलोक, आत्मा आदि सभी पदार्थोंका अनेकान्तदृष्टिसे पूर्ण विचार किया और स्याद्वादवाणीसे उसके निरूपणका निर्दोष प्रकार बताया। यह जैनदर्शनकी पृष्ठभूमि है जिसपर उत्तरकालीन आचार्योंने शताबधि ग्रन्थोंकी रचना करके भारतीय साहित्यागारको आलोकित किया। अकेले 'स्याद्वाद' पर ही बीसों छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे गये हैं। इस अनेकान्तके विशाल सागर में सब एकान्त समा जाते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके शब्दोंमे ये स्याद्वादमय जिन वचन मिथ्यादर्शनके समूह रूप हैं। इसमें समस्त मिथ्यादृष्टियाँ अपनी-अपनी अपेक्षासे विराजमान हैं। और अमृतसार या अमृतस्वादु हैं। वे तटस्थ वृत्तिवाले संविग्न जीवोंको अतिशय सुखदायक हैं। वे जगत् का कल्याण करें—

"भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स।।"

---

१. देखो, प्रो० दलसुख मालवणिया लिखित जैन तर्कवार्तिक की प्रस्तावना।

अनेकान्तदर्शन का सांस्कृतिक आधार

भारतीय विचार परम्परामे स्पष्टत: दो धाराएँ हैं। एक धारा वेदको प्रमाण माननेवाले वैदिक दर्शनोंकी है और दूसरी वेदको प्रमाण न मानकर पुरुषानुभव या पुरुषसाक्षात्कारको प्रमाण माननेवाले श्रमण सन्तो की। यद्यपि चार्वाकदर्शन भी वेदको प्रमाण नही मानता किन्तु उसने आत्माका अस्तित्व जन्मसे मरण पर्यन्त ही स्वीकार किया है। उसने परलोक, पुण्य-पाप-मोक्ष जैसे आत्मप्रतिष्ठित तत्त्वोंकी तथा आत्मसंशोधक चारित्र आदिकी उपयोगिता स्वीकृत नही की है अत: अवैदिक होकर भी वह श्रमणधारामें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। श्रमणधारा वैदिक परम्पराको न मानकर भी आत्मा, जडभिन्न ज्ञानसन्तान, पुण्य-पाप, परलोक, निर्वाण आदिमे विश्वास रखती है अत. पाणिनिकी परिभाषाके अनुसार आस्तिक है। वेदको या ईश्वरको जगत्कर्ता न माननेके कारण श्रमणधाराको नास्तिक कहना उचित नहीं है, क्योंकि किसी एक परम्पराको न माननेके कारण यदि श्रमण नास्तिक कहे जाते हैं तो श्रमणपरम्पराको न माननेके कारण वैदिक भी मिथ्यादृष्टि आदि विशेषणोसे पुकारे जा सकते हैं।

श्रमणधाराका सारा तत्त्वज्ञान या दर्शन विस्तार जीवनशोधन या चारित्रवृद्धिके लिए हुआ था। वैदिक परम्परामे तत्त्वज्ञानको ही मुक्तिका साधन माना है जबकि श्रमणधारामें चारित्रको। वैदिक परम्परा वैराग्य आदिसे ज्ञानको पुष्ट करती है और विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है जबकि श्रमणपरम्परा कहती है कि उस ज्ञान या विचारका कोई मूल्य नही जो जीवनमे न उतरे। जिसकी सुवाससे जीवन सुवासित न हो। वह ज्ञान या विचार मस्तिष्कके व्यायामसे अधिक कुछ भी महत्त्व नही रखते। जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका आद्य सूत्र है–"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (तत्त्वार्थसूत्र १।१) अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आत्मपरिणति मोक्षका मार्ग है। यहाँ मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उस चारित्रके परिपोषक हैं। बौद्ध परम्पराका अष्टाङ्ग मार्ग भी चारित्रका ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारामें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका ही अन्तिम महत्त्व रहा है और प्रत्येक विचार और ज्ञानका उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए किया गया है। श्रमणसन्तोने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की और उसी परमवीतरागता समता या अहिंसाकी उत्कृष्ट ज्योतिको विश्वमें प्रचारित करनेके लिए विश्वतत्त्वोंका साक्षात्कार किया। इनका साध्य विचार नहीं, आचार था ज्ञान नही, चारित्र था, वाग्विलास या शास्त्रार्थ नही, जीवन शुद्धि और संवाद था। अहिंसाका अन्तिम अर्थ है जीवमात्रमें—चाहे वह स्थावर हो या जगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय या शूद्र, गोरा हो या काला, एतद्देशीय हो या विदेशी–देश काल शरीराकारके आवरणोंसे परे होकर समत्वदर्शन। प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्यशक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। कर्म या वासनाओके कारण वृक्ष, कीड़ा-मकोड़ा, पशु और मनुष्य आदि शरीरोको धारण करता है पर अखण्ड चैतन्यका एक भी अंश उसका नष्ट नही होता वह वासना या राग द्वेषादिके द्वारा विकृत अवश्य हो जाता है। मनुष्य अपने देश-काल आदि निमित्तोंसे गोरे या काले किसी भी शरीरको धारण किए हो, अपनी वृत्ति या कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी भी श्रेणीमें उसकी गणना व्यवहारमे की जाती हो, किसी भी देशमें उत्पन्न हुआ हो, किसी भी सन्तका उपासक हो, वह इन व्यावहारिक निमित्तोंसे ऊँच या नीच नहीं हो सकता। किसी वर्ण विशेषमें उत्पन्न होनेके कारण ही वह धर्मका ठेकेदार नही बन सकता। मानवमात्रके मूलतः समान अधिकार हैं। न केवल मानवके किन्तु पशु, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष आदि प्राणियोंके भी। अमुक-प्रकारकी आजीविका या व्यापारके कारण वह किसी मानवाधिकारसे वंचित नही हो सकता। यह मानवसमत्वभावना या प्राणिमात्र-समताकी

उत्कृष्ट सत्त्वमैत्री अहिंसाके विकसित रूप हैं। श्रमणसन्तोंने यही कहा कि एक मनुष्य किसी भूखण्डपर या अन्य भौतिक साधनोंपर अधिकार कर लेनेके कारण जगत्‌में महान् एतावता दूसरोंके निर्दलनका जन्मसिद्ध अधिकारी नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण दूसरोंका शासक या धर्मका ठेकेदार नहीं हो सकता। भौतिक साधनोंकी प्रतिष्ठा बाह्यमें कदाचित् हो भी पर धर्मक्षेत्रमें प्राणिमात्रको एक ही भूमि-पर बैठना होगा, हरएक प्राणीको धर्मकी शीतल छायामें समान भावसे सन्तोषकी साँस लेनेका सुअवसर है। व्यक्ति आत्मसमत्व, वीतरागत्व या अहिंसाके विकाससे महान् हो सकता है न कि जगत्‌में विषमता फैलाने-वाले हिंसक परिग्रहके संग्रहसे। आदर्श त्याग है न कि संग्रह। इस तरह जाति, वर्ण रंग, देश, आकार, परिग्रहसंग्रह आदि विषमतम और संघर्षके कारणोंसे परे होकर प्राणिमात्रको समत्व, अहिंसा और वीतरागता-का पावन सन्देश इन श्रमणसन्तोंने उस समय दिया जब यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड एक वर्गविशेषकी जीविकाके साधन बने हुए थे। स्वर्गके टिकिट कुछ गाय, सोना और स्त्रियोंकी दक्षिणासे प्राप्त हो जाते थे, धर्मके नाम-पर गोमेध, अजामेध क्वचित् नरमेध तकका खुला बाजार था, जातिगत उच्चत्व, नीचत्वका विष समाजशरीर-को दग्ध कर रहा था, अनेक प्रकारसे सत्ताको हथियानेके षड्यन्त्र चालू थे। उस बर्बर युगमें मानवसमत्व या प्राणिमैत्रीका उदारतम सन्देश इन युगधर्मी सन्तोंने नास्तिकताका मिथ्या लाछन सहते हुए भी दिया और भ्रान्त जनताको सच्ची समाज-रचनाका मूलमन्त्र बताया।

पर, यह अनुभवसिद्ध बात है कि अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा मन:शुद्धि और वचनशुद्धिके बिना नहीं हो सकती। हम भले ही शरीरसे दूसरे प्राणियोंकी हिंसा न करें पर यदि वचनव्यवहार और चित्तगत विचार विषम या विसंवादी हैं तो कायिक अहिंसा पल ही नहीं सकती। अपने विचार अर्थात् मतको पुष्ट करनेके लिए ऊँच-नीच शब्द बोले जायँगे और फलत: हाथापाईका अवसर आए बिना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थोंका इतिहास अनेक हिंसाकाण्डोंके खूनी पन्नोंसे रँगा हुआ है। अत यह आवश्यक था कि अहिंसा-की सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठाके लिए विश्वका यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचारशुद्धिमूलक वचनशुद्धिकी जीवन-व्यवहारमें प्रतिष्ठा हो। यह संभव ही नहीं है कि एक वस्तुके सम्बन्धमें परस्पर विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्षके समर्थनके लिए उचित, अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्षप्रतिपक्षोंका संगठन हो, शास्त्रार्थमें हारने-वालेको तेलकी जलती कड़ाहीमें जीवित तल देने जैसी हिंसक होड़ें भी लगे, फिर भी परस्पर अहिंसा कायम रहे!

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक सन्त थे। उनने देखा कि आजका सारा राजकारण धर्म और मतवादियोंके हाथमें है। जबतक इन मतवादोंका वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय न होगा तबतक हिंसाकी जड़ नहीं कट सकती। उनने विश्वके तत्त्वोंका साक्षात्कार किया और बताया कि विश्वका प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्तधर्मोंका भण्डार है। उसके विराट् स्वरूपको साधारण मानव परिपूर्णरूपमें नहीं जान सकता। उसका क्षुद्रज्ञान वस्तुके एक-एक अंशको जानकर अपनेमें पूर्णताका दुरभिमान कर बैठा है। विवाद वस्तुमें नहीं है, विवाद तो देखनेवालोंकी दृष्टिमें है। काश, ये वस्तुके विराट् अनन्तधर्मात्मक या अनेकान्तात्मक स्वरूप की झाँकी पा सकते। उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्वज्ञानकी ओर मतवादियोंका ध्यान खींचा और बताया कि देखो, प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण पर्याय और धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनाद्यनन्त सन्तानस्थिति-की दृष्टिसे नित्य है, कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्वके रङ्गमञ्चसे एक कणका भी समूल विनाश हो जाय। साथ ही प्रतिक्षण उसकी पर्यायें बदल रही हैं, उसके गुण-धर्मोंमें सदृश या विसदृश परि-वर्तन हो रहा है। अत: यह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी

निजी सम्पत्ति हैं। इनमेंसे हमारा स्वल्प ज्ञानलव एक-एक अंशको विषय करके क्षुद्र मतवादोंकी सृष्टि कर रहा है। आत्माको नित्य सिद्ध करनेवालोंका पक्ष अपनी सारी शक्ति आत्माको अनित्य सिद्ध करनेवालोंकी उखाडपछाडमें लगा रहा है तो अनित्यवादियोंका गुट नित्यवादियोंको भला-बुरा कह रहा है। महावीरको इन मतवादियोंकी बुद्धि और वृत्तिपर तरस आता था। वे बुद्धकी तरह आत्मनित्यत्व और अनित्यत्व, पर-लोक और निर्वाण आदिको अव्याकृत कहकर बौद्धिक तमकी सृष्टि नहीं करना चाहते थे। उनने इन सभी तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्योंको प्रकाशमें लाकर उन्हें मानससमताकी समभूमिपर ला दिया। उनने बताया कि वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोणसे देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है उसमें ऐसे अनन्त दृष्टि-कोणोंसे देखे जानेकी क्षमता है, उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है उसका ईमानदारीसे विचार करो वह भी वस्तुमें विद्यमान है। चित्तसे पक्षपातकी दुरभि-सन्धि निकालो और दूसरेके दृष्टिकोणको भी उतनी ही प्रामाणिकतासे वस्तुमें खोजो वह वहीं लहरा रहा है। हाँ, वस्तुकी सीमा और मर्यादाका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़में चेतनत्व खोजा जाय या चेतनमें जड़त्व, तो नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने निजी धर्म निश्चित हैं। मैं प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक कह रहा हूँ, सर्वधर्मात्मक नहीं। अनन्त धर्मोंमें चेतनके संभव अनन्त धर्म चेतनमें मिलेंगे तथा अचेतनगत संभव धर्म अचेतनमें। चेतनके गुणधर्म अचेतनमें नहीं पाए जा सकते और न अचेतनके चेतनमें। हाँ, कुछ ऐसे सामान्य धर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन दोनोंमें साधारण रूपसे पाए जाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुमें बहुत गुंजाइश है। वह इतनी विराट् है जो हमारे, तुम्हारे अनन्त दृष्टिकोणों-से देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र-दृष्टिके आग्रहपूर्वक दूसरेकी दृष्टिका तिरस्कार करना या अपनी दृष्टिका अहंकार करना वस्तुके स्वरूपकी नासमझीका परिणाम है। हरिभद्रसूरिने लिखा है कि—

"आग्रही वत निनीषति युक्तिं तत्रयत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"

अर्थात् आग्रही व्यक्ति अपने मतपोषणके लिए युक्तियाँ ढूँढ़ता है, युक्तियोंको अपने मतको ओर ले जाता है पर पक्षरहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपको स्वीकार करनेमें अपनी मतिकी सफलता मानता है। अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपकी ओर अपने मतको लगाओ न कि अपने निश्चित मतकी ओर वस्तु और युक्तिकी खींचातानी करके उन्हें बिगाड़नेका दुष्प्रयास करो, और न कल्पनाकी उड़ान इतनी लम्बी लो जो वस्तुकी सीमाको ही लाँघ जाय। तात्पर्य यह कि मानस समताके लिए यह वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस नरतनधारीको ज्ञात हो सकेगा कि वह कितने पानीमें है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है, और वह किस दुरभिमानसे हिंसक मतवादका सर्जन करके मानवसमाजका अहित कर रहा है। इस मानस अहिंसात्मक अनेकान्त दर्शनसे विचारोंमें या दृष्टिकोणोंमें कामचलाऊ समन्वय या ढीला-ढाला समझौता नहीं होता किन्तु वस्तुस्वरूपके आधारसे यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक समन्वयदृष्टि प्राप्त होती है।

डॉ० सर राधाकृष्णन् इंडियन फिलासफी (जिल्द १, पृ० ३०५–६) में स्याद्वादके ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—"इससे हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्यको नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमें—स्याद्वाद हमें अर्धसत्योंके पास लाकर पटक देता है और इन्हीं अर्धसत्योंको पूर्णसत्य मान लेनेकी प्रेरणा करता है, परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योंको मिलाकर एकसाथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता। आदि।"

क्या सर राधाकृष्णन् यह बतानेकी कृपा करेंगे कि स्याद्वादने निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योंको पूर्ण-सत्य माननेकी प्रेरणा कैसे की है ? हाँ, वह वेदान्तकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेदकी दिमागी दौड़में अवश्य शामिल नहीं हुआ, और न वह किसी ऐसे सिद्धान्तका समन्वय करनेकी सलाह देता है जिसमें वस्तुस्थितिकी उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन्को पूर्णसत्य वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है जिसमें चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त सभी काल्पनिक रीतिसे समा जाते हैं। वे स्याद्वादकी समन्वयदृष्टिको अर्धसत्योंके पास लाकर पटकना समझते हैं। पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्तधर्मात्मक है तब उस वास्तविक नतीजे-पर पहुँचने को अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं। हाँ, वह उस प्रमाण-विरुद्ध काल्पनिक अभेदकी ओर वस्तुस्थिति-मूलक दृष्टिसे नहीं ले जा सकता। वैसे संग्रहनयकी एक चरम अभेदकी कल्पना जैनदर्शनकारोंने भी की है और उस परमसंग्रहनयकी अभेददृष्टिसे बताया है कि 'सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात् जगत् एक है, सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है। पर यह एक कल्पना है क्योंकि ऐसा एक सत् नहीं है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अतः यदि सर राधाकृष्णन्को चरम अभेदकी कल्पना ही देखनी हो तो वे परमसंग्रहनयके दृष्टिकोणमें देख सकते हैं, पर वह केवल कल्पना होगी, वस्तुस्थिति नहीं। पूर्णसत्य तो वस्तुका अनेकान्तात्मक रूपसे दर्शन ही है न कि काल्पनिक अभेदका दर्शन।

इसी तरह प्रो० बलदेव उपाध्याय इस स्याद्वादसे प्रभावित होकर भी सर राधाकृष्णन्का अनुसरण-कर स्याद्वादको मूलभूततत्त्व (एक ब्रह्म ?) के स्वरूपकके समझनेमें नितान्त असमर्थ बतानेका साहस करते हैं। इनने तो यहाँ तक लिख दिया है (भारतीय दर्शन, पृ० १७३) कि "इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीचोंबीच तत्त्वविचारको कतिपय क्षणके लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्रामगृहसे बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शनको उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना चाहिए। पर स्याद्वाद जब वस्तु विचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तुकी सीमाको कैसे लाँघ सकता है ? ब्रह्मैकवाद न केवल युक्तिविरुद्ध ही है पर आजके विज्ञानसे उसके एकीकरणका कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञानने एटमतक विश्लेषण किया है और प्रत्येककी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अतः वस्तुकी अनेकान्तात्मक सीमापर पहुँचाकर यदि स्याद्वाद बुद्धिको विराम देता है तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेदसे वास्तविक स्थितिकी उपेक्षा करना मनोरञ्जनसे अधिक महत्त्वकी बात नहीं हो सकती।

इसी तरह श्रीयुत हनुमन्तराव एम० ए० ने अपने एक लेखमें लिखा है कि स्याद्वाद सरल समझौतेका मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्णसत्यतक नहीं ले जाता आदि। ये सब एकही प्रकारके विचार हैं, जो स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेके या वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेके परिणाम हैं। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि महावीरने देखा कि—वस्तु तो अपने स्थानपर अपने विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है उसमें अनन्तधर्म जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं, अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं, पर हमलोगों की दृष्टिमें विरोध होनेसे उसकी यथार्थ स्थितिको नहीं समझ पा रहे हैं। जैनदर्शन वास्तवमें बहुत्ववादी है। वह दो पृथक् सत्ता वस्तुओंको व्यव-हारके लिए कल्पनासे अभिन्न कह भी दे पर वस्तुकी निजी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहता। जैन-दर्शन एक व्यक्तिका अपने गुण-पर्यायोंसे वास्तविक अभेद मानता है पर दो व्यक्तियोंमें अवास्तविक अभेद-को नहीं मानता। इस दर्शनकी यही विशेषता है जो यह परमार्थसत् वस्तुकी परिधिको नहीं लाँघकर उसकी सीमामें ही विचार करता है। और मनुष्योंको कल्पनाकी उड़ानसे विरतकर वस्तुकी ओर देखनेको बाध्य करता है। जिस चरम अभेदतक न पहुँचनेके कारण अनेकान्तदर्शनको सर राधाकृष्णन् जैसे विचारक अर्धसत्यों का समुदाय कहते हैं उस चरम अभेदको भी अनेकान्तदर्शन एक-व्यक्तिका एक धर्म मानता है वह उन अभेद कल्पकोंको कहता है कि वस्तु इससे भी बड़ी है अभेद तो उसका एक धर्म है। दृष्टिको और उदार तथा

विशाल करके वस्तुके पूर्णरूपको देखो उसमे अभेद एक कोनेमे पडा होगा और अभेदके अनन्तो भाई-बन्धु उसमे तादात्म्य हो रहे होंगे। अत इन ज्ञानलवधारियोको उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तुकी झाँकी दिखानेवाले अनेकान्त दर्शनने वास्तविक विचारकी अन्तिम रेखा खीची है। और यह सब हुआ है मानस समतामूलक तत्त्वज्ञानकी खोजमे। जब इस प्रकार वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है तब सहज ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है उसकी सहानुभूतिसे समीक्षा होनी चाहिए और वस्तुस्थितिमूलक समीकरण होना चाहिए। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तु-अनन्तधर्मताके वातावरणसे निरर्थक कल्पनाओका जाल टूटेगा और अहकारका विनाश होकर मानससमताकी सृष्टि होगी, जो अहिंसाका संजीवनबीज होगा।

इस तरह मानससमताके लिए अनेकान्तदर्शन ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है। जब अनेकान्तदर्शनसे विचारशुद्धि हो जाती है तब स्वभावत वाणीमे नम्रता और परसमन्वयकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वह वस्तुस्थितिको उल्लंघन करनेवाले शब्दका प्रयोग ही नही कर सकता। इसीलिए जैनाचार्योंने वस्तुकी अनेकधर्मात्मकताका द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। शब्दोमें यह सामर्थ्य नही है जो वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कह सके। वह एक समयमे एक ही धर्मको कह सकता है। अतः उसी समय वस्तुमे विद्यमान शेष धर्मोंकी सत्ताका सूचन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' के 'सुनिश्चित दृष्टिकोण', 'निर्णीत अपेक्षा' ये ही अर्थ हैं 'शायद, सभव, कदाचित्' आदि नही। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है 'स्वरूपादिकी अपेक्षासे वस्तु है ही' न कि 'शायद है' 'सभव है' या 'कदाचित् है' आदि। सक्षेपत अनेकान्तदर्शन जहाँ चित्तमे समता, मध्यस्थभाव, वीतरागता, निष्पक्षपातताका उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणीमे निर्दोषता लानेका पूरा अवसर देता है। इस तरह अहिंसाकी परिपूर्णता और स्थायिताकी प्रेरणाने मानसशुद्धिके लिए अनेकान्तदर्शन और वचनशुद्धिके लिए स्याद्वाद जैसी निधियोको भारतीय संस्कृतिके कोषागारमे दिया। बोलते समय वक्ताको सदा यह ध्यान रहना चाहिए कि जो वह बोल रहा है वस्तु उतनी ही नही है वस्तु बहुत बडी है उसके पूर्णरूपतक शब्द नही पहुँच सकते। इसी भावको जतानेके लिए वक्ता 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है। 'स्यात्' यह शब्द विधिलिङ्मे निष्पन्न होता है जो अपने वक्तव्यको निश्चित रूपमे उपस्थित करता है न कि सशय रूपमे। जैन तीर्थंकरोने इस तरह सर्वाङ्गीण अहिंसाकी साधनाका वैयक्तिक और सामाजिक दोनो प्रकारका प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया। उनने पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही साथ पदार्थोंके देखनेका, उनके ज्ञान करनेका, उनके स्वरूपको वचनसे कहनेका नया वस्तुस्पर्शी तरीका बताया। इस अहिंसक दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनकारोने वस्तुका निरीक्षण किया होता तो भारतीय जल्पकथाका इतिहास रक्तरजित न हुआ होता, और धर्म तथा दर्शनके नाम पर मानवताका निर्दलन नही होता। पर अहकार और शासनभावना मानवको दानव बना देती है। फिर धर्म और सतका 'अहम्' अतिदुर्निवार होता है। परन्तु युगयुगमे ऐसे ही दानवोको मानव बनानेके ही लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वयदृष्टि, इसी समताभाव और इसी सर्वाङ्गीण अहिंसाका सन्देश देते आए हैं। यह जैनदर्शनकी विशेषता है। जो वह अहिंसाकी तह पहुँचनेके लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नही रहा अपितु वास्तविक स्थितिके आधारसे दार्शनिक गुत्थियोको सुलझाने की मौलिकदृष्टि भी खोज सका। न केवल दृष्टि ही किन्तु मन, वचन और काय तीनो द्वारोंसे होनेवाली हिंसाको रोकनेका प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित कर सका।

आज डॉ० भगवानदासजी जैसे मनीषी समन्वय और सब धर्मोंकी मौलिक एकताकी आवाज बुलन्द कर रहे हैं। वे वर्षोंसे कह रहे हैं कि समन्वयदृष्टि प्राप्त हुए बिना स्वराज्य स्थायी नही हो सकता, मानव

मानव नहीं रह सकता। उन्होंने अपने 'समन्वय' और 'दर्शनका प्रयोजन' आदि ग्रन्थोंमें इसी समन्वयतत्त्वका भूरि-भूरि प्रतिपादन किया है। जैन ऋषियोंने इस समन्वय (स्याद्वाद) सिद्धान्त पर ही संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विश्वास है कि जबतक दृष्टिमें समीचीनता नहीं आयगी तबतक झगड़े और संघर्ष बने रहेंगे। नये दृष्टिकोणसे वस्तुस्थितितक पहुँचना ही जीवको विसंवादसे हटाकर उसे सवादी बना सकता है। यही जैनदर्शनकी भारतीय संस्कृतिको देन है। आज हमे जो स्वातन्त्र्यके दर्शन हुए वह इसी अहिंसाका पुण्य फल है, और विश्वमे भारतका मस्तक यदि कोई ऊँचा रख सकता है तो यह निरूपाधि अहिंसा भावना ही।



क्या स्याद्वाद अनिश्चयवाद है ?

[महापंडित राहुल सांकृत्यायन लिखित 'दर्शन-दिग्दर्शन' की एक समीक्षा]

जैनदर्शनने सामान्यरूपसे यावत् सत्को परिणामीनित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। अनेकान्तात्मक अर्थका निर्दोष रूपसे कथन करनेवाली भाषा स्याद्वाद रूप होती है। उसमें जिस धर्मका निरूपण होता है उसके साथ 'स्यात्' शब्द इसलिए लगा दिया जाता है जिससे पूरी वस्तु धर्मरूप न समझ ली जाय। अविवक्षित शेष धर्मोंका अस्तित्व भी उसमें है यह प्रतिपादन 'स्यात्' शब्दसे होता है।

स्याद्वादका अर्थ है—स्यात्-अमुक निश्चित अपेक्षासे। अमुक निश्चित अपेक्षासे घट अस्ति ही है और अमुक निश्चित अपेक्षासे घट नास्ति ही है। स्यात्का अर्थ न शायद है, न सम्भवत और न कदाचित् ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोणका प्रतीक है। इस शब्दके अर्थको पुराने मतवादी दार्शनिकोंने ईमानदारीसे समझनेका प्रयास तो नहीं ही किया था, किन्तु आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकी दुहाई देनेवाले दर्शन-लेखक उसी भ्रान्त परम्पराका पोषण करते आते हैं।

स्याद्वाद—सुनयका निरूपण करनेवाली भाषापद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूपसे बताता है कि वस्तु केवल धर्मवाली ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त भी धर्म विद्यमान हैं। तात्पर्य यह कि—अविवक्षित शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान् घट' यह वाक्य भी अपने भीतर 'स्यात्' शब्दको छिपाए हुए है। इसका अर्थ है कि 'स्यात् रूपवान् घट' अर्थात् चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होनेसे या रूप गुणकी सत्ता होनेसे घडा रूपवान् है, पर रूपवान् ही नहीं है उसमें रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण, छोटा, बडा आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। इन अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा करनेवाला 'स्यात्' शब्द है। 'स्यात्' का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है किन्तु निश्चय है। अर्थात् घडेमें रूपके अस्तित्वकी सूचना तो रूपवान् शब्द दे ही रहा है। पर उन उपेक्षित शेष धर्मोंके अस्तित्वको सूचना 'स्यात्' शब्दसे होती है। साराश यह कि 'स्यात्' शब्द 'रूपवान् के साथ नहीं जुटता है, किन्तु अविवक्षित धर्मोंके साथ। वह 'रूपवान्' को पूरी वस्तु पर अधिकार जमानेसे रोकता है और कह देता है कि वस्तु बहुत बड़ी है उसमे रूप भी एक है। ऐसे अनन्त गुणधर्म वस्तुमे लहरा रहे हैं। अभी रूपकी विवक्षा या उसपर दृष्टि होनेसे वह सामने है या शब्दसे उच्चरित हो रहा है सो वह मुख्य हो सकता है पर वही सबकुछ नहीं है। दूसरे क्षणमे रसकी मुख्यता होनेपर रूप गौण हो जायगा और वह अविवक्षित शेष धर्मोंकी राशिमें शामिल हो जायगा।

'स्यात्' शब्द एक प्रहरी है, जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता। वह उन अविवक्षित धर्मोंका सरक्षक है। इसलिए 'रूपवान्' के साथ 'स्यात्' शब्दका अन्वय करके जो लोग घडेमे रूपकी भी स्थितिको स्यात्का शायद या सम्भावना अर्थ करके सन्दिग्ध बनाना चाहते हैं वे भ्रममें हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घट' वाक्यमे 'घट अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमे सुनिश्चितरूपसे विद्यमान है। स्यात् शब्द उस अस्तित्वकी स्थिति कमजोर नहीं बनाता किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके सद्भावको सूचित करता है। साराश यह कि 'स्यात्' पद एक स्वतन्त्र पद है जो वस्तुके शेषांश-

का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नामका धर्म, जिसे शब्दसे उच्चरित होनेके कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तुको न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोंके स्थानको समाप्त न कर दे। इसलिए वह प्रतिवाक्यमें चेतावनी देता रहता है कि—हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोंके हकको हड़पनेकी चेष्टा नहीं करना। इस भयका कारण है—'नित्य ही है, अनित्य ही है' आदि अवधारणवाक्योंने अपना पूर्ण अधिकार वस्तुपर जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत्‌मे अनेक तरहसे वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इनके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक मतवादोंकी सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, परमतासहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और आकुलतामय बना दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्यके उस जहरको निरूपण करता है जिससे अहंकारका सर्जन होता है और वस्तुके अन्य धर्मोंके सद्भावसे इनकार करके पदार्थके साथ अन्याय होता है।

'स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षाको द्योतन करके जहाँ 'अस्तित्व' धर्मकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है वहाँ उसकी उस सर्वहारा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि—हे अस्ति, तुम अपने अधिकारकी सीमाको समझो। स्वद्रव्य-क्षेत्रकाल-भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा 'नास्ति' नामका तुम्हारा भाई भी उसी घटमें है। इसी प्रकार घटका परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी विवक्षा है। अतः इस समय तुम मुख्य हो। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि तुम अपने समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको भी नष्ट करनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है कि यदि 'पर' की अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घड़ेमें तुम रहते हो वह घड़ा घड़ा ही न रहेगा, कपड़ा आदि पररूप हो जायगा। अतः जैसी तुम्हारी स्थिति है वैसी ही पररूपकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्मकी भी स्थिति है। तुम उनकी हिंसा न कर सको इसके लिए अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहिले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि अनन्त भाइयोंको वस्तुमें रहने देते हो और बड़े प्रेमसे सबके सब अनन्त धर्मभाई हिलमिलकर रहते हो पर इन वस्तुदर्शियोंकी दृष्टिको क्या कहा जाय! इनकी दृष्टि ही एकांगी है। ये शब्दके द्वारा तुममेंसे किसी एक 'अस्ति' आदिको मुख्य करके उसकी स्थिति इतनी अहंकारपूर्ण कर देना चाहते हैं जिससे वह 'नास्ति' अन्यका निराकरण करने लग जाता है। बस, 'स्यात्' शब्द एक अञ्जन है जो उनकी दृष्टिको विकृत नहीं होने देता और उसे निर्मल तथा पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षित-संरक्षक, दृष्टिविषहारी, शब्दको सुधारूप बनानेवाले, सचेतक प्रहरी, अहिंसक भावनाके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, सुनिश्चित अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोंने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूपका 'शायद, संभव है, कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका दुष्ट प्रयत्न अवश्य किया है तथा अभी भी किया जा रहा है।

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि—'घड़ा जब अस्ति है तो नास्ति कैसे हो सकता है, घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है, यह तो प्रत्यक्ष विरोध है' पर विचार तो करो घड़ा घड़ा ही है, कपड़ा नहीं, कुरसी नहीं, टेबिल नहीं, गाय नहीं, घोड़ा नहीं, तात्पर्य यह है कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थरूप नहीं है। तो यह कहनेमें आपको क्यों संकोच होता है कि 'घड़ा अपने स्वरूपसे अस्ति है, घटभिन्न पररूपोंसे नास्ति है'। इस घड़ेमें अनन्त पररूपोंकी अपेक्षा 'नास्तित्व' धर्म है। नहीं तो दुनियामें कोई शक्ति घड़ेको

कपड़ा आदि बननेसे रोक नही सकती थी। यह 'नास्ति' धर्म ही घड़ेको घड़े रूपमे कायम रखनेका हेतु है। इसी नास्ति धर्मकी सूचना 'अस्ति' के प्रयोगके समय 'स्यात्' शब्द दे देता है। इसी तरह घड़ा एक है। पर वही घड़ा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, छोटा-बड़ा हलका-भारी आदि अनन्त शक्तियोकी दृष्टिसे अनेक रूपमें दिखाई देता है या नही ? यह आप स्वय बतावे। यह अनेक रूपमे दिखाई देता है तो आपको यह कहनेमें क्यो कष्ट होता है कि—'घड़ा द्रव्यरूपसे एक है, पर अपने गुण, धर्म और शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है।' कृपाकर सोचिए कि वस्तुमें जब अनेक विरोधी धर्मोंका प्रत्यक्ष हो ही रहा है और स्वय वस्तु अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीडास्थल है तब हमे उसके स्वरूपको विकृत रूपमे देखनेकी दुर्दृष्टि तो नही करनी चाहिए। जो 'स्यात्' शब्द वस्तुके इस पूर्णरूप दर्शनकी याद दिलाता है उसे ही हम 'विरोध सशय' जैसी गालियोसे दुरदुराते हैं। किमाश्चर्यमत परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकाश ध्यानमे आ जाता है कि—

"यदीय स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।"

अर्थात्—यदि यह अनेकधर्मरूपता वस्तुको स्वय पसन्द है, उसमें है, वस्तु स्वयं राजी है तो हम बीचमे काजी बननेवाले कौन ? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकर है। हमे अपनी दृष्टि निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमे कोई विरोध नही है। विरोध हमारी दृष्टिमे है। और इस दृष्टिविरोधकी अमृता (गुरबेल) 'स्यात्' शब्द है, जो रोगीको कटु तो जरूर मालूम होती है पर इसके बिना यह दृष्टिविषम ज्वर उतर भी नही सकता।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने तथा इत पूर्व प्रो० जैकोबी आदिने स्याद्वादकी उत्पत्तिको सजयवेलट्ठिपुत्तके मतसे बतानेका प्रयत्न किया है। राहुलजीने दर्शनदिग्दर्शन (पृ० ४९६) मे लिखा है कि—"आधुनिक जैनदर्शनका आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है सजयवेलट्ठिपुत्तके चार अग वाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है।" संजयने तत्त्वो (परलोक देवता) के बारेमे कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इनकार करते हुए उस इनकारको चार प्रकारका कहा है—

१—है ? नही कह सकता।
२—नही है ? नही कह सकता।
३—है भी और नही भी ? नही कह सकता।
४—न है और न नही है ? नही कह सकता।

इसकी तुलना कीजिये जैनोके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

१—है ? हो सकता है (स्यादस्ति)
२—नही है ? नही भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)
३—है भी और नही भी ? है भी और नही भी हो सकता।
(स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनो उत्तर क्या कहे जा सकते हैं (—वक्तव्य है) ? इसका उत्तर जैन नहीमें देते हैं।

४—स्याद् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता है (—वक्तव्य है) ?
नही, स्याद् अ-वक्तव्य है।
५—'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।
६—'स्याद नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

७–'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ?

नहीं, 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनोंको मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भंगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोडकर 'सद्' भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयारकर अपनी सप्तभंगी पूरी की।........इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (–स्याद्) की स्थापना न करना जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोके लुप्त हो जानेपर जैनोने अपना लिया और उसके चतुर्भंगी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।"

राहुलजीने उक्त सन्दर्भमे सप्तभंगी और स्याद्वादको न समझकर केवल शब्दसाम्यसे एक नये मतकी सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है जैसे कि चोरसे 'क्या तुम अमुक जगह गये थे ?' यह पूछने पर वह कहे कि "मैं नहीं कह सकता कि गया था" और जज अन्य प्रमाणोसे यह सिद्ध कर दे कि चोर अमुक जगह गया था। तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जजका फैसला चोरके बयानसे निकला है।

संजयवेलट्ठिपुत्तके दर्शनका विवेचन स्वयं राहुलजीने (पृ० ४९१) इन शब्दोमे किया है—"यदि आप पूछें—'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बताऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।"

संजयके परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तिके सम्बन्धके ये विचार शतप्रतिशत अनिश्चयवादके हैं। वह स्पष्ट कहता है कि—"यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।" संजयको परलोक-मुक्ति आदिके स्वरूपका कुछ भी निश्चय नहीं था। इसलिए उसका दर्शन बकौल राहुलजीके मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चयकर भ्रान्त धारणाओंकी पुष्टि ही करना चाहता है। तात्पर्य यह कि संजय घोर अनिश्चयवादी था।

बुद्ध और संजय—बुद्धने "लोक नित्य है, अनित्य है, नित्य-अनित्य है, न नित्य न अनित्य है, लोक अन्तवान् है, नहीं है, है-नहीं है, न है न नहीं है, निर्वाणके बाद तथागत होते हैं, नहीं होते, होते-नहीं होते, न होते न नहीं होते, जीव शरीरसे भिन्न है, जीव शरीरसे भिन्न नहीं है।" (माध्यमिक वृत्ति, पृ० ४४६।) इन चौदह वस्तुओंको अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकायमें (२।३।३) इनकी संख्या दश है। इसमें आदिके दो प्रश्नोंमें तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिनाया गया है। इनके अव्याकृत होनेका कारण बुद्धने बताया है कि इनके बारेमें कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद निरोध शांति परमज्ञान या निर्वाणके लिए आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बुद्धकी दृष्टिमें इनका जानना मुमुक्षुके लिए आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दोंमें बुद्ध भी संजयकी तरह इनके बारेमें कुछ कहकर मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओंको पुष्ट ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता या अनिश्चयको साफ-साफ शब्दोंमें कह देता है कि यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, तब बुद्ध अपने जानने, न जाननेका उल्लेख न करके उस रहस्यको शिष्योंके लिए अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। किसी भी तार्किकका यह प्रश्न अभीतक असमाहित ही रह जाता है कि इस अव्याकृतता और संजयके अनिश्चयवादमें क्या अन्तर है ? सिवाय इसके कि संजय फक्कड़की तरह खरी-खरी बात कह देता है और बुद्ध बड़े आदमियोंकी शालीनताका निर्वाह करते हैं।

बुद्ध और सजय ही क्या, उस समयके वातावरणमे आत्मा, लोक-परलोक और मुक्तिके स्वरूपके संबंध में–है (सत्), नही (असत्), है–नही (सत्असत् उभय), न है, न नही है (अव्यक्त या अनुभय) ये चार कोटियाँ गूँज रही थी। कोई भी प्राश्निक किसी भी तीर्थंकर या आचार्यसे बिना किसी संकोचके अपने प्रश्नको एक साँसमे ही उक्त चार कोटियोंमे विभाजित करके ही पूछता था। जिस प्रकार आज कोई भी प्रश्न मजदूर और पूँजीपति, शोषक और शोष्यके द्वन्द्वकी छायामे ही सामने आता है, उसी प्रकार उस समय आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके प्रश्न सत्, असत्, उभय और अनुभय-अनिर्वचनीय इस चतुष्कोटिमे आवेष्टित रहते थे। उपनिषद् और ऋग्वेदमे इस चतुष्कोटिके दर्शन होते है। विश्वके स्वरूपके सम्बन्धमे सत्से असत् हुआ ? या सत्से सत् हुआ ? विश्व सत् रूप है ? या असत् रूप है, या सदसत् उभयरूप है या सदसत् दोनो रूपसे अनिर्वचनीय है ? इत्यादि प्रश्न उपनिषद् और वेदमे बराबर उपलब्ध होते है ? ऐसी दशामे राहुलजीका स्याद्वादके विषयमे यह फतवा दे देना कि सजयके प्रश्नोके शब्दोसे या उसकी चतुर्भंगीको तोड-मरोडकर सप्तभगी बनी–कहाँतक उचित है, यह वे स्वय विचारे।

बुद्धके समकालीन जो छह तीर्थिक थे उनमे निग्गण्ठनाथपुत्त महावीरकी अपने क्षेत्रमे सर्वज्ञ और सर्वदर्शीके रूपमे प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नही, यह इस समयकी चरचाका विषय नही है, पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक थे और किसी भी प्रश्नको सजयकी तरह अनिश्चयकोटि या विक्षेपकोटिमे और बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमे डालनेवाले नही थे और न शिष्योकी सहज जिज्ञासाको अनुपयोगिताके भयप्रद चक्करमे डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि सघके पँचमेल व्यक्ति जबतक वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय नही कर लेते तबतक उनमे बौद्धिक दृढता और मानसबल नही आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य सघके भिक्षुओके सामने अपनी बौद्धिक दीनताके कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उनके जीवन और आचारपर आये बिना नही रहेगा। वे अपने शिष्योको पर्देबन्द पद्मिनियोकी तरह जगत्के स्वरूपविचारकी बाह्य हवामे अपरिचित नही रखना चाहते थे, किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक मानव अपनी सहज जिज्ञासा और मननशक्तिको वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचारकी ओर लगावे। न उन्हे बुद्धकी तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्माके सम्बन्धमे 'है' कहते है तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियोकी तरह लोग नित्यत्वकी ओर झुक जायेंगे और 'नही है' कहनेसे उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाककी तरह नास्तिकत्वका प्रसग प्राप्त होगा, अत इस प्रश्नको अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूद तर्कोंका और संशयोंका समाधान वस्तुस्थितिके आधारसे होना ही चाहिये। अत उन्होने वस्तुस्वरूपका अनुभवकर यह बताया कि जगत्का प्रत्येक सत्, चाहे वह चेतनजातीय हो या अचेतनजातीय, परिवर्तनशील है। वह निसर्गतः प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। उसकी पर्याय बदलती रहती है। उसका परिणमन कभी सदृश भी होता है, कभी विसदृश भी। पर परिणमनसामान्यके प्रभावसे कोई भी अछूता नही रहता। यह एक मौलिक नियम है कि किसी भी सत्का सर्वथा उच्छेद नही हो सकता, वह परिवर्तित होकर भी अपनी मौलिकता या सत्ताको नही खो सकता। एक परमाणु है वह हाइड्रोजन बन जाय, जल बन जाय, भाप बन जाय, फिर पानी हो जाय, पृथिवी बन जाय और अनन्त आकृतियो या पर्यायोको धारण कर ले, पर अपने द्रव्यत्व और मौलिकत्वको नही खो सकता। किसीकी ताकत नही जो उस परमाणुकी हस्तीको मिटा सके। तात्पर्य यह कि जगत्मे जितने 'सत्' है उनमे बने रहेंगे, उनमेसे एक भी कम नही हो सकता, एक दूसरेमें विलीन नही हो सकता। इसी तरह न कोई नया 'सत्' उत्पन्न हो सकता है। जितने है उनका ही आपसी संयोगोंके आधारसे यह विश्व जगत् (गच्छतीति जगत् अर्थात् नाना रूपोको प्राप्त होनेवाला) बनता रहता है।

तात्पर्य यह कि–विश्व में जितने सत् हैं उनमें से न तो एक कम हो सकता है और न एक बढ़ सकता है। अनन्त जड़ परमाणु, अनन्त आत्माएँ, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु इतने सत् हैं। इनमे धर्म, अधर्म, आकाश और काल अपने स्वाभाविक रूपमें सदा विद्यमान रहते हैं उनका विलक्षण परिणमन नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि ये कूटस्थ नित्य हैं किन्तु इनका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है, वह सदृश स्वाभाविक परिणमन ही होता है। आत्मा और पुद्गल ये दो द्रव्य एक दूसरेको प्रभावित करते हैं। जिस समय आत्मा शुद्ध हो जाता है उस समय वह भी अपने प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक परिणमनका ही स्वामी रहता है, उसमें विलक्षण परिणति नहीं होती। जबतक आत्मा अशुद्ध है तबतक ही इसके परिणमनपर सजातीय जीवान्तरका और विजातीय पुद्गलका प्रभाव आनेसे विलक्षणता आती है। इसकी नानारूपता प्रत्येकको स्वानुभवसिद्ध है। जड़ पुद्गल ही एक ऐसा विलक्षण द्रव्य है जो सदा सजातीयसे भी प्रभावित होता है और विजातीय चेतनसे भी। इसी पुद्गल द्रव्यके चमत्कार आज विज्ञानके द्वारा हम सबके सामने प्रस्तुत हैं। इसीके हीनाधिक संयोग-वियोगोंके फलस्वरूप असंख्य आविष्कार हो रहे हैं। विद्युत् शब्द आदि इसीके रूपान्तर हैं, इसीकी शक्तियाँ हैं। जीवकी अशुद्ध दशा इसीके संपर्कसे होती है। अनादिसे जीव और पुद्गलका ऐसा संयोग है जो पर्यायान्तर लेनेपर भी जीव इसके संयोगसे मुक्त नहीं हो पाता और उसमे विभावपरिणमन–राग, द्वेष, मोह अज्ञानरूप दशाएँ होती रहती हैं। जब यह जीव अपनी चारित्रसाधना द्वारा इतना समर्थ और स्वरूपप्रतिष्ठ हो जाता है कि उसपर बाह्य जगत्का कोई भी प्रभाव न पड सके तो वह मुक्त हो जाता है और अपने अनन्त चैतन्यमें स्थिर हो जाता है। मुक्त जीव अपने प्रतिक्षण परिवर्तित स्वाभाविक चैतन्यमे लीन रहता है। फिर उसमे अशुद्ध दशा नहीं होती। अन्तत पुद्गल परमाणु ही ऐसे हैं जिनमे शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशामे दूसरे संयोगके आधारसे नाना आकृतियाँ और अनेक परिणमन संभव हैं तथा होते रहते हैं। इस जगत् व्यवस्थामे किसी एक ईश्वर जैसे नियन्ताका कोई स्थान नहीं है। यह तो अपने-अपने संयोग-वियोगोसे परिणमनशील है। प्रत्येक पदार्थका अपना सहज स्वभावजन्य प्रतिक्षणभावी परिणमनचक्र चालू है। यदि कोई दूसरा सयोग आ पड़ा और उस द्रव्यने इसके प्रभावको आत्मसात् किया तो परिणमन तत्प्रभावित हो जायगा, अन्यथा वह अपनी गतिसे बदलता चला जायगा। हाइड्रोजनका एक अणु अपनी गतिसे प्रतिक्षण हाइड्रोजन रूपमे बदल रहा है। यदि ऑक्सीजनका अणु उसमें आ जुटा तो दोनोका जलरूप परिणमन हो जायगा। वे दोनों एक जलबिन्दु रूपसे सदृश सयुक्त परिणमन कर लेंगे। यदि किसी वैज्ञानिकके विश्लेषणप्रयोगका निमित्त मिला तो वे दोनो फिर जुदा-जुदा भी हो सकते है। यदि अग्निका सयोग मिल गया तो भाप बन जायेंगे। यदि साँपके मुखका सयोग मिला तो विषबिन्दु हो जायँगे। तात्पर्य यह कि यह विश्व साधारणतया पुद्गल और अशुद्ध जीवके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका वास्तविक उद्यान है। परिणमन चक्रपर प्रत्येक द्रव्य चढ़ा हुआ है। वह अपनी अनन्त योग्यताओके अनुसार अनन्त परिणमनोंको क्रमश धारण करता है। समस्त 'सत्' के समुदायका नाम लोक या विश्व है। इस दृष्टिसे अब आप लोकके शाश्वत और अशाश्वत वाले प्रश्नको विचारिए—

१–क्या लोक शाश्वत है? हाँ, लोक शाश्वत है। द्रव्योकी संख्याकी दृष्टिसे, अर्थात् जितने सत् इसमें हैं उनमेंका एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उसमे किसी नये सत्की वृद्धि ही हो सकती है। न एक सत् दूसरेमें विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जो इसके अंगभूत द्रव्योका लोप हो या वे समाप्त हो जायँ।

२–क्या लोक अशाश्वत है? हाँ, लोक अशाश्वत है, अंगभूत द्रव्योके प्रतिक्षण भावी परिणमनोंकी दृष्टिसे? अर्थात् जितने सत् हैं वे प्रतिक्षण सदृश या विसदृश परिणमन करते रहते हैं। इसमे दो क्षणतक

ठहरनेवाला कोई परिणमन नही है। जो हमे अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षण-भावी सदृश परिणमनका स्थूल दृष्टिसे अवलोकनमात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोग-वियोगोंकी दृष्टिसे विचार कीजिये तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

३–क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनो रूप है ? हाँ, क्रमश उपर्युक्त दोनो दृष्टियोसे विचार कीजिए तो लोक शाश्वत भी है (द्रव्यदृष्टिसे), अशाश्वत भी है (पर्यायदृष्टिसे)। दोनो दृष्टिकोणोको क्रमश प्रयुक्त करनेपर और उन दोनोपर स्थूलदृष्टिसे विचार करनेपर जगत् उभयरूप ही प्रतिभासित होता है।

४–क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनो रूप नही है ? आखिर उसका पूर्णरूप क्या है ? हाँ, लोकका पूर्णरूप अवक्तव्य है, नही कहा जा सकता। कोई शब्द ऐसा नही जो एक साथ शाश्वत और अशाश्वत इन दोनो स्वरूपोको तथा उसमे विद्यमान अन्य अनन्त धर्मोंको युगपत् कह सके। अत शब्दकी असामर्थ्यके कारण जगत्का पूर्णरूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपणमे आप देखेंगे कि वस्तुका पूर्णरूप वचनोके अगोचर है, अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है। यह चौथा उत्तर वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कहनेकी दृष्टिसे है। पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्य-दृष्टिसे, अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टिसे। इस तरह मूलरूपमे चौथा, पहिला और दूसरा ये तीन प्रश्न मौलिक है। तीसरा उभयरूपताका प्रश्न तो प्रथम और द्वितीयके सयोगरूप है। अब आप विचारें कि सजयने जब लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमे स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्धने कह दिया कि इनके चक्करमे न पडो, इसका जानना उपयोगी नही है, तब महावीरने उन प्रश्नोका वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योकी जिज्ञासाका समाधानकर उनको बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	सजय	बुद्ध	महावीर
१–क्या लोक शाश्वत है ?	मैं जानता होऊँ तो बताऊँ (अनिश्चय, विक्षेप)	इसका जानना अनुपयोगी है (अव्याकृत अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत है, इसके किसी भी सत्का सर्वथा नाश नही हो सकता।
२–क्या लोक अशाश्वत है ?	,,	,,	हाँ, लोक अपने प्रतिक्षण भावी परिवर्तनोकी दृष्टिसे अशाश्वत है, कोई भी परिवर्तन दो क्षणस्थायी नही है।
३–क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है ?	,,	,,	हाँ, दोनो दृष्टिकोणोसे क्रमश. विचार करनेपर लोकको शाश्वत भी कहते है और अशाश्वत भी।
४–क्या लोक दोनो रूप नही है अनुभय है ?	,,	,,	हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोकके परिपूर्ण स्वरूपको एक साथ समग्र भावसे कह सके। अत पूर्णरूपसे वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है, अनिर्वचनीय है।

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नोंका समाधान नहीं करते उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर अपना पिंड छुड़ा लेते हैं, महावीर उन्हींका वास्तविक युक्तिसंगत समाधान करते हैं। इसपर भी राहुलजी और स्व० धर्मानन्द कोसम्बी आदि यह कहनेका साहस करते हैं कि 'संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर संजयवाद-को ही जैनियोंने अपना लिया।' यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि 'भारतमें रही परतन्त्रताको ही पर-तन्त्रता विधायक अंग्रेजोंके चले जानेपर भारतीयोंने इसे अपरतन्त्रता (स्वतन्त्रता) रूपसे अपना लिया है, क्योंकि अपरतन्त्रतामें भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही। या हिंसाको ही बुद्ध और महावीरने उनके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर अहिंसा रूपसे अपना लिया है क्योंकि अहिंसामें भी 'हिं सा' ये दो अक्षर हैं ही।'' यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि आप (पृ० ४८४) अनिश्चिततावादियों-की सूचीमें संजयके साथ निग्गठनाथपुत्त (महावीर) का नाम लिख जाते हैं, तथा (पृ० ४९१) संजयको अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें 'धिग् व्यापकं तम.' नहीं कहा जा सकता ?

'स्यात्' शब्दके प्रयोगसे साधारणतया लोगोंको संशय, अनिश्चय या संभावनाका भ्रम होता है। पर यह तो भाषाकी पुरानी शैली है उस प्रसंगकी, जहाँ एक वादका स्थापन नहीं होता। एकाधिक भेद या विकल्पकी सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'स्यात्' पदका प्रयोग भाषाकी शैलीका एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकायके महाराहुलोवादसुत्तके निम्नलिखित अवतरणसे ज्ञात होता है—'कतमा राहुल च तेजोधातु ? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।' अर्थात् तेजोधातु स्यात् आध्यात्मिक है स्यात् बाह्य है। यहाँ सिया (स्यात्) शब्दका प्रयोग तेजोधातुके निश्चित भेदोंकी सूचना देता है न कि उन भेदोंका संशय, अनि-श्चय या संभावना बताता है। आध्यात्मिक भेदके साथ प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द इस बातका द्योतन करता है कि तेजोधातु-मात्र आध्यात्मिक ही नहीं है किन्तु उससे व्यतिरिक्त बाह्य भी है। इसी तरह 'स्यादस्ति' में अस्तिके साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द सूचित करता है कि अस्तिसे भिन्न धर्म भी वस्तुमें हैं केवल अस्तिधर्मरूप ही वस्तु नहीं है। इस तरह 'स्यात्' शब्द न शायदका, न अनिश्चयका और न सम्भावनाका सूचक है किन्तु निर्दिष्ट धर्मके सिवाय अन्य अशेष धर्मोंकी सूचना देता है जिससे श्रोता वस्तुको निर्दिष्ट धर्ममात्र रूप ही न समझ बैठे।

सप्तभंगी—वस्तु मूलत अनन्तधर्मात्मक है। उसमें विभिन्न दृष्टियोंसे विभिन्न विवक्षाओंसे अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक धर्मका विरोधी धर्म भी दृष्टिभेदसे वस्तुमें सम्भव है। जैसे 'घटः स्यादस्ति' में घट है अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादासे। जिस प्रकार घटमें स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व धर्म है उसी तरह घट-व्यतिरिक्त अन्य पदार्थोंका नास्तित्व भी घटमें है। यदि घटभिन्न पदार्थोंका नास्तित्व घटमें न पाया जाय तो घट और अन्य पदार्थ मिलकर एक हो जायँगे। अत घट स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इसी तरह वस्तुमें द्रव्यदृष्टिसे नित्यत्व और पर्यायदृष्टिसे अनित्यत्व आदि अनेकों विरोधी युगल धर्म रहते हैं। एक वस्तुमें अनन्त सप्तभंग बनते हैं। जब हम घटके अस्तित्वका विचार करते हैं तो अस्तित्वविषयक सात भंग हो सकते हैं। जैसे संजयके प्रश्नोत्तर या बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोत्तरमें हम चार कोटि तो निश्चित रूपसे देखते हैं—सत्, असत्, उभय और अनुभय। उसी तरह गणितके हिसाबसे तीन मूल भंगोंको मिलानेपर अधिकसे अधिक सात अपुनरुक्त भंग हो सकते हैं। जैसे घड़ेके अस्तित्वका विचार प्रस्तुत है तो पहिला अस्तित्व धर्म, दूसरा तद्विरोधी नास्तित्व धर्म और तीसरा धर्म होगा अवक्तव्य जो वस्तुके पूर्ण रूपकी सूचना देता है कि वस्तु पूर्णरूपसे वचनके अगोचर है, उसके विराट् रूपको शब्द नहीं छू सकते। अवक्तव्य धर्म इस अपेक्षासे है कि दोनों धर्मोंको युगपत् कहनेवाला शब्द संसारमें नहीं है। अत. वस्तु यथार्थतः वचनातीत है, अवक्तव्य है। इस तरह मूलमें तीन भंग हैं—

१–स्यादस्ति घटः २–स्यान्नास्ति घटः ३–स्यादवक्तव्यो घटः

अवक्तव्यके साथ स्यात् पद लगानेका भी अर्थ है कि वस्तु युगपत् पूर्ण रूपमे यदि अवक्तव्य है तो क्रमशः अपने अपूर्ण रूपमे वक्तव्य भी है और वह अस्ति, नास्ति आदि रूप वचनोंका विषय भी होती है। अतः वस्तु स्याद् अवक्तव्य है। जब मूल भग तीन हैं तब उनके द्विसंयोगी भंग भी तीन होंगे तथा त्रिसयोगी भंग एक होगा। जिस तरह चतुष्कोटिमे सत् और असत्को मिलाकर प्रश्न होता है कि 'क्या सत् होकर भी वस्तु असत् है ?" उसी तरह ये भी प्रश्न हो सकते हैं कि–१–क्या सत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? २–क्या असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? ३–क्या सत्असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? इन तीनो प्रश्नोंका समाधान सयोगज चार भागोंमे है। अर्थात्—

४–अस्ति नास्ति उभय रूप वस्तु है स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-कालभाव और परचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

५–अस्ति अवक्तव्य वस्तु है–प्रथम समयमे स्वचतुष्टय और द्वितीय समयमें युगपत् स्वपरचतुष्टय पर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

६–नास्ति अवक्तव्य वस्तु है–प्रथम समयमे परचतुष्टय और द्वितीय समयमे युगपत् स्वपर चतुष्टयकी क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

७–अस्ति नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमे स्वचतुष्टय, द्वितीय समय मे परचतुष्टय तथा तृतीय समयमे युगपत् स्व-परचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और तीनोकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

जब अस्ति और नास्तिकी तरह अवक्तव्य भी वस्तुका धर्म है तब जैसे अस्ति और नास्तिको मिलाकर चौथा भग बन जाता है वैसे ही अवक्तव्यके साथ भी अस्ति, नास्ति और अस्तिनास्तिको मिलाकर पाँचवें, छठवें और सातवें भंगकी सृष्टि हो जाती है।

इस तरह गणितके सिद्धान्तके अनुसार तीन मूल वस्तुओके अधिकसे अधिक अपुनरुक्त सात ही भग हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुके प्रत्येक धर्मको लेकर सात प्रकारकी जिज्ञासा हो सकती है, सात प्रकारके प्रश्न हो सकते हैं अतः उनके उत्तर भी सात प्रकारके ही होते हैं।

दर्शनदिग्दर्शनमे श्री राहुलजी ने पाँचवे, छठवे और सातवें भगको जिस भ्रष्ट तरीकेसे तोडा-मरोडा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और अतिसाहस है। जब वे दर्शनोको व्यापक नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते है तो उन्हे किसी भी दर्शन को समीक्षा उसके स्वरूपको ठीक समझकर ही करनी चाहिए। वे अवक्तव्य नामक धर्मको, जो कि सत्के साथ स्वतन्त्रभावसे द्विसयोगी हुआ है, तोडकर अ-वक्तव्य करके संजयके 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और 'संजय'[1] के घोर अनिश्चयवादको ही अनेकान्तवाद कह देते हैं। किमाश्चर्यमतः परम्।



---

१. जैन कथाग्रन्थोमे महावीरके बालजीवनकी एक घटनाका वर्णन आता है कि–'संजय और विजय नामक दो साधुओंका संशय महावीरको देखते ही नष्ट हो गया था, इसलिए इनका नाम सन्मति रखा गया था। सम्भव है यह संजय-विजय संजयवेलट्ठिपुत्त ही हों और इसीके संशय या अनिश्चयका नाश महावीरके सप्तभंगी न्यायसे हुआ हो। यहाँ वेलट्ठिपुत्त विशेषण भ्रष्ट होकर विजय नामका दूसरा साधु बन गया है।

जैन अध्यात्म

पदार्थस्थिति

'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः' जगत्मे जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नही हो सकता और सर्वथा नए किसी असत्का सद्रूपमें उत्पाद नहीं हो सकता। जितने मौलिक द्रव्य इस जगत्में अनादिसे विद्यमान हैं वे अपनी अवस्थाओमे परिवर्तित होते रहते हैं। अनन्तजीव, अनन्तानन्त पुद्गलअणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु, इनसे यह लोक व्याप्त है। ये छह जातिके द्रव्य मौलिक हैं, इनमेसे न तो एक भी द्रव्य कम हो सकता और न कोई नया उत्पन्न होकर इनकी संख्यामे वृद्धि कर सकता है। कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्यरूपमें परिणमन नही कर सकता, जीव जीव ही रहेगा, पुद्गल नही हो सकता। जिस तरह विजातीय द्रव्यरूपमे किसी भी द्रव्यका परिणमन नही होता उसी तरह एक जीव दूसरे सजातीय जीव-द्रव्यरूप या एक पुद्गल दूसरे सजातीय पुद्गलद्रव्यरूपमें सजातीय परिणमन भी नही कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों-अवस्थाओकी धारामे प्रवाहित है किसी भी विजातीय या सजातीय द्रव्यान्तरकी धारामें उसका परिणमन नही हो सकता। यह सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तरमें असंक्रान्ति ही प्रत्येक द्रव्यकी मौलिकता है। इन द्रव्योंमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्योंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है, इनमें विकार नही होता, एक जैसा परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें शुद्धपरिणमन भी होता है तथा अशुद्ध परिणमन भी। इन दो द्रव्योंमें क्रियाशक्ति भी है जिससे इनमें हलन-चलन, आना-जाना आदि क्रियाएँ होती हैं। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं वे जहाँ हैं वहीं रहते हैं। आकाश सर्वव्यापी है। धर्म और अधर्म लोकाकाशके बराबर हैं। पुद्गल और काल अणुरूप हैं। जीव असंख्यातप्रदेशी हैं और अपने शरीरप्रमाण विविध आकारोंमें मिलता है। एक पुद्गलद्रव्य ही ऐसा है जो सजातीय अन्य पुद्गलद्रव्योंसे मिलकर स्कन्ध बन जाता है और कभी-कभी इतना रासायनिक मिश्रण हो जाता है कि उसके अणुओंकी पृथक् सत्ताका भान करना भी कठिन होता है। तात्पर्य यह कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यमें अशुद्ध परिणमन होता है और वह एक दूसरेके निमित्तसे। पुद्गलमें इतनी विशेषता है कि उसकी अन्य सजातीयपुद्गलोसे मिलकर स्कन्ध-पर्याय भी होती है पर जीवकी दूसरे जीवसे मिलकर स्कन्ध पर्याय नही होती। दो विजातीय द्रव्य बँधकर एक पर्याय नहीं प्राप्त कर सकते। इन दो द्रव्योंके विविध परिणमनोंका स्थूलरूप यह दृश्यजगत् है।

द्रव्य-परिणमन

प्रत्येक द्रव्य परिणामीनित्य है। पूर्वपर्याय नष्ट होती है उत्तर उत्पन्न होती है पर मूलद्रव्यकी धारा अविच्छिन्न चलती है। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता प्रत्येक द्रव्यका निजी स्वरूप है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंका सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। जीवद्रव्यमे जो मुक्त जीव हैं उनका परिणमन शुद्ध ही होता है कभी भी अशुद्ध नहीं होता। संसारी जीव और अनन्त पुद्गलद्रव्यका शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकारका परिणमन होता है। इतनी विशेषता है कि जो संसारी जीव एक बार मुक्त होकर शुद्ध परिणमन-का अधिकारी हुआ वह फिर कभी भी अशुद्ध नहीं होगा, पर पुद्गलद्रव्यका कोई नियम नहीं है। वे कभी स्कन्ध बनकर अशुद्ध परिणमन करते हैं तो परमाणुरूप होकर अपनी शुद्ध अवस्थामें आ जाते हैं फिर स्कन्ध बन जाते हैं इस तरह उनका विविध परिणमन होता रहता है। जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति है जिसके कारण वे विभाव परिणमनको भी प्राप्त होते हैं।

द्रव्यगतशक्ति

धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक है। कालाणु असंख्यात हैं। प्रत्येक कालाणुमें एक-जैसी शक्तियाँ हैं। वर्तना करनेकी जितने अविभागप्रतिच्छेदवाली शक्ति एक कालाणुमे है वैसी ही दूसरे कालाणु-में। इस तरह कालाणुओमे परस्पर शक्ति-विभिन्नता या परिणमन-विभिन्नता नही है।

पुद्गलद्रव्यके एक अणुमे जितनी शक्तियाँ है उतनी ही और वैसी ही शक्तियाँ परिणमन-योग्यता अन्य पुद्गलाणुओमे हैं। मूलत पुद्गल-अणुद्रव्योमे शक्तिभेद, योग्यताभेद या स्वभावभेद नही है। यह तो सम्भव है कि कुछ पुद्गलाणु मूलत स्निग्ध स्पर्शवाले हो और दूसरे मूलत रूक्ष, कुछ शीत और कुछ उष्ण पर उनके ये गुण नियत नही, रूक्षगुणवाला भी स्निग्धगुणवाला बन सकता है तथा स्निग्धगुणवाला भी रूक्ष। शीत भी उष्ण बन सकता है उष्ण भी शीत। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओमे ऐसा कोई जातिभेद नही है जिससे किसी भी पुद्गलाणुका पुद्गलसम्बन्धी कोई परिणमन न हो सकता हो। पुद्गलद्रव्यके जितने भी परिणमन हो सकते है उन सबकी योग्यता और शक्ति प्रत्येक पुद्गलाणुमे स्वभावतः है, यही द्रव्यशक्ति कहलाती है। स्कन्ध-अवस्थामे पर्यायशक्तियाँ विभिन्न हो सकती हैं। जैसे किसी अग्निस्कन्धमें सम्मिलित परमाणुका उष्णस्पर्श और तेजोरूप था, पर यदि वह अग्निस्कन्धसे जुदा हो जाय तो उसका शीतस्पर्श तथा कृष्णरूप हो सकता है। और यदि वह स्कन्ध ही भस्म बन जाय तो सभी परमाणुओका रूप और स्पर्श आदि बदल सकते हैं।

सभी जीवद्रव्योकी मूल स्वभावशक्तियाँ एक जैसी है, ज्ञानादि अनन्तगुण और अनन्त चैतन्य-परि-णमनकी प्रत्येक शक्ति मूलत प्रत्येक जीवद्रव्यमे है। हाँ, अनादिकालीन अशुद्धताके कारण उनका विकास विभिन्न प्रकारसे होता है। चाहे हो भव्य या अभव्य, दोनो ही प्रकारके प्रत्येक जीव एक-जैसी शक्तियोके आधार हैं, शुद्ध दशामे सभी मुक्त एक-जैसी शक्तियोके स्वामी बन जाते है और प्रतिसमय अखण्ड शुद्ध परिणमनमें लीन रहते हैं। ससारी जीवोमे भी मूलत सभी शक्तियाँ है। इतना विशेष है कि अभव्य-जीवों-मे केवलज्ञानादिशक्तियोके आविर्भावकी शक्ति नही मानी जाती। उपर्युक्त विवेचनसे एक बात निर्विवाद-रूपसे स्पष्ट हो जाती है कि चाहे द्रव्य चेतन हो या अचेतन, प्रत्येक मूलत अपनी-अपनी चेतन-अचेतन शक्तियोका धनी है उनमे कही कुछ भी न्यूनाधिकता नही है। अशुद्धदशामे अन्य पर्यायशक्तियाँ भी उत्पन्न हो जाती है और विलीन होती रहती हैं।

परिणमनके नियतत्वकी सीमा

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि द्रव्योमे परिणमन होनेपर भी कोई भी द्रव्य सजातीय या विजा-तीय द्रव्यान्तररूपमें परिणमन नही कर सकता। अपनी धारामे सदा उसका परिणमन होता रहता है। द्रव्य-गत मूल स्वभावकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके अपने परिणमन नियत हैं। किसी भी पुद्गलाणुके वे सभी पुद्गल-सम्बन्धी परिणमन प्रतिसमय हो सकने हैं और किसी भी जीवके जीवसम्बन्धी अनन्त परिणमन। यह तो संभव है कि कुछ पर्यायशक्तियोसे सीधा सम्बन्ध रखनेवाले परिणमन कारणभूत पर्यायशक्तिके न होने-पर न हो। जैसे प्रत्येक पुद्गलपरमाणु यद्यपि घट बन सकता है फिर भी जबतक अमुक परमाणुस्कन्ध मिट्टीरूप पर्यायको प्राप्त न होगे तबतक उनमे मिट्टीरूप पर्यायशक्तिके विकाससे होनेवाली घटपर्याय नही हो सकती। परन्तु मिट्टी-पर्यायसे होनेवाली घट, सकोरा आदि जितनी पर्यायें सम्भावित हैं वे निमित्तके अनुसार कोई भी हो सकती हैं। जैसे जीवमे मनुष्यपर्यायमें आँखसे देखनेकी योग्यता विकसित है तो वह अमुक समयमें जो भी सामने आयेगा उसे देखेगा। यह कदापि नियत नही है कि अमुक समय-में अमुक पदार्थको ही देखनेकी उसमे योग्यता है शेषकी नही या अमुक पदार्थमें उस समय उसके द्वारा

ही देखे जानेकी योग्यता है, अन्यके द्वारा नहीं। मतलब यह कि परिस्थितिवश जिस पर्यायशक्तिका द्रव्यमें विकास हुआ है उस शक्तिसे होनेवाले यावत्कार्योंमेंसे जिस कार्यकी सामग्री या बलवान् निमित्त मिल जायँगे उसके अनुसार उसका वैसा परिणमन होता जायगा। एक मनुष्य गद्दीपर बैठा है उस समय उसमें हँसना-रोना, आश्चर्य करना, गम्भीरतासे सोचना आदि अनेक कार्योंकी योग्यता है। यदि बहुरूपिया सामने आ जाय और उसकी उसमें दिलचस्पी हो तो हँसनेरूप पर्याय हो जायगी। कोई शोकका निमित्त मिल जाय तो रो भी सकता है। अकस्मात् बात सुनकर आश्चर्यमें डूब सकता है और तत्त्वचर्चा सुनकर गम्भीरतापूर्वक सोच भी सकता है। इसलिए यह समझना कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिसमयका परिणमन नियत है, उसमें कुछ हेर-फेर नहीं हो सकता और न कोई हेर-फेर कर सकता है, द्रव्यके परिणमनस्वभावको गम्भीरतासे न सोचनेके कारण भ्रमात्मक है। द्रव्यगत परिणमन नियत हैं अमुक स्थूलपर्यायगत शक्तियोंके परिणमन भी नियत हो सकते हैं जो उस पर्यायशक्तिके अवश्यंभावी परिणमनोंमेंसे किसी एकरूपमें निमित्तानुसार सामने आते हैं। जैसे एक अँगुली अगले समय टेढ़ी हो सकती है, सीधी रह सकती है, टूट सकती है, घूम सकती है, जैसी सामग्री और कारण-कलाप मिलेंगे उसमें विद्यमान इन सभी योग्यताओंमेंसे अनुकूल योग्यताका विकास हो जायगा। उस कारणशक्तिसे वह अमुक परिणमन भी नियत कराया जा सकता है जिसकी पूरी सामग्री अविकल हो प्रतिबन्धक कारणकी सम्भावना न हो ऐसी अन्तिमक्षणप्राप्त शक्तिसे वह कार्य नियत ही होगा पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिक्षणका परिणमन सुनिश्चित है उसमें जिसे जो निमित्त होना है नियतिचक्रके पेटमें पड़कर ही वह उसका निमित्त बना रहेगा। यह अतिसुनिश्चित है कि हरएक द्रव्यका प्रतिसमय कोई न कोई परिणमन होना ही चाहिए। पुराने संस्कारोंके परिणामस्वरूप कुछ ऐसे निश्चित कार्यकारणभाव बनाए जा सकते हैं जिनसे यह नियत किया जा सकता है कि अमुक समयमें इस द्रव्यका ऐसा परिणमन होगा ही, पर इस कारणताकी अवश्यंभाविता सामग्रीकी अविकलता तथा प्रतिबन्धककारणकी शून्यतापर ही निर्भर है। जैसे हल्दी और चूना दोनों एक जलपात्रमें डाले गये तो यह अवश्यंभावी है कि उनका लालरंगका परिणमन हो। एक बात यहाँ यह खासतौरसे ध्यानमें रखने की है कि अचेतन परमाणुओंमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। उनमें अपने संयोगके आधारसे क्रिया तो होती रहती है। जैसे पृथिवीमें कोई बीज पड़ा हो तो सरदी, गरमीका निमित्त पाकर उसमें अंकुर आ जायगा और वह पल्लवित, पुष्पित होकर पुन: बीजको उत्पन्न कर देगा। गरमीका निमित्त पाकर जल भाप बन जायगा। पुनः भाप सरदीका निमित्त पाकर जलके रूपमें बरसकर पृथिवीको शस्यश्यामल बना देगा। कुछ ऐसे भी अचेतन द्रव्योंके परिणमन हैं जो चेतन निमित्तसे होते हैं जैसे मिट्टीका घड़ा बनना या रुईका कपड़ा बनना। तात्पर्य यह कि अतीतके संस्कारवश वर्तमान क्षणमें जितनी और जैसी योग्यताएँ विकसित होंगी और जिनके विकासके अनुकूल निमित्त मिलेंगे, द्रव्योंका वैसा-वैसा परिणमन होता जायगा। भविष्यका कोई निश्चित कार्यक्रम द्रव्योंका बना हुआ हो और उसी सुनिश्चित अनन्त क्रमपर यह जगत् चल रहा हो, यह धारणा ही भ्रमपूर्ण है।

नियतानियतत्ववाद

जैन दृष्टिसे द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके प्रतिक्षणके परिणमन अनिवार्य हैं। एक द्रव्यकी उस समयकी योग्यतासे जितने प्रकारके परिणमन हो सकते हैं उनमेंसे कोई भी परिणमन जिसके कि निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायगी, हो जायगा। तात्पर्य यह कि प्रत्येक द्रव्यकी शक्तियाँ तथा उनसे होनेवाले परिणमनोंकी जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गलके परिणमन जीवमें तथा जीवके परिणमन पुद्गल में नहीं हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा, यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी

तथा अनुकूल निमित्त मिल जायगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायगा। अतः नियतत्व और अनियतत्व दोनो धर्म सापेक्ष हैं। अपेक्षाभेदसे सम्भव हैं।

नियतिवाद नही

जो होना होगा वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुषार्थ नही है, इस तरहके निष्क्रिय नियतिवादके विचार जैनतत्त्वस्थितिके प्रतिकूल है। जो द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नही, हमारा पुरुषार्थ तो कोयलेकी हीरापर्यायके विकास करानेमे है। यदि कोयलेके लिए उसकी हीरापर्यायके विकासके लिए आवश्यक सामग्री न मिले तो या तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खानिमे ही पडे-पडे समाप्त हो जायगा। इसका यह अर्थ नही है कि जिसमे उपादान शक्ति नही है उसका परिणमन भी निमित्तसे हो सकता है या निमित्तमे यह शक्ति है जो निरुपादानको परिणमन करा सके।

उभय कारणोसे कार्य

कार्योत्पत्तिके लिए दोनो ही कारण चाहिए उपादान और निमित्त; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि "कथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः" अर्थात् कार्य बाह्य-आभ्यन्तर दोनो कारणोसे होता है। यही अनादनन्त वैज्ञानिक कारण-कार्यधारा ही द्रव्य है जिसमे पूर्वपर्याय अपनी सामग्रीके अनुसार सदृश, विसदृश, अर्धसदृश, अल्पसदृश आदिरूपसे अनेक पर्यायोकी उत्पादक होती है। मान लीजिए एक जलबिन्दु है उसकी पर्याय बदल रही है, वह प्रतिक्षण जलबिन्दु रूपसे परिणमन कर रही है पर यदि गरमीका निमित्त मिलता है तो तुरन्त भाप बन जाती है। किसी मिट्टीमे यदि पड गई तो सम्भव है पृथिवी बन जाय। यदि साँपके मुँहमें चली गई जहर बन जायगी। तात्पर्य यह कि एकधारा पूर्व-उत्तर पर्यायोकी बहती है उसमे जैसे-जैसे संयोग होते जायेंगे उसका उस जातिमे परिणमन हो जायगा। गङ्गाकी धारा हरिद्वारमे जो है वह कानपुरमें नही और कानपुरकी गटर आदिका संयोग पाकर इलाहाबादमे बदली और इलाहाबादकी गन्दगी आदिके कारण काशीकी गङ्गा जुदी ही हो जाती है। यहाँ यह कहना कि "गङ्गाके जलके प्रत्येक परमाणुका प्रतिसमयका सुनिश्चित कार्यक्रम बना हुआ है उसका जिस समय परिणमन होना है वह होकर ही रहेगा" द्रव्यकी विज्ञान-सम्मत कार्यकारणपरम्पराके प्रतिकूल है।

'जं जस्स जम्मि' आदि भावनाएँ है

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामे सम्यग्दृष्टिके चिन्तनमे ये दो गाथाएँ लिखी हैं—

> जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
> णादं जिणेण णियद जम्म व अहव मरणं वा॥ ३२१॥
> तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
> को चालेदुं सक्को इंदो वा अह जिणिंदो वा॥ ३२२॥

अर्थात् जिसका जिस समय जहाँ जैसे जन्म या मरण होना है उसे इन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी नही टाल सकता, वह होगा ही।

इन गाथाओंका भावनीयार्थ यही है कि जो जब होना है, होगा, उसमें कोई किसीका शरण नही है आत्मनिर्भर रहकर जो आवे वह सहना चाहिए। इस तरह चित्तसमाधानके लिए भाई जानेवाली भावनाओंसे वस्तुव्यवस्था नही हो सकती। अनित्यभावनामे हो कहते हैं कि जगत् स्वप्नवत् है इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि शून्यवादियोकी तरह जगत् पदार्थोंकी सत्तासे शून्य है बल्कि यही उसका तात्पर्य है कि स्वप्नकी

तरह वह आत्महितके लिए वास्तविक कार्यकारी नहीं है। यहाँ सम्यग्दृष्टिके चिन्तन-भावनामें स्वावलम्बनका उपदेश है। उससे पदार्थव्यवस्था नहीं की जा सकती।

सबसे बड़ा अस्त्र सर्वज्ञत्व

नियतिवादी या तथोक्त अध्यात्मवादियोंका सबसे बड़ा तर्क है कि सर्वज्ञ है या नहीं? यदि सर्वज्ञ है तो वह त्रिकालज्ञ होगा अर्थात् भविष्यज्ञ भी होगा। फलत. वह प्रत्येक पदार्थका अनन्तकाल तक प्रतिक्षण जो होना है उसे ठीकरूपमे जानता है। इस तरह प्रत्येक परमाणुकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है उनका परस्पर जो निमित्तनैमित्तिकजाल है वह भी उसके ज्ञानके बाहिर नहीं है। सर्वज्ञ माननेका दूसरा अर्थ है नियतिवादी होना। पर, आज जो सर्वज्ञ नही मानते उनके सामने हम नियतिचक्रको कैसे सिद्ध कर सकते हैं? जिस अध्यात्मवादके मूलमें हम नियतिवादको पनपाते हैं उस अध्यात्मदृष्टिसे सर्वज्ञता व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। निश्चयनयसे तो आत्मज्ञतामें ही उसका पर्यवसान होता है जैसा कि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसार (गा. १५८) मे लिखा है—

> "जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहारणएण केवली भगवं।
> केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

अर्थात् केवली भगवान् व्यवहारनयसे सब पदार्थोंको जानते, देखते हैं। निश्चयसे केवलज्ञानी अपनी आत्माको जानता, देखता है।

अध्यात्मशास्त्रमें निश्चयनयकी भूतार्थता और परमार्थता व्यवहारनयकी अभूतार्थतापर विचार करनेसे तो अध्यात्मशास्त्रमे पूर्णज्ञानका पर्यवसान अन्तत आत्मज्ञानमे ही होता है। अत. सर्वज्ञत्वकी दलीलका अध्यात्मचिन्तनमूलक पदार्थव्यवस्थामे उपयोग करना उचित नही है।

नियतिवादमे एक ही प्रश्न एक ही उत्तर

नियतिवादमें एक ही उत्तर है 'ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही' इसमे न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। वस्तुव्यवस्थामे इस प्रकारके मृत विचारोका क्या उपयोग? जगत्में विज्ञानसम्मत कार्यकारणभाव है। जैसी उपादानयोग्यता और जो निमित्त होंगे तदनुसार चेतन-अचेतनका परिणमन होता है। पुरुषार्थ निमित्त और अनुकूल सामग्रीके जुटानेमें है। एक अग्नि है पुरुषार्थी यदि उसमें चन्दनका चूरा डाल देता है तो सुगन्धित धुआँ निकलेगा, यदि बाल आदि डालता है तो दुर्गन्धित धुआँ उत्पन्न होगा। यह कहना कि चूराको उसमे पड़ना था, पुरुषको उसमे डालना था, अग्निको उसे ग्रहण करना ही था। इसमे यदि कोई हेर-फेर करता है तो नियतिवादीका वही उत्तर कि 'ऐसा ही होना था'। मानो जगत्के परिणमनोंको 'ऐसा ही होना था' इस नियति भगवतीने अपनी गोदमे ले रखा हो।

अध्यात्मकी अकर्तृत्व भावनाका उपयोग

तब अध्यात्मशास्त्रकी अकर्तृत्वभावनाका क्या अर्थ है? अध्यात्ममे समस्त वर्णन उपादानयोग्यताके आधारसे किया गया है। निमित्त मिलानेपर यदि उपादानयोग्यता विकसित नही होती, कार्य नहीं हो सकेगा। एक ही निमित्त-अध्यापकसे एक छात्र प्रथम श्रेणीका विकास करता है जबकि दूसरा द्वितीय श्रेणीका और तीसरा अज्ञानीका अज्ञानी बना रहता है। अतः अन्तत. कार्य अन्तिमक्षणवर्ती उपादानयोग्यतासे ही होता है। हाँ, निमित्त उस योग्यताको विकासोन्मुख बनाते हैं, तब अध्यात्मशास्त्रका कहना है कि निमित्तको यह

अहङ्कार नही होना चाहिए कि हमने उसे ऐसा बना दिया, निमित्तकारणको सोचना चाहिए कि इसकी उपादानयोग्यता न होती तो मैं क्या कर सकता था अत अपनेमे कर्तृत्वजन्य अहङ्कारके निवृत्तिके लिए उपादानमें कर्तृत्वकी भावनाको दृढमूल करना चाहिए ताकि परपदार्थकर्तृत्वका अहङ्कार हमारे चित्तमें आकर रागद्वेषकी सृष्टि न करे। बडेसे बडा कार्य करके भी मनुष्यको यही सोचना चाहिए कि मैंने क्या किया ? यह तो उसकी उपादानयोग्यताका ही विकास है मैं तो एक साधारण निमित्त हूँ। 'क्रिया ही द्रव्यं विनयति नाद्रव्यं' अर्थात् क्रिया योग्यमे परिणमन कराती है, अयोग्यमे नही। इस तरह अध्यात्मकी अकर्तृत्वभावना हमें वीतरागताकी ओर ले जानेके लिए है। न कि उसका उपयोग नियतिवादके पुरुषार्थ विहीन कुमार्गपर ले-जानेको किया जाय।

समयसारमें निमित्ताधीन उपादान परिणमन

समयसार (गा० ८६-८८) मे जीव और कर्मका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बताते हुए लिखा है कि—

"जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु कत्ता आदा सएण भावेण॥
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥"

अर्थात् जीवके भावोके निमित्तसे पुद्गलोको कर्मरूप पर्याय होती है और पुद्गलकर्मोके निमित्तसे जीव रागादिरूपसे परिणमन करता है। इतना समझ लेना चाहिए कि जीव उपादान बनकर पुद्गलके गुणरूपसे परिणमन नही कर सकता और न पुद्गल उपादान बनकर जीवके गुणरूपसे परिणति कर सकता है। हाँ, परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके अनुसार दोनोका परिणमन होता है। इस कारण उपादानदृष्टिसे आत्मा अपने भावोका कर्त्ता है पुद्गलके ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मात्मक परिणमनका कर्त्ता नही है।

इस स्पष्ट कथनसे कुन्दकुन्दाचार्यकी कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी दृष्टि समझमे आ जाती है। इसका विशद अर्थ यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमे उपादान है। दूसरा उसका निमित्त हो सकता है, उपादान नही। परस्पर निमित्तसे दोनो उपादानोंका अपने-अपने भावरूपसे परिणमन होता है। इसमे निमित्तनैमित्तिक-भावका निषेध कहाँ है ? निश्चयदृष्टिसे परनिरपेक्ष आत्मस्वरूपका विचार है उसमे कर्तृत्व अपने उपयोगरूपमे ही पर्यवसित होता है। अत कुन्दकुन्दके मतसे द्रव्यस्वरूपका अध्यात्ममे वही निरूपण है जो आगे समन्तभद्रादि आचार्योंने अपने ग्रन्थोमें बताया है।

मूलमें भूल कहाँ ?

इसमें कहाँ मूलमे भूल है ? जो उपादान है वह उपादान है, जो निमित्त है वह निमित्त ही है। कुम्हार घटका कर्त्ता है, यह कथन व्यवहार हो सकता है। कारण, कुम्हार वस्तुत अपनी हलन-चलनक्रिया तथा अपने घट बनानेके उपयोगका ही कर्त्ता है, उसके निमित्तसे मिट्टीके परमाणुमे वह आकार उत्पन्न हो जाता है। मिट्टीको घडा बनना ही था और कुम्हारके हाथ वैसा होना ही था और हमे उसकी व्याख्या ऐसी करनी ही थी, आपको ऐसा प्रश्न करना ही था और हमें यह उत्तर देना ही था। ये सब बातें न अनुभव सिद्ध कार्य-कारणभावके अनुकूल ही हैं और न तर्कसिद्ध।

निश्चय और व्यवहार

निश्चयनय वस्तुकी परनिरपेक्ष स्वभूत दशाका वर्णन करता है। वह यह बतायगा कि प्रत्येक जीव स्वभावसे अनन्तज्ञान-दर्शन या अखण्ड चैतन्यका पिण्ड है। आज यद्यपि वह कर्मनिमित्तसे विभाव परिणमन कर रहा है पर उसमें स्वभावभूत शक्ति अपने अखण्ड निर्विकार चैतन्य होनेकी है। व्यवहारनय परसाक्षेप अवस्थाओंका वर्णन करता है। वह जहाँ आत्माको पर-घटपटादि पदार्थोंके कर्तृत्वके वर्णनसम्बन्धी लम्बी उड़ान लेता है वहाँ निश्चयनय रागादि भावोंके कर्तृत्वको भी आत्मकोटिसे बाहर निकाल लेता है और आत्माको अपने शुद्ध भावोंका ही कर्ता बनाता है, अशुद्ध भावोंका नहीं। निश्चयनयकी भूतार्थताका तात्पर्य यह है कि वही दशा आत्माके लिए वास्तविक उपादेय है, परमार्थ है, यह जो रागादिरूप विभावपरिणति है यह अभूतार्थ है अर्थात् आत्माके लिए उपादेय नहीं है इसके लिए वह अपरमार्थ है, अग्राह्य है।

निश्चयनयका वर्णन हमारा लक्ष्य है

निश्चयनय जो वर्णन करता है कि मैं सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, निष्कषाय हूँ, यह सब हमारा लक्ष्य है। इसमें 'हूँ' के स्थानमें 'हो सकता हूँ', यह प्रयोग भ्रम उत्पन्न नहीं करेगा। वह एक भाषाका प्रकार है। जब साधक अपनी अन्तर्जल्प अवस्थामें अपने ही आत्माको सम्बोधन करता है कि हे आत्मन्! तू तो स्वभावसे सिद्ध है, बुद्ध है, वीतराग है, आज फिर यह तेरी क्या दशा हो रही है तू कषायी और अज्ञानी बना है। यह पहला 'सिद्ध है बुद्ध है' वाला अंश दूसरे 'आज फिर तेरी क्या दशा हो रही है तू कषायी अज्ञानी बना है' इस अंशसे ही परिपूर्ण होता है।

इसलिए निश्चयनय हमारे लिए अपने द्रव्यगतमूलस्वभावकी ओर संकेत कराता है जिसके बिना हम कषायपङ्कसे नहीं निकल सकते। अतः निश्चयनयका सम्पूर्ण वर्णन हमारे सामने कागजपर मोटे-मोटे अक्षरोंमें लिखा हुआ टँगा रहे ताकि हम अपनी उस परमदशाको प्राप्त करनेकी दिशामें प्रयत्नशील रहें। न कि हम तो सिद्ध हैं कर्मोंसे अस्पृष्ट है यह मानकर मिथ्या अहङ्कारका पोषण करें और जीवनचारित्र्यसे विमुख हो निश्चयैकान्तरूपी मिथ्यात्वको बढ़ावें।

ये कुन्दकुन्दके अवतार

सोनगढ़में यह प्रवाद है कि श्रीकानजीस्वामी कुन्दकुन्दके जीव है और वे कुन्दकुन्दके समान ही सद्गुरुरूपसे पुजते हैं। उन्हें सद्गुरुभक्ति ही विशिष्ट आकर्षणका कार्यक्रम है। यहाँसे नियतिवादकी आवाज अब फिरसे उठी है और वह भी कुन्दकुन्दके नामपर। भावनीय पदार्थ जुदा हैं उनसे तत्त्वव्यवस्था नहीं होती यह मैं पहले लिख चुका हूँ। यों ही भारतवर्षने नियतिवाद और ईश्वरवादके कारण तथा कर्मवादके स्वरूपको ठीक नहीं समझनेके कारण अपनी यह नितान्त परतन्त्र स्थिति उत्पन्न कर ली थी। किसी तरह अब नव-स्वातन्त्र्योदय हुआ है। इस युगमें वस्तुतत्त्वका वह निरूपण हो जिससे सुन्दर समाजव्यवस्था-घटक व्यक्तिका निर्माण हो। धर्म और अध्यात्मके नामपर और कुन्दकुन्दाचार्यके सुनामपर आलस्य-पोषक नियतिवादका प्रचार न हो। हम सम्यक् तत्त्वव्यवस्थाको समझें और समन्तभद्रादि आचार्योंके द्वारा परिशीलित उभयमुखी तत्त्व-व्यवस्थाका मनन करें।

●

निश्चयनय सर्वज्ञता और अध्यात्म भावना

निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्वज्ञताका पर्यवसान आत्मज्ञतामें होता है, यह प्रतिपादन आ० कुन्दकुन्दने नियमसार (गा० १५८) मे किया है। उसका विवेचन मैंने अपने 'जैन दर्शन' ग्रन्थमे किया है। उस सम्बन्धमें कुछ विचारणीय मुद्दे इस प्रकार है—

निश्चयनयकी दृष्टिसे जो पर्यवसानका आत्मज्ञतामे किया गया है उस सम्बन्धमे यह विचार भी आवश्यक है कि निश्चयनयका वर्णन स्वाश्रित होता है।[1] निराकार यानी मात्र चैतन्य जब तक स्वीकार रहता है तब तक वह दर्शन है और जब वह साकार ज्ञान अर्थात् ज्ञेयाकार बनता है तब वह ज्ञान कहलाता है। अब प्रश्न यह है कि निश्चयनयकी दृष्टिमे ज्ञान स्वसे भिन्न किसी पर पदार्थको जानता है क्या? और यदि जानता है तो उसका यह परका जानना क्या पराश्रित कहा जाकर व्यवहारकी सीमामें नही आयगा? इस प्रश्नके उत्तरमे अपनी दार्शनिक प्रक्रियासे ऊपर उठकर आ० कुन्दकुन्दकी दृष्टिसे ही विचार करना होगा। जहाँ कही थोडा भी पर पदार्थका आश्रय आया कि वह स्थिति निश्चनययकी सीमासे बाहर हो जाती है। समय प्राभृत[2] मे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्रके गुणभेदको भी व्यवहारनयमे ही डाल दिया है—

"ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदसण णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दसण जाणगो सुद्धो ॥"

अर्थात् चारित्र, दर्शन और ज्ञानका उपदेश व्यवहारनयसे है। निश्चयनयसे न ज्ञान है, न चारित्र। और न दर्शन ही है, यह तो शुद्ध ज्ञायक है।

जहाँ तक द्रव्यके परिणमनकी बात है, वह एक द्रव्यमें एक समयमे एक ही होता है। वह भी उसके अपने निज उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक मूल स्वभावके कारण। द्रव्य चाहे शुद्ध या अशुद्ध इस परिणामी स्वभावके कारण वह प्रतिक्षण पूर्वपर्यायको छोडकर नई पर्यायको धारण करता हुआ अतीतसे वर्तमान होता हुआ आगे बढता चला जा रहा है। आत्मद्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है। वह भी इसी ध्रुव नियमके अनुसार प्रतिक्षण परिणामी है। उसके इस एक वर्तमानकालीन परिणमनको ज्ञान, दर्शन, सुख और चारित्र आदि अनेक गुणमुखोसे देखा जाता है। समस्त गुणोमे एक चैतन्य जाग्रत् रहता है। वही एक चैतन्यज्योति सभी गुणोमे प्रकाशमान है - कुन्दकुन्द उसी ज्योतिको 'शुद्ध ज्ञायक' शब्द से कहते हैं। ज्ञान और दर्शनमे भी यही ज्ञायकज्योति प्रवहमान है। जब यह ज्योति स्व से भिन्न किसी ज्ञेयको प्रकाशित करती है तब ज्ञान कही जाती है और जब मात्र स्वको प्रकाशित करती है तब दर्शन कहलाती है। यानी इस ज्योतिमे 'ज्ञान' संज्ञा परके प्रकाशकत्वसे आती है। अब विचार कीजिये कि जो निश्चयनय अपने गुण-गुणीभेदको भी सहन नही करता वह परप्रकाशकत्वसे आनेवाली 'ज्ञान' इस सज्ञाको 'चैतन्य' मे कैसे स्वीकार कर सकता है? दूसरे शब्दोमें वह 'ज्ञायक' को 'शुद्ध ज्ञायक' मानना चाहता है। आत्मा जब तक विभावपरिणति करता है तब तक उसके अनेक योग, उपयोग और विकल्प होते रहते हैं। किन्तु जब वह विभावदशा से स्वभाव में पहुँचता है तब उसकी परिणति एक ही होती है और वह होती है शुद्ध ज्ञायक परिणति। सिद्ध होनेके प्रथम क्षणसे अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध परिणति उसकी होती है। तब यह प्रश्न उठता है कि यदि सिद्धकी अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध पर्याय

१ 'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः।' —नियमसार टीका

बनी रहती है तो उत्पाद व्यय मानने से क्या लाभ ? इसका सहज समाधान यही है कि यह तो द्रव्यका मूलभूत निज स्वभाव है कि वह प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हो। बिना इसके वह 'सत्' नहीं हो सकता। उसमें जो अगुरुलघुगुण है उसके कारण यह न गुरु होता है और न लघु, अपने निजद्रव्यत्वको बनाये रखता है। उत्पाद व्यय का यह अर्थ कभी नहीं है कि जो प्रथम समयमें है वह द्वितीय समयमें न हो या उससे विलक्षण ही हो, किंतु उसका अर्थ केवल इतना ही है कि पूर्वपर्याय विनष्ट हो और उत्तर पर्याय उत्पन्न हो। वह उत्तर पर्याय सदृश, विसदृश, अर्धसदृश और अल्पसदृश कैसी भी हो सकती है। 'हो' इतना ही विचारणीय है, 'कैसी हो' यह सामग्रीपर निर्भर करता है। अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध अवस्था यदि रहती है तो रहो इसमे उनके सिद्धत्वकी कोई क्षति नहीं है।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार विभाव अवस्थामे उसके विविध अशुद्ध परिणमन होते थे उस प्रकार स्वभाव अवस्थामे नहीं होते। स्वभाव एक ही होता है और शुद्धता भी एक ही होती है।

तो क्या शुद्ध अवस्थामे आत्मा ज्ञानशून्य हो जाता है ? इस प्रश्नका शुद्ध निश्चयनयसे यही उत्तर हो सकता है कि चैतन्यके परिणामी होते हुए भी वह अवस्था नहीं होनी चाहिए जिसमें पर की अपेक्षा हो। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि भेद भी शुद्ध निश्चयनय की दृष्टिमे नहीं हैं। वह तो एक अखण्ड चित्पिण्डको देखता है। 'आत्माके ज्ञानदर्शन आदि गुण हैं' इसे वह भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक मानता है[1]। तथा 'केवलज्ञानादिरूप जीव है' इसे वह निरुपाधि गुणगुण्यभेद विषयक अशुद्ध निश्चयनय समझता है[2]।

साराश यह है कि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टिमे किसी भी प्रकार का भेद या अशुद्धता नहीं रहती। इस दृष्टिसे जब सोचते हैं तो जिस प्रकार वर्णादि आत्माके नहीं हैं उसी प्रकार रागादि भी आत्माके नहीं हैं और गुणस्थान पर्यन्त समस्त ज्ञानादि भाव भी आत्माके नहीं हैं। इसी दृष्टिसे यदि 'जाणदि पस्सदि' का व्याख्यान करना हो तो प्रथम तो 'ज्ञान और दर्शन' ये भेद ही नहीं होंगे। कथचित् स्वीकार करके चलें भी, तो इनका क्षेत्र 'स्वस्वरूप' हो हो सकता है 'स्व' के बाहर नहीं। पर का स्पर्श करते ही वह पराश्रित व्यवहार की मर्यादामे जा पहुँचेगा। ज्ञानका पर पदार्थको जानना यह नय व्यवहार समझता है, वह स्वरूपज्योति है, स्वनिमग्न है, उसका पराश्रितत्व व्यवहार है।

जैनदर्शनकी नय प्रक्रिया अत्यन्त दुरूह और जटिल है। इसका अन्यथा प्रयोग वस्तुतत्त्वका विपर्यास करा सकता है। अत जिस प्रकरणमे विवक्षासे जिस नयका प्रयोग किया गया है उस प्रकरणमें उसी विवक्षा से समस्त परिभाषाओं को देखना और लगाना चाहिए। किसी एक परिभाषा को शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे लगाकर अन्य व्यवहारकी परिभाषाओंको पकड़कर घोलघाल करनेमे जैनशासन का यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता, किन्तु विपर्यास ही हाथ लगता है।

व्यवहारकी दृष्टि

समयसारमें तो एक अशुद्ध द्रव्य निश्चयनयका विषय मानकर बाकी प्रवर्तक स्वभाव या परभाव सभी व्यवहारके गड्ढेमे डालकर उन्हें हेय अतएव अभूतार्थ कह दिया है। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की

१. "भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको, यथा आत्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणा.।" (आलाप प०, पृ० १६८)
२. "तत्र निरुपाधिगुणगुण्यभेदविषयकोऽशुद्धनिश्चयः, यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।"
(आलाप प०, पृ० १७७)

है। नैगमादि नयों का विवेचन वस्तु तत्त्वकी मीमांसा करनेकी दृष्टिसे है जब कि समयसारगत नयों का वर्णन अध्यात्म भावना को परिपुष्ट कर हेय और उपादेय के विचार से सन्मार्गमें लगानेके लक्ष्यसे है।

निश्चय और व्यवहारके विचारमें सबसे बड़ा खतरा है—निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ रहनेकी दृष्टिको न समझकर निश्चयकी तरफ झुक जाने और व्यवहार की उपेक्षा करने का। दूसरा खतरा है किसी परिभाषा को निश्चयसे और किसीको व्यवहारसे लगाकर घोल-घाल करने का। आ० अमृतचन्द्रने इन्हीं खतरोंसे सावधान करने के लिये एक प्राचीन गाथा उद्धृत[1] की है—

जदि जिणमय पवज्जह तो–मा ववहारणिच्छए मुयह।
जेण विणा छिज्जय तित्थं अण्णेण ण तच्च॥

अर्थात् यदि जिनमत को प्राप्त होवे तो व्यवहार और निश्चयमें भेदको प्राप्त नहीं होना, किसी एक को छोड़ मत बैठना। व्यवहारके बिना तीर्थ का उच्छेद हो जायगा और निश्चयके बिना तत्त्वका उच्छेद होगा।

कुछ विशेष अध्यात्म प्रेमी जैनदर्शनकी सर्वनय सतुलन पद्धतिको मनमें न रखकर कुछ इसी प्रकार का घोलघाल कर रहे हैं। वे एक परिभाषा एक नयकी तथा दूसरी परिभाषा दूसरे नयकी लेकर ऐसा मार्ग बना रहे हैं जो न तो तत्त्वके निश्चय में सहायक होता है और न तीर्थकी रक्षाका साधन ही सिद्ध हो रहा है। उदाहरणार्थ—निमित्त और उपादानकी व्याख्याको ही ले लें।

निश्चयनयकी दृष्टिसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता। जो जिस रूपसे परिणत होता है वह उसका कर्ता होता है। इसकी दृष्टिसे कुम्हार घड़ेका कर्ता नहीं होता किंतु मृत्पिण्ड ही वस्तुत घटका कर्ता है, क्योंकि वही घटरूपसे परिणत होता है। इसकी दृष्टिमें निमित्तका कोई महत्त्वका स्थान नहीं है क्योंकि यह नय पराश्रित व्यवहारको स्वीकार ही नहीं करता। व्यवहारनय परसापेक्षता पर भी ध्यान रखता है। वह कुम्हारको घटका कर्ता इसलिये कहता है कि उसके व्यापारसे मृत्पिण्डमेंसे वह आकार निकला है। घटमें मिट्टी ही उपादान है इसको व्यवहारनय मानता है। किन्तु कुम्भकार' व्यवहार वह 'मृत्पिण्ड' में नहीं करके कुम्हारमें करता है। 'घट' नामक कार्यकी उत्पत्ति मृत्पिड और कुम्भकार दोनोके सन्निधानसे हुई प्रत्यक्ष सिद्ध घटना है। किन्तु दोनो नयोके देखनेके दृष्टिकोण जुदे-जुदे हैं। अब अध्यात्मी व्यक्ति कर्तृत्वकी परिभाषा तो निश्चयनय पकड़ते हैं और कहते हैं कि हरएक कार्य अपने उपादानसे उत्पन्न होता है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यमें कुछ नहीं कर सकता। जिस समय जो योग्यता होगी उस समय वह कार्य अपनी योग्यतासे हो जायगा। और इस प्रति समयकी योग्यताको सिद्धिके लिये सर्वज्ञताकी व्यावहारिक परिभाषाकी शरण लेते हैं। यह सही है कि समन्तभद्र आदि आचार्यों ने और इसके पहिले भी भूतबलि आचार्य ने इसी व्यावहारिक सर्वज्ञताका प्रतिपादन किया है और स्वय कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसारमें व्यावहारिक सर्वज्ञताका वर्णन किया है किन्तु यदि हम समन्तभद्र आदिकी व्यावहारिक सर्वज्ञताकी परिभाषा लेते हैं तो कार्योत्पत्तिकी क्रिया भी उन्हीके द्वारा प्रतिपादित बाह्य और अन्तरग उभय विध कारणोसे जाननी चाहिए। और यदि हम कार्योत्पत्तिकी प्रक्रिया कुन्दकुन्दकी नैश्चयिक दृष्टिसे लेते हैं तो सर्वज्ञताकी परिभाषाकी नैश्चयिक ही माननी चाहिए। एक परिभाषा व्यवहारकी लेना और एक परिभाषा निश्चयकी पकड़कर घोलघाल करनेसे वस्तुका विपर्यास ही होता है।

इसी तरह व्यावहारिक सर्वज्ञतासे नियतिवादको फलित करके उसे निश्चयनयका विषय बनाकर

१. समयप्रा० आत्म० गा० १४.

पुरुषार्थको रेड मारना तीर्थोच्छेदकी ही कक्षामें आता है। तीर्थ प्रवर्तनका फल यह है कि—व्यक्ति उसका आश्रय लेकर असत् से सत्, अशुभ से शुभ, अशुद्ध से शुद्ध और तम से प्रकाश की ओर जावें। परन्तु इस नियतिवादमें जब अपने अगले क्षणमें परिवर्तन करनेकी शक्यता ही नहीं है तब किसलिये तीर्थ-धर्मका आश्रय लिया जाय? दीक्षा, शिक्षा और संस्कारका आखिर प्रयोजन ही क्या रह जाता है? इस तरह जिनवरके दुरासद नयचक्रको नहीं समझकर और समग्र जैनशासनकी सर्वनयमयताके परिपूर्ण स्वरूपका ध्यान नहीं करके कहीकी ईंट और कहीं का रोड़ा लेनेमें न वस्तु तत्त्वकी रक्षा है और न तीर्थ की प्रभावना ही।

आ० कुन्दकुन्दकी अध्यात्मभावना

आ० कुन्दकुन्दने अपने समय-प्राभृतमें अध्यात्म-भावनाका वर्णन किया है। उनका कहना है कि आत्म-संशोधन और शुद्धात्मकी प्राप्तिके लिये हमें इस प्रकारको भावना करनी चाहिए—कि निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। जिस गाथा[१] मे उन्होंने व्यवहारको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ की बात कही है। उसके पहिलेकी दो गाथाओंमे वे आत्मभावना करनेकी बात कहते हैं[२]। इतना ही नहीं, वे निश्चयनय से व्यवहारका निषेध करके निर्वाणकी प्राप्तिके लिये निश्चयनयमें लीन होनेका उपदेश करते हैं—

"एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा पुन मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं॥"

—समयप्रा० गा० २९६।

अर्थात् इस तरह निश्चयनयकी दृष्टिसे व्यवहारनय का प्रतिषेध समझना चाहिये। निश्चयनयमें लीन मुनिजन निर्वाण पाते हैं।

इसी तरह उन्होने और भी मोक्षमार्गी साधकको जीवन-दर्शनकी तथा आत्म-संशोधनकी प्रक्रिया और भावनाएँ बताई है जिनसे चित्तको भावितकर साधक शान्तिलाभ कर सकता है। परन्तु भावनासे वस्तु-स्वरूपका निरूपण नहीं होता। वही कुन्दकुन्द जब वस्तु स्वरूपका निरूपण करने बैठते हैं तो प्रवचनसार व पंचास्तिकाय का समस्त तत्त्व वर्णन उभयनय समन्वित अनेकान्तदृष्टिसे होता है।

भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे जो विपर्यास और खतरा होता है तथा उसके जो कुपरिणाम होते हैं वे किसी भी दर्शनके इतिहासके विद्यार्थीसे छिपे नहीं हैं। बुद्ध ने स्त्री आदिसे विरक्तिके लिये उसमें क्षणिक परमाणुपुंज स्वप्नोपम मायोपम शून्य आदि की भावना करनेका उपदेश दिया। पीछे उन एक-एक भावनाओंको तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे क्षणिकवाद, परमाणुपुञ्जवाद, शून्यवाद आदि वादो की सृष्टि हो गई और पीछे तो उन्हे दर्शनका रूप ही मिल गया। जैन परम्परामे भी मुमुक्षुओंको अनित्य, अशरण, अशुचि आदि

१. "ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिहो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवदि जीवो॥" —समयप्रा० गा० १३.

२. "णाणम्हि भावना खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिदि आदा तम्हा कुण भावणं आदे॥
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि-अचिरेण कालेण॥" —समयप्रा० गा० ११।१२.

भावनासे चित्तको भावित करनेका उपदेश दिया गया है। इन्हें अनुप्रेक्षा संज्ञा भी इसीलिये दी गई है कि इनका बार-बार चिन्तन किया जाय। अनित्य भावनामें वही विचार तो हैं जो बुद्धने कहे थे कि—जगत् क्षणभंगुर है, अशुचि हैं, स्वप्नवत् है, माया है, मिथ्या है आदि। इसी तरह स्त्रीसे विरक्तिके लिये उसमें 'नागिन, सर्पिणी, नरककी खान, विषबेल' आदि की भावना करते हैं, पर इससे वह नागिन या सर्पिणी तो नहीं बन जाती या नागिन और सर्पिणी तो नही है। जैसे इस भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देकर वस्तुविपर्यास नही किया जाता, उसी कुन्दकुन्दकी अध्यात्म भावनाको हमे भावनाके रूपमे ही देखना चाहिये, तत्त्वज्ञानके रूपमे नही। उनके तत्त्वज्ञानका ठोस निरूपण यदि प्रवचनसार और पचास्तिकाय आदिमे देखनेको मिलता है तो आत्मशोधनकी प्रक्रिया समयसारमे।

निश्चय और व्यवहारनयोका वर्णन वस्तु तत्त्वके स्वरूपके निरूपणसे उतना सम्बन्ध नही रखता जितना हेयोपादेय विवेचनसे। 'स्त्री किन-किन निमित्त और उपादानोसे उत्पन्न हुई है' यह वर्णन अध्यात्म भावनाओं मे नही मिलता, किन्तु 'स्त्रीको हम किस रूपमे देखे' जिससे विषय विरक्ति हो, यह प्रक्रिया उसमे बताई जाती है। अत यह विवेक करने की पूरी-पूरी आवश्यकता है कि कहाँ वस्तु तत्त्वका निरूपण है और कहाँ भावनात्मक वर्णन है। मुझे यह स्पष्ट करनेमे कोई सकोच नही है कि कभी-कभी असत्य भावनाओसे भी सत्यकी प्राप्तिका मार्ग अपनाया जाता है। जैसे कि स्त्रीको नागिन और सर्पिणी समझकर उससे विरक्ति करानेका। अन्तत भावना, भावना है, उसका लक्ष्य वैज्ञानिक वस्तु तत्त्वके निरूपणका नही है, किन्तु है अपने लक्ष्यकी प्राप्तिका जबकि तत्त्वज्ञानके निरूपण की दिशा वस्तुतत्त्वके विश्लेषण पूर्वक वर्णन की होती है। उसे अमुक लक्ष्य बने या बिगडे यह चिन्ता नही होती। अत हमे आचार्योकी विभिन्न नयदृष्टियोका यथावत परिज्ञान करके तथा एक आचार्यकी भी विभिन्न प्रकरणोमे क्या विवक्षा है यह सम्यक् प्रतीति करके ही सर्वनयसमूह साध्य अनेकान्त तीर्थकी व्याख्यामे प्रवृत्त होना चाहिए। एक नय यदि नयान्तरके अभिप्रायका तिरस्कार या निराकरण है तो वह सुनय नही रहता दुर्नय बनकर अनेकान्तका विघातक हो जाता है। भूतबलि, पुष्पदन्त, उमास्वामी, समन्तभद्र और अकलङ्कदेव आदि आचार्योंने जो जैन-दर्शनका मुनिवादी पायेदार निर्बाध तथा सुदृढ़ भूमिका निरूपण किया है वह यो ही 'व्यवहार' कहकर नही उडाया जा सकता। कोई भी धर्म अपने 'तत्त्वज्ञान' और 'दर्शन' के बिना केवल नैतिक नियमोके सिवाय और क्या रह जाता है। ईसाईधर्म और इस्लामधर्म अपने 'दर्शन' के बिना आज परीक्षा प्रधानी मानवको अपनी ओर नही खीच पाते। जैन-दर्शनने प्रमेयकी अनेकान्त रूपता, उसके दर्शनको 'अनेकान्त-दर्शन' और उसके कथनकी पद्धति का 'स्याद्वाद भाषा' का जो रूप देकर आज तक भी 'जीवितदर्शन' का नाम पाया है उसे 'व्यवहार' के गड्ढे मे फेंकनेसे तीर्थ और शासन की सेवा नही होगी। जैन-दर्शन तो वस्तु व्यवस्थाके मूल रूपमे ही लिखता है कि—

"स्वपरात्मोपादानापोहनापाद्यत्वं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।"

अर्थात् स्वोपादान यानी स्वास्तित्वके साथ ही साथ पर की अपेक्षा नास्तित्व भी वस्तुके लिये आवश्यक है। यह अस्ति और नास्ति अनेकान्त दर्शनका क ख है, जिसकी उपेक्षा वस्तु स्वरूपकी विघातक होगी।

सम्यक् नियतिवादके समर्थनमे उपयोग करना जैनीनयदृष्टिको गहराईसे न समझनेका ही परिणाम है। आचार्य अमृतचन्द्रने ठीक ही कहा कि—जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित नयचक्रका समझना अत्यन्त कठिन है। यह दुधारी तलवार है। इसे बिना समझे चलानेवाला विनाशकी ओर ही जाता है। आचार्य कुन्दकुन्दने

अनेकों स्थलोंमें यह स्पष्ट किया है कि परिणामी आत्मा और परिणामी पुद्गल एक-दूसरेके निमित्तसे परिणमन करते हैं। यदि आत्मद्रव्यमें अपनेको बुद्धिपूर्वक अचारित्रसे चारित्रको ओर ले जानेकी शक्यता या अवसरके उपयोग करनेकी प्रवृत्तियोग्यता हो तो क्यों ये सब चरित्रनिर्माण और जीवोद्धारके प्रयत्न आज तक असंख्य तीर्थंकरों व आचार्योंने किये ? ये तो इसीलिये हुए कि न मालूम किस निमित्तसे कौन सुलट जाय। किसकी उपादानयोग्यता किस निमित्तसे विकसित हो जाय। 'सब कार्य उपादान योग्यतासे होते हैं' इसमें किसीको विवाद नहीं है परन्तु उपादानयोग्यतायें सबमें मूलतः समान होनेपर भी उनके विकासकी सामग्री अनेक होती हैं। जिसकी योग्यताके विकासके लिए जो सामग्री फिट (अनुकूल) बैठ जाती है उससे उस योग्यताका विकास हो जाता है। इसीलिए स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द[1] ने अनेक नयदृष्टियोंसे आत्माका वर्णन करके स्वकर्तृत्वकी शक्यता और अवसरका विचार करके कषायत्याग और सत्प्रवृत्तिमें प्रयत्न करनेका उपदेश दिया है। 'पुरुषार्थसे अनादिकालीन मलिन आत्मा भी धीरे-धीरे शुद्ध हो सकती है' यह शक्यता उनने स्वयं स्वीकार की है।

आत्मस्वरूप

तीर्थंकर महावीरने उपर्युक्त सभी कुदृष्टियोंसे ऊपर उठकर केवलज्ञानसे आत्माका यथार्थ साक्षात्कार किया और बताया कि जगत्का प्रत्येक द्रव्य अपने मूलस्वरूपको अनादिसे रखता आया है और अनन्तकाल तक रखेगा, उसके मूलस्वरूपका कभी समूल विनाश नहीं हो सकता। इस तरह अपनी अनादि-अनन्त परम्परामें वह नित्य या ध्रुव होकर भी प्रतिक्षण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़ता है और नवीन उत्तर पर्यायको ग्रहण करता हुआ पर्यायोंकी धारामें प्रवहमान है। कोई भी द्रव्य इसका अपवाद नहीं है। आत्मा जड पदार्थोंसे भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है। वह चैतन्यमय है और असंख्य परिवर्तन करनेपर भी वह अपने चैतन्यस्वरूपको नहीं छोड़ता। उसके जितने भी परिणमन हुए हैं या होंगे वे सभी चैतन्यमय होंगे। वही अनादिकालसे अशुद्ध हुआ चला आ रहा है और वही शुद्ध होगा। उसकी चैतन्यधारामें सामग्रीके अनुसार असंख्य प्रकारके परिणमन होते रहते हैं।

नियत-अनियत तत्त्ववाद

इसमें इतना नियत है कि—

१—संसारमें जितने द्रव्य हैं—यानी अनन्त आत्मद्रव्य, अनन्त पुद्गल परमाणु द्रव्य, असंख्यकालाणु द्रव्य, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य और एक आकाश द्रव्य, इनकी संख्यामें न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। न किसी नये द्रव्यकी उत्पत्ति होगी और न किसी मौजूदा द्रव्यका समूल विनाश ही, अनादिकालसे इतने ही द्रव्य थे, हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे।

२—प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभावके कारण पुरानी पर्यायको छोड़ता है, नई पर्यायका ग्रहण करता है और अपने प्रवाही सत्त्वकी अनुवृत्ति रखता है। द्रव्य चाहे शुद्ध या अशुद्ध इस परिवर्तनचक्रसे अछूता नहीं रह सकता। कोई भी किसी भी पदार्थके उत्पाद और व्यय रूप इस परिवर्तनको रोक नहीं सकता और न इतना विलक्षण परिणमन ही करा सकता है कि वह अपने मौलिक सत्त्वको ही समाप्त कर दे और सर्वथा उच्छिन्न हो जाय।

---

१. आचार्य कुन्दकुन्दके निश्चय-व्यवहारके स्वरूपके लिये देखिये लेखकका 'जैन-दर्शन' नामक मौलिक ग्रन्थ।

३–कोई भी द्रव्य किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नही कर सकता। एक चेतन न तो अचेतन हो सकता है और न चेतनान्तर हो बन सकता है। वह चेतन वही चेतन रहेगा।

४–जिस प्रकार दो या अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर एक सयुक्त समान स्कन्ध रूप पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं, उस तरह दो चेतन या अन्य धर्मादिद्रव्य मिलकर सयुक्तपर्याय उत्पन्न नही कर सकते।

५–प्रत्येक द्रव्यकी अपनी मूल द्रव्य शक्तियाँ और योग्यतायें समान रूपसे निश्चित हैं। उनमे हेर-फेर नही हो सकता। कोई नई शक्ति कारणान्तर से ऐसी नही आ सकती जिसका अस्तित्व उस द्रव्यमे न हो। इसी तरह कोई द्रव्यशक्ति सर्वथा विनष्ट नही हो सकती।

६–द्रव्यशक्तियो के समान होनेपर भी अमुक चेतन या अचेतनमें स्थूल पर्याय सम्बन्धी अमुक योग्यतायें भी नियत है। उनमे जिसकी सामग्री मिल जाती है उसका विकास हो जाता है। जैसे प्रत्येक पुद्गलाणुमे पुद्गलकी सभी द्रव्य योग्यतायें रहनेपर भी मिट्टीके पुद्गल ही साक्षात् घडा बन सकते हैं, कङ्कडोके पुद्गल नही। तन्तुके पुद्गल ही साक्षात् कपडा बन सकते है मिट्टीके पुद्गल नही, यद्यपि घडा और कपडा दोनो ही पुद्गलकी पर्यायें हैं। हाँ, कालान्तरमें बदलते हुए मिट्टीके पुद्गल भी कपडा बन सकते हैं और तन्तुके पुद्गल भी घडा। तात्पर्य यह कि ससारी जीव और पुद्गलोकी अपनी-अपनी द्रव्य शक्तियाँ समान होनेपर भी अमुक स्थूल पर्यायमे अमुक शक्तियाँ ही साक्षात् विकसित हो सकती हैं, शेष शक्तियाँ बाह्य सामग्री मिलनेपर भी तत्काल विकसित नही हो सकती।

७–यह नियत है कि उस द्रव्यकी उस स्थूल पर्यायमे जितनी पर्याय योग्यतायें हैं उनमेसे ही जिसकी अनुकूल सामग्री मिलती है उसका ही विकास होता है शेष तत्पर्याययोग्यतायें द्रव्यकी मूल योग्यताओकी तरह सद्भावमे ही बनी रहती हैं।

८–यह भी नियत है कि अगले क्षणमे जिस प्रकार सामग्री उपस्थित होगी, द्रव्यका परिणमन उससे प्रभावित होगा। इसी तरह सामग्रीके अन्तर्गत जो भी द्रव्य है उनके परिणमन भी इस द्रव्यसे प्रभावित होगे। जैसे कि ऑक्सीजनके परमाणुको यदि हाइड्रोजनका निमित्त मिल जाता है तो दोनोंका जल रूपसे परिणमन हो जायगा अन्यथा जैसी सामग्री मिलेगी उस रूपसे वे परिणमन हो जायेंगे।

जैन-दर्शनने 'वस्तु क्या है, यह जो पर्यायोका उत्पाद और व्यय है उसमे निमित्त उपादानकी क्या स्थिति है' इत्यादि समस्त कार्यकारणभाव, उनके जाननेकी क्या पद्धति हो सकती है? इस समस्त ज्ञापक-तत्त्वका पूरा-पूरा निरूपण किया है। इस कारण तत्त्व और ज्ञापक तत्त्वमे भावनाका स्थान नही है। इसमे तो कठोर परीक्षा और वस्तु स्थितिके विश्लेषणकी पद्धतिका प्रामुख्य है। अत जहाँ वस्तु तत्त्वका निरूपण हो वहाँ दर्शनकी प्रक्रियासे उसका विवेचन कीजिये और उत्पन्न तथा ज्ञापित वस्तुमे किस प्रकारकी भावना या चितनसे हम रागद्वेषसे वीतरागताकी ओर जा सकते, इस अध्यात्म भावनाको समयसारसे परखिए। भावना और दर्शनका अपना-अपना निश्चित क्षेत्र है उसे एक दूसरेसे न मिलाइए।

●

महावीर वाणी

तीर्थंकर महावीरने बिहारकी पुण्यभूमि वैशालीमें आजसे २५५७ वर्ष पूर्व जन्म लिया था। तीस वर्षकी भरी जवानी मे राजवैभवको लात मार वे आत्मसाधनामे लीन हुए थे, व्यक्तिकी मुक्ति और समाजमें शान्तिका मार्ग खोजनेके लिए। बारह वर्षकी सुदीर्घ (लम्बी) तपस्याके बाद उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने धर्मका साक्षात्कार किया। उसके बाद लगातार ३० वर्ष तक वे बिहार, उड़ीसा, बगाल और उत्तर-प्रदेश आदिमे सतत पाद विहारकर धर्मोपदेश देकर सर्वोदयतीर्थका प्रवर्तन करते रहे। वीरभूमि और वर्धमान जिले तीर्थंकर महावीरकी यशोगाथाका गान अपने नामो द्वारा आज भी कर रहे हैं।

वे तीर्थंकर थे। तीर्थंकर जन्म-जन्मान्तरसे यह संकल्प और भावना रखता है कि—मुझे जो शक्ति, सामर्थ्य और विभूति प्राप्त हो उसका एक-एक कण जगत्के कल्याण व उद्धारके लिए अर्पित है। अज्ञानके अन्धकार और तृष्णाके जालमे पड़े हुए प्राणी कैसे प्रकाश पाएँ और कैसे तृष्णाके जालको भेदकर सन्मार्गमे लगें, यह उनके जीवनका प्रमुख लक्ष्य होता है। वह उस अनुभूत धर्म या तीर्थका उपदेश देता है जिसपर चलकर उसने स्वय जीवनका चरम लक्ष्य पाया होता है और वह खपा देता है अपनेको प्राणिमात्रके उद्धार और विश्वके कल्याण में।

उन्होने अपने सर्वोदय तीर्थका उपदेश उस समयकी जनताकी बोली अर्धमागधीमे दिया था। अर्धमागधी वह भाषा थी जिसमे आधे शब्द मगध देशकी भाषाके थे जो महावीरकी मातृभाषा थी और आधे शब्द विदेह अंग, वग, कलिंग आदि अठारह महाजनपदोकी महाभाषाओ और ७०० लघु भाषाओंके थे। यानी उनकी भाषामे सभी बोलियोके शब्द थे। इसका कारण था कि उन्हे उन पतित, शोषित, दलित और अभिद्रावित शूद्रो तकको सद्धर्मके अमृतका पान कराना था जिनने सदियोसे धर्मका शब्द नही सुना था। जो धर्म तो क्या मनुष्यतासे वंचित थे। जिनकी दशा पशुओसे भी बदतर थी। जो धर्म वर्गविशेषमे कैद था और वर्गविशेषकी प्रभुताका मात्र साधन बना हुआ था उस धर्मका द्वार जन-जनके कल्याणके लिए उन्हीकी भाषामें उपदेश देकर इन तीर्थंकरने खोला। आज प्रान्तीय भाषाओके नामपर झगड़नेवाले हमलोगोको महावीर और बुद्धकी उस लोकभाषाकी दृष्टिकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है कि भाषा एक वाहन है विचारोंको ढोनेका। वह उतना समृद्ध होना चाहिए जिसका उपयोग बहुजन कर सके। हिन्दी और हिन्दुस्तानी तथा प्रान्तीय भाषाओके विवादको हमे इसी सग्राहक दृष्टिसे हल कर लेना चाहिए।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं णमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म उत्कृष्ट मगल है। अहिंसा, सयम और तप अर्थात् अपनी इच्छाओको निरोध करना धर्मका मूल रूप है। जिसके जीवन और मनमे धर्म आ गया उसे देव-श्रेष्ठजन भी नमस्कार करते है।

अहिंसाकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि—

'जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे यह आयमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पन्नवेन्ति एवं पख्वेन्ति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जायेतव्वा न परिघेतव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे नितिए सासए।'

अर्थात् जितने अरिहंत या तीर्थंकर हो चुके हैं, तथा होंगे वे सब एक ही बात कहते हैं, एक ही बात बताते हैं, एक ही धर्मका प्रतिपादन करते हैं, एक ही सद्धर्मकी घोषणा करते हैं कि किसी प्राणी, किसी भूत, किसी जीव या किसी सत्व यानी छोटे-मोटे स्थावर या जंगम किसी भी जीवको न मारना चाहिए, न पकड़ना चाहिए, न कष्ट पहुँचाना चाहिए। यह धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। और उन्होंने इस अहिंसाकी कसौटी कितने प्यारे शब्दोंमें बताई है—

'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला' अर्थात् सभी प्राणियोंको अपना जीवन प्यारा है, सभी सुख-शान्ति चाहते हैं और सभीको दुःख बुरा लगता है। और—

'जह मम ण पियं दुक्खं जाणिहि एमेव सव्वजीवाणं'।

जैसे हमें दुःख अच्छा नहीं लगता ऐसे ही सभी जीवोंको जानो।

अतः

'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं णिग्गंथा वज्जियंति णं॥'

सभी प्राणी जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। अतः सभी प्रकारके प्राणीवध अर्थात् हिंसासे निर्ग्रन्थ परहेज करते हैं उसका त्याग करते है।

उन्होंने सभी प्राणियोंमें आत्मौपम्यकी भावनाको जगाते हुए कहा—'तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मनसि, तुमं सि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि'—

भद्र पुरुषों, जिसे तुम कष्ट देना चाहते हो वह तुम्ही हो, वह तुम जैसा ही है। जिसे तुम मारना चाहते हो वह तुम्ही हो। जिसे तुम सताना चाहते हो वह तुम्ही हो। जिसे तुम तंग करना चाहते हो वह तुम्ही हो। यानी जब तुम किसीको मारने या हिंसा करनेको तैयार होते हो तो तुम स्वयं अपनी हिंसा करते हो।

जिस क्रोध, अहंकार, माया और लोभके वशीभूत होकर तुम हिंसा और अन्य पापकार्योंमें प्रवृत्त होते हो वे सर्वनाशके द्वार है—

'कोहो पीइं विणासेइ माणो विणयणासणो।
माया मित्ताणि णासेइ लोभो सव्वविणासणो॥'

क्रोध मित्रता या प्रीतिका नाश कर देता है। मान विनयको छिन्न-भिन्न कर देता है। माया मित्रभावको नष्ट कर देती है और लोभ तो सर्वविनाशकारी होता है।

अतः इन चार अन्तरंग शत्रुओं को—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण लोहं संतोसओ जिणे॥

उपशमभाव अर्थात् क्षमा या शान्तिसे क्रोधका नाश करे, उसे जीते। विनय या कोमल भावनाओंसे मानका मद चूर करे। सरलता या ऋजु भावोंसे मायाको जीते और सन्तोषसे लोभको जीते।

उनकी धर्मोपदेशकी सभाको समवसरण कहते हैं। समवसरण-सम अवसरण अर्थात् जिसमे सबको समान अवसर हो। इसीलिए उनकी सभामे शूद्र, माली, कोरी, चमार, नाई, चाडाल सभी जाते थे। उनकी

सभामें स्त्रियोंको भी समान स्थान था और शूद्रोंको भी। इतना ही नही, पशु-पक्षी भी अपना जातिविरोध भूलकर इस अहिंसामूर्तिके दर्शनकर एक जगह बैठते थे। उन्होने सबको धर्मका उपदेश देते हुए बताया था कि–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रूपसे यह वर्णव्यवस्था समाजरचना और व्यवस्थाके लिए अपने गुण और कर्मके अनुसार है। वह जन्मना नहीं है, अपने आचरण से है। कोई भी शूद्र सदाचार धारणकर ब्राह्मणसे भी ऊँचा हो सकता है और कोई ब्राह्मण भी दुराचारके कारण शूद्र से भी नीचा। वे कहते हैं—

"कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

अपने कर्म-आचरणसे ही ब्राह्मण होता है, कर्मसे ही क्षत्रिय होता है, वैश्य भी कर्मसे होता है तथा शूद्र भी कर्मसे ही बनता है।

उन्होने बाह्यक्रियाकाडियों को झकझोरते हुए कहा—

न वि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण ण तावसो॥

कोई मूड मुडा लेने मात्रसे श्रमण नही हो सकता और न ओंकारके रटने से ब्राह्मण हो। न जंगलमें बस जानेसे मुनि बन सकता है और न मूँजकी रस्सी बाँध लेनेसे तपस्वी ही। तब—

"समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण मुणी होई तवेण होइ तावसो॥"

समता से श्रमण होना है। जिसके जीवन मे शम-शान्ति सम-समत्वकी भावना और श्रम-स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा हो वही सच्चा श्रमण है। ब्रह्मचर्य से अर्थात् आत्मधर्ममे विचरण करने से ब्राह्मण होता है न कि बाह्य क्रियाकाड से। ज्ञान से मुनी होता है और इच्छाओका निरोध करनेसे तपस्वी होता है। उन्होने सच्चे ब्राह्मणकी परिभाषा करते हुए कहा—

"जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहि तं वयं बूम माहणं॥"

जिस प्रकार कमल जलमें उत्पन्न होकर भी उससे लिप्त नही होता उसी प्रकार संसारमे रहकर जो कामभोगोमें लिप्त नही होता वह सच्चा ब्राह्मण है।

और इसीलिए महावीरके धर्मसे अर्जुनमाली और हरिकेशी चाडाल जैसे पतितोका भी उद्धार हुआ था और उन्हें धर्मक्षेत्र मे वही दरजा प्राप्त था जो गौतम जैसे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण को।

जब उनके परम प्रिय शिष्य गौतमने तीर्थंकर महावीरसे गिड़गिड़ाकर कहा—प्रभु, मेरा उद्धार करो, तुम ही मुझे तार सकते हो तो उन्होंने कहा था—गौतम, तुम स्वय ही अपना उद्धार कर सकते हो, कोई किसीका उद्धार करनेवाला नही है। जब तक तुम्हारे जीवनमें थोडा भी परावलम्बन होगा तब तक तुम पराधीन रहोगे और बन्धनमे पडे रहोगे। वे बोले—

"पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं किं बाहिरा मित्तमिच्छसि।" भव्य पुरुषो, तुम स्वयं अपने मित्र हो, बाहिर मित्र कहाँ ढूँढते हो?

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूड सामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नंदणं वणं ।।
अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण दुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।।

आत्मा ही नरक की वैतरणी या कूट शाल्मली वृक्ष है । आत्मा ही स्वर्ग की कामधेनु और नंदन वन है । यह आत्मा ही अपने सुख और दुःख का कर्ता और भोक्ता है । कोई अन्य ईश्वर इसके पुण्य-पाप का लेखाजोखा नहीं रखता और न पुण्य-पापके फल भोगके लिए स्वर्ग या नरक भेजनेवाला है । बुरे मार्गपर चलनेवाला आत्मा ही शत्रु है और सुमार्ग पर चलनेवाला आत्मा ही मित्र है ।

'सच्चं लोगम्मि सारभूयं ।'

सत्य ही संसारमें सारभूत है । यह था उनका जीवन सूत्र । समाज रचनाका आधारभूत सूत्र बताते हुए उन्होंने अपरिग्रहका उपदेश दिया और बताया कि—

"धणधन्नपेस्सवग्गेसु परिग्गह विवज्जणं ।"

धन-धान्य और नौकर-चाकर आदिके परिग्रहका त्याग करना ही सर्वोत्तम है । पूर्ण त्याग संभव न हो तो कम से कम परिग्रह रखकर जीवनको स्वावलम्बी बनाना चाहिए । अचौर्यव्रतको भी समाज रचनाका आधार बताते हुए कहा कि—

"तं अप्पणा न गिण्हंति नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि नानुजाणंति संजया ।।"

संयमी पुरुष स्वयं दूसरेकी वस्तुको ग्रहण नहीं करते, न दूसरो से चुरवाते हैं और न चोरी करनेवाले की अनुमोदना ही करते हैं ।

उन्होंने दूसरोंके विचारोंके प्रति उदारता और सहिष्णुता वर्त्तनेके लिए अनेकान्तदृष्टिकी साधनाका मार्ग सुझाया कहा । यथा—

"जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वयई ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स ।।"

जिस विचारसहिष्णुता के प्रतीक अनेकान्तदर्शनके बिना लोकव्यवहार भी नहीं चलता उस संसारके एकमात्र गुरु अनेकान्त वादको नमस्कार हो ।

इस तरह विचारमे अनेकान्त, आचार मे अहिंसा, समाज रचनाके लिए अचौर्य, सत्य और अपरिग्रह तथा इन सबकी साधनाके लिए ब्रह्मचर्यका उपदेश देकर अन्तिम समयमें उन्होने अपने प्रमुख शिष्य गौतमको लक्ष्यकर जिस अप्रमादका उपदेश दिया था वह है—

दुमपत्तए पंडुयए जहा णिवडइ राइगणाण अच्चाए ।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए ।।

जैसे पतझड़के समय पीला पत्ता झड़ जाता है ऐसे ही यह मनुष्य-जीवन क्षणभंगुर है । गौतम, एक क्षण भी प्रमाद न कर ।

कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए॥

जैसे घासकी नोकपर पड़ी हुई ओसकी बूँद थोड़े ही समय ठहरती है ऐसे ही मनुष्योंका जीवन है न जाने कब ढुलक जाय। गौतम, क्षणभर भी प्रमाद न कर।

परिजूरइ ते सरीरयं केसा पंडुरमा हवंति ते।
से सव्वबले य हायइ समयं गोयम मा पमायए॥

तेरा शरीर जीर्ण होता जाता है। बाल पक गये हैं। सारी शक्ति धीरे-धीरे विलीन होती जा रही है। गौतम, क्षण भर भी प्रमाद न कर।

"तिण्णोसि अण्णवं महं किह पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए समयं गोयम मा पमायए॥"

गौतम, तू सारा भव समुद्र तैर चुका। अब किनारेपर आकर क्यों हिम्मत हारता है—एक आखिरी छलाँग लगाओ। गौतम, क्षण भर भी प्रमाद नहीं करो। यही भगवान् की पुण्य देशना है—

"णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स"।



प्राचीन नवीन या समीचीन ?

मनुष्यमें प्राचीनताका मोह इतना दृढ़ है कि अच्छीसे अच्छी बातको वह प्राचीनताके अस्त्रसे उड़ा देता है और बुद्धि तथा विवेकको ताकमें रख उसे 'आधुनिक' कहकर अग्राह्य बनानेका दुष्ट प्रयत्न करता है। इस मूढ़ मानवको यह पता ही नहीं है कि प्राचीन होनेसे ही कोई विचार अच्छा और नवीन होनेसे ही कोई बुरा नहीं कहा जा सकता। मिथ्यात्व हमेशा प्राचीन होता है, अनादिसे आता है और सम्यग्दर्शन नवीन होता है पर इससे मिथ्यात्व अच्छा और सम्यक्त्व बुरा नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्रने धर्मदेशनाकी प्रतिज्ञा करते हुए लिखा है "देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्" इसमे उनने प्राचीन या नवीन धर्मके उपदेश देनेकी बात नहीं कही है, किन्तु वे 'समीचीन' धर्मका उपदेश देना चाहते हैं। जो समीचीन अर्थात् सच्चा हो, बुद्धि और विवेकके द्वारा सम्यक् सिद्ध हुआ हो, वही ग्राह्य है न कि प्राचीन या नवीन। प्राचीनमें भी कोई बात समीचीन हो सकती है और नवीनमें भी कोई बात समीचीन। दोनोंमें असमीचीन बातें भी हो सकती हैं। अत: परीक्षा कसौटीपर जो खरा समीचीन उतरे वही हमें ग्राह्य है। प्राचीनताके नामपर पीतल ग्राह्य नहीं हो सकता और नवीनताके कारण सोना त्याज्य नहीं। कसौटी रखी हुई है, जो कसनेपर समीचीन निकले वही ग्राह्य है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने बहुत खिन्न होकर इन प्राचीनता-मोहियोको सम्बोधित करते हुए छठवी द्वात्रिंशतिकामे बहुत मार्मिक चेतावनी दी है, जो प्रत्येक सशोधकको सदा स्मरण रखने योग्य है—

> "यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रत ।
> न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगत किं प्रभवन्ति देवताः ।।"

समीक्षक विद्वानोके सामने प्राचीन रूढ़िवादी बिना पढ़ा पण्डितम्मन्य जब अट-सट बोलनेका साहस करता है, वह तभी क्यो नहीं भस्म हो जाता ? क्या दुनियामे कोई न्याय-अन्यायको देखनेवाला देवता नहीं है ?

> "पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।
> तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादह न जात प्रथयन्तु विद्विष. ।।"

पुराने पुरुषोने जो व्यवस्था निश्चित की है वह विचारनेपर क्या वैसी ही सिद्ध हो सकती है ? यदि समीचीन सिद्ध हो तो हम उसे समीचीनताके नामपर तो मान सकते है, प्राचीनता के नामपर नहीं। यदि वह समीचीन सिद्ध नहीं होती तो मरे हुए पुरुषोके झूठे गौरवके कारण 'तथा' हाँ मे हाँ मिलानेके लिए मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मेरी इस समीचीनप्रियताके कारण यदि विरोधी बढ़ते हों तो बढ़ें। श्रद्धावश कबरपर फूल तो चढ़ाये जा सकते है। पर उनकी हर एक बातका अन्धानुसरण नहीं किया जा सकता।

> "बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः ।
> विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातनप्रेमजडस्य युज्यते ।।"

पुरानी परम्परायें बहुत प्रकार की हैं, उनमें परस्पर पूर्व-पश्चिम जैसा विरोध भी है। अत: बिना विचारे प्राचीनताके नामपर झटसे निर्णय नहीं दिया जा सकता। किसी कार्य विशेषकी सिद्धिके लिए 'यही व्यवस्था है, अन्य नहीं, यही पुरानी आम्नाय है' आदि जडताकी बातें पुरातनप्रेमी जड़ ही कह सकते हैं।

"जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥"

आज जिसे हम नवीन कहकर उड़ा देना चाहते हैं वही व्यक्ति मरनेके बाद नई पीढ़ीके लिए पुराना हो जायगा और पुरातनोंकी गिनतीमें शामिल हो जायगा। प्राचीनता अस्थिर है। जिन्हें आज हम पुराना कहते हैं वे भी अपने जमानेमें नये रहे होंगे और उस समय जो नवीन कहकर दुरदुराये जाते होंगे वे ही आज प्राचीन बने हुए हैं। इस तरह प्राचीनता और पुरातनता जब कालकृत है और कालचक्रके परिवर्तनके अनुसार प्रत्येक नवीन पुरातनोंकी राशिमें सम्मिलित होता जाता है तब कोई भी विचार बिना परीक्षा किये इस गड़बड़ पुरातनताके नामपर कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

"विनिश्चयं नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवत्प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥"

प्राचीनतामूढ़ आलसी जड निर्णयकी अशक्ति होनेके कारण अपने अनिर्णयमें ही निर्णयका भान करके प्रसन्न होता है। उसके तो यही अस्त्र हैं कि अवश्य ही इसमें कुछ तत्त्व होगा ? हमारे पुराने गुरु अमोघवचन थे, उनके वाक्य मिथ्या नहीं हो सकते, हमारी ही बुद्धि अल्प है जो उनके वचनों तक नहीं पहुँचती आदि। इन मिथ्यावृत आलसी पुराणप्रेमियोंकी ये सब बुद्धिहत्याके सीधे प्रयत्न हैं और इनके द्वारा वे आत्मविनाशकी ओर ही तेजीसे बढ़ रहे हैं।

"मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणैर्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम् ।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवानगाधपाराणि कथं ग्रहीष्यति ? ॥"

जिन्हें हम पुरातन कहते हैं वे भी मनुष्य ही थे और उन्होंने मनुष्योंके लिए ही मनुष्यचरित्रोंका वर्णन किया है। उनमें कोई दैवी चमत्कार नहीं था। अतः जो आलसी या बुद्धि जड हैं उन्हें ही वे अगाध गहन या रहस्यमय मालूम हो सकते हैं पर जो समीक्षक चेता मनस्वी हैं वह उन्हें आँख मूँदकर 'गहन रहस्य' के नामपर कैसे स्वीकार कर सकता है ?

"यदेव किंचित् विषमप्रकल्पितं पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत्स्मृतिमोह एव सः ॥"

कितनी भी असम्बद्ध और असंगत बातें प्राचीनताके नामपर प्रशंसित हो रही हैं और चल रही हैं। उनकी असम्बद्धता 'पुरातनोक्त और हमारी अशक्ति' के नामपर भूषण बन रही है तथा मनुष्यकी प्रत्यक्ष-सिद्ध बोधगम्य और युक्तिप्रवण भी रचना आज नवीनताके नामपर दुरदुराई जा रही है। यह तो प्रत्यक्षके ऊपर स्मृति की विजय है। यह मात्र स्मृतिमूढ़ता है। इसका विवेक या समीक्षणसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

"न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः ।
गुणावबोधप्रभवं हि गौरवं कुलाङ्गनावृत्त मतोऽन्यथा भवेत् ॥"

पुरातनके मिथ्यागौरवका अभिमानी व्यक्ति युक्त और अयुक्तका विचार ही नहीं कर सकता। उसकी बुद्धि उस थोथे बड़प्पनसे इतनी दब जाती है कि उसकी विचारशक्ति सर्वथा रुद्ध हो जाती है। अन्तमें आचार्य लिखते हैं कि गौरव गुणकृत है। जिसमें गुण है वह चाहे प्राचीन हो या नवीन या मध्ययुगीन, गौरवके योग्य है। इसके सिवाय अन्य गौरवके नामका ढोल पीटना किसी कुशीला कुलकामिनीका अपने कुलके नामसे सतीत्वको सिद्ध करनेके समान ही है।

कवि कालिदासने भी इन प्राचीनताबद्ध-बुद्धियोको परप्रत्ययनेयबुद्धि कहा है। वे परीक्षकमतिकी सराहना करते हुए लिखते हैं—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥"

अर्थात् सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नही हो सकता। समझदार परीक्षा करके उनमेसे समीचीनको ग्रहण करते हैं। मूढ़ ही दूसरेके बहकावेमे आता है।

अत इस प्राचीनताके मोह और नवीनताके अनादरको छोडकर समीचीनताकी ओर दृष्टि रखनी चाहिए, तभी हम नूतन पीढीकी मतिको समीचीन बना सकेगे। इस प्राचीनताके मोहने असंख्य अन्धविश्वासों, कुरूढियो, निरर्थक परम्पराओ और अनर्थक कुलाम्नायोको जन्म देकर मानवकी सहज बुद्धिको अनन्तभ्रमोमें उलझा दिया है। अतः इसका सम्यग्दर्शनकर जीवनको समीक्षापूर्ण बनाना चाहिये।



जैन अनुसंधानका दृष्टिकोण

यह एक सिद्ध बात है कि साहित्य अपने युगका प्रतिबिम्ब होता है। उसके निर्माताओका एक अपना दृष्टिकोण रहनेपर भी साहित्यको तत्कालीन सामयिक समानतन्त्रीय या प्रतितन्त्रीय साहित्यके प्रभावसे अछूता नही रखा जा सकता। युद्ध क्षेत्रकी तरह दार्शनिक साहित्यका क्षेत्र तात्कालिक सन्धियोके अनुसार मित्रपक्ष और शत्रुपक्षमें विभाजित होता रहता है। जैसे ईश्वरवादके खण्डनमे जैन, बौद्ध और मीमासक मिलकर काम करते हैं यद्यपि उन सबके अपने दृष्टिकोण जुदा-जुदा हैं पर वेदके अपौरुषेयत्वके विचारमे मीमांसक विरोध पक्षमे खडा हो जाता है और जैन, बौद्ध साथ चलते है। क्षणिकत्वके खण्डनके प्रसगमें जैन और बौद्ध दोनो परस्पर विरोधी बनते हैं और मीमासक जैनका साथ देता है। तात्पर्य यह कि किसी भी सम्प्रदायके साहित्य-मे विभिन्न तत्कालीन साहित्योंका विरोध या अविरोध रूपमे प्रतिबिम्ब अवश्यभावी है। अतः किसी भी साहित्यका संशोधन करते समय तत्कालीन सभी साहित्यका अध्ययन नितान्त अपेक्षणीय है। बिना इसके वह संशोधन एकदेशीय होगा।

अनेक आचार्योंने तत्कालीन परिस्थितियोके कारण, जैन सस्कृतिके पीछे जो मूल विचारधारा है उसे भी गौण कर दिया है और वे प्रवाह पतित हो गये हैं। ऐसे तथ्योका पता लगानेके लिए प्रत्येक विचार विकासका परीक्षण हमे ऐतिहासिक और सास्कृतिक दोनो दृष्टिकोणोसे करना होगा। जैन विचारधाराका मूल रूप क्या था और किन-किन परिस्थितियोसे उसमे क्या-क्या परिवर्तन आये इसके लिए बौद्ध पिटक और वैदिक ग्रन्थोंका गम्भीर आलोडन किए बिना हम सत्य स्थितिके पास नही पहुँच सकते।

अवान्तर सम्प्रदायोंके अभेद मुद्दोकी विकास परम्परा और उनके उद्भवके कारणोंपर प्रकाश भी इसी प्रकारके बहुमुखी अध्ययनसे संभव हो सकता है। यद्यपि इस प्रकारके अध्ययनके आलोकमें अनेक

प्रकारके पूर्वग्रहरूपी अन्धकार स्थलोंका भेदन होनेसे कुछ ऐसा लगेगा कि हमारा सब कुछ गया, पर उससे चित्र हल्का ही होगा और संशोधनका क्षेत्र मात्र विद्या और विचारकी पुनीत ज्योतिसे मानवताके विकासमें सहायक होगा।

संशोधनके क्षेत्रमें हमे पूर्वग्रहोंसे मुक्त होकर जो भी विरोध या अविरोध दृष्टिगोचर हो उन्हें प्रामाणिकताके साथ विचारक जगत्के सामने रखना चाहिए। किसी सदिग्ध स्थलका खीचकर किसी पक्ष विशेष के साथ मेल बैठानेकी वृत्ति संशोधनके दायरेको सकुचित कर देती है। संशोधनके पवित्र विचारपूत स्थानपर बैठकर हमे उन सभी साधनोकी प्रामाणिकताकी जाँच कठोरतासे करनी होगी जिनके आधारसे हम किसी सत्य तक पहुँचना चाहते हैं। पट्टावली, शिलालेख, दानपत्र, ताम्रपत्र, ग्रन्थोंके उल्लेख आदि सभी साधनोंपर सशोधक पहिले विचार करेगा। कपडा नापनेके पहिले गजको नाप लेना बुद्धिमानोकी बात है।

जैन सस्कृतिका पर्यवसान चारित्रमे है। विचार तो वही तक उपयोगी है जहाँ तक वे चारित्रका पोषण और उसे भाव प्रधान रखनेमे सहायक होते है। चारित्र अर्थात् ऐसी आचार परम्परा जो प्राणिमात्रमे समता और वीतरागताका वातावरण बनाकर अहिंसाकी मौलिक प्रतिष्ठा कर सके। व्यक्तिको निराकुलता और अहिंसक समाज रचनाके द्वारा विश्व शान्तिकी ओर बढ़ावे। इस सास्कृतिक दृष्टिकोणसे हमें अपने अवान्तर सम्प्रदायोंकी अब तककी धाराओकी जाँचना-परखना होगा और आदर्शकी जगह उन मूल विचारो को देनी होगी जो निर्ग्रन्थ परम्परा की रीढ है। भले ही उनका व्यवहार मनुष्यके जीवनमे अंशतः ही हो, पर आदर्श तो अपनी ऊँचाईके कारण आदर्श ही होगा। व्यवहार उसकी दिशामे होकर अपनेमे सफल है। इस मूल सास्कृतिक दृष्टिकोणकी रक्षा किस समय कहाँ तक हुई, इस छानबीनका कार्य बडी जवाबदारी का है। जैन सशोधन तभी सार्थक सिद्ध हो सकता है जब वह अपनी सास्कृतिक भूमिपर बैठकर विचार ज्योति को जलाये। हमे अपने साहित्यमेंसे उन शिथिल अशोको सामने लाना ही होगा जिनने इस पवित्र दृष्टिकोण को धुँधला किया है और उनके कारणोपर सयुक्ति प्रकाश भी डालना ही होगा। जैन संशोधन संस्थाएँ तभी अपनी सास्कृनिक चेतनाको जगानेकी दिशामें अग्रसर बन सकती हैं।



'सर्वोदय' की साधना

"विजय, मैं क्या करूँ, आहारके समय मर्यादाको लाँघकर भोजन कर लेता हूँ, पर पेटकी ज्वाला शान्त नहीं होती। ऐसा लगता है कि खाए ही जाऊँ। कभी घी, दूध आदि पदार्थ अधिक मात्रा मे मिल जाते हैं तो क्षणभर शान्ति रहती है। फिर यह ज्वालामुखी भडक उठता है। यह भस्मक मुझे भस्म ही करना चाहता है। अतः अब मेरा विचार शरीररक्षाका नही, आत्मरक्षाका ही होता जा रहा है। मैंने तुम्हारी सलाह मानकर आहारमें किंचित् ढिलाई भी की पर उसका कुछ असर नही हुआ। अब मैं शान्तिसे आत्माराधना करके इस शरीरको छोड देना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि गुरुजीसे आज्ञा दिलानेमें तुम हमारी सहायता करो।" ये शब्द अपने लघु सधर्मा विजयसे बडी व्यग्रतासे समन्तभद्रने कहे।

विजय—भन्ते, आपको मैं क्या समझाऊँ? मैं तो इतनी बात सदा कहता आया हूँ कि शरीरके सुखानेको तप नहीं कहते। आपने मेरी बात न मानकर सदा रूक्ष भोजन लिया और लगातार ग्रन्थ-निर्माणमें कठोर परिश्रम किया। मैं आपका बनाया गया 'देवागम स्तोत्र' पढता हूँ तो जी मे ऐसा लगता है मानों मैं भगवान्के समवसरणमे बैठा हुआ उनका स्तवन कर रहा हूँ। आपकी आत्मा उसमे घुल गई है। अपने जीवन का यह सत्य [1]'आभ्यन्तर तपकी वृद्धिके लिए बाह्यतप तपना चाहिए' आप सदा कहते हैं। पर सोचिए तो सही, शीघ्रतासे आभ्यन्तर प्राप्तिकी तृष्णा भी अन्ततः तृष्णा ही है और [2]'तृष्णाज्वालाएँ जलाती हैं वे शान्त नही होती' के अनुसार वस्तुतः वह तृष्णा भी मनुष्यको उतना ही आकुल करती है जितनी कि धनार्थी को धनतृष्णा। आपसे मानवजातिका समुत्थान होनेवाला है। युगोंमे आप जैसे विरले ही पुरुष होते है जिनसे मानवजातिके विकासको एक गति मिलती है। उसे आगे बढनेके लिए एक धक्का लगता है।

समन्तभद्र—विजय, मैं बडी दुविधामे पडा हूँ। एक ओर तो मुझे अपने मुनिव्रतको अखंडित रखना है दूसरी ओर यह भी भावना है कि जब हमने सब कुछ छोडा और सासारिक सभी बन्धनोसे मुक्त होकर सर्वभूतमैत्रीकी महाभावनाको जीवनमे उतारनेके लिए निकले तब इस मनुष्य जनमका पूरा उपयोग उस मैत्री-भावके विकासमें किया जाय। यह भी विचार मनमें आता ही है कि अब यह रोग निष्प्रतीकार—असाध्य मालूम होता है। अतः समपरिणामोंसे समाधिमरण करके वर्तमान जीवनका अन्त किया जाय। इस मनोमंथनमें मुझे यदि भीतरसे पूछो तो 'सर्वभूतमैत्री' की उपासना ही सर्वाधिक प्रिय है। जब मैं धर्मके नाम-पर अहकारका पोषण देखता हूँ। आत्मधर्मके क्षेत्रमें भी व्यावहारिक बाह्य जाति-पाँति, कुल, बल, शरीर आदि जडधर्मोंकी उपासना देखता हूँ और देखता हूँ कि इस आत्मशोधक जैनधर्मके धारण करनेवाले श्रमण भी ज्ञान, पूजा, ऋद्धि और तपका भी अहकार करके मदकी ही पूजा कर रहे हैं तब जी ऐसा विचलित होता है कि इस तरह ये इसको कैसे टिका सकेंगे। ये इन अहकारोसे मदमत्त होकर अनेक प्रकारकी कल्पित रेखाएँ मानव-मानवमे खीचकर अन्ततः भौतिकताकी ही पूजा कर रहे है। इन्हें "न धर्मो धार्मिकैर्विना—धर्मात्माओके बिना धर्म नही होता" इस साधारण सत्यका ही पता नही है। विजय, उस दिनकी घटनासे तो मेरा जी सिहर उठता है जब अपने ही सामने उस आत्मदर्शी मातंगका तिरस्कार इन धर्माभिमानियोने किया था। मालूम हुआ कि पीछेसे उसे पीटा भी गया था। यदि वह विचारा मेरे उपदेशको सुन रहा था तो उससे इनका क्या बिगाड होता था?

---

१. 'बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाभ्यन्तरस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।'

२. 'तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासाम्।' —बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

"भन्ते, उसकी बात न छेड़ो। यह सब खुरापात चण्डशर्मा की थी। उसने ही आनन्द आदिको उकसाया था। आनन्द पछता रहा था कि "हम लोगोंने बड़ी भूल की जो उस समभावी धर्मात्माका अपमान किया। हमे तो पीछे मालूम हुआ कि मद्य, मांसादिका त्यागकर व्रतोको धारण किया था। महाराज, उस दिन उसने एक ही वाक्य कहा था 'क्या श्रमणोंमें भी अहिंसा, वीतरागता और समता केवल उपदेशकी ही वस्तु है ?' पर हमे तो जातिका मद चढा था। उसकी इस बातने हमारी क्रोधाग्निमे घीका काम किया। हम अपना विवेक खो बैठे। और थोड़े ही दिन पहिले पढा हुआ यह पाठ[१] भी भूल गए जिसमे सम्यग्दृष्टि चांडाल आया, आँखे डबडबा आई। रुँधे हुए कंठसे फिर बोला, "महाराज, उस विचारेने और कुछ भी नही कहा ? वह हमलोगो की ओर मैत्रीभावसे ही देखता रहा। उसकी ममतासे हमारा पशु शान्त हुआ और हम पराजित होकर ही लौटे थे। उसी दिन हमलोगोंने समझा कि चण्डकी सस्कृतिसे हमारी श्रमण संस्कृति जुदी है। एकका रास्ता विषमता, परतन्त्रता, वर्गप्रभुत्व, अहंकार और घृणाका है तो दूसरेका समता, स्वतन्त्रता-व्यक्तिस्वातन्त्र्य, शान्ति और सर्वमैत्रीका है। एक वर्गोदय चाहती है तो दूसरी सर्वोदय। इसीलिए दो-तीन दिन तक हमलोग आपको अपना मुँह दिखाने नही आए थे।"

समन्तभद्र—विजय, सचमुच, वे पछता रहे थे ? अच्छा हुआ जो उन्हें सद्बुद्धि आई। तुम उन्हें 'रत्नकरण्डक' तो पढा ही रहे हो ?

विजय—भन्ते, यह उसी का संस्कार है जो उन्हें सुमति आई। उनके भीतर का मानव जागा। अस्तु।

समन्तभद्र—विजय, मेरा मन इस समय दोलित है। वह पीपलके पत्तेकी तरह चचल है। चिरसाधित व्रत और तपोकी जिनकी साधनामें जीवनका सारभाग बीता अब इस ढलती उमरमे यो ही शिथिल करूँ ? विजय, मुझसे यह नही होगा। अपने ही हाथो अपना आत्मघात ! "आदहिदं कादव्व जइ सक्कइ परहिद च कादव्व—आत्महित ही कर्तव्य है और जितना हो सके परहित करना चाहिए" यही हमारा सम्बल है। अत मै अब समाधिमरणकी आज्ञा लेने गुरुदेवके पास जाता हूँ। विजय, मुझे सम्भालना, मैं शान्तिसे निराकुल हो मृत्युमहोत्सव मना सकूँ।

समन्तभद्र और विजय तुरत गुरुदेवके समीप पहुँचे। विषण्णवदन समन्तभद्र को असमयमे आया देखकर गुरुदेव बोले —

भद्र, तुम इतने आकुल-व्याकुल क्यो हो ? मैं तुम्हारे मनोमन्थनको जानता हूँ और जानता हूँ तुम्हारी आत्मव्यथा को। कहो, तुम क्यो विचलित हो ? तुम जगत्मे शासन-प्रभावक महापुरुष होओगे। दिव्य, तुम 'सर्वोदय तीर्थ' पर आए हुए आवरणको इस तमस्तोमको चीरकर उसके समन्तत भद्र स्वरूपको प्रकट करने वाले होओगे।

समन्तभद्र—गुरुवर, मेरा शरीर भस्मक रोगसे भस्मसात् हो रहा है। रक्त सूख गया है, मास और चर्बी जल चुके हैं। अब हड्डियाँ तडतडा रही हैं। इस समय मुझे आप अन्तिम समाधि देकर मेरी इस भव की साधनाकी अन्तिम आहुति दीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि जिस प्रामाणिकता और निष्ठासे मैंने आपके द्वारा दिए गए व्रतोको आज तक निरतिचार पाला है उसका अन्त महोत्सव भी उसी निष्ठासे कर सकूँ। गुरुदेव, आपका अनन्त स्नेह ही हमारा आधार है। हम तो अकिंचन हैं।

गुरुदेव—भद्र, इतने आतुर न होओ। अभी तुम्हारा समाधिका समय नही आया। मानव जातिके

---

१. "सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्। देवा देवं विदुर्भस्म गूढागारान्तरौजसम्।"—सम्यग्दर्शनसे युक्त चाण्डालको भी गणधर आदिने देव कहा है। वह तो उस अग्निके समान है जिसका तेज भस्मसे दबा हुआ है।

सर्वोदयके लिए तुम्हें अभी बहुत बड़ा त्याग करना है। तुम्हें अभी जगत्कल्याणकी अभय भावना भाना है। तुम्हारे जीवनमें जो परहितकातरताके अंकुर हैं उन्हें पल्लवित और पुष्पित करना है। अतः भद्र, इस 'जिनवेष' को छोड़कर तुम दूसरा वेष लेकर यथेष्ट स्निग्ध आहारसे इस भस्मक रोगको शान्त करो। जीवन की असमयमें समाप्त करना समाधिमरणका लक्ष्य नहीं है। किन्तु उसका परम उद्देश्य तो यह है कि जब रोग निष्प्रतीकार हो जाय और मरण अनिवार्य ही हो तब मरणका स्वागत करना। जिस तरह समाधि से जिए उसी तरह समाधिसे ही मरना। भद्र, तुम्हारा रोग असाध्य नहीं है।

समन्तभद्र—गुरुदेव, यह आप क्या कह रहे हैं ! क्या मैं इस दीक्षाको छोड़ दूँ ! क्या आप यह कह रहे हैं कि मैं अपनी जीवनभरकी साधनापर पानी फेर दूँ ? जिन व्रतों और शीलोंको दरिद्रकी पूँजीकी तरह मैंने सँजोया है, जिस दीपसे मेरा मन आलोकित है उसे अपने ही हाथों बुझा दूँ ? नहीं, मुझसे यह नहीं होगा। मरण यदि कल होना है वह आज ही हो जाय, पर मैं इस पुनीत निर्ग्रन्थताको नहीं छोड़ सकता। आखिर मात्र जीनेके लिए यह छोड़ दूँ ? नहीं, यह कभी नहीं होगा। गुरुदेव, मुझे क्षमा करें। मेरी हत्या मेरे ही हाथों न कराएँ। मैं अव्रती होकर नहीं जी सकता ?

गुरुदेव—भद्र, रोओ नहीं। मैं तुम्हें जो कह रहा हूँ वह एक महान् उद्देश्यके लिए। उस महा-साधनाके लिए अपने मानसकी तैयारी करो। आ० विष्णुकुमारने भी अकम्पन आदि मुनियोंकी रक्षाके लिए अपना मुनिव्रत छोड़कर दूसरा वेष धारण किया था। तुम तो सदा उन्हींका आदर्श सामने रखते रहे हो। यदि आज मानव कल्याणके लिए कुछ समयको तुम्हें व्रतोंको स्थगित करना पड़ रहा है तो यह लाभ की ही बात है। तुम्हारी व्रतोंको आत्माके प्रति असीम निष्ठा ही फिर तुम्हें इससे भी उच्चतर पदपर ले जायगी। अतः वत्स, मेरी बातको स्वीकारकर तुम इस मुनिव्रतको छोड़कर शरीर स्वस्थ करो।

समन्तभद्र यह सुनते ही मूर्च्छित हो जाते हैं। और मूर्च्छामें ही बड़बड़ाते हैं—नहीं ···नहीं ·· नहीं होगा ·· मैं····व्रत ···व्रत····नहीं····नहीं छोड़ूँगा प्राण चले जायँ।

उपचारसे मूर्च्छा दूर होते ही वे फिर बोले—गुरुदेव, मेरी रक्षा करो, तुम्हारी शरण हूँ। मुझे बचाओ। व्रतोंके छोड़ते ही कहीं मैं स्वयं नष्ट न हो जाऊँ। आज तो व्रतोंको देखकर ही मैं इस महा भस्मक ज्वालामुखीमें भी शान्त हूँ, और इसे चुनौती देता हूँ कि जला ले, मेरी हड्डियोंको भी तड़-तड़ा ले, पर मैं पराजित नहीं होऊँगा। यह कहते कहते फिर उनकी आँखोंके आगे अन्धेरा छा गया ···।

गुरुदेवने उस समय वादको बढ़ाना उचित नहीं समझ आदेशक स्वरमें कहा—अच्छा भद्र, अब व्यर्थ तर्क न करो। मेरी आज्ञा है कि 'सर्वोदय' और अन्तत 'स्वोदय'के लिए तुम मेरे दिए हुए व्रतोंको कुछ काल के लिए मुझे सौंप दो। यह मेरी थाती है। उठो, शीघ्रता करो। यह मेरी अन्तिम आज्ञा है।

समन्तभद्र—'आज्ञा' 'आप मुझे यह आज्ञा दे रहे हैं गुरुदेव ! 'तथास्तु' मैं आपके दिए हुए व्रतोंके प्रतीक रूप इन संयम-साधनों को आपकी ही आज्ञासे चरणोंमें रखता हूँ। गुरुदेव, मुझे न भूलें, इन चिह्नों को पुनः मुझे दें। मैं आपके चरणरज की छायामें आपकी आज्ञा पाल रहा हूँ।

सारा वायुमण्डल निस्तब्ध था। समन्तभद्रकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी। वे फूट-फूटकर रो पड़े और गुरुदेवको अन्तिम वन्दनाकर चल पड़े।

विजय कुछ दूर तक उनके साथ गए। विजयने देखा कि महामुनि समन्तभद्र वृक्षकी छाल लपेटकर तापसका वेष धारण किए चले जा रहे हैं··········वे देखते ही रहे···· ···अनायास उनके मुँहसे निकल पड़ा—'मणि कीचड़में पड़ गया, अग्नि राखमें ढँक गई' पर 'सर्वोदय' के लिए।

नियतिवादी सद्दालपुत्त

"बाबा कुछ खानेको दो" भिखारीने दीन स्वरमे कहा।

"चलो आगे, मैं क्या कर सकता हूँ। इस समय तेरी यही दशा होनी थी। बिना पूछे भीतर तक चला आया, भाग यहाँसे" झिटकारते हुए सद्दालपुत्त कुम्हारने कहा।

बेचारा भिखारी हडबडाकर पास ही रखे कच्चे घडोंके ढेरपर भरहराकर गिर पडा। कुम्हारके बहुतसे घड़े फूट गए। सद्दालपुत्त क्रोधसे आगबबूला हो गया और बोला—मूर्ख, यह सब क्या किया? अन्धा कही का, सब घडे चौपट कर दिये। मेरी दो दिन की मेहनतपर इस अनाडीने पानी फेर दिया।

भिखारीके होश गायब थे, वह पडनेवाली मारके बचावका उपाय सोचने लगा।

इतनेमे चर्याके लिए श्रमणनायक निग्गथनाथपुत्त उधरसे निकले और सद्दालपुत्तके द्वारपर पहुँचे। सद्दालपुत्त तो क्रोधसे पागलसा हो रहा था। वह श्रमणनायककी प्रतिपत्ति करना तो भूल गया और बोला—देखिए, इस अन्धेको, इसने मेरा सारा श्रम मिट्टीमे मिला दिया, सारे घडे चौपट कर दिये।

सामने एक मन्तको देखकर भिखारी को ढाढसमा बँधा और उसकी सहज प्रज्ञा जागी। व्यग्यसे बोला—मैंने क्या किया? इन घडोकी इस समय यही दशा होनी थी। भिखारीने सद्दालपुत्तसे हुई सारी बातें सुनाते हुए कहा—'क्या नियति एकके ही लिए है?'

"सद्दालपुत्त, यह ठीक तो कहता है" श्रमणनायकने कहा। यदि इसका भिखारी होना और उस समय भीख माँगना नियत था और उसी नियतिके बलपर तुमने इसे भगाया भी, तो घडोका फूटना भी तुम्हारे हिसाबसे नियत ही था। घडोको इसने कहाँ फोडा है?

"यदि यह सावधानीसे जाता तो मेरे घडे न फूटते"—सद्दालपुत्त क्रोधको शान्त करते हुए बोला।

"सद्दाल, क्या तुम यह समझते हो कि तुमने इन घडोंको बनाया है? क्या इनके बनानेमे तुम्हारा कर्तृत्व है? यदि तुम्हारा कर्तृत्व है तो क्या तुम रेतको भी घडा बना सकते हो?" मृदु स्वरमें श्रमणनायकने पूछा।

"हाँ, भन्ते, यदि इनका बनानेमे कुछ भी कर्तृत्व है तो मैं असावधानीके दोषका अपराधी हूँ, वैसे इनकी फटकारके निमित्तसे ही मुझसे यह गलती हुई है।" भिखारी आश्वस्त वाणीमे बोला।

सद्दालने कहा—हमारे गुरु गोशालकने तो यही कहा था कि—"सत्त्वोंके क्लेशका कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नही। बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वोकी शुद्धिका कोई हेतु नही, प्रत्यय नहीं, बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके सत्त्व शुद्ध होते है। अपने कुछ नही कर सकते, पराए कुछ नही कर सकते। कोई पुरुष भी कुछ नही कर सकता। बल नही, वीर्य नही, पुरुषका कुछ पराक्रम नहीं। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव वशमे नही हैं। निर्बल और निर्वीर्य, भाग्य और संयोगके फेरसे छह जातियोंमे उत्पन्न हो सुख और दुःख भोगते है। यह नहीं है—इस शील या व्रत या तप या ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा। परिपक्व कर्मका भोगकर अन्त करूँगा।"

सद्दाल कहता ही गया—सभी द्रव्योंकी सब पर्यायें नियत हैं, वे होंगी ही; उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं, कोई यत्न नही, बल नही, पराक्रम नही, जो जिस समय होना है होगा ही।

श्रमणनायक बोले—भद्र सद्दाल, यदि यही है तो घडोका फूटना भी इस समय नियत था, इस विचारेका क्या दोष ?

सद्दाल अपनी ही कुयुक्तिके जालमें फँस चुका था। वह दबी जबानसे बोला—

"भन्ते, यदि यह थोडी भी सावधानीसे यहाँसे बचकर चला जाता तो घडे न फूटते।" इसने तो मेरा सर्वनाश ही कर दिया।

श्रमणनायकने आदेशक स्वरसे कहा—सोचो, अच्छी तरह सोचो, क्या नियतिमें किसीका भी कुछ कर्तृत्व हो सकता है ? तुम्ही बताओ, तुम इन घडोको और सुन्दर और कलापूर्ण बना सकते थे ?

"क्यो नही ? यदि श्रम और समय लगाता तो और भी सुन्दर बना सकता था।" सद्दालने कलाके अभिमानसे कहा।

"तो क्या पुरुषार्थ और यत्नसे कुछ भी हेर फेर सभव है ?" श्रमणनायकने पूछा।

यही तो मुझे सशय है कि "यदि पुरुषार्थसे कुछ हो सकता है तो मै रेतका घडा क्यो नही बना पाता ? भगवन्, आप तत्त्वज्ञ और तत्त्वदर्शी हैं, मुझे इसका रहस्य समझाइये। मेरी बुद्धि इस समय उद्भ्रान्त हो रही है।

श्रमणनायकने सान्त्वना देते हुए गम्भीर वाणीमे कहा—भद्र, ससारके पदार्थोंके कुछ परिणमन नियत है और कुछ अनियत। प्रत्येक पदार्थको अपनी-अपनी द्रव्य शक्तियाँ नियत है, इनमे न एक कम हो सकती है और न एक अधिक। कुछ स्थूल पर्यायशक्तिसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाले परिणमन भी नियत हो सकते हैं ? देखो, घट, कपडा, पानी, आग सभी पुद्गलके परिणमन है पर हर एक पुद्गल स्कन्ध हर समय कपडा या घडा नही बन सकता। मिट्टीमे ही घडा बनेगी और सूतसे ही कपडा। यह दूसरी बात है कि मिट्टीके परमाणु कपासके पेडके द्वारा रुई बनकर परम्परासे कपडा भी बन जाये और सूत भी सडकर मिट्टीके आकारमे घडा बन जाय, पर साक्षात् उन पदार्थोंमे घडा और कपडे पर्यायका विकास नही हो सकता। रेतमे घट बननेकी उस समय योग्यता नहीं है। अत वह मिट्टीकी तरह घडा नही बन सकती। जब तुम मिट्टीका पिंड बनाते हो तो क्या यह समझते हो कि इतने मिट्टीपरमाणुओका घडा बनना या सकोरा बनना नियत है ? सीधी बात तो यह है कि—मिट्टीके पिंडमे उस समय सकोरा, घडा, प्याला आदि अनेक पर्यायोके विकासकी योग्यताएँ है। यह तुम्हारे पुरुषार्थका प्रबल निमित्त है जो उस समय पिंडसे सुन्दर या असुन्दर घडेकी ही पर्यायका विकास हो जाता है, सकोरा, प्याला आदि पर्याय योग्यताएँ अविकसित रह जाती हैं। सक्षेपमे जगत्के नियतानियतत्व की व्याख्या इस प्रकार है—

१–प्रत्येक द्रव्यकी मूल द्रव्य-शक्तियाँ नियत हैं। उनकी सख्यामे न्यूनाधिकता कोई नही कर सकता। वर्तमान स्थूल पर्यायके अनुसार इन्हीमेकी कुछ शक्तियाँ प्रकट होती है और कुछ अप्रकट। इन्हे पर्याय-योग्यता कहते हैं।

२–यह नियत है कि चेतनका अचेतन या अचेतनका चेतन रूपसे परिणमन नही हो सकता।

३–यह भी नियत है कि एक चेतन या अचेतन द्रव्यका दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूपसे परिणमन नही हो सकता।

४–यह भी नियत है कि दो चेतन मिलकर एक सयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नही कर सकते जैसे कि अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर अपनी सयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं।

५–यह नियत है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल और शुद्ध जीवका सदा शुद्ध परिणमन होता है अशुद्ध नहीं।

६–यह भी नियत है कि जीवका अशुद्ध परिणमन अनादिकालीन पुद्गल कर्म सम्बन्ध से हो रहा है और इसके सम्बन्ध तक ही रहेगा।

७–यह नियत है कि द्रव्यमे उस समय जितनी पर्याय योग्यताएँ हैं उनमे जिसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे वही परिणमन होगा, शेष योग्यताएँ केवल सद्भावमे रहेंगी।

८–यह अतिनियत है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिक्षण कोई न कोई परिणमन अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल योग्यता और पर्यायगत विकासोन्मुख योग्यताओंकी सीमाके भीतर ही होगा, बाहर कदापि नही।

९–यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्यकी योग्यताका ही विकास करता है, उसमे असद्भूत किसी सर्वथा नूतन परिणमनको उत्पन्न नही कर सकता।

१०–यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनका उपादान होता है। उस समयकी पर्याय-योग्यता रूप उपादानशक्तिके बाहरके किसी परिणमनको निमित्त कदापि नही उत्पन्न कर सकता। परन्तु—

यही एक बात अनियत है कि "अमुक समयमे अमुक परिणमन ही होगा" जिस परिणमनका अनुकूल निमित्त मिलेगा वही परिणमन आगे होगा। यह कहना कि 'मिट्टीकी उस समय यहाँ पर्याय होनी थी, अतः निमित्त उपस्थित हो गया' द्रव्य-पर्यायगत योग्यताओके अज्ञानका फल है।

इतना ही तो पुरुषार्थ है कि उन सम्भाव्य परिणमनोमें से अपने अनुकूल परिणमनके निमित्त जुटाकर उसे सामने ला देना।

देखो, तुम्हारा आत्मा अगले क्षण अतिक्रोधरूप भी परिणमन कर सकता था और क्षमारूप भी परिणमन कर सकता था। यह तो संयोगकी बात है जो मै इस ओर निकल पडा और तुम्हारी आत्मा क्षमा-रूपसे परिणति कर रहा हूं। मुझे या किसी निमित्तको यह अहङ्कार नही करना चाहिए कि मैंने यह किया; क्योकि यदि तुम्हारे आत्मामे क्षमारूपसे परिणमनकी विकासोन्मुख योग्यता न होती तो मैं क्या कर सकता था? अत उपादान योग्यताकी मुख्यतापर दृष्टिपात करके निमित्तको निरहङ्कारी बनना चाहिए और उपादानको भी अपने अनुकूल योग्यता प्रकटानेके लिए अनुकूल निमित्त जुटानेमे पुरुषार्थ करना चाहिए। यह समझना कि 'जिस समय जो होना होगा उसका निमित्त भी अपने आप जुटेगा' महान् भ्रम है। भद्र, यदि तुम योग्य निमित्तोके सुमेलका प्रयत्न न करोगे तो जो समर्थ निमित्त सामने होगा उसके अनुसार परिणमन हो जायगा। और यदि कोई प्रभावक निमित्त न रहा तो केवल अपनी भीतरी योग्यताके अनुसार द्रव्य परि-णत होता रहेगा। उसके प्रतिक्षणभावी परिणमनको कोई नही रोक सकता। एक जलकी धारा अपनी गतिसे बह रही है। यदि उसमे लाल रग पड जाय तो लाल हो जायगी और नीला पड जाय तो नीली। यदि कुछ न पड़ा तो अपनी भीतरी योग्यताके अनुसार जिस रूपमे है उस रूपसे बहती चली जायगी।

श्रमणनायकके इन युक्तिपूर्ण वचनोको सुनकर सद्दालपुत्तका मन भीज गया। वह बोला—भन्ते, आपने तो जैसे ओधेको सीधा कर दिया हो, अन्धेको आँखे दी हो। मेरा तो जनम-जनम का मिथ्यात्व नष्ट हो गया। मुझे शरणागत उपासक माने।

भिखारी भी भगवान्‌की शरणमे प्राप्त हुआ। उसने कर्मोकी शक्तिको पुरुषार्थ द्वारा परिवर्तित करने की दृष्टि पाई और जीवनमें श्रमके महत्त्वको समझा। उसने कर्मोदय की भ्रान्त धारणावश स्वीकार किए गए भिखारीपनेको तुरंत छोड दिया और उसी कुम्हारके यहाँ परिश्रम करके आजीविका करने लगा।

सद्दालपुत्त फिर बोला—भन्ते, सचमुच यह नियतिवाद महान् दृष्टिविष है। इसमे न हिंसा है, न दुराचार और न कोई पाप; क्योकि हिंसा या दुराचाररूपी घटनाओसे सम्बद्ध पदार्थोंके परिणमन जब नियत हैं उनमे हेरफेरकी कोई सम्भावना नही तब क्यो कोई हिंसक हो और क्यों कोई दुराचारी ? यज्ञमे की जानेवाली पशु हिंसा क्यो पाप हो ? उस समय बकरेको कटना ही था, बधकको काटना ही था, छुरेको बकरेकी गर्दनमें घुसना ही था आदि सभी पदार्थोंके परिणमन निश्चित ही थे तो क्यो उस काण्डको हिंसाकाण्ड कहा जाय ? इसी तरह जब हमारी प्रतिक्षणकी दशाएँ अनन्तकाल तककी निश्चित हैं तब क्या पुण्य और क्या पाप ? क्यों हम अहिंसादि चारित्रोको धारण करे ? क्यो दीक्षा लें ? क्योकि हमारा स्वयं अपने अगले परिणमनपर अधिकार ही नही है स्वकर्तृत्व ही नही है, वह तो नियत है। मानो दुनियाके पदार्थोंका अनन्तकालका टाइम-टेबुल बना हुआ हो और उसीके अनुसार यह जगत् चक्र चल रहा हो। भन्ते, आप महाश्रमण हैं, जो मेरे इस दृष्टिविषको उतारकर मुझे सम्यक् नियतानियतत्ववादकी अमृत संजीवनी दी। मुझे अपने पुरुषार्थ और कर्तृत्वका भान कराया।

श्रमणनायकने सद्दालपुत्त और भिखारीको आशीर्वाद दिया।

इसके बाद सद्दालपुत्तने भक्ति-भावसे श्रमणनायकको आहार दिया। भिखारी और सद्दालपुत्तके जीवनकी दिशा ही बदल गई। वे श्रमण सस्कृतिके सम और शमसे जीवन सशोधनकर अपने व्यवहारमे श्रमका महत्त्व समझे और परावलम्बनसे छूटकर सच्चे स्वावलम्बी बने।



कहानी

श्रमण प्रभाचन्द्र

राजपुरोहितने जब यह सुना कि श्रमण प्रभाचन्द्रने आज शूद्रोंको जैन दीक्षा दी है, और उन शूद्रोंने सहस्रकूट चैत्यालयमें जिनपूजा भी की है तो उसके बदनमें आग लग गई, आँखोमें खून उतर आया। भृकुटी चढ़ गई। ओठ चाबकर बोला—इस नंगेका इतना साहस, नास्तिक कहींका। वह तुरन्त राजा भोजके अध्ययन-कक्षमें पहुँचा और बोला—राजन्, सुना है ? उस श्रमण प्रभाचन्द्रने आज शूद्रोंको जैन दीक्षा दी है। मैंने तुम्हें पहिले ही चेताया था कि ये निर्ग्रन्थ तुम्हारे राज्यकी जड ही उखाड देंगे। जानते हो, प्राणिमात्र के समानाधिकार का क्या अर्थ है ? ये निरन्तर व्यक्तिस्वातन्त्र्य, समता और अहिंसाके प्रचार से तुम्हारी शासन-सत्ताकी नीव ही हिला रहे हैं। तुम इनकी वाक्सुधापर मुग्ध होकर सिर हिला देते हो। वेद और स्मृतियों-में प्रतिपादित जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था और वर्णधर्म ही तुम्हारी सत्ताका एकमात्र आधार है। 'राजा ईश्वर का अंश है' यह तत्त्व स्मृतियोमे ही मिल सकता है। आज, शूद्र तक व्यक्तिस्वातन्त्र्य, समता और समाना-धिकारके नारे लगा रहे है।

भोज—परन्तु, ये तो धर्मक्षेत्रमे ही समानताकी बात कहते है। इन निर्ग्रन्थो को राजकाजसे क्या मतलब ? ये तो प्राणिमात्रको समता, अहिंसा, अपरिग्रह, और कषायजयका उपदेश देते हैं। आचार्य, मैं सच कहता हूँ, उस दिन इनकी अमृतवाणी सुनकर मेरा तो हृदय गद्‌गद हो गया था।

पुरोहित—राजन्, तुम भूलते हो। कोई भी विचार-धारा किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नही रहती। उसका असर जीवनके प्रत्येक क्षेत्रपर पडता है। क्या तुमने इनके उपदेशो से शूद्रोका सिर उठाकर चलना नही देखा ? कल ही शिवमन्दिरके पुजारी से भग्गू मुँह लगकर बात कर रहा था। सोचो, तुम्हारी सत्ता ईश्वरोक्त वर्णभेदको कायम रखने मे है या इनके व्यक्तिस्वातन्त्र्यमे। हमारे ऋषियोने ही राजा में ईश्वरांशकी घोषणा की है और यही कारण है कि अब तक राजन्यवर्गके अभिजात कुलका शासन बना है। हमारा काम है कि तुम्हें समय रहते चेतावनी दें और तुम्हे कुलधर्ममें स्थिर करे।

भोज—पर आचार्य, श्रमण प्रभाचन्द्र का तर्कजाल दुर्भेद्य है। उनने अपने ग्रन्थोंमे इस जन्मजात वर्ण-व्यवस्थाकी धज्जियाँ उडा दी हैं।

पुरोहित—राजन्, तुम बहुत भावुक हो, तुम्हें अपनी परम्परा और स्थिति का कुछ भी भान नही है। क्या तुम्हे अपने पुरोहितके पाडित्यपर विश्वास नही है ? मैं स्वय वाद करके उस श्रमण का गर्व खर्व करूँगा। उस नास्तिकका अभिमान चूर कर दूँगा। वादका प्रबन्ध किया जाय।

भोज—पर वे तो राजसभामें आते नही है। हम सब ही उद्यानमे चले। और वहीं इसकी चर्चा हो। सचमुच, इनका उपदेश प्रजामे व्यापक असन्तोष की सृष्टि करके एक दिन सत्ताका विनाशक हो सकता है।

[उद्यान में आ० चतुर्मुखदेव और लघु सधर्मा गोपनन्दि के साथ प्रभाचन्द्रकी चरचा हो रही है। सपरिकर राजा भोज आकर वहीं बैठ जाते हैं]

गोपनन्दि—आपने जो शूद्रोको जैन दीक्षा दी है, इससे श्रमणसघके भी कुछ लोग असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि श्रमण प्रभाचन्द्र यह नई प्रथा चला रहे हैं। भन्ते, क्या पुराने आचार्य भी इससे सहमत हैं ?

प्रभाचन्द्र—अवश्य, मैने यह कार्य श्रमणपरम्पराकी मूलधाराके आधारसे ही किया है। सुनो, मैं तुम्हें पूर्वाचार्यों के प्रमाण सुनाता हूँ। वरागचरित मे आ० जटासिहनन्दि स्पष्ट शब्दो में लिखते हैं कि—

"क्रियाविशेषात् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥"

—वरागचरित २५।११

अर्थात्—शिष्टजन इस वर्णव्यवस्था को अहिंसा आदि व्रतोका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना तथा शिल्पवृत्ति इन चार प्रकार की क्रियाओ मे ही मानते हैं। यह वर्णव्यवस्था केवल व्यवहार के लिए है। क्रिया के सिवाय अन्य कोई वर्णव्यवस्था का हेतु नही है। रविषेण पद्मचरित मे लिखते हैं—

"तस्माद् गुणैर्वर्णव्यवस्थिति'।

ऋषिशृंगादिकानां मानवानां प्रकीर्त्यते।
ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसंभवात् ॥
चातुर्वर्ण्यं तथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम्।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धि भुवने गतम् ॥"

—पद्मचरित ११।१९८–२०५

अर्थात्—वर्णव्यवस्था गुण कर्मके अनुसार है, योनिनिमित्तक नही। ऋषिशृग आदिमें ब्राह्मण व्यवहार गुणनिमित्तक ही हुआ है। चातुर्वर्ण्य या चाण्डाल आदि व्यवहार सब क्रियानिमित्तक है।

"व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।" —पद्मचरित ११–२०

अर्थात्—व्रतधारी चाण्डाल ब्राह्मण कहा जाता है।

जिनसेन आदिपुराण मे लिखते हैं—

"मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदात् चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनात् न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥"

—आदि पु० ३८।४५–४६।

अर्थात्—जाति नामकर्म से तो सबकी एक ही मनुष्य जाति है। ब्राह्मण आदि चार भेद वृत्ति अर्थात् आचार-व्यवहार से हैं। व्रत सस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और सेवावृत्ति से शूद्र होते हैं।

गोपनन्दि—तो क्या शूद्र इसी पर्याय मे शुद्ध हो सकते हैं ? क्या मुनिदीक्षा के भी अधिकारी हैं ?

प्रभाचन्द्र—हाँ आयुष्मन्! सोमदेव आचार्य ने अपने नीतिवाक्यामृतमे अत्यन्त स्पष्टता से लिखा है कि—

"आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरि-कर्मसु योग्यान् ।"

अर्थात्—निर्दोष आचरण, गृहपात्र आदि की पवित्रता और नित्य स्नान आदि के द्वारा शरीर शुद्धि ये तीनों बातें शूद्रों को भी देव द्विजाति और तपस्वियों के परिकर्म के योग्य बना देती हैं।

अब तो पुरोहित का पारा और भी गरम हो गया। वह क्रोध से बोला—राजन्, इन नास्तिकों के पास बैठने से भी प्रायश्चित्तका भागी होना पड़ेगा।

"पुरोहित जी, नास्तिक किसे कहते हैं?" हँसते हुए प्रभाचन्द्र ने पूछा।

"जो वेदकी निन्दा करे वह नास्तिक" रोष भरे स्वरमें तपाक से पुरोहित ने उत्तर दिया।

"नहीं, पाणिनि ने तो उसे नास्तिक बताया है जो आत्मा और परलोक आदि की सत्ता नहीं मानता। यदि वेदको नहीं माननेके कारण हम लोग नास्तिक हैं तो यह नास्तिकता हमारा भूषण ही है।" तर्कपूर्ण वाणीमें प्रभाचन्द्रने कहा।

भोज—महाराज, इस झगड़ेको समाप्त कीजिए। यदि आपकी अपनी परिभाषा के अनुसार ये नास्तिक हैं तो इनकी परिभाषा के अनुसार आप मिथ्यादृष्टि भी हैं। ये तो अपनी-अपनी परिभाषाएँ हैं। आप प्रकृत वर्णव्यवस्थापर ही चरचा चलाइए।

पुरोहित—आपने शूद्रको दीक्षा देकर बड़ा अनर्थ किया है। ब्रह्माके शरीर से चारों वर्ण पृथक्-पृथक उत्पन्न हुए हैं। जन्मसे ही उनकी स्थिति हो सकती है, गुणकर्म से नहीं।

प्रभाचन्द्र—ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है या नहीं? यदि नहीं, तो उससे ब्राह्मण कैसे उत्पन्न हुआ? यदि है; तो उससे उत्पन्न होनेवाले शूद्र आदि भी ब्राह्मण ही कहे जाने चाहिए। ब्रह्माके मुखमें ब्राह्मणत्व, बाहु में क्षत्रियत्व, पेटमें वैश्यत्व और पैरोंमें शूद्रत्व मानना तो अनुभवविरुद्ध है। इस मान्यतामें आपका ब्रह्मा भी अक्षत शूद्र हो जायगा। फिर आपको ब्रह्माजी के पैर नहीं पूजना चाहिए क्योंकि वहाँ तो शूद्रत्व है।

पुरोहित—समस्त ब्राह्मणोंमें नित्य एक ब्राह्मणत्व है। यह ब्राह्मण माता-पितासे उत्पन्न हुए शरीर में व्यक्त होता है। अध्यापन, दानग्रहण, यज्ञोपवीतग्रहण आदि उसके बाह्य आचार हैं। प्रत्यक्ष से ही 'यह ब्राह्मण है' इस प्रकार का बोध होता है।

प्रभाचन्द्र—जैसे हमें प्रत्यक्ष से 'यह मनुष्य है, यह घोड़ा है' इस प्रकार मनुष्य आदि जातियों का ज्ञान हो जाता है उस प्रकार 'यह ब्राह्मण है' यह बोध प्रत्यक्ष से नहीं होता अन्यथा 'आप किस जाति के हैं?' यह प्रश्न ही क्यों किया जाता? यदि ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता तथा शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न हुए बच्चोंमें घोड़ी और गधे से उत्पन्न खच्चर की तरह आकृति भेद दिखाई देता तो योनिनिबन्धन ब्राह्मणत्व माना जाता। फिर जब स्त्रियों का इस जन्ममें ही भ्रष्ट होना सुना जाता है तो अनादिकाल से आज तक कुलपरम्परा शुद्ध रही होगी यह निश्चय करना ही कठिन है। यदि ब्राह्मणत्व जाति गोत्वजाति की तरह नित्य है और वह यावज्जीवन बराबर बनी रहती है तो जिस प्रकार चाण्डाल के घर में रहने-वाली गायको आप दक्षिणामें ले लेते हो और उसका दूध भी पीते हो उसी तरह चाण्डाल के घरमें रही हुई ब्राह्मणी को भी ग्रहण कर लेना चाहिए क्योंकि नित्य ब्राह्मणत्व जाति तो उसमें विद्यमान है। यदि आचार भ्रष्टता से ब्राह्मणी की जाति नष्ट हो गई है तो आचारशुद्धि से वह उत्पन्न क्यों नहीं हो सकती? आप जो शूद्रके अन्नसे, शूद्रसे बोलनेपर, शूद्रके सम्पर्क से जातिलोप मानते हो वह भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि आपके मतसे जाति नित्य है उसका लोप हो ही नहीं सकता।

अच्छा, यह बताइए कि आप ब्राह्मणत्व जीवमें मानते हो या शरीरमें या दोनोंमे या संस्कारमें या वेदाध्ययनमें ? जीव तो शूद्र आदि सभीमे विद्यमान है अत उनमे भी ब्राह्मणत्व होना चाहिए। शरीर भी पञ्चभूतात्मक सबके समान है। यदि संस्कारमें ब्राह्मणत्व माना जाता है; तो संस्कार शूद्र बालकमें भी किया जा सकता है। यदि संस्कारके पहिले ब्राह्मण बालकमे ब्राह्मणत्व मानते हो तो सस्कार करना व्यर्थ ही है। यदि नहीं मानते तो जैसे ब्राह्मणत्वशून्य ब्राह्मण बालकमे संस्कारसे ब्राह्मणत्व आ जाता है उसी तरह शूद्र-बालकमें भी संस्कारसे ब्राह्मणत्व आ जाना चाहिए। रही वेदाध्ययनकी बात, सो शूद्र भी देशान्तरमें जाकर वेदाध्ययन कर सकता है और करा सकता है। किन्तु इतने मात्रसे आप उसमे ब्राह्मणत्व नही मानते। अतः यह समस्त ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश गुणोके आधारसे है। यदि जन्मना वर्णव्यवस्था हो तो ब्रह्म, व्यास, विश्वामित्र आदिमें गुणकृत ब्राह्मणत्व आप स्वयं क्यो मानते हो ?

पुरोहित—तो क्या जैन ग्रन्थोमे बताई गई वर्णाश्रम व्यवस्था झूठी है ?

प्रभाचन्द्र—नहीं, झूठी क्यों होगी। प्रश्न तो यह है कि वर्णव्यवस्था जन्मसे है या गुणकर्मसे ? अत जिन-जिन व्यक्तियोंमें जो-जो गुण-गुण-कर्म पाए जायेंगे उसीके अनुसार उसमें ब्राह्मण आदि व्यवहार होगा और तदनुकूल ही वर्णाश्रम व्यवस्था चलेगी। जैनदर्शन तो व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी है। उसमें पुरुषार्थको बड़ी गुञ्जाइश है। जैसे-जैसे गुण-धर्मोंका विकास व्यक्ति करेगा उसीके अनुसार उसमे ब्राह्मणत्व आदि व्यवहार होंगे। शूद्र इसी जन्ममें अपने पुरुषार्थके द्वारा सर्वोच्च मुनिदीक्षा ले सकता है। मैंने न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ (पृ० ७७८) मे स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि—

"क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायाः तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः।"

अर्थात्—यह समस्त ब्राह्मणादि व्यवहार क्रियामूलक है, नित्य और जन्ममूलक ब्राह्मणत्व आदि जातियें नहीं।

भोज प्रभाचन्द्रके अकाट्य तर्कोंसे अत्यन्त प्रभावित हुआ और पुरोहितराजसे बोला कि—देखो, मैंने पहिले ही कहा था कि ये श्रमण अपनी आध्यात्मिक भूमिकापर समता और व्यक्तिस्वातन्त्र्यके सन्देशवाहक हैं। ये तो अत्यन्त अपरिग्रहवादी हैं। उनके जीवनमे राजकारणका कोई महत्त्व नही है। इनका नग्नत्व स्वयं परम व्यक्तिस्वातन्त्र्य का साक्षी है। ये प्राणिमात्रके प्रति मैत्री भावना रखनेवाले हैं। अत यदि इनने शूद्रोंको दीक्षा दी है तो हमे चिन्तित होनेकी आवश्यकता नही है। इन्हें अपनी आध्यात्मिक समताका प्रचार करने देना चाहिए। इससे मानवजातिका समुत्थान ही होगा।

भोज सपरिकर श्रमणोंको वन्दनाकर बिदा हुए।

राजपुरोहितके बादकी चरचा बात ही बातमे धारानगरीमे फैल गई। आ० चतुर्मुख और समस्त श्रमणसघ हर्षविभोर हो गए।

कहानी

अमृत दर्शन

"चक्रवर्ती होकर भी विरक्त। असंभव बात है। अनेक नवयौवना महारानियों और विपुल सुखसामग्रीका भोक्ता उदासीन, कल्पना की बात है। वैभव और आत्मदर्शन तीन और छहकी तरह विरोधी हैं।"

"नही, बन्धु, असभव कुछ नही है और न कल्पना ही है। वैराग्य और उदासीनता अन्तरकी परिणति है, विभूति और वैभव बाह्य पदार्थ हैं। मात्र दृष्टि फेरनेसे नकशा ही बदल जाता है।"

सोमदत्त और यज्ञदत्त दो द्विजकुमार आपसमे बतया रहे थे। दोनोने निश्चय किया कि यदि सच-मुच भरतको आत्मदृष्टि प्राप्त है तो यह विद्या उनसे सीखनी चाहिये। पुराने जमानेमें अध्यात्मविद्या क्षत्रियों के पास ही रही है, यह सुना जाता है।

दोनो महाराज भरतके दरबारमे पहुँचे।

सोमदत्त—महाराज, सुना है कि आपको आत्मदर्शन हो गया है। छहखंडके अखण्ड साम्राज्यको सम्हालते हुए भी आत्मदर्शन ? कुछ समझमे नही आता।

यो भाटो और चारणोंके द्वारा अन्य विभूतियोकी तरह एक यह भी शोभावर्णन हो तो हमें कुछ कहना नही है। हम अपना चौबीसो घटा अग्निहोत्र आदि क्रियाओंमें लगाते हैं और सतत धर्मकी आराधना करते है पर हमे अभी तक आत्माके दर्शन नहीं हो सके। आप हमें वह उपाय बतावें जिससे आपको आत्मदृष्टि प्राप्त हुई है।

महाराज भरत मुस्कुराये। उनने कहा—विप्रकुमार, मुझे इस समय कुछ आवश्यक राजकाज है। आप लोग तबतक हमारे राजकोश और वैभवका निरीक्षण करके वापिस आइए फिर शान्तिसे आत्मचर्चा करेंगे। हम आपको एक-एक अमृतपात्र देते हैं इसे हथेलीपर रखकर ही आप कटक–निरीक्षणके लिए जायेंगे। ध्यान रहे, इसकी एक बूंद भी न छलक पावे, अन्यथा राजदड भोगना होगा।

दोनो विप्रकुमार दरबानके साथ हथेलीपर अमृतपात्र रखे हुए कटकमे गये।

दरवानने एक-एक करके राजकोश, अश्वशाला, गजशाला, सेनानिवास, रानियोंके अन्तःपुर आदि दिखाये।

दो घंटेमे समस्त कटक घूमकर विप्रकुमार वापिस आये।

महाराज भरत विचारमग्न थे। आते ही विप्रकुमारोंसे पूछा—क्यो भाई, कटक देख आये ? अन्तःपुर गए थे ? कैसा लगा ?

द्विजकुमार सिटपिटाये और बोले—महाराज, शरीरसे घूमनेकी क्रिया तो अवश्य हुई पर सिवाय इस अमृतपात्रके हमने कुछ नही देखा। हमे इसके छलकनेकी चिन्ता प्रतिक्षण लगी थी। दरबानके शब्द कानों तक जाते थे, पाकशालामें पकवानोंकी सुगन्धित नाक तक आई थी, प्यास लगनेपर सुन्दर पानक भी पिया था, अन्तःपुरकी सुकोमल शय्याओंपर भी बैठे थे और इन आँखोंने सब कुछ देखा पर इन्द्रियाँ तो सुनने, सूँघने, चखने और छूनेवाली नही हैं, हमारा मन और आत्मा तो इस अमृतकी ओर था। यह चिन्ता थी कि कही इसकी एक भी बूंद न छलक जाय।

सो महाराज, हमने सिर्फ इस अमृतपात्रको ही देखा है, कटक आदिको देखते हुए भी नहीं देखा।

"हैं, 'देखते हुए भी नहीं देखा' झूठ। यह कैसे हो सकता है?" भरतने विनोदमें कहा।

"महाराज, हमारी दृष्टि इस अमृतपर थी। इस अमृतकी एक बूंद हमारी आत्माके बराबर थी। इसकी एक बूंदसे हमारी आत्मा तुल रही थी।" द्विजकुमारने कहा।

भरतने फिर पूछा—

"यह अमृत कैसा लगा?"

द्विजकुमार बोला—

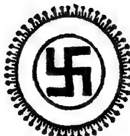
"महाराज, यह अमृत नहीं था, यह तो हमारी आत्मा थी। इसके द्वारा हमें अपनी आत्माका दर्शन हो रहा था। उसका मोल मालूम हो रहा था और उसकी तौल भी। कानोंमें सुनाई देता था कि बूंद न छलके, सावधान बूंद न छलके। बूंद-बूंद-बूंद। एक ही शब्द, एक ही अर्थ और एक ही भाव चारों ओर व्याप्त था। दो घंटेका प्रत्येक क्षण बूंद दर्शन, बूंद चिन्तन, बूंद मनन और अन्तत बूंदमय हो रहा था। और सामने दूसरा दृश्य था—फाँसीका—कदाचित् बूंद छलक गई तो रेशमकी डोरी गलेमें पड़ेगी। बस, इसी भयसे अपनी सारी शक्तिसे अमृतपात्रको थामे रहे और आपकी इस अमृत-निधिको आप तक ले आये हैं?

भरतने गम्भीरतापूर्वक कहा—द्विजकुमार, जिस प्रकार तुम्हें प्राणदण्डके भयमें इस अमृतपात्रका ही एकमात्र ध्यान रहा और तुम कटकको देखकर भी नहीं देख सके उसी तरह हमें स्वभावत अपने रुचिसे ही अपनी आत्मारूपी अमृतकुम्भमें गुणरूपी रसके बूंदोंके छलकनेका सदा ध्यान रहता है। मेरा एकमात्र प्रयत्न आत्म-गुणोंके संरक्षणका है। मुझे यह पता रहता है कि आत्माने इस समय पाप या अन्याय किया। मुझसे अनेक प्रकारके हिंसा, परिग्रह, अनाचार सम्बन्धी भी कार्य परवश हो जाते हैं पर वे मेरे अनजानमें नहीं। उन्हें मैं हेय जानता हूँ और उनपर परदा डालकर या प्रवृत्तिका आवरण देकर आत्माको धोखेमें नहीं डालता। परको पर और स्वको स्व मानता हूँ। जितना और जबतक कर्त्तव्यका भार है तबतक उसको निभाता हूँ। मैं सदा जागरूक हूँ। मुझे अपने अच्छे-बुरेका सम्यक्-दर्शन है।

द्विजकुमार—महाराज, आपको आत्मदर्शन कैसे हुआ?

भरत—कुमार, तुमने सुना होगा और देख भी रहे हो कि मेरा रूप कामके समान अप्रतिम है। मुझे भी अपनी देहके बनाव-शृंगारमें रस था। मेरी आभूषण और वस्त्रोंकी नवनवप्रियता रूपको चकाचौंधया देती थी। एक दिन मैं वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर अपने रूपके अहंकारमें मदमाता हो दर्पणमें अपना सौन्दर्य देखकर फूला नहीं समा रहा था कि अचानक मेरे दाहिने हाथकी अँगुलीसे मणिमय अँगूठी गिर पड़ी। उसके निकलते ही वह अँगुली श्रीहीन हो गई। मैंने क्रमश शेष नौ अँगूठियोंको भी निकाल डाला और देखा तो वे सब शोभाहीन मालूम होने लगीं। मैंने सोचा—इस उधार ली हुई शोभासे क्या लाभ? जिस दिन ये अँगूठियाँ न रहीं उस दिन मेरी सारी शोभा समाप्त? इसका क्या अहंकार? हमें अपनी आत्माकी शोभा बढ़ानेका प्रयत्न करना चाहिये, उसीका शृंगार करना चाहिये जिसे न चोर चुरा सकता है और न जिसके गिरनेका ही डर है। उसी क्षणमें मेरा मन अन्तर्मुख हो गया। सच पूछा जाय तो यह जगत् दृष्टि-सृष्टि है। जिसकी जैसी दृष्टि है उसे वह वैसा ही मालूम होता है और यह शेखचिल्ली अपनी उधेड़ बुनमें ही इस दुर्लभ मनुष्यजन्मको निकाल देता है। सीधा सा मार्ग है स्व को स्व और पर को पर समझो। और इस स्वतत्त्वके प्रति निष्ठा ही अनन्त मुक्तिमें परिणत हो जाती है।

द्विजकुमार—राजर्षि, हमारा भ्रम दूर हुआ। आपने तो जैसे औंधेको सीधा कर दिया हो। आज हमें मालूम हुआ कि यज्ञ, यागादि क्रियाकांडोंका लक्ष्य भोग है, मुक्ति नहीं। ये भौतिक उद्देश्यसे किये जाने-वाले हैं आत्म-दर्शनके लिए नहीं। 'प्लवा ह्येतेऽदृढाः' ये यज्ञादि संसारसमुद्रसे तारनेके लिए समर्थ नहीं हैं। एकमात्र सद्-दृष्टि और आत्म-दर्शन ही तारक है, साधन है और धर्म है।



जटिल मुनि

"मुनिवर, आज बडा अनर्थ हो गया। पुरोहित चण्डशर्माने चौलुक्याधिपति को शाप दिया है कि–दस मुहूर्तमे वह सिंहासनके साथ पाताल हमे धँस जायँगे। दुर्वासाकी तरह वक्र भ्रकुटि, लालनेत्र और सर्पकी तरह फुंफकारते हुए जब चण्डने शाप दिया तो एक बार तो चौलुक्याधिपति हतप्रभ हो गये। मैं उन्हें सान्त्वना तो दे आया हूँ। पर जी आन्दोलित है। मुनिवर, चौलुक्याधिपतिकी रक्षा कीजिए।" राजमन्त्रीने घबडाहटसे कहा।

जटिलमुनि—मन्त्रिवर, घबडानेकी बात नही है। क्या चौलुक्याधिपतिने पुरोहितकी सम्पत्ति छीन ली या उसका अपमान किया ? बात क्या हुई ?

मन्त्री—कुछ नही मुनिवर, राजसभामे चर्चा चल रही थी कि यह वर्णभेद क्यो हुआ। इसी प्रसग मे चौलुक्याधिपतिने कहा था कि—"जब प्रजाओंका बनानेवाला एक ही ब्रह्मा है तब यह जातिभेद कैसा ? एक ही पिता की चार सन्तानोमे जातिभेदकी कल्पना बुद्धिगम्य तो नही है। जैसे कि एक वृक्षकी विभिन्न शाखाओमे उत्पन्न होनेवाले फलोमे जातिभेद नही है उसी तरह एक ब्रह्माकी सन्ततिमे यह जन्मना जातिभेद कहाँसे आ गया ? ब्राह्मण ही चन्द्रमाके समान गौर वर्ण, क्षत्रिय ही छेवलेके फूलके समान आरक्त वर्ण, वैश्य ही पीतवर्ण तथा शूद्र ही कृष्णवर्ण नही देखे जाते, सभी वर्णोमे सभी प्रकारके मनुष्य हैं। हमारे पुरोहित-जी ही का रग कृष्ण है। सभी वर्णवालोका चलना-फिरना, शरीर, केश, खून, चमडा, हड्डी आदि एक जैसे हैं उनमे कोई तात्त्विक वर्णभेद नही है फिर यह मानव-मानवमे विषमता कैसी ?" इतना सुनते ही पुरोहित चण्डशर्माका पारा तेज हो गया। वे राजसभाकी मर्यादाको भूल गये और बोले—चौलुक्याधिपति, सावधान, तुम ब्रह्मतेजको नही जानते। क्या वेद प्रतिपादित सत्युगसे प्रचलित वर्ण व्यवस्था झूठी है ? उस समय भी चौलुक्याधिपतिने पुरोहितको शान्त करते हुए नम्र भावसे कहा कि पुरोहितजी, आपने ही पहिले यह बताया था कि कृतयुगमे वर्णभेद नही था, त्रेतामे भी प्रजाएँ वर्णविहीन थी। द्वापर युगमें ही यह वर्ण-व्यवस्था प्रचलित की गई तथा कलियुगमे लोभ, मोह, द्वेष, विश्वासघात आदिसे वर्णव्यवस्था चौपट हो गई है। आप ही बताइए कि श्रेष्ठ काल तो वही है जिसमे सभी मानव समानतासे रहते थे, यह जातिगत उच्चनीच भाव नही था। इस व्यवस्थाके मूलमे ब्राह्मणप्रभुत्वकी भावना ही कार्य कर रही है। मानव जातिका एक बड़ा भाग अछूत और अस्पृश्य बना हुआ है, उनकी दशा पशुओसे भी बदतर है। चौलुक्याधिपतिके इन सयुक्तिक वाक्योने भी चण्डशर्माकी क्रोधाग्निमे घी का काम किया। वह आपेसे बाहर होकर चौलुक्याधिपति से बोला—मूर्ख, तू इन श्रमणोके चक्करमे है। अब तेरा विनाश काल निश्चित है। शास्त्रपातकिन्, तू दस मुहूर्तमें ही ससिंहासन पातालमें धँस जायगा, मैं अनुष्ठान करता हूँ। इतना कहकर पुरोहित राजसभासे जाने लगा। मैंने अधिपतिकी रक्षाके लिए पुरोहितको जेलमें डाल दिया है। वह वही मन्त्र-पाठ कर रहा है। मुनिवर, समय थोडा है। मेरा चित्त भी कुछ चंचल हो रहा है।

जटिलमुनि—मन्त्रिवर, चिन्ताकी विशेष बात नही है। मन्त्र अपनेमे कोई सामर्थ्य नही रखता। वे शब्द जिनका मुखसे उच्चारण किया जाता है, पौद्गलिक हैं। असली शक्ति तो उच्चारणकर्ताकी आत्म-शक्ति है। आत्मबल ही शब्दोके द्वारा सामने वालेके ऊपर अपना प्रभाव डालता है। फिर जब अमुक शब्दों के द्वारा दस-बीस प्रभावशाली व्यक्ति आत्मप्रभाव व्यक्त कर चुकते हैं तो वही मन्त्र बन जाता है।

जिन शब्दोंके पीछे जितने अधिक समर्थ पुरुषोंका साधनाबल रहता है वे दूसरे साधकोंको उतने ही शीघ्र मनकी एकाग्रता करके अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं। यही मन्त्रसामर्थ्यका रहस्य है। आप शीघ्र जाकर चौलुक्याधिपतिको यहाँ लिवा लाइए।

इतनेमें ही सपरिकर चौलुक्याधिपति स्वयं आकर नमस्कार करके मुनिराजसे बोले—

मुनिवर—चण्डशर्माको शाप दिए हुए आठ मुहूर्त व्यतीत हो गए, पर अभी तक तो पातालमें जाने जैसी बात नहीं दीखती। फिर भी मेरा मन भावी अनिष्टकी आशंकासे विचलित सा हो रहा है।

जटिलमुनि—राजन्, आप चिन्ता न करें। आप क्षत्रिय परम्पराको स्वीकार करनेवाले दृढ़परिकर्मा वीर पुरुष इन अन्धविश्वासोंको छोड़ें और अपने क्षात्रवीर्यका स्मरण करें तथा मनसे हिंसा और द्वेषबुद्धि निकालकर जगत्कल्याणकी सर्वभूतमैत्रीकी भावना भावें। उस अनुपम आत्मरसमें विभोर होकर अब आप मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावमें लीन होंगे तब इन कषायाविष्ट पामर-जनोंकी शक्ति अनायास ही कुण्ठित हो जायगी। आप समस्त विकल्पोंको त्यागकर निराकुल होइए और परम अहिंसक भावोंकी आराधना कीजिए। सब अच्छा ही होगा। मैं आपकी रक्षाका प्रबन्ध भी कर देता हूँ।

मुनिराजने राजाके आश्वासनके लिए कुछ क्रिया कर दी। राजा, मन्त्री आदि सभी शान्त वातावरण में अहिंसा और अद्वेषका विचार करने लगे। इस अहिंसक चरचामें पता नहीं चला कि दस मुहूर्त कब बीत गए। जब चरचा टूटी तो चौलुक्याधिपतिका ध्यान घटिका यन्त्रपर गया वह हर्षातिरेकसे बोला, ग्यारह मुहूर्त हो गए। बुलाओ उस मिथ्याचारीको। ये झूठे ही शापका भय दिखाते हैं। इन लोगोंने न जाने कितने अज्ञानी लोगोंको शापके भयसे त्रस्त कर रखा है। एक मामूली द्वारपालके आदेश से ये हतप्रभ होते हैं और हमारी अनुवृत्तिके लिए ही शास्त्र, मन्त्र और शाप आदिके हथियारोंका प्रयोग करते हैं। चौलुक्याधिपतिको इस तरह क्रोधाविष्ट देखकर मुनिराज जटिलने कहा—राजन्, क्षमा वीरोंका भूषण है। आप चण्डशर्माके हृदयके चण्डत्वको जीतिए जिससे वे स्वयं मानव-समत्वके पुण्यदर्शन कर सकें और अपने प्रभावका उपयोग व्यक्ति और जातिगत स्वार्थसे हटाकर मानवमात्रके उद्धारमें लगावें।

इतनेमें द्वारपाल चण्डशर्माको लेकर आ गया। देखते ही चौलुक्याधिपतिका क्रोध फिर भभका। पर मुनिराज जटिलने उन्हें शान्त कर दिया। उनने चण्डशर्मासे आश्वस्त वाणीमें कहा—

पुरोहितजी, शक्ति और प्रभावका उपयोग मानवमात्र ही नहीं प्राणिमात्रके कल्याणमें करना चाहिए। इस जीवनको जगदुपकारमें लगाइए। जाति, कुल, रूप आदि देहाश्रित है। वर्ण आजीविका और क्रियाके आधीन हैं ये तो व्यवहार है। यह तो आपको विदित है कि—व्यास, वसिष्ठ, कमठ, कठ, द्रोण, पराशर आदि जन्मसे ब्राह्मण नहीं थे पर तपस्या और सदाचार आदिसे उनने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। यह संसार एक रंगशाला है। इसमें अपनी वृत्तिके अनुसार यह जीव नाना वेशोंको धारण करता है। कम से कम धर्मका क्षेत्र तो ऐसा उन्मुक्त रहना चाहिए जिसमें मानवमात्र क्या प्राणिमात्र शान्तिलाभ कर सके। आप ही बताइए, शूद्र यदि व्रत धारण कर ले और सफाई से रहने लगे, विद्या और शीलकी उपासना करने लगे, मद्य, मांसादि को छोड़ दे तो उसमें और हममें क्या अन्तर रह जाता है? शरीरका रक्त, मांस, हड्डी आदि में क्या जातिभेद है? शरीरमें तो ब्राह्मणत्व रहता नहीं है। आत्माके उत्कर्ष का कोई बन्धन नहीं है। आज ही राज्यमें अनेक तथोक्त नीचकुलोत्पन्न भी ऊँचे पदोंपर प्रतिष्ठित हैं। हमारा तो यह निश्चित सिद्धान्त है कि—

क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥"

—वरांगचरित २५।११

अर्थात्—दया आदि व्रतोंके धारण करनेसे, रक्षा-कार्य करने से, कृषि करने से और शिल्प आदि से ही ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंकी व्यवस्था है। यह क्रियाश्रित है और व्यवहारमात्र है। दूसरे प्रकार से वर्ण व्यवस्था नहीं है।

जटिलमुनिके इन शम और समपूर्ण वचनोंको सुनकर चण्डशर्मा पानी-पानी हो गया। वह गद्गद हो चरणोंमें पड़कर बोला—श्रमणवर, आज आपने मुझे सच्चे ब्राह्मणत्वका मार्ग बताया। मेरी तो जैसे आँखें-ही खोल दी हों। आज तो मुझे दुनिया कुछ दूसरी ही दिख रही है। मेरा तो नकशा ही बदल गया है। मुनिवर, मुझे उपासक मानें। आपने चालुक्येश्वर की कोपाग्निसे मेरी रक्षा की, मुझे अभय दिया। धन्य।



तीर्थंकर महावीर

जन्म और विहार क्षेत्र

तीर्थंकर महावीरने बिहार की पुण्यभूमि वैशालीमें आजसे २५५६ वर्ष पूर्व जन्म लिया था। तीस वर्ष की भरी जवानीमें राज्य वैभव त्याग कर वे आत्मसाधनामें लीन हुए थे, व्यक्ति की मुक्ति और समाजमें शान्ति का मार्ग खोजनेके लिए। १२ वर्ष की दीर्घ तपस्याके बाद उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ और वे उसके बाद ३० वर्ष तक बिहार, उड़ीसा, बंगाल और उत्तरप्रदेशमें सतत पाद विहार कर उपदेश देते रहे। उनके तथा शास्ता बुद्धके विहारके कारण ही प्रान्त का नाम बिहार पड़ा। वीर भूमि (वीर भूम) और वर्धमान (बर्दवान) जिले तीर्थंकर महावीरके विहार (विचरण) की साक्षी दे रहे हैं।

वे तीर्थंकर थे

तीर्थंकर वह व्यक्ति बन पाता है, जो जन्म-जन्मान्तरसे यह उत्कट भावना रखता है कि—मुझे जो शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त हो वह जगत्के कल्याण व उद्धारके लिए अर्पित है। संसारके प्राणी अज्ञान-अन्धकार और तृष्णाके जालमें पड़े हुए हैं। कैसे वे प्रकाश पाएँ और तृष्णाके जालको तोड़ कर सन्मार्गमें लग सकें, इसी पवित्र भावनासे व्यक्ति तीर्थंकर बनता है; मोक्षमार्ग का नेता होता है। वह अपने अनुभूत धर्म मार्ग का विश्व कल्याणके लिए उपदेश देता है और अपने को खपा देता है जगत्के उद्धारमें। तीर्थंकर स्वयं तीर्थ अर्थात् धर्म मार्ग का कर्ता होता है। वह किसी शास्त्रमें या ग्रन्थमें लिखे हुए धर्म मार्ग का प्रचारक नहीं होता, किन्तु अपने जीवनमें जिस धर्म का साक्षात्कार करता है और जिस मार्गसे अपनी आत्मा की मुक्ति का द्वार पाता है, उसी धर्म का वह उपदेश देता है। जिस मार्गसे वह तरता है, वही मार्ग दूसरों को बताता है। वह तरण-तारण होता है। उनके तीर्थके मुख्य आधार ये हैं—

पुरुष स्वयं प्रमाण है

धर्मके स्वरूपके निश्चय करनेमें परम्परासे आए हुए वेद या शास्त्र एकमात्र प्रमाण नहीं हो सकते; किन्तु निर्मल और तत्त्वज्ञानी आत्मा स्वयं धर्म का साक्षात्कार कर सकता है। वह स्वयं अपने धर्म मार्ग का निर्णय कर सकता है। इस तरह वेद या शास्त्रके नाम पर एक वर्ग की, जो धर्म का अधिकारी बना हुआ था, वह धर्म की जो व्याख्या करता था, वही सबको मान्य करनी पड़ती थी, बुद्धि की इस गुलामी को तीर्थंकरने उतार फेंका और कहा कि—व्यक्ति अपनी साधनासे स्वयं वीतरागी बन सकता है और वह केवलज्ञान—पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिसके बल पर वह धर्म का साक्षात्कार कर सकता है और धर्म मार्ग का निर्णय भी कर सकता है। कोई भी वाक्य या शब्द, चाहे वे वेदमें लिखे हों या अन्य किसी शास्त्रमें, स्वतः (अपने आपमें) प्रमाण नहीं हो सकते। शब्द या वाक्य की प्रमाणता वक्ता (बोलने वाले) के प्रामाण्य (प्रामाणिकता) पर निर्भर होती है। जिन शब्दों का कहने वाला वक्ता वीतरागी और तत्त्वज्ञ है, वे ही शब्द प्रमाण होते हैं; अर्थात् शब्दोंमें प्रमाणता स्वयं की नहीं है, किन्तु बोलने वाले व्यक्ति की है।

एक बात विशेष रूपसे ध्यान देने की है कि श्रमण संस्कृतिके महान् ज्योतिर्धर तीर्थंकर महावीर और शास्ता बुद्ध दोनों क्षत्रिय थे। उस समय धर्मके एक मात्र अधिकारी ब्राह्मण थे। किन्तु महावीर और बुद्धने स्वयं साधना करके धर्मके ऊपर वेद और ब्राह्मण वर्गके ही एक मात्र अधिकार की परम्परा को तोड़ कर स्वयं धर्म का उपदेश दिया। यह एक महान् विचारक्रान्ति थी। ये क्षत्रिय कुमार धर्ममें स्वयं प्रमाण बन कर धर्म तीर्थके कर्ता हुए। इतना ही नहीं, किन्तु इन्होंने धर्म का द्वार मानवमात्रके लिए खोल दिया था। इन्होंने रूढ़ वर्ण-व्यवस्थाके शिकंजेमें जकड़ी हुई मानवता को त्राण दिया और स्पष्ट कहा कि—

वर्ण व्यवस्था व्यवहार के लिए है

आजीविकाके उपायों का वर्गीकरण वर्णव्यवस्था का मुख्य प्रयोजन है। यह सामाजिक व्यवस्था का तत्कालीन प्रयोग है। इसके आधार पर धर्माधिकारमे भेद नही किया जा सकता। कोई भी मनुष्य धर्मके किसी भी पद को अपनी साधनासे पा सकता है। उसके पानेमे उसका शरीर बाधक नही होगा। उन्होंने जन्म-सिद्ध वर्ण व्यवस्थाके विरुद्ध अपने सघमे चाडाल, माली, कहार, नाई आदि जन्मसे कहे जाने वाले शूद्रों को भी शामिल किया। और उनके लिए धर्म का द्वार ही नही खोला, बल्कि अपने सघमें उन्हें वही दरजा दिया, जो किसी उच्च वर्णवाले ब्राह्मण आदि को मिल सकता था। अहिंसाके व्रतियोंमें सबसे अच्छा उदाहरण यमपाल चाडाल का लिया जा सकता है। मेतार्य मुनि और हरिकेशी साधु भी चांडाल ही थे। तात्पर्य यह कि—तीर्थंकर महावीर का अहिंसा धर्म किसी वर्ण विशेषके लिए ही नही था, बल्कि उसकी शीतल छायामें सभी समान रूपसे शान्ति लाभ करते थे। जिन असख्य शूद्रो को धर्म का अक्षर सुनने तक का अधिकार नहीं था, जो मनुष्य की शकलमे पशुओंसे भी बदतर थे, उन्हें धर्ममे समान पद और समान अधिकार का मिल जाना सचमुच उस युग की सबसे बडी क्रान्ति थी। इसी समता तीर्थ या सर्वोदय तीर्थके प्रवर्तक होनेके कारण महावीर तीर्थंकर थे।

जगत् स्वयं सिद्ध है

जगत्के बनाने वाले ईश्वर को मानकर और वर्णव्यवस्था को ईश्वर की देन कहकर जो एकाधिपत्य की परम्परा प्रचलित थी, उसे भी तीर्थंकरने स्वीकार नही किया। उनने बताया कि जगत्की रचना भौतिक परमाणुओंके संयोग-वियोगोंसे स्वयं हो रही है। उसमे किसी सर्व-नियन्ता का कोई स्थान या हाथ नही है। कही पुरुषके प्रयत्न उसे भले ही नियत्रित कर लें, पर यह सब समय और सब स्थानोके लिए नही हैं। विश्वके रग-मंच पर असख्य परिवर्तन आपसी संयोग-वियोगोसे अपने आप होते रहते हैं। आँक्सीजन और हाँइड्रोजन को किसी प्रयोगशालामें विज्ञान वेत्ता भी मिलाता है और आकाशमे वे अपने आप ही मिलकर जल बन जाते हैं। मनुष्य स्वय अपने पुण्य और पाप का फल पाता है। अपने कर्म सस्कारोके अनुसार अच्छी और बुरी अवस्था को प्राप्त होता है। इसके लिए लेखा-जोखा रखने वाले किसी महाप्रभु की न तो आवश्यकता है और न उसकी स्थिति विज्ञान-समत कार्यकारण की शृखलामे ही फिट—सुमिल बैठती है।

पशुयज्ञ आदि धर्म नही

ईश्वरके नाम पर यह भी कहा जाता था कि स्वयभू ईश्वरने यज्ञके लिए पशुओं की सृष्टि की है। अत यज्ञमें पशुओ का वध करना हिंसा या अधर्म नही है। अहिंसाके सर्वोदयी पुरस्कर्ता तीर्थंकर महावीरने कहा कि ईश्वरने किसी को नही बनाया। जिस प्रकार हम स्वयं सिद्ध हैं, उसी तरह गाय आदि पशु भी। जिस प्रकार हमे प्राण प्यारे हैं, हम सुख चाहते हैं, इसी तरह वे पशु भी। कहा है—

"जह मम न पियं दुक्खं, जाणिहि एमेव सव्वजीवाणं।"

जैसे हमे दु ख प्रिय नही लगता, वैसे ही सब जीवों को जानो।

"सव्वे जीवा पियाउआ सुहसाया दुक्ख-पडिकूला।"

सभी को अपने प्राण प्यारे हैं, सब सुख चाहते हैं, दु खसे सब डरते हैं। इसलिए यज्ञमें पशुओं का होमा जाना कदापि धर्म नही हो सकता। तीर्थंकरके द्वारा किये गए इस पशुवधके विरोध का जनताने स्वागत किया। इसी तरह नदियोंमें स्नान करना, पंचाग्नि तपना, पर्वतसे गिरना, काशी करवट लेना, अग्निपात आदि क्रियाकाण्डोंमे धर्म मानने को मूढ़ता बताकर कहा कि धर्म तो आत्मशुद्धि का मार्ग है।

अपने मनकी शुद्धि ही वास्तवमें धर्म है। इस मन शुद्धिके साथ समस्त प्राणियोंकी आत्म-समता की बुद्धिसे रक्षा करना ही परम धर्म है। इस धर्ममे प्राणिमात्र का समान अधिकार है।

लोकभाषा की प्रतिष्ठा

भाषा भावों का वाहन है। वह एक ऐसा माध्यम है, जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके हृदयगत भावों को समझता है। अत. किसी भी भाषा को शिष्ट और पुण्य मानकर उससे असंख्य जनता को वंचित रखना भी रूढ वर्णव्यवस्था का एक अभिशाप है। संस्कृत का उच्चारण ही धर्म और पुण्य है; लोकभाषा प्राकृत, अपभ्रंश आदि का उच्चारण नही करना चाहिए; सस्कृत विशेषत वैदिक सस्कृतके पढ़ने का अधिकार शूद्रो और स्त्रियो को नही है—इत्यादि व्यवस्थाओ द्वारा जो भाषा का साम्राज्य भारत भूमि पर स्थापित था; उसके विरुद्ध तीर्थंकर महावीरने अपना उपदेश अर्धमागधी बोलीमें दिया था। अर्धमागधी वह बोली थी, जिसमें आधे शब्द मगध-जनपद की बोलीके थे और आधे शब्द अन्य विदेह अग, वंग, काशी, कौशल आदि महाजनपदो की बोलियोके थे। यानी उस भाषामे १८ महाभाषाके और ७०० लघु भाषाओ (छोटी बोलियों) के शब्दो का समावेश था। इतनी उदार थी वह भाषा, जिसमें तीर्थंकर का उपदेश होता था। बुद्ध की पालि भाषा मूलत. यही मागधी है। उसका पाली नाम तो 'बुद्ध वचनो की पक्ति' के धार्मिक अर्थके कारण पडा है। आज हम हिन्दी और हिन्दुस्तानीके जिस विसंवादमे पडकर भाषाके क्षेत्रमे जो चौका लगा रहे हैं और उसके नाम पर राष्ट्र की एकता को छिन्न-भिन्न करनेमे नही चूकते, उन्हें तीर्थंकर की लोकभाषा की इस दृष्टि को अपना कर भाषा को सकुचित रखने की मनोवृत्ति को छोडना चाहिए। और भाषा को साध्य नही, साधन मान कर उसे सब की बोली बनने देना चाहिए।

व्यक्ति धर्म और समाज धर्म

व्यक्ति को निराकुल और शुद्ध बननेके लिए महावीरने अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर बहुत जोर दिया है और बताया कि जब तक मनुष्य प्राणिमात्रके साथ आत्म-तुल्यता की भावना नही बनाता; सब प्राणियों को अपने ही समान जीने का अधिकारी नही मानता—तब तक उसके मनमे सर्वोदयी अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। वासनाओ पर विजय पाना ही सच्ची शुद्धि है और उसकी कसौटी है ब्रह्मचर्य की पूर्णता। परिग्रह का संग्रह ही विषमता, संघर्ष और हिंसा की जड है। इसका संग्रह करने वाला व्यक्ति कभी सर्वोदय (सबका उदय, सबका भला) की भावना का अधिकारी नही हो सकता। इन सबके साथ ही जीवन की शुद्धिके लिए सत्य का भी उतना ही स्थान है, जितना अहिंसा का। सत्य का आग्रह होना और उसके निभानेके लिए प्रत्येक त्याग की तैयारी रखना परिग्रह-लिप्सु, वासनाओंके गुलाम और हिंसक अर्थात् दूसरोंके अधिकार को हडपने वाले व्यक्तिके वश की बात नही है। इसी तरह अचौर्यव्रत अर्थात् दूसरों की वस्तु को नही चुराना यानी दूसरोके अधिकार और श्रम को हड़पने की वृत्ति का न होना—यह जीवन शुद्धि का महान् प्रयोग है। एक तरहसे देखा जाए, तो मनमे अहिंसा की ज्योतिके जगते ही अचौर्य की प्रवृत्ति और सत्य का आग्रह अपने आप ही आ जाते हैं; और इन सबको निभानेके लिए इन्द्रियजय ही नही, इन्द्रिय दमन रूप संयम या ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा नितान्त आवश्यक है।

इन पाँच व्रतों का, जो वस्तुत अहिंसाके ही विस्तार हैं; जीवन शुद्धिमे जितना उपयोग है, उससे भी अधिक इनका स्वस्थ समाजके निर्माणमे मूलभूत स्थान है। समाज रचना की मूल भूमिका है—प्रत्येक इकाई का दूसरी इकाईके प्रति आत्म-समानता का भाव यानी प्रत्येक इकाई को अपनी ही तरह समान

अधिकारी मानना। इस सर्वोदयी रूप की पूर्णताके लिए सबसे पहले व्यक्तिके मानसमें सर्व समता रूपी अहिंसा की ज्योति जगना ही चाहिए। उसीके निर्मल प्रकाशमें वह नव समाज निर्माणके मंगलमय रूप की रचना कर सकता है। इस आत्म-समानता की ज्योतिके जगते ही अपरिग्रह या समान-परिग्रह की प्रवृत्ति उसमें स्वतः ही आ जाएगी। वह अपनी आवश्यकताओं को इतना सीमित रखेगा, कि समाज की प्रारंभिक और अनिवार्य आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाएँ, उसकी पूर्णतामें बाधा न आए, विषमताके वातावरण की सृष्टि न हो। समान-अधिकार वाली समाज की स्वस्थताके लिए परस्पर सत्य व्यवहार और अचौर्यवृत्ति यानी दूसरों की भोग्य वस्तु या अधिकार को नहीं हड़पना—ये मूल बातें हैं। और यह सब तब हो सकता है, जब जीवनमें से विलासिता, वासनाओं की गुलामी और इन्द्रिय लोलुपता की बेरोक प्रवृत्तियाँ दूर हो जाएँ। अर्थात् सीमित ब्रह्मचर्य स्वस्थ समाज की स्थिरता का प्राणभूत आधार है।

विचारशुद्धि यानी अनेकान्तदृष्टि

संसारके हर एक पदार्थमें अनन्त धर्म हैं। किसी एक पदार्थ की सपूर्ण विशेषताओं—खूबियों को जान लेना हम-तुम जैसे अल्पज्ञानियोंके वश की बात नहीं है। कोई पूर्ण ज्ञानी उन्हें जान भी ले, तो भी वह उनका वर्णन तो कर ही नहीं सकता। ज्ञान-विज्ञान की असख्य शाखाएँ हमारे सामने हैं। उस ज्ञान समुद्र की एक बूँद को भी पूर्ण रूपसे न पाने वाला यह मनुष्य कितना अहकारी बन गया है कि वह अपने एक दृष्टिकोण को ही पूर्ण सत्य मानने का ढोंग कर बैठा है। तीर्थंकर महावीरने उसके इस दभ को झकझोरते हुए कहा—क्षुद्र मानव ! तू कहाँ है ? इस अनन्त विश्वके एक कण को भी तू पूरे रूपसे नही समझ पाया है। प्रत्येक कण—अणु अनन्त धर्मों का आधार है। अतः वस्तुके स्वरूपके सम्बन्धमें जितने भी विचार और दृष्टिकोण सामने आएँ, उन्हें सहानुभूति और वस्तु स्थितिके आधारसे देखो। कोई विचार या दृष्टिकोण एक अपेक्षासे ही सत्य हो सकता है, सभी दृष्टिकोणों या पूर्ण रूपसे सत्य नहीं हो सकता; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही जब अनेकान्त यानी अनन्त धर्म वाला है, तब उसके एक-एक अंश को पकड़ने वाला विचार पूर्ण सत्य कैसे हो सकता है। तात्पर्य यह कि विचारशुद्धि और सत्यताके लिए आवश्यक है कि वस्तु की अनन्त धर्मता और अपनी सकुचित शक्ति का भान हमे रहे। ऐसी स्थितिमें हम अपने ही विचार, दृष्टिकोण या अभिप्राय को पूर्णतया सत्य मानने का दावा या दभ नही कर सकते। कोई भी विचार अपने रूपमे किसी एक दृष्टिसे ही सत्य हो सकता है, सर्व या सपूर्ण दृष्टियोसे नही। यह अनेकान्त दर्शन ही विचार शुद्धि का वास्तविक आधार है और इसी की मंगलमय ज्योतिमें हम ज्ञानके अहकार और उस अहकारसे होने वाले विविध मत-मतान्तरोंके साम्प्रदायिक कुचक्रसे मानव समाज की रक्षा कर सकेंगे।

स्याद्वाद भाषा

तीर्थंकर महावीरने इस अनेकान्त दर्शनके साथ ही साथ भाषा की एक निर्दोष पद्धति भी बताई। जब छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ अनन्त धर्म वाली हैं और हमारा ज्ञान उनके एक ही अंश को एक समयमें पकड़ सकता है, तब हमारी भाषा भी सापेक्ष (किसी अपेक्षा से) होनी चाहिए। हम सिर्फ वस्तुके एक ही अंश को जानकर भी 'वस्तु ऐसी ही है' इस प्रकार जो एक दृष्टि को सर्व निश्चयात्मकता या संपूर्णरूपता देने वाले 'ही' का प्रयोग करते हैं, वह हमारे अहंकार और असत्य का ही द्योतक होता है। जब कि हमें सदा 'वस्तु ऐसी भी है' इस प्रकार सापेक्षताके द्योतक 'भी' शब्दके प्रयोग की निर्दोष पद्धति सीखनी चाहिए। जब एक ही वस्तु अनेक दृष्टिकोणोसे देखी जा सकती है, और वे सभी दृष्टिकोण अपनेमें सत्य हैं; तब एक दृष्टिकोण पर 'ही' लगाकर भार देने का मतलब यह होता है कि दूसरे दृष्टिकोणोंसे वह देखने लायक नहीं

है। किन्तु इसके उलटा 'भी' शब्द अपने दृष्टिकोण की आंशिक सत्यता बताकर भी दूसरे आंशिक सत्यों का निषेध नहीं करता। अतः समग्र दृष्टिसे वस्तु का कथन करते समय हमें इस दुराग्रहकारी 'ही' से बचकर समन्वयकारी 'भी' शब्दके प्रयोग को अपनाना ही होगा। 'स्यात्' शब्द इसी 'भी' का प्रतिनिधि है। 'स्यात्' का अर्थ शायद, संभव या कदाचित् नहीं है। किन्तु यह 'स्यात्' सुनिश्चित दृष्टिकोणसे आंशिक सत्यता को बताता है। यह हम मानते हैं कि हर एक दृष्टिकोण भी अपनी आंशिक सत्यता का दावा 'ही' शब्दसे कर सकता है, पर सपूर्ण सत्यके लिए तो वह 'भी' ही कह सकता है। सारांश यह है कि स्याद्वाद भाषा संशय या संभावना रूप न होकर सुनिश्चित दृष्टिकोण या आंशिक सत्य को निर्णयात्मक रूपसे प्रकट करने वाली एक अहिंसक भाषा पद्धति है।

इस तरह विचारमें अनेकान्त दर्शन, आचारमें अहिंसा, समाज रचनाके लिए अचौर्य और अपरिग्रह तथा इन सबके लिए सत्य की निष्ठा और जीवन शुद्धिके लिए ब्रह्मचर्य यानी इन्द्रियविजय आदि धर्म तीर्थ का प्रवर्तन महावीरने किया।

हमने पंचशील का जो उद्घोष विश्वशान्तिके लिए किया है, वह महावीर जैसे तीर्थंकरों की अनेकान्त दृष्टि, समन्वय की प्रवृत्ति और अहिंसा की पवित्र भूमिका पर ही हुआ है।



खण्ड : ५

जैन न्यायविद्या का विकास
जैन दार्शनिक साहित्य

जैन न्यायविद्याका विकास

● डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
प्रधान सम्पादक

प्राक्कथन

हम यहाँ जैन संस्कृतिके विभिन्न अंगोंमें न्यायशास्त्रके विकास पर विमर्श करेंगे। इस संस्कृतिमें धर्म, दर्शन, न्याय, साहित्य, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष आदिका समावेश है। और प्रत्येक पर गहराईके साथ विचार किया गया है।

जैनधर्म भारतकी आध्यात्मिक उर्वरा भूमिमें उत्पन्न हुआ, विकसित हुआ और समृद्ध हुआ है। यह भारतीय धर्म होते हुए भी वैदिक और बौद्ध दोनों भारतीय प्रधान धर्मोंसे भिन्न है। इसके प्रवर्तक २४ तीर्थंकर हैं; जो वैदिक धर्मके २४ अवतारों तथा बौद्धधर्मके २८ बुद्धोंसे भिन्न हैं। इन सभीका तत्त्व-निरूपण भी भिन्न-भिन्न है। हाँ, कितनी ही बातोंमें उनमें साम्य भी है, जो स्वाभाविक है, क्योंकि सदियोंसे ही नहीं; सहस्राब्दियोंसे एक साथ रहनेवालोंमें एक-दूसरेसे प्रभावित होना और आदान-प्रदान करना बहुत सम्भव है। पुरातत्त्व, इतिहास और साहित्यकी प्रचुर साक्षियोंसे भी सिद्ध है कि जैनधर्म इन दोनों धर्मोंसे पृथक् एवं स्वतन्त्र धर्म है। उसका मूलाधार उसकी विशिष्ट आध्यात्मिकता एवं तत्त्व-निरूपण है।

तीर्थंकर ऋषभदेव

जैनधर्मके आद्यप्रवर्तक ऋषभदेव हैं। जैन साहित्यमें इन्हें प्रजापति, आदिब्रह्मा, आदिनाथ, बृहद्देव, पुरुदेव, नाभिसूनु और वृषभ नामोंसे भी समुल्लेखित किया गया है। इनके एक सौ एक (१०१) पुत्र थे। भरत ज्येष्ठ पुत्र थे, जो उनके राज्यके उत्तराधिकारी तो हुए ही, प्रथम सम्राट् भी थे, और जिनके नाम पर हमारे राष्ट्रका नाम "भारत" पड़ा।

वैदिक धर्ममें भी इन्हें अष्टमअवतारके रूपमें माना गया है। "भागवत" में "अर्हन्" राजाके रूपमें इनका विस्तृत वर्णन है। ऋग्वेद आदि प्राचीन वैदिक साहित्यमें भी इनका आदरके साथ संस्तवन किया गया है।

अन्य २० तीर्थंकर

ऋषभदेवके पश्चात् अजितसे लेकर नमि पर्यन्त २० तीर्थंकर ऐसे हुए, जिन्होंने ऋषभदेवकी तरह अपने-अपने समयमें धर्म-तीर्थका प्रवर्तन किया। ऋषभदेवके बाद नमिके बीचमें ऐसे समय आए, जब जैन-धर्मका विच्छेद हो गया, जिसका पुनः स्थापन इन्होंने किया। और इससे वे तीर्थंकर कहे गये।

नमिके पश्चात् २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अथवा नेमि हुए। ये श्रीकृष्णके बड़े ताऊ समुद्र विजयके तनय तथा उनके चचेरे भाई थे। ये बचपनसे सात्त्विक, प्रतिभावान् और बलशाली थे। इनके जीवनमें एक घटना ऐसी घटी, जिसने उनके जीवनको मोड़ दिया। जब इनकी बारात जूनागढ़ पहुँची, तो नगरके बाहर एक बाड़ेमें घिरे हुए पशुओंके चीत्कारको इन्होंने सुना। सुनकर रथके सारथीसे इसका कारण पूछा। सारथीने कहा—"महामान्य राजकुमार! बारातमें जो मांसभक्षी राजा आए हैं, उनके मांस-भक्षण हेतु इन्हें मारा जायेगा।" इसे सुनते ही राजकुमार अरिष्टनेमि संसारसे विरक्त हो गये। और पशुओंको घेरेसे मुक्त कराकर विवाह न कराते हुए निकटवर्ती ऊर्जयन्तगिरि पर चले गए। वहाँ पहुँचकर समस्त वस्त्रा-भूषण त्याग दिए और दिगम्बर साधु हो गए। और तपस्या और ध्यान करके वीतराग-सर्वज्ञ बन गए।

वर्षों तक जनसामान्यको अहिंसा तथा मोक्षमार्गका उन्होने उपदेश दिया। अंतमे उसी ऊर्जयन्तगिरिसे निर्वाण प्राप्त किया। वैदिक साहित्यमे अनेक स्थलो पर विघ्न विनाशके लिए इनका स्मरण किया गया है।

अरिष्टनेमिके एक हजार वर्ष पश्चात् २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए, जिनका जन्म वाराणसीमें हुआ। राजा अश्वसेन और माता वामादेवीकी कूँखसे जन्म लिया। एक दिन कुमार पार्श्व वन-क्रीड़ाके लिए गंगाके किनारे गए। वहाँ उन्होने देखा कि एक तापसी पचाग्नि तप रहा है। वह अग्निमें गीले और पोले लक्कड जला रहा था। पार्श्वकी पैनी दृष्टिने देखा कि उस लक्कडमें एक नाग-नागनीका युगल है। और जो अर्धमृतक अवस्थामे है। कुमार पार्श्वने यह तापसीसे कहा। तापसी झुंझला कर बोला—"इसमें कहाँ नाग-नागनी हैं" और जब उस लक्कडको फाड़ा गया तो उसमे मरणासन्न नाग-नागनीको देखा। पार्श्वने "णमोकारमंत्र" पढकर दोनोंको सम्बोधा, जिसके प्रभावसे वह युगल मरकर देव-जातिमे धरणेन्द्र-पद्मावती हुआ। जैन मंदिरोमें पार्श्वनाथकी अधिकाश मूर्तियोके मस्तक पर जो फणामण्डप देखा जाता है। वह धरणेन्द्र के फणामण्डपका अंकन है, जिसे उसने अपने उपकारीके प्रति कृतज्ञतावश कमठ द्वारा योगमग्न पार्श्वनाथ पर किए गये उपसर्गोंके निवारणार्थ अपनी विक्रियासे बनाया था। पार्श्वकुमार लोकमें फैली हुई इन मूढ़ताओंको देखकर कुमार अवस्थामे ही प्रवृजित हो गये, न विवाह किया और न राज्य किया। कठोर तपस्या कर 'अर्हन्तकेवली' हो गये और जगह-जगह पदयात्राएँ करके लोकमे फैली मूढताओंको दूर किया तथा ज्ञानका प्रचार किया। अंतमें उन्होने विहार प्रदेशमे स्थित सम्मेदशिखर पर्वतसे, जिसे आज "पार्श्वनाथ हिल" कहा जाता है, मुक्तिलाभ किया।

पार्श्वनाथसे अढ़ाई सौ वर्ष पश्चात् ईसापूर्व ५२६मे अन्तिम एव २४वें तीर्थंकर महावीर हुए, जिन्हें वर्धमान, वीर, अतिवीर और सन्मति इन चार नामोसे भी उल्लिखित किया जाता है। ये वैशाली गणतंत्रके नायक चेटकके धेवता तथा सिद्धार्थ एवं त्रिशलाके पुत्र थे। कुण्डलपुर (कुण्डपुर) इनकी जन्मभूमि थी। त्रिशलाका दूसरा नाम प्रियकारिणी था। प्रियकारिणी बिम्बसार अपरनाम राजा श्रेणिककी रानी चेलनाकी सगी बडी बहिन थी। महावीरके समयमे भी अनेक मूढताएँ व्याप्त थी। धर्मके नामपर नरमेध, गोमेध, अश्वमेध, अजमेध आदि हिंसा पूर्ण यज्ञ किए जाते थे। तथा "याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति" जैसे श्रुति वाक्योसे उनका समर्थन किया जाता था। महावीरने देशकी यह स्थिति देखकर उसे बदलनेका निर्णय किया। और भरी जवानीमे तीस वर्षकी वयमे ही राजमहलके सुखोंका त्यागकर दिगम्बर साधु हो गये। और मौन-पूर्वक बारह वर्ष घोर तपस्या की। फलत. ४२ वर्षकी अवस्थामें उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया और पूर्ण वीतराग-सर्वज्ञ हो गए। उन्होंने तीस वर्ष तक विहार करके उक्त हिंसापूर्ण यज्ञोका निषेध किया। तथा अहिंसापूर्ण आत्मयज्ञ करनेका उपदेश दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि नरमेध, गोमेध आदि यज्ञ बंद हो गये। और लोगोंके हृदयमे अहिंसाको ही धर्म माननेकी आस्था दृढ हो गई। वैदिक धर्मके महान् विद्वान् एवं वैदिक कर्मकाण्डके प्रसिद्धकर्त्ता गौतम इन्द्रभूति और उनके वैदिक विद्वान् दश भाई भी अहिंसाके प्रति आस्थावान् बन गए। इतना ही नही, महावीरके पादमूलमे पहुँचकर उनके शिष्य भी हो गये। इन्द्रभूति तो उनका प्रधान गणधर (आद्यशिष्य) बन गया ? और महावीरके उपदेशोंको उसने चहुँओर फैलाया।

ध्यातव्य है कि पार्श्वनाथकी परम्पराके एक दिगम्बर साधुसे दीक्षित एव नग्न रहना, खड़े-खड़े आहार लेना, केशलुञ्चन करना आदि दिगम्बर चर्याको पालनेवाले, किन्तु उसे बादमें कष्टदायी जानकर त्याग देनेवाले तथा मध्यम मार्गके प्रवर्त्तक गौतम बुद्धने भी महावीरके अहिंसा-प्रचारमें प्रबल सहयोग किया। दीघनिकाय आदि बौद्ध साहित्यमें अनेक स्थलोंपर "निग्गंथनाथपुत्त"के नामसे महावीरके सिद्धान्तोंकी

चर्चा की गई है। आज वे ऐतिहासिक महापुरुषके रूपमे विश्रुत एवं सर्वमान्य हैं। सन् १९७४-७५में समग्र भारत और विश्वके अनेक देशोमे उनकी पावन २५००वी निर्वाण जयन्ती पूरे एक वर्ष तक मनाई गयी थी, जिसके समारोह भारतके सभी राज्योमे आयोजित हुए थे। जिनमे पूरे राष्ट्रने उन्हें श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की थी।

अतमें तीर्थंकर महावीरने बुद्धकी निर्वाणभूमि कुशीनगरके पास स्थित पावासे मोक्ष प्राप्त किया।

तीर्थंकर-देशना

इन चौबीस तीर्थंकरोने अपने-अपने समयमें धर्ममार्गसे च्युत जनसमुदायको सम्बोधित किया, और उसे धर्ममार्गमें लगाया। इसीसे इन्हें धर्ममार्ग-मोक्षमार्गका नेता तीर्थ प्रवर्त्तक, तीर्थंकर कहा गया है। जैन सिद्धान्तके अनुसार जनकल्याणकी भावना भानेसे बद्ध ''तीर्थंकर'' नामकी एक पुण्य (प्रशस्त) प्रकृति—कर्म है, उसके उदयसे तीर्थंकर होते हैं और वे तत्त्वोपदेश करते है। नौवी शताब्दीके आचार्य विद्यानंदने 'आप्तपरीक्षा' कारिका सोलहमे स्पष्ट कहा है कि ''विना तीर्थंकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशना'' अर्थात् बिना तीर्थंकर पुण्यनामकर्मके तत्त्वोपदेश सम्भव नही है।

इन तीर्थंकरोका वह उपदेश जिनशासन, जिनागम, जिनश्रुत, द्वादशाग, जिनप्रवचन आदि नामोसे व्यवहृत किया गया है। उनके इस उपदेशको उनके प्रमुख एवं प्रतिभाशाली शिष्य विषयवार भिन्न-भिन्न प्रकरणोमे निबद्ध करते है। अतएव उसे प्रबन्ध एवं ग्रन्थ भी कहते हैं। उनके उपदेशको निबद्ध करने वाले इन प्रमुख शिष्योको जैनवाङ्मयमे ''गणधर'' कहा गया है। ये गणधर अत्यन्त सूक्ष्मबुद्धिवाले एव विशिष्ट क्षयोपशमके धारक होते हैं। उनकी धारणाशक्ति और स्मरणशक्ति असाधारण होती है।

उत्तरकालमे अल्पमेधाके धारक आचार्य उनके इस श्रुतका आश्रय लेकर अपने विभिन्न-विषयक ग्रन्थोकी रचना करते है। और उनके इसी जिनोपदेशको जन-जन तक पहुँचानेका प्रशस्त प्रयास करते हैं। तथा क्षेत्रीय भाषाओमे भी उसे ग्रथित करते हैं।

उपलब्ध-श्रुत

ऋषभदेवका श्रुत अजित तक, अजितका श्रुत शम्भव तक और शम्भवका अभिनन्दन तक, इस तरह पूर्व तीर्थंकरका श्रुत उत्तरवर्ती अगले तीर्थंकर तक रहा। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वका द्वादशाङ्ग श्रुत तब तक रहा, जब तक महावीर तीर्थंकर (धर्मोपदेष्टा) नही हुए। आज जो आशिक द्वादशाङ्गश्रुत उपलब्ध है वह अंतिम तीर्थंकर महावीरसे सम्बद्ध है। अन्य सभी तीर्थंकरोका श्रुत लेखबद्ध न होने तथा स्मृतिधारकोके न रहनेसे नष्ट हो चुका है। वर्धमान महावीरका द्वादशाङ्गश्रुत भी पूरा उपलब्ध नही है। आरम्भमे वह आचार्य-शिष्य-परम्परामें स्मृतिके आधारपर विद्यमान रहा। उत्तरकालमे स्मृतिधारकोकी स्मृति मद पड जानेपर उसे निबद्ध किया गया। दिगम्बर परम्पराके अनुसार वर्तमानमें जो श्रुत उपलब्ध है वह बारहवें अंग दृष्टिवादका कुछ अश है, जो धरसेनाचार्यको आचार्य परम्परासे प्राप्त था और जिसे उनके शिष्य भूतबलि और पुष्पदंतने उनसे प्राप्तकर लेखबद्ध किया। शेष ग्यारह अंग और बारहवें अंगका बहुभाग नष्ट हो चुका है। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार देवर्धि गणीके नायकत्वमे हुई तीसरी बलभी वाचनामे सङ्कलित ग्यारह अंग मौजूद हैं, जिन्हें दिगम्बर परम्परामे मान्य नहीं किया गया। श्वेताम्बर परम्परा दृष्टिवादका विच्छेद स्वीकार करती है। आज आवश्यक है कि दोनो परम्पराओंके अवशेष श्रुतका अध्ययन किया जाये और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जाँए।

धर्म, दर्शन और न्याय

उक्त श्रुतमें तीर्थंकर महावीरने धर्म, दर्शन और न्याय इन तीनोंमें भेद करते हुए बताया कि मुख्यतया आचारका नाम धर्म है। धर्मका जिनविचारो द्वारा समर्थन किया जाए वे विचार दर्शन हैं। और धर्मके सम्पोषणके लिए प्रस्तुत विचारोको युक्ति-प्रत्युक्ति, खण्डन-मण्डन, प्रश्न-उत्तर एवं शंका-समाधान पूर्वक दृढ़ करना न्याय है। उसी को प्रमाणशास्त्र भी कहते हैं। इन्हें एक उदाहरण द्वारा यो समझें। अहिंसाका पालन करो, किसी जीवकी हिंसा न करो, सत्य बोलो, असत्य मत बोलो आदि विधि और प्रतिषेध रूप आचारका नाम धर्म है। जब इसमे "क्यो" का सवाल उठता है तो उसके उत्तरमे कहा जाता है कि अहिंसाका पालन करना जीवोका कर्त्तव्य है और इससे सुख मिलता है। किन्तु जीवोकी हिंसा करना अकर्त्तव्य है और उससे दुःख मिलता है। इसी तरह सत्य बोलना कर्त्तव्य है, और उससे न्यायकी प्रतिष्ठा होती है। किन्तु असत्य बोलना अकर्त्तव्य है और उससे अन्यायको बल मिलता है। इस प्रकारके विचार दर्शन कहे जाते हैं। और जब इन विचारोको दृढ करनेके लिए यों कहा जाता है कि दया करना जीवका स्वभाव है, यदि उसे स्वभाव न माना जाए तो कोई भी जीव जीवित नही रह सकता। सब सबके भक्षक या घातक हो जायेगे। परिवारमे, देशमे और विश्वके राष्ट्रोमे अनवरत हिंसा रहनेपर शान्ति और सुख कभी उपलब्ध नही हो सकेंगे। इसी तरह सत्य बोलना मनुष्यका स्वभाव न हो तो परस्परमे अविश्वास छा जायेगा और लेन-देन आदिके सारे लोकव्यवहार लुप्त हो जायेंगे। इस तरह धर्मके समर्थनमे प्रस्तुत विचाररूप दर्शनको दृढ़ करना न्याय है। तात्पर्य यह कि धम जहाँ सदाचारके विधान और असदाचारके निषेधरूप है वहाँ दर्शन उनमे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और सुखदु:खका विवेक जागृत करता है। तथा न्याय दर्शनके रूपमे प्रस्तुत विचारोको हेतुपूर्वक मस्तिष्कमे बिठा देता है। यही कारण है कि विश्वमे इन तीनोपर पृथक्-पृथक् शास्त्रोकी रचना हुई है। भारतमे भी जैन, बौद्ध और वैदिक सभीने धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और न्यायशास्त्रका प्रतिपादन किया है। तथा उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

जैनन्यायका उदय और विकास

जैनश्रुतके बारहवें अंग दृष्टिवादमे तीन सौ तिरेसठ मतोंकी विवेचना की गई है। जैनदर्शन और जैनन्यायके बीज भी इसमे प्रचुर मात्रामे मिलते है। आचार्य भूतबलि और पुष्पदंत द्वारा निबद्ध षट्खण्डागममे "सियापज्जत्ता", "सिया अपज्जत्ता", "मणुस अपज्जत्ता दव्वपमाणेण केवडिया", "असखेज्जा" जैसे "सिया" (स्यात्) शब्द और प्रश्नोत्तर शैलीको लिए हुए वाक्य उपलब्ध है। कुन्दकुन्दने पचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि आर्षग्रन्थोमे उनके कुछ और अधिक बीज दिये हैं। "सिय अत्थि णत्थि उहयं" आदि उनके वाक्य उदाहृत किये जा सकते हैं। श्वेताम्बर आगमोमे भी जैनदर्शन और जैन न्यायके बीज बहुलतया पाये जाते है। उनमे अनेक जगह 'से केणट्ठेणं भंते एवमुच्चई जीवाण, भंते, किं सासया असासया? गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया? गोयमा दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।' जैसे तर्क गर्भित प्रश्नोत्तर प्राप्त होते है। ध्यातव्य है कि 'सिया' या 'सिय' प्राकृत शब्द हैं, जो सस्कृतके 'स्यात्' शब्दके पर्यायवाचो है। और 'कथंचित्' अर्थके बोधक हैं। इससे प्रकट है कि स्याद्वाददर्शन और स्याद्वादन्याय आर्षग्रन्थोमे भी प्राप्त है। जैन मनीषी यशोविजयने लिखा है कि 'स्याद्वादार्था दृष्टिवादार्णवोत्थ:' अर्थात् स्याद्वाद (जैनदर्शन और न्याय) दृष्टिवाद रूप अर्णवसे उत्पन्न हुए हैं। यथार्थत: स्याद्वाद दर्शन और स्याद्वाद न्याय ही जैनदर्शन और जैन न्याय हैं। आचार्य समन्तभद्रने सभी तीर्थंकरोको

'स्याद्वादी' कहकर उनके उपदेशको स्याद्वाद रूप कहा है। अकलंकदेव तो यों कहते हैं कि ऋषभसे लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकर स्याद्वादी—स्याद्वादके उपदेशक हैं।

यथा—

ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये।
धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु, स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ॥—लघीय० १

समन्तभद्र, अकलंक, यशोविजय आदि मनीषियोंके सिवाय सिद्धसेन, विद्यानंद जैसे विश्रुत दार्शनिकों एवं तार्किकोंने भी स्याद्वाददर्शन और स्याद्वादन्यायको जैनदर्शन और जैनन्याय प्रतिपादित किया है। तथा उनकी उत्पत्ति दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगसे बतलाई है।

अब हम इनके विकासपर विचार करेंगे। कालकी दृष्टिसे उनके विकासको तीन कालखण्डोंमें विभक्त किया जा सकता है। और उन कालखण्डोंके नाम निम्न प्रकार रखे जा सकते हैं—

१—आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल (ई० २०० से ई० ६५०)।
२—मध्यकाल अथवा अकलंककाल (ई० ६५० से ई० १०५०)।
३—अंतकाल अथवा प्रभाचन्द्रकाल (ई० १०५० से १७००)।

१. आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल

जैनदर्शन एवं जैनन्यायके विकास का आरम्भ यों तो आचार्य कुन्दकुन्दसे उपलब्ध होने लगता है। उनके पचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि प्राकृत ग्रन्थोमे दर्शन एवं न्यायकी चर्चा प्राप्त है। श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध ''भगवतीसूत्र'' (५।३।१९१-१९२) स्थानागसूत्र (२९८) आदिमेंभी दर्शनकी सामान्य चर्चा उपलब्ध है। आ० गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमे, जो जैन संस्कृत-वाङ्मयका आद्य सूत्र ग्रन्थ है, सिद्धान्तके साथ दर्शन और न्यायकी भी प्ररूपणा मिलती है। किन्तु आ० समन्तभद्रस्वामीने उस आरम्भको आगे बढ़ाया और बहुत स्पष्ट किया है। उनकी उपलब्ध ५ कृतियोमे चार (४) कृतियाँ है तो तीर्थंकरोके स्तवनरूपमें, पर उनमे दर्शन और न्यायके प्रचुर उपादान मिलते हैं, जो प्रायः उनसे पूर्व अप्राप्य हैं। उन्होंने इनमे एकान्तवादो की दृढ़तासे समीक्षा करके अनेकात और स्याद्वादकी प्रस्थापना की है। उनकी वे चार कृतियाँ ये हैं—(१) 'आप्तमीमासा' अपर नाम 'देवागम', (२) 'युक्त्यनुशासन', (३) 'स्वयम्भू' और (४) 'जिनशतक'। इनमे उन्होने स्याद्वाद, सप्तभगनय और अनेकान्तका सुन्दर एवं प्रौढ़ संस्कृतमे प्रतिपादन किया है, जो उस प्राचीन जैन संस्कृतवाङ्मयमें पहली बार मिलता है। प्रतीत होता है कि समन्तभद्रने भारतीय दार्शनिक एवं तार्किक क्षेत्रमे जैनदर्शन और जैन न्यायके युग प्रवर्तकका कार्य किया है। उनसे पूर्व जैन संस्कृतिके प्राणभूत स्याद्वादको प्राय: आगमरूप ही प्राप्त था। और उसका आगमिक विषयोके निरूपणमें ही उपयोग किया जाता था। जैसा कि हम पहले 'सिया', 'सिय' के सन्दर्भमें देख आए हैं। उसके समर्थनमे युक्तिवादकी आवश्यकता बहुत कम समझी जाती थी। परन्तु समन्तभद्रके कालमे उसकी विशेष आवश्यकता बढ़ गई, क्योंकि ई० २री-३री शताब्दीका समय भारत वर्षके दार्शनिक इतिहासमें अपूर्व क्रांतिका माना जाता है। इस समय विभिन्न दर्शनोमे अनेक प्रभावशाली दार्शनिक हुए हैं। यद्यपि वैदिक परम्परा वैशेषिक, मीमांसा, न्याय, वेदान्त, साख्य आदि अनेक शाखाओंमें विभक्त थी और उनमे भी परस्पर खण्डन-मण्डन, आलोचन-प्रत्यालोचन चलता था। किन्तु श्रमणों और श्रमण सिद्धान्तो के विरुद्ध सब एक थे। और सभी अपने सिद्धान्तोंका आधार प्राय वेदको मानते थे। ऐसे समयमे ईश्वरकृष्ण, विन्ध्यवासी, वात्स्यायन, असंग, वसुबन्धु आदि विद्वान् दोनो परम्पराओंमे आविर्भूत हुए। और उन्होने स्वपक्षके समर्थन एवं परपक्षके

खण्डनके लिए अनेक शास्त्रोंकी रचना की । इस तरह वह समय सभी दर्शनोंका अखाडा बन गया था । सभी दार्शनिक एक दूसरेको परास्त करनेमे लगे थे । इस सबका आभास उस कालमे रचे एवं उपलब्ध दार्शनिक साहित्य से होता है ।

इसी समय जैन परम्परामे दक्षिण भारतमे महामनीषी समन्तभद्रका उदय हुआ, जो उनकी उपलब्ध कृतिओसे प्रतिभाशाली और तेजस्वी पाण्डित्यसे युक्त प्रतीत होते हैं । उन्होने उक्त दार्शनिकोंके संघर्षको देखा और अनुभव किया कि परस्परमें एकान्तोके आग्रहसे वास्तविक तत्त्व लुप्त हो रहा है । सभी दार्शनिक अपने-अपने पक्षाग्रहके अनुसार तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं । कोई तत्त्वको मात्र भाव (अस्तित्व) रूप, कोई अभाव (नास्तित्व) रूप, कोई अद्वैत (एक) रूप, कोई द्वैत (अनेक) रूप, कोई शाश्वतरूप कोई अशाश्वत-रूप, कोई पृथक् (भेद) रूप, कोई अपृथक् (अभेद) रूप मान रहा है, जो तत्त्व (वस्तु) का एक-एक अश है, समग्र रूप नही । इस सबकी झलक उनकी 'आप्तमीमासा' में मिलती है । उसमे उन्होने इन सभी एकान्त मान्यताओको प्रस्तुत कर उनका समन्वय किया है इसका विस्तृत विवेचन उनके ग्रन्थोसे किया जा सकता है ।

यद्यपि श्रमण और श्रमणेतरोके वादोकी चर्चा दृष्टिवादमे उपलब्ध है । किन्तु समन्तभद्रके कालमे वह उभरकर अधिक आई । समन्तभद्रने किसीके पक्षको मिथ्या बतलाकर तिरस्कृत नही किया, अपितु उन्हें वस्तुका अपना एक-एक अश (धर्म) बतलाया । वक्ता जिस धर्मकी विवक्षा करेगा वह मुख्य हो जायेगा और शेष धर्म गौण । इस तरह समन्तभद्रने वस्तुको अनतधर्मा सिद्ध करके स्याद्वादके द्वारा समस्त विवादोको शमित किया । इसके सिवाय प्रचलित एकान्तवादोका स्याद्वादन्याय द्वारा अपनी कृतियोंमे ही समन्वय नही किया, अपितु भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरके सभी देशो व नगरोमें पदयात्रा करके वादियोसे शास्त्रार्थ भी किए । और उनके एकान्तोको स्याद्वादन्यायसे समाहित किया । उदाहरणके लिए श्रवणबेल-गोला (कर्नाटक) का एक शिलालेख न० ५४ यहाँ दे रहे है :—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क विषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

इस पद्यमे समन्तभद्रने स्पष्ट कहा है कि "हे राजन् ! मैंने पहले पाटलिपुत्र (पटना) नगरमे वादके लिए भेरी बजाई और वहाँके वादिओके साथ वाद किया । उसके पश्चात् मालव, सिन्धु, ठक्क (पंजाब), कांचीपुर और वैदिश (विदिशा) मे वादिओको वादके लिए आहूत किया और अब करहाटक (कोल्हापुर) मे विद्याभिमानी वादिओको सिंहकी तरह ललकारा है ।"

समन्तभद्र वादार्थीके अतिरिक्त एक अन्य प्रसगमे किसी राज सभामे अपना परिचय भी देते हैं :—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पंडितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तांत्रिकोऽहं ।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥

इसमे कहा है कि "हे राजन् ! मै आचार्य हूँ, मैं कवि हूँ, मैं वादिराट् हूँ, मैं पंडित हूँ, मैं दैवज्ञ हूँ, मैं भिषग् हूँ, मैं मान्त्रिक हूँ, मैं तान्त्रिक हूँ और तो क्या मैं इस समुद्रवलया पृथ्वी पर आज्ञासिद्ध हूँ, जो आदेश दूँ वही होता है । तथा सिद्धसारस्वत हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है ।"

समन्तभद्र ने एकान्तवादोंको तोड़ा नहीं, जोड़ा है। और वस्तुको अनेकांत स्वरूप सिद्ध किया है।

साथ ही स्याद्वादन्यायके अनेक अंगोंका प्रणयन किया। जैसे प्रमाणका लक्षण, प्रमाणके भेद, प्रमाणका विषय, प्रमाणके फलकी व्यवस्था, नय लक्षण, हेतुलक्षण, सप्तभंगीका समस्त वस्तुओंमें संयोजन, अनेकान्तमें भी अनेकान्त, वस्तुका स्वरूप, स्याद्वाद न्यायकी सम्यक्सिद्धि, सर्वज्ञकी सिद्धि आदि। इसीसे यह काल जैनदर्शन और जैनन्यायके विकासका आदिकाल है। और इस कालको समन्तभद्रकाल कहा जा सकता है। निस्सन्देह जैनदर्शन और जैनन्यायके लिए किया गया उनका यह महाप्रयास है।

समन्तभद्रके इस कार्यको उनके उत्तरवर्ती श्रीदत्त, पूज्यपाद-देवनंदि, सिद्धसेन, मल्लवादी, सुमति, पात्रस्वामी आदि जैन दार्शनिकों एवं तार्किकोंने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं द्वारा अग्रसारित किया। श्रीदत्तने, जो तिरेसठ वादियोंके विजेता थे, जल्पनिर्णय, पूज्यपाद-देवनंदिने सारसंग्रह एवं सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेनने सन्मतिसूत्र, मल्लवादीने द्वादशारनयचक्र, सुमतिदेवने सन्मतिटीका और पात्रस्वामीने त्रिलक्षणकदर्शन जैसी तार्किक कृतियोंको रचा है। दुर्भाग्यसे जल्पनिर्णय, सारसंग्रह, सन्मतिटीका और त्रिलक्षणकदर्शन आज उपलब्ध नहीं हैं, केवल उनके तर्कग्रन्थों तथा शिलालेखोंमें उल्लेख पाये जाते हैं। सिद्धसेनका सन्मतिसूत्र, पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि और मल्लवादीका द्वादशारनयचक्र उपलब्ध हैं; जो समन्तभद्रकी कृतियोंके आभारी हैं।

इस कालमें और भी दर्शन एवं न्यायके ग्रन्थ रचे गए होंगे, जो आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। बौद्ध, वैदिक और जैन शास्त्रभण्डारोंका अभी पूरी तरह अन्वेषण नहीं हुआ, अन्वेषण होनेपर सम्भव है कि उनमें कोई ग्रन्थ उपलब्ध हो जाए। पहले अकलंकका 'सिद्धि-विनिश्चय' और 'प्रमाणसंग्रह' अश्रुत थे। अब वे एक श्वेताम्बर शास्त्र भण्डारमें प्राप्त हो गये और उनका भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशन भी हो चुका है। बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (ई० ७वी-८वी शती) और उनके साक्षात् शिष्य कमलशीलने तत्त्वसंग्रह एवं उसकी टीकामें जैन तार्किकोंके नामोल्लेख अथवा बिना नामोल्लेखके कई जैन तर्कग्रन्थोंके उद्धरण प्रस्तुत किये हैं और उनकी आलोचना की है। परन्तु वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

इस तरह हम देखते हैं कि इस आदिकाल अथवा समन्तभद्रकालमें जैनदर्शन और जैनन्यायकी एक योग्य और उत्तम भूमिका बन चुकी थी।

२. मध्यकाल अथवा अकलंककाल

यह काल ईसवी सन् ६५० से ईसवी सन् १०५० तक माना जाना चाहिए। समन्तभद्र द्वारा निर्मित जैनन्यायकी उक्त भूमिकापर इस (जैनदर्शन और जैनन्याय) का उत्तुङ्ग एवं सर्वाङ्गपूर्ण महान् प्रासाद जिस कुशल एवं तीक्ष्णबुद्धि तार्किक–शिल्पीने खड़ा किया वह है सूक्ष्मप्रज्ञ 'अकलंकदेव'। अकलंकदेवके कालमें भी बलिष्ठ दार्शनिक मुठभेड़ थी। एक ओर शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, न्याय-निष्णात नैयायिक उद्योतकर आदि वैदिक विद्वान् जहाँ अपने-अपने पक्षोंपर आरूढ़ थे, वहीं दूसरी ओर धर्मकीर्ति, उनके तर्कपटु शिष्य एवं समर्थक व्याख्याकार प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि जैसे बौद्ध मनीषी भी अपनी मान्यताओंपर आग्रहबद्ध थे। शास्त्रार्थों और शास्त्रोंके निर्माणकी पराकाष्ठा थी। प्रत्येक दार्शनिकका प्रयत्न था कि जिस किसी तरह वह अपने पक्षको सिद्ध करे और परपक्षका निराकरण कर अपनी विजय प्राप्त करे। इसके अतिरिक्त परपक्ष असद् प्रकारोंसे तिरस्कृत एवं पराजित किया जाता था। विरोधीको 'पशु', 'अह्नीक', 'जड़मति' जैसे अभद्र शब्दोंका प्रयोग तो सामान्य था। यह काल जहाँ तर्कके विकासका मध्याह्न माना जाता है वहाँ इस कालमें दर्शन और न्यायका बड़ा उपहास भी हुआ है। तत्त्वके संरक्षणके लिए छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे असत् साधनोंका खुलकर प्रयोग करना और उन्हें स्वपक्ष सिद्धिका साधन एवं

शास्त्रार्थोका अंग मानना इस कालकी देन बन गई थी । क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, शब्दाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत आदि वादोंका पुरजोर समर्थन इस कालमे धडल्लेसे किया गया और कट्टरतासे विपक्षका निरास किया गया ।

इस दार्शनिक एवं तार्किक संघर्षके कालमे सूक्ष्मदृष्टि अकलंकका प्रादुर्भाव हुआ । उन्होंने इस समग्र स्थितिका अध्ययन किया तथा सभी दर्शनोका गहरा एवं सूक्ष्म चिन्तन किया, उन्हे प्रच्छन्नवेशमें तत्कालीन शिक्षाकेन्द्रों, यथा काञ्ची, नालन्दा आदि विश्वविद्यालयोमे अध्ययन करना पडा ।

समन्तभद्रने जो स्याद्वाद, अनेकातवाद और सप्तभगीका प्रतिपादन किया था, उसे ठीक तरह से न समझनेके कारण दिग्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वानो तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि वैदिक मनोषियोने खण्डन करनेका प्रयत्न किया । अकलंकने उसका उत्तर देनेके लिए दो अपूर्व कार्य किए । एक तो स्याद्वाद और अनेकांतपर किये गये आक्षेपोंका सबल जवाब दिया । दूसरा कार्य जैनदर्शन और जैनन्यायके चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रणयन किया, जिनमें उन्होने न केवल अनेकात स्याद्वाद और सप्तभगीपर किये गये आक्षेपोंका उत्तर दिया, अपितु उन सभी एकान्तपक्षोमें दूषण भी प्रदर्शित किये । उनके वे दोनो कार्य हम यहाँ सक्षेपमें देनेका प्रयत्न करेंगे ।

दूषणोद्धार

आप्तमीमासामे समन्तभद्रने अर्हन्तकी सर्वज्ञता और उनके उपदेश (स्याद्वाद) की सहेतुक सिद्धि की है । दोनोंमें साक्षात् (प्रत्यक्ष) और असाक्षात् (परोक्ष) का भेद बतलाते हुए दोनोको सर्वतत्त्वप्रकाशक कहा है । उनमें इतना ही अंतर है कि अर्हन्त वक्ता हैं और स्याद्वाद उनका वचन है । यदि वक्ता प्रमाण हैं तो उसका वचन भी प्रमाण माना जाता है । आप्तमीमासामे अर्हन्तको युक्तिपुरस्सर आप्त सिद्ध किया गया है और उनका उपदेश स्याद्वाद भी प्रमाण माना गया है ।

मीमासक कुमारिलको यह सह्य नही हुआ, क्योकि वे किसी पुरुषको सर्वज्ञ स्वीकार नही करते, तथा वेदको अपौरुषेय मानते हैं । अतएव कुमारिल 'अर्हत्'की सर्वज्ञतापर आपत्ति करते हुए कहते हैं—

एवं यै केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥
नर्ते तदागमात्सिद्धयेन्न च तेनागमो विना ।

यहाँ कहा गया है कि जो सूक्ष्म, अतीत आदि विषयोका अतीन्द्रिय केवलज्ञान पुरुषके माना जाता है वह आगमके बिना सिद्ध नही होता और आगम उसके बिना सम्भव नही । इस प्रकार दोनोमे अन्योन्याश्रय दोष होनेसे न अर्हत् सर्वज्ञ हो सकता है और न उनका उपदेश (स्याद्वाद) ही सिद्ध हो सकता है ।

यह अर्हत्की सर्वज्ञता और उनके स्याद्वाद रूप उपदेशपर कुमारिलका एक साथ आक्षेप है । अकलंकने इस आक्षेपका उत्तर सबलताके साथ इस प्रकार दिया है—

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।
नर्ते तदागमात् सिद्धयेन्न च तेन विनाऽऽगमः ॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥

"यह सच है कि अनुमान द्वारा सिद्ध केवलज्ञान (सर्वज्ञता) आगमके बिना और आगम केवलज्ञान-

के बिना सिद्ध नहीं होता तथापि उनमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि पुरुषातिशय (केवलज्ञान) को अर्थवश (प्रतीतिवश) माना जाता है। दोनोंमे बीजाकुरके प्रवाहकी तरह अनादि प्रवाह माना गया है। अतएव अर्हत्की सर्वज्ञता और उनका उपदेश (स्याद्वाद) दोनो ही युक्तिसिद्ध हैं।"

पाठक, यहाँ देखें कि समन्तभद्रने जो अनुमानसे आप्तमीमासा कारिका ५, ६, ७ मे सर्वज्ञताकी सिद्धि की है और जिसका समालोचन कुमारिलने उक्त प्रकारसे किया है, अकलकदेवने उसीका यहाँ विशदता-के साथ सहेतुक उत्तर दिया है। तथा सर्वज्ञता (केवलज्ञान) और आगम (स्याद्वाद) दोनोमे बीजाकुर-संततिकी तरह अनादिप्रवाह बतलाया है।

बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिने स्याद्वादपर निम्न प्रकारसे प्रहार किया है—

एतेनैव यत्किंचिदयुक्तमश्लीलमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसम्भवात्॥

"धर्मकीर्ति कहते हैं कि कपिलमतके खण्डनसे ही जैनदर्शनका, जो अयुक्त, अश्लील और आकुलरूप 'किंचित्' (स्यात्) का प्रलाप है वह खण्डित हो जाता है, क्योकि उनका कथन भी एकान्तरूप सम्भव है।"

यहाँ धर्मकीर्तिने समन्तभद्रके "सर्वथा (एकात) के त्यागपूर्वक किंचित्के विधानरूप स्याद्वाद (आ० मी० १०४)" का खण्डन किया है। इस खण्डनमें "तदप्येकान्तसम्भवात्" पदका प्रयोग करके उन्होंने समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद लक्षणकी मीमासा की भी है।

इसका भी उत्तर अकलकदेवने मय व्याजके निम्न प्रकार दिया है—

ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्,
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायतेनापि किंचित्,
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जड़धीराकुलः व्याकुलाप्त.॥

—न्यायविनिश्चय का० १७०

'कोई बौद्ध विज्ञप्तिमात्र तत्त्वको मानते हैं, कोई बाह्यपदार्थके सद्भावको स्वीकार करते हैं, कोई दोनोंको लोकानुसार अगीकार करते हैं और कोई कहते हैं कि न बाह्यतत्त्व है, न आभ्यतर तत्त्व, तथा न उनको जाननेवाला है। और न कोई उसका फल है। ऐसा परस्परविरुद्ध वे प्रलाप करते है। ऐसे लोगोको अश्लील, उन्मत्त, जडबुद्धि और आकुल कहा जाना चाहिए।'

धर्मकीर्ति केवल स्याद्वादपर आक्षेप करके ही मौन नही रहे, किन्तु 'स्याद्वाद'के वाच्य 'अनेकात'के खण्डनपर भी उन्होंने कलम चलाई है। यथा—

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥

—प्र० वा० १–१८३

'यदि सब पदार्थ उभयरूप (अनेकान्तात्मक) हैं तो उनमे कुछ भेद न होनेके कारण किसीको 'दही खा' कहनेपर वह ऊँटको खानेके लिए क्यो नही दौड़ता ?

यहाँ धर्मकीर्तिने जिस उपहास एवं व्यंग्यके साथ समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादके वाच्य अनेकान्त-की खिल्ली उड़ाई है, अकलंकदेवने भी उसी उपहासके साथ धर्मकीर्तिको उत्तर दिया है। यथा—

दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोपि विदूषकः ॥
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृग खाद्यो यथेष्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥

—न्या० वि० ३७२, ३७३, ३७४।

"दही और ऊँटको एक बतलाकर दोष देना धर्मकीर्तिका पूर्वपक्ष (अनेकान्त) को न समझना है वे दूषक (दूषण प्रदर्शक) होकर भी विदूषक–दूषक नही, उपहासके ही पात्र हैं, क्योंकि सुगत भी पूर्व पर्यायमे मृग थे और वह मृग भी सुगत हुआ, फिर भी सुगत वदनीय एवं मृग भक्षणीय कहा गया है।'

इस तरह सुगत एव मृगमे पर्याय भेदसे जिस कार क्रमश· वंदनीय एवं भक्षणीयका भेद तथा एक चित्तसंतानकी अपेक्षासे उनमे अभेदकी व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार वस्तु बल (प्रतीतिवश) से सभी पदार्थोंमें भेद और अभेद दोनोकी व्यवस्था है। अत किसीको 'दही खा' कहने पर वह ऊँटको खानेके लिए क्यो दौडेगा, क्योकि सत्सामान्यकी अपेक्षासे उनमे अभेद होनेपर भी पर्याय (पृथक्-पृथक् प्रत्ययके विषय की अपेक्षासे उनमें स्पष्टतया भेद है। सज्ञा भेद भी है। एकका नाम दही है और दूसरेका नाम ऊँट है, तब जिसे दही खानेको कहा वह दही ही खायेगा, ऊँटको नही, क्योकि दही भक्षणीय है, ऊँट भक्षणीय नही। जैसे सुगत वदनीय एवं मृग भक्षणीय है। यही वस्तुव्यवस्था है। भेदाभेद (अनेकान्त) तो वस्तुका स्वरूप है। उसका अपलाप नही किया जा सकता"।

यहाँ अकलंकने धर्मकीर्तिके आक्षेपका शालीन किन्तु उपहास पूर्वक, चुभने वाला करारा उत्तर दिया है। यह विदित है कि बौद्ध परम्परामे आप्तरूपमे मान्य सुगत पूर्व जन्ममे मृग थे, उस समय वे मास भक्षियोके भक्ष्य थे, किन्तु जब वही पूर्व पर्यायका मृग मरकर सुगत हुआ, तो वह वदनीय हो गया। इस प्रकार एक चित्तसतानकी अपेक्षा उनमे अभेद है। और मृग तथा सुगत इन दो पूर्वापर पर्यायोकी अपेक्षा से उनमें भेद है।

इस प्रकार जगतकी प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्षदृष्ट भेदाभेदको लिए हुए है। और यही अनेकान्त है, कोई वस्तु इस अनेकान्तकी अवहेलना नही कर सकती।

इस तरह अकलंकदेवने विभिन्न वादियो द्वारा स्याद्वाद और अनेकान्तपर किये गये आक्षेपोंका सयुक्तिक परिहार किया।

नव निर्माण

अकलंकदेवका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य नवनिर्माण है। जैनन्यायके जिन आवश्यक तत्त्वोंका विकास और प्रतिष्ठा अब तक नही हो पायी थी, उसकी उन्होने प्रतिष्ठा की। इसके हेतु उन्होने जैनन्यायके निम्न चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोकी रचना की—

१–न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित),
२–सिद्धिविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित),
३–प्रमाणसंग्रह (स्वोपज्ञवृत्ति सहित),
४–लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्ति समन्वित)।

बौद्ध परम्परामें जिस प्रकार धर्मकीर्तिने बौद्धदर्शन और बौद्धन्यायको प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय जैसे कारिकात्मक ग्रन्थोंका निर्माणकर निबद्ध किया है उसी प्रकार अकलंकदेवने भी जैनदर्शन और जैन-न्यायको इन चार कारिकात्मक ग्रन्थो द्वारा निबद्ध किया है। न्यायविनिश्चय मे ४३०, सिद्धि-विनिश्चयमे ३६७, प्रमाणसग्रहमे ८७ और लघीयस्त्रयमे ७८ कारिकाये है। चारो ग्रन्थोकी कुल कारिकायें ९६२ हैं। प्रत्येक कारिका सूत्रात्मक, बह्वर्थगर्भ और गम्भीर है। चारों ग्रन्थ अत्यन्त क्लिष्ट, दुरवगाह और दुरूह हैं। चारो पर उनकी स्वोपज्ञवृत्तियाँ हैं, ये वृत्तियाँ भी अत्यन्त कठिन हैं। हर्षकी बात है कि इन चारो पर वैदुष्यपूर्ण व्याख्याएँ भी लिखी गई है। न्यायविनिश्चय पर स्याद्वादविद्यापति वादिराज (ई० १०२५) ने न्यायविनिश्चयालंकार अपर नाम न्यायविनिश्चयविवरण, सिद्धिविनिश्चय पर तार्किक शिरोमणि बृहदनन्त-वीर्य (ई० ८५०) ने सिद्धिविनिश्चयालंकार तथा इन्होंने ही प्रमाणसग्रह पर प्रमाणसग्रहभाष्य और आचार्य माणिक्यनन्दि (ई० १०२८) के शिष्य आचार्य प्रभाचन्द्र (१०४३) ने लघीयस्त्रय पर लघीयस्त्रया-लंकार अपर नाम न्यायकुमुदचन्द्र नामकी विस्तृत एव प्रौढ़ टीकाये लिखी है। इनमे प्रमाणसग्रहभाष्य अनुपलब्ध है। शेष तीनो टीकाये उपलब्ध है, और अपने मूलके साथ भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्लीसे प्रकाशित हैं। इन तीनोका सुयोग्य सम्पादन स्व० प० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्यने किया है। प्रमाणसग्रहभाष्यका उल्लेख स्वय अनन्तवीर्यने अपने सिद्धिविनिश्चयालंकारमे अनेक स्थलों पर विस्तृत जाननेके लिए किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रमाणसग्रहभाष्य भी एक विस्तृत टीका ग्रन्थ रहा है।

अकलंकदेवने इन चारो तर्कग्रन्थोमे अन्य तार्किकोकी एकान्तमान्यताओकी कडी तथा मर्मस्पर्शी समीक्षा की है। जैनदर्शनमे मान्य प्रमाण, नय और निक्षेपके स्वरूप, उनके भेद, विषय तथा प्रमाणफलका विवेचन विशदतया किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और मुख्य इन दो प्रकारोकी प्रतिष्ठा, परोक्ष-प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाच भेदोका निर्धारण, उनकी सयुक्तिक सिद्धि, उनके लक्षणोका प्रणयन तथा इन्ही परोक्षभेदोमे उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव आदि अन्य तार्किकोके स्वीकृतप्रमाणोका अन्तर्भाव, सर्वज्ञकी विविध युक्तियोंसे विशेष सिद्धि, अनुमानके साध्य-साधन अङ्गोके लक्षण और भेदोका विस्तृत निरूपण, कारण हेतु, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि अनिवार्य नये हेतुओकी प्रतिष्ठा अन्यथानुपपत्तिके अभावसे एक अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका स्वीकार और उसके भेदरूपसे असिद्धादि हेत्वाभासोका प्रतिपादन, वादका लक्षण, जय पराजय-व्यवस्था, दृष्टात, धर्मी, जाति और निग्रह-स्थानके स्वरूप आदिका कितना ही नया प्रतिष्ठापन करके जैन न्यायको अकलक देवने न केवल समृद्ध एवं परिपुष्ट किया, अपितु उन्हे भारतीय दर्शनो एव न्यायोमे प्रतिष्ठित एव गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया, जैसा बौद्धदर्शन और बौद्धन्यायको धर्मकीर्तिने दिया। अतः अकलंकको जैनदर्शन और जैनन्यायके मध्य-कालका प्रतिष्ठापक और इस कालको अकलककाल कहा जा सकता है।

अकलंकके इस कार्यको उत्तरवर्ती जैन दार्शनिको एवं जैन नैयायिकोने गति प्रदान की, वीरसेन, हरिभद्र, कुमारनंदि, विद्यानद, अनंतवीर्यप्रथम, वादीभसिह, वादिराज, माणिक्यनंदि आदि मध्ययुगीन जैन तार्किकोंने उनके कार्यको निश्चय ही आगे बढ़ाया और उसे यशस्वी एवं प्रभावपूर्ण बनाया। अकलंकके गम्भीर और सूत्रात्मक निरूपण तथा चिन्तनको इन तार्किकोंने अपने ग्रन्थोंमे सुपुष्ट और विस्तृत किया है। वीरसेनकी सिद्धान्त एवं तर्क-बहुला धवला-जयधवला टीकाएँ, हरिभद्रकी अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्ता-समुच्चय, वादन्यायविचक्षण कुमारनंदिका वादन्याय, विद्यानदके विद्यानदमहोदय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और उसका भाष्य, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्य-शासन परीक्षा, युक्त्यनुशासनालंकार,

अनन्तवीर्य प्रथमकी सिद्धिविनिश्चय टीका व प्रमाणसंग्रहभाष्य, वादिराजके न्याय-विनिश्चयविवरण एवं प्रमाणनिर्णय, वादीभसिंहकी स्याद्वादसिद्धि और माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख अकलंकके वाङ्मयसे पूर्णतया प्रभावित एवं उसके आभारी तथा उल्लेखनीय तार्किक रचनायें हैं, जिन्हें मध्यकालकी महत्त्वपूर्ण देन कहा जा सकता है।

३. अन्त्यकाल अथवा प्रभाचन्द्रकाल

यह काल जैन न्यायके विकासका अन्तिम काल है। इस कालमें मौलिक ग्रन्थोंके निर्माणकी क्षमता कम हो गई और व्याख्या-ग्रन्थोंका निर्माण मुख्य हो गया। यह काल तार्किक ग्रन्थोंके सफल और प्रभावशाली व्याख्याकार जैन तार्किक प्रभाचन्द्रसे आरम्भ होता है। उन्होंने इस कालमें अपने पूर्वज जैन दार्शनिकों एवं तार्किकोंका अनुगमन करते हुए जैन न्यायके दो ग्रन्थों पर जो विशालकाय व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं, वे अतुलनीय हैं। उत्तर कालमें उन जैसे व्याख्याग्रन्थ नहीं लिखे गये। अतएव इस कालको प्रभाचन्द्र काल कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। प्रभाचन्द्रने अकलंकदेवके लघीयस्त्रय पर लघीयस्त्रयालंकार अपर नाम न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या ग्रन्थ लिखा है। न्यायकुमुदचन्द्र वस्तुतः न्यायरूपी कुमुदोंको विकसित करनेवाला चन्द्र है। इसमें प्रभाचन्द्रने अकलंकके लघीयस्त्रयकी कारिकाओं और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति तथा उनके दुरूह पदवाक्यादिकों-की विशद एवं विस्तृत व्याख्या तो की ही है, किन्तु प्रसंगोपात्त विविध तार्किक चर्चाओं द्वारा अनेक अनुद्घाटित तथ्यों एवं विषयों पर भी नया प्रकाश डाला है। इसी तरह उन्होंने अकलंकके वाङ्मय मथनसे प्रसूत माणिक्यनन्दिके आद्य जैन न्यायसूत्र परीक्षामुख पर जिसे लघु अनन्तवीर्यने 'न्यायविद्यामृत' कहा है, परीक्षामुखालंकार अपरनाम प्रमेयकमलमार्तण्ड नामकी प्रमेयबहुला एवं तर्कगर्भा व्याख्या रची है। इस व्याख्यामें भी प्रभाचन्द्रने अपनी तर्कपूर्ण प्रतिभाका पूरा उपयोग किया है। परीक्षामुखके प्रत्येक सूत्रका विस्तृत एवं विशद व्याख्यान किया है। इसके साथ ही अनेक शंकाओंका सयुक्तिक समाधान किया है। मनीषियोंको यह व्याख्याग्रन्थ इतना प्रिय है कि वे जैनदर्शन और जैनन्याय सम्बन्धी प्रश्नोंके समाधानके लिए इसे बड़ी रुचिके साथ पढ़ते हैं और उसे प्रमाण मानते हैं।

वस्तुतः प्रभाचन्द्रके ये दोनों व्याख्याग्रन्थ मूल जैसे ही हैं, जो उनकी अमोघतर्कणा और उनके उज्ज्वल यशको प्रसृत करते हैं।

प्रभाचन्द्रके कुछ ही काल बाद अभयदेवने सिद्धसेन प्रथमके सन्मतिसूत्र पर विस्तृत सन्मतितर्कटीका लिखी है। यह टीका अनेकांत और स्याद्वाद पर विशेष प्रकाश डालती है। देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर अपर-नाम प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार टीका भी उल्लेखनीय है। ये दोनों व्याख्याएँ प्रभाचन्द्रकी उपर्युक्त व्याख्याओंसे प्रभावित एवं उनकी आभारी हैं। प्रभाचन्द्रकी तर्क पद्धति और शैली इन दोनोंमें परिलक्षित है।

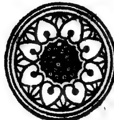
इन व्याख्याओंके सिवाय इस कालमें लघु अनन्तवीर्यने परीक्षामुखपर मध्यम परिमाणकी परीक्षामुख-वृत्ति अपरनाम प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। यह वृत्ति मूलसूत्रों के अर्थको तो व्यक्त करती ही है, सृष्टि-कर्ता जैसे वादग्रस्त विषयों पर भी अच्छा एवं विशद प्रकाश डालती है। लघीयस्त्रय पर लिखी अभयचन्द्रकी तात्पर्यवृत्ति, हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा, मल्लिषेणकी स्याद्वादमंजरी, पण्डित आशाधरका प्रमेयरत्नाकर, भावसेनका विश्वतत्त्वप्रकाश, अजितसेनकी न्यायमणिदीपिका, अभिनवधर्मभूषणयतिकी न्यायदीपिका, नरेन्द्र-सेनकी प्रमाणप्रमेयकलिका, विमलदासकी सप्तभङ्गीतरङ्गिणी, चारुकीर्ति भट्टारककी अर्थप्रकाशिका तथा प्रमेयरत्नालंकार, यशोविजयके अष्टसहस्रीविवरण, जैन तर्कभाषा और ज्ञान बिन्दु इसकालकी उल्लेखनीय तार्किक रचनाएँ हैं। अंतिम तीन तार्किकोंने अपनी रचनाओंमें नव्यन्यायशैलीको भी अपनाया है, जो बारहवीं

शतीके विद्वान् गङ्गेश उपाध्यायसे उद्भूत हुआ और जिसे तीन-चार दशक तक अध्ययन, अध्यापनमें विद्यमान रहा। इसके बाद जैन न्यायका कोई मौलिक या व्याख्याग्रन्थ लिखा गया हो, यह ज्ञात नहीं। फलतः उत्तरकालमें जैनन्यायका प्रवाह अवरुद्ध हो गया।

इस बीसवीं शताब्दीमें अवश्य कतिपय जैन दार्शनिक एवं जैन नैयायिक हुए, जो उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखित जैनदर्शन और जैन न्यायके ग्रन्थोंका न केवल अध्ययन-अध्यापन किया, अपितु उनका राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनुवाद एवं सम्पादन भी किया है। साथमें उनकी अनुसंधान पूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ भी लिखी हैं, जिनमें ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारके ऐतिहासिक परिचयके अतिरिक्त ग्रन्थगत विषयोंका भी तुलनात्मक एव समीक्षात्मक आकलन प्रस्तुत किया गया है।

उदाहरणके लिए सन्त प्रवर न्यायाचार्य श्री गणेशप्रसाद वर्णी, न्यायाचार्य पं० माणिक्यचंद कौन्देय, पं० सुखलाल संघवी, डॉ० पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं० दलसुख मालवणिया और प्रस्तुत आलेखके लेखक (डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया) के नाम विशेष उल्लेखनीय है। वर्णीजीने अनेक छात्रोंको जैनदर्शन एव न्यायमें प्रशिक्षित किया, श्री कौन्देयने आचार्य विद्यानंदके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भाष्यका सात खण्डोंमें हिन्दी रूपान्तर किया है। श्री सघवीने प्रमाणमीमासा, ज्ञानबिन्दु, सन्मतितर्क, जैनतर्कभाषा आदि तर्क ग्रन्थोंका वैदुष्यपूर्ण सम्पादन व उनकी प्रस्तावनायें लिखी हैं। डॉ० पं० महेन्द्रकुमारने न्यायविनिश्चय-विवरण, सिद्धिविनिश्चयटीका, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अकलंकग्रन्थत्रय, तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य, तत्त्वार्थ-वृत्ति आदिका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन एव उनकी अनुसन्धानपूर्ण प्रस्तावनायें लिखी हैं। श्री मालवणियाने "आगमयुगका जैनदर्शन" आदिका लेखन-सम्पादन किया है। डॉ० कोठियाने न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्र परीक्षा, स्याद्वादसिद्धि, प्रमाणप्रमेयकलिका, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थोंका सम्पादन एव हिन्दी अनुवाद किया तथा उनकी शोधपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ उनके साथ निबद्ध की हैं। इसके अतिरिक्त "जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, जैन तत्त्वज्ञानमीमांसा आदि मौलिक रचनाएँ भी हिन्दीमें प्रस्तुत की हैं।" पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीका जैनन्याय भी उल्लेखनीय है।

इस प्रकार जैन तार्किकोंने अपनी तार्किक रचनाओं द्वारा जैन वाङ्मयके भण्डारको समृद्ध किया है। और जैन न्यायका उल्लेखनीय विकास किया।



जैनदार्शनिक साहित्य

• डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य

इस प्रकरणमे प्रमुख रूपसे उन प्राचीन जैनदार्शनिको और मूल जैनदर्शनग्रन्थोंका नामोल्लेख किया गया, जिनके ग्रन्थ किसी भंडारमें उपलब्ध है तथा जिनके ग्रन्थ प्रकाशित हैं। उन ग्रन्थो और ग्रन्थकारोंका निर्देश भी यथासभव करनेका प्रयत्न करेगे, जिनके ग्रन्थ उपलब्ध तो नही हैं, परन्तु अन्य ग्रन्थोमें जिनके उद्धरण पाये जाते हैं या निर्देश मिलते हैं। इसमे अनेक ग्रन्थकारोंके समयकी शताब्दी आनुमानिक हैं और उनके पौर्वापर्यमें कही व्यत्यय भी हो सकता है, पर यहाँ तो मात्र इस बातकी चेष्टा की गई है कि उपलब्ध और सूचित प्राचीन मूल दार्शनिक साहित्यका सामान्य निर्देश अवश्य हो जाय।

दिगम्बर आचार्य[1]

उमास्वाति—(वि० १—३ री)	तत्त्वार्थसूत्र	प्रकाशित
समन्तभद्र (वि० २-३ री)	आप्तमीमासा	प्रकाशित
	युक्त्यनुशासन	,,
	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	,,
	जीवसिद्धि	'पार्श्वनाथचरित'मे वादिराजद्वारा उल्लिखित
सिद्धसेन (वि० ४-५वी)	सन्मतितर्क	प्रकाशित
	(कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ)	,,
देवनन्दि (वि० ६वी)	सारसग्रह	धवला-टीकामे उल्लिखित
श्रीदत्त (वि० ६वी)	जल्पनिर्णय	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे विद्यानन्दद्वारा उल्लिखित।
सुमति (वि० ६वी)	सन्मतितर्कटीका	पार्श्वनाथचरितमें वादिराजद्वारा उल्लिखित
	सुमतिसप्तक	मल्लिषेण-प्रशस्तिमें निर्दिष्ट

[इन्हीका निर्देश शान्तरक्षितके तत्त्वसग्रहमें 'सुमतेर्दिगम्बरस्य'के रूपमें है]

पात्रकेसरी (वि० ६वी)	त्रिलक्षणकदर्शन	अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चय टीकामें उल्लिखित
	पात्रकेसरी-स्तोत्र	प्रकाशित

[इन्हीका मत शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें 'पात्रस्वामि'के नामसे दिया है।]

वादिसिंह (६-७वी)		वादिराजके पार्श्वनाथचरित और जिनसेनके महापुराणमें स्मृत
अकलंकदेव (वि० ७००)	लघीयस्त्रय	प्रकाशित
	(स्ववृत्तिसहित)	(अकलङ्कग्रन्थत्रयमें)
	न्यायविनिश्चय	प्रकाशित

१. श्रीवर्णीग्रन्थमाला, बनारसमे संकलित ग्रन्थ-सूचीके आधारसे।

अकलंकदेव (वि० ७००)	(न्यायविनिश्चय-विवरणसे उद्धृत)	(अकलङ्कग्रन्थत्रयमें) प्रकाशित
	प्रमाणसंग्रह	(अकलङ्कग्रन्थत्रयमें)
	सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिविनिश्चय-टीकासे उद्धृत),	प्रकाशित
	अष्टशती (आप्तमीमांसाकी टीका)	प्रकाशित
	प्रमाणलक्षण (?)	मैसूरकी लाइब्रेरी तथा कोचीन-राज पुस्तकालय तिरूपुणिट्ठणमें उपलब्ध
	तत्त्वार्थवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्रकी टीका)	प्रकाशित

[जिनदासने निशीथचूर्णिमें इन्हीके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख दर्शनप्रभावक शास्त्रोंमे किया है ।]

कुमारसेन (वि० ७७०)		जिनसेन द्वारा महापुराणमें स्मृत
कुमारनन्दि (वि० ८वी)	वादन्याय	विद्यानन्द द्वारा प्रमाणपरीक्षामें उल्लिखित
वादीभसिंह (वि० ८वी)	स्याद्वादसिद्धि	प्रकाशित
	नवपदार्थनिश्चय	मूडबिद्री भंडारमें उपलब्ध
अनन्तवीर्य (वृद्ध) (वि० ८-९वी)	सिद्धिविनिश्चयटीका	रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य-द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित
अनन्तवीर्य रविभद्रपादोपजीवी (९वीं)	सिद्धिविनिश्चयटीका	प्रकाशित
विद्यानन्द (वि० ९वीं)	अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा–अष्ट-शतीकी टीका)	प्रकाशित
	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्रकी टीका),	,,
	युक्त्यनुशासनालङ्कार,	,,
	विद्यानन्दमहोदय	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें स्वयं निर्दिष्ट तथा वादिदेवसूरि द्वारा स्याद्वाद-रत्नाकरमें उद्धृत
	आप्तपरीक्षा	प्रकाशित
	प्रमाणपरीक्षा	प्रकाशित
	पात्रपरीक्षा	,, आप्तपरीक्षाके साथ

विद्यानन्द (वि० ९वीं)	सत्यशासनपरीक्षा	प्रकाशित
	श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	प्रकाशित
	पंचप्रकरण	अप्रकाशित जैनमठ श्रवणबेल्गोलामें उपलब्ध (मैसूरकुर्गसूची नं २८०३)
	नयविवरण (?) (त० श्लोकवा० का अंश)	प्रकाशित
अनन्तकीर्ति (१०वी)	जीवसिद्धिटीका	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमे उल्लिखित
	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	प्रकाशित
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	,,
देवसेन (९९० वि०)	नयचक्रप्राकृत	प्रकाशित
	आलापपद्धति	,,
वसुनन्दि (१९वी, ११वी)	आप्तमीमांसावृत्ति	,,
माणिक्यनन्दि (वि० ११वीं)	परीक्षामुख	,,
सोमदेव (वि० ११वी)	स्याद्वादोपनिषत्	दानपत्रमें उल्लिखित, जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८८
वादिराज सूरि (वि० ११वीं)	न्यायविनिश्चयविवरण	प्रकाशित
	प्रमाणनिर्णय	,,
माइल्ल धवल (वि० ११वीं)	द्रव्यस्वभावप्रकाश प्राकृत	प्रकाशित
प्रभाचन्द्र (वि० ११-१२वी)	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुख-टीका)	,,
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय-टीका),	,,
	परमतझंझानिल	जैन गुरु चित्तापुर आरकाट नार्थके पास
अनन्तवीर्य (वि० १२वी)	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख-टीका)	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि० १२-१३वी)	विश्वतत्त्वप्रकाश	स्याद्वाद विद्यालय बनारसमे उपलब्ध
लघुसमन्तभद्र (१३वीं)	अष्टसहस्री-टिप्पण	प्रकाशित
आशाधर (वि० १३वीं)	प्रमेयरत्नाकर	आशाधर-प्रशस्तिमें उल्लिखित
शान्तिषेण (वि० १३वी)	प्रमेयरत्नाकर	जैन सिद्धान्त-भवन, आरा
जिनदेव धर्मभूषण (वि० १५वीं)	कारुण्यकालिका	न्यायदीपिकामें उल्लिखित
	न्यायदीपिका	प्रकाशित

अजितसेन	न्यायमणिदीपिका (प्रमेयरत्नमाला-टीका)	जैन सिद्धान्त-भवन, आरामें उपलब्ध
विमलदास	सप्तभङ्गितरङ्गिणी	प्रकाशित
शुभचन्द्र	संशयवदनविदारण	,,
	षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयसंग्रह	प्रशस्तिसंग्रह, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
शुभचन्द्रदेव	परीक्षामुखवृत्ति	जैनमठ, मूडबिद्रीमें उपलब्ध
शान्तिवर्णी	प्रमेयकण्ठिका (परीक्षामुखवृत्ति)	जैन सिद्धान्त-भवन, आरामें उपलब्ध
चारुकीर्ति पंडिताचार्य	प्रमेयरत्नालङ्कार	,, ,,
नरेन्द्रसेन	प्रमाणप्रमेयकलिका	प्रकाशित
सुखप्रकाश मुनि	न्यायदीपावलि टीका	जैनमठ, मूडबिद्रीमें उपलब्ध
अमृतानन्द मुनि	न्यायदीपावलिविवेक	,, ,,
सण्डनाकन्द	तत्त्वदीपिका	जैनमठ, मूडबिद्रीमें उपलब्ध
जगन्नाथ (१७०३ वि०)	केवलिभुक्तिनिराकरण	जयपुर तेरापंथी मन्दिरमें उपलब्ध
वज्रनन्दि	प्रमाणग्रन्थ	धवलकवि द्वारा उल्लिखित
प्रवरकीर्ति	तत्त्वनिश्चय	जैनमठ, मूडबिद्रीमें उपलब्ध
अमरकीर्ति	समयपरीक्षा	हुम्मच गाणगणि, पुटप्पामें उपलब्ध
नेमिचन्द्र	प्रवचनपरीक्षा	जैन सिद्धान्त-भवन, आरा
मणिकण्ठ	न्यायरत्न	,,
शुभप्रकाश	न्यायमकरन्दविवेचन	,,
अज्ञातकर्तृक	षड्दर्शन	पद्मनाभशास्त्री, मूडबिद्रीके पास उपलब्ध
अज्ञातकर्तृक	श्लोकवार्तिकटिप्पणी	जैनमठ, श्रवणबेल्गोलामें उपलब्ध
,,	षड्दर्शनप्रपञ्च	जैन भवन, मूडबिद्रीमें उपलब्ध
,,	प्रमेयरत्नमालालघुवृत्ति	मद्रास सूची नं० १५७४
,,	अर्थव्यञ्जनपर्याय-विचार	,, ,, १५५७
,,	स्वमतस्थापन	जैनमठ, मूडबिद्री
,,	सृष्टिवाद-परीक्षा	,, ,,
,,	सप्तभङ्गी	,, ,,
,,	बल्मतर्क	,, ,,
,,	शब्दखण्डव्याख्यान	,, ,,
,,	प्रमाणसिद्धि	,, ,,
,,	प्रमाणपदार्थ	,, ,,
,,	परमतखण्डन	,, ,,

अज्ञातकर्तृक	न्यायामृत	जैनमठ, मूडबिद्री
,,	नयसंग्रह	,, ,,
,,	नयलक्षण	,, ,,
,,	न्यायप्रमाणमेयी	जैन सिद्धान्त भवन, आरा
,,	न्यायप्रदीपिका	,, ,,
,,	प्रमाणनयग्रन्थ	,, ,,
,,	प्रमाणलक्षण	,, ,,
,,	मतखंडनवाद	,, ,,
,,	विशेषवाद	बम्बई सूची न० १६१२
	श्वेताम्बर आचार्य[1]	
उमास्वाति (वि० ३री)	तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञ भाष्य	प्रकाशित
सिद्धसेन दिवाकर (वि० ५-६वी)	न्यायावतार	प्रकाशित
	कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ	,,
मल्लवादि (वि० ६वी)	नयचक्र (द्वादशार)	प्रकाशित
	सन्मतितर्कटीका	अनेकान्तजयपताकामे उल्लिखित
हरिभद्र (वि० ८वी)	अनेकान्तजयपताका सटीक	प्रकाशित
	अनेकान्तवाद प्रवेश	,,
	षड्दर्शनसमुच्चय	,,
	शास्त्रवार्तासमुच्चय सटीक,	,,
	न्यायप्रवेश-टीका	,,
हरिभद्र	धर्मसग्रहणी,	प्रकाशित
	लोकतत्त्वनिर्णय	,,
	अनेकान्त प्रघट्ट	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूचीसे
	तत्त्वतरङ्गिणी,	,,
	त्रिभङ्गीसार	,,
	न्यायावतारवृत्ति	,,
	पञ्चलिङ्गी	,,
	द्विजवदनचपेटा	,,
	परलोकसिद्धि	,,
	वेदबाह्यतानिराकरण	,,
	सर्वज्ञसिद्धि	,,
	स्याद्वादकुचोद्यपरिहार	,,
शाकटायन	स्त्रीमुक्तिप्रकरण	जैन साहित्य सशोधकमें
(पाल्यकीर्ति) (वि० ९वी)	केवलमुक्तिप्रकरण	प्रकाशित
(यापनीय)		

१. 'जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार' के आधारसे ।

सिद्धर्षि (वि० १०वी)	न्यायावतार-टीका	प्रकाशित
अभयदेव सूरि (वि० ११वी)	सन्मतिटीका (वादमहार्णव)	प्रकाशित
जिनेश्वरसूरि (वि० ११वी)	प्रमालक्ष्म सटीक	प्रकाशित
	पञ्चलिङ्गीप्रकरण	,,
शान्तिसूरि (पूर्णतल्लगच्छीय) (वि० ११वी)	न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति	प्रकाशित
मुनिचन्द्रसूरि (वि० २वी)	अनेकान्तजयपताका-वृत्तिटिप्पण	प्रकाशित
वादिदेवसूरि (१२वी सदी)	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार	प्रकाशित
	स्याद्वादरत्नाकर	,,
हेमचन्द्र (पूर्णतल्लगच्छ) (वि० १२वी)	प्रमाणमीमासा	प्रकाशित
	अन्ययोगव्यवच्छेदिका	,,
	वादानुशासन	(अनुपलब्ध)
	वेदाकुश	प्रकाशित
देवसूरि (वीरचन्द्रशिष्य) (वि० ११६२)	जीवानुशासन	प्रकाशित
श्रीचन्द्रसूरि (वि० १२वी)	न्यायप्रवेशहरिभद्रवृत्तिपञ्जिका	प्रकाशित
देवभद्रसूरि (मलधारि श्रीचन्द्र शिष्य) (वि० १२वी)	न्यायावतारटिप्पण	,,
मलयगिरि (वि० १३)	धर्मसंग्रहणीटीका	प्रकाशित
चन्द्रसेन (प्रद्युम्नसूरि शिष्य) (वि० १३वी)	उत्पादादिसिद्धि सटीक	,,
आनन्दसूरि	सिद्धान्तार्णव	अनुपलब्ध
अमरसूरि (सिंहव्याघ्रशिशुक)		
रामचन्द्रसूरि (हेमचन्द्र शिष्य) (१३ वीं)	व्यतिरेकद्वात्रिंशिका	प्रकाशित
मल्लवादि (१३ वी)	धर्मोत्तरटिप्पणक	पं० दलसुखभाईके पास
प्रद्युम्नसूरि (१३ वी)	वादस्थल	जैनग्रन्थग्रन्थकारमे सूचित
जिनपतिसूरि (१३ वी)	प्रबोधवादस्थल	,, ,,
रत्नप्रभसूरि (१३ वी)	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
देवभद्र (१३ वी)	प्रमाणप्रकाश	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
नरचन्द्रसूरि (देवप्रभ शिष्य) (१३ वी)	न्यायकन्दलीटीका	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
अभयतिलक (१४ वी)	पञ्चप्रस्थन्यायतर्कव्याख्या	,, ,,
	तर्कन्यायसूत्रटीका	,, ,,
	न्यायलंकारवृत्ति	,, ,,

मल्लिषेण (१४ वीं)	स्याद्वादमञ्जरी	प्रकाशित
सोमतिलक (वि० १३९२)	षड्दर्शनटीका	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
राजशेखर (१५ वी)	स्याद्वादकलिका	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
	रत्नाकरावतारिका	
	पञ्जिका	प्रकाशित
	षड्दर्शनसमुच्चय	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
	न्यायकन्दलीपञ्जिका	
ज्ञानचन्द्र (१५ वी)	रत्नाकरावतारिकाटिप्पण	प्रकाशित
जयसिंहसूरि (१५ वी)	न्यायसारदीपिका	प्रकाशित
मेरुतुङ्ग (महेन्द्रसूरि शिष्य) (१५ वी)	षड्दर्शननिर्णय	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
गुणरत्न (१५ वी)	षड्दर्शनसमुच्चयकी	प्रकाशित
	तर्करहस्यदीपिका	
भुवनसुन्दरसूरि (१५ वी)	परब्रह्मोत्थापन	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें
	लघु-महाविद्याविडम्बन	,,
सत्यराज सुखानन्दगणिशिष्य (१६ वी)	जल्पमंजरी	,,
साधुविजय (१६ वी)	वादविजयप्रकरण	,,
	हेतुदर्शनप्रकरण	,,
सिद्धान्तसार (१६ वी)	दर्शनरत्नाकर	,,
दयारत्न (१७ वी)	न्यायरत्नावली	,,
शुभविजय (१७ वी)	तर्कभाषावार्तिक	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें
	स्याद्वादमाला	प्रकाशित
भावविजय (१७वी)	षर्ट्त्रिंशत्जल्पविचार	जैनग्रन्थग्रन्थकारमे
विनयविजय (१७ वी)	नयकर्णिका	प्रकाशित
	षर्ट्त्रिंशत्जल्पसंक्षेप	जैनग्रन्थ ग्रन्थकारमें
यशोविजय (१८वी)	अष्टसहस्रीविवरण	प्रकाशित
	अनेकान्तव्यवस्था	,,
	ज्ञानबिन्दु (नव्यशैलीमें)	,,
	जैनतर्कभाषा	,,
	देवधर्मपरीक्षा	,,
	द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका,	,,
	धर्मपरीक्षा	,,
	नयप्रदीप	,,
	नयोपदेश	प्रकाशित
	नयरहस्य	,,

यशोविजय (१८वीं)	न्यायखण्डखाद्य (नव्यशैली)	प्रकाशित
	न्यायालोक ,,	,,
	भाषारहस्य	,,
	शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका	,,
	उत्पादव्ययध्रौव्यसिद्धिटीका	,,
	ज्ञानार्णव	,,
	अनेकान्त प्रवेश	,,
	गुरुतत्त्वविनिश्चय	,,
	आत्मख्याति	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें
	तत्त्वालोकविवरण	,,
	त्रिसूत्र्यालोक	,,
	द्रव्यालोकविवरण	,,
	न्यायबिन्दु, प्रमाणरहस्य	,,
यशोविजय	मंगलवाद, वादमाला	,,
	वादमहार्णव, विधिवाद	,,
	वेदान्तनिर्णय	,,
	सिद्धान्ततर्क परिष्कार	,,
	सिद्धान्तमञ्जरी टीका	,,
	स्याद्वादमञ्जूषा	,,
	(स्याद्वादमञ्जरीकी टीका),	,,
	द्रव्यपर्याययुक्ति	,,
यशस्वत् सागर (१८वीं)	जैनसप्तपदार्थी	प्रकाशित
	प्रमाणवादार्थ	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें
	वादार्थनिरूपण	,,
	स्याद्वादमुक्तावली	प्रकाशित
भावप्रभसूरि (१८वीं)	नयोपदेशटीका	प्रकाशित
मयाचन्द्र (१९वीं)	ज्ञानक्रियावाद	जैनग्रन्थग्रन्थकार
पद्मविजयगणि (१९वीं)	तर्कसंग्रहफक्किका	,,
ऋद्धिसागर (२०वीं)	निर्णयप्रभाकर	,,

इत्यादि

इस तरह जैनदर्शन ग्रन्थोंका विशाल कोशागार है। इस सूचीमें संस्कृत ग्रन्थोंका ही प्रमुखरूपसे उल्लेख किया है। कन्नड भाषामें भी अनेक दर्शनग्रन्थोंकी टीकाएँ पाई जाती है। इन सभी ग्रन्थोंमें जैनाचार्योंने अनेकान्तदृष्टिसे वस्तुतत्त्वका निरूपण किया है, और प्रत्येक वादका खडन करके भी उनका नयदृष्टिसे समन्वय किया है। अनेक अजैनग्रन्थोंकी टीकाएँ भी जैनाचार्योंने लिखी हैं, वे उन ग्रन्थोंके हार्दको बड़ी सूक्ष्मतासे स्पष्ट करती हैं। इति।

स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समितिके पदाधिकारी

परम संरक्षक

स्वस्तिश्री कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी जी	मूडबिद्री
स्वस्तिश्री कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्ति जी	श्रवणबेलगोला
सिद्धान्ताचार्य पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य	बीना
समाजरत्न साहु अशोककुमार जैन	नई दिल्ली

संरक्षक

श्री निर्मल कुमार सेठी	लखनऊ
श्री देवकुमार सिंह कासलीवाल	इन्दौर
श्री विजयकुमार मलैया	दमोह
श्री रायबहादुर हरखचंद	राँची
श्री ज्ञानचंद खिन्दूका	जयपुर
श्री पद्मश्री बाबूलाल पाटौदी	इन्दौर
साहू रमेशचन्द्र जैन	दिल्ली

प्रधान सम्पादक

श्री पं० डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य	बीना

सम्पादक मण्डल

श्री पं० हीरालाल कौशल	दिल्ली
श्री डॉ० कस्तूरचंद्र कासलीवाल	जयपुर
श्री डॉ० राजाराम जैन	आरा
श्री डॉ० रतन पहाड़ी	कामठी
श्री डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु"	भोपाल
श्री डॉ० सागरमल जैन	वाराणसी
श्री डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी'	वाराणसी

प्रबन्ध सम्पादक

श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल	वाराणसी

अध्यक्ष

श्रीमंत सेठ डालचन्द जैन	सागर

उपाध्यक्ष

श्री सिंघई जीवनकुमार	सागर
श्री सेठ मोतीलाल जैन	सागर
श्री सुरेश जैन—आय० ए० एस०	भोपाल
श्रीमंत सेठ राजेन्द्रकुमार जैन	विदिशा

श्री जयकुमार इटोरिया	दमोह
श्री प्रकाशचन्द सिंघई, एडवोकेट	दमोह
श्री सेठ लक्ष्मीचन्द जैन	दमोह
श्री संतोष जैन (बैटरीवाले)	सागर
श्री धन्यकुमार राघेलीय, एडवोकेट	कटनी
श्री सि० राकेश कुमार	बीना

कोषाध्यक्ष

श्री सुरेशचन्द चौधरी	दमोह

मंत्री

श्री डॉ० भागचन्द्र जैन, "भागेन्दु",	भोपाल

सहमंत्रीगण

श्री वीरेन्द्र इटोरिया	दमोह
श्री राजेन्द्र जैन, "बच्चूजी"	बीना-इटावा
श्री विमलकुमार जैन-इंजीनियर	बीना

सदस्यगण

श्री दशरथ जैन, एडवोकेट, एवं पूर्व मंत्री, म० प्र०	छतरपुर
श्री प्रोफे० उदयचन्द जैन	वाराणसी
श्री डॉ० नेमीचन्द्र जैन, प्राचार्य	खुरई
श्री पं० कमल कुमार जैन	छतरपुर
श्री पं० रविचन्द्र जैन	दमोह
श्री संतोष सिंघई	दमोह
डॉ० श्रीमती कुसुम पटोरिया	नागपुर
श्री गुलाबचन्द्र दर्शनाचार्य	जबलपुर
श्री ईश्वर भाई : प्रभुदास किशोरदास	दमोह
श्री अजय टण्डन	दमोह
श्री सुमेरचन्द्र पाटनी	लखनऊ
श्री सौभाग्यमल जैन	लखनऊ
श्री मौजीलाल जैन	नागपुर
श्री कैलाशचंद जैन	नागपुर
श्री सिंघई कोमलचंद रांधेलीय	सागर
श्री चन्द्रकुमार जैन सर्राफ-यूनिक ट्रेक्टर,	दमोह
श्रीमती विमला जैन, न्यायाधीश	भोपाल
,, राजकुमारी रांधेलिया	कटनी
,, डॉ० रमोला हेनरी	दमोह

परामर्शदात् मण्डल

श्री संहितासूरि पं० नाथूलाल शास्त्री	इन्दौर
श्री साहित्याचार्य पं० डॉ० पन्नालाल जैन	जबलपुर
श्री प्रोफेसर खुशालचंद गोरावाला	वाराणसी
श्री दलसुख मालवणिया	अहमदाबाद
श्री डॉ० नथमल टाटिया	लाडनूं
श्री प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन	फिरोजाबाद
श्री० डॉ० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी "वागीश"	वाराणसी
श्री डॉ० गोकुलचंद जैन	वाराणसी
श्री पं० नीरज जैन	सतना
श्री डॉ० नेमीचन्द जैन, सम्पादक "तीर्थंकर"	इन्दौर
श्री डा० भोलाशंकर व्यास	वाराणसी
श्री यशपाल जैन	दिल्ली
श्री डॉ० श्रेयांसकुमार जैन	बड़ौत
श्री प० सत्यन्धर कुमार सेठी	उज्जैन
श्री डॉ० सुदर्शनलाल जैन	वाराणसी
श्री डॉ० कमलचन्द सागोणी	जयपुर
प्रोफे० डॉ० लक्ष्मीचंद जैन	जबलपुर
श्री डॉ० कस्तूरचंद "सुमन"	श्रीमहावीरजी



सम्पादक-मंडल परिचय

• प्रस्तुति–डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', दमोह

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

श्रद्धेय डॉ० कोठियाजी भारतीयदर्शन और जैन न्यायविद्याके प्रथम पंक्ति के अग्रगण्य मनीषी हैं। वे सहृदयवाग्मी, कुशल सयोजक, सफल सचालक एव उदारमना विद्वान् हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोके रचयिता, सपादक तथा अनुवादक डॉ० कोठियाजीका जन्म जून १९११ ई० में मध्यप्रदेशके छतरपुर मण्डलके श्री रेशिंदीगिरमें हुआ। अनेक शिक्षा-सस्थाओंमे शिक्षादान करते हुए डॉ० कोठिया काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमे १४ वर्षों तक प्राध्यापक और उसके बाद रीडरके पद पर कार्यरत रहे। अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला तथा वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्टके अध्यक्ष एवं देशकी अनेक सस्थाओके सचालक डॉ० कोठियाका अनेक बार सम्मान हुआ है। सन् १९८२ ई० मे उन्हें एक भव्य 'अभिनन्दन-ग्रंथ' समर्पित करके अखिल भारतीय सम्मानसे अलकृत किया गया है।

डॉ० कोठियाके सपादकत्वमे डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ तथा अन्य अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। आपकी कृतियाँ—(१) सपादित ग्रन्थ—न्यायदीपिका, आप्त-परीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, स्याद्वाद-सिद्धि, प्रमाण-प्रमेय-कलिका, अध्यात्म-कमलमार्तण्ड आदि तथा (२) मौलिक-कृतियाँ—जैन-दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, जैन-तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार, जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा आदि हैं।

प्रस्तुत 'स्मृति-ग्रन्थ'के अथसे इति तक यशस्वी सूत्रधार और 'प्रधानसंपादक' आप ही हैं।

पण्डित हीरालाल जैन 'कौशल'

आपका जन्म ११ मई सन् १९१४ को ललितपुर, उत्तर प्रदेशमें एक प्रतिष्ठित जैन कुलमें हुआ। आपने स्कूलकी शिक्षाके पश्चात् सर हुकुमचन्द जैन महाविद्यालय, इन्दौरमे सिद्धान्त, दर्शनशास्त्र, व्याकरण व साहित्यका अध्ययन कर शास्त्री और न्यायतीर्थकी परीक्षाएँ सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण की।

१९३४ मे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीके आदेशसे गुजरातमे हिन्दीका प्रचार कार्य किया।

३६ वर्ष तक हीरालाल जैन उ० मा० विद्यालय, सदर बाजार, दिल्लीमे उच्च कक्षाओको हिन्दी व धार्मिक शिक्षा देते हैं।

'जैन प्रचारक' दिल्लीका १० वर्ष तक सम्पादन तथा अन्य ग्रन्थोंमें—पूजा-पाठ प्रदीप, भक्तामर-स्तोत्र, मन्त्र-तन्त्र विधि, छहढाला आदि पुस्तकोका सम्पादन किया।

आप अनेक सस्थाओके सरक्षक, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, पदाधिकारी तथा कार्यकारिणीके सम्मानित सदस्य हैं। आपको समाजकी ओरसे सन् '४० में 'विद्याभूषण', २५ सौ निर्वाण महोत्सव पर तत्कालीन उपराष्ट्रपति द्वारा 'विद्वत्‌रत्न' तथा आचार्य संघ द्वारा 'वाणीभूषण' की उपाधिसे सम्मानित किया गया।

आप जैन सिद्धात तथा अन्य धर्मोंके अच्छे ज्ञाता, सुलेखक, विचारक, कर्मठ समाजसेवी तथा शिक्षा-क्षत्रमे विशिष्ट सेवाओके लिये सरकारी सम्मान प्राप्त करने वाले शास्त्री विद्वान् हैं।

डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

• अनिलकुमार जैन अनुसन्धित्सु

जबलपुर जिलेके रीठी नगरमे जन्में डॉ० भागचन्द्रजी 'भागेन्दु' जैन समाजके उन मनीषियोंमेंसे हैं जिन्होंने अपने जीवनको सेवामय बना रखा है। प्राचीन वाङ्मय, भाषाशास्त्र, जैन-दर्शन-संस्कृति और कला-

के क्षेत्रमे उनकी विशिष्ट सेवाएँ है। डॉ० भागेन्दुजीका अध्ययन सागर (म० प्र०) के श्रीगणेश जैन महाविद्यालय तथा सागर विश्वविद्यालयमे हुआ।

जैन विद्याओ पर अनुसन्धान-निर्देशन हेतु विख्यात डॉ० 'भागेन्दु' जी सम्प्रति आप मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमीके सचिव है। आपके निर्देशनमे कई शोधार्थियोने जैन विषयो पर पी-एच० डी० की उपाधि हो चुकी है। डॉ० भागेन्दुजी अखिल भारतीय स्तरकी अनेक संस्थाओ, शोध-संस्थानो और महाविद्यालयोसे निकटत सम्बद्ध है। आप कुशल लेखक, यशस्वी संपादक, सफल प्राध्यापक और अच्छे वक्ता है। आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ—देवगढकी जैन कलाका सास्कृतिक अध्ययन, भारतीय संस्कृतिमे जैनधर्मका योगदान, जैनधर्मका व्यावहारिक पक्ष अनेकान्तवाद अतीतके वातायनसे आदि है। आपने अनेक कृतियोका सम्पादन भी किया है। साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अभिनन्दन-ग्रन्थके प्रधान-सम्पादक और संयोजक डॉ० भागेन्दुजी रहे है।

प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थके सम्पादनमे आपकी भूमिका नितरा प्रशसनीय है।

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

राजस्थानके जैन ग्रन्थ भण्डारोमे सुरक्षित महनीय साहित्यको उजागर करके प्राचीन वाड्मय विशेषत जैन अनुसन्धानके अनेक सभावित पक्षोका उद्घाटन करनेवाले डॉ० कासलीवालका जन्म ८ अगस्त १९२० ई० को जयपुरके निकट हुआ। संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीके ५०० से अधिक ग्रथोका परिचय तथा प्रशस्ति प्रकाशित करके उन्होने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आप इतिहासरत्न, विद्यावारिधि आदि उपाधियोसे सम्मानित किये गये है। अनेक ग्रन्थोके प्रणेता महावीर ग्रथ अकादमीके माध्यमसे अलभ्य-अप्रकाशित साहित्यको प्रकाशित करनेवाल डॉ० कासलीवालजी अनेक अभिनन्दन-ग्रन्थोका कुशलतापूर्वक सपादन कर चुके हैं।

विवेच्य 'स्मृति-ग्रन्थ' के सम्पादन कार्यमे आपके सुदीर्घ अनुभव तथा सहज प्रकृतिका लाभ निरन्तर प्राप्त हुआ है।

डॉ० सागरमल जैन

डॉ० सागरमल जैनका जन्म सन १९३२ मे शाजापुरमे हुआ। १८ वर्षकी अवस्थामे ही आप व्यावसायिक कार्यमे सलग्न हो गये। व्यवसायके साथ-साथ आपका अध्ययन भी कुछ व्यवधानोके साथ चलता रहा। आपने व्यापार विशारद, जैन सिद्धान्त विशारद, साहित्यरत्न और एम० ए० की उपाधियाँ प्राप्त की। एम० ए० (दर्शन) मे आपने वरीयता सूचीमे प्रथम स्थान प्राप्त किया और कला सकायमे द्वितीय स्थान प्राप्त कर रजत पदक प्राप्त किया। उसके पश्चात् अध्ययनकी रुचिको निरन्तर जागृत बनाये रखने हेतु व्यवसायसे पूर्ण निवृत्ति लेकर शासकीय सेवामे प्रवेश किया और रीवॉं ग्वालियर और इन्दौरके महाविद्यालयोमे दर्शनशास्त्रके अध्यापक तथा हमीदिया महाविद्यालय, भोपालमे दर्शन विभागके अध्यक्ष रहे। सम्प्रति आप पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसीके निदेशक एव आगम अहिंसा एव प्राकृत संस्थान', उदयपुरके मानद् निदेशक हैं। 'श्रमण' त्रैमासिकके प्रधान सम्पादक हैं। जैन विद्याके क्षेत्रमे आपकी प्रतिभाको सदैव सम्मान मिला है। आप अनेक विश्वविद्यालयोमें अध्ययन-परिषद्, कलासकाय एव विद्यापरिषद्के सदस्य रहें हैं।

आपने जैन, बौद्ध और गीताके आचार दर्शन पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। आपके

२० ग्रन्थ एवं १५० उच्चस्तरीय लेख प्रकाशित हो चुके हैं। साथ ही आपने अनेक ग्रन्थोंका कुशल सम्पादन भी किया है।

आप अनेक बार विदेश यात्रा कर चुके है। सन् १९९३ की विश्वधर्म ससद, शिकागोमे आप प्रमुख वक्ताके रूपमे आमत्रित थे। अमेरिका, इग्लैण्ड आदि अनेक देशोमे आपने अपने व्याख्यान दिये है।

डॉ० राजाराम जैन

सम्प्रति प्राकृत भाषाओके अध्ययन-अनुशीलनके क्षेत्रमे (स्व०) डॉ० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यकी प्रवृत्तियोको गति-प्रदाता डॉ० राजारामजीका जन्म मागर जिलेके मालथौन ग्राममे फरवरी १९२९ ई० को हुआ था। उनका शिक्षण पपौराजी तथा वाराणसीके जैन विद्यालयोके अतिरिक्त बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालयमे भी हुआ।

डॉ० जैनने (स्व०) डॉ० हीरालालजी जैनके निर्देशनमे शोधकार्य किया। अपभ्रश साहित्यके प्रसिद्ध कवि 'रइधू'के साहित्यका आपने विशेष अध्ययन किया है। वद्धमानचरिउ, महावीरचरिउ आदि आपकी प्रसिद्ध सपादित-साहित्यिक कृतियाँ है। सामाजिक और साहित्यिक जीवनमे आप निरन्तर सक्रिय है। गणेश वर्णी दि० जैन सस्थान, वाराणसीके आप अध्यक्ष है।

डॉ० राजारामजी इस स्मृति-ग्रन्थके सम्पादक-मण्डलके वरिष्ठ सदस्य है।

डॉ० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी'

सागर (म० प्र०) जिलेके दलपतपुर ग्राममे जन्मे डॉ० 'प्रेमी' जी कुशल-वक्ता, यशस्वी-लेखक, सामा-जिक चेतनाके धनी युवा विद्वान् है। इन्होने कटनी एव बनारसके जैन विद्यालयोमे शिक्षा प्राप्त की। जैन-दर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य एव पी-एच० डी० उपाधिधारी डॉ० प्रेमी, जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान) मे चार वर्ष प्राध्यापक रह चुके है। वे सस्कृत-प्राकृत भाषाओ तथा जैन-दर्शनके गभीर अध्येता मनीषी है। इनका शोध विषय मूलाचारका समीक्षात्मक अध्ययन है। वह प्रकाशित है तथा इस पर इन्हे प्रशस्ति-पत्र एव पाँच हजार रुपयेके साथ १९८८ का महावीर पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

वे सम्प्रति सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसीमे जैन-दर्शन-विभागाध्यक्ष है।

सामाजिक, साहित्यिक और शैक्षणिक प्रवृत्तियोमे सोत्साह निरत डॉ० प्रेमीजी इस स्मृति-ग्रन्थके सम्पादक-मण्डलके मान्य सदस्य हैं।

डॉ० रतन पहाड़ी

सन् १९४२ मे केवल १३ वर्षकी उम्रमे सारनाथ और वाराणसीमे 'भारत छोडो आन्दोलन' में भाग लेने तथा अग्रेजी सरकार द्वारा जब्त पत्रिका 'रणभेरी' के चोरी छिपे छापने तथा प्रचार करनेके कारण छह माहकी सजा हुई। सन् १९५१ मे वर्धा आ गये। आजकल आप कामठी (नागपुर) में रहते हैं। सन् १९५५ मे कुछ समयके लिये 'जैन जगत' के सम्पादक भी रहे। अनेकान्त स्वाध्यायमंदिरमे और प्राकृतिक चिकित्साकी प्रवृत्तियोमें दिलचस्पी लेते है। लगभग १० वर्षों तक दि० जैन बोर्डिंग हाउसके मत्री रहे। आचार्य विद्यासागरजीके सघस्थ मुनियो, आर्यिकाओकी प्राकृतिक चिकित्सामे समर्पित।

श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल

संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंके अधुनातन कलापूर्ण मुद्रण और प्रथम पंक्तिके जैन मनीषियोंके अभिनन्दन-ग्रन्थोंके लब्धप्रतिष्ठ मुद्रक श्री बाबूलालजी जैन फागुल्लका जन्म सन् १९२६ ई० में बुन्देलखण्डके ललितपुर जिलेके महावरा ग्राममें हुआ। श्रीवीर विद्यालय, पपौरा और श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी आपके प्रशिक्षण केन्द्र थे। मुद्रणके क्षेत्रमें श्री फागुल्लजीका प्रवेश भारतीय ज्ञानपीठके व्यवस्थापकके रूपमें हुआ, जहाँसे उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये। सम्प्रति महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसीके स्वत्वाधिकारी हैं। अपने मिलनसार व्यक्तित्व और कार्यक्षमताके आधार पर श्री फागुल्लजी सर्वत्र यश अर्जित कर सके हैं। श्रेष्ठ ग्रन्थोंके मुद्रण-कार्यमें आप अनेक बार पुरस्कृत हो चुके हैं।

सरस्वती-वरदपुत्र पं० यशोधरजी व्याकरणाचार्यके अभिनन्दन-ग्रन्थके प्रबन्धनमें श्री फागुल्लजीकी भूमिका, क्षमता और दायित्वबोध नितरां प्रशस्य रहा है।

प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थके सृजनमें प्रशस्य योगदान है।